कबीर की वाणी दहकती आग है। उसमें किसी कूड़े-करकट [illegible] जाना संभव नहीं है। उन्होंने जितने पद कहे हैं वे सब जीवन हैं। उन्होंने कमरे के भीतर का [illegible] बैठकर लिखा नहीं है, किन्तु जनता के बीच [illegible] कबीर, प्रतिदिन [illegible] [illegible]।"

[illegible] लिखा [illegible] उसका प्राणवान नहीं होता जितना [illegible] किया गया [illegible] होता है। [illegible] में तो वह लिखा [illegible] होता है, परन्तु जनमानस में वह बोला [illegible] सामाजिक जनता की आवश्यकता होती [illegible] सद्गुरु कबीर ने लिखने पर नहीं, कहने [illegible] किया। उन्होंने बारंबार [illegible] —"कहु भाई साधो", "कहहिं कबीर पुकारि के" कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो [illegible] इत्यादि। वे सदैव संतों से, अवधूतों से, पं[illegible] आम जनता से बात करते हैं। वे ईश्वर [illegible] बैठकर कलम नहीं चलाते, किन्तु आम जन[illegible] बात करते हैं। वे किसी देव या ईश्वर [illegible] लिए उनसे बात नहीं करते, किन्तु आम [illegible] करते हैं। कबीर की दृष्टि कल्पित भगवान पर नहीं, प्रत्यक्ष इनसान पर है, परोक्ष परमात्मा पर नहीं अपरोक्ष आत्मा पर है। वे मनगढ़ंत स्वर्ग पर नहीं सजीव धरती पर दृष्टि रखते हैं।

मन की जो शक्ति सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है, परन्तु हमने तो अंधविश्वास को श्रद्धा नाम दिया है। लोगों को सत्यासत्य, जड़-चेतन एवं कर्तव्याकर्तव्य पर विचार करने की राय दी जाय तो वे इससे कतराते हैं। वे अपने मन की सुविधा के अनुसार किसी परंपरा-पोषित सड़ी-गली बात को मानकर तथा उसकी पूंछ पकड़कर चलना चाहते हैं। परन्तु यह निश्चित समझ लो जिसे बौद्धिक, चारित्रिक एवं मानसिक संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा है उसे विचारवान बनना ही होगा।

सद्गुरवे नमः

सद्गुरु कबीर विरचित

बीजक

पारख

२

व्याख्याकार - अभिलाष दास

द्वितीय खण्ड

३. ज्ञान चौंतीसा
४. विप्रमतीसी
५. कहरा
६. बसन्त
७. चाचर
८. बेलि
९. बिरहुली
१०. हिण्डोला
११. साखी

समर्पित

उन साधु-सज्जनों एवं देवियों के कर-कमलों में,
जो अपने मत के विरोधी बातों को सुनने
में भी सक्षम, निष्पक्ष विचारक
एवं सत्यान्वेषी हैं।

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ तथा आलोचक विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की सम्मति

मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि अभी तक मैं श्री अभिलाष साहेब जी की अनुपम टीका "पारख प्रबोधिनी" को पढ़कर उसके विषय में कुछ लिख नहीं पाया था। वास्तव में उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को प्रति प्राप्त करते ही, मैंने देख लिया था और सोचा था कि पूरा ग्रन्थ पढ़ जाने पर कभी अपने विचार प्रकट करूंगा। परन्तु अपना कार्यक्रम प्रायः व्यस्त रहने के कारण ऐसा आज तक भी नहीं कर पाया। पूर्ण ग्रन्थ अवश्य पढ़ जाऊंगा। मैंने जितना देखा है उसके आधार पर भी मैं कह सकता हूं कि प्रस्तुत कार्य बड़े मनोयोगपूर्वक सम्पन्न किया गया है। इसके अन्तर्गत जो कुछ भी कथन किया गया दिखता है वह तर्कसंगत एवं साधार लगता है जिस कारण मुझे आशा है यह कृति "कबीर बीजक" के गम्भीर अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण देन सिद्ध होगी।

बलिया
२-२-७०

आपका
परशुराम चतुर्वेदी

कबीरपंथ जगत के मूर्द्धन्य विद्वान
पंडित श्री रामेश्वरानंद साहेब जी की सम्मति

आपकी भेजी हुई बीजक टीका समय पर मिल गयी थी, प्राप्ति की सूचना राजादरवाजा वाराणसी को भेज दी गयी थी। पुनरपि अनेक धन्यवाद।

शिक्षण प्रारम्भ में श्री गुरुदयाल साहेब, श्री रामरहस साहेब तथा श्री पूरण साहेब के विचार से परिचित हुआ था। इसके उपरान्त श्री काशी साहेब के विचार भी यथामति मनन किया था। बाकी पारखी संतों के विचार बहुत कम जानने को मिले हैं, जिन लोगों के विचार पर दृष्टि करने का अवसर मिला है उनमें आपके विचार परम उदार प्रतीत हुए, आशा ही नहीं परम विश्वास है कि आप से साधु समाज को बड़ा लाभ होगा, इस समय भी है। टीका के कई अंशों पर दृष्टि पड़ी, प्रायः सर्वत्र सत्य, शिव, सुन्दर का साक्षात्कार-सा हुआ। स्थाली पुलाक न्याय से मैं मानता हूं कि इस टीका से पारखी जगत सर्वाधिक लाभान्वित होगा। ब्रह्म, राम, हरि आदि शब्दों में समन्वय दृष्टि स्तुत्य है। भाषा प्रांजल तथा मनोरम है, विमत दार्शनिकों पर कटाक्ष कोमलता और शिष्टता के साथ है। आचारांश अधिक प्रशंसनीय है। भावव्यंजना में राग-द्वेष की तीव्रता का अभाव नितांत आकर्षक है। ग्रंथ-रत्न भेजकर मुझे आपने प्रेमानुगृहीत किया है।

पानी दरवाजा, बड़ोदा
१२-३-७०

आपका
रामेश्वरानंद

दो शब्द

पारख सिद्धान्त के गम्भीर चिंतक, ज्ञान-वयोवृद्ध, विरक्त संत श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी के उद्गार

सर्व के सच्चे सुहृद, विनम्र, निष्पक्ष विवेक-युक्त सत्य सिद्धान्त का चित्रण करने में अद्‌भुत लेखक साहेब जी ने सुवर्ण-कसौटी एवं तुलनात्मक दृष्टि से मूल ग्रन्थकर्ता गुरुवर कबीर देव के हृदिभाव को खूब ही तौला है। इसमें जो आपका अथक प्रयत्न है वह अनन्त साधुवाद के योग्य है। एक तो इसकी टीका अविभंग युक्तियुक्त है, दूसरे गुरुजन सम्मत है, तीसरे असद् मत का निरसन करते हुए भी विनम्रता-सहित जो सर्वोचित मर्यादा रक्षत्व के दृष्टिकोण से आपका प्रवचन हुआ है वह तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। मैं क्या, कोई भी पाठक टीका पढ़ते-पढ़ते इसके रस से जब ज्ञानमग्न होगा तब वह भी मुक्तकण्ठ से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि हां, टीका द्वारा बहुत कुछ मूल के सद्‌भाव का समदर्शन किया गया है। टीका पढ़कर सिद्धान्त-रहस्य का चित्र हृदयपट पर आकर्षक ढंग से उभर आता है। उसमें श्रद्धा, विवेक तथा सत्संग जोड़ दिया जाय तो वह सजीव होकर पाठकगण के आदर्श-जीवन का प्रकाशस्तम्भ बन सकता है।

सुस्वादिष्टता के साथ सुपाच्य तथा सुपाच्य के साथ बलप्रद व्यंजन हो तो क्या पूछना! प्रस्तुत टीका कुछ ऐसे ही बन पड़ी है। यह प्रियकर है, ग्राह्य है तथा मानवमात्र के लिए कल्याणकारक है। मानवमात्र के कल्याण की पुनीत दृष्टि तथा उदार चेतृत्व भावना से प्रेरित होकर एवं सक्रिय तत्परतापूर्वक टीका लिखकर तथा प्रकाशन कराकर जनता के सामने जो यह अलौकिक सिद्धान्तव्यंजन उपस्थित किया गया है, इसके लिए पाठकवृन्द का स्वाभाविक (मेरे बिना कहे ही) टीकाकार की प्रतिभा और समाज के प्रति उनकी अनन्त उपकारता सोचकर साधुवाद की ओर ध्यान गये बिना रह नहीं सकता।

प्रस्तुत टीका की भाषा में धारावाहिकता है। कथनशैली में स्पष्टता तथा मधुरता है। आलोचनात्मक होते हुए भी सर्व शुभ मर्यादाओं का संरक्षण है। सबके दोषों का परिहार करते हुए, गुणों का समादर है। सामाजिक ऐक्य तथा उन्नति पर गम्भीर चिंतन है। भौतिकीय साम्यवाद से हटकर चैतन्यपक्षीय साम्यवाद का समर्थन है। सद्‌गुरु कबीर के मौलिक पारख-सिद्धान्त का स्पष्ट निदर्शन है। मानव-जीवन का जो परम या चरम लक्ष्य है—विश्वसंघर्ष ज्वाला से रहित परमशान्ति—पारख—ज्ञानस्वरूप की स्थिति; उसका इसमें विशद विवेचन हुआ है।

मननकर्ताओं से मेरा अन्तिम निवेदन यह है कि ग्रन्थमूल एवं टीकाकार के सद्भाव पर ध्यान देकर इसका मनन करें तथा सर्वगुणग्राही बनकर स्वयं तरण-तारण बनें।

'दो शब्द ही लिख दीजिये' इस प्रेम भरे सद्भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने हृदिभाव को यथा-तथा कह डाला है। आशा है टीकाकार साहेब जी इतने ही में बहुत कुछ सन्तोष मानेंगे और ग्रन्थ मनन करने वाले साधु-सज्जन भी प्रमुदित होंगे।

टीकाकार के सुशील, विनम्र प्रेमयुक्त
सद्भावना का पोषक
प्रेमदास

महामानव-अभिनन्दन

ऐ हो उदार चेता, मानव महान प्रानी।
तू ही तो सर्व हेता, अतिशय महान ज्ञानी॥ टेक॥
तू ही तो ऋषि मुनी हो, मन्थन विवेक कर कर।
मथ मथ के घीव काढ़े, विज्ञान ज्ञान खानी॥ १॥
तू ही तो आगे शोधा, जड़भास को निरोधा।
होकर कबीर रविवत, तू ही महान दानी॥ २॥
तेरी उदार दृष्टी, सबके लिये सुअवसर।
सब के ही प्रति सुमंगल, सद्भाव प्यार आनी॥ ३॥
तू सत्य शान्त पावन, निर्मल रुचिर सुहावन।
व्यक्तित्व, तेरी रचना, उत्थान सब प्रदानी॥ ४॥
तू ही विशाल होकर, गुरु संत रूप दर्शे।
तेरी ही शरण जाकर, जन प्रेम नित अघानी॥ ५॥

भूमिका

१. सद्गुरु कबीर की महत्ता

हिन्दी संत-कवि ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत कवियों में कबीर का अन्यतम स्थान तो है ही, पूरे विश्व की संत-परंपरा में भी वे शीर्ष स्थानीय हैं। उनका अवतरण मध्यकाल में हुआ था। यह वह काल था जब उदात्त भारतीय चिन्तन सरणी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवहमान धारा से हटकर परंपरावाद एवं शास्त्र-प्रमाण की संकीर्ण पंकिल भूमि तक ही सिमट गयी थी। इस काल में धार्मिक संकीर्णता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक उन्माद एवं सामाजिक भेदभाव चरमसीमा पर थे। तत्कालीन शासकों के साथ मिलकर पंडे-पुजारी और मुल्ला-मौलवी सामान्य जनता का हर तरह से शोषण कर रहे थे। आम जनता की स्थिति "दो पाटन के बीच में, साबुत गया न कोय" जैसी थी। रक्षक ही भक्षक बन रहा था।

मध्ययुग के उस संक्रमण काल में अद्भुत प्रतिभा, साहस एवं व्यक्तित्व लेकर कबीर का अवतरण हुआ। उनकी मर्मभेदी दृष्टि धार्मिक पाखंड एवं अंधविश्वासों के कुहासों को चीरकर शाश्वत सत्य एवं मानवता को देख लेने में पूर्णरूपेण सक्षम थी। धार्मिक जड़ता, जाति-व्यवस्था एवं वर्णाभिमान के समर्थकों को उन्होंने खुली चुनौती दी और धार्मिक स्वतंत्रता तथा मानव-समानता पर आधारित समाज-संरचना पर बल दिया। किसी भी प्रकार के असत्य और पाखंड के साथ समझौता करना तो वे सीखे ही नहीं थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रानुमोदित परंपरा-पोषित सुखद मार्ग को नहीं अपनाया, अपितु मानवता के उद्धारार्थ सत्य के कंटीले रास्ते को चुना और उस पर वे इकला चल पड़े। उनकी दृष्टि में सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनका साध्य था और साधन भी।

२. जन्मकाल और जीवन-वृत्त

सद्गुरु कबीर ने अपना कोई जीवन-वृत्त नहीं लिखा है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निर्धारित हुआ है कि उनका जन्म विक्रम संवत १४५५ में हुआ था और मृत्यु वि० सं० १५७५ में। परन्तु जिस तरह श्रद्धेया मां सीता के माता-पिता का पता नहीं चलता, उसी तरह सद्गुरु कबीर के माता-पिता का भी पता नहीं चलता। जिस तरह राजा जनक ने सीता जी को शिशुरूप में खेत में पाया था, उसी तरह नीरू-नीमा नामक जुलाहे दंपती ने कबीर को लहरतारा तालाब के किनारे पाया था। सीता जी एवं कबीर साहेब—दोनों के माता-पिता का पता न चलने के कारण श्रद्धालुओं द्वारा दोनों के जीवन में चमत्कारपूर्ण कथानक जोड़कर दोनों को अलौकिक बताया गया, यद्यपि ऐसा करना सत्य का अपलाप करना है। भले ही श्रद्धेयां मां सीता एवं सद्गुरु कबीर दोनों के माता-पिता का पता न चलता हो, परन्तु दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं। लेकिन यह ज्वलंत सत्य है कि हर इनसान मां-बाप से ही पैदा होता है। नीरू-नीमा जुलाहे दंपती के यहां पाले-पोषे

जाने के कारण कबीर साहेब के मन में किसी प्रकार की हीन-भावना बिलकुल ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने अपने को अनेक जगह जोलाहा कहकर ही व्यक्त किया है, यथा 'जोलहा दास कबीरा हो', 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा' आदि। अपनी प्रारंभिक युवावस्था तक वे कपड़ा बुनने का काम करते रहे हों, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

३. वे विरक्त संत थे

समस्त कबीर साहित्य में सद्गुरु कबीर का विरक्त रूप ही झलकता है, परन्तु उनके नाम से पायी जाने वाली अनेक वाणियां जो रूपकों एवं प्रतीकों में कही गयी हैं तथा श्लेषात्मक हैं, उनके वास्तविक अर्थ को न समझकर उनका शाब्दिक अर्थ करते हुए अनेक लेखकों ने कबीर साहेब को गृहस्थ ही नहीं सिद्ध किया बल्कि किसी ने तो उनकी दो पत्नियां होने का फतवा दे दिया, परन्तु समस्त कबीरपंथ के साथ-साथ अनेक विद्वान जो उनकी वाणियों के आध्यात्मिक रूपक एवं कथन-शैली को समझते हैं, वे इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। कबीर-वाणी में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'लोई' शब्द जो आम जनता तथा 'लोग' का वाचक है और जो इसी अर्थ में कबीर के पूर्ववर्ती गोरखनाथ तथा नाथपंथियों की वाणियों में भी प्रयुक्त हुआ है, उस 'लोई' शब्द को घसीटकर अनेक विद्वानों ने उसे कबीर की पत्नी बना डाला। परन्तु यह ज्वलंत सत्य है कि कबीर साहेब बाल-ब्रह्मचारी आजीवन विरक्त संत थे।

४. उनका राम

कबीर-वाणी में जितनी बार 'राम' शब्द का प्रयोग हुआ है, उतनी बार किसी और शब्द का नहीं। अकेले बीजक में इसका प्रयोग लगभग ५७० बार हुआ है। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि जहां इसका प्रयोग घट-घटवासी चेतन तत्त्व, स्वसत्ता के अर्थ में है वहां पर यह विधिपरक है और जहां आत्मतत्व से भिन्न किसी लोकवासी के लिए है वहां निषेधपरक। दाशरथि राम का अनेक स्थलों पर उल्लेख करते हुए भी कबीर ने कहीं पर भी उन्हें अपना इष्ट या उपास्य नहीं माना है, बल्कि दाशरथि राम को उपास्य मानने वालों की उन्होंने आलोचना की है। यथा—"दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना। राम नाम का मर्म है आना।"[१] इसी तरह अनेक पदों में भी देखा जा सकता है। यहीं पर स्वामी रामानन्द से उनका विरोध भी दिखाई पड़ता है। किंवदंती के अनुसार स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु माने जाते हैं। हो सकता है अपने प्रारंभिक साधनाकाल में कबीर ने स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व स्वीकारा हो, परंतु आगे चलकर सैद्धांतिक अन्तर पड़ने से उन्होंने उनकी आलोचना की है। क्योंकि स्वामी रामानन्द दाशरथि राम के प्रेम में मतवाले थे[२] और कबीर साहेब किसी शरीरधारी को संसार का हर्ता-कर्ता मानकर उसे अपना उपास्य मानने एवं उसके प्रेम में मतवाले रहने के सख्त खिलाफ थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं भी रामरस पीने

---

१. शब्द-१०९।

२. रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके। (शब्द ७७)

की सलाह दी है, यथा—कोई राम रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे युग जीयहुगे (बीजक-शब्द-२०)। परन्तु यहां उनका रामरस दाशरथि राम या किसी कल्पना लोकवासी राम का प्रेमरस नहीं, अपितु आत्माराम, जो स्वचेतन सत्ता के रूप में प्रत्येक घट में विराजमान है, उसका प्रेमरस है। कबीर-वाणी के अध्येताओं को इस अन्तर को ख्याल में रखना चाहिए।

५. वेद-कितेब पर उनकी दृष्टि

लोक प्रचलित धारणा है कि कबीर साहेब ने वेद-शास्त्रों का केवल खंडन ही किया है, परन्तु यह धारणा पूर्णतः सही नहीं है। पहले यह याद रखना होगा कि कबीर साहेब किसी के खिलाफ नहीं थे, यदि खिलाफ थे तो अंधविश्वास, पाखंड एवं असत्य के। जब समाज के मार्गदर्शक कहे जाने वाले मुल्ला और पंडित समाजहित-विरोधी पाखंडपूर्ण अलीक धारणाओं को वेद-कितेब समर्थित बताकर एवं उन्हें जनसमाज पर जबर्दस्ती थोपकर जनता को गुमराह कर रहे थे, तब कबीर साहेब को कहना पड़ा—"नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना" (शब्द-११३), "वेद-कितेब दोउ फंद पसारा, तेहि फन्दे परु आप बिचारा" (शब्द-३२) आदि। बीजक में 'वेद' शब्द ५२ बार उल्लिखित हुआ है और अनेक जगह आदर के साथ भी—यथा—"लोक वेद मों देउँ देखाई" (रमैनी-३७), 'आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव' (साखी-१३१), 'जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय। सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय' (साखी-१२३) आदि। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि कबीर साहेब ने आंख मूंदकर कहीं भी वेद-कुरान का समर्थन नहीं किया है।

६. शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण

तथाकथित ईश्वर और ईश्वर-वाणी के नाम पर अंधविश्वास, भ्रम एवं पाखंड फैलाकर मानव समाज का वंचन तो किया ही जा रहा था, मानव-मानव के बीच ईर्ष्या, घृणा एवं सांप्रदायिक भेदभाव की दीवार खड़ी की जा रही थी। अदृश्य ईश्वर के नाम पर प्रत्यक्ष ईश्वर इनसान के खून की होली खेली जा रही थी और निर्जीव पानी-पत्थर के सामने सजीव प्राणियों की बलि दी जा रही थी। कबीर की अन्तरात्मा यह सब देखकर तिलमिला उठी। धर्म के ऐसे ठेकेदारों को उन्होंने आड़े हाथों लिया। परन्तु कबीर की अन्तरात्मा इस बात से सबसे ज्यादा दुखी थी कि ईश्वरीय-वाणी का पाखंड रचकर पुरोहितों द्वारा समाज के विशालतम अंग को अछूत तथा शूद्र घोषितकर उसके समस्त मानवीय अधिकारों से उसे वंचित किया जा रहा था। तथाकथित नीची मानी गयी जाति में पैदा होने से कोई मनुष्य नीच, अछूत, अस्पृश्य, अंत्यज है, इसलिए उसे अमुक-अमुक क्षेत्र में उन्नति करने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसा फतवा देना जघन्य अपराध है और यह अपराध समाज के मुट्ठीभर तथाकथित उच्चवर्ग के लोग ईश्वर और ईश्वर-वाणी का आधार लेकर हजारों वर्षों से करते चले आ रहे थे। कबीर साहेब ने इसका खुलकर विरोध किया और कहा मानव समाज में उत्पन्न सारे भेदभाव घृणित स्वार्थ बुद्धि की देन हैं। उनकी दृष्टि में मानव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि न होकर केवल मानव है और मानव मात्र को सब दिशा में उन्नति करने का समान अधिकार है।

७. विश्वसत्ता की समझ

ज्यादातर धार्मिकों ने संसार को समझने के लिए विवेक-बुद्धि का नहीं, अपितु भावुकता एवं श्रद्धा का सहारा लिया है। इसलिए संसार के बारे में उनका दृष्टिकोण एवं चिंतन सत्य से बहुत दूर चला गया है। वस्तुतः संसार को समझने के लिए हमें संसार में ही झांकना होगा। संसार जड़-तत्त्वों के असंख्यात परमाणुओं का संव्यूहन है। जड़ द्रव्यों की स्वभावसिद्ध गतिशीलता से ही यहां नानाविध वस्तुओं के उत्पाद-विनाश अनवरत होते रहते हैं और इस प्रकार संसार अबाध गति से निरंतर चल रहा है। जड़ दृश्यों के स्वयंसिद्ध गुण-धर्मों को न समझकर उनके संचालन के लिए किसी पृथक सुप्रीम सत्ता की कल्पना करना वस्तुतथ्य एवं सत्य से दूर हो जाना तथा अन्धकार में हाथ-पैर मारना है। जड़ द्रव्यों की न तो किसी काल-विशेष में नये सिरे से सृष्टि होती है और न ही प्रलय। संसार सृष्टि-प्रलय से रहित अनादि-अनंत है। कबीर साहेब की दृष्टि में संसार मन का प्रतिबिम्ब एवं गंधर्वनगर की भांति असत्य न होकर अपने क्षेत्र में ठोस एवं सत्य है। हां, संसार से हमारा संबंध औपाधिक एवं स्वप्नवत अवश्य है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा है—"झूठ झूठा कै डारहू, मिथ्या यह संसार। तेहि कारण मैं कहत हौं, जाते होय उबार" ।।र०सा० ६०।।

८. माया की परिभाषा

साधारण जनता ही नहीं विद्वत जगत में भी यह धारणा घर कर गयी है कि माया दुस्तरा है, वह अघटित घटना पटीयसी तथा दुरत्यया है। दार्शनिक जगत में तो माया की ऐसी उलझी हुई व्याख्या की गयी है कि वह अबूझ पहेली बनकर रह गयी है। माया को किसी ईश्वर की ऐसी शक्ति बतायी गयी है कि उससे पार पाना बहुत ही मुश्किल है। जिस मनुष्य पर किसी प्रभु की कृपा हो वही माया से बच सकता है, दूसरा नहीं। इस सम्बन्ध में कबीर साहेब का दृष्टिकोण बहुत ही सरल, सटीक और सहज बोधगम्य है। उन्होंने कहा कि 'संतो आवै जाय सो माया।' वस्तुतः मनुष्य का मन जिसमें मोहित हो जाय वही उसके लिए माया है। मन का मोह ही माया है और माया मन का ही स्वरूप है। बीजक के ५९ वें शब्द में माया का बहुत ही सटीक चित्रण कबीर साहेब ने किया है। माया से बचने के लिए किसी प्रभु की कृपा नहीं, अपितु विवेक-विचार की आवश्यकता है। इसके लिए साखी १०४ से १०७ तक की व्याख्या देखें।

९. बीजक उनका सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बीजक के अतिरिक्त कबीर साहेब के नाम से प्रचलित अन्य वाणियां उनके द्वारा ही कही गयी हैं, क्योंकि उनमें प्रक्षेपों की भरमार है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि १२० वर्ष के लम्बे जीवन में उन्होंने बीजक के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं है। बीजक के अतिरिक्त भी उनकी बहुत-सारी वाणियां हैं; परन्तु उनकी समस्त वाणियों में बीजक सर्वाधिक प्रामाणिक है। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त नाभादास जी महाराज ने कबीर साहेब की प्रशंसा करते हुए जो छप्पय कहा है, उसकी एक पंक्ति है—"हिंदू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।" रमैनी, शब्द और साखी का यह

क्रम किसी और कबीर-वाणी में नहीं, अपितु बीजक में ही है। बीजक ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कबीर साहेब का क्रांतिकारी स्वरूप पूर्णरूपेण उभरा है।

१०. बीजक पदों का गूढ़त्व और सूत्रत्व

बीजक में कबीर साहेब ने अपने नामवाची कबीर, कबिरा, कबीरा, कबिरन, कबीरन आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया, स्पष्टरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ टीकाकारों के ख्याल से ये सभी शब्द एकार्थबोधक हैं और कबीर साहेब ने इन सबका प्रयोग अपने लिए ही किया है, केवल छंद प्रवाह बनाये रखने के लिए मात्राओं में हेर-फेर है। कुछ अन्य टीकाकारों के ख्याल से उपरोक्त सभी शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बोधक हैं। परन्तु दोनों दृष्टि एकांगी हैं। उपर्युक्त सभी शब्द हर जगह कबीर साहेब के नाम एवं व्यक्तित्व से भिन्न अर्थ रखते हैं, ऐसी बात नहीं है, परन्तु हर जगह इन सबका एक ही अर्थ किया जाय तो पूरे अर्थ की संगति ही नहीं बैठ सकती। उदाहरणार्थ—भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरै उदास; कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछिताई; कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय; झूठा खसम कबीरन जाना; कबिरा बनौरी गावै; तथा तामहँ भ्रमि-भ्रमि रहल कबीरा आदि। केवल ८६ वें शब्द में १ बार 'कबिरा', ४ बार 'कबीरा' कहकर छठीं बार 'कहहिं कबीर' का प्रयोग हुआ है।

बीजक हमें बरबस ही सूत्र ग्रन्थों की याद दिलाता है, जिसमें छोटा-सा वाक्य बहुत बड़े अर्थगांभीर्य एवं भाव को छिपाये रहता है। बीजक में रूपक, प्रतीक, अन्योक्तिकथन, उलटवांसी शैली, कहीं पूर्वपक्ष की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए कहे गये वचन आदि होने से हर सिद्धांत के मानने वालों को अपने दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना के लिए जगह मिल जाती है।

११. बीजक की अनेक टीकाएं

देशी-विदेशी अनेक विद्वानों द्वारा बीजक को प्रामाणिक कबीर साहित्य मानकर उसकी अब तक दर्जनों टीकाएं हो चुकी हैं तथा आज भी होती जा रही हैं। बीजक की अब तक हुई अनेक टीकाएं ऐसी हैं जिनकी भाषा-शैली पुरानी होने से वह आज सबकी समझ में ठीक से नहीं आती। कुछ में तो अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट एवं भ्रामक हो गया है। और कुछ टीकाएं तो ऐसी हुई हैं जिनमें सारे पाखंड एवं कुरीतियों को जलाकर राख कर देने वाला कबीर का क्रांतिकारी विदग्धात्मक रूप ही ओझल हो गया है और वहां पर कबीर को परम्परापोषित भक्तकवि बनाकर रख दिया गया है तथा उन्हें किसी अदृश्य, अज्ञात शक्ति के आगे गिड़गिड़ाने वाला भावुक भक्त बना डाला गया है।

कोई भी ग्रन्थ चाहे वह मौलिक हो या टीका, यदि वह मनुष्य के आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास को न जगाकर उसे सदैव किसी दूसरे का सहारा पकड़ने एवं उसकी कृपा पाने के लिए रोने-गिड़गिड़ाने की सीख देता है, तो वह मानव समाज की उन्नति में सहायक न होकर बाधक ही बनेगा। इसके विपरीत जो ग्रंथ मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से उठाकर उसे मानवीय धरातल तक लाता है एवं परमुखापेक्षिता तथा परावलंबन की बैसाखी छुड़ाकर स्वावलंबन की ओर प्रेरणा देता है, वही मानव-समाज की

उन्नति में सहायक हो सकता है।

१२. बीजक की क्रांतिकारी टीकाएं तथा यह व्याख्या

कबीर साहेब के क्रांतिकारी विचार उभारने वाली सद्गुरु श्री रामरहस साहेब की भावात्मक टीका 'पंचग्रन्थी' तथा सद्गुरु श्री पूरण साहेब की व्याख्यात्मक टीका 'त्रिज्या' आदि से लेकर कई अन्य टीकाएं हुई हैं। इसी संदर्भ में पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की 'पारख प्रबोधिनी टीका' आज से बीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी और अब तक उसके चार संस्करण निकल भी चुके हैं। परन्तु बहुत दिनों से टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी यह महसूस कर रहे थे कि उस टीका का संशोधन कर उसे और सर्वांगीण, स्वाभाविक तथा समीचीन बनाया जाय। इसके लिए आवश्यक था पूरी टीका नये सिरे से पुनः लिखी जाय, लेकिन ऐसा करना श्रम तथा समय साध्य था। अनेक नये ग्रन्थों के सृजन तथा अन्य कारणों से यह कार्य काफी समय के लिए रोक देना पड़ा, यद्यपि उनके मन में इसकी रूपरेखा काफी पहले बन गयी थी। अंततः लगभग डेढ़ वर्ष के अथक परिश्रम से यह टीका 'पारख प्रबोधिनी व्याख्या' के नाम से १४ अक्टूबर १९८८ को लिखकर पूरी हुई। अधिक विस्तृत होने से यह टीका दो खंडों में रखी गयी है। रमैनी तथा शब्द प्रकरण प्रथम खंड में एवं ज्ञान चौंतीसा से साखी प्रकरण तक दूसरे खंड में।

कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो उसके सारे के सारे विचार सबको एक समान ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकते। प्रस्तुत टीका के लिए भी यही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह टीका मूल पदों के अधिकतम निकट रखी गयी है तथा उनके भावों को प्रकट करने में अधिक सक्षम है। वर्ण्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाणों से संयुक्त यह टीका इतना आकर्षक बन गयी है कि इसका पूर्ण समर्थन न करने वाले भी इसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

इस व्याख्या के सभी प्रकरण के आदि-अंत में हेतु छंद के रूप में एक छंद तथा दोहा एवं फल छंद के रूप में एक छंद तथा चौपाई दिये गये हैं, जो प्रथम संस्करण से हैं। ये सभी छंद, दोहा तथा चौपाई परम श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब जी की रचना हैं।

टीकाकार-द्वारा टीका के प्रथम संस्करण के समय विस्तृत भूमिका लिखी गयी थी, जो पूर्व के चारों संस्करणों तक छपती रही और जो अब संक्षिप्त बीजक-टीका में छपी है तथा 'सन्त सम्राट सद्गुरु कबीर' के नाम से स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार में छपी है। अबकी बार पूरी टीका ही विवेचनात्मक एवं विस्तृत होने से वह भूमिका इस संस्करण में नहीं रखी गयी और टीकाकार पूज्य गुरुदेव जी द्वारा मेरे लिए आज्ञा हुई कि इस संस्करण के लिए भूमिका लिख दी जाय। उनकी आज्ञा एवं कृपा पाकर यह विनम्र प्रयास किया गया है। आशा है यह व्याख्या सभी वर्ग के पाठकों के लिए समान उपयोगी तथा जाति, वर्ण एवं वर्ग विहीन समाज-संरचना की दिशा में प्रेरणादायी होगी और आध्यात्मिक बोध एवं शांति की प्राप्ति के लिए साधन बनेगी।

कबीर संस्थान, इलाहाबाद — **विनम्र**

५ नवंबर, १९८९ — **धर्मेन्द्र दास**

विषयानुक्रमणिका

ज्ञान चौंतीसा

विप्रमतीसी

कहरा

बसन्त

चाचर

बेलि

बिरहुली

हिण्डोला

साखी

बीजक-महिमा

यह बीजक ज्ञान कबीर गुरू का, बन्ध नशाने वाला है।
सब जीवों के हित मारग को, स्पष्ट बताने वाला है॥ टेक॥
सब जीव सदा से भूले ही, विषयों में रमते आये हैं।
उस रमते राम के बन्धन को, कहि विविध 'रमैनी' टाला है॥ १॥
खानी वाणी के शब्द जाल में, जीव सभी उलझाये हैं।
कहि 'शब्द' सैन अति अनुभव से, सब बन्धन काटि निकाला है॥ २॥
विद्वानों के वाणी मद को, हरि 'ज्ञान चौंतिसा' से लीन्हा।
विप्रों की मति-गति शुद्धि हेतु, कहि 'विप्रमतीसी' आला है॥ ३॥
'कहरा' कहि कहर हरे जिव का, कहि 'बसन्त' विषयासक्ति हरे।
मन माया के तम हरे आप, कहि 'चाचर' ज्ञान उजाला है॥ ४॥
अन्तः में स्थिर परम रमैया राम, 'बेलि' में आप कहे।
खानी वाणी की विरह व्यथा, 'बिरहुली' विवेक विशाला है॥ ५॥
अविनाशी जीव कर्म के वश, जन्मादि हिण्डोले में झूले।
परकरण 'हिण्डोला' कहि विधिवत, पारख पद दिया निराला है॥ ६॥
जड़ साक्ष्य दृश्य से सदा पृथक, साक्षी चिद्रूप सदा अपना।
'साखी' कहि सकल ज्ञान खानी, मत पथ द्वन्द्वों का काला है॥ ७॥
ग्यारह परकरणों से भूषित, है पारख ज्ञान भरा 'बीजक'।
रविवत इसके परकाश किरण, तम मोह नशाने वाला है॥ ८॥
अति गूढ़-अगूढ़ द्विविधि पद्यों, शैली युक्ती से भरा ग्रन्थ।
विद्वान भी हैं टक्कर खाते, 'अभिलाष' अल्प मति वाला है॥ ९॥
गुरु सन्त पारखी के द्वारा, गुरुमुख पढ़ने से भेद खुले।
बोधक "सूरत" की कृपा दृष्टि से, पाया बोध उजाला है॥१०॥

गुरु-उपकार स्मृति तथा वन्दना

जिन गुरु कबीर कृपालु के, सच्चिद स्व पारख बोध से।
सब ग्रन्थ पन्थ अनन्त, नाना वेष के परिशोध से॥
भ्रम तम फट्यो, भव भय मिट्यो, निज पद डट्यो अविरोध से।
तिन गुरु कबीर महान के, पद कंज नमूँ प्रमोद से॥१॥

अविकार अक्षय अकाम चेतन, राम जो निज रूप है।
तेहि आप आप बिसारि, मानव भ्रमत भ्रम तम कूप है॥
जड़ मानना जड़ की क्रिया, जड़ दृश्य भास विरूप है।
सबका प्रकाशक भास्कर, पारख स्व चेतन रूप है॥२॥

सन्तुष्ट है नित तृप्त है, नित बोधमय प्रज्ञान है।
जेहि जानता तेहि से पृथक, द्रष्टा स्वरूप सुजान है॥
निज बोध बिन इत उत भ्रमै, निज बोध पाय महान है।
इमि गुरु कबीर निदेश से, लहि परम पारख थान है॥३॥

सब सन्त हैं श्रद्धेय मन- क्रम-वचन जे संयम लिये।
तिन मध्य पारख प्राप्त जे, शिरमौर गुरु सम नित जिये॥
उन सर्व के पद कमल में, करबद्ध नत मस्तक हिये।
बलिहार बारम्बार जो उपकार शुचि सन्तन किये॥४॥

जिनकी कृपा से बोध लहि, सन्देह भ्रम सबही गये।
अरु भेद बीजक का मिल्यो, पद-अर्थ-भाव मनन भये॥
उन प्रेरणा के स्रोत, 'सूरत देव' बोधक चरण में।
करबद्ध नत मस्तक नमूँ, लीजै निभा निज शरण में॥५॥

बीजक समुद्र समान, अवगाहन कठिन तिसका करन।
करता प्रवेश ये दास, प्रभु कीजै कृपा अशरन शरन॥
निर्भ्रान्त निर्भय पक्ष-रहित, कबीर—गुरु के बैन की।
व्याख्या सरस शुचि बोधगम्य, चहौ सुअंजन नैन की॥६॥

बीजक

भाग-२

ज्ञान चौंतीसा

हेतु छन्द

है वर्ण मात्रा संधि मिलि,
बहु शब्द का घनघोर जू।
इह अर्थ भाव विभेद लक्षित,
को गिनै कहँ थोर जू।।
कहुँ भोग विषयानन्द के,
कहुँ योग ब्राह्मिक शोर जू।
दोनों अहन्ता परख डाले,
परख ही सत ओर जू।।

दोहा

शब्द जाल आरण्य में, भटकत जिव विभ्रान्त।
सोइ परखावन हेतु को, चौंतीसा निर्भ्रान्त।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

तृतीय प्रकरण : ज्ञान चौंतीसा

ॐ पर विचार

ॐकार आदि जो जानै। लिख कै मेटै ताहि सो मानै॥
ॐकार कहैं सब कोई। जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥

शब्दार्थ—आदि = मूल, आरम्भक।

भावार्थ—जो यह जानता है कि ॐकार का मूल मनुष्य है, वह यह मानता है कि मनुष्य ही कागज या पाटी पर ॐ लिखकर पुनः उसे काट देने में समर्थ है। ॐ-ॐ तो प्रायः सभी कहते हैं, परंतु जिसने इसकी वास्तविकता की परीक्षा की, वह विरला है।

व्याख्या—ॐ इत्यादि शब्द एवं क से ह तक जितने वर्ण हैं सब मनुष्य के कंठ, तालु, दंत, ओष्ठ आदि से उच्चरित होते हैं।[1] वर्णों के आकार, मात्रा, संधि आदि के

---

१. कौन से वर्ण तथा स्वर किस स्थान से उच्चरित होते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

कंठ से—अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह।
तालु से—इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, श।
मूर्द्धा से—ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष।
दंत से—त, थ, द, ध, न, ल, स।
ओष्ठ से—उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म।
कंठ-तालु से—ए, ऐ।
कंठ-ओष्ठ से—ओ, औ।
दंत-ओष्ठ से—व।

(बृहत् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी)

स्वरूप की व्यवस्था करने वाला मनुष्य जीव ही है। उपर्युक्त ककारादि स्वतन्त्र वर्णों के द्वारा जितनी भाषाएं बनायी गयी हैं, सब काल्पनिक रूढ़ियां है और जितनी लिपियां हैं, सांकेतिक चिह्न हैं। इनका निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है।

वैदिक आर्यों में पूजा[१] की पद्धति नहीं थी। वे पूजा शब्द भी नहीं जानते थे। अतएव मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हां, वे आगे चलकर उपासना करने लगे थे, जो मन को एकाग्र करने का प्रयास है। आरम्भिक साधक को कोई अवलम्ब चाहिए। अतः उन्होंने 'ॐ' की कल्पना की। मनुष्य खा-पीकर जब खाट पर लेटने जाता है तब प्रायः कहता है 'ओम'। गाय-बैल भी अपनी इच्छा व्यक्त करने के लिए जब बोलते हैं तब उनके मुख से आवाज निकलती है 'ओं-ओं'। मनुष्य ने इन शब्दों का विकास करके 'ॐ' शब्द की कल्पना की। वह 'ॐ' को प्रतीक मानकर इसमें मन रोकने लगा। जब कोई वस्तु श्रद्धास्पद होती है, तब उसकी व्याख्या बढ़ने लगती है। अतएव उत्तरोत्तर 'ॐ' की व्याख्या बढ़ने लगी।

ॐ की व्याख्या अनेक ग्रन्थों में अनेक मतों-द्वारा अनेक प्रकार से की गयी है। थोड़ी बानगी लें—

"प्रणव का बोध कराने के लिए उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहां प्रसिद्ध आगमों की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओंकार के अवयवों के नाम हैं—अ, उ, म, विन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य समना तथा उन्मना। इनमें से अकार, उकार और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और संहार के संपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारांतर से ये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के भी वाचक हैं। विन्दु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओं का स्थितिकाल क्रमशः संक्षिप्त होकर अन्त में एक मात्रा में पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा पर समग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि में पहुंचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिए इस

---

१. "आज घर-घर में हवन नहीं, पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप, दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं। एक समय यह समझा जाता था कि पूजा संस्कृत शब्द है, जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किंतु यह मान्यता अब नहीं चलती। अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं 'पू' और 'जै' (शइ) के योग से बना है। तमिल में 'पू' का अर्थ पुष्प होता है और 'जै' का अर्थ कर्म। अतएव 'पू' और 'जै' के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहां फिर अहिंसा की परम्परा, मूल में, द्राविड़ दिखाई देती है, क्योंकि हवन पशु-कर्म था। पीछे आर्यों के यहां भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पड़ा। पूजा के प्रेमी कभी-कभी हवन भी करते हैं, किन्तु अहिंसक ढंग से। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति नूतन अवदानों को ग्रहण करने के बाद भी अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती आयी है।"

(रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ७२-७३)

एक मात्रा का भी भेद कर अर्ध मात्रा में प्रविष्ट हुआ जाता है। तदुपरान्त क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओं का भेद करना पड़ता है। बिंदु अर्ध मात्रा है। उसके अनंतर प्रत्येक स्तर में मात्राओं का विभाग है। समना भूमि में जाने के बाद मात्राएं इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरों के लिए उसके आगे बढ़ना संभव नहीं होता, अर्थात वहां की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यों का उपदेश है कि इसी स्थान में मात्राओं को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोड़ा-सा आभास मांडूक्य उपनिषद् में मिलता है।

"बिन्दु मन का भी रूप है। मात्राविभाग के साथ-साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म हो जाता है। अमात्र भूमि में मन, काल, कलना, देवता और प्रपंच, ये कुछ भी नहीं रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहां स्वयं प्रकाश ब्रह्म निरन्तर प्रकाशमान रहता है।"[१]

"सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है तो एक बड़ा घोर शब्द अर्थरहित गूंज के साथ निकलता है, जैसे इंजन में होता है और वह बड़ी देर तक रहता है। उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ अथवा 'अ, उ, म' में उसका आरोप कर लेते हैं। और जब वह शब्द फट जाता है, तब उसमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्व सूक्ष्मरूप से निकल आते हैं। फिर वह शब्द शान्त होकर लुप्त हो जाता है। इन आकाशादि पंच तत्वों-द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसीलिए जो कुछ सृष्टि है, सब 'ओंकार' रूप ही है। इस कारण ओंकार की उपासना अति श्रेष्ठ है।

"जब ईश्वर ने जीवों के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि रचने की इच्छा की, तो प्रथम शब्द ध्वन्यात्मक ॐ—ऐसा निकला। उसी से उसके पश्चात वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' उत्पन्न हुआ। अर्थात एक अद्वितीय ओंकाररूप ब्रह्म में मैं बहुत प्रकार से होऊँ, यह इच्छा होते ही चराचर सृष्टि उत्पन्न हो गयी। इसलिए जितनी सृष्टि है चाहे प्रकट भाव से हो या अप्रकट भाव से हो वह सब ब्रह्म ही है अथवा ॐकार रूप है। वेदों में जो ऋचा के पहले या पीछे ॐ का प्रयोग किया जाता है वह यह बताता है कि जो कुछ ॐ शब्द के पश्चात कहा जायगा या पीछे कहा गया है, वह सब ओंकार रूप ही है, उससे पृथक कोई वस्तु नहीं है। ॐकार में तीन अक्षर हैं—'अ+उ+म'। 'ा' का अर्थ है—जाग्रत का अभिमानी देवता विश्व, 'उ' का वाच्य है स्वप्न का अभिमानी देवता तैजस, तथा 'म' से बोध्य है—सुषुप्ति का अभिमानी देवता प्राज्ञ। तात्पर्य यह है कि तीनों अवस्थाओं के जो पृथक-पृथक अभिमानी देवता हैं, वे ॐकार रूप ही हैं, मायाविशिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट ये भी ॐकार रूप ही हैं। भाव यह कि ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त सब ॐकार रूप ही है।"[२]

---

१. हिन्दी विश्व कोश, नागरी प्रचारिणी काशी।

२. कल्याण, उपासना-अंक. वर्ष ४२, पृष्ठ १८२।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् इति'[१]

'ओम' यह अक्षर ही सारा यह जगत है।'

अब हम उक्त बातों पर थोड़ी समीक्षा करें—सृष्टि के आदि में जो शब्द हुआ, उसमें जीवन्मुक्तों ने ॐ का आरोप किया। सृष्टि के प्रथम जीवन्मुक्त कहां रहते थे? उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह स्थावर-जंगम समस्त विश्व ॐ ही है। अब यदि मुमुक्षु को संसार का अध्यास छोड़ना है तो ॐ को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि ॐ और जगत दो वस्तु नहीं हैं।

ॐ, ब्रह्म, जगत—एकार्थ बोधक हैं, अर्थात उक्त तीनों शब्दों का तात्पर्य एक है। जो ॐ और ब्रह्म दुखपूर्ण जगत ही है, विवेकियों के लिए वह कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तव में ॐ को कागज और पाटी पर लिखने तथा काट देने वाला यह मनुष्य जीव ही स्वतन्त्र है। सारी कल्पनाएं इसी की हैं; अतः मनुष्य जीव ही सर्वोपरि है, ॐ नहीं।

कबीर साहेब भावना में बहने वाले व्यक्ति नहीं हैं, किंतु वे तथ्यपरक विचार के पक्षधर हैं। अतएव वे भावना के कुहासे को छांटकर वास्तविकता का दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं 'ॐ' शब्द की कल्पना मनुष्य ने की। वही पाटी और कागज पर उसे लिखता तथा वही उसे काटकर मिटाता है। इसलिए मनुष्य ही 'ॐ' का मूल है, सिरजक है। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता, वह अध्यात्म को क्या समझ सकता है! मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। ॐ तो मनुष्य का कल्पित शब्द मात्र है। कबीर देव ने अन्यत्र भी कहा है—"मैं तोहि पूछौं पंडिता, शब्द बड़ा की जीव।"[२]

आरम्भ में साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने मतानुसार नाद, बिंदु, ॐ, किसी महापुरुष का चित्र आदि कुछ भी ले, उसके लिए यहां कोई खंडन नहीं किया जा रहा है। अनर्थ है इन सब कल्पित अवधारणाओं को सर्वोच्च मान लेना और अपने स्वरूपभाव को भूल जाना। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य की अपनी आत्मा सर्वोपरि है और मानवतावादी कबीर देव का यही निर्देश है।

सद्गुरु ने इस ज्ञान चौंतीसा प्रकरण में प्रायः परमत-खंडन से हटकर स्वरूपज्ञान, वैराग्य, मनोनिग्रह एवं साधनात्मक बातें कही हैं, जो बड़ी मार्मिक हैं। क से क्ष तक के चौंतीस अक्षरों को माध्यम बनाकर ग्रन्थकार ने जो ज्ञानगंगा बहायी है उसमें साधक को निमज्जन करना चाहिए।

स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति

क

कका कँवल किर्ण में पावै। शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै।।
तहाँ कुसुम रंग जो पावै। औगह गहि के गगन रहावै।। १ ।।

---

१. मांडूक्य उपनिषद्, मंत्र १।

२. बीजक, साखी २२।

शब्दार्थ—कँवल = कमल, हृदय। किर्ण = किरण, रश्मियां, प्रकाश, ज्ञान। शशि = चन्द्रमा, मन। ब्रिगसित = विकसित, जाग्रत। सम्पुट = बंद होना, जड़ता। कुसुम रंग = पीला रंग, स्वर्ण रंग, तात्पर्य में तथ्य। औगह = मन-वाणी से परे। गगन = हृदय।

भावार्थ—'क' अक्षर कहता है, अर्थात सद्गुरु कबीर क अक्षर को माध्यम बनाकर उपदेश करते हैं कि हे साधक! हृदय-कमल के ज्ञान-प्रकाश में ही तुम स्वस्वरूप का बोध पाओगे, किन्तु शर्त यह है कि तुम्हारा मन विकसित एवं प्रबुद्ध हो। वह विषय-वासनाओं में सुप्त न हो जाय। ज्ञान से प्रकाशित हृदय में जब स्वर्णिम स्वरूपबोध प्राप्त करो, तब उस अग्राह्य ध्येय-वस्तु को ग्रहणकर हृदय में स्थित रहो ॥१॥

व्याख्या—क अक्षर से सद्गुरु ने कमल लिया है, जो तात्पर्य में हृदय है। मनुष्य का हृदय-कमल ज्ञान-प्रकाश का पुंज है। परन्तु वह विषय-वासनाओं के परदे से ढका है। जब वह परदा हटता है, तब मनुष्य का हृदय ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है। ऐसे आलोकित हृदय में ही स्वरूपबोध, आत्मबोध एवं तत्त्वबोध होता है। विकारों से भरे हुए मन में स्वरूपबोध नहीं हो सकता। सत्संग, गुरु-उपासना, सेवा, विनम्रता, भक्ति आदि से हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदय में विवेक जाग्रत होता है। जिसका विवेक सदैव जगा रहता है उसका हृदय सदैव प्रकाशित रहता है। जिसका हृदय सदैव ज्ञान से प्रकाशित रहता है, वही 'स्व' और 'पर' के भेद को समझकर 'पर' से 'स्व' को छुड़ा लेता है। 'पर' जड़ है, भास है, पांच विषय है, दृश्य है; और 'स्व' चेतन है, भास्कर है, द्रष्टा एवं ज्ञानरूप है। पर से मुक्त होकर 'स्व' में स्थित होना ही मानव की आत्मा की सहज मांग है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें आत्मबोध एवं आत्मसंतोष की प्राप्ति अपने ज्ञानालोकित हृदय में ही होगी।

स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की निरंतरता बनी रहे, इसके लिए शर्त है "शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै" अर्थात मन सदैव जाग्रत रहे। वह विषयों में मूढ़ एवं सुप्त न बने। शशि कहते हैं चन्द्रमा को। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है। इसलिए यहां चन्द्रमा से अर्थ मन है। तेरहवीं रमैनी में भी जहां कहा गया है "ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई" वहां भी चन्द्रमा का अर्थ मन ही है। सद्गुरु कहते हैं कि साधक का मन सदैव विकसित, चिन्तनशील, विवेकशील एवं जाग्रत रहना चाहिए। साधक सदैव अपने मन पर सावधान रहे। उसे विषयों के स्मरणों में न डूबने दे। अन्यथा वह उसी में प्रसुप्त हो जायेगा। विषयों में डूबा मन स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के योग्य नहीं रह जाता। अतएव साधक को चाहिए कि वह एकरस स्वरूपस्थिति को बनाये रखने के लिए अपने मन को जाग्रत रखे।

"तहाँ कुसुम रंग जो पावै" यहां कुसुम रंग का शाब्दिक अर्थ न लगाकर लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। कुसुम रंग का अर्थ यहां पीला रंग नहीं है, किन्तु शुद्ध स्वरूपज्ञान है। साखी प्रकरण में सद्गुरु ने कहा है "हंसा तू सुवर्ण वर्ण"[1] यह सुवर्ण वर्ण या

---

१. बीजक, साखी १४।

"औगह गहि के गगन रहावै" अपना स्वरूप अपने आपको अग्राह्य है, परन्तु उसे ही ग्रहण करके शांत होना है। प्रश्न होता है कि अग्राह्य ग्राह्य कैसे हो सकता है? उत्तर साफ है। हम अपने दाहिने हाथ को दाहिने हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु हाथ तो हमारा ही है, ऐसा समझ लें तो हाथ पकड़ा हुआ ही है। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख सकते; किन्तु अन्य को देखने से यह स्वतः सिद्ध है कि हमारी आंखें हैं। अपने चेतनस्वरूप को अलग से पकड़ने की बात ही असंभव है, किंतु "मैं ही चेतनस्वरूप हूं" इसको तत्त्व से समझ लेने पर वह पकड़ा हुआ हो गया। इसलिए 'औगह' को ही 'गहना' है। जो पकड़ने में नहीं आता उस स्वस्वरूप को ही पकड़ना है। अर्थ है समझकर शांत होना।

"गगन रहावै" का अर्थ है हृदय में शांत रहे। हृदय ही चेतन हंस का आकाश है। श्रुति भी कहती है "वह आत्मा हृदय में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसलिए हैं, क्योंकि 'हृदि+अयम्' वह हृदय में है। जो इस रहस्य को दिन प्रतिदिन जानता है, वह उसे बाहर ढूंढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूंढ़ता है और वहीं मानो स्वर्ग को पा लेता है।"[१]

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे दोष हैं, उन्हें जीतो

ख

खखा चाहै खोरि मनावै। खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै॥
खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये। होय न खीन अक्षयपद लहिये॥ २ ॥

शब्दार्थ—खोरि = गली, इन्द्रियां, दोष, बुराई। मनावै = सुधार करे। खसमहिं = पति को, मालिक को। खसमहि = दुश्मन को, शत्रु को। खसम अरबी शब्द है, इसके अर्थ पति और शत्रु, दोनों होते हैं।

भावार्थ—ख अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मन-इंद्रियों को अपने वश में करो तथा उनमें पड़े हुए दोषों का सुधार करो। क्योंकि यह मनोवृत्ति चेतनस्वरूप-पति को छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। तुम्हारी बुराइयां ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन्हें छोड़ दो और दूसरों-द्वारा अपने ऊपर किये गये आघात के अपराध को क्षमा करो। फिर तुम पतित नहीं होओगे, प्रत्युत अविनाशी-पद को प्राप्त करोगे॥२॥

---

१. स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति।
तस्मादृहृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥
(छांदोग्य उप० ८/३/३, सत्यव्रत सिद्धांतालंकार की टीका)

में शांति नहीं मिल सकती। जो तथाकथित धार्मिक गुरु मोक्ष के सस्ते नुस्खे बांटते घूमते हैं और सारी बुराइयों में डूबे रहने पर भी केवल छूमंतर से मोक्ष देते हैं, वे साधकों को भ्रम में डालते हैं। कबीर साहेब महंगे गुरु हैं। वे किसी को धोखा देना नहीं जानते, अपितु खरी-खरी बातें कहते हैं। वे कहते हैं दोषों का त्याग तथा मन-इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना कल्याण है ही नहीं।

'खसम'[1] अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'पति' एवं मालिक है और 'शत्रु' भी है। ये दोनों इसके परिनिष्ठित अर्थ हैं। जबर्दस्त भाषाशिल्पी कबीर साहेब ने यहां पहली पंक्ति में खसम का अर्थ 'पति' और दूसरी पंक्ति में खसम का अर्थ 'शत्रु' मानकर उसका यथायोग्य प्रयोग किया है। वे कहते हैं "खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै" अर्थात यह मनोवृत्ति पति—चेतन देव स्वस्वरूप का स्मरण छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। यह चेतन जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का पति है। परन्तु विषयी मन स्व-स्वरूप चेतन का स्मरण छोड़कर विषयों में भटकता है। इसलिए इन्द्रिय-विषयों एवं बुराइयों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विषय-त्याग से मन निर्मल होगा और वह आत्मचिन्तन का अनुरागी होगा।

संसारी लोगों के जीवन में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएं हैं ही, किन्तु साधक तथा विवेकवान को भी अपने जीवन में ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने अज्ञान एवं ईर्ष्यावश उनके साथ शत्रुता का बरताव करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे भटके लोग तुम्हारे साथ भले ही शत्रुता का बरताव करें, परन्तु वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। क्योंकि वे तुम्हारी आध्यात्मिक हानि नहीं कर सकते। अतएव उन पर दया करो और उन्हें हृदय से क्षमा कर दो। शत्रु तो तुम्हारे दोष हैं, तुम्हारे मन-इन्द्रियों की बुराइयां हैं। तुम उन्हें छोड़ो। "खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये।" अर्थात अपने दोषरूपी शत्रुओं को छोड़ो और अपने भूलवश जो लोग तुम्हारी आलोचना में लगे हैं; उन्हें क्षमा करो। वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। वे तुम्हारा कोई नुकसान नहीं कर सकते। तुम्हारा पतन तो तुम्हारी बुराइयां करती हैं। तुम्हारे मन-इन्द्रियों की लंपटता तुम्हारे पतन का कारण है।

तुम अपनी कमजोरियों, बुराइयों, इन्द्रियलंपटताओं, मन की चंचलताओं को छोड़ दो, तो अन्य कोई तुम्हारा पतन नहीं कर सकता। "होय न खीन अक्षय पद लहिये" जिसने अपने में रहे हुए दोषों का त्याग कर दिया, उसको पतित करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। वह अक्षयपद का अधिकारी होता है। प्रत्यक्ष है, संसार में जिसने दोषों को जीतकर आत्मविजय प्राप्त की वह अक्षय एवं अमृतपद का अधिकारी हुआ। अपने विरोधियों से

---

१. संस्कृत भाषा में 'ख' का मुख्य अर्थ शून्य एवं आकाश किया गया है। उसमें 'सम' मिलाकर आकाश के समान अर्थ होगा। किन्तु कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में प्रायः अरबी भाषा के खसम का ही प्रयोग किया है।

है, वही पाता है, जो क्षीण-दोष है।[1]

गुरुवचनों के आचरण से ही शांति

ग

गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥
तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई। औगह गहि के गगन रहाई॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बिहंगम = विहंगम, पक्षी, तात्पर्य में मन। गगन = आकाश, हृदय।

भावार्थ—ग अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि गुरु के वचनों को मानो और दूसरे शब्दों पर कान न दो। गुरु-उपदेश के आचरण करने का फल स्वरूपस्थिति है जिसमें मन-पक्षी का प्रवेश कभी नहीं होता, और साधक अपने निराधार एवं असंग स्वरूप का भाव ग्रहणकर हृदय में शांत हो जाता है॥३॥

व्याख्या—"गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥" इस वाक्य में गुरु के वचनों को मानने पर जोर दिया गया है और दूसरे वचनों पर ध्यान न देने का सुझाव दिया गया है। यहां कोई स्थूल अर्थ न मान ले कि किसी भी गुरु नामधारी के वचनों को मान लेने की बात यहां कही गयी है। यह सच है कि सच्चे गुरु भी होते हैं जिनके ज्ञान और आचरण दोनों पवित्र होते हैं और उनकी बातों को बेधड़क मान लेने में साधक का कल्याण ही है। परन्तु ऐसे भी गुरु होते हैं जो आंशिक या सर्वाधिक कमजोर होते हैं। अतएव सुरक्षित मार्ग यही है कि निर्णय वचनों को ही गुरुवचन माना जाय। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने कहा भी है "निर्णय बानी गुरुमुख होई" अर्थात निर्णय वचन ही गुरुमुख वचन है। दो-दो चार गुरुमुख वाणी एवं गुरुवचन है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सदैव निर्णय वचनों पर ध्यान दो। रोचक, भयानक एवं महिमापरक वचनों पर ध्यान न दो। गुरुनिर्णय एवं गुरुवचन स्वरूपज्ञान का परिचय कराने वाले हैं। गुरुवचनों का पूर्ण पालन करने पर जीव अपने स्वरूपस्थितिधाम में विश्राम पा जाता है। अतएव गुरुवचनों का फल है स्वरूपस्थिति; और स्वरूपस्थिति में मन-पक्षी का कभी प्रवेश नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि साधक जब तक स्मरणों का सर्वथा परित्याग करके स्वरूपस्थ रहता है, तब तक वहां मन की गति नहीं रहती; परन्तु जब साधक समाधि से उठकर व्यवहार में लगता है, तब मन का व्यापार तो चलता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में मन की मलिनता न रहने से मानो मन का उपशमन ही रहता है। अर्थात उसके हृदय से अशुद्ध मन सर्वथा मिट जाता है। अभ्यासकाल में संकल्पहीनता तथा व्यवहारकाल में आसक्तिहीनता—यही स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति है। समाधिकाल में

---

१. यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः।

"दूसर शब्द करो नहिं कान" यह वाक्यांश भी ध्यान देने योग्य है। यदि साधक रोचक, भयानक, महिमापरक, विषय-वासना-उत्तेजक, प्रपंचवर्द्धक साहित्य एवं वचनों को पढ़ता, सुनता एवं उनकी ज्यादा चर्चा करता है तो उसका हृदय सांसारिक वासनाओं से भर जायेगा और वह स्वरूपस्थिति का काम नहीं कर पायेगा। अतएव शांतिइच्छुक साधकों को प्रापंचिक वाणियों को छोड़कर गुरुवचनों एवं स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का ही मनन-चिन्तन करना चाहिए।

"औगह गहि के गगन रहाई" इस वाक्यांश का स्पष्ट विवेचन 'क' अक्षर के प्रसंग के अन्त में हो चुका है। वही अभिप्राय यहां समझ लेना चाहिए।

शरीराध्यास का त्याग मोक्ष में हेतु

घ

घघा घट बिनसै घट होई। घटही में घट राखु समोई॥
जो घट घटै घटहि फिरि आवै। घट ही में फिर घटहि समावै॥ ४॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। समोई = शमन। घटै = आसक्त होय, देहासक्ति रचे। समावै = प्रविष्ट होना।

भावार्थ—घ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि एक शरीर के नष्ट होने पर पुनः दूसरा शरीर बनता है। अतः इस शरीर का अध्यास इसी शरीर में रहते-रहते नष्ट कर दो। परंतु यदि विषयों की आसक्ति में पड़कर मन में शरीरासक्ति की रचना करोगे, तो शरीर में पुनः आना पड़ेगा, और सूक्ष्म शरीर सहित माता के गर्भाशय रूपी घट में प्रविष्ट होकर पुनः शरीर बनेगा॥४॥

व्याख्या—एक शरीर जब छूट जाता है, तब कर्मों के जोर से पुनः दूसरा शरीर बनता है। इस प्रकार कर्माध्यासवश यह जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता चला जाता है, और इस भवसागर में भटकता रहता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल शरीर का नष्ट होना जरूरी नहीं है, किन्तु वासना का नाश जरूरी है। अतः सद्गुरु कहते हैं "घटही में घट राखु समोई" अर्थात इस शरीर में रहते हुए शरीर की आसक्ति का ध्वंस कर दो।

यदि जीव घट में रहकर घटेगा, अर्थात शरीर में रहते हुए शरीराध्यास एवं विषय-वासनाओं में क्षीण होगा, और विषयासक्ति की ही रचना करेगा, तो उसे पुनः घट में आना पड़ेगा। उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा।

उक्त पद में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है कि एक शरीर का नाश जीवनक्रम का अन्त नहीं है, अपितु जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता रहता है।

लड़-लड़कर किसी को आत्मसंतोष नहीं मिल सकता है, किन्तु अपनी बुराइयों को छोड़कर तथा विरोधियों को दिल से क्षमा करके ही आत्मसंतोष मिल सकता है। यही अक्षयपद, अमृतपद, मोक्षपद, निर्वाणपद का रास्ता है। श्रुति भी कहती है कि मोक्ष को वही देखता है, वही पाता है, जो क्षीण-दोष है।[1]

गुरुवचनों के आचरण से ही शांति

ग

गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥
तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई। औगह गहि के गगन रहाई॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बिहंगम = विहंगम, पक्षी, तात्पर्य में मन। गगन = आकाश, हृदय।

भावार्थ—ग अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि गुरु के वचनों को मानो और दूसरे शब्दों पर कान न दो। गुरु-उपदेश के आचरण करने का फल स्वरूपस्थिति है जिसमें मन-पक्षी का प्रवेश कभी नहीं होता, और साधक अपने निराधार एवं असंग स्वरूप का भाव ग्रहणकर हृदय में शांत हो जाता है॥३॥

व्याख्या—"गगा गुरु के बचनहिं मान। दूसर शब्द करो नहिं कान॥" इस वाक्य में गुरु के वचनों को मानने पर जोर दिया गया है और दूसरे वचनों पर ध्यान न देने का सुझाव दिया गया है। यहां कोई स्थूल अर्थ न मान ले कि किसी भी गुरु नामधारी के वचनों को मान लेने की बात यहां कही गयी है। यह सच है कि सच्चे गुरु भी होते हैं जिनके ज्ञान और आचरण दोनों पवित्र होते हैं और उनकी बातों को बेधड़क मान लेने में साधक का कल्याण ही है। परन्तु ऐसे भी गुरु होते हैं जो आंशिक या सर्वाधिक कमजोर होते हैं। अतएव सुरक्षित मार्ग यही है कि निर्णय वचनों को ही गुरुवचन माना जाय। परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने कहा भी है "निर्णय बानी गुरुमुख होई" अर्थात निर्णय वचन ही गुरुमुख वचन है। दो-दो चार गुरुमुख वाणी एवं गुरुवचन है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सदैव निर्णय वचनों पर ध्यान दो। रोचक, भयानक एवं महिमापरक वचनों पर ध्यान न दो। गुरुनिर्णय एवं गुरुवचन स्वरूपज्ञान का परिचय कराने वाले हैं। गुरुवचनों का पूर्ण पालन करने पर जीव अपने स्वरूपस्थितिधाम में विश्राम पा जाता है। अतएव गुरुवचनों का फल है स्वरूपस्थिति; और स्वरूपस्थिति में मन-पक्षी का कभी प्रवेश नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि साधक जब तक स्मरणों का सर्वथा परित्याग करके स्वरूपस्थ रहता है, तब तक वहां मन की गति नहीं रहती; परन्तु जब साधक समाधि से उठकर व्यवहार में लगता है, तब मन का व्यापार तो चलता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में मन की मलिनता न रहने से मानो मन का उपशमन ही रहता है। अर्थात उसके हृदय से अशुद्ध मन सर्वथा मिट जाता है। अभ्यासकाल में संकल्पहीनता तथा व्यवहारकाल में आसक्तिहीनता—यही स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति है। समाधिकाल में

---

१. यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः।

किसी प्रकार का मन नहीं रहता और व्यवहारकाल में अशुद्ध मन नहीं रहता। ऐसे स्वरूपस्थ पुरुष मानो मन से सदैव मुक्त ही हैं। अतएव "तहाँ बिहंगम कबहुँ न जाई" यह गुरुवचन प्रामाणिक और व्यावहारिक भी है।

"दूसर शब्द करो नहिं कान" यह वाक्यांश भी ध्यान देने योग्य है। यदि साधक रोचक, भयानक, महिमापरक, विषय-वासना-उत्तेजक, प्रपंचवर्द्धक साहित्य एवं वचनों को पढ़ता, सुनता एवं उनकी ज्यादा चर्चा करता है तो उसका हृदय सांसारिक वासनाओं से भर जायेगा और वह स्वरूपस्थिति का काम नहीं कर पायेगा। अतएव शांतिइच्छुक साधकों को प्रापंचिक वाणियों को छोड़कर गुरुवचनों एवं स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का ही मनन-चिन्तन करना चाहिए।

"औगह गहि के गगन रहाई" इस वाक्यांश का स्पष्ट विवेचन 'क' अक्षर के प्रसंग के अन्त में हो चुका है। वही अभिप्राय यहां समझ लेना चाहिए।

शरीराध्यास का त्याग मोक्ष में हेतु

घ

घघा घट बिनसै घट होई। घटही में घट राखु समोई॥
जो घट घटै घटहि फिरि आवै। घट ही में फिर घटहि समावै॥ ४ ॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। समोई = शमन। घटै = आसक्त होय, देहासक्ति रचे। समावै = प्रविष्ट होना।

भावार्थ—घ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि एक शरीर के नष्ट होने पर पुनः दूसरा शरीर बनता है। अतः इस शरीर का अध्यास इसी शरीर में रहते-रहते नष्ट कर दो। परंतु यदि विषयों की आसक्ति में पड़कर मन में शरीरासक्ति की रचना करोगे, तो शरीर में पुनः आना पड़ेगा, और सूक्ष्म शरीर सहित माता के गर्भाशय रूपी घट में प्रविष्ट होकर पुनः शरीर बनेगा।।४।।

व्याख्या—एक शरीर जब छूट जाता है, तब कर्मों के जोर से पुनः दूसरा शरीर बनता है। इस प्रकार कर्माध्यासवश यह जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता चला जाता है, और इस भवसागर में भटकता रहता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल शरीर का नष्ट होना जरूरी नहीं है, किन्तु वासना का नाश जरूरी है। अतः सद्गुरु कहते हैं "घटही में घट राखु समोई" अर्थात इस शरीर में रहते हुए शरीर की आसक्ति का ध्वंस कर दो।

यदि जीव घट में रहकर घटेगा, अर्थात शरीर में रहते हुए शरीराध्यास एवं विषय-वासनाओं में क्षीण होगा, और विषयासक्ति की ही रचना करेगा, तो उसे पुनः घट में आना पड़ेगा। उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा।

उक्त पद में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं। पहली बात है कि एक शरीर का नाश जीवनक्रम का अन्त नहीं है, अपितु जीव एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता रहता है।

दूसरी बात है कि कहीं भी लौटने का कारण अवशेष वासना ही है। अंतिम तीसरी बात सद्गुरु की आज्ञा है कि शरीर में रहते-रहते शरीर की वासना का त्याग कर दो—"घटही में घट राखु समोई"।

जन्मांतरवाद एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसके बिना संसार का समाधान असंभव है। सद्गुरु कबीर जन्मांतरवाद के प्रबल पक्षधर हैं।

कहीं लौटने का कारण अवशेष वासना, इच्छादि हैं। हम बाजार जाते हैं, यदि सौदा पूरा लिये बिना ही किसी कारणवश घर लौट आते हैं, तो दूसरे दिन हमें पुनः बाजार जाना पड़ता है। जब तक हमारे खाने, भोगने, देखने, करने, पाने, शरीर में रहने आदि की वासना नहीं मिटती, तब तक हमें शरीर में आना ही पड़ेगा।

इसलिए सद्गुरु आज्ञा देते हैं कि हे मुमुक्षु! इस शरीर में रहते-रहते सारी वासनाएं नष्ट कर दो। यद्यपि ज्ञानी पुरुष को भी जीवनपर्यन्त खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, लेना-देना तथा शरीर की सारी क्रियाएं करना पड़ता है; परन्तु वह केवल शरीर की रक्षा एवं निज-पर के कल्याण के लिए ही सारी क्रियाएं करता है। उसे कहीं भी आसक्ति नहीं होती।

देहाभिमानरहित वासना से एकदम छुटा हुआ जीवन ही अमृत जीवन है। यही परमानन्द है। यही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है। मनुष्य को इस अवस्था में पहुंचकर कृतार्थ होना चाहिए। सद्गुरु ने अन्यत्र भी कहा है—"अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" (बसन्त ७)।

धैर्य सफलता की कुंजी

ङ

ङङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नैन रहे रतनाई॥
निमिष एक जो निरखै पावै। ताहि निमिष में नैन छिपावै॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निरखत = देखते हुए। निमिष = पलक मारने भर का समय, पल, क्षण।

भावार्थ—ङ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! अपना लक्ष्य देखते हुए तुम्हारे रात-दिन बीतते जा रहे हैं; और देखते-देखते तुम्हारे नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं। किंतु जिस एक क्षण में तुम्हें लक्ष्य की प्राप्ति होना संभव होता है, उसी में तुम अपने नेत्र बंद कर लेते हो॥५॥

व्याख्या—यहां नेत्र से देखने का अभिधा (शाब्दिक) अर्थ न कर लक्षणा अर्थ करना चाहिए। अर्थात यहां कोई निरे चर्म-नेत्रों से देखने का अभिप्राय नहीं है। किन्तु अर्थ है कि साधक साधना में निरन्तर विलंब तक अथक श्रम करता है; परन्तु जब उसे सफलता मिलने का अवसर आता है, तब वह धैर्य छोड़ बैठता है।

कोई किसान खेत जोतता है, गोड़ता है, उसमें खाद-पानी डालता है, बीज डालता है, उसके बाद भी वह तीन-चार महीनों तक उसकी कमाई, रक्षादि करता है, किन्तु यदि वह

अंत में परिश्रम से घबराकर फसल को अंतिम पानी नहीं देता या उसकी बनैले पशु-पक्षियों एवं चोरों से रक्षा नहीं करता, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। बहुत काल तक अटूट परिश्रम करने पर भी लक्ष्य-प्राप्ति के पहले धैर्य छोड़ देने पर कार्य में सफलता नहीं हो सकती।

बहुत-से साधक इसी ढंग के होते हैं। वे थोड़े-थोड़े में घबराते हैं। वे कोई भी साधना शुरू करते हैं। तत्काल वांछित सफलता न मिलने के कारण उसे छोड़ बैठते हैं। यह उनके रजोगुणी स्वभाव एवं चंचलता का ही फल होता है।

ध्यान में बैठे, मन दो-चार बार भाग खड़ा हुआ, तो साधना छोड़ बैठे। अरे भाई! यदि मन बीस बार भागता है तो उसे इक्कीसवीं बार शांत करो। यदि वह सौ बार भागता है, तो एक सौ एकवीं बार उसे पकड़ो। धैर्य क्यों छोड़ते हो!

खेती, व्यापार, नौकरी, विद्याध्ययन, किसी कला का ज्ञान, स्वाध्याय, सेवा, साधना—किसी भी दिशा में सफलता तभी मिल सकती है जब न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक तब तक श्रम करता रहे जब तक सफलता न मिले।

भौतिक क्षेत्र की उपलब्धि के क्रम में तो यह भी है कि कभी-कभी पूर्ण परिश्रम करते रहने पर भी वांछित सफलता नहीं मिलती; किन्तु मानसिक शांति एवं स्वरूपस्थिति की सफलता में तो दो राय हैं ही नहीं। धैर्यपूर्वक सच्चाई से सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगने पर सफलता होगी ही।

ग्रहण में सब परवश हैं तथा त्याग में सब स्वतन्त्र हैं। हमें अमुक वस्तु चाहिए, इसमें हम परतन्त्र हैं; क्योंकि संसार की वस्तुएं नाना प्राणी-पदार्थों एवं परिस्थितियों के अधीन हैं। किन्तु हमें कुछ नहीं चाहिए, इसमें क्या परतन्त्रता है! त्याग में शांति है, और त्याग करने में सभी व्यक्ति सब समय स्वतन्त्र हैं। अतः त्याग-मार्ग की साधना में घबराना अज्ञान ही है।

सद्गुरु विशाल साहेब ने ठीक ही कहा है—जिसके स्मरण में, ध्यान में, आचरण में, निश्चय में सुख-ही-सुख है उस स्वरूपस्थिति में क्या घाटा पड़ रहा है जो साधक अन्य प्रपंच में अपना मन लगावे। यथा—

जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुखध्येय।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय।।

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक, साखी ११२)

चेतन भौतिक चित्रों से भिन्न है

च

चचा चित्र रचो बड़ भारी। चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी।।
जिन्ह यह चित्र विचित्र है खेला। चित्र छोड़ि तैं चेतु चितेला।। ६ ।।

शब्दार्थ—चित्र = कल्पनाएं, वस्तु-प्राणियों की मान्यताएं। चित्रकारी = चेतन जीव। विचित्र = भौतिक एवं मानसिक चित्रों से भिन्न चितेरा चेतन। चितेला = चितेरा, चित्र रचने वाला चेतन जीव।

भावार्थ—जीव की कल्पना ने खानी-वाणी के बड़े भारी चित्र रचकर खड़ा किये हैं। चित्र-रचयिता हे चेतन! दृश्य-चित्रों को छोड़कर तू सावधान हो जा। जिस विचित्र चेतन ने खिलाड़ी बनकर इन चित्रों का खेल खेला है, वह तू ही है। हे चेतने वाले चेतन मनुष्य! चित्रों की आसक्ति त्यागकर तू जग जा।।६।।

व्याख्या—पति, पत्नी, बच्चे, घर, जमीन, धन, जाति, पांति, नाम, रूप, परोक्ष ईश्वर, देवी, देवता, भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन आदि की मान्यताओं के नाना चित्र बनाकर जीव उन्हीं में उलझ गया है। "चित्र रचो बड़ भारी" बड़ा मार्मिक वचन है। हम मान्यताओं के बड़े-बड़े चित्र बना लेते हैं और उन्हीं चित्रों में अपनी वास्तविकता को भूल जाते हैं। हमारे असली चेहरे पर इतने नकली चेहरे चिपक गये हैं कि हमें अपने असली चेहरे का भान ही नहीं है।

एक ही आदमी किसी का साला है तो किसी का जीजा, किसी का पुत्र है तो किसी का पिता-पितामह, किसी का मित्र है तो किसी का शत्रु। नाना नाम, रूप, वर्ण, आश्रम के चेहरे इस पर चिपक गये हैं।

मेरा चेहरा, मेरा रूप केवल ज्ञान है। शेष सब काल्पनिक हैं। मैं ब्राह्मण हूं, मैं शूद्र हूं, मैं साधु हूं, मैं गृहस्थ हूं; मैं जीजा हूं, मैं साला हूं—आदि में 'मैं' और 'हूं' के बीच में जो कुछ आ जाता है ब्राह्मण, शूद्र, साधु, गृहस्थ, जीजा, साला आदि सब नकली तथा झूठे हैं। "मैं हूं" इतना सच है।

अहम और इदम—दो तत्व हैं। अहम चेतन है। अहम "मैं" है तथा इदम "यह" जड़ है। अहम चितेरा है तथा इदम चित्र है। चितेरा चेतन इदम के नाना चित्र बनाकर उन्हीं में शोक-मोह का अनुभव करता और भटकता है।

सद्गुरु कहते हैं "चित्र छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी" हे चित्र रचने वाला चेतन! तू चित्रों को छोड़ दे, और अपने आप में सावधान हो जा।

मन चित्रपट है। उसी में सारे चित्र अंकित रहते हैं। मैं चेतन हूं। मैं ही चित्रों की कल्पना करता हूं। उनके रूप मैं ही गढ़ता हूं। मैं ही उनमें नाना भावनाओं के रंग भरता हूं। मैं ही उन चित्रों को सामने ला-लाकर उनमें रीझता-खीझता हूं। मैं चित्रों से विचित्र विलक्षण एवं सर्वथा भिन्न हूं। मुझे चाहिए कि मैं अपने चैतन्य-तख्त पर आसीन होकर शांत रहूं। जब चित्र सामने आवें तो उन्हें केवल देखकर उनसे उदास रहूं। उनमें मिलूं नहीं। चित्रों में उलझूं नहीं।

मन एक नदी है। उसके संकल्प-विकल्प उसकी तरंगें हैं। उसमें न बहना, किंतु उससे बाहर बैठकर केवल उसको देखते रहना विवेकवान का काम है।

सद्गुरु कहते हैं, हे चित्रों के रचनें वाले चितेरा चेतन! तू चित्रों को छोड़कर चेत जा! सारे चित्रों से अपना स्वरूप भिन्न समझ। खानी-वाणी के सारे चित्र तेरे कल्पित हैं

उनमें तू तदाकार मत हो। उनसे अपने आपको अलग समझकर असंग हो जा। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

सम्हल कर बैठना जलवा मोहब्बत देखने वालों।
तमाशा खुद न बन जाना तमाशा देखने वालों।।

जीव ही सम्राट है

छ

छछा आहि छत्रपति पासा। छकि किन रहहु मेटि सब आसा।।
मैं तोहीं छिन-छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आपु बँधावा।। ७ ।।

शब्दार्थ—छत्रपति = सम्राट, महाराजा, जीव। छकि = तृप्त। खसम = पति, मालिक, स्वस्वरूप।

भावार्थ—छ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! सम्राट तो तेरे पास ही है। 'पास' भी कहना एक तरीका है। वस्तुतः तू ही सम्राट है। अतएव अन्य सारी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं अपने स्वरूपभाव में तृप्त हो रहे हो! मैं तुम्हें क्षण-क्षण समझा रहा हूं। तुम अपने पतित्व एवं श्रेष्ठत्व को छोड़कर, अपने आपको क्यों बंधनों में डाल रहे हो! ।।७।।

व्याख्या—मेरी कोई मनोवांछित वस्तु हो और वह मेरे पास ही पड़ी हो, परन्तु उसे न समझकर मैं उसके लिए दरबदर की खाक छानता फिरूं, तो यह मेरा केवल अज्ञान है। आदमी परमात्मा को, राम को, खुदा को, मोक्ष एवं परमानन्द को दरबदर खोजता फिरता है। वह नदियों, पर्वतों, तीर्थों, पोथियों, मत-मतांतरों की खाक छानता है। तो भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं 'वह तो तेरे पास है'। 'पास' का अर्थ कोई यह न समझ ले कि अपने से अलग है। यहां शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ करना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि समझ ले तो पास में है और न समझे तो दूर है।

पास एवं निकट का मतलब है वह तू ही है। तेरे से पृथक कोई परमात्मा, राम, खुदा, गॉड नहीं है। इसीलिए इसके भावार्थ में वे कहते हैं "छकि किन रहहु मेटि सब आसा" अर्थात सभी आशाएं छोड़कर क्यों नहीं तृप्त हो जाते हो! सारी आशाओं-वासनाओं के छूट जाने पर ही वह दशा आती है जो कृतार्थरूप है। ईश्वर, परमात्मा एवं मोक्ष की आशा भी आशा ही है, और सभी आशाओं को मिटाने के क्रम में ऐसी आशाएं भी कैसे रह सकती हैं! आशाएं उन्हीं की की जाती हैं जो अपने से दूर के हों और जो अपने से दूर की वस्तुएं हैं, उनसे परम तृप्ति नहीं मिल सकती। इसलिए अपने से भिन्न वस्तुओं की आशा छोड़ देने की बात कही गयी है। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने ठीक ही कहा है "केवल मुक्ति आशा रहे, तेऊ है बंधमान। सुखिया सदा निराश पद, सुन वैराग्य निधान।।" संस्कृत के पंडितों ने कहा "आशा हि परमं दुःखं, नैराश्यं परमं सुखम्"। सारी आशाओं के छूट जाने पर ही साधक को परम तृप्ति मिल सकती है।

जीव अपना खसम अपने से अलग खोजता है। यही उसका अज्ञान है। सबका खसम तो जीव है, परन्तु वह अपनी महत्ता को नहीं समझ पाता है। इसलिए भटकता है। सद्गुरु कहते हैं "मैं तोहीं छिन-छिन समुझावा। खसम छाड़ि कस आपु बँधावा ।।" मैं तुम्हें बारम्बार समझा रहा हूं कि तुम स्वयं सम्राट हो, तुम स्वयं सारे ज्ञान-विज्ञान रूपी चित्रों के स्वामी हो। फिर तुम अपने स्वरूपभाव, स्वामीभाव को छोड़कर कैसे मन की मान्यताओं में अपने आपको बंधा रहे हो!

वासना-त्याग मोक्ष में कारण

ज

जजा ई तन जियत न जारो। जोबन जारि युक्ति तन पारो ।।
जो कछु युक्ति जानि तन जरै। ई घट ज्योति उजियारी करै ।। ८ ।।

शब्दार्थ—जोबन = यौवन, जवानी। युक्ति = उपाय। पारो = करने में समर्थ होओ।

भावार्थ—ज अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे साधक! जीते जी इस शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। किंतु जवानी का प्रमाद तथा कामादि वासनाओं को जलाकर शरीर से साधना करो। यदि वासनाओं की निवृत्ति का उपाय जानकर शरीर की आसक्ति जला दे, तो साधक इसी जीवन में ज्ञान-ज्योति से आलोकित हो जाय ।।८।।

व्याख्या—सद्गुरु यहां तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शरीर को घोर तपस्या में मत जलाओ। दूसरी बात है शरीर और जवानी का अहंभाव जलाकर साधना करो। तीसरी बात है कि यदि मनुष्य साधना करते हुए वासनाओं का त्याग करता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का आलोक मिल जाता है।

तपस्या और साधना में काफी अन्तर है। गरमी में अग्नि तापना, ठंडी में जलशयन करना, वर्षा में खुले आकाश में खड़ा रहना, लंबा उपवास करना, नंगा रहना आदि कायाकष्ट उठाना तपस्या है। यह या तो प्रतिष्ठा पाने के लिए किया जाता है या अज्ञान में। इसका फल संसारियों से सम्मान पाना है और तपस्वी में अहंकार तथा दंभ का भरना है। महान दार्शनिक धर्मकीर्ति कहते हैं—"वेदादि किसी पुस्तक को स्वतः प्रमाण मानना, जगत बनाने वाला कोई कर्ता होगा—यह मानना, किसी नदी में स्नान करने मात्र से धर्म की पूर्ति मानना, मानव में ऊंच-नीच जाति मानना और शरीर को संताप देकर पाप का नाश मानना—जिनकी बुद्धि मारी गयी है उनकी मूर्खता की ये पांच निशानियां हैं।"[१]

साधना है इन्द्रिय और मन पर विजय पाने का प्रयास। इसमें मैथुन, मोहादि भोगों का त्याग तो होता है, किंतु शुद्ध सात्विक एवं संतुलित आहार, विहार, व्यवहार लेते हुए

---

१. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये ।।

(प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति १/३४२)

सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन आदि द्वारा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास चलता है। संसारी विषय-भोगी होता है। तपस्वी शरीर को संताप देने वाला होता है। किंतु साधक बीच का रास्ता पकड़ता है। वह न भोगी होता है और न काया-पीड़क। वह भोगों से विरत होकर, मध्यवर्तीय भोजन-वस्त्र लेते हुए आराम से रहता है और स्वाध्याय, चिंतन तथा ध्यान से वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है।

सद्गुरु कबीर मध्यममार्गी हैं। संसार के सभी साधक इसी पथ से कल्याण पाते हैं। महात्मा बुद्ध ने अनजान में घोर तप किया, परन्तु जब उन्हें अपनी भूल का परिचय हुआ तब वे भी इसी मध्यममार्ग पर आ निकले।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि साधक इस शरीर को पीड़ा न दे। किंतु इसके अहंकार का त्याग करे। जवानी एवं शरीर की उष्मा को, हृदय में रही हुई एषणा, चाह एवं लिबिडो को न तो जला दे और न इन्द्रियों के मलिन भोगों में खर्च करे, किंतु उनका मार्गांतरीकरण कर दे। उसके रास्ते को बदल दे। उन्हें वासना-निवृत्ति, स्वरूपस्थिति की प्राप्ति में एवं अपने और दूसरे के कल्याण-कार्य में लगा दे।

यदि साधक घोर तप-द्वारा शक्ति को न जलाकर, केवल विषय-वासनाओं को जलाता है और अपने तन तथा मन की शक्ति से साधना करके सत्पथ में चलता है तो उसे इसी जीवन में ज्ञान का प्रकाश मिलता है। शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को एक ही उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति में लगा देने से साधक का हृदय शीघ्र ही ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो जाता है।

कूचर-कायर साधक ही असफलता का रोना रोते हैं। अपने लक्ष्य में पूर्ण समर्पित साधक शीघ्र ही अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं।

बाहर ढूंढ़ना छोड़ो

झ

झझा अरुझि-सरुझि कित जान। अरुझनि हींड़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जो गढ़ गढ़ै गढ़ैया सो पावै॥ ९ ॥

शब्दार्थ—हींड़त = खोजते हुए। सुमेरु = पर्वत। गढ़ = किला; वासना, अध्यास। गढ़ैया = जीव।

भावार्थ—झ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम उलझते-सुलझते हुए कहां जा रहे हो! अपना लक्ष्य खोजते हुए उलझन में ही तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। तुम सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में अपना लक्ष्य खोजकर लौट आओ, तो भी उसे न पाओगे। हां, यह जीव वासनाओं का जो किला गढ़ लेता है, उसी में स्वयं बन्द हो जाता है॥९॥

व्याख्या—अरुझना फंसने को कहते हैं और सरुझना छूटने को। स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, घर, काम, क्रोध आदि मोटी माया में यदि कोई उलझा हुआ है तो इसे सभी लोग

मानते हैं कि यह आदमी फंसा है। परन्तु यदि कोई देवी-देवताओं तथा परोक्ष ईश्वरादि की उपासना में लगा है, तो इसे लोग सुलझना मानते हैं। सद्गुरु कबीर इसको भी अंततः उलझना ही मानते हैं। अपने स्वरूपभाव को छोड़कर जीव जहां कहीं भी लगता है, सब उलझन ही है। इसीलिए वे कहते हैं—"अरुझि सुरुझि कित जान" अर्थात उलझ-सुलझकर कहां जा रहे हो? तुम स्वरूपभाव एवं आत्मभाव को खोकर चाहे जितना भी धर्म-कर्म एवं ईश्वर-ब्रह्म कह लो, सब उलझन है। सबसे बड़ी गलती तुम्हारी यह है कि तुम अपने लक्ष्य को बाहर खोजते हो। यह निश्चित समझ लो कि खोजते-खोजते तुम्हारे प्राण समाप्त हो जायेंगे, परन्तु तुम छूंछे ही रह जाओगे। जीव का परम लक्ष्य तो उसका अपना स्वरूप ही है। वह बाहर खोजने का विषय ही नहीं है। उसे तो सत्संग एवं विवेक-द्वारा समझना है।

अतएव कोई परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, राम, रहीम आदि नाम लेकर चाहे उसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में खोजे, तीर्थों और मंदिरों में खोजे, वह कहीं नहीं मिलेगा। क्योंकि वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। हां, इन भटकावों का फल यही होगा कि नाना भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं एवं वासनाओं का मन में एक किला बन जायेगा और जीव उसी में बन्द हो जायेगा।

परमात्मा को बाहर खोजने वाले इतने जड़ीभूत हो जाते हैं कि वे हर समय अपने मन से बनाये हुए परमात्मा के चित्र के सपने देखते रहते हैं। इस अलीक धारणा से उन्हें आरम्भ में सात्विकता अवश्य प्राप्त होती है; किन्तु आगे चलकर यह भ्रम उनके स्वरूपज्ञान-पथ का रोड़ा हो जाता है।

चाहे अशुभ हो या शुभ जहां तक मन-कल्पनाओं का जाल है, सब बंधन ही है। मन का साक्षी चेतन ही अपना स्वरूप है।

इस सन्दर्भ में सद्गुरु मुख्य दो बातें बताते हैं। पहली बात है अपना लक्ष्य बाहर ढूंढने की वस्तु नहीं है। उसे तुम जितना ही बाहर ढूंढते हो उतना ही उलझते हो। दूसरी बात है कि तुम अंत में वही पाओगे जिसकी वासना बना लिये हो। तुम अपने ही कर्मजाल में बंधते रहते हो।

अतएव सद्गुरु का निर्देश है कि बाहर ढूंढना छोड़कर अपने स्वरूप को समझो तथा सांसारिक वासनाएं त्यागकर स्वरूपस्थिति प्राप्त करो।

शून्य की ओर मत दौड़ो, अपने आपको पहचानो

ञ

ञञा निग्रह सनेहू। करु निरुबार सन्देहू॥
नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू॥
जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ॥
जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी। जहाँ है तहाँ ले पहिचानी॥ १०॥

शब्दार्थ—निग्रह = निवारण, त्याग। सनेहू = स्नेह, मोह। सयानप = बुद्धिमानी, श्रेष्ठता। आपु भजाऊ = स्वयं भागा जाना।

भावार्थ—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! संसार के मोह का त्याग कर और मन में रहे हुए संदेहों का निवारण कर! विवेक से देखने पर, जो कुछ नहीं ठहरता, उसके पीछे न दौड़ना, यही परम बुद्धिमानी एवं श्रेष्ठता है। परन्तु यह विमोहित मानव जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां स्वयं दौड़ा जाता है। जहां कुछ सार नहीं है, वहां अपने शरीर तथा मन को अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां इसने सब कुछ समझ लिया है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जहां है, वहां परख ले।।१०।।

व्याख्या—ञ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु ने कैसा मार्मिक उपदेश दिया है, यह सोचते ही बनता है। उनकी इसमें पहली बात है कि मोह का त्याग करो। मोह एक ऐसा विकार है जो मनुष्य को सत्य से सदैव दूर रखता है। मोही आदमी मूढ़ होता है। व्यक्ति, वस्तु, मान्यता, मत, मजहब, ग्रन्थ, गुरु आदि में जहां कहीं भी मनुष्य को मोह हो जाता है, फिर वह उसके तथ्य को नहीं समझना चाहता। मोह ही वह रस्सी है जिसमें बंधकर जीव जगत-नगर का टट्टू बनकर लादी लादता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि अपने मन को मोह से मुक्त कर लो, तब तुम सत्य और असत्य समझने में समर्थ हो सकोगे।

दूसरी बात है, अपने मन से सारे संदेहों का त्याग करो "करु निरुवार सन्देहू।" संदेह मन का वह विकार है जो मनुष्य को स्थिर नहीं होने देता। समझ की कमी सारे मानसिक विकारों का कारण है, किन्तु संदेह के मूल में एक मुख्य कारण है निर्णय की क्षमता का अभाव। जिसमें निर्णय की क्षमता होती है वह शीघ्र ही संदेहों से मुक्त हो जाता है। पक्षपात और मोह के कारण मनुष्य निर्भयतापूर्वक न सोच पाता है और न निर्णय ले पाता है। संदेह में पड़ा हुआ आदमी कहीं नहीं पहुंचता। आरम्भ में संदेह ठीक है। संदेह से ही उसे निवारण करने के लिए प्रयास आरम्भ होता है। परन्तु यदि वह जीवन ही संदेहों में बिता रहा है तो उसको मंजिल कब मिलेगी! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि निर्मोह होकर संदेहों का त्याग करो।

सद्गुरु तीसरी बात कहते हैं "नहिं देखे नहिं भाजिया। परम सयानप येहू।।" अर्थात जो विवेक से कुछ नहीं ठहरता उसके पीछे न भागे, यही परम बुद्धिमानी है। ये बातें कितनी मार्मिक, कितनी तथ्यपूर्ण हैं, सोचते ही बनता है।

खानी और वाणी दोनों के पसारा देखो, तो इनमें से तुम्हारे हाथों में अंत में क्या लगता है! परिवार, संबंधी, धन, मकान, प्रतिष्ठा तथा अंततः शरीर तक, क्या साथ में चलता है? क्या रह जाता है जीव के साथ? फिर उनके पीछे पागल होकर दौड़ने का फल बुरा नहीं तो क्या है! यह तो खानी जाल की बातें हुईं। अब जरा वाणी के पसारा को देखो। नाना देव-गोसैंया, स्वर्ग-नरक की कल्पना कर जीव उनके पीछे पागल बने भटकते हैं। परन्तु न वे चर्म-नेत्रों से कुछ दिखते हैं और न विवेक से कहीं ठहरते हैं। संसार के अधिकतम लोग इस उलझन में पड़े हुए भटक रहे हैं।

कबीर साहेब यथार्थवादी चिन्तक हैं। वे कहते हैं कि जहां कुछ दिखाई न दे, वहां दौड़ा न जाय। यही मनुष्य की परम बुद्धिमानी है। लोगों की देखादेखी में दौड़ना मूढ़ता

है। स्वयं विवेक-नेत्रों से सारी चीजों को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। विवेकवान परखकर ही कदम उठाते हैं, किन्तु मूढ़ आदमी केवल विश्वासी होता है। वह विमोहित होकर जहां-तहां दौड़ता रहता है।

सद्गुरु चौथी बात कहते हैं—"जहँ न देखि तहँ आपु भजाऊ। जहँ नहीं तहँ तन मन लाऊ।। जहँ नहीं तहँ सब कुछ जानी।" यहां मिथ्या अवधारणाओं में भटकने वालों को सद्गुरु तीन वाक्यों में झकझोरते हैं—'जहां कुछ नहीं देखने में आता है, वहां दौड़ा जा रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां अपने तन-मन अर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है, वहां तूने सब कुछ समझ लिया है।' यहां कबीर साहेब मिथ्या मान्यताओं एवं क्षणभंगुर पदार्थों के पीछे भटकने वाले मनुष्यों को बारम्बार टोकते हैं।

सचमुच मनुष्य जीवनपर्यन्त शून्य में दौड़ता रहता है। जैसे कोई पागल आदमी आकाश में हाथ-पैर मारते-मारते स्वयं थककर गिर पड़े, वैसे विमोहित मानव जीवनपर्यन्त मिथ्या अवधारणाओं एवं क्षणभंगुर माया-मरीचिका के पीछे दौड़ते-दौड़ते अपना अन्त करता है और संसार से निराश होकर चल देता है। जहां जीव का कुछ नहीं है, उसने वहीं अपना सर्वस्व मान बैठा है। इससे अधिक विमोह क्या होगा!

इसलिए सद्गुरु अंतिम पांचवीं बात बतलाते हैं "जहँ है तहँ ले पहिचानी।।" जहां 'है' वहां पहचान ले। 'है', 'होना', 'अस्तित्व' बड़े महत्वपूर्ण निर्देश हैं। तुम्हारा 'होना', तुम्हारा 'अस्तित्व' कहां है? साफ है 'मैं' में ही तुम्हारा 'अस्तित्व' है। 'मैं' को छोड़कर 'मेरा' अस्तित्व कहां हो सकता है!

मनुष्य की सबसे बड़ी गलती यही है कि वह ईश्वर-ब्रह्म को खोजता है, स्वर्ग-नरक के विषय में माथा मारता है, विषयों में सुख ढूंढ़ता है, परिवार, धन, मकान, मान-बड़ाई सारी बाह्य वस्तुओं में 'स्वत्व' और 'सुख' ढूंढ़ता है, किन्तु 'मैं कौन हूं' इसकी परख कभी नहीं करता। परन्तु मैं को जाने तथा पाये बिना बाहर का सब जानना तथा पाना निरर्थक है। महात्मा ईसा ने कहा है, जिसने सब कुछ पाया, परन्तु अपने आपको खो दिया, वह क्या पाया!

सद्गुरु कहते हैं "जहँ है तहँ ले पहिचानी" जहां तेरा स्वत्व एवं अस्तित्व है वहां पहचान ले, परख ले। तेरा स्वत्व, तेरा अस्तित्व तेरे 'मैं' में है। अतः तू अपने 'मैं' को समझ!

मैं के दो रूप हैं, एक भौतिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा उसके नाम-रूप में जहां तक मैं-भाव है, वह मायिक है। अतएव वह मैं एक मिथ्या अहंकार है, बंधन है। दूसरा मैं अपने शुद्ध चेतनस्वरूप के लिए है। यह तथ्य है, सत्य है। इस चेतन 'मैं' में ही मेरा अपना 'स्वत्व' है, 'सत्ता' है। 'मैं' से 'मैं' कभी पृथक नहीं हो सकता, और 'मैं' से पृथक वस्तुएं कभी मेरी नहीं हो सकतीं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जहां तेरा कुछ नहीं है, वहां से तू हट जा, और जहां तेरा है, वहां परख ले। 'नहीं' से हटकर 'है' में स्थित हो जा। 'नहीं' कभी 'है' नहीं होगा, और 'है' कभी 'नहीं' नहीं होगा। यहां नीति का वचन भी स्मरण में आता है कि जो व्यक्ति निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित वस्तु को पकड़ता है, उसने तो निश्चित को स्वयं छोड़ दिया और अनिश्चित छूट ही जायेगी।

सार यह है कि मोह का त्याग करो, संदेह को दूर करो और अपनी आत्मा के अलावा सब झूठा है, उसके राग से हटकर, अपनी आत्मा में, अपने चेतनस्वरूप में स्थित होओ। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा स्वत्व है, परम निधान है, सुख का केन्द्र है। जहां से सबकी परख होती है, वह चेतनसत्ता ही मैं के रूप में विद्यमान है। उसी को विवेकी संत पारखरूप एवं ज्ञानरूप कहते हैं। वही तुम्हारा अपना है। शेष सब झूठा है।

अज्ञान के कपाट खोलो

ट

टटा बिकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल मों जाहीं।।
रही लटापटि जुटि तेहि माहीं। होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं।। ११ ।।

शब्दार्थ—कपाट = किवाड़, फाटक, अज्ञान। महल = स्वरूपस्थिति। लटापटि = जिस किसी प्रकार।

भावार्थ—ट अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन के बड़े टेढ़े रास्ते हैं। कोई अज्ञान के फाटक को खोलकर स्वरूपस्थिति-महल में जा सकता है। साधक को चाहिए कि जिस किसी प्रकार स्वरूपस्थिति-धाम तक पहुंचे। जब यह जीव स्वरूपस्थिति-धाम में अटल हो जाता है, तब इसके पतित होने का अवसर नहीं रहता।।११।।

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं। इन पर हम मनन करें।

पहली बात है "बिकट बाट मन माहीं" अर्थात मन के रास्ते टेढ़े हैं। मन ऐसा भुलावन वन है कि उससे सतत सावधान रहने लायक है। अच्छी बातों का स्मरण करते-करते मन बुरे स्मरणों में पहुंचा देता है। जैसे रेलवे जंक्शन में विभिन्न दिशाओं की पटरियां एक में जुड़ी रहती हैं; थोड़ा प्वाइंट बदलते ही गाड़ी इधर से उधर चली जाती है, वैसे मन में शुभ और अशुभ, राग और वैराग्य आदि के संस्कार एक साथ जुड़े हैं। जरा-सा असावधान होते ही मन जीव को स्वर्ग से हटाकर नरक में पहुंचा देता है। सारे भवबंधन स्मरण मात्र हैं। साधक को चाहिए कि वह सदैव सावधानी से स्मरणों को देखे और गंदे स्मरण न होने दे। यदि मन में गंदे स्मरण आ गये हों, तो उन्हें तुरन्त शत्रुवत समझकर त्याग दे। अतएव साधक इस बात पर सदैव सावधान रहे कि मन के बड़े टेढ़े-टेढ़े पथ हैं। उनसे अपने आपको सदैव बचाना है।

दूसरी बात है "खोलि कपाट महल मों जाहीं" अर्थात अज्ञान का फाटक खोलकर ही स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंच सकते हैं। लोग स्वरूपस्थिति-धाम, मोक्ष, आत्यंतिक सुख, परमानन्द एवं कृतार्थ अवस्था में पहुंचना तो चाहते हैं, किन्तु अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ने में असमर्थ होते हैं। उन्हें अज्ञान में ही मोह होता है। बंधनों से मोह करके कोई कैसे मोक्षपद पा सकता है! अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बंधनों से मोह न करो। अपने हृदय के अज्ञान-कपाट को तोड़ो। अज्ञान से मोह करते-करते युगों बीत गये। अब इनसे ऊपर उठ जाओ। रास्ता केवल एक है। यदि जीवन में दुखनिवृत्ति एवं परम

शांति चाहते हो, तो हृदय की विषय-वासनात्मक कमजोरियों को दूर करो। विषयासक्ति हृदय का कपाट है जिसे तोड़कर स्वरूपस्थिति-धाम में पहुंचा जाता है।

तीसरी बात है "रही लटापटि जुटि तेहि माहीं" लटापटि का अर्थ है गिरता-पड़ता, धीरे-धीरे सरकता हुआ इत्यादि। साधक पहले गिरता-पड़ता ही चलता है। कोई तुरन्त पहलवान नहीं हो जाता। अखाड़ा में गिरते-पड़ते ही किसी दिन पहलवान हुआ जा सकता है। साधक पहली साधना में यदि समय-समय से असफल हो जाय तो उसे घबराना नहीं चाहिए। यदि वह अपने उद्देश्य में दृढ़ है तो आज नहीं, कल; अपने लक्ष्य पर पहुंचेगा ही। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—"मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोस। कहहिं कबीर बैठा रहे, ता सिर करड़े कोस॥" जो मार्ग चलते-चलते गिर पड़ता है उसको दोष नहीं दिया जा सकता। जो चलता है वही गिर भी सकता है। यदि गिरता है तो उठकर फिर चलेगा। दोष तो उसे है जो बैठा रहता है। उसका तो सारा रास्ता अभी पड़ा है।

शास्त्र कहता है "यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।"[1] अर्थात जिस किसी भी प्रकार जड़-चेतन की ग्रंथि को काट देना ही मनुष्य का मुख्य पुरुषार्थ एवं प्रयोजन है। अतएव असफलता के भय से काम ही न शुरू करना केवल कायरता है। किसी ने कितना अच्छा कहा है—

गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल चलें॥

अर्थात युद्धक्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही कभी गिरते हैं। वे शिशु क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल पर चलते हैं।

चौथी बात है "होहि अटल तब कतहुँ न जाहीं" अर्थात जब साधक संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति-धाम का स्थायी बासिंदा हो जाता है, तब उससे उसे गिरने का कोई चांस नहीं रहता।

"पक्का बोध और स्थिति" यह कोई कच्ची गोटी का खेल नहीं है। इसको उपलब्ध साधक अजर-अमर हो जाता है। शरीर कूड़ा-कचड़ा है, विजाति है और अंततः शून्य में बदल जाने वाला है; इसके शून्य होते ही, इसके संबंधी प्राणी-पदार्थों का पता नहीं रहेगा। इसके विपरीत अपना शुद्ध चेतनस्वरूप निर्विकार, निर्मल, एकरस, अमृतरूप है। उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हो सकता। इस बोध के साथ जिसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो गयी और वह स्थिति एकरस हो गयी, ऐसा साधक किस वस्तु के लिए लालचकर पतित होगा! यह जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। यह स्वरूपस्थिति जीवन का अमृत-रस-भोग है, जो कभी घटने तथा बिछुड़ने वाली नहीं है। सम्राट बनकर कौन घूर पर दाने बीनेगा! स्वरूपस्थिति का अमृत-रस चखकर कौन मलिन, दुखप्रद, क्षणभंगुर विषयों के पीछे दौड़ेगा! अतएव सद्गुरु का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है कि अपने स्वरूप में अटल स्थित हुआ पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं भटकता।

---

१. सांख्य दर्शन ६/७०।

मन की ठगाई से सावधान

ठ

ठठा ठौर दूर ठग नियरे। नित के निठुर कीन्ह मन घेरे॥
जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौर पहिचाना॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ठौर = स्वरूपस्थिति, पारखस्थिति। ठग = मन। निठुर = कठोर।

भावार्थ—ठ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि जीव की अपनी स्वरूपस्थिति दूर हो गयी है, क्योंकि उसके निकट मन-ठग निरन्तर बसा हुआ है और उसने जीव को चारों ओर से निरंतर घेरकर विषयों में कठोर कर दिया है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! जिस मन ठग ने बड़े-बड़े बुद्धिमानों, विद्वानों एवं ज्ञानियों को भी ठग लिया है, उसे परखकर, उससे बच और अपनी स्वरूपस्थिति रूपी ठौर पहचान॥१२॥

व्याख्या—मन बड़े काम की चीज है। जहां मन की निंदा की जाती है कि वह ठग है, वहां अशुद्ध मन का अर्थ होता है। मन के दो प्रकार हैं। एक अशुद्ध और दूसरा शुद्ध। अशुद्ध मन जीव के लिए बंधन उपस्थित करता है तथा शुद्ध मन उसके मोक्ष में सहायक होता है। उक्त पंक्तियों में मन को ठग कहा गया है। यहां अशुद्ध मन का अभिप्राय है।

सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारी मंजिल तुम्हें इसलिए दूर लगती है क्योंकि अशुद्ध मन ने तुम्हें चारों ओर से घेर लिया है। जो मलिन मन का निरंतर सेवन करता है, उसका हृदय विषयों में पड़ा-पड़ा कठोर हो जाता है। जिसके मन में निरंतर मलिन विषयों की वासनाएं ही भरी हैं, उसके मन में अपना ठौर, अपनी मंजिल, अपनी स्थिति का आभास भी कहां हो सकता है!

सद्गुरु कबीर की दृष्टि सदैव स्वरूपज्ञानपरक है। वे कहते हैं जीव का ठौर जीव से बाहर किसी लोक-लोकांतर में नहीं है। ब्रह्मलोक, साकेतलोक, सतलोक, विष्णुलोक, शिवलोक कहीं बाहर नहीं है। ये यदि कुछ हैं तो केवल जीव की स्वरूपस्थिति ही। यदि किसी को लगता है कि अपना ठौर, अपना मोक्ष-धाम कहीं दूर है, तो इसका मतलब यही है कि उसे मन-ठग ने ठग लिया है। मन के भुलावे में पड़कर ही हम अपनी स्वरूपस्थिति से पृथक अपना ठौर, अपना परम निधान खोजते हैं।

सद्गुरु बड़ी मार्मिक बात कहते हैं "जे ठग ठगे सब लोग सयाना। सो ठग चीन्ह ठौर पहिचाना॥" अर्थात जिस मन-ठग ने बड़े-बड़े सयानों को ठग लिया है उस मन के बन्धनों को पहचानो और अपना स्थान समझो कि कहां है!

पुराकाल से लेकर आज पर्यन्त बड़े-बड़े विद्वान एवं ज्ञानी-ध्यानी मन के चक्कर में पड़े हुए भटक रहे हैं। वे अपनी स्थिति किसी परोक्ष शक्ति तथा परोक्ष लोक में मान रहे हैं। नित्य अनुभूत, स्वयं प्रत्यक्ष अपने दिव्य चेतनस्वरूप तथा उसकी स्थिति को न समझना और अपने से बाहर किसी कल्पित ईश्वर-ब्रह्म की भावना में डूबे रहना, मन-ठग द्वारा ठगा जाना ही है।

आश्चर्य है कि संसार के बहुत-से तथाकथित ज्ञानियों ने जीव को तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास, अंश आदि कहकर उसका निरादर किया है, जबकि वह परम सत्य है, स्व है, अपने आप 'मैं' के रूप में विद्यमान स्वयं प्रत्यक्ष है। लोगों ने उससे पृथक ईश्वर-ब्रह्म मानकर उसकी बड़ाई की है जो केवल जीव की कल्पना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े सयाने, विद्वान एवं ज्ञानी कहलाने वाले लोग मन-ठग से ठगा गये हैं। हे सत्य-इच्छुक! ऐसे मन के जाल को परखकर उसका त्याग कर और अपने ठौर को पहचान। तुम्हारा ठौर, तुम्हारा परम धाम, ब्रह्म धाम, राम लोक, खुदा-तख्त तुम्हारा अपना चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। स्वरूपस्थिति ही तुम्हारा परम निधान है।

डर एक मानसिक कल्पना है, उसे त्यागो

ड

डडा डर उपजे डर होई। डर ही में डर राखु समोई॥
जो डर डरै डरहि फिर आवै। डरही में फिर डरहि समावै॥ १३॥

शब्दार्थ—समोई = नाश।

भावार्थ—ड अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन में भय उत्पन्न होने से भय का अस्तित्व होता है। अर्थात भय एक भावना मात्र, कल्पना मात्र है। अतएव भय को भय में ही समाप्त कर दो। अर्थात भय को कल्पना मात्र समझकर वहीं उसे छोड़ दो। जो व्यक्ति भय से भीत होकर आक्रांत होता है, वह बारम्बार भय का शिकार होता है। वह भय में जीवन बिताता है; और अन्त में भय के स्थान-मूल शरीर को पुनः धारण करता है॥१३॥

व्याख्या—शकुन-अपशकुन का डर, ग्रह-लगन का डर, भूत-प्रेत का डर, जादू-मंत्र का डर, स्वजन एवं मित्रों के विमुख हो जाने एवं बिछुड़ने का डर, धन-हानि का डर, अपमान-अप्रतिष्ठा होने का डर, नौकरी छूट जाने एवं व्यापार में घाटा हो जाने या बन्द हो जाने का डर, रोग लगने का डर, मृत्यु होने का डर—कहां तक गिनाया जाय, जीव के मन में डर का एक विशाल जाल बिछा रहता है।

कितने दम्पती को बच्चे नहीं होते। उन्हें डर रहता है कि बुढ़ापा में हमारी सेवा कौन करेगा! अतः वे किसी दूसरे के बच्चे को गोद लेते हैं। वे न हुआ दुख खरीदते हैं। अपने पैदा किये हुए बच्चे तो प्रायः सेवा नहीं करते, दूसरे के बच्चों से लोग सेवा की आशा करते हैं। यह एक मूढ़ता नहीं तो क्या है! लोग सबेरे बिस्तर पर जागने के साथ ही भय लेकर उठते हैं और अपने जाग्रत के सारे व्यवहार में भय से ग्रस्त रहते हैं। इसके फल में लोग सपने में भी भयभीत रहते हैं।

लोग कहीं चलेंगे, तुरन्त एक्सीडेंट हो जाने का भय सवार हो जायेगा। बच्चे को स्कूल से आने में थोड़ी देरी हुई कि मन भयाक्रांत हो गया कि कोई एक्सीडेंट तो नहीं हो

पहली बात, जब हम जीने से नहीं डरते जो उलझनों से भरा होता है, तब मरने से क्यों डरना चाहिए, जो केवल शांति है।

अपने लक्ष्य को बाहर मत ढूंढ़ो

ढ

ढढा हींड़त ही कित जान। हींड़त ढूँढ़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जेहि ढूँढ़ा सो कतहुँ न पावै॥ १४॥

शब्दार्थ—हींड़त = खोजते। सुमेरु = सुमेरु पर्वत, जिसकी पुराणों में बड़ी चर्चा है। इसे इलावृत्तवर्ष में अवस्थित माना है। यहां तात्पर्य है बड़े-बड़े पर्वत या बीहड़ स्थल।

भावार्थ—ढ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम अपने लक्ष्य को खोजते हुए कहां जा रहे हो? खोजते-भटकते तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में भी तुम खोज कर लौट आओगे, परंतु जिसकी तुम्हें खोज है, उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे॥१४॥

व्याख्या—जो लोग भगवान को, राम को, ब्रह्म को, मोक्ष को अपने से बाहर खोजते हैं, उन्हें कबीर साहेब बार-बार चेतावनी देते हैं कि तुम्हारा उसे बाहर खोजना महाभ्रम है। बाहर हींड़ते-ढूंढ़ते मर जाओगे, परन्तु उसे कहीं नहीं पाओगे। मनुष्य का यह मिथ्या भ्रम है कि वह जहां पर उपस्थित रहता है वहां अपने लक्ष्य को पाने में निराश रहता है। उसे लगता है यहां क्या मिलेगा! परन्तु दूर देश के लिए उसके मन में आशा बंधती है कि वहां जरूर परमात्मा या मोक्ष मिल जायेगा। किन्तु वह मनुष्य का लक्ष्य नहीं हो सकता जिससे देश और काल की दूरी हो। यदि परमात्मा या मोक्ष दूसरे देश या दूसरे काल में मिलेगा ऐसी धारणा हो, तो यह केवल भ्रम है। मनुष्य जहां खड़ा है, वहीं उसका लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। प्राप्त होना नहीं है, किन्तु केवल स्मृति में आना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम करोड़ों पर्वतों, बीहड़ स्थानों, तीर्थों, धामों एवं दूसरे लोकों में भी भटक आओ, परन्तु तुम्हें जिसकी तलाश है उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे। वह तो तुम स्वयं हो। परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है। राम ही राम को खोज रहा है। परम पारखी संत विशाल देव कहते हैं—"जेहि को खोजत सो हौं खुद ही, यह नहिं जानि पहै।"

चलकर, खोजकर मन और इन्द्रियों-द्वारा जो प्राप्त होते हैं, वे मायावी वस्तुएं होती हैं। मन एक दूरबीन है। उसके पीछे जीव है तथा आगे जगत है। जब जीव इस दूरबीन से आगे देखता है, तब जगत दिखाई देता है, और जब दूरबीन से देखना छोड़ देता है, तब स्वयं को देखता है। अर्थात तब उसे स्व-सत्ता का भान होता है। अतएव हम मन-द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं, वह सब दृश्य, जड़ जगत है। हमें अपने को पाने के लिए मन का दृश्य छोड़ना होगा। इस विवेक से देखा जाय तो अपने लक्ष्य को बाहर खोजने वाले मन के दृश्यों में ही दौड़ रहे हैं।

आश्चर्य है कि संसार के बहुत-से तथाकथित ज्ञानियों ने जीव को तुच्छ, प्रतिबिम्ब, आभास, अंश आदि कहकर उसका निरादर किया है, जबकि वह परम सत्य है, स्व है, अपने आप 'मैं' के रूप में विद्यमान स्वयं प्रत्यक्ष है। लोगों ने उससे पृथक ईश्वर-ब्रह्म मानकर उसकी बड़ाई की है जो केवल जीव की कल्पना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े सयाने, विद्वान एवं ज्ञानी कहलाने वाले लोग मन-ठग से ठगा गये हैं। हे सत्य-इच्छुक! ऐसे मन के जाल को परखकर उसका त्याग कर और अपने ठौर को पहचान। तुम्हारा ठौर, तुम्हारा परम धाम, ब्रह्म धाम, राम लोक, खुदा-तख्त तुम्हारा अपना चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। स्वरूपस्थिति ही तुम्हारा परम निधान है।

डर एक मानसिक कल्पना है, उसे त्यागो

ङ

ङङा डर उपजे डर होई। डर ही में डर राखु समोई॥
जो डर डरै डरहि फिर आवै। डरही में फिर डरहि समावै॥ १३ ॥

शब्दार्थ—समोई = नाश।

भावार्थ—ङ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मन में भय उत्पन्न होने से भय का अस्तित्व होता है। अर्थात भय एक भावना मात्र, कल्पना मात्र है। अतएव भय को भय में ही समाप्त कर दो। अर्थात भय को कल्पना मात्र समझकर वहीं उसे छोड़ दो। जो व्यक्ति भय से भीत होकर आक्रांत होता है, वह बारम्बार भय का शिकार होता है। वह भय में जीवन बिताता है; और अन्त में भय के स्थान-मूल शरीर को पुनः धारण करता है॥१३॥

व्याख्या—शकुन-अपशकुन का डर, ग्रह-लगन का डर, भूत-प्रेत का डर, जादू-मंत्र का डर, स्वजन एवं मित्रों के विमुख हो जाने एवं बिछुड़ने का डर, धन-हानि का डर, अपमान-अप्रतिष्ठा होने का डर, नौकरी छूट जाने एवं व्यापार में घाटा हो जाने या बन्द हो जाने का डर, रोग लगने का डर, मृत्यु होने का डर—कहां तक गिनाया जाय, जीव के मन में डर का एक विशाल जाल बिछा रहता है।

कितने दम्पती को बच्चे नहीं होते। उन्हें डर रहता है कि बुढ़ापा में हमारी सेवा कौन करेगा! अतः वे किसी दूसरे के बच्चे को गोद लेते हैं। वे न हुआ दुख खरीदते हैं। अपने पैदा किये हुए बच्चे तो प्रायः सेवा नहीं करते, दूसरे के बच्चों से लोग सेवा की आशा करते हैं। यह एक मूढ़ता नहीं तो क्या है! लोग सबेरे बिस्तर पर जागने के साथ ही भय लेकर उठते हैं और अपने जाग्रत के सारे व्यवहार में भय से ग्रस्त रहते हैं। इसके फल में लोग सपने में भी भयभीत रहते हैं।

लोग कहीं चलेंगे, तुरन्त एक्सीडेंट हो जाने का भय सवार हो जायेगा। बच्चे को स्कूल से आने में थोड़ी देरी हुई कि मन भयाक्रांत हो गया कि कोई एक्सीडेंट तो नहीं हो

गया! लोगों के मन में अपनों से डर रहता है, दूसरों से डर रहता है। यहां तक कि स्वयं-द्वारा की गयी गलतियों की यादों का डर सताता रहता है।

सारे भय भावना मात्र हैं। इन्हें त्याग देने से अपनी कोई हानि नहीं होती है; किन्तु त्यागने में ही सच्चा लाभ है। प्रायः सभी लोग एक्सीडेंट के भय से जीवनपर्यंत भयभीत रहते हैं और जीवन बीत जाता है निन्यानबे प्रतिशत से अधिक लोगों का कोई एक्सीडेंट नहीं होता। सबका जीवन चलता है। सबके लड़की-लड़कों की शादी होती है। सब खाते-पीते गुजर करते हैं। हाय-तोबा करते रहना तो मूर्खता ही है।

एक बार मैंने एक सज्जन से पूछा 'भक्त जी! आपको किसी प्रकार की चिंता तो नहीं है?' उन्होंने कहा 'मुझे एक प्रकार का भय कभी-कभी सताता है कि किसी रात को घर पर डाकू न आ जायं। यद्यपि मेरे घर में कोई खास रुपये-पैसे नहीं रहते; परन्तु लोगों में शोहरत तो है ही।' मैंने उनसे कहा—'यह भय कब से सताता है?' उन्होंने कहा 'करीब बीस-पचीस वर्षों से!' मैंने कहा—'इतने दिनों से भय का दुख आप भोग रहे हैं, किन्तु डाकू तो कभी नहीं आये।' उन्होंने कहा—'हां, आये तो नहीं।' मैंने कहा—'आप भय छोड़ दीजिये। हो सकता है पूरा जीवन बीत जाय और आपके घर कभी डाकू न आयें। और जब डाकू आयेंगे, तब वे मिनटों में अपना काम करके चले जायेंगे। उसी समय जितना दुख होगा, आप सह लीजियेगा। पहले से, रोज-रोज न-हुआ दुख क्यों सहते हैं।' वे इस बात को समझ गये। उन्होंने भविष्य में कभी भी ऐसा भय नहीं किया। इसके बाद वे बीस वर्षों तक जीकर मृत्यु को प्राप्त हुए; परन्तु उनके जीवन में उनके घर कभी डाकू नहीं आये।

मनुष्य को चाहिए कि सम्भावित कल्पित अप्रिय घटनाओं का भय छोड़ दे, फिर वह सदैव सुखी रहेगा। जब कोई अप्रिय घटना घटेगी, तभी उसे झेल लिया जायेगा। उसके लिए पहले से ही पचना अज्ञान है। जब कोई समस्या आती है, तब उसमें से ही समाधान का सूत्र निकल आता है। व्यापार या नौकरी छूटने पर तथा खेत डूब जाने पर जीवन-निर्वाह का नया धन्धा मिल जाता है, और कभी-कभी तो पहले से भी बेहतर!

छोटी-सी जिंदगी, इस मिट्टी के पिंड को निभाने के लिए इतना भय क्यों! वस्तुतः स्व-स्वरूप का ज्ञान न होने से शरीर को सत्य मान लिया जाता है और उसके नाम-रूप में आसक्ति हो जाती है। यही सारे भय का मूल है। अतएव अज्ञान के निवृत्त होने पर भय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। सबसे ज्यादा डर मरने का है जो होना ही है। यदि अमर जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है तो मरने पर सब समाप्त हो जायेगा, फिर डर किसका! और यदि जीव अमर है तो मरने का डर व्यर्थ है। हम रोज सोते हैं। एक दिन ऐसा सोयेंगे कि पुनः नहीं उठेंगे। जब छोटी नींद हमें प्यारी है, तब बड़ी नींद तो अधिक प्यारी होनी चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि सारे भय दूर कर दो। यदि देहाभिमान बनाये रखोगे तो सदैव डरते रहोगे, और इसका फल होगा पुनः शरीर में आना। अतएव देहासक्ति त्यागो। अपने अविनाशी स्वरूप के ज्ञान में रमो। निर्भय विचरो।

पहली बात, जब हम जीने से नहीं डरते जो उलझनों से भरा होता है, तब मरने से क्यों डरना चाहिए, जो केवल शांति है।

अपने लक्ष्य को बाहर मत ढूंढ़ो

ढ

ढढा हींड़त ही कित जान। हींड़त ढूँढ़त जाय परान॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै। जेहि ढूँढ़ा सो कतहुँ न पावै॥ १४॥

शब्दार्थ—हींड़त = खोजते। सुमेरु = सुमेरु पर्वत, जिसकी पुराणों में बड़ी चर्चा है। इसे इलावृत्तवर्ष में अवस्थित माना है। यहां तात्पर्य है बड़े-बड़े पर्वत या बीहड़ स्थल।

भावार्थ—ढ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम अपने लक्ष्य को खोजते हुए कहां जा रहे हो? खोजते-भटकते तुम्हारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। सुमेरु पर्वत-जैसे करोड़ों बीहड़ स्थानों में भी तुम खोज कर लौट आओगे, परंतु जिसकी तुम्हें खोज है, उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे॥१४॥

व्याख्या—जो लोग भगवान को, राम को, ब्रह्म को, मोक्ष को अपने से बाहर खोजते हैं, उन्हें कबीर साहेब बार-बार चेतावनी देते हैं कि तुम्हारा उसे बाहर खोजना महाभ्रम है। बाहर हींड़ते-ढूंढ़ते मर जाओगे, परन्तु उसे कहीं नहीं पाओगे। मनुष्य का यह मिथ्या भ्रम है कि वह जहां पर उपस्थित रहता है वहां अपने लक्ष्य को पाने में निराश रहता है। उसे लगता है यहां क्या मिलेगा! परन्तु दूर देश के लिए उसके मन में आशा बंधती है कि वहां जरूर परमात्मा या मोक्ष मिल जायेगा। किन्तु वह मनुष्य का लक्ष्य नहीं हो सकता जिससे देश और काल की दूरी हो। यदि परमात्मा या मोक्ष दूसरे देश या दूसरे काल में मिलेगा ऐसी धारणा हो, तो यह केवल भ्रम है। मनुष्य जहां खड़ा है, वहीं उसका लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। प्राप्त होना नहीं है, किन्तु केवल स्मृति में आना है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम करोड़ों पर्वतों, बीहड़ स्थानों, तीर्थों, धामों एवं दूसरे लोकों में भी भटक आओ, परन्तु तुम्हें जिसकी तलाश है उसे बाहर कहीं नहीं पाओगे। वह तो तुम स्वयं हो। परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है। राम ही राम को खोज रहा है। परम पारखी संत विशाल देव कहते हैं—"जेहि को खोजत सो हौं खुद ही, यह नहिं जानि पहै।"

चलकर, खोजकर मन और इन्द्रियों-द्वारा जो प्राप्त होते हैं, वे मायावी वस्तुएं होती हैं। मन एक दूरबीन है। उसके पीछे जीव है तथा आगे जगत है। जब जीव इस दूरबीन से आगे देखता है, तब जगत दिखाई देता है, और जब दूरबीन से देखना छोड़ देता है, तब स्वयं को देखता है। अर्थात तब उसे स्व-सत्ता का भान होता है। अतएव हम मन-द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं, वह सब दृश्य, जड़ जगत है। हमें अपने को पाने के लिए मन का दृश्य छोड़ना होगा। इस विवेक से देखा जाय तो अपने लक्ष्य को बाहर खोजने वाले मन के दृश्यों में ही दौड़ रहे हैं।

जो लोग सुख, मोक्ष तथा परमात्मा बाहर खोजते हैं वे मन के पीछे दौड़ने वाले भूले लोग हैं; और संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। संसार के बड़े-बड़े विद्वानों और महात्माओं की भ्रांतधारणा को देखते हुए कहना पड़ता है कि शुद्ध विवेक बड़ा दुर्लभ हो गया है। मनुष्य के दिमाग पर दैववाद एवं ईश्वरवाद इतना छा गया है कि वह उससे लौटकर अपनी ओर देखना ही नहीं चाहता। किन्तु आज या कल या दस जन्मों के बाद अथवा लाखों जन्मों के बाद जब कभी मनुष्य बाहर से घूमकर अपनी ओर लौटेगा, तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। जीवन का लक्ष्य परम तृप्ति है, वह अपनी ओर लौटने में ही है।

ण

णणा दुई बसाये गाऊँ। रेणा ढूँढ़े तेरी नाऊँ॥
मूये एक जाय तजि धना। मरे इत्यादिक केते को गना॥ १५ ॥

शब्दार्थ—रेणा = रेरा, झगड़ा।

भावार्थ—ण अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्यों ने अपने रहने के लिए दो गांव बसाये हैं, लोक और परलोक अथवा पिंड और ब्रह्मांड। हे मनुष्य! तेरे समान पहले के लोग भी ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़कर उसे ढूंढ़ते रहे। एक तो मरकर तथा उस धन को त्यागकर (बिना पाये) चले गये और दूसरे लोग उसी मृगतृष्णा की आशा करते हैं। अपने लक्ष्य को बाहर खोजने के भ्रम में बहुत-से लोग मर गये। उनकी गणना कैसे की जा सकती है! ॥१५॥

व्याख्या—मनुष्यों ने कल्पना की कि पिंड में जीव है और ब्रह्मांड में ईश्वर है अथवा लोक में जीव है तथा परलोक में ईश्वर है। इस प्रकार लोगों ने जीव तथा ईश्वर के लिए दो गांव बसाये और जीवों से कहा कि तुम ब्रह्मांड एवं परलोक में ईश्वर को खोजो। अतः जीव ईश्वर को खोजने के झगड़े में पड़े। सद्गुरु कहते हैं यह ईश्वर-ब्रह्म खोजने की बात एक रेणा (रेरा) है, झगड़ा है। ११२वें शब्द में इस झगड़े का विस्तृत वर्णन करके ब्रह्म, ईश्वर, राम, वेद, तीर्थ इत्यादि सबके संस्थापक एवं कल्पक जीव की सर्वोच्चता पर सद्गुरु ने प्रकाश डाला है।

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे तुम ईश्वर, ब्रह्म एवं मोक्ष को खोजने के झगड़े में पड़े हो, वैसे पहले के लोग भी पड़े थे। वे उसे बिना पाये मरकर चले गये हैं, ऐसे लोगों की संख्या बताना असंभव है। यहां सद्गुरु यह बताना चाहते हैं कि सारे संसार में तो यही भ्रम है कि परमात्मा एवं मोक्ष बाहर से मिलता है। यह तो विरले विवेकी होते आये हैं जिन्होंने बाहरी दौड़ छोड़कर अपने आपकी तरफ देखा है और उसे अपने आप में पाया है। सब कुछ त्याग देने के बाद जो अपना शुद्ध चेतनपद अवशेष रह जाता है वही तो अपना परम स्वरूप, परम प्राप्तव्य एवं परम निधान है। सांख्य दर्शन के प्रणेता का सार मंतव्य बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण (ईसा पूर्व २००) कहते हैं—"इस प्रकार तत्त्व-अभ्यास से 'न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्त्व है और न मैं कर्ता हूं' यह भाव दृढ़ हो जाने पर

कुछ बाकी नहीं रहता। इस प्रकार भ्रम दूर हो जाने से विशुद्ध केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।"[1]

लक्ष्य पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ बाह्य वस्तुओं एवं नाम-रूपों को अपना माना गया है, उन्हें छोड़ देना है। दृश्यों को छोड़ देने के बाद द्रष्टा स्वयं चेतन मात्र रह जाता है, जो अपना स्वरूप है। यह बाहर खोजने का विषय नहीं, किन्तु सत्संग एवं पारख-विवेक से समझने का विषय है।

निर्वाह थोड़ी वस्तुओं में लो

त

तता अति त्रियो नहिं जाई। तन त्रिभुवन में राखु छिपाई॥
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै। तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै॥ १६ ॥

शब्दार्थ—त्रियो = तीन गुण—सत, रज, तम। त्रिभुवन = तीन गुण। राखु छिपाई = रक्षा करो। तत्त्व = यथार्थता, सार, चेतन।

भावार्थ—त अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि त्रिगुण मायिक पदार्थों के उपभोग में अति मत करो, किन्तु उनसे केवल शरीर-रक्षा करो। जो साधक संसार के त्रिगुणात्मक मायिक पदार्थों से केवल अनासक्ति-पूर्वक शरीर-रक्षा करता है, वह संसार से पार होकर और जीवन की यथार्थता में पहुंचकर स्वस्वरूप चेतन तत्व में स्थित होता है॥१६॥

व्याख्या—सारा जड़ दृश्य त्रिगुणात्मक है। इन्हीं पदार्थों में से कुछ लेकर इनके द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है। जिनमें विवेक और संयम नहीं हैं, वे इन पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण करते हैं। इसके परिणाम में वे इंद्रिय-लंपट बने वासना के शिकार होते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण दूर हो जाता है।

जब हमारा भाव शरीर-रक्षा का न रहकर इन्द्रिय-स्वाद का हो जाता है, तब हम खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह सब में असंयत हो जाते हैं। यहां साधुत्व छूट जाता है और जीवन का सच्चा सुख लुट जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कल्याण चाहते हो, जीवन में सच्चा सुख चाहते हो और सदा के लिए विश्रांति चाहते हो तो संयम से रहो। जीवन-निर्वाह के पदार्थों के उपभोग में अतिक्रमण मत करो। संसार से केवल

---

१. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ *सांख्य कारिका, ६४॥*

एवं = इस प्रकार। तत्त्वाभ्यासात् = तत्व अभ्यास से। नास्मि = न मैं क्रियावान हूं। न मे = न मेरा भोक्तृत्व है। नाहम् = न मैं कर्ता हूं। अपरिशेषम् = कुछ बाकी नहीं रहता। अविपर्ययात् = भ्रम के दूर हो जाने से। विशुद्धं = विशुद्ध। केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् = केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

उतने ही पदार्थ लो जितने में तुम्हारा जीवन-निर्वाह हो जाय। इससे तुम्हारी साधना तो बनेगी ही, दूसरों को भी सुविधा होगी। जब तुम कम पदार्थों का उपभोग करोगे, तो बचे हुए पदार्थ दूसरे के निर्वाह में काम आयेंगे।

जिसने ममता, मैथुन, राग-रंग तो पहले ही छोड़ दिये हैं, और अब खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, संग्रह-परिग्रह में भी बहुत संयम कर लिया है; वह संसार से अनासक्त हो जाता है। उसका कल्याण-पथ प्रशस्त हो जाता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि तुम संसार से उतना ही पदार्थ लो जिससे सरल ढंग से तुम्हारा शरीर-निर्वाह चल जाय। रजोगुणीवृत्ति वस्तुओं का जखीरा बटोरना चाहती है। सतोगुणीवृत्ति थोड़े में गुजर लेना पसन्द करती है। एक अफसर एक बार मिलने आये। उन्होंने बताया कि मैं दो दिन के दौरे में गया था। उसमें अठारह जोड़े मोजे ले गया था। एक सज्जन ने बताया था कि मेरे पहनने के पैंसठ (६५) शर्ट हैं। यह सब दिमाग खराब करने की बातें हैं। कुछ लोग भोजन में कई प्रकार की सब्जियां, चटनी, अचार, मुरब्बे, मिठाइयां तथा खाने की बहुत प्रकार की चीजें रोज पसन्द करते हैं। यह सब दूसरे के अधिकार को छीनना तो है ही, अपने मन तथा पेट को भी खराब करना है। स्वादासक्त आदमी साधना में सफल नहीं हो सकता। एक सब्जी तथा सादी रोटी काफी है। बहुत हुआ दाल-भात भी ठीक है। कुछ साधक कहलाने वाले लोग भी मिर्च-मसालेदार तरकारी के लिए कुर्बान रहते हैं। ऐसे लोग मन पर कैसे विजय कर सकते हैं! भोजन तो भूख-रोग की एक दवाई है। उसे दवाई की तरह ही खाओ।

भोगों का त्यागी तथा सादा एवं स्वल्प जीवन-निर्वाह लेने वाला चारों तरफ से अनासक्त साधक साधन और बोधभाव में शीघ्र ही स्थित हो जाता है।

सद्‌गुरु कहते हैं "तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै।" तत्त्व का अर्थ होता है यथार्थता, मूल, सार। तत्त्व का अर्थ जड़ तत्त्व ही नहीं, किन्तु चेतन तत्त्व भी है। साखी प्रकरण में सद्‌गुरु ने कहा है "जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।" (साखी २) यह निज तत्व अपना चेतनस्वरूप है। संसार से अनासक्त साधक अपने चेतनस्वरूप के बोध को पाकर उसमें स्थित हो जाता है। यही जीवन की सबसे बड़ी ऊंचाई है। यही जीवन का लक्ष्य है। "तत्त्वहि मिलि तत्त्व सो पावै।" बड़ा महत्वपूर्ण वचन है।

धैर्य-द्वारा अथाह वासनाओं से पार होना होता है

थ

थथा अति अथाह थाहो नहिं जाई। 'ई' थिर 'ऊ' थिर नाहिं रहाई॥
थोरे-थोरे थिर होउ भाई। बिन थम्भे जस मन्दिर थँभाई॥ १७॥

शब्दार्थ—ई = लोक या खानी जाल। ऊ = परलोक या वाणी जाल।

भावार्थ—थ अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि वासनाओं का सागर अत्यन्त अथाह है। उसकी थाह लगा पाना असम्भव है। लोक और परलोक तथा खानी

और वाणी जाल की वासनाओं में पड़े हुए जीव कभी स्थिर नहीं होते। परन्तु हे भाई! विवेक-साधना-द्वारा धीरे-धीरे उसी प्रकार तुम्हें शांति मिल जायेगी, जैसे बिना स्तंभ दिये डांटों से धीरे-धीरे मंदिर की छत खड़ी हो जाती है।।१७।।

व्याख्या—मनुष्य के मन में वासनाओं तथा इच्छाओं का विशाल और अथाह सागर है। मनुष्य की जिंदगी बीत जाती है, परन्तु वह अपनी इच्छाओं की थाह नहीं पाता। इच्छाओं में पड़कर उनकी थाह है भी नहीं।

"ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई" 'ई' और 'ऊ' क्रमशः लोक-परलोक अथवा खानी-वाणी का पसारा है। संस्कृत के पंडित लोक-परलोक को 'इहामुत्र' (इह-अमुत्र) कहते हैं। कबीर साहेब हिन्दी में अपना वक्तव्य देते हैं। इसलिए वे 'इह-अमुत्र' को 'ई-ऊ' कहते हैं, तो क्या आश्चर्य! इह = यहां, लोक तथा अमुत्र = वहां, परलोक। इसी प्रकार ई = यहां, लोक तथा ऊ = वहां, परलोक। इस भाव को व्यक्त करने वाले बीजक के पारिभाषिक शब्द हैं क्रमशः खानी और वाणी। खानी मोटी माया है धन, परिवार, शरीरादि एवं वाणी झीनी माया है, दैव-गोसैयां आदि वाणी का पसारा।

सद्गुरु कहते हैं कि लोक-परलोक और खानी-वाणी की वासना में पड़ा हुआ आदमी स्थिर नहीं रह सकता। सद्गुरु ने हिण्डोला प्रकरण के प्रथम हिण्डोला में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" अर्थात तलाश करके देखो कि खानी-वाणी की वासना में पड़े हुए जीवों में से कोई भी स्थिर नहीं है। किसी के जीवन में शांति नहीं है।

प्रश्न होता है कि फिर क्या आदमी यह मान ले कि जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। सत्संग, भक्ति, स्वाध्याय, साधना आदि में लगने पर साधक धीरे-धीरे वासनाओं एवं इच्छाओं को जीतता जाता है।

आप किसी भी शिवालय को देखिए। उसके बीच में कोई स्तंभ नहीं होता। उसमें चारों तरफ से डाट देते हुए धीरे-धीरे पूर्ण मंदिर बना देते हैं। आज-कल नीचे से सहारा देकर छत ढाल दी जाती है और भवनों में बड़े-बड़े कक्ष बन जाते हैं। यह सब काम धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे होता है।

अनादि अभ्यस्त विषय-वासनात्मक कूड़ा-कचड़ा एक दिन में नहीं साफ होगा। साधक को चाहिए कि वह पवित्र संतों एवं सच्चे सद्गुरु की शरण में जाय। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करे। सत्संग में सारासार समझने का प्रयत्न करे। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। चिंतन, विवेक, ध्यान आदि साधनाओं में चलकर सांसारिक इच्छाओं का त्याग करे।

अज्ञानदशा में जो वासनाएं अथाह लगती हैं, पूर्णज्ञान उदय हो जाने पर वे एकदम सूख जाती हैं। साधना में चलते-चलते विवेक-द्वारा जब साधक विषयों से सर्वथा अनासक्त होकर स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाता है तब उसकी सांसारिक वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। अज्ञानदशा में जिन वासनाओं की थाह नहीं मिलती, पूर्ण ज्ञानदशा में उनका चिह्न भी नहीं मिलता। पूर्ण स्वरूपज्ञान का प्रकाश ऐसा है जिसके सामने अन्धकारमय वासनाओं

का टिकना असम्भव है। परन्तु साधक की यह अवस्था तभी आती है जब वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक एकबद्ध साधना करता चलता है।

समय को पहचानो

द

ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥
दशहूँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै॥ १८ ॥

शब्दार्थ—दशहूँ द्वारे = पांच कर्मेंद्रियां तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां। तारी = ध्यान, समाधि।

भावार्थ—द अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि विचार करके देखो, सब कुछ परिवर्तनशील है। अतएव जब जैसा उचित समझो, जिसमें जिस समय अपना तथा दूसरे का कल्याण देखो, वैसा विचार करो। जब साधक दसों इंद्रियों को अपने वश में करके ध्यान एवं समाधि में लीन होता है, तब दयालु सद्गुरु के उपदेशरूप स्वरूपस्थिति के दर्शन एवं साक्षात्कार होता है॥१८॥

व्याख्या—"ददा देखहु बिनशनहारा। जस देखहु तस करहु विचारा॥" यह पंक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि संसार में देखो, सब कुछ विनशता है। परिवर्तन होना संसार का स्वभाव है। अतएव किसी बात में रूढ़िवादी बनकर तथा पुरानेपन की पूंछ पकड़कर जड़तापूर्वक बैठे न रहो। जो समय की नब्ज नहीं पहचानता और उसके साथ चलना नहीं जानता, वह पीछे छूट जाता है। अपने समय के पारखियों ने ही अपनी उन्नति की है और संसार को कुछ दिया है। जो अपने साथियों को नहीं समझ पाते, समाज को नहीं समझ पाते, समय के रुख को नहीं पहचान पाते, वे अपने व्यक्तिगत जीवन तथा लोकसंग्रह—दोनों में असफल होते हैं।

बहुत-सी रूढ़ियां और प्रथाएं बड़े काम की होती हैं। तार्किक से तार्किक के जीवन और सिद्धांत में भी उपयोगी रूढ़ियां एवं प्रथाएं होती हैं। रूढ़ि एवं प्रथा के बिना संसार में कोई जीवन-दर्शन नहीं होता। सभी समाज एवं संप्रदाय के शिष्टाचार एवं अभिवादन की अपनी रूढ़ि एवं प्रथा होती है। उनके बहुत-सारे नियम रूढ़ होते हैं। भौतिकवादी राजनैतिक पार्टियों तक में झंडे तथा कई बातों में रूढ़ियां होती हैं। अतएव संसार में सब रूढ़िवादी होते. हैं। परंतु विवेकवान व्यक्ति, समाज एवं संप्रदाय यह देखते हैं कि किसी ऐसी रूढ़ि का पालन न होता रहे जिससे मानव के किसी पक्ष के अधिकार का हनन हो। वे ही रूढ़ियां एवं प्रथाएं कल्याणकारी हैं जिनसे किसी का अहित नहीं होता हो और कुछ या सर्वाधिक लोगों का हित होता हो।

सद्गुरु कहते हैं कि देश-काल के प्रवाह में जो रूढ़ियां एवं प्रथाएं अहितकर एवं अनुपयोगी हो गयी हों, उनका निर्भयता एवं निर्ममतापूर्वक त्याग होना चाहिए। जो अपने समय को न पहचानकर केवल रूढ़िवादी बना रहता है, वह सड़ जाता है। लोग उसका साथ छोड़ देते हैं। और जो अपने समय को पहचानता है, उसके विचार सदैव ताजे रहते

हैं। वह समय के साथ चलता है। इसलिए परिवार, समाज, देश और लोक उसके साथ चलते हैं। अतएव वर्तमान में अपना तथा अन्य का जिस प्रकार कल्याण देखो, उस प्रकार विचार करो।

"दशहूँ द्वारे तारी लावै। तब दयाल के दर्शन पावै।।" यहां न तो दसों दरवाजों को बन्दकर वज्र आसन लगाना है और न भीतर या बाहर कहीं अलग से दयालु भगवान बैठा है जिसके दर्शन होंगे। वस्तुतः साधक को चाहिए कि वह अपने दसों इन्द्रियों को अपने वश में करे और ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में लीन हो। जब ध्यान तथा समाधि की परिपक्वता हो जाती है तब दयालु के दर्शन होते हैं। दयालु सद्‌गुरु हैं, जो स्वरूपज्ञान देते हैं और रहनी की शिक्षा देते हैं। स्वरूपज्ञान की प्राप्ति एवं स्वरूपस्थिति ही सद्‌गुरु के सच्चे दर्शन हैं। सद्‌गुरु ने स्वयं कहा है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।। (साखी-२९८)

ऊर्ध्वरेता बनो

ध

धधा अर्ध माहिं अँधियारी। अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन तारी।।
अर्ध छोड़ि ऊर्ध मन लावै। आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै।। १९ ।।

शब्दार्थ—अर्ध = आधा, निचला, अधोमुख। ऊर्ध = ऊर्ध्व, ऊपर, ऊंचा, ऊर्ध्वमुख। तारी = ध्यान। आपा = अहंकार।

भावार्थ—ध अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि मन की अधोमुख वृत्ति में विषय-वासनाओं की अंधियारी है। अतएव साधक को चाहिए कि वह मन की अधोमुखी गति छोड़कर उसे ऊर्ध्वगामी बनाये और ध्यान में लीन करे। सद्‌गुरु पुनः दोहराते हैं कि मन को नीची गति से हटाकर ऊंचे ले जावे और देहादिक अहंकार मिटाकर स्वरूपज्ञान और समाधि में प्रेम बढ़ावे।

व्याख्या—मन की दो गतियां होती हैं, निम्नगामी और ऊर्ध्वगामी। मन का इन्द्रियों के विषयों की तरफ बहना निम्नगामी गति है; और विषयों से हटकर स्वरूपज्ञान, स्वरूपचिंतन, आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि में पहुंचना ऊर्ध्वगामी गति है। सद्‌गुरु कहते हैं कि अर्ध में अंधियारी है। अर्थात विषय-वासना अंधकारपूर्ण है। इसलिए मन को विषय-चिन्तन से हटाकर आत्म-चिन्तन में लगाना चाहिए।

हम यदि शारीरिक दृष्टि से भी देखें, तो शरीर में कमर से लेकर नीचे अर्धभाग है, और उसके ऊपर ऊर्ध्वभाग है। कमर से नीचे अंधकारपूर्ण विषयस्थल है और ऊपर ज्ञान की इन्द्रियां हैं। नाभि, हृदय, कंठ, ब्रह्मांड उत्तरोत्तर ज्ञानमार्ग-गामी दिशा है। ब्रह्मांड में ही सभी मुख्य ज्ञान इन्द्रियां हैं—आंख, नाक, कान, जीभ तथा ज्ञान-भंडार मस्तिष्क। जब मन अर्धभाग में उतरता है तब अंधकारपूर्ण विषयों में डूबता है और जब ऊर्ध्वगामी होता

है, तब ज्ञानप्रकाश से आलोकित हो जाता है। विषय-सेवन अधरेता होना है तथा ब्रह्मचर्य-पालन ऊर्ध्वरेता होना है।

सद्‌गुरु कबीर यहां मुख्य दो बातें कहते हैं। वे पहली बात यह बताते हैं कि मन की निचली गति में, विषयों की तरफ जाने में व्यक्ति का अंधकार में प्रवेश होना है; और ऊपर उठने में, आत्मचिंतन एवं ध्यान में लगने में प्रकाशपुंज में पहुंचना है। इसलिए वे दूसरी बात यह कहते हैं कि तुम मन को नीची गति से हटाकर उसे आत्मचिंतन, ध्यान, समाधि आदि की तरफ ले जाओ; और देहाभिमान को नष्टकर स्वरूपस्थिति में प्रेम बढ़ाओ।

साधक की सबसे बड़ी कमजोरी है विषय-चिंतन। विषय-चिंतन साधक की आत्म-हत्या है, उसका घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। जो साधक निरंतर विषय-चिंतन करने लगता है, वह गिर जाता है। जो स्थूल विषय में नहीं गिरता है, वह अधकचरा बना भीतर-भीतर सड़ता रहता है। इसलिए विषय-चिंतन का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को किसी-न-किसी शुभ काम में लगाये रखे, तो स्वाभाविक उसे विषय-चिंतन नहीं होगा। कहावत है—'खाली दिमाग शैतान का घर'। अतएव सेवा, सद्‌ग्रन्थों का स्वाध्याय, सत्संग-निर्णय, ध्यान, समाधि-अभ्यास आदि में साधक को लगे रहना चाहिए।

"आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै" बड़ा महत्वपूर्ण वाक्यांश हैं। आपा कहते हैं अपने स्वरूप को, सत्ता को; किन्तु इसका दूसरा अर्थ है अहंकार। यहां पर दूसरा अर्थ ही प्रयुक्त है। देहाभिमान नष्ट हुए बिना स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति, ध्यान, समाधि में प्रेम नहीं बढ़ सकता। अतः सद्‌गुरु कहते हैं कि देह तथा देह सम्बन्धी समस्त नाम-रूपों का अहंकार छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में एवं ध्यान-समाधि द्वारा उसकी स्थिति प्राप्त करने में प्रेम बढ़ाओ।

देव के पशु मत बनो

न

चौथे वो ना महँ जाई। राम का गद्धा होय खर खाई॥ २० ॥

शब्दार्थ—ना = न अक्षर, अहंकार। राम का गद्धा = ईश्वर का पशु, राम की गलत व्याख्या करने वाला।

भावार्थ—न अक्षर के माध्यम से सद्‌गुरु उपदेश करते हैं कि जब मनुष्य सकारात्मक अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को भूलकर, नकारात्मक मन की अवधारणाओं को ही ईश्वर मानकर उसका अहंकार करता है, तब वह ईश्वर का पशु बनकर घास चरता है। अर्थात अपनी मूढ़ता का प्रदर्शन करता है॥२०॥

व्याख्या—"चौथे वो ना महँ जाई" के दो ढंग से अर्थ किये जा सकते हैं। एक ढंग है कि त-वर्ग का चौथा वर्ण 'ध' है, और इस चौथे के बाद जब मनुष्य 'न' में जाता है,

तब मानो वह निषेध में एवं शून्य में जाता है। जिस संसार में अपना एक तृण तथा एक कण भी नहीं है, वहां का अहंकार करना अज्ञान के सिवा कुछ नहीं है। इसी प्रकार अपने स्वरूप के अलावा जहां तक जो कुछ देव-गोसैयां मान रखा है, सब मन की कल्पना के अलावा कुछ नहीं है। अतएव इन कल्पित धारणाओं में अहंकार करना अल्पज्ञता एवं भ्रम है। अतएव अपने स्वरूप से भिन्न कुछ भी अपना लक्ष्य मानना ईश्वर का गधा बनकर घास चरना है।

दूसरा तरीका है, चतुष्टय अंतःकरण में मन, चित्त, बुद्धि के बाद चौथा अहंकार है। हम अपने चेतनस्वरूप के अलावा जहां भी अहंता-ममता करते हैं वह सब कुछ नकारात्मक है। उसमें कुछ भी मेरा नहीं है। अर्थ करने के ये दो तरीके हैं, किन्तु मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों तरीकों में 'न' का अर्थ नकारात्मक, निषेधात्मक एवं निगेटिव है।

सद्गुरु कहना चाहते हैं कि आदमी अज्ञानवश नकारात्मक स्थिति में पहुंचता है। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप एवं अपनी आत्मा तो सकारात्मक है; परन्तु अपने आप से पृथक देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म जो कुछ माना जाता है, वह सब केवल मन की अवधारणा, मन की कल्पना होने से नकारात्मक ही है। ऐसी कल्पित तथा नकारात्मक वस्तुओं का अहंकार करना ईश्वर का गधा होकर घास चरना ही तो है!

"राम का गद्धा होय खर खाई।" बड़ा मार्मिक वचन है। यह जीव, यह चेतन, यह आत्मा ही परम देव है, राम है, ईश्वर है, ब्रह्म है, खुदा है, गॉड है। इस प्रकार जो चेतन देव, आत्म देव को न समझकर अपने से पृथक देव, राम, ईश्वर या ब्रह्म मानता है और उसके अहंकार में मतवाला रहता है, वह ईश्वर का पशु है। वह ईश्वर-ज्ञान के नाम पर लादी लादे एवं बोझा उठाये तो घूमता है, परन्तु ईश्वर-ज्ञान के नाम पर घास चर रहा है। 'घास चरना' मार्मिक मुहावरा है। इसका अर्थ ज्ञान का थोथापन है। कोई विद्यार्थी जब बहुत मेहनत के बाद भी अपना पाठ या विषय शुद्ध रूप से अपने अध्यापक को नहीं सुना पाता, तब अध्यापक कहता है 'क्या तुम घास चरते थे?' बड़े-बड़े तप तथा शास्त्र-अध्ययन के बाद भी जब धार्मिक लोग ईश्वर को अपने से बाहर खोजते हैं, तब यथार्थवादी कबीर साहेब कह बैठते हैं कि ये ईश्वर के गधे हैं। ये ईश्वर-ज्ञान के नाम पर आज तक घास चर रहे हैं। क्योंकि ये सकारात्मक स्व-स्वरूप आत्मदेव को छोड़कर उसे नकारात्मक कल्पनाओं में खोज रहे हैं। श्रुति के ऋषि भी कहते हैं "जो समझता है कि मैं अलग हूं और देव अलग है वह देवों का पशु है।"[1] तुलसीदास जी भी कहते हैं—

ज्यों बरदा बनिजार के, फिरे घनेरे देश।
खांड भरे भुस खाइहैं, बिन गुरु के उपदेश॥

---

१. योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।
(बृह० उ० १/४/१०)

जो यह मानकर कि देवता अन्य है और मैं अन्य हूं, अन्य देवता की उपासना करता है, वह पशु है।

कहत सकल घट राममय, तो खोजत केहि काज।
तुलसी कह यह कुमति सुनि, उर आवत अजि लाज ।। तुलसी सतसई ।।

"राम का गद्धा होय खर खाई" का अर्थ बहुत व्यापक है। यह केवल हिन्दुओं के राम का अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय है सत्य। जो सत्य को अपनी आत्मा से अलग खोजता है, वह सत्य के ज्ञान के संबंध में केवल बोझा ढोता है और घास चरता है।

हर मत वाले धर्म-धर्म बहुत चिल्लाते हैं; किंतु यदि वे धर्म के नाम पर भेदभाव, सांप्रदायिकता, हिंसा, घृणा आदि का व्यवहार करते हैं, तो वे धर्म को क्या खाक समझते हैं! वे तो धर्म के गधे हैं। वे धर्म के नाम का बोझा लादकर घूमते हैं। वे धर्म के नाम पर आज तक केवल घास चरते आये हैं। धर्म है सबके साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार। इसे न करके जो उलटे हिंसा का व्यवहार करता है, वह धर्म का दुरुपयोग करता है।

धर्म के नाम पर हिंसा मत करो

प

पपा पाप करें सब कोई। पाप के करे धर्म नहिं होई ॥
पपा कहै सुनहु रे भाई। हमरे से इन किछुवो न पाई ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—हमरे से = अहंकार से।

भावार्थ—प अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि धर्म के नाम पर लोग जीववध करके पाप ही करते हैं; और जीवहिंसारूपी पाप करने से धर्म नहीं होता। प अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, संप्रदायों के अहंकारी एवं मताग्रही होने से ये लोग कुछ भी नहीं पा सकते ।।२१।।

व्याख्या—देवी-देवता के नाम पर बलि कहकर तथा अल्लाह के नाम पर कुर्बानी कहकर आज भी हिन्दू और मुसलमान जीवहत्या करते हैं। आये दिन धर्म के नाम पर सांप्रदायिकतावश मनुष्यों की हत्या भी करते हैं। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व तो इन सब बातों का बोलबाला ही था। सद्गुरु कहते हैं कि जहां जीवहत्या है वहां धर्म कहां है! अल्लाह तब खुश होता है जब उसके नाम पर बकरे, मुरगे, भेड़ें, ऊंट, गाय, बैल काटे जायं। इधर हिन्दू के देवता तब खुश होते हैं जब भेड़ें, बकरे एवं भैंसे काटे जायं। यह ईश्वर और देवता के संबंध में कैसी जंगली समझ है! क्या आज का पढ़ा-लिखा आदमी जंगलीपन को छोड़ पाया है! क्या ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम पर निरीह, मूक पशु-पक्षियों का वधकर इनसान अपनी शैतानियत का परिचय नहीं दे रहा है! निरपराध प्राणियों की हत्याकर अपना कल्याण सोचना क्या पागलपन नहीं है!

सद्गुरु कहते हैं कि जीवहत्या महा पाप है, और ऐसा पाप कर धर्म होने की बात सोचना अनुचित है।

सभी मतवादियों एवं मजहब वालों को अपने-अपने मत एवं मजहब का अहंकार है कि हमारे यहां जो माना और किया जाता है वह ईश्वर की आज्ञा है। सद्गुरु कहते हैं कि यह तुम्हारा मिथ्या अहंकार है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो जीवहत्या धर्म बताता हो और नाना मतवालों को परस्पर विरुद्ध आज्ञा देकर उन्हें आपस में लड़ाता हो। ईश्वर के विषय में मनुष्य केवल कल्पना करता है, न कि कोई ईश्वर नाना मतवालों के यहां अपनी विरोधी किताबें, आज्ञाएं एवं मतवाद भेजता है।

सद्गुरु कहते हैं कि ये नाना मतवादी जो ईश्वर की आड़ लेकर अपनी अनर्गल बातों को प्रामाणिकता का जामा पहनाकर सबके गले उतरवाना चाहते हैं, इस अहंकार में ये न अपना कल्याण कर पाते हैं और न समाज का। वस्तुतः सारे मत, मजहब, विचार, ग्रन्थ मनुष्यों के मन की उपज हैं। इसलिए इनमें त्रुटियां, भ्रम, अज्ञान होना भी संभव है। अतः अपनी बातों पर पुनः विचार करना तथा सदैव उन्हें शोधते रहना मानव का विवेक है।

हम हर बात पर जैसे कल सोचते थे, उनमें से कई बातों पर आज दूसरे ढंग से सोचते हैं और आज का सोचना सच लगता है; फिर सैकड़ों-हजारों वर्षों के पूर्व हमारे पूर्वज जिस ढंग से सोचते थे, उन सारी बातों में उसी तरह आज भी कैसे सोचा जा सकता है! इसलिए हर मत एवं मजहब वालों को तथा हर इनसान को विनम्र होना चाहिए और अपनी मानी हुई बातों पर ताजे ढंग से सोचना चाहिए। जो विवेक से सच लगे, जिसमें किसी को पीड़ा न हो, किन्तु अधिक से अधिक लोगों का हित हो, वही काम करना चाहिए। यही धर्म है। अहिंसा और प्रेम ही धर्म है। केवल मानव के प्रति ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति हमदर्द होना चाहिए।

मोक्ष तुम्हें खुद लेना पड़ेगा

फ

फफा फल लागे बड़ दूरी। चाखे सतगुरु देइ न तूरी॥
फफा कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पताल की खबरि न पाई॥ २२ ॥

शब्दार्थ—फल = मोक्ष, कल्याण।

भावार्थ—फ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मोक्षरूपी फल बहुत दूरी पर लगा है। सद्गुरु उसे तोड़कर झट से मुमुक्षु के हाथों में दे नहीं सकते कि वह बिना परिश्रम तुरन्त उसका स्वाद चख ले। जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्गुरु उसे मोक्ष-फल दे देते हैं, वे स्वर्ग-पाताल अर्थात स्वर्ग-नरक एवं बंध-मोक्ष का रहस्य नहीं जानते॥२२॥

व्याख्या—यहां पर चार बातें बतायी गयी हैं, जिनमें तीन खुलकर हैं तथा एक उनमें अदृश्य होते हुए उसी पर सारा जोर है। पहली बात है "फल लागे बड़ दूरी।" अर्थात मोक्ष-फल दूर लगा है। यह कथन मोक्ष की दुर्लभता पर प्रकाश डालता है। जीवों की

विषयों में अत्यन्त आसक्ति होने से यह बात सच है। जिनके हृदय में जितनी अधिक विषयासक्ति है उनके लिए मोक्ष उतना ही दूर है। विषयासक्ति पूर्णतया समाप्त हो जाय, तो मोक्ष जीव का स्वरूप ही है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मोक्ष की दुर्लभता बतायी गयी है।

दूसरी बात है "चाखे सतगुरु देइ न तूरी" यदि शिष्य यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति तथा साधना में परिश्रम न करे, तो सद्गुरु मोक्षफल तोड़कर उसे दे नहीं सकते हैं कि शिष्य गप दे खा ले। बहुत-से लोगों में यह बड़ा भ्रम है कि गुरु जिस शिष्य पर कृपा कर देता है, उस पर अपना शक्तिपात कर देता है और उसे तुरन्त मुक्त कर देता है तथा उसे सारी योग्यताओं से सम्पन्न कर देता है। परन्तु सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये सारी बातें भ्रमपूर्ण हैं।

यह सच है कि ज्ञान, वैराग्य एवं दिव्य रहनी से संपन्न सद्गुरु के चरणों में जब निश्छल हृदय से शिष्य समर्पित हो जाता है, तब उसे गुरु की सारी बातों से बड़ा बल मिलता है। बिना आदर्श पाये कोई मनुष्य किसी दिशा में प्रायः उन्नति नहीं कर सकता। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा विद्वान बनने के लिए अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील एवं विद्वान के आदर्श की आवश्यकता है, जिनकी दी हुई शिक्षा एवं आचरण से प्रेरणा लेकर जिज्ञासु उन दिशाओं में निष्णात हो। यह सब होते हुए भी जिज्ञासु को स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान और दिव्य रहनी से सम्पन्न सद्गुरु की शरण, और उनके उच्च आदर्श मुमुक्षु में प्राण फूंकने वाले हैं; किन्तु उसे स्वयं सेवा, स्वाध्याय, सत्संग, निर्णय, ध्यान, समाधि आदि के अभ्यास में परिश्रम करना ही पड़ेगा। यही तीसरी बात है जो मूल पद में गुप्त होते हुए भी सर्वाधिक उद्घाटित और जोरदार है। "चाखे सतगुरु देइ न तूरी" इस वाक्यांश में शिष्य एवं साधक के परिश्रम की उपयोगिता की पूर्ण अभिव्यंजना है।

चौथी बात है "स्वर्ग पताल की खबरि न पाई।" अर्थात जो लोग यह मानते हैं कि शिष्य के परिश्रम किये बिना सद्गुरु उसे मोक्ष फल दे सकते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि वे लोग स्वर्ग और नरक क्या है, मोक्ष और बंधन क्या है, इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं। यहां अभिप्राय इतना ही है कि वे मोक्ष की वास्तविकता नहीं समझते।

मोक्ष कोई ऐसा फल नहीं है जिसे सद्गुरु तोड़कर शिष्य के मुख में डाल सके। वस्तुतः हर मनुष्य के मन में विषयों की आसक्ति है। यही राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सारे विकारों का कारण है और यही जीव का बंधन है। विवेक द्वारा इसे तोड़ना जीव का ही काम है। इस काम में सहयोगी सद्गुरु और संतजन हैं। उनसे ज्ञान और युक्ति सीखी जाती है। सद्गुरु और संतों के निर्बन्ध जीवन से भी साधक को प्रेरणा का बल मिलता है। यही सब गुरु-संतों का सहयोग है। परन्तु सहयोग लेकर काम करना पड़ेगा स्वयं साधक को ही। इस बात को नहीं भूलना चाहिए।

जो धूर्त गुरु सहज में मुक्ति बांटते घूमते हैं और जो मूर्ख चेले ऐसे झांसे में पड़ते हैं, वे दोनों इन बातों पर ध्यान दें, और शुद्ध साधक सावधान हों।

अधिक वक्तव्य नहीं, आचरण चाहिए

ब

बबा बरबर करें सब कोई। बरबर करे काज नहिं होई॥
बबा बात कहे अर्थाई। फल का मर्म न जानहु भाई॥ २३

शब्दार्थ—बरबर = बड़बड़ाहट, बहुत बात करना।

भावार्थ—ब अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि सब लोग बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, परन्तु बहुत बड़बड़ाने से लक्ष्य नहीं मिलता। विद्वान लोग बात तं बहुत अर्थपूर्वक करते हैं, परंतु हे भाई! इनकी बातों के फल का रहस्य तुम नहीं जानत हो॥२३॥

व्याख्या—कुछ लोग अपने-अपने मतों का हठ लेकर बड़बड़ाते रहते हैं। कुछ लोग अपना ज्ञान एवं विद्वता दिखाने के लिए बहुत बातें करते रहते हैं। कुछ लोग बदले में मान-बड़ाई एवं धन-ऐश्वर्य पाने के लिए ज्ञान की झड़ी लगाते रहते हैं! कुछ लोग तो इतने भावनाग्रस्त हो जाते हैं कि उनको लगता है कि उनको छोड़कर सारा संसार गलत काम कर रहा है और शीघ्र ही गड्ढे में जाना चाहता है। इसलिए वे मिले हुए मनुष्यों को तो क्या हवा के सामने भी उपदेश झाड़ते घूमते हैं। ऐसे लोग पात्र और अपात्र की पहचान ही क्यों करने लगे! वे तो 'बदो तो पंच, न बदो तो पंच' बने सबके सामने ज्ञान बघारते घूमते हैं।

जब प्रवचन के मंचों पर संचालक के पास लोग अपनी चिट्ठियां भेजते हैं कि हमें भी दस मिनट बोलने का अवसर दिया जाय, तब वे अपने आपको कितना हास्यास्पद बनाते हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। उनमें ऐसा भी अपवाद हो सकता है कि कोई समझदार व्यक्ति समाज के लिए कोई आवश्यक बातें बताना चाहता हो, जिनकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं जा रहा हो; परन्तु उनमें अधिकतम लोग या अधिक समयों में सबके सब अपना छिछलापन ही जाहिर करते हैं। यह तो समाज के लोगों को, मंचासीनों एवं संचालक को चिन्ता होनी चाहिए कि वे आप से आग्रह करें कि आप अपनी अमृतवाणी से जनता को आप्लावित करें। यदि आप की उच्च योग्यता पर किसी कारणवश लोग नही ध्यान दे रहे हैं, तो आपका क्या बिगड़ता है! आप क्यों इस भ्रम में हैं कि जब आप मंच पर बोल देंगे, तो वहां की पूरी जनता काग से हंस हो जायेगी। कई जगह तो प्रवचन करने के पिपासु लोग संचालक को केवल चिट्ठी ही नहीं देते, किन्तु इसके लिए लड़ाई-झगड़ा भी करते हैं। न अवसर पाने पर पीछे से गाली-गलौज भी लिखकर भेजते हैं।

जहां पर प्रवक्ताओं को समय का प्रतिबंध रहता है कि उन्हें इतने ही मिनट बोलना है, वहां पर कम ही प्रवक्ता होते हैं, जो अपने समय के भीतर ही अपने वक्तव्य समाप्त कर दें। वे अधिक से अधिक समय खींचना चाहते हैं और जब उन्हें विवश होकर बैठना पड़ता है, तब उनमें कई लोग यह कहते पाये जाते हैं "सज्जनो, क्या करूं, बातें तो बहुत बतानी थीं, परन्तु मेरा समय जवाब दे रहा है। मैं विवश हूं।" यह सब कहकर वे अपनी इज्जत और घटा लेते हैं।

हमारा ज्ञान छलककर इधर-उधर बहना नहीं चाहिए, किन्तु हमें उसको अपने जीवन में पचाना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ज्ञान का अपने जीवन में आचरण करने लगता है, वह प्रवचन देने के लिए लालायित नहीं रहता। अवसर पड़ने पर लोग जब उससे कुछ सुनना चाहते हैं, तब वह उनके सामने कुछ बोल देता है, परन्तु उसके मन में बोलने की खलबली नहीं रहती।

सद्गुरु कहते हैं बहुत बड़बड़ाने से कल्याण, शांति एवं स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती। स्वरूपस्थिति तो मिलती है ज्ञान का आचरण करने से।

"बबा बात कहै अर्थाई" मार्मिक वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि कितने ही विद्वान बहुत अर्थपूर्ण बातें करते हैं; परन्तु उनकी बातों का फल होता है केवल वाक्य-विलास या बदले में कुछ पाने की इच्छा। भले ही वह स्थूल पदार्थ हो या केवल मान-सम्मान। तो ऐसी अर्थपूर्ण बातें किस काम की! बातें निचोड़कर कहना, परन्तु उनके आचरण की छाया भी न छूना, यह तो भोग का ही कारण हो सकता है या अपने दोषों को ढाकने का साधन, कल्याण का साधन नहीं।

सद्गुरु इस संदर्भ में एक मुख्य बात बताना चाहते हैं कि बकबक करना छोड़कर, आचरण करना सीखें।

भ्रम से जागो

भ

भभा भभरि रहा भरपूरी। भभरे ते है नियरे दूरी॥
भभा कहै सुनहु रे भाई। भभरे आवै भभरे जाई॥ २४ ॥

शब्दार्थ—भभरि = भयभीत। भभरे = भयभीत होने या भ्रमने।

भावार्थ—भ अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मनुष्य के जीवन में भय और भ्रम परिपूर्ण हो रहे हैं, इसलिए यह भयभीत है। भय और भ्रम के कारण निकट रहा हुआ शांतिपद दूर हो गया है। भ अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, जीव भय और भ्रम में पड़े हुए जन्म-मरण के चक्कर काटते हैं॥२४॥

व्याख्या—भय और भ्रम सब के मन में परिपूर्ण हो रहे हैं। ड अक्षर के प्रकरण में भय पर काफी विचार किया गया है। यहां केवल भ्रम पर विचार कर लें। वस्तु-स्थिति कुछ हो तथा प्रतीत कुछ दूसरा हो, इसे भ्रम कहते हैं। शरीर हाड़-मांस का ढांचा है। थोड़ा और विचार करें तो मिट्टी का पिंड है। थोड़ा और विचार करें, तो एलेक्ट्रान एवं सूक्ष्म कणों का प्रवाह है। परन्तु अविद्यावश बड़ा रमणीक प्रतीत होता है। यह भ्रम नहीं तो क्या है! काम-वासना एवं मैथुन-क्रिया के पीछे क्षीणता, मलिनता, परतन्त्रता तथा पराधीनता के अतिरिक्त क्या है; परन्तु भ्रमवश वह सब सुखों का मूल लगता है। क्रोध का परिणाम सब जानते हैं कि दुख है। हर क्रोध के पीछे आदमी पश्चाताप करता है। किन्तु जब क्रोध आता है और आदमी क्रोधवश किसी को गाली और मार देने चलता है,

तब उसे यही लगता है कि गाली-मार देने पर ही सफलता मिलेगी। यदि उसे कोई बीच रोकने लगे, तो क्रोधी आदमी उसी को शत्रु मानकर उस पर टूट पड़ना चाहेगा। लोभव आदमी जब अनैतिक काम करने लगता है, तब उसे वह अच्छा लगता है; किन्तु अनैति काम सदैव आत्मा को सालता है।

मनुष्य जिन्दगी भर यह भ्रम पालता है कि संसार के प्राणी-पदार्थों से हमें स्थायी सु मिलेगा। परन्तु वह इतना-सा नहीं सोच पाता कि जिन्दगी का जितना हिस्सा बीत गया है उसमें संसार के प्राणी-पदार्थों से कितना स्थायी सुख मिला है!

सीपी में चांदी का भ्रम होता है, रस्सी में सांप का भ्रम होता है, मृग को जेठ की धू की लहरियों में पानी का भ्रम होता है। इसी प्रकार हमें संसार के विषयों में सुख का भ्रम होता है। हम उसके लिए दौड़ते रहते हैं और अन्त में थककर हारते हैं।

मनुष्यों ने भ्रमों का बहुत बड़ा जाल बना रखा है। भूत-प्रेत का भ्रम, देवी-देवता का भ्रम, कर्ता-धर्ता का भ्रम, जगत का ब्रह्म होने का भ्रम, ग्रह-लग्न, मुहूर्त, दिशाशूल, अंग फड़कने आदि का भ्रम! जीव को अविद्यावश बहुत-बहुत भ्रम है। और इन सब भ्रमों के कारण वह निरंतर भयभीत है। इस भ्रम और भय के कारण उसकी शांति-स्थिति मूलतः निकट होते हुए, अर्थात उसका स्वरूप ही होते हुए, दूर हो गयी है।

मिथ्या भय और भ्रम के कारण ही जीव सदैव वासनाग्रसित है और इसी धुआंधार में पड़ा हुआ जन्म-मरण के चक्कर में घूम रहा है। मनुष्य के जीवन में तब तक शांति नहीं मिल सकती, जब तक उसे सच्चे सद्गुरु नहीं मिलते और वह सद्गुरु के निर्णय-वचनों द्वारा सारासार परखकर सत्य पारख स्वरूप की स्थिति नहीं करता।

सारे भय और भ्रम मन के कल्पित हैं। सद्गुरु-सत्संग में जब जड़-चेतन का ठीक बोध हो जाता है, और पवित्र रहनी धारण करने लगता है, तब उसके भय और भ्रम समाप्त हो जाते हैं और तब जीव परम शांति की प्राप्ति करता है।

माया-मोह को जीतो

म

ममा के सेये मर्म नहिं पाई। हमरे से इन मूल गँमाई॥
माया मोह रहा जग पूरी। माया मोहहि लखहु बिचारी॥ २५ ॥

शब्दार्थ—ममा = माया। हमरे से = हम-हम करने से, अहंकार करने से।

भावार्थ—म अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि माया का सेवन करने से मनुष्य का विवेक खो जाता है, इसलिए वह सत्य और असत्य का मर्म नहीं समझ पाता। सांसारिक वस्तुओं का अहंकार करने से मनुष्य अपनी वास्तविकता को भूल जाते हैं। संसारियों के मन में माया का मोह परिपूर्ण हो रहा है। इसलिए विवेक-द्वारा माया-मोह की परीक्षा करो॥२५॥

व्याख्या—उक्त पंक्तियों में चार बातें बतायी गयी हैं—(१) माया में आसक्त रहने वाला वास्तविकता नहीं समझ सकता; (२) माया का अहंकारी आदमी अपनी सच्चाई खो देता है; (३) सब के मन में माया का मोह भरा है; अतएव (४) माया-मोह की विवेकपूर्वक परीक्षा करो। चारों बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। हम इन चारों पर विचार करें।

"ममा के सेये मर्म नहिं पाई" बड़ा तलस्पर्शी वचन है। जो जितना ही माया का सेवन करेगा, वह उतना ही मूढ़ बनेगा। माया के सेवन का अर्थ है संसार के रागरंग में डूबना। विषयों के सेवन एवं संसार के रागरंग में डूबने से विवेक सो जाता है और जिसका विवेक ही सो गया हो, वह सत्य और असत्य के मर्म को नहीं समझ सकता। मन तो एक है। जब मन में दुनिया का रागरंग रहेगा, तब विवेक कैसे जगेगा और विवेक जगे बिना सार और असार की परख कैसे होगी! अतएव जो जीवन का मर्म जानना चाहे, वह रागरंग छोड़े।

"हमरे से इन मूल गँमाई" दूसरी बात है। 'हमरे से' का तात्पर्य है हम-हम करके, अर्थात शरीर और शरीर के नाम, रूप, वर्ण, आश्रम आदि को अपना ही रूप मानकर उनमें अहंकार करने वाला व्यक्ति अपना मूल खो देता है। हर व्यक्ति का अपना मूल स्वरूप है चेतन। मैं शरीर नहीं हूं। शरीर न होने से उसके नाम-रूप मेरे नहीं हैं। जो 'मैं नहीं हूं' उसको 'मैं' मान लेने से, अपना मौलिक 'मैं' विस्मृत हो जाता है। मैं शरीर हूं ऐसा अहंभाव आते ही, मैं शुद्ध चेतन हूं यह भाव खो जाता है। अतएव शरीराभिमान रखकर अपने मूल स्वरूप एवं चेतनस्वरूप का बोध नहीं हो सकता और न स्वरूपस्थिति हो सकती है। इसलिए जिसे अपनी मौलिकता में रहना हो, जो अपने मूल स्वरूप में स्थित रहना चाहता हो, जो अनन्त सुख का रूप है, वह सदैव देहाभिमान का तिरस्कार रखे।

तीसरी बात है "माया मोह रहा जग पूरी" संसार में सर्वत्र माया-मोह का ही पसारा है। संसार में देखो, तो हर आदमी मोह-मूढ़ है। केवल मात्रा का अन्तर है। कोई इतने प्रतिशत मूढ़ है और कोई उतने प्रतिशत। किन्तु विद्वान-अविद्वान, धनी-गरीब, उच्च वर्ग-निम्न वर्ग जहां तक देखो, सब माया में मूढ़ हैं। हां, कुछ सुज्ञ जीव इससे जागते हैं और कुछ जागने के उपक्रम में रहते हैं।

अतएव सद्‌गुरु चौथी बात में हमें आज्ञा देते हैं "माया मोहहि लखहु बिचारी।" अर्थात विवेकपूर्वक माया-मोह को देखो कि वह क्या है! जब हमारे हृदय में विचार एवं विवेक की जागृति होती है और जब हम विवेकप्रवण दृष्टि माया-मोह पर डालते हैं, तब माया-मोह खो जाता है। माया-मोह तो अंधकार मात्र है। अर्थात संसार के प्राणी-पदार्थों के प्रति जो हमारे मन में मोह होता है, वही तो माया-मोह है। वह अंधकार मात्र है। विवेक-सूर्य के उदित होने पर उसका कहां अस्तित्व!

विवेक न होने से ही संसार के प्राणी-पदार्थों में मोह होता है। विवेक उदित होने पर मोह समाप्त हो जाता है। सद्‌गुरु अंतिम बात यही कहते हैं कि तुम विचारपूर्वक माया-मोह को देखो तो पाओगे वह खो गया है। सबसे अनासक्त होना ही असंगता है और यही अपने मौलिक स्वरूप में निवास है।

मन से संसार निकाल दो

य

यया जगत रहा भरपूरी। जगतहु ते है जाना दूरी॥
यया कहै सुनहु रे भाई। हमहीं ते इन जै जै पाई॥ २६॥

शब्दार्थ—हमहीं ते = अहंकार से। जै जै = कल्याण।

भावार्थ—य अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि हे मानव! तुम्हारे मन में जगत की आसक्ति ठूंस-ठूंसकर भरी है, परन्तु यह समझ लो कि संसार को छोड़कर तुम्हें दूर जाना है। य अक्षर कहता है कि हे भाई! सुनो, इन संसारियों को यही भ्रम है कि संसार के प्राणी-पदार्थों को हमारे-हमारे करने में ही अपना कल्याण है। अर्थात ये संसारी संसार की अहंता-ममता में ही अपना कल्याण समझते हैं।।२६।।

व्याख्या—"यया जगत रहा भरपूरी" मार्मिक वाक्यांश है। मनुष्य के मन के बाहर-भीतर संसार निरन्तर धू-धू करके गुजरता है। यह मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों में कहीं राग करके जलता है तो कहीं द्वेष करके जलता है। सांसारिकता में रात-दिन जलते रहना मानो मनुष्य ने भ्रमवश अपनी नियति मान ली है। संसार के प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर आदमी पाप पर पाप करता है। उसको यह होश भी नहीं होता कि यहां से जाना है.। परन्तु सद्गुरु चेतावनी देते हैं "जगतहु ते है जाना दूरी।" हे मानव! तू जिस संसार में आसक्त है, उसे छोड़कर सदा के लिए तुम्हें दूर चला जाना है। भले ही इस जीव का जन्म आज के घर के आस-पास या उसी घर में ही हो, परन्तु पूर्व की याद एकदम भूल जाने से, उससे बहुत दूर ही हो जाता है।

हम जो कुछ अपना मान रखे हैं, आज-कल में इन्हें सदैव के लिए छोड़ना है। यह बात यदि हम ध्यान में रख सकें, तो निश्चित ही जाग्रत रहेंगे। सद्गुरु साखीग्रन्थ में कहते हैं—

जाको जाना उत घरा, सो क्यों जोरे मित्त।
जैसे पर घर पाहुना, रहे उठाये चित्त॥

"हमहीं ते इन जै जै पाई।" इस सन्दर्भ का यह अन्तिम अंश है जो व्यंग्यात्मक है। सद्गुरु कहते हैं कि इन संसारियों को यह भ्रम है कि संसार में हम-हम करते रहने से ही कल्याण है। मोही मनुष्य संसार की अहंता-ममता में आकंठ डूबकर अपना कल्याण समझता है।

विमोहित मानव को यह होश नहीं रहता कि जवानी, युवती पत्नी, बच्चे, धन, मान-प्रतिष्ठा सब क्षणभंगुर तथा क्षण-क्षण बदलने एवं बिछुड़ने वाले हैं। ये तो वैसे हैं कि 'चार दिना की चांदनी, फेरि अन्धेरी रात'। इन क्षणभंगुर पदार्थों की अहंता-ममता करने से इनकी वासनाएं मन में भर जाती हैं, परन्तु ये वस्तुएं अपने पास नहीं रह जातीं। प्राप्त हुए सारे प्राणी-पदार्थों का धीरे-धीरे वियोग तथा बदलाव होता रहता है। संसार के सारे प्राणी-

पदार्थ एक-एक कर हमसे हटते जाते हैं और हम अन्ततः अकेले रह जाते हैं। मन की वासनाएं तो छूटती नहीं, केवल संसार के प्राणी-पदार्थ छूटते हैं। इसलिए हम पुनः वासनाओं में बंधकर संसार का चक्कर काटते हैं।

अतएव विवेकवान का कर्तव्य है कि वह यह समझे कि जिस संसार से हमें आज-कल में अलग होना ही है, उसकी अहंता-ममता एवं वासना हम आज ही से छोड़ दें। अन्त में अकेला होना है, तो हम आज ही से अपने को अकेला समझकर सबसे अनासक्त एवं असंग हो जायं। यही परम शांति का पथ है। यह स्थिति ही अपनी मौलिकता है। यह समझ लो "जगतहु ते है जाना दूरी।" इस संसार को छोड़ देना है। इसलिए इसकी वासना, इसका राग, मोह पहले छोड़ दो, तो तुम अमृतत्त्व पा जाओगे। वासनाहीन जीवन ही तो अमृत जीवन है। वासना से हमारे सामने संसार मौजूद रहता है और वासना त्याग देने से हमारे सामने स्वरूपस्थिति मौजूद रहती है। एक तरफ जगत है, दूसरी तरफ अपनी आत्मा। जगत को पीठ देने पर ही आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति हो सकती है।

स्वरूप-राम में रमो

र

ररा रारि रहा अरुझाई। राम के कहे दुख दारिद्र जाई॥
ररा कहै सुनहु रे भाई। सतगुरु पूँछि के सेवहु आई॥ २७ ॥

शब्दार्थ—रारि = झगड़ा।

भावार्थ—संसार में यह झगड़ा उलझा हुआ है कि राम-राम कहने से सब दुख-दरिद्रता मिट जाती है। परंतु र अक्षर कहता है कि हे भाई! सद्गुरु से पूछकर राम का सेवन करो, तब कल्याण होगा।।२७।।

व्याख्या—वेदों तथा वैदिक साहित्य में राम-नाम जप की बात कहीं नहीं है। वैदिक छह शास्त्रों में भी नहीं है। यहां तक कि श्रीराम के सम्बन्ध में बना प्रथम महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण में भी राम-नाम जप का कोई विधान एवं निर्देश नहीं है। राम-कथा[1] पहले नरकथा के रूप में बनी, पीछे श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु के अंशावतार के रूप में चित्रित किया गया। उसके बाद श्रीराम को परब्रह्म मानकर रामकथाएं बनीं और श्रीराम के नाम का जप एवं कथा-कीर्तन करके मोक्ष की अवधारणा की गयी। फिर तो राम-नाम-जप की इतनी महिमा बढ़ायी गयी और कहा गया कि जीवन में इतना पाप

---

१. ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में वाल्मीकीय रामायण का संक्षिप्त रूप बना, उसमें रामकथा नरकथा के रूप में थी। उसके सौ वर्ष बाद उसमें बालकांड तथा उत्तरकांड प्रक्षिप्त करके श्रीराम चारों भाइयों के लिए विष्णु का अंशावतार की बात की गयी है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक अध्यात्म रामायण बनी, जिसमें श्रीराम को परब्रह्म माना गया। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने मानस बनाकर उसमें श्रीराम को ब्रह्म का सर्वोच्च रूप दिया।

किया नहीं जा सकता, जितना पाप एक बार के राम कहने से भस्म हो सकता है। राम का नाम लेते ही संसार-सागर के सूख जाने की गारंटी दी गयी। इस भ्रम में पड़कर लोग विवेक-विचार छोड़कर केवल राम-नाम के रट्टू सुग्गा होने लगे। फिर तो कितने ही लोग पाप की भी चिंता छोड़ दिये; क्योंकि उन्हें राम-नाम-जप में इतने बल का भ्रम हो गया कि वे जो कुछ पाप करेंगे, राम का नाम लेते ही सब कपूर की तरह उड़ जायेगा। यहां तक लोग मानने लगे कि राम-राम कहने से शरीर की बीमारी, दरिद्रता, बांझपन आदि सब दूर हो जायेंगे और समस्त ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। इस प्रकार इस झगड़े में लोग उलझ गये।

कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर राम-राम कहने मात्र से कल्याण नहीं होगा। पहले किसी सच्चे सद्गुरु के पास जाकर पूछो कि राम क्या है और उसका सेवन कैसे करना चाहिए, तो सद्गुरु बताएगा।

बीजक में यह स्पष्ट है कि कबीर साहेब का उपासनीय राम दशरथ-पुत्र राम नहीं है, किन्तु हृदय-निवासी चेतन है। क्योंकि यही सार्वभौमिक सिद्धांत हो सकता है। कबीर साहेब के सारे सिद्धांत सार्वभौमिक हैं। जाति, धर्म, अध्यात्म सबमें उनका दृष्टिकोण सार्वभौमिक है। अतएव उनका निर्देश है "हृदया बसे तेहि राम न जाना"।

राम, शिव, हरि, ब्रह्म, खुदा, गॉड, सतनाम, गुरुनाम आदि कोई नाम हो; इनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। इनमें जिसको जिस नाम में श्रद्धा हो, जप सकता है। किसी पवित्र अवधारित नाम के जप से मन में सात्विकता एवं कुछ एकाग्रता आती है। परन्तु यही सर्वोच्च साधन नहीं है। यह तो रोते हुए बच्चे के मुंह में काठ का चटुवा देना है। उससे वह थोड़ा चुप हो जायेगा। परन्तु उसे मां के सच्चे दूध की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधक को स्वस्वरूप का बोध चाहिए। अपना चेतनस्वरूप ही अपना परम निधान है। उसके लिए ही राम, हरि, ब्रह्म आदि शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं। अपने स्वरूप के अलावा यदि चेतन है तो सजाति है। यदि जड़ है, तो विजाति है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा अपना लक्ष्य कहीं नहीं है। मेरी अपनी आत्मा ही राम है। वही पारखस्वरूप शुद्ध चेतन है। राम-राम कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं एवं विकारों को त्यागकर अपने चेतनरूप राम में रमने की आवश्यकता है। मन से विषय-विकार हट जाने पर उसमें चेतन का ही बोध रह जाता है। इस बोध में स्थित होना ही राम का सेवन है, राम में रमना है।

संदेहशील व्यक्ति साफ नहीं बोल सकता

ल

लला तुतुरे बात जनाई। तुतुरे आय तुतुरे परिचाई॥
आप तुतुरे और की कहई। एकै खेत दूनों निर्बहई॥ २८॥

शब्दार्थ—तुतुरे = तुतलाने वाला, साफ न कहने वाला, अबोधी गुरु। आय = होना, आना। परिचाई = परिचय देना, ज्ञान देना। खेत = क्षेत्र, स्थान।

भावार्थ—ल अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि अबोधी गुरु शिष्यों को लल्ला, बच्चा आदि प्यार भरे वचन भले कहें, परंतु वे उलझी हुई बातें बताते हैं। क्योंकि वे हृदय से ही उलझे एवं अबोधग्रस्त हैं, इसलिए उलझी हुई बातों से धर्म तथा अध्यात्म का परिचय भी देते हैं। वे स्वयं अबोधी होने से बात तुतलाकर कहते हैं। अर्थात उलझी हुई चर्चा करते हैं। ये लोग एक ही अध्यात्मबोध एवं अध्यात्मसाधना में जड़-चेतन, भोग-योग, पाप-पुण्य मिलाकर सबका निर्वाह कर लेते हैं। अर्थात इनके यहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है। कोई निर्णय नहीं है।।२८।।

व्याख्या—संसार में ऐसे अधिकतम गुरु हैं जिनके हृदय में सत्य और असत्य का निर्णय नहीं है। उन्हें वास्तविकता का बोध नहीं है। जिसके भीतर स्पष्ट बोध ही नहीं है, वह दूसरे को सही रास्ता कैसे बतायेगा! ऐसे गुरुओं को सद्गुरु ने 'तुतुरे' कहा है। इसका अर्थ होता है तुतलाने वाला। जो व्यक्ति तुतलाकर बोलता है, उसकी बात साफ नहीं रहती। किसी-किसी में जो स्वाभाविक ढंग से तुतलाहट रहती है, वह कोई शारीरिक कमी है। परन्तु यहां सद्गुरु उसे तुतलाने वाला कहते हैं जो अबोधग्रस्त होने से बात खुलासा नहीं कर पाता। जिसका हृदय ही भ्रम से पूर्ण है, वह बात साफ कैसे करेगा!

एक पूर्व परिचित संस्कृत भाषा के विद्वान पंडित मिलने आये। मैंने उनसे पूछा—'कुछ भजन-साधन चलता है?' उन्होंने कहा—'दूसरा तो कुछ है नहीं, सब एक ही ब्रह्मतत्त्व है। फिर किसका भजन-साधन करें! तत्त्व एक ही होने से ग्रहण-त्याग भी संभव नहीं। क्या छोड़ें, क्या ग्रहण करें, जब अंततः सब कुछ ब्रह्म ही है।'

मैंने कहा—'पंडित जी! आपके सामने पत्थर पड़े हैं, मनुष्य भी हैं। उधर टट्टी पड़ी है। इधर सब्जी का गट्ठा रखा है। क्या ये सब अलग-अलग नहीं हैं? क्या टट्टी और रोटी में भेद नहीं है? क्या जड़ और चेतन एक ही हैं? क्या पत्नी, पुत्री और मां का भेद नहीं है? भोग और त्याग में क्या अन्तर नहीं है?'

पंडित जी ने कहा—'भेद अवश्य है। शास्त्रों में जड़ और चेतन को सर्वथा अलग-अलग भी कहा गया है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा—ये सभी शास्त्र जड़ तथा चेतन को सर्वथा भिन्न बताते हैं।

मैंने कहा—'तो फिर आप अपने लिए तथा अपने श्रोताओं तथा शिष्यों के लिए क्या निर्णय कर रहे हैं?'

पंडित जी ने कहा—'महाराज! क्या मानूं क्या न मानूं, सभी शास्त्रों के रचयिता आप्तपुरुष हैं। मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाता हूं। कभी किसी शास्त्र की बातें कह देता हूं और कभी किसी शास्त्र की। जीवन में त्याग कठिन है। इसलिए वेदांत की बातें ज्यादा अच्छी लगती हैं।'

वेदांत के ग्रन्थों में बताया है कि सत्ता केवल एक ब्रह्म की है। उसके अलावा जगत, जीव, ईश्वर आदि कुछ नहीं है। एक शुद्ध ब्रह्म की सत्ता होने से विषय-भोग भी ब्रह्म से अलग नहीं है। विषयों में सुख नहीं है। सुखस्वरूप केवल ब्रह्म है। यदि विषय-भोग में सुख लगता है तो वह विषय का नहीं, ब्रह्म का है। अतः जीवन में जो कुछ भोग-त्याग है,

सब ब्रह्म में ही रमण है। 'कृष्ण भोगी थे, शुकदेव त्यागी थे, जनक एवं श्रीराम राजा थे और वसिष्ठ कर्मकर्ता थे, परन्तु ये सब समान ज्ञानी थे।'[१] यद्यपि दूसरे शास्त्रों में इसका खंडन है। जड़-चेतन सर्वथा भिन्न माना गया है। आत्मस्थिति के लिए सत्य, तप, सम्यक ज्ञान, नित्य का अखंड ब्रह्मचर्य तथा सभी दोषों का त्याग बताया गया है।[२] इसलिए मन में कुछ साफ निर्णय तो नहीं कर पाते, परन्तु जड़-चेतन तथा भोग-त्याग में अंतर न मानने से आधुनिक वेदांत सरल दिखता है।

एक भक्त मिले। मैंने उनसे पूछा—"कहो भाई! कुछ साधन-भजन चलता है?"

उन्होंने कहा—"हम क्या कर सकते हैं! प्रभु जो चाहता है, वही होता है, 'बोले बिहंसि महेस पुनि, ज्ञानी मूढ़ न कोय। जेहि क्षण रघुपति जस करें, तेहि क्षण तइसन होय॥' हम तो कठपुतली हैं, ईश्वर सूत्रधार है। वह जिधर चलाता है, उधर हमें चलना है।"

मैंने कहा—'तो संसार में पुण्य के साथ जितने डाकें, हत्याएं, आगजनी, कालाबाजारी, व्यभिचार, मिलावटबाजी, घूसखोरी आदि अत्याचार होते हैं सब ईश्वर ही करवाता है? दरिद्रता, रोग, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, नाना विपत्ति आदि जीवों के ऊपर जो आते हैं, सब ईश्वर ही उनके ऊपर ढाता है?'

भक्त जी ने कहा—"कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा॥' जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है।"

मैंने कहा—"भक्त जी, अभी आप बता आये हैं कि जीव कठपुतली है। वह स्वतन्त्र है ही नहीं कि कुछ कर सके, फिर उसे आप स्वतन्त्र कर्मकर्ता भी बता रहे हैं। यह घपलेबाजी की बातें क्यों?"

भक्त जी ने कहा—"देखिए महाराज! हम शास्त्र की किसी बात पर अविश्वास नहीं करते। जो कुछ लिखा है हमारे लिए सब सत्य है। अन्त में सत्य और असत्य क्या है, यह ईश्वर ही जाने।"

उक्त सारी बातें या इन-जैसी अन्य बातें 'तुतुरे' एवं तुतलाने वालों की हैं। जब मन में कोई साफ नक्शा ही नहीं है, तो बाहर उसका स्पष्ट विवेचन भी कैसे किया जा सके! जड़-चेतन, ग्रहण-त्याग, विधि-निषेध हैं। भोगों से हटकर संयम-द्वारा ही स्वरूपस्थिति मिल सकती है। जीव से कोई भगवान या शैतान अच्छे-बुरे कर्म करवाते नहीं हैं। जीव स्वयं अपनी समझ से जो चाहता है, वह करता है; और जैसे करता है, वैसे भरता है। ये निर्णय की बातें एकनिष्ठ होकर न वे मान सकते हैं और न कह सकते हैं। जो संदेह में हैं तथा डांवांडोल हैं, उनका निर्णय साफ हो ही नहीं सकता।

---

१. कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपो जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च ते सर्वे ज्ञानिनः समाः॥

२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ *मुण्डकोपनिषद् ३/१/५॥*

इसलिए तुतलाने वाले, दुविधापूर्ण बात कहने वाले न स्वयं साफ हो सकते हैं, दूसरों को साफ रास्ता बता सकते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते इस पद के अन्त में कहा "एकै खेत दूनों निर्बहई।" अर्थात ऐसे भ्रामक गुरुजन अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन, भोग-त्याग दोनों को मिलाकर एक साथ दोनों का निव करते हैं। ज्ञान-भक्ति के नाम पर ऐसी जगह रास-भोग सब चलता है।

तुम्हारा लक्ष्य बाहर नहीं, भीतर है

व

ववा वह वह कहैं सब कोई। वह वह कहै काज नहिं होई॥
वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥ २९

शब्दार्थ—स्वर्ग पताल = स्वर्ग-नरक, मोक्ष-बन्ध, सत्ता की समग्रता, वास्तविकता।

भावार्थ—व अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि वह-वह, वह-वह सब कहते हैं; अर्थात वह परमात्मा, वह ब्रह्म तो सब कहते हैं, परंतु वह-वह कहने परोक्ष में निर्देश करने से जिज्ञासु को न बोध होता है और न तृप्ति। परोक्ष बात कह वाले की बातें वही सुनकर मान लेता है, जिसने वास्तविकता नहीं देखी है॥२९॥

व्याख्या—व्याकरण के अनुसार तीन पुरुष होते हैं—मैं, तू तथा वह। मैं उत्तम पुरु है, तू मध्यम पुरुष है और वह अन्य पुरुष है। धर्म तथा अध्यात्म के क्षेत्र में उत्तम पुरु की चर्चा करने वाले कम हैं, अन्य पुरुष की ही चर्चा में अधिक लोग व्यस्त है अधिकतम लोग यही कहते हैं कि वह परमात्मा है, वह ब्रह्म है, अथवा वहां परमात्मा है वहां ब्रह्म है। अर्थात परमात्मा या ब्रह्म को लोग परोक्ष में डालकर चुप हो जाते हैं। परं सद्गुरु कहते हैं कि परमात्मा एवं ब्रह्म को परोक्ष में, शून्य में, अपने से दूर किसी अदृश कल्पित स्थान में मानकर सच्चे जिज्ञासु की न जिज्ञासा मिटेगी और न उसे स्थायी सन्तो होगा।

दृष्टि अन्य पुरुष 'वह' पर नहीं; उत्तम पुरुष 'मैं' पर होना चाहिए। 'मैं' से स्पष्ट औ क्या हो सकता है? मेरा अपना चेतनस्वरूप, स्व-सत्ता ही परमात्मा है, परम-आत्मा, श्रेष्ठ आत्मा, शुद्ध-आत्मा है। जो सबको परखता है, वह पारखरूप मेरा है। पारख ही तो आत्म राम है, 'अस्ति आत्मा राम है।' इस 'मैं-तत्त्व' स्वस्वरूप की पहचान छोड़कर वह परमात्म है, वह ब्रह्म है मानते तथा कहते हुए भटकना कहां की बुद्धिमानी है! इसमें कह आत्मकल्याण है! अतएव सद्गुरु कहते हैं "वह वह कहै काज नहिं होई।" अतः 'वह कहना छोड़कर 'मैं' को पहचानो।

"वह तो कहै सुनै जो कोई। स्वर्ग पताल न देखै जोई॥" यह और भी जोरदा वचन है। सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग वह-वह कहते रहते हैं; अपने से पृथक अपन लक्ष्य, परमात्मा, राम, ब्रह्म एवं मोक्ष खोजते रहते हैं, वे अध्यात्म क्षेत्र में भोले हैं औ ऐसे भोले लोगों की बातें सुनकर उन्हें वही मानेगा, जो स्वयं भी भोला होगा। सद्गुर

कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मुझसे अलग कहीं दूर है यह बात वही मानेगा जिसने स्वर्ग-पाताल नहीं देखा होगा। अर्थात जिसे सत्यता की समग्रता का, बन्ध-मोक्ष का एवं वास्तविकता का बोध नहीं होगा।

भोला आदमी ही परमात्मा एवं मोक्ष को अपने से अलग खोजता है। थोड़ी-सी बुद्धि से भी हम समझ सकते हैं कि बाहर से मिली हुई वस्तु एक दिन अवश्य छूट जाती है। यदि मेरा लक्ष्य एवं उद्देश्य बाहर है, यदि मेरे उद्देश्य से मेरी देश-काल की दूरी है, तो वह मेरा उद्देश्य ही नहीं है।

शांति तुम से अभिन्न है

श

शशा सर नहिं देखे कोई। सर शीतलता एकै होई॥
शशा कहै सुनहु रे भाई। शून्य समान चला जग जाई॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सर = शर, जल। शुद्ध शब्द 'शर' है। इसका अर्थ जल[1] है।

भावार्थ—श अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग जल को नहीं देखते कि जल और शीतलता एक ही है। अर्थात जीव और जीव का लक्ष्य एक ही है। श अक्षर कहता है, हे भाई! सुनो, संसार के लोग विवेक के बिना शून्य के समान चले जा रहे हैं।।३०।।

व्याख्या—शर और शीतलता अर्थात जल और उसकी ठंडक एक ही है। जल से शीतलता हटायी नहीं जा सकती। यदि जल को गरम कर दें, तो भी मूल रूप में जल शीतल ही रहता है। इसीलिए गरम जल जब अग्नि पर डालते हैं, तब अग्नि बुझ जाती है। यदि जल गरम हो गया होता तो वह अग्नि को कैसे बुझा पाता? अतएव जिस जल को हम गरम कहते हैं वह गरम नहीं है, किन्तु उसमें मिले हुए अग्नि के कण गरम हैं और हमें लगता है कि जल गरम है। यहां जल का भौतिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं करना है। यहां तो इतना ही उदाहरण पेश करना है कि कहीं शीतल जल रखा हो, तो हम देखते हैं कि जल और शीतलता एक है। इसी प्रकार जीव और जीव का लक्ष्य परम-शांति एवं मोक्ष एक ही है।

जीव केवल दुख की सर्वथा निवृत्ति चाहता है। दुख न रहने पर दुखहीन दशा को शांति या परमानन्द दशा भी कह सकते हैं। इसी को कोई ईश्वर की प्राप्ति, ब्रह्म की प्राप्ति भी कह सकता है। जीव से पृथक ईश्वर-ब्रह्म तो कुछ ऐसी वस्तु नहीं जो अलग से मिलती हो। जिसके मन में जिस शब्द से संतोष होता हो, उस शब्द का प्रयोग करके संतोष कर ले। तथ्य इतना ही है कि मन विषयों से मुक्त होने पर निर्मल होता है। निर्मल मन चंचलता छोड़कर एकाग्र होता है। एकाग्र मन में अपने चेतनस्वरूप का बोध होकर

१. बृहत् हिंदी कोश।

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति होती है। यही सर्वोच्च गंतव्य है। इसके आगे न रास्ता है और न गंतव्य।

जैसे जल से शीतलता अलग नहीं, वैसे जीव से उसका लक्ष्य, उसका मोक्षपद अलग नहीं। जीव की ही निर्मल दशा ब्रह्मत्व, परमात्मत्व, शिवत्व, मोक्ष एवं पारखस्थिति है।

जल में अग्नि के कण बाहर से मिल जाने से जल गरम प्रतीत होता है। उसे शीतल बनाने के लिए कुछ उसमें डालना नहीं है, किन्तु केवल जल में से अग्नि-कण निकल जाने दीजिए, फिर जल अपने आप शीतल रह जायेगा; क्योंकि उसका स्वरूप ही शीतल है। इसी प्रकार जीव के साथ जो कामादि विकार लगे हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं। वे बाहर से लग गये हैं। साधक का काम है कि वह विकारों को निकल जाने दे। उन्हें बुलाये नहीं। उसका स्वागत न करे। उनसे अपना मन-समेट ले। जब विकार सर्वथा निकल जायेंगे, तब जीव स्वयं मुक्तरूप रह जायेगा। शर तथा शीतलता तो एक ही है। जीव और परमशांति-दशा एक ही है। जल को शीतलता पाना नहीं है। श्री तुलसीदास जी ने भी अपनी सतसई रचना में लिखा है "जल कहं परम पियास!" आश्चर्य है जल ही बहुत प्यासा हो गया। मूलतः तृप्तरूप जीव भूलवश अतृप्त बन गया।

सद्गुरु कहते हैं "शून्य समान चला जग जाई।" अर्थात अपने मूल स्वरूप को न पहचानकर शून्य में सिर मारते-मारते संसार के लोग धोखे में जन्म खो रहे हैं। परम सुखस्वरूप अपनी अपरोक्ष आत्मा की स्थिति छोड़कर, प्रत्यक्ष विषयों एवं परोक्ष कल्पनाओं में भटक रहे हैं।

आग्रह-रहित विनम्र बनो

ष

षषा खरा करे सब कोई। खर खर करे काज नहिं होई।।
षषा कहै सुनहु रे भाई। राम नाम ले जाहु पराई।। ३१ ।।

शब्दार्थ—खरा = तेज, साफ-साफ, सत्य। खरखर = तेज, कड़ा, गरम-गरम। पराई = दूसरे की; भाग जाना, यहां अर्थ है भाग जाना, त्याग करना।

भावार्थ—ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि सभी मतवादी अपने विचार, मान्यता एवं सिद्धांत को खरा एवं सत्य समझते हैं; और उनको लेकर दूसरों से गरम-गरम बातें करते हैं। परन्तु खरखर-भरभर करने से न अपना कल्याण हो सकता है न दूसरे का। ष अक्षर कहता है कि हे भाई! तुम राम का नाम लो, कोई बात नहीं, किन्तु विषय-वासनाओं का त्याग करो।।३१।।

व्याख्या—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी मान्यताओं, विचारों एवं सिद्धांत को सत्य मानता है। सद्गुरु कहते हैं "खरा करे सब कोई।" अर्थात सभी लोग अपने विचारों को खरा कहते हैं और उसको लेकर दूसरों से झगड़ते हैं। अल्पज्ञ आदमी जब किसी बात को मत एवं सिद्धांत के रूप में मान लेता है, तब उसके ख्याल से सारा सत्य उसके मत के

ही भीतर सिमट जाता है। वह यह समझने की चेष्टा ही नहीं करता कि दूसरे के मत एवं सिद्धांत में भी कुछ सार-सत्य हो सकता है। अतएव ऐसे आदमी अपने मत एवं सिद्धांत के भूत बन जाते हैं। वे मानते और कहते हैं कि संसार में परम सत्य केवल हमारा ही मत है और इस बात को लेकर वे जा-बेजा खरखर-भरभर करते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार मताग्रही बनकर न अपना कल्याण हो सकता है और न दूसरे का।

जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, वह उतना विनम्र होता जाता है। उसको सबके मतों में सत्य के अंश दिखाई देते हैं। वह किसी के निर्णय को सुनकर अपने मत की भी परीक्षा करता है। जो आदमी जितना अधिक समझता जाता है, उसकी बोली उतनी ही धीमी होती जाती है। अल्पज्ञ ही ताल ठोककर बातें करता तथा दूसरे मत वालों को ललकारता है।

प्रश्न उठ सकता है कि कबीर साहेब ने भी तो अन्य मतावलंबियों को ललकारा है। प्रश्न सच है। परन्तु कबीर साहेब की स्थिति बहुत भिन्न है। पूर्ण पुरुषों को भी कभी-कभी हठ और अहंकार से उन्मादित लोगों को रास्ते पर लाने के लिए उन्हें ललकारना पड़ता है। कबीर साहेब को यह विधा बहुत अपनानी पड़ी। उन्हें संसार को जड़ता से जगाने के लिए बहुत झकझोरना पड़ा। परन्तु वे जिज्ञासुओं के सामने विनम्र थे। कबीर-जैसे संतशिरोमणि की भाषा कितनी विनम्र है—"कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

'राम नाम ले जाहु पराई।" लगता है जैसे कुछ ऐसे लोग कबीर साहेब के सामने उपस्थित हों, जो सदाचार और त्याग के बिना केवल राम-नाम जप से कल्याण-प्राप्ति का व्याख्यान देते रहे हों और वे इसमें अपनी अधिक भावुकता प्रदर्शित करते रहे हों। सद्गुरु ऐसे लोगों को लक्ष्य करके मानो कहते हों कि ठीक है भाई! राम-नाम लो, परन्तु केवल इतने से काम नहीं चलेगा। 'जाहु पराई'—भाग जाओ संसार से, तब कल्याण होगा। इसका अभिप्राय इतना ही है कि विषय-विकारों का त्याग करो, तब कल्याण होगा। यहां केवल राम-नाम जप से ही अभिप्राय नहीं समझना चाहिए; किंतु कोई भी पवित्र माना हुआ नाम हो, केवल उसके जपने से कल्याण मान लेना भोलापन है। स्व-स्वरूपज्ञान चाहिए, विषयों का त्याग चाहिए एवं मनोनिग्रहपूर्वक स्वरूपस्थिति चाहिए। तभी कल्याण है।

अज्ञान और मोह से ऊपर उठो

स

ससा सरा रचो बरियाई। सर बेधे सब लोग तवाई॥
ससा के घर सुन गुण होई। इतनी बात न जाने कोई॥ ३२॥

शब्दार्थ—सरा = चिता। बरियाई = बलात, हठपूर्वक। सर = बाण। तवाई = ताप से व्याकुल, मूर्च्छित।

भावार्थ—स अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि लोग हठपूर्वक आत्मदाह करने के लिए अज्ञान की चिता बनाते हैं। और मोह के बाण से बिंधकर सब

मूर्च्छित हैं। परंतु लोग इतनी-सी बात नहीं जानते कि इन सबका परिणाम धोखा खाना है ॥३२॥

व्याख्या—अज्ञान ही वह चिता है जिसमें मनुष्य अपने आप का दाह करता है। अपने से ही पैदा हुआ अज्ञान अपने आप का विध्वंस करता है। सारे दुखों की जड़ अज्ञान है। लोग हठपूर्वक अपने आपको अज्ञान की आग में झोंकते हैं।

कितने ऐसे लोग होते हैं जो किसी समझदार के समझाने पर भी नहीं समझते। उन्हें अपने मन का रास्ता अच्छा लगता है। विनयी अंतःकरण हुए बिना सत्यासत्य समझा नहीं जा सकता। जब मन में पूर्ण विनम्रता आ जाती है, तब बहुत बातें तो अपने आप समझ में आ जाती हैं, और जो स्वतः नहीं समझ में आतीं, वे दूसरों द्वारा समझ ली जाती हैं।

उन मनुष्यों एवं साधकों का बहुत बड़ा दुर्भाग्य होता है, जो अहंकारी एवं हठी होते हैं। वे अपने हठ में पड़कर अपने विवेक की तो अवहेलना करते ही हैं, गुरुजनों की भी कर देते हैं। इसलिए उनके सुधार का रास्ता बंद हो जाता है। ऐसे लोगों के मन में सांसारिक प्रलोभन तथा बुद्धि का गर्व होता है और इन दोनों का मूल अज्ञान है।

"सर बेधे सब लोग तवाई" अर्थात मोह के बाण से बिंधकर सब लोग मूर्च्छित हैं। मोह ऐसा बाण है जिसके लगने पर मनुष्य को अपने आपा का ध्यान नहीं रह जाता। मोह मनुष्य को मूढ़ बनाता है। सीता के सौंदर्य के मोह में पड़कर ही रावण-जैसे विद्वान और प्रतापी पुरुष ने अपना सर्वनाश किया था। संयोगिता के मोह में पड़कर दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज ने अपना पतन किया था। सिंहल द्वीप की रानियों के मोह में फंसकर मछंदरनाथ ने अपना वैराग्य खोया था। मोह से ग्रस्त होकर आदमी ऐसे-ऐसे कुकर्म कर डालता है जिसके परिणाम में उसे समाज में कलंकित एवं लज्जित तथा अन्तरात्मा से मलिन होना पड़ता है।

कितने साधक तथा साधिकाएं विरोधी आलंबन अर्थात किसी स्त्री या पुरुष के संपर्क में बराबर आते-आते जब मोहग्रस्त हो जाते हैं, तब वे अपनी साधना को छोड़ बैठते हैं। मोह बर्फ का गोला है, जो मन में बैठते ही उसे सुप्त कर देता है। अतएव मन में मोह उत्पन्न करने वाले कुसंग का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

अज्ञान और मोह के घर में शून्य गुण है। अर्थात अज्ञान तथा मोह में पड़कर जीव को खाली हाथ ही संसार से लौटना पड़ता है। वह जिसे अपना बहुत बड़ा धन एवं मित्र मानता है उसका वियोग हो जाता है। इसलिए उसे अन्त में धोखा खाना पड़ता है।

जीवन की सफलता तो अज्ञान एवं मोह से बचकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान में है। जो व्यक्ति अपने आपको पा गया वह धन्य हो गया।

तृष्णा का प्राबल्य

ह

हहा हाय हाय में सब जग जाई। हर्ष सोग सब माहिं समाई॥
हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ। हाहा मर्म न काहू पयऊ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—हाय हाय = तृष्णा, दुख। हँकरि हँकरि = हाय हाय करके। हाहा मर्म = तृष्णा और दुख का भेद।

भावार्थ—ह अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि तृष्णा और दुख में हाय-हाय करते हुए संसार के सारे लोग जा रहे हैं। सभी में संसार के हर्ष तथा शोक समाये हुए हैं। सब बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग हाय-हाय करके मर गये और मरे जा रहे हैं; किन्तु वे अपनी पीड़ा का भेद नहीं जान पाये, न जान पाते हैं॥३३॥

व्याख्या—"हहा हाय हाय में सब जग जाई।" परम सत्य वचन है। सारा संसार हाय धन, हाय जमीन, हाय मकान, हाय मिनिस्टरी, हाय राज, हाय पत्नी, हाय पति, हाय पुत्र, हाय मान-बड़ाई, हाय महंती, हाय सम्मान आदि करते-करते मर रहा है।

तृष्णा दुखों की जननी है। किसी इन्द्रिय से जब उसके विषय से संयोग होता है, तब उसमें आसक्ति बनती है। जिसमें आसक्ति हो जाती है उसका पुनः उपभोग किया जाता है। फिर उसकी तृष्णा बन जाती है। जिन विषयों में तृष्णा बन जाती है, उनका चाहे जितना उपभोग किया जाय, कभी संतोष नहीं होता। हर भोग में तृष्णा अपना स्थान बनाती है। घर की तृष्णा, जमीन की तृष्णा, रुपये की तृष्णा, काम-भोग की तृष्णा, पुत्रों की तृष्णा, शिष्यों की तृष्णा, मान-सम्मान की तृष्णा, खाने की तृष्णा, करने की तृष्णा, कहां तक गिनाया जाय, तृष्णा का राज्य विशाल है। इन तृष्णाओं में आदमी जीवनभर दौड़ते-दौड़ते, हाय-हाय करते-करते मरते हैं।

"हर्ष सोग सब माहिं समाई॥" मायिक पदार्थों की उपलब्धि में जो हर्ष मानेगा, वह शोक का शिकार तो होगा ही। हर्ष और शोक में डूबे हुए आदमी के जीवन में शांति कहां है? जिसकी वृत्ति पदार्थ-पार होती है, वही हर्ष और शोक से पार होता है। ज्ञानी पुरुष सब कुछ को क्षणभंगुर, नाशवान एवं स्वप्नवत समझकर हर्ष-शोक से पार होता है। साधारण इनसान को भी चाहिए कि वह अपने को यथासंभव हर्ष और शोक से बचाने का प्रयत्न करे। यह विवेक रखना चाहिए कि हर प्रयत्न रखने पर भी अन्त में जो कुछ उत्थान-पतन होना होता है वह होता ही है, फिर उसके लिए बहुत भावुक बनकर हर्ष-शोक क्यों किया जाय!

"हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ।" कितना मार्मिक वचन है। बड़े विद्वान, बड़े धनी, बड़े पूज्य-प्रसिद्ध, बड़े-बड़े नामी-ग्रामी हाय-हाय करके चले गये। उनको अपने जीवन में पूर्ण संतोष नहीं मिला। क्षोभ, शिकायत, कलह और आग्रह करना असंतोष के लक्षण हैं। जो पूर्ण तृप्त होता है उसके जीवन में शिकायत नाम की चीज नहीं होती।

"हाहा मर्म न काहू पयऊ।" लोग यह नहीं समझ पाते कि हम हाय-हाय क्यों कर रहे हैं! जिसको जीवन की मूल भौतिक आवश्यकता रोटी-कपड़े न मिलते हों, वह रोता-पीटता हो, तो बात समझ में आती है। परन्तु जो पेटभर खाकर, तनभर कपड़े पहनकर भी मानसिक पीड़ा में पीड़ित रहता है उसे क्या समझा जाय! वस्तुतः अज्ञान और तृष्णा जब तक नहीं जाती तब तक अरबपति, खरबपति ही नहीं, विश्वपति भी संतुष्ट नहीं हो सकता। सच है—

तन की भूख तनिक है, तृप्त पाव या सेर।

मन की भूख अथाह है, तृप्त न पाय सुमेर।। विवेक प्रकाश।।

अज्ञान और तृष्णा में पड़े हुए संसार के लोगों की यही दशा है।

जीवन को क्षणभंगुर समझकर पहले ही सावधान हो जाओ

क्ष

क्षक्षा क्षिनमें परलय सब मिटि जाई। छेवपरे तब को समुझाई।।
छेवपरे काहु अन्त न पाया। कहहिं कबीर अगमन गोहराया।। ३४ ।।

शब्दार्थ—छेव = वार, घाव, चोट। अगमन = आगे से, पहले ही। गोहराया = पुकारा, समझाया।

भावार्थ—क्ष अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि मौत आकर तुम्हारा क्षण में ही प्रलय कर देगी; और शरीर के जाते ही तुम्हारा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। जब मौत की चोट तुम्हारे ऊपर पड़ेगी और तुम संसार से विदा होने लगोगे, तब तुम्हें कौन सत्य समझा सकेगा! जो व्यक्ति जीवन में वासना-बंधनों का अंत नहीं कर पाया, वह मरने पर उसका अन्त कैसे कर सकता है! कबीर साहेब कहते हैं कि इसलिए मैं पहले ही तुम्हें सावधान होने के लिए पुकारकर कहते जा रहा हूं।।३४।।

व्याख्या—"क्षिन में परलय सब मिटि जाई।" संसार का परम सत्य विधान है। जो शारीरिक जीवन परम सत्य लगता है, वही मौत के आते ही परम असत्य हो जाता है। श्रद्धेय पिता, माता, गुरु, विद्वान, पूज्य, महाराजा, प्यारा पुत्र, प्यारा मित्र, प्रिय पत्नी, प्रिय पुत्री के शरीर में से जीव निकलते ही लोग कहने लगते हैं कि हंसा तो चला गया, अब मिट्टी पड़ी है। इसका तो जल्दी से क्रिया-कर्म कर देना चाहिए। हम व्यामोहवश संसार के प्राणी-पदार्थों को अपना मानकर उनकी ममता किये बैठे रहते हैं। उनके अहंकार में हम इतराते रहते हैं। परन्तु श्वास निकलते ही अपना क्या रह जाता है! और कभी भी श्वास निकल सकता है। ऐसे क्षणिक जीवन का अहंकार कैसा! ऐसे स्वप्न में मिले प्राणी-पदार्थों का ग़रूर क्यों! इन विरानी चीजों के लिए हिंसा-हत्या, लूट-खसोट क्यों!

"छेव परे तब को समुझाई।।" जब मौत का कुल्हाड़ा हम पर पड़ेगा, तब हमें कौन सत्य समझा सकेगा! संसार में बड़े-बड़े धोखे हैं। कितने लोग जीवनभर कभी सत्संग में नहीं बैठते। वे कोई धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुस्तक नहीं पढ़ते। उनको कभी ज्ञान की चर्चा अच्छी ही नहीं लगती। परन्तु मर जाने पर उनके परिवार वाले पुरोहित बुलाकर उनके कान में मन्त्र दिलाते हैं। जब तक सुनने वाला था, उसने ज्ञान की बातों को सुनने की इच्छा ही नहीं की। अब जब सुनने वाला रहा नहीं, तब कान में मन्त्र फूंकने से क्या फायदा!

जब तक इन्द्रियां सबल हैं, अंग सुदृढ़ हैं, रोग दूर हैं, बुढ़ापा नहीं आया है, तब तक ही अपने कल्याण-साधन का प्रयत्न कर लेना चाहिए। मौत तो किसी भी अवस्था में आ

सकती है। जब माता के गर्भ में से ही जीव का शरीर छूटने लगता है, तब किस अवस्था का विश्वास किया जाय कि इसमें मौत नहीं आयेगी। अतः हमें वर्तमान में ही सावधान हो जाना चाहिए।

वासना का अन्त कर देना जीवन को स्वर्गमय, सुखमय, आनन्दमय एवं मुक्त बनाना है। जीवन में ही उपासना, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि साधनों से वासना का त्याग किया जा सकता है। वासना से परे जीवन सारे आग्रहों से रहित हो जाता है। जिसने सभी वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में कहीं भी मानसिक पीड़ा एवं टीस नहीं रह जाती। वासना से सर्वथा छुटा हुआ जीवन 'आनन्द समुद्र के लहरि अगाध', 'बसे आनन्द अटारी', 'आनन्द सिंधु अहंतातीता' एवं 'सो जन सदा अनन्दा' होता है।

हर मानव के जीवन में यही प्रबल इच्छा रहती है कि हम सदैव आनंदित रहें, पूर्ण सुखी रहें। परन्तु जो सुख एवं आनन्द एकरस, निरन्तर तथा स्थायी हो, वह विषयों के संयोग में नहीं है। विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सारे सुख क्षणिक हैं। उनमें राग बनकर पीछे केवल दुख होता है। स्थायी सुख एवं आनन्द विषयों से रहित होने में है। जब हमारे मन से विषयों की वासनाएं सर्वथा निकल जाती हैं, तब हम अनन्त सुख का सागर पा जाते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं "छेव परे काहु अन्त न पाया।" मौत हो जाने के बाद वासनाओं के अन्त होने की बात ही नहीं उठती। शरीरांत के बाद तो जीव वासनाओं के वशीभूत होकर पुनः भटकता है। वासनाओं का अन्त तो जीवनकाल में ही संभव है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं "कहहिं कबीर अगमन गोहराया॥" मैं पहले ही सावधान करता हूं। यदि परमसुख के धाम में पहुंचना चाहते हो, तो वासनाओं का त्याग करो। इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है अनन्त सुख का।

फल छंद

मूल चौंतिस वर्ण यौगिक,
वैखरी सुविचार भौ।
सिंद्धान्त सबका लक्ष्य क्या,
यह भेद आप सम्हार भौ।।
उद्वेग किसको होत है,
को शान्त करि निरधार भौ।
जो जीव चिद् अपरोक्ष सत्ता,
सत्य सत स्वीकार भौ।।

चौपाई

वचन रचन सब अर्थ कलापक।
है अतीत पारख चिद् जापक।।
तदपि वचन गहि अर्थ सुसाधक।
छेनी गहि बेड़ी करु बाधक।।

विप्रमतीसी

हेतु छन्द

सब काल में सब विश्वहित,
सब हेतु सबका स्वत्व है।
नहिं संकुचित सन्मार्ग रविवत,
सत्य देश स्वमत्व है॥
भव द्वन्द्व फल न रंच,
मंगलमय हृदय सद्‌गत्व है॥
गुण-दोष मिश्रित भिन्न निर्णय,
हंसराज वदत्व है॥

दोहा

जहँ जैसो सन्मार्ग में, संकुल विघ्न रुकाव।
जस व्याधी तस औषधी, करुणानिधि समझाव॥

सद्गुरवे नमः

बीज़क

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

चतुर्थ प्रकरण : विप्रमतीसी

पुरोहित ब्राह्मणों को चेतावनी और मानवीय एकता पर प्रकाश

सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी। हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी॥ १ ॥
ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने। घरमा यज्ञ प्रतिग्रह आने॥ २ ॥
जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म-धर्म मति बैठि बखाने॥ ३ ॥
ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा॥ ४ ॥
प्रेत कनक मुख अन्तर बासा। आहुति सत्य होम की आसा॥ ५ ॥
कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं॥ ६ ॥
सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई॥ ७ ॥
कर्म अशौच उच्छिष्टा खाई। मति भ्रष्टा यम लोक सिधाई॥ ८ ॥
नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये॥ ९ ॥
स्वारथ लागि रहे बे काजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा॥१०॥
राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा॥११॥
कर्म पढ़ैं औ कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं॥१२॥
निष्कर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै॥१३॥
भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं॥१४॥
देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम के दासा॥१५॥
जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥१६॥
पाप-पुण्य के हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा॥१७॥

ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे ॥१८॥
बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहिं लगावै ॥१९॥
ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे ॥२०॥
बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊँच नीच कहु काहि जोहारा ॥२१॥
ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी ॥२२॥
एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा ॥२३॥
एक चाक सब चित्र बनाई। नाद-बिन्द के मध्य समाई ॥२४॥
व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती ॥२५॥
राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै ॥२६॥
हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई ॥२७॥
स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा ॥२८॥
हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा ॥२९॥
कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना ॥३०॥

साखी—बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर।
जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुइ और ॥ १ ॥

शब्दार्थ—विप्रमतीसी = विप्र+मति+तीसी (तीस चौपाइयों में आधुनिक ब्राह्मणों की मति का वर्णन)। हरि = अज्ञानहारी सद्‌गुरु या ज्ञान। प्रतिग्रह = ग्रहण, स्वीकार, दान लेना। शांति = ग्रहशांति। पाँति = मंत्र पंक्ति। प्रेत = मरा हुआ, मृतक शरीर, कल्पित योनि। कनक = सोना। अन्तर = मन में। बासा = वासना। अशौच = मृतकर्म। उच्छिष्ठा = जूठा, प्रेत-पितर को अर्पित किया हुआ। डाजा = जलाना। कृतम = बनावटी, मूर्ति, पिंड आदि। अभ्यन्तर = भीतर, हृदय। ऊड़ै = नष्ट। पासा = फंदा। बहनी = वह्नि, अग्नि अथवा वहन करना, ढोना, तारना, जहाज। ई गृह = यह जन्म, स्वार्थ। ऊ गृह = भविष्य जन्म, परमार्थ। साहु = श्रेष्ठ, सच्चे। भीतर भेद = हृदय में कपट। मनमुखहिं = मन्मुखी, जो गुरुमुख न हो। भनीजै = कहे जाते हैं। पीचासन = पंचासन, उत्तम आसन अथवा पीच + असन—जल-भोजन। जोहारा = प्रणाम, अभिवादन अथवा हार गये। मध्य की बानी = बीच की वार्ता, बड़ा तुच्छ विचार। बानी = लक्षण। एक चाक = कर्म या माता का गर्भाशय। नाद = प्राण। बिन्द = वीर्य। भौती = भौतिक शरीर। वाद = बकवाद। हंस = जीव। धौं = भला। स्याह = काला (तमोगुणी शूद्र)। सफेद = उज्ज्वल (सतोगुणी ब्राह्मण)। राता = रक्त वर्ण, लाल (रजोगुणी क्षत्रिय)। पियरा = पीला (रज-तम युक्त वैश्य)। अबरण = रंगरहित, वर्णरहित (इसाई, मुसलमानादि)। बरण = रंग, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र)। ताता = गरम। सियरा = शीतल, ठंडा। बूढ़ो = बुड्ढा। बारा = बालक। पै = दोष। धक्का = धका, किनारा, बन्दरगाह, नदी या समुद्र का तट।

भावार्थ—मैं तीस चौपाइयों में आधुनिक पुरोहित ब्राह्मणों की बुद्धि का वर्णन करने जा रहा हूं। आप सब मिलकर सुनिए! सच्चे सद्‌गुरु के ज्ञान बिना, भरी नावका डूब

जाने के समान, इनका ब्राह्मणत्व डूब गया।।१।। ब्राह्मण कहलाकर भी इन्हें ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान नहीं है। बस, ये यजमानों से हिंसात्मक-अहिंसात्मक यज्ञादि कराकर अपने घर में दान ले आना यही अपना व्यवसाय मान लिये हैं।।२।। जिसने सृजन किया उसको नहीं पहचानते। कर्मकांड में ही धर्म-बुद्धि बनाकर और गद्दियों पर बैठकर उसी का व्याख्यान करते हैं।।३।। ग्रहण, अमावस्या, यम-द्वितीया आदि के नाम से दूषित दान लेते हैं। शनि आदि टेढ़े ग्रह का भ्रम डालकर उनकी शांति के लिए मंत्रों का पाठ करते हैं। काली-भैरव आदि कल्पित तामसी देवी-देवताओं की पूजा करते-कराते हैं और इसी में अपने प्रयोजन की सिद्धि समझते हैं।।४।। किसी के मरते समय उसके मुख में सोना रखवाते हैं कि यह प्रेत न हो जाय; परन्तु अपने मन में वासना रहती है कि सोना हमें मिलेगा। घृत, जौ, मेवादि सामग्री अग्नि में हवनकर उससे यथार्थ फल मानते हैं और उसके पीछे दक्षिणा पाने की आशा रखते हैं।।५।। ये संसार में उत्तम कुल के कहलाते हैं, परन्तु यजमान से बारम्बार मध्यम कर्म करवाते हैं।।६।। पत्नी-बच्चे मिलकर आपस में जूठा खाते हैं, परन्तु हरिभक्तों एवं संतों को अछूत मानकर उनसे भेदभाव रखते हैं।।७।। कर्म अत्यन्त अशुद्ध हिंसाप्रयुक्त करते हैं तथा मृतकर्म आदि का दान लेते और श्राद्ध, नितकुम, पिंडदान, तिथि, तेरही आदि में कल्पित प्रेत-पितरों को अर्पित कर उनका जूठा भोजन करते और उन्हीं वस्तुओं को अपने घर में लाते हैं। इस प्रकार बुद्धिभ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं।।८।। नहा-धोकर उत्तम होकर चलते हैं, किन्तु विष्णुभक्तों एवं संतों को देखकर दुखी हो जाते हैं कि इनके प्रभाव से हमारे कर्मकांड में बाधा न पड़ जाय।।९।। स्थूल स्वार्थ-बुद्धि में लगकर बिना काम-के-काम—संतों की निंदादि करते हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि ब्राह्मणत्व क्या है तो आग के समान क्रोध में जलने लगते हैं।।१०।। इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के उच्च आदर्श, एवं क्रांतिकारी श्री कृष्ण के गीतादि प्रवचन के उपदिष्ट सद्गुणों को धारण करने की भी आशा का परित्याग कर दिया है। केवल वाणी का अध्ययन-मननकर कृत्रिम जड़मूर्ति, कर्मकांड, भूत-भैरव के दास बन गये हैं।।११।।

केवल कर्मकांडात्मक शास्त्रों को पढ़ते हैं और कर्मकांड करने-कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि कोई इनसे मुक्ति-गति का रास्ता पूछता है, तो ये उसे कर्मकांड, यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ ही बताते हैं।।१२।। कर्मकांड से विरक्त भक्ति एवं ज्ञानमार्गावलंबियों की निन्दा करते हैं। जो इनसे कर्मकांड करावे और इन्हें दक्षिणा दे, ये उसी से प्रेम करते हैं।।१३।। ये कहते हैं कि हमारे हृदय में भगवान की भक्ति है; परन्तु भक्ति-विरोधी हिरण्यकश्यपु का मार्ग चलाते हैं—कोई संतों के साथ बैठने लगे तो उसका ये विरोध करते हैं, संतों की निन्दा करते हैं।।१४।। इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो, हृदय में ज्ञान-प्रकाश न होने से ये कृत्रिम कर्मकांड के गुलाम बन गये।।१५।। इनको पूजने से मानव का पाप नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु इनके नाम का स्मरण करने से मानव भवसागर में डूब जाता है।।१६।। इन्होंने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों में ले रखा है। ये जिसे चाहें पाप कहें और जिसे चाहें पुण्य कहें। इन्होंने कल्पित पाप-पुण्य के फंदे में फंसाकर और जगत के लोगों को मारकर उन्हें विनष्ट कर दिया है।।१७।। ये कुल-गुरु, कुल-तारक एवं जगत-जहाज

कहलाते हैं, किंतु ये मनुष्यों के लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ दोनों बिगाड़ते हैं।।१८।। त्याग-वैराग्य-रहित घर-गृहस्थी के मोह में डूबे हैं, किन्तु सच्चे और जगत्पूज्य कहलाना चाहते हैं। मन में भेदभाव रखकर मनुष्य के बीच में दीवार खड़ी करते हैं, और मन्मुखी व्यवहार करते-कराते हैं।।१९।। इस प्रकार आचरण रखने वाले तथाकथित विप्र लोग अपने आप को भू-सुर कहलाना चाहते हैं और जनता से आशा रखते हैं कि जैसे बतायें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे हमें उच्च आसन, जल, भोजन आदि उनसे मिलें।।२०।।

ये मिथ्या ब्राह्मणत्व के अभिमान में डूब गये। इन्होंने अपने आपको सम्हाला नहीं। इनके सामने जब कोई संत मिल जाते हैं, तब ये उनका इसलिए नमस्कार नहीं करना चाहते कि वे पता नहीं किस वर्ण या जाति के हैं। अथवा ये एक मानव जाति के बीच में ऊंच-नीच की कल्पित धारणा पेशकर अपने आपको खो रहे हैं।।२१।। ऊंच-नीच तो मनुष्य अपने अच्छे-बुरे आचरणों के अनुसार बीच में बन जाता है। किन्तु सबकी शरीर-रचना में एक ही प्रकार का पवन और एक ही प्रकार का पानी लगा है अर्थात प्राण तथा वीर्य सब में एक-से लगे हैं।।२२।। एक ही मिट्टी है, एक ही कुम्हार है और एक ही समान तत्त्व सबकी रचना करने वाले हैं।।२३।। कुम्हार के एक ही चाक पर जैसे सारे बरतन बनते हैं, वैसे माता के एक जैसे गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। सबके शरीर प्राण और वीर्य के संयोग से बने उन्हीं के रूप हैं।।२४।। सबके शरीर के भीतर एक ही ज्ञान-प्रकाश फैला हुआ है। अर्थात सब में एक ही प्रकार चेतना विद्यमान है। फिर क्या भौतिक शरीर के नाम अलग-अलग रखने से अंतर्ज्योति चेतना के गुण अलग-अलग हो जायेंगे! ।।२५।। कहलाते हैं देव और कर्म करते हैं राक्षस के—मानवता का शोषण। बकवाद करते हैं। इन्हें गोपाल अच्छे नहीं लगते। अर्थात उनके सत्योपदेश पर नहीं चलते।।२६।।

जब जीव शरीर को छोड़कर अलग होता है, तब भला उसकी कोई क्या जाति कहेगा! ।।२७।। उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा! ।।२८।। उस चेतन हंस को कोई हिन्दू कहेगा कि मुसलमान, बूढ़ा कहेगा कि बालक, नारी कहेगा कि पुरुष! जरा इस पर विचार करो।।२९।। सद्गुरु कहते हैं कि किसको कहा जाय! लोग निर्णय की बातें नहीं सुनते! यही इनमें बुराई है जो अपने दोषों पर विचारकर उनका त्याग नहीं करते।।३०।।

ये मिथ्या भ्रम की धारा में पहले से बह रहे हैं। आज भी चारों ओर हाथ मारते हुए बहे जा रहे हैं। हे संतो! यदि ये हित की बातें नहीं मानते हैं, तो भी इन्हें दो बातें समझाने की चेष्टा करो।।१।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस प्रकरण में ब्राह्मण कहे जाने वाले बन्धुओं का या कहना चाहिए पुरोहित-ब्राह्मणों का जो खाका खींचा है, वह बड़ा ही मार्मिक है। बीजक के प्रसिद्ध इंगलिश अनुवादक श्री अहमदशाह ने सच ही कहा है कि कबीर साहेब मुसलमानों के विषय में कुछ खोज-बीनकर कहते हैं। परन्तु उनका मन हिन्दू-विचारों, हिन्दू-पौराणिकता आदि में ओतप्रोत था।[१] इस प्रकरण में जिस बारीकी से पुरोहित-ब्राह्मणों

---

१. The study of the Bijak certainly leaves a fixed impression that the basis of his mental equipment was Hindu. His apparent acquaintance

के विषय में सद्गुरु ने अपने विचार रखे हैं, उनको देखते हुए कहना पड़ता है कि कबीर साहेब हिन्दुत्व की कितनी गहराई में डूबे थे तथा उसके विषय में कितना गहरा ज्ञान रखते थे।

इस पूरे प्रकरण को पढ़ जाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कबीर साहेब पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति कितने आकृष्ट थे। वे उनमें गलतियां नहीं रहने देना चाहते थे, और उनके कल्याण के लिए चिंतित थे। वे समझते थे कि ब्राह्मण हिन्दू-समाज के पथ-प्रदर्शक हैं और जब ये ही विचलित हैं, तो हिन्दू-समाज को कैसे रास्ते पर ला सकते हैं। वे उन्हें मीठे-कड़वे फटकार सुनाते हैं और प्रयत्नपूर्वक सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं।

इस प्रकरण का नाम विप्रमतीसी—विप्र-मति-तीसी अर्थात तीस चौपाइयों में पुरोहित-ब्राह्मणों की मति का वर्णन है। वे कहते हैं कि इस प्रकरण को सब लोग मिलकर सुनो और सुधार करने की चेष्टा करो।

"हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी ।।" हरि के बिना इनकी स्थिति वैसे ही दयनीय है जैसे किसी की भरी नावका डूब गयी हो। हरि किसे कहते हैं, इस पर विचार करना चाहिए। श्वेत द्वीप (ईरान) के पारसियों ने अहरुमज्द ईश्वर का नाम माना है। उनके प्रभाव से संस्कृत वालों ने उसे हरिमेधस कहा। पीछे मेधस उड़ गया और हरि शब्द रह गया। यह हरि विष्णु-वाचक एवं ईश्वर-वाचक हो गया। यह घटना गुप्तकाल में घटी।[1] महाभाष्य और वैदिक साहित्य में हरि शब्द नारायणवाचक एवं विष्णुवाचक कहीं नहीं है।[2]

"जो 'हरि' शब्द वैदिक साहित्य में इन्द्र या घोड़े के लिए है तथा वाल्मीकीय रामायण में 'वानर' के लिए, वह पारसियों के 'अहरुमज्द' शब्द के प्रभाव से गुप्तकाल में विष्णु तथा ईश्वरपरक हो गया। गुप्तकाल के बाद हरि-भजन की धूम बढ़ने लगी। कबीर साहेब के काल के पूर्व से ही 'हरि' शब्द अधिकृत रूप से ईश्वरवाचक हो गया था। कबीर साहेब ने इस शब्द को स्वीकार किया; परन्तु उन्होंने उसका अपना अर्थ दिया। परंपरा-प्राप्त

---

with mohammedn belief, customs and phraseology might easily be purely external and acquired. But with his Hinduism the case is entirely different. His mind is steeped in Hindu-thought and mythology, and his mother tongue is Hindi.

(Ahmad Shah : The Bijak of Kabir, p.4)

अर्थात—"बीजक का अध्ययन निश्चित रूप से एक गहरा प्रभाव उत्पन्न करता है कि उनके मानसिक-रुझान का आधार हिन्दू था। मुसलमानी विश्वास, आचार तथा वर्णन शैली से उनका प्रत्यक्ष परिचय पूर्ण रूप से बाहरी और अर्जित था। परन्तु उनकी स्थिति हिन्दुत्व के साथ पूर्णतः भिन्न है। उनका मस्तिष्क हिन्दू विचारों तथा मान्यताओं से ओत-प्रोत है तथा उनकी मातृभाषा हिन्दी है।

१. गुप्तकाल ३२० ई० से ५१० ई० तक।

२. इस विषय को पीछे ३४ वें शब्द "हरिजन हंस दशा लिये डोले" की व्याख्या में विस्तार पूर्वक देखें। आगे १३७ वीं साखी की व्याख्या में भी इस पर संक्षिप्त विचार किया गया है।

शब्दों को अपना अर्थ देकर उन्हें स्वीकार करने से अपने विचारों को फैलाने में सुगमता होती है। यह प्रयास सभी समझदार विचारकों का रहा है। जैसे गीताकार को ही लिया जा सकता है। उन्होंने अपने पूर्व से चले आये 'सांख्य' और 'योग' शब्दों को गीता में स्वीकारा, किन्तु उनको अपना अर्थ दिया। 'यज्ञ' शब्द भी उन्होंने स्वीकारा; परन्तु बिलकुल नये अर्थों में। इसी प्रकार कबीर साहेब ने अपने युग के प्रचलित 'हरि' और 'राम' शब्दों को अपने अर्थों में स्वीकारा।

थोड़ा 'राम' शब्द पर विचार कर लें। वेद, वैदिक साहित्य, सूत्रग्रंथ[1] एवं छह शास्त्रों में कहीं ईश्वर या परमात्मा के अर्थ में 'राम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में जब एक संक्षिप्त महाकाव्य "पौलस्त्य-वध"[2] (पुलस्त्य के पौत्र-रावण का वध) बना, जिसका नाम पीछे वाल्मीकीय रामायण हुआ, उसमें श्री राम की कथा नर-कथा के रूप में चित्रित हुई। उसके बाद ईसा के डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व तक उसमें श्रीराम आदि चारों भाइयों को विष्णु का अंशावतार होने का प्रक्षेप हुआ। ईसा के बारह सौ वर्ष बाद अन्य रामायणों में श्री राम को ईश्वर सिद्ध करने का प्रयास चला। पहली बार अध्यात्म रामायण में श्री राम को परब्रह्म एवं जगत-नियंता माना गया।

इस प्रकार कबीर साहेब के काल तक 'राम' नाम परमात्मा-वाचक हो गया था। एक शरीरधारी को, जो जीवन में सुख-दुख भोगकर उसका अन्त करता है, जगत-रचयिता एवं जगत-पालक मानने की बात कबीर-जैसे स्वतंत्रचेता के मन में उतर ही कैसे सकती थी! किन्तु राम नाम अधिकृत रूप में फैल गया था। इसलिए उन्होंने राम नाम को भी स्वीकारा, परन्तु उसको अपना विवेकपूर्ण अर्थ देकर।

'हरि' और 'राम' दोनों शब्द कबीर साहेब ने बीजक में खूब लिया है। परन्तु इनको कई जगह खंडन में लिया और कई जगह मंडन में। यदि कोई अपनी कल्पित अवधारणा को हरि और राम कहता है, तो सद्गुरु उसका खंडन करते हैं, और यदि उन्हें सत्यज्ञान एवं अपनी आत्मा के लिए प्रयुक्त करता है, तो वे उसका समर्थन करते हैं।

सद्गुरु कबीर के ख्याल से हरि वह है जो हमारे विकारों का हरण करे, हमें सत्पथ में ले जाये। वह है सद्गुरु तथा सत्यज्ञान। अंततः अपना ज्ञानस्वरूप चेतन एवं आत्मा ही हरि है। इसी प्रकार हृदय में रमने वाले चेतन को उन्होंने राम कहा है।

सद्गुरु इस प्रकरण की प्रथम चौपाई में कहते हैं "हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी।" अर्थात यथार्थ सद्गुरु, सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान बिना तुम्हारी नावका डूब गयी। अतएव जीवन के उद्धार के लिए हरि-भजन की आवश्यकता है, और वह है सच्चे सद्गुरु की शरण, उनकी सेवा। तभी सत्यज्ञान मिलेगा और अपने आप का बोध होगा।

"ब्राह्मण होय के ब्रह्म न जाने" यह ब्रह्म और ब्राह्मण क्या है। 'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जो बढ़ता जाय या बड़ा हो, उसको ब्रह्म कहते हैं। अग्नि जलने से बढ़ती जाती है, इसलिए

---

१. गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र।

२. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग ४, श्लोक ७।

पुराकाल में उसको ब्रह्म कहा गया। जो उस ब्रह्म (अग्नि) की उपासना करता, उसमें आहुति डालता, उसको ब्राह्मण कहा गया। लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ० रांगेयराघव ने लिखा है "ब्रह्म, आदिरूप में अग्नि के चारों ओर इकट्ठे गोत्र का नाम था। जो सब कह दें, वही ब्रह्म का कथन था। ब्रह्म, आगे चलकर सबका तो रहा, परन्तु पौरोहित्य हाथ में रखने वाले नेता बने और वे नेता ब्राह्मण कहलाने लगे। यह ब्रह्म जब विकसित हुआ, तब आर्यों में अनेक जातियां मिलीं। उनमें अपने-अपने विकास के अलग-अलग देवता थे। किसी का पुलस्त्य, किसी का कुछ। वे सब ब्रह्म के पर्याय बने।........इस ब्रह्म को पुरुष सूक्त में समाज का रूप समझा गया। वैदिक काल के बाद यह ब्रह्म प्रधान देवता बना क्योंकि स्रष्टा था। यह पुराने इन्द्र आदि, नाग आदि देवताओं से अपर माना गया। अपर मानना जातियों के विकास का लक्षण था, क्योंकि अपने-अपने देवता के लिए झगड़ा बंद हुआ, एक और बड़े देवता की खोज हुई और वह उपनिषद् का ब्रह्म बना। इसी ब्रह्म ने दर्शन के 'ब्रह्म' के रूप में विकास किया; और कालांतर में सहिष्णुता से ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रय में समस्त भारतीय जातियों के देवता अंतर्भुक्त हो गये और एक व्यापक परिवार बन गया।"[१]

इस प्रकार ब्रह्म शब्द अग्नि से चलकर अनेक रूपों में यात्रा करते हुए उपनिषद् का ब्रह्म बना। इस ब्रह्म का एक अर्थ जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। अर्थात वह जगतरूप है। यह भ्रामक है। दूसरा अर्थ ब्रह्म सब का अपना आत्मरूप है। अर्थात यह चेतन एवं आत्मा ही ब्रह्म है। जो इसको जानता है और जानकर इसमें स्थित है, वह ब्राह्मण है। उपनिषदों में यह बात कही गयी है कि जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द पकते-पकते उपनिषद्काल तक जिस तरह परिपक्व हुआ, वह आदरणीय है।

ब्राह्मण बड़ा प्यारा शब्द है। यह परम आदरणीय है। जो यह समझता है कि देह असत्य है और देह के भीतर रहने वाला चेतन परम सत्य है; वह देहाभिमान तथा विषय-वासनाओं का त्यागकर अपने चेतनस्वरूप में ही रमता है। अपने चेतनस्वरूप में रमना ही ब्रह्म में रमना है, और यही ब्राह्मणत्व का लक्षण है। जो ऐसी स्थिति में हो, वही ब्राह्मण है। जो अपने से अभिन्न या भिन्न किसी प्रकार मानकर चेतन की उपासना करता है और जड़ासक्ति को छोड़ता है, वही ब्राह्मण है। इस तथ्यात्मक दृष्टि से बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, लाओत्जे, कनफ्यूसियस, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, दादू, पलटू, तुलसी, रैदास आदि महापुरुष ब्राह्मण हैं। नीचे के उदाहरण इन विचारों को पुष्ट करेंगे, मनन कीजिए—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता १८/४२)

भावार्थ—'शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकभाव— ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।'

---

१. महायात्रा गाथा २/२/२८१-२८२।

जितेन्द्रियः धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महाभारत वनपर्व २०६/३४)

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय में तत्पर और पवित्र है तथा काम-क्रोध जिसने जीत लिया है; उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

वज्रसूची-उपनिषद् में पाण्डु के प्रसिद्ध पुत्र युधिष्ठिर ने वैशम्पायन से करबद्ध नमस्कार कर पूछा—ब्राह्मण किसे कहते हैं? ब्राह्मणों के लक्षण क्या हैं? वैशम्पायन बोले—

क्षान्त्यादिभिर्गुणैर्युक्तस्त्यक्तदण्डो निरामिषः।
न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम्॥३४॥

भावार्थ—क्षमा-शांति आदि गुणों से युक्त होना, शस्त्र का त्याग कर देना, मांस-भक्षण न करना, किसी जीव की हत्या न करना—ब्राह्मण का पहला लक्षण है॥३४॥

यदा सर्वं परद्रव्यं पथि वा यदि वा गृहे।
अदत्तं नैव गृह्णाति द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम्॥३५॥

भावार्थ—घर में या सड़क पर—कहीं भी पड़ी हुई दूसरे की वस्तु बिना दिये नहीं लेना—यह ब्राह्मण का दूसरा लक्षण है॥३५॥

त्यक्त्वा क्रूरस्वभावं तु निर्ममो निष्परिग्रहः।
मुक्तश्चरति यो नित्यं तृतीयं ब्रह्मलक्षणम्॥३६॥

भावार्थ—क्रूर स्वभाव को छोड़कर दयावान होना, ममता-स्वार्थ त्यागना, अधिक संग्रह न करना, संसारियों के सम्बन्ध को छोड़कर तथा स्वतंत्र होकर सदैव सर्वत्र विचरना—यह ब्राह्मण का तीसरा लक्षण है॥३६॥

देवमानुष नारीणां तिर्यगयोनिगतेष्वपि।
मैथुनं हि सदा त्यक्तं चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम्॥३७॥

भावार्थ—देवता हो, मनुष्य हो तथा पशु ही क्यों न हो, जिसने मैथुन-कर्म सदैव के लिए त्याग दिया है—वह ब्राह्मण के चतुर्थ लक्षण से युक्त है॥३७॥

सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूत दया शौचं तपः शौचञ्च पञ्चमम्॥३८॥

भावार्थ—सत्य ही पवित्रता है, करुणा ही पवित्रता है, इन्द्रियों का निग्रह ही पवित्रता है, सब प्राणियों पर दया करना ही पवित्रता है, धर्म की रक्षा के लिए कष्ट सहना रूप तप ही पवित्रता है (इन सबों से युक्त रहना)—ब्राह्मण का पांचवां लक्षण है॥३८॥

पञ्चलक्षणसम्पन्नः ईदृशो यो भवेद् द्विजः।
तमहं ब्राह्मणं ब्रूयां शेषाः शूद्रा युधिष्ठिरः॥३९॥

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! उपर्युक्त पांचों लक्षणों से जो सम्पन्न है, वही द्विज है; मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं, बाकी दूसरे सब शूद्र हैं।।३९।।

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणौ भवेत्।
चाण्डालोऽपि हि वृतस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर।।४०।।

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! कुल से, जाति से और बहुत-सी क्रिया-कलापों से कोई ब्राह्मण नहीं होता। यदि कोई भंगी भी उत्तमगुणों से युक्त है तो वह ब्राह्मण है।।४०।।

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्।।४१।।

भावार्थ—हे युधिष्ठिर! प्राचीनकाल में, संसार में एक ही वर्ण (मानव समाज) था। पीछे कर्मों के अनुसार चारों वर्णों का विभाग हुआ।।४१।।

सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषिणः।
एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजाः।।४२।।

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति अधोद्वार से है, सभी का शरीर मरणशील है, सबके शरीर मल-मूत्रों से भरे हैं, सबमें एक ही प्रकार से इन्द्रियां और विषय हैं; अतएव शीलगुण (उत्तम आचरण) वाला ही ब्राह्मण है।।४२।।

शूद्रोपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्।।४३।।

भावार्थ—शील तथा सद्गुणसम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मण है और आचरणहीन ब्राह्मण शूद्र से भी गया-बीता है।।४३।।

न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः।
जीवितं यस्य धर्मार्थे परार्थे यस्य जीवितम्।।
अहोरात्रं चरेत्क्षान्तिं तं देवा ब्राह्मण विदुः।।४५।।

भावार्थ—हे राजन्! जाति नहीं देखी जाती, सद्गुण ही कल्याणकारी होते हैं, जो धर्म के लिए, परोपकार के लिए जीता है और जो रात-दिन क्षमाशील है उसको देवता (उत्तम) लोग ब्राह्मण कहते हैं।।४५।।

परित्यज्य गृहावासं ये स्थिता मोक्षकाङ्क्षिणः।
कामेष्वसक्ताः कौन्तेय ब्राह्मणास्ते युधिष्ठिर।।४६।।

भावार्थ—हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! जिसने घर-गृहस्थी में रहना त्याग दिया है, जो विषय-कामनाओं का त्यागी तथा मोक्षसाधन-परायण है, वह ब्राह्मण है।।४६।।

अहिंसा निर्ममत्वं चामतकृत्यस्य वर्जनम्।
रागद्वेष निवृत्तिश्च एतद् ब्राह्मणलक्षणम्।।४७।।

भावार्थ—किसी जीव को कष्ट न देना, ममतारहित रहना, धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आचरण न करना, राग-द्वेष का त्याग करना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं ।।४७।।

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम् ।

कायेन मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।५२।।

भावार्थ—जो शरीर, मन और वचन से किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता, वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है ।।५२।।

अस्माभिरुक्तं यदिदं द्विजानां मोहं निहन्तुं हतबुद्धिकानाम् ।

गृह्णन्तु सन्तो यदि युक्तमेतन्मुञ्चन्त्वथायुक्तमिदं यदि स्यात् ।।५३।।

भावार्थ—जिनकी बुद्धि मारी गयी है ऐसे ब्राह्मणों के अज्ञान अर्थात विपरीत धारणा को मिटाने के लिए यहां जो कुछ कहा गया है, यदि वह उचित हो तो गुणग्राही सज्जन ग्रहण करें, यदि अनुचित प्रतीत हो तो त्याग दें ।।५३।।

श्री वेदव्यास जी महाभारत, शांतिपर्व के १८९ वें अध्याय में कहते हैं—

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।

नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ।।३।।

भावार्थ—जो शौच एवं सदाचार का पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता है, गुरु के प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रत का पालन करता तथा सत्य में तत्पर रहता है, वह ब्राह्मण है ।।३।।

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।

तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।४।।

भावार्थ—जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है ।।४।।

महाभारत के नहुषोपाख्यान में युधिष्ठिर का कथन है—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।।

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।

तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ।।

(महाभारत, वनपर्व १८०/३१-३३)

भावार्थ—हे महामति सर्प (नहुष) यहां जाति का अर्थ मनुष्यत्व है। अर्थात पूरा मनुष्य-समूह एक जाति है। ब्राह्मण आदि रूढ़ वर्णों का आपस में इतना मिश्रण हो गया है कि उनकी अलग से परीक्षा करना कठिन है। क्योंकि सभी रूढ़ वर्णों एवं जातियों के पुरुषों ने सदा से सभी वर्णों एवं जातियों की स्त्रियों से बच्चे पैदा किये हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी पुरुषों ने शील एवं सदाचार को ही प्रधान माना है, रूढ़ वर्ण एवं जाति को नहीं।

महात्मा बुद्ध कहते हैं—

सब्बसञ्ञोजनं छेत्त्वा यो वे न परितस्सति।

सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जो सारे बंधनों को काटता है, भय नहीं करता, जो संग तथा आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गरिव सासपो।

यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—कमल के पत्ते पर जल तथा अरे के नोक पर सरसों जैसे नहीं ठहरता, वैसे जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स पुरे च पच्छा च मज्झ च नत्थि किञ्चनं।

अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

भावार्थ—जिसके पहले, पीछे और बीच में कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित, आदानरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

(धम्मपद, ३९७, ४०१, ४२१)

"घर मा यज्ञ प्रतिग्रह आने।" इस प्रकार ब्रह्म को न जानना तथा उसमें न रमना और केवल दूसरे के यहां यज्ञादि कर्मकांड करवाकर दान घर में ले आना—इतना ही ब्राह्मणत्व समझना बहुत स्थूल-बुद्धि का लक्षण है।

"जेहि सिरजा तेहि नहिं पहिचाने। कर्म-धर्म मति बैठि बखाने॥" जिन जड़ और चेतन से सबकी रचना होती है, उनकी परख नहीं करते। जहां तक जड़सृष्टि और चेतनसृष्टि का विस्तार है उनका कोई कारण अवश्य है। भावनावादी लोग कहते हैं कि इन सबको किसी पृथक बैठे ईश्वर ने बनाया है और विवेकवादी कहते हैं कि विचारना यह है कि सृष्टि है क्या! मूल जड़ तत्त्व नित्य हैं। उन्हें कोई बनाता नहीं है। उनसे पृथक असंख्य चेतन हैं। वे भी स्वतन्त्र-सत्ता वाले हैं। क्योंकि चेतन जड़ से सर्वथा विलक्षण हैं और सर्वथा विलक्षण द्रव्य स्वतः, नित्य, अनादि एवं अनंत होता है। इस प्रकार जड़ और चेतन किसी की रचना नहीं हैं, किन्तु इनकी स्वतः एवं नित्य सत्ता है! इनके गुण-धर्मों से सृष्टि होती है, यह प्रत्यक्ष है। सृष्टि दो प्रकार की है, एक जड़ात्मक सृष्टि, दूसरी जड़-चेतनात्मक सृष्टि। पेड़, पहाड़, नदी, झरना, बादल, वर्षा, छह ऋतुओं का परिवर्तन आदि केवल जड़ात्मक सृष्टि है, और छोटे-बड़े प्राणियों की देहें, नाना विद्याएं, कलाएं, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, वेद-शास्त्र, साहित्य आदि जड़-चेतनात्मक सृष्टि है। जड़ात्मक सृष्टि तो केवल जड़ तत्त्वों के संयोग का फल है तथा जड़-चेतनात्मक सृष्टि जड़-चेतन के संयोग से है। भावनावादी एक कल्पित ईश्वर-द्वारा सृष्टि होने की अवधारणा करता है जो केवल कल्पना ही है और सत्य ज्ञान के अभाव का फल है; परन्तु विवेकवादी अपने विवेक से सृष्टि के मूल कारणों पर विचारकर तथ्य की गहराई में पहुंचते हैं। इस प्रकार जड़-चेतन के भेद को समझकर तत्त्वबोध की गहराई में पहुंचना पांडित्य के लक्षण हैं, न कि केवल कर्मकांड को ही बड़ा भारी धर्म मानकर उसी का बैठकर व्याख्यान करते रहना।

"ग्रहण अमावस और दुईजा। शान्ति पाँति प्रयोजन पूजा।।" अर्थात ग्रहण अमावस्या और द्वितीया एवं यमद्वितीया तथा शांति के नाम पर अनेक प्रकार की पूज करवाना यह सब केवल दान-दक्षिणा पाने के लिए ही है।

सामान्य जनता और पंडित लोग भी यह विश्वास करते हैं कि चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का कारण है राहु का उन्हें ग्रसना एवं निगल जाना।

भारत में वराहमिहिर[१] प्रसिद्ध खगोलवेत्ता हो गये हैं। इनका काल ५०७ से ५८७ ई० के मध्य माना जाता है। आपने लिखा है—"चन्द्रग्रहण में चन्द्र पृथ्वी की छाया में आ जाता है तथा सूर्यग्रहण में चन्द्र सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्र आ जाता है। ग्रहणों के इन कारणों को पहले के आचार्य अपनी दिव्यदृष्टि से जानते थे। राहु ग्रहणों का कारण नहीं है, यही सत्य स्थिति है जिसे शास्त्र घोषित करता है।"[२]

आज ईसा की बीसवीं सदी के लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भारतीय गणित ज्योतिषी वराहमिहिर ने ग्रहण के विषय में इतनी वैज्ञानिक घोषणा कर दी थी। इतना होने पर भी आज तक पत्राधारी पंडित जनता में भ्रम फैलाते रहते हैं कि सूर्य तथा चन्द्रमा को राहु ग्रसता है इसलिए उसके उपलक्ष्य में दान करो।

वराहमिहिर ने सूर्य तथा चन्द्रमा के ग्रहण का कारण तो ठीक बताया, परन्तु पुरोहित-पंडितों के दान के सम्बन्ध में एक काल्पनिक व्यवस्था सुरक्षित रखी। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी लिखते हैं—"वराहमिहिर ने श्रुति, स्मृति, सामान्य विश्वास एवं ज्योतिष के सिद्धांत का समाधान करने का प्रयत्न किया है, और कहा है कि एक असुर था जिसे ब्रह्मा ने वरदान दिया कि ग्रहण पर दिये गये दानों एवं आहुतियों से तुमको सन्तुष्टि प्राप्त होगी। वही असुर अपना अंश ग्रहण करने को उपस्थित रहता है और उसे लाक्षणिक रूप से राहु कहा जाता है।"[३] वामन काणे जी वराहमिहिर के इस ऊलजलूल समाधान पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"बुद्धिवाद, सामान्य परम्पराएं एवं अन्धविश्वास एक साथ नहीं चल सकते।"[४]

सूर्य और चन्द्रग्रहण कैसे होते हैं, इन्हें आज-कल एक किशोर भी जानता है, जो साधारण स्कूल में पढ़ता है, कि चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी जब एक सिधाई में आ जाते हैं तब

---

१. कहा जाता है वराहमिहिर उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के दरबारी थे। कुछ लोगों का कहना है कि राजा नौशेरवां (५३१-५७९ ई) के दरबार में वराहमिहिर उच्च पद आसीन थे। वराहमिहिर भारत के प्रसिद्ध गणित ज्योतिषी हुए हैं।

२. भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः।
इत्युपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः।।
राहुरकारणमस्मिन्नियुक्तः शास्त्रसद्भावः।। *(वृहत्संहिता ५/८ एवं १३)*
(धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृ० ९१)

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृष्ठ ९३।

४. वही।

आड़ हो जाने से पीछे वाला नहीं दिखता। इसमें राहु आदि का कुछ चक्कर नहीं है। न इसमें कोई पाप है और न पुण्य। फिर भी आज के इस वैज्ञानिक युग में अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग ग्रहण के समय भोजन नहीं करते, ग्रहण के बाद स्नान करते हैं, दान करते हैं। स्नान-दान अच्छी बात है; परन्तु अन्धविश्वासपूर्वक नहीं होने चाहिए। स्नान मनुष्य को नित्य करना चाहिए। पवित्रात्माओं को सेवा की दृष्टि से, अभावग्रस्तों को करुणा की दृष्टि से एवं सार्वजनिक संस्थानों को लोकोपकार की दृष्टि से समय-समय से दान करना अच्छा है। परन्तु अन्धविश्वास और पाखंड से बचना चाहिए।

जो जनता इस युग में भी अन्धविश्वास में डूबी है, उसका कारण है पुराकाल से धर्मग्रंथों में अन्धविश्वास की बातें लिखी गयीं और उन्हें सामान्य पंडित-पुरोहित फैलाते रहे। लिखा गया—"यदि कोई व्यक्ति ग्रहणकाल एवं संक्रांतिकाल में स्नान नहीं करता तो वह भावी सात जन्मों में कोढ़ी हो जायगा और दुख का भागी होगा।"[१] व्यास के मुख से कहलवाया गया है कि साधारण दिनों की अपेक्षा चन्द्रग्रहण का दिन एक लाख गुना फलदायक है, और सूर्यग्रहण पहले से दस गुना (अर्थात सामान्य दिन से दस लाख गुना)। यदि गंगा-जल स्नान के लिए पास में हो तो चन्द्रग्रहण एक करोड़ गुना अधिक फलदायक है। और सूर्यग्रहण दस करोड़ गुना फलदायक है।[२] चन्द्र तथा सूर्य-ग्रहण के बाद दान करने की लम्बी-चौड़ी बातें की गयी हैं। इसी प्रकार अमावस्या, द्वितीया, यमद्वितीया आदि अनेक तिथियों, व्रतों, त्योहारों आदि के आधार पर दान कराने की बात की जाती है।

हर प्राणी अनिष्ट एवं खतरे से घबराता है। मनुष्य ज्यादा समझदार होने से वह ज्यादा घबराता है। क्योंकि वह दूर तक सोचता है और भावी अनिष्ट की नयी-नयी कल्पनाएं कर उसके निवारण के लिए सदैव प्रयत्नवान रहता है। भारतीय परम्परा के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में भी दुस्वप्नों, अपशकुनों एवं अनेक उपद्रवों से बचने के लिए सविता (सूर्य), वरुण, इन्द्र आदि से प्रार्थना की गयी है।[३]

भूचालों, ग्रहणों, धूमकेतुओं, उल्कापातों, अंधड़-तूफानों, दुस्वप्नों आदि से भयभीत होकर मनुष्यों ने उनकी शांति के लिए पूजा-पाठ का विधान रचा। इतना ही नहीं, अंग फड़कने, शरीर पर छिपकिली के गिरने आदि से भी आदमी आशा-निराशा के झूले में झूलता है। मनुष्यों के मन की कमजोरियों से फायदा उठाकर पुरोहितों ने शांति के बड़े-बड़े प्रपंच रच डाले हैं। धर्मग्रंथों, महाकाव्यों तथा पुराणों में ये अन्धविश्वास फैला दिये गये हैं। महाभारत तथा रामायण में पदे-पदे शकुन-अपशकुन का भ्रम मढ़ा है।

---

१. वही, पृष्ठ ९२/स० म० पृष्ठ १३०।

२. व्यासः इन्दोर्लक्षगुणं प्रोक्तं रवेर्दशगुणं स्मृतम्।
गंगातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश॥
(हेमाद्रिकाल पृष्ठ ३८४/ धर्मशास्त्र का इतिहास ४/९२)

३. ऋग्वेद ८/४७/१५; ८/४७/१४, १६-१८; १०/३६/४; १०/३७/४; २/४३/१-३; १०/१६५/१-५ आदि।

टेढ़ा हो गया है आदि चक्कर डालकर समाज के लोगों को खूब बेवकूफ बनाया गया है।

हां, प्राचीन लेखकों में महर्षि अंगिरा-जैसा कोई विरला लेखक है जो इन पाखंडों का विरोध करता है। अंगिरा कहते हैं—"ग्रहों की गतियां, स्वप्न, निमित्त (आंख फड़कना आदि) तथा उत्पात काकतालीय न्याय फल देते हुए-से प्रतीत होते हैं। इसलिए विवेकवान इनसे भयभीत नहीं होते।"[1] काकतालीय का अर्थ होता है कि एक ताड़ का पेड़ गिरने वाला था, इतने में उस पर एक कौआ बैठ गया और पेड़ गिर गया, तो किसी अनाड़ी ने कहा कि कौआ के वजन से ताड़ का पेड़ गिर गया। वैसे ग्रह की गतियों, स्वप्नों तथा अंग फड़कने आदि से लाभ या हानि का संयोग हो जाना, या पूजा आदि करने से लाभ का संयोग हो जाना है। उस समय वह होना ही था और इनका संयोग हो गया। वामन काणे जी लिखते हैं—"इस अध्याय में वर्णित बहुत-सी शांतियां अब प्रचलित नहीं हैं। आजकल ऐसी हवा बह रही है कि जो शांतियां की भी जाती हैं, ऐसा लगता है, वे भी भविष्य में विलुप्त हो जायेंगी।"[2]

"प्रेत कनक मुख अन्तर बासा।" जब मनुष्य मरने लगता है तब पुरोहित लोग घरवालों से कहते हैं कि मरने वाले के मुख में सोना रख दो, अन्यथा वह भूत-योनि में चला जायेगा। भूत-प्रेत की तो कोई योनि ही नहीं होती है। वस्तुतः पुरोहितों के मन में यह वासना रहती है कि यह सोना अंत में हमें मिलेगा।

"आहुति सत्य होम की आशा॥" आग में घी, मेवे, अन्न, औषधि आदि डालकर उससे कल्पित स्वर्गस्थ देवताओं को खुश करने का भ्रम तथा उनके द्वारा वृष्टि, स्वर्ग, अन्न, धन, पुत्र, राज्य, विजय आदि की प्राप्ति का भ्रम आज भी लोगों में व्याप्त है। यह एक पुराना अन्धविश्वास है। न आकाश में देवता हैं और न हवन से उनके खुश होने की कोई बात है।

जब राजा लोग किसी युद्ध में हजारों-लाखों की हत्या कर देते थे, तब युद्ध के पश्चात पंडित उन्हें बताते थे कि इस हत्या एवं खून-खराबा के पाप से बचने के लिए अश्वमेध यज्ञ करो और अश्वमेध यज्ञ का अर्थ होता था पुनः सैकड़ों निरीह मूक पशुओं की हत्या। नर-मेध के पाप से छूटने के लिए अश्वमेध। इन सारे भूलभुलैया के मूल में अज्ञान, प्रलोभन आदि थे।

लोग आज-कल यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उसे वैज्ञानिकता का जामा पहनाते हैं। वे कहते हैं हवन के धुआं से वातावरण शुद्ध होता है। उन्हें समझना चाहिए कि कोई भी आग कार्बनडाई आक्साइड (विषाक्त वायु) ही फैलाती है। वातावरण शुद्ध करने के लिए स्वच्छता एवं वृक्षारोपण उत्तम काम है।

---

१. गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा। ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति। (वेणी संहार २/१५)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, ४/३६१)

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृष्ठ ३७२।

ग्रह आकाश में हैं, जड़ हैं। वे मनुष्य पर टेढ़े कैसे होंगे! यदि टेढ़े होंगे तो सभी मनुष्यों पर, जैसे सूर्य का प्रकाश सब पर बराबर है। यदि पूजा कर कोई सूर्य की गरमी नहीं शांत कर पाता, तो पूजा करके ग्रह की शांति कैसे हो सकती है? ग्रह-शांति भी पुरोहितों का कमाने-खाने का धंधा है। पुरोहित-पंडितों ने ग्रहों को लेकर समाज को काफी डरा रखा है।

"शांतिमयूख (पृष्ठ १२) जैसे कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों ने स्कन्द पुराण के पद्यों को उद्धृत करते हुए कहा है कि शनि की प्रतिकूल दृष्टि के कारण सौदास को मानुष-मांस खाना पड़ा, राहु के कारण नल को पृथ्वी पर घूमना पड़ा, मंगल के कारण राम को वन-गमन करना पड़ा, चन्द्र के कारण हिरण्यकश्यपु की मृत्यु हुई, सूर्य के कारण रावण का पतन हुआ, वृहस्पति के कारण दुर्योधन की मृत्यु हुई, बुध के कारण पांडवों को उनके अयोग कर्म करना पड़ा तथा शुक्र के कारण हिरण्याक्ष को युद्ध में मरना पड़ा।"[1]

इसलिए धर्मसिंधु नामक ग्रन्थ में सूर्य. चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु की शांति के लिए ब्राह्मणों को दान देने का जो विधान बताया गया है वह अद्भुत है—हीरे, मोती, सोना, चांदी, पशु, अन्न, वस्त्र, शकर आदि बड़ी लम्बी लिस्ट है।

मत्स्यपुराण में बताया गया है कि राज्य की निर्विघ्न व्यवस्था के लिए 'अभय-शांति'। रोग-निवारण के लिए 'सौम्य-शांति'। दुर्भिक्ष तथा चौरत्वादि निवारण के लिए 'वैष्णवी-शांति'। पशु-रोग, महामारी, विश्वासघात आदि निवारण के लिए 'रौद्री-शांति'। नास्तिकता से बचाव तथा वेद-मार्ग की सुरक्षा के लिए 'ब्राह्मी-शांति'। अंधड़-तूफान तथा वात-रोग से बचने के लिए 'वायवी-शांति'। अनावृष्टि-निवारण के लिए 'वारुणी-शांति'। अ-सामान्य प्रजनन के निवारण के लिए 'प्राजापत्य-शांति'। हथियारों की अ-सामान्य-दशा के सुधार के लिए 'त्वाष्ट्री-शांति'। बच्चों के लिए 'कौमारी-शांति'। अग्नि के लिए 'आग्नेयी-शांति'। आज्ञा उल्लंघन में पत्नी एवं नौकरों के नाश में या घोड़ों के लिए 'गांधर्वी-शांति'। हाथियों के बीमारी-निवारण में 'आंगिरसी-शांति'। पिशाचों से बचने के लिए 'नैर्ऋती-शांति'। मृत्यु या दुस्स्वप्न की घटनाओं में 'याम्या-शांति'। धन-हानि में 'कौबेरी-शांति'। यदि पेड़-पौधे नष्ट हो रहे हों तो 'पार्थिवी-शांति'। जेष्ठा या अनुराधा नक्षत्र में उत्पात होते हैं, तो 'ऐंद्री-शांति' की जाती है।[2] उदक शांति, महाशांति, अमृता महाशांति आदि का बड़ा-बड़ा प्रपंच पंडितों ने रच डाला है। क्योंकि वेद और वैदिक साहित्य में भी स्वर्ग, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषध, वनस्पति, विश्वदेव आदि सबको शांत करने की बात की गयी है।[3]

नवजात बच्चा मूलगडंत में पड़ गया है, सत्तइसा में पड़ गया है, इसके ऊपर ग्रह

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृष्ठ ३५६।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृष्ठ ३५१।

३. द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः
ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः
सर्वं शान्तिः सामाशान्तिरेधिः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

टेढ़ा हो गया है आदि चक्कर डालकर समाज के लोगों को खूब बेवकूफ बनाया गया है।

हां, प्राचीन लेखकों में महर्षि अंगिरा-जैसा कोई विरला लेखक है जो इन पाखंडों का विरोध करता है। अंगिरा कहते हैं—"ग्रहों की गतियां, स्वप्न, निमित्त (आंख फड़कना आदि) तथा उत्पात काकतालीय न्याय फल देते हुए-से प्रतीत होते हैं। इसलिए विवेकवान इनसे भयभीत नहीं होते।"[१] काकतालीय का अर्थ होता है कि एक ताड़ का पेड़ गिरने वाला था, इतने में उस पर एक कौआ बैठ गया और पेड़ गिर गया, तो किसी अनाड़ी ने कहा कि कौआ के वजन से ताड़ का पेड़ गिर गया। वैसे ग्रह की गतियों, स्वप्नों तथा अंग फड़कने आदि से लाभ या हानि का संयोग हो जाना, या पूजा आदि करने से लाभ का संयोग हो जाना है। उस समय वह होना ही था और इनका संयोग हो गया। वामन काणे जी लिखते हैं—"इस अध्याय में वर्णित बहुत-सी शांतियां अब प्रचलित नहीं हैं। आजकल ऐसी हवा बह रही है कि जो शांतियां की भी जाती हैं, ऐसा लगता है, वे भी भविष्य में विलुप्त हो जायेंगी।"[२]

"प्रेत कनक मुख अन्तर बासा।" जब मनुष्य मरने लगता है तब पुरोहित लोग घरवालों से कहते हैं कि मरने वाले के मुख में सोना रख दो, अन्यथा वह भूत-योनि में चला जायेगा। भूत-प्रेत की तो कोई योनि ही नहीं होती है। वस्तुतः पुरोहितों के मन में यह वासना रहती है कि यह सोना अंत में हमें मिलेगा।

"आहुति सत्य होम की आशा।।" आग में घी, मेवे, अन्न, औषधि आदि डालकर उससे कल्पित स्वर्गस्थ देवताओं को खुश करने का भ्रम तथा उनके द्वारा वृष्टि, स्वर्ग, अन्न, धन, पुत्र, राज्य, विजय आदि की प्राप्ति का भ्रम आज भी लोगों में व्याप्त है। यह एक पुराना अन्धविश्वास है। न आकाश में देवता हैं और न हवन से उनके खुश होने की कोई बात है।

जब राजा लोग किसी युद्ध में हजारों-लाखों की हत्या कर देते थे, तब युद्ध के पश्चात पंडित उन्हें बताते थे कि इस हत्या एवं खून-खराबा के पाप से बचने के लिए अश्वमेध यज्ञ करो और अश्वमेध यज्ञ का अर्थ होता था पुनः सैकड़ों निरीह मूक पशुओं की हत्या। नर-मेध के पाप से छूटने के लिए अश्वमेध। इन सारे भूलभुलैया के मूल में अज्ञान, प्रलोभन आदि थे।

लोग आज-कल यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उसे वैज्ञानिकता का जामा पहनाते हैं। वे कहते हैं हवन के धुआं से वातावरण शुद्ध होता है। उन्हें समझना चाहिए कि कोई भी आग कार्बनडाई आक्साइड (विषाक्त वायु) ही फैलाती है। वातावरण शुद्ध करने के लिए स्वच्छता एवं वृक्षारोपण उत्तम काम है।

---

१. गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा। ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा।
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति। (वेणी संहार २/१५)
(धर्मशास्त्र का इतिहास, ४/३६१)

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृष्ठ ३७२।

"कुल उत्तम जग माहिं कहावैं। फिर फिर मध्यम कर्म करावैं।।" संसार में ब्राह्मण उत्तम कुल कहलाता है, परंतु ये ब्राह्मण-पुरोहित अपने यजमानों से बारंबार निम्नकोटि के कर्म कराते हैं और स्वयं भी वैसा करते हैं। हिंसामय कर्मकांड, बलि के नाम पर जीव वध, मरे हुए लोगों के नाम पर किया हुआ दान उनके पास पहुंचेगा ऐसा झांसा देकर धन ऐंठना आदि निम्न कर्म ही तो हैं! ये ब्राह्मण कहलाते हैं तो इन्हें चाहिए था यजमानों को सच्चा ज्ञान देना, जीवदया का पथ बतलाना और सच्चा निर्णय करना, परंतु उलटे चलने-चलाने लगे।

"सुत दारा मिलि जूठो खाई। हरि भक्तों के छूति लगाई।।" यह कितनी अजीब बात है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले लोग पत्नी-बच्चों के बीच में बैठकर परस्पर जूठा खाते हैं। विचारिये, इनके पत्नी-बच्चे कितने पवित्र होते हैं! परंतु जो भीतर-बाहर सच्चे पवित्र होते हैं उन हरिभक्तों, संतों एवं महात्माओं में छूत लगाते हैं। कहते हैं कि भाई, इन साधुओं का छुआ हम नहीं खा सकते, क्योंकि इनकी जाति-पांति का कोई ठिकाना नहीं है। ब्राह्मणों को, जो सच्चाई है, उस शुद्ध आचरण की आवश्यकता नहीं है, अपितु कल्पित एवं झूठी जाति-पांति का अहंकार है।

"कर्म अशौच उच्छिष्ट खाई। मति भ्रष्टा यम लोक सिधाई।।" ये कर्म अशुद्ध करते हैं, हिंसायुत यज्ञ और बलिपूजा करते हैं, किसी के मर जाने पर मृत कर्म करते हैं, पिंडदान करवाते हैं, तिथि-तेरही को मृतकों के नाम से भोजन अर्पित करके फिर उनका जूठा भोजन खाते हैं। जब यह माना गया कि मैंने मृतकों को भोजन अर्पित किया है और उसे उन्होंने खाया है, तब वह जूठा हो गया, और उसे पीछे स्वयं खाने से वासना तो खराब होगी ही। इस प्रकार मृत-भोज खाकर तथा अशुद्ध कर्म करके बुद्धि खराब होगी और उसका फल होगा यमलोक में जाना। वस्तुतः यमलोक बुरी वासनाएं हैं। जो ऐसे मलिन कर्म करेगा उसकी वासनाएं खराब होंगी ही।

"नहाय खोरि उत्तम होय आये। विष्णु भक्त देखत दुख पाये।।" ब्राह्मण-पुरोहित प्रातः-काल ही नहा-धोकर कुछ पूजा-पाठ का टंट-घंट कर लिये और अपने आप को समाज में उत्तम होने का प्रदर्शन कर लिये, परंतु यदि वे विष्णु-भक्तों तथा संतों को देखकर दुखी हो गये कि इनके ज्ञान-भक्तिमय उपदेशों के प्रचार-प्रसार से हमारे कर्मकांड में बाधा होगी, तो उनकी स्वच्छता एवं नहाने-धोने का क्या प्रयोजन रहा!

"स्वारथ लागि रहे बेकाजा। नाम लेत पावक जिमि डाजा।।" स्थूल बुद्धि रख कर तथा भौतिक स्वार्थ में लगकर बिना काम के काम करते हैं। लोगों को निरर्थक कर्मकांडों में उलझाते हैं। धन के लाभ के लिए यजमानों के मन में भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, दिशाशूल, योगिनी, दशा तथा अनेक भ्रांति डालकर उन्हें भ्रमित करते हैं और दुख निवारण के लिए पूजा-पाठ का चक्कर डालकर भोली जनता से धन ऐंठते हैं। यह सब 'बे-काजा' है, बिना काम का काम है।

"नाम लेत पावक जिमि डाजा।" यदि ब्राह्मण का नाम ले लो कि बताओ ब्राह्मणत्व क्या है! तो आग के समान क्रोध में उबलकर कटुवचन कहने लगते हैं। शास्त्रों में

ब्राह्मणत्व निष्कामदशा एवं आत्मलीनता बतायी गयी है। इसकी याद दिलाने पर क्रोध में उबल पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि ये अपना सुधार नहीं करना चाहते हैं, केवल उचित-अनुचित धन प्राप्त करना चाहते हैं।

"राम कृष्ण की छोड़िनि आशा। पढ़ि गुनि भये कृतम के दासा।।" श्रीराम के उत्तम आदर्श तथा श्री कृष्ण के गीतादि के उपदेशों पर भी इन्हें ध्यान नहीं है। बस, कर्मकांड कराने के लिए कुछ विद्या पढ़ ली और लोगों से कर्मकांड कराकर कमाने-खाने लग गये। इसके आगे पूर्वजों के उच्चादर्श एवं वेद-शास्त्रों के उत्तम उपदेशों पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। ये कुछ पढ़े-गुने भी, तो उसका फल हुआ कृत्रिम पूजा-पाठ के दास बन जाना। कितने पुरोहित विवेकवान संतों के द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार देखकर घबरा जाते हैं और जनता में कुछ विपरीत प्रचार करना शुरू कर देते हैं। वे समझते हैं कि संतों द्वारा भक्ति-ज्ञान का प्रचार होने से कर्मकांड क्षीण होगा और लोग पुरोहितों को छोड़ते जायेंगे।

"कर्म पढ़ें और कर्म को धावैं। जेहि पूछा तेहि कर्म दृढ़ावैं।।" पुरोहित केवल कर्मकांड कराने की विद्या पढ़ते हैं और यजमानों में कर्मकांड कराने के लिए दौड़ते हैं। यदि ये शास्त्र, उपनिषद्, गीतादि पढ़ें तो इन्हें आत्मज्ञान की तरफ सूझ हो। यदि कोई इनसे आत्मकल्याण की भी बात पूछे, तो ये उसे पूजा-पाठ एवं कर्मकांड करने की ही बात करते हैं। जिससे इनकी पूजा-प्रतिष्ठा हो उसी के इर्द-गिर्द इनकी बुद्धि रहती है। ये यजमानों के मन में कर्मकांड की बात ही पक्की करते हैं।

"निष्कर्मी की निंदा कीजै। कर्म करे ताही चित दीजै।।" यदि कोई कर्मकांड से हटकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि पथ की चर्चा करता है और भक्ति-ज्ञान के पथ में चलता है तो उसकी पुरोहित लोग निंदा करते हैं। कहते हैं कि ये मुड़िया कुलक्षणी हैं। अतः पुरोहित कर्मकांड के करने-कराने में ही प्रसन्न रहते हैं।

कोई भक्ति से चले, ज्ञान से चले और वैराग्य से चले, तो उससे पुरोहित को क्या मिलेगा! उसको तो दक्षिणा तभी मिलेगी जब लोग कर्मकांड करावें। इसीलिए आज से हजारों वर्ष पूर्व पुरोहितों ने विष्णुभक्तों पर उलझकर उन्हें गाली दी। उसने कहा—"जो वेदों को नहीं पढ़ना जानता, वह शास्त्रों को पढ़ता है, जो शास्त्रों को नहीं पढ़ना जानता, वह पुराणों को पढ़ता है, जो पुराणों को नहीं पढ़ना जानता, वह खेती करता है, परंतु जो सब प्रकार से भ्रष्ट हो जाता है, वह भगवान का भक्त हो जाता है।"[१] पुरोहितों को भगवान-भक्तों से इसीलिए चिढ़ थी कि वे कह रहे थे कि जो भगवान की भक्ति में लीन है उसे कर्मकांड से कोई वास्ता नहीं है।

"भक्ति भगवन्त की हृदया लावैं। हरणाकुश को पन्थ चलावैं।।" पुरोहित कहते हैं कि हम भी भगवान की भक्ति करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि बड़ी अच्छी बात, तो

---

१. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति।।
(अत्रि ३८४, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५३)

फिर हिरण्यकश्यपु का मार्ग क्यों पकड़ते हैं! कहावत के अनुसार हिरण्यकश्यपु प्रहलाद को विष्णु-भक्ति से रोकता था और उन्हें नाना कष्ट देता था। इसी प्रकार पुरोहित भक्तिपथ, कर्मकांड से रहित होने से उस पर चलने वालों को भला-बुरा कहते हैं।

"देखहु सुमति केर परकाशा। बिनु अभ्यन्तर भये कृतम के दासा॥" कबीर साहेब पुरोहितों की बुद्धि पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि इनकी सुबुद्धि का प्रकाश तो देखो! ये भगवान का नाम लेते हुए भी भक्तिपथ के विरोधी हैं। वस्तुतः हृदय के भीतर ज्ञान का प्रकाश न होने से ही ये बनावटी कर्मकांड के गुलाम हो गये हैं। इसलिए कर्मकांड में पड़कर इन्होंने अपनी बुद्धि एवं सहजज्ञान का दुरुपयोग किया है, उसके ऊपर परदा डाला है।

"जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम स्मरणी भव मा बूड़े॥" सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे पुरोहितों के पूजने से जनता के पाप नहीं उड़ सकते। अर्थात उनके पाप नहीं छूट सकते। जो स्वयं आत्म-विवेक से हीन बना भटक रहा है उसको पूजने से पूजकों का कल्याण कैसे होगा! निर्मल संतों की पूजा-उपासना कल्याणकारी है, कर्मकांड और कामना में डूबे हुए लोगों की उपासना कल्याणकारी नहीं है। बल्कि ऐसे लोगों के नाम का स्मरण होते ही भवसागर में डूबना है। सकामी की याद मलिनता ही में डुबायेगी।

"पाप-पुण्य कै हाथहिं पासा। मारि जगत का कीन्ह बिनाशा॥" पुरोहितों ने पाप और पुण्य के फंदे अपने हाथों ले रखा है। वे जिसे पाप कहना चाहें उसे पाप कह दें और जिसे पुण्य कहना चाहें उसे पुण्य कह दें।[1] पाप-पुण्य की मानवीय विवेक से मानो कोई व्याख्या नहीं है। अतएव पुरोहितों ने मनुष्य की स्वतंत्रबुद्धि को मार कर संसार का विनाश कर डाला है।

ध्यान रहे, संसार के प्रायः हर संप्रदाय में कुछ कर्मकांड होता है। उसका पक्षधर पुरोहित होता है। पुरोहित यह नहीं चाहता कि भक्ति और ज्ञान मार्ग का ज्यादा प्रचार हो, क्योंकि इससे उसके कर्मकांड तथा आय में बाधा पड़ती है। इसलिए संसार के सभी संप्रदायों का पुरोहितवर्ग ज्ञान का प्रायः सब समय विरोधी रहा है। चाहे ब्राह्मण-परंपरा, चाहे इसाई एवं इसलामी परंपरा और चाहे अन्य परंपरा के पुरोहित, वे अपने यजमानों को कर्मकांड के बल पर कल्पित स्वर्ग के टिकट देते रहे और ज्ञान का विरोध करते रहे।

हर नियम का अपवाद भी होता है। हर संप्रदाय के पुरोहितों में से ऐसे पुरोहित भी होते रहे और आज भी हैं जो उदार हैं। वे कर्मकांड की अतिशयोक्ति के नकलीपन को जानते हैं और उसकी गुप्त-प्रकट आलोचना भी करते हैं तथा सच्चे ज्ञान का समर्थन करते हैं। अंततः तो प्रायः सभी कर्मकांडी पुरोहित कर्मकांड के मिथ्यात्व को स्वीकारते हैं, भौतिक स्वार्थ के कारण उसका गुण गाते रहते हैं।

"ई बहनी कुल बहनि कहावै। 'ई' गृह जारे 'ऊ' गृह मारे॥" बहनी का अर्थ वहन करना, ढोना, ले जाना, तारना है, और बह्नि अर्थात आग भी है। सद्गुरु व्यंग्यात्मक ढंग

१. इसके लिए १४वीं एवं ३१वीं रमैनी की व्याख्या देखें।

से दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग करते हैं कि ये पुरोहित लोग जगत-तारक बनते हैं, कुल-बहनि—कुल-तारक एवं कुल-गुरु बनते हैं, परंतु वस्तुतः ये तारक नहीं, डुबाने वाले हैं। ये वहन करने वाले नहीं, किंतु कुल-बह्नि हैं। अर्थात कुल को भस्म करने वाले हैं। ये लोक रूपी 'ई' गृह तथा परलोक रूपी 'ऊ' गृह, दोनों के जारने-मारने वाले हैं। मानव-समानता के बोध और आत्मज्ञान से विमुख कर ऊंच-नीच भेदजनक भावनाओं तथा कर्मकांड की खाई में ढकेल देना लोक-परलोक दोनों बिगाड़ देना है। मानवता तथा समानता की बुद्धि नष्ट होने से मानवता का व्यवहार मिट जाता है और आत्मज्ञान से विमुख हो जाने पर परमार्थ से हाथ धो देना होता है। इसलिए मानो लोक-परलोक दोनों बिगड़ गये। इसलिए इस मलिन पौरोहित्य ने व्यवहार-परमार्थ दोनों बिगाड़ दिया।

"बैठे ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मनमुखहि लगावै॥" ये लोग मोह-माया में आकंठ डूबे हुए घर-गृहस्थी में बैठे हैं, परंतु कहलाना चाहते हैं साधु, उत्तम एवं जगत पूज्य! यहां तक कि विरक्त संतों से भी अपना नमस्कार और आदर चाहते हैं। इनके भीतर में भेदभावना है कि हम अन्य लोगों से जन्मजात ही श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार इनके सब व्यवहार प्रायः मनमुखी, अर्थात मनमानी हैं।

"ऐसी विधि सुर विप्र भनीजे। नाम लेत पीचासन दीजे॥" इस प्रकार उलटा-पलटा व्यवहार रखने वाले विप्र लोग भू-सुर अर्थात संसार के देवता कहलाना चाहते हैं। इन्हें ऊंचे आचरण से कोई प्रयोजन नहीं है। ये तो जन्म से ही देवता हैं, जगत्पूज्य हैं। जैसे ये अपने को बतावें कि हम ब्राह्मण हैं, वैसे ही जनता को चाहिए कि इन्हें ऊंचा आसन दे, जल दे, भोजन दे।

आचरण की परवाह किये बिना केवल जन्म से ही अपनी वरिष्ठता मानने से इनकी दशा यह हुई कि "बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा। ऊँच नीच कहु काहि जोहारा॥" ये अपने तथाकथित वर्ण और जाति के घमंड में डूब गये। घमंड में पड़कर ये दिनोंदिन गिरते गये। जैसा घिनौना कर्म कोई न करे वैसा ब्राह्मण नामधारी करते गये। दुख यह है कि इन्होंने अपने आप को सम्हाला नहीं। "बूड़ि गये नहिं आपु सम्हारा" इस वाक्य से जाहिर होता है कि सद्गुरु कबीर के मन में ब्राह्मणों के पतन पर दुख है। वे इनकी दयनीय दशा देखकर करुणाविगलित हैं।

ब्राह्मण नामधारी संतों के मिलने पर भी प्रायः उनका नमस्कार नहीं करते। कहते हैं कि भई! हम तो पहले जान लेते हैं कि ये साधु ऊंच जाति के हैं कि नीच जाति के, तब यदि ऊंच जाति—ब्राह्मण हैं तो नमस्कार करते हैं, अन्यथा नहीं करते। इस प्रकार ऊंच-नीच जाति की भ्रांति में ये अपने आप को खो रहे हैं।

"ऊँच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी॥ एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सबन का सिरजनहारा॥ एक चाक सब चित्र बनाई। नाद-बिन्द के मध्य समाई॥ व्यापक एक सकल की ज्योती। नाम धरे का कहिये भौती॥" वस्तुतः ऊंच-नीच की भाषा बीच की है, कल्पित है, मान्यताकृत है। मनुष्य की रचना तो एक ही पवन-पानी से हुई है। अर्थात एक ही प्रकार के श्वास और रज-वीर्य से सबके शरीरों का निर्माण हुआ है। जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर एक ही चाक पर अनेक घड़े बनाता है, वैसे माता-पिता के

रज-वीर्य द्वारा माता के एक ही प्रकार के गर्भाशय में सबके शरीर बनते हैं। वासना से ही सारे शरीरों की रचना होती है। गंदे रज-वीर्य से ही सबके शरीर बनते हैं। इसके साथ-साथ एक ही प्रकार शुद्ध ज्ञान ज्योति सब में फैली हुई है। ब्राह्मण-शूद्र नाम रखने से क्या वह भौतिक हो जायेगी! या भौतिक शरीर के नाम अलग-अलग रखने से सबके शरीर में विद्यमान चेतन क्या अलग-अलग लक्षणों वाला हो जायेगा!

सद्गुरु कबीर जन्मजात ऊंच-नीच मानने वालों को बताना चाहते हैं कि पूरे मनुष्यों का जन्म एक ही प्रकार से होता है। एक ही प्रकार सबके शरीर गंदे होते हैं और सबके शरीर में एक ही प्रकार के शुद्ध चेतन निवास करते हैं, फिर जन्म से इसमें छोटा-बड़ा कौन है? "काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा!"

सद्गुरु ब्राह्मणों को जोर से फटकारते हुए कहते हैं "राक्षस करनी देव कहावै। बाद करे गोपाल न भावै॥" ये करनी करते हैं राक्षस की और कहलाते हैं देव, बात बहुत बढ़-बढ़कर करते हैं, परंतु गोपाल के उपदेश इन्हें अच्छे नहीं लगते। कबीर साहेब के समय में ब्राह्मण लोग धर्म के नाम पर जीववध बहुत करते और करवाते थे। इसके साथ-साथ इनकी जाति-पांति की भेद-भावना-जनक बातें महान क्रूरता की थीं। किसी की हत्या कर देना महा पाप है और इससे भी बड़ा पाप है किसी के मन में यह बात बैठा देना कि तुम जन्म से ही नीच हो। वस्तुतः यह महाराक्षसी कर्म है और यह कर्म करके देव कहलाना कितना आत्मघात और परघात है! देव तो वह है जो मानव मात्र की शुद्ध मानवता को जगाये और उसको बताये कि तुम पवित्र मानव हो, मानव में कोई मूलतः ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र, छूत-अछूत नहीं है, किंतु आचार और रहनी से ही ऊंच-नीच होता है, जन्म से सब मानव बराबर हैं।

ये अपनी उच्च परंपरा की बात तो बहुत बढ़-बढ़ कर करते हैं, परंतु इन्हें श्री कृष्ण के, श्री राम के, या शास्त्रों के सत्योपदेश अच्छे नहीं लगते, क्योंकि उनके अनुसार ये अपना आचरण नहीं बनाते।

सद्गुरु ब्राह्मणों तथा मानव मात्र का ध्यान मानव के मूल चेतन स्वरूप पर खींचते हैं "हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहै धौं कोई॥ स्याह सफेद कि राता पियरा। अबरण बरण कि ताता सियरा॥ हिन्दू तुरुक कि बूढ़ो बारा। नारि पुरुष का करहु बिचारा॥" अर्थात जब जीव शरीर छोड़कर उससे अलग होता है तब कोई उसकी जाति भला, क्या कहेगा! उसे काला कहेगा कि सफेद, लाल कहेगा कि पीला, अवर्ण कहेगा कि सवर्ण, गरम कहेगा कि ठंडा, हिंदू कहेगा कि तुरुक, बूढ़ा कहेगा कि बालक, स्त्री कहेगा कि पुरुष—इस पर विचार करो!

सद्गुरु कबीर की कितनी पैनी दृष्टि है! उनकी मर्म-भेदी बातें मन को मथ कर रख देती हैं। वे एक साथ ढेर सारे प्रश्न रख देते हैं और कहते हैं कि इस पर विचार करो। वे कहना चाहते हैं कि श्वेत, लाल, पीले, काले, अवर्ण, सवर्ण, तेज, मंद, हिंदू, तुरुक, बूढ़े, बालक, स्त्री और पुरुष—सबके शरीर में चेतन हंस एक समान हैं। इस मूल बात को समझे बिना मानव मात्र में समता नहीं आ सकती, और समता आये बिना आपसी मारामारी दूर नहीं हो सकती।

अपने मिथ्या अहंकार में पड़कर उपर्युक्त ज्वलंत सत्य को न समझना भयंकर प्रमाद है और उसी का फल है मानवीय वैमनस्य!

"कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोई पै जाना॥" सद्गुरु कहते हैं कि ये सत्य की बातें किससे कही जायं! मिथ्या वर्ण और जाति के प्रमाद में डूबे हुए लोग कहा नहीं मानते! मैं समझता हूं कि यही इनमें पै है, दोष है, गलती है।

जिनकी पैदाइश का कोई पता नहीं कि किस माता-पिता से उनका शरीर जन्मा, पाले गये नीरू और नीमा नाम के गरीब जुलाहे की झुग्गी-झोपड़ी में, समाज से जिन्हें कोई सुविधा नहीं प्राप्त थी, उन कबीर में हीन भावना छू नहीं गयी थी। उनकी निर्भयता, उनकी सत्यदृष्टि, उनकी पैनी परख, उनकी सत्य कहने की निराली रीति कितनी अद्भुत है! वे मूलतः महान तेजवान तो थे ही, परिस्थिति ने भी उन्हें प्रचंड आग का गोला बना दिया था जो सारे कूड़ा-कबाड़ को जला देने के लिए उद्दत था।

उन्होंने कोमलता से, गुदगुदा कर तथा डांट-फटकार कर जो कुछ कहा आज भी पूर्ण सामयिक है और आगे भी सदैव रहेगा। उन्होंने अपने समय में अनुभव किया कि लोग मेरी बातों को नहीं मान रहे हैं "कहिये काहि कहा नहिं माना।" परंतु दिन जितने बीतते गये उनकी बातें सत्य सिद्ध होती गयीं। लोग उत्तरोत्तर उनकी बातों को मानते गये। आज बीसवीं सदी में सब मानने के लिए विवश हैं। अत्यंत दूरदर्शी सद्गुरु कबीर ने जो मानवता के समान अधिकार तथा छुआछूत-निवारण की बातें आज से पांच सौ वर्षों के पूर्व कही थीं उनके अनुकूल आज भारत सरकार ने कानून बना दिया है। आज सभी मानव का सब क्षेत्र में समान अधिकार है और कोई किसी को अछूत नहीं कह सकता। यदि कोई किसी को अछूत कहे तो वह दंड का पात्र हो सकता है। यह कबीर विचारों की सच्ची विजय है।

सद्गुरु इस प्रकरण के अन्त में एक मार्मिक साखी कहते हैं—"बहा है बहि जात है, कर गहै चहुँ ओर। जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुइ और॥" जो लोग मनुष्य-मनुष्य के बीच में भेदभाव की दीवार खड़ी करते हैं, मूलतः किसी को बड़ा तथा किसी को छोटा मानते हैं, मनुष्यों की अज्ञानजनित कमजोरियों से उन्हें बेवकूफ बनाकर अपना स्वार्थ साधते हैं और इन सब के लिए अच्छा-बुरा सब करते हैं; ऐसे लोग निश्चित ही अपने मनुष्यत्व एवं विवेक से हटकर भूल की धारा में बहे हुए हैं। सद्गुरु कहते हैं ऐसे बहने वालों को निकालना आवश्यक है। यदि ये नहीं निकलना चाहते तो भी दो धक्का देकर इन्हें डूबने से बचाने का प्रयास करना विवेकी का कर्तव्य है।

"जो कहा नहिं माने, तो दे धक्का दुइ और" इसका कोई यह अर्थ न समझ ले कि कबीर साहेब उन लोगों को धक्का देकर डुबो देना चाहते हैं जो कहा नहीं मानते। संत ऐसा कैसे कर सकते हैं! वस्तुतः जब कोई व्यक्ति डूब रहा हो तो उसे पानी का धक्का देकर डूबने से बचाया जाता है। डूबने वाले को कोई पकड़कर बचाना चाहे तो वह स्वयं भी उसी के साथ डूब जायेगा। परन्तु उसे पानी का धक्का देकर उसे बचाया जा सकता है।

धका का अर्थ बंदरगाह या किनारा भी होता है। सद्गुरु ने साखी प्रकरण में कहा है "परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर।" यहां धका किनारा है।

कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने हजारों वर्ष पूर्व से ही एक उच्च संस्कृति और सभ्यता दी, एक विशाल दर्शन तथा विपुल साहित्य दिया, नीति और सदाचार की शिक्षाएं दीं; किन्तु कबीर साहेब ने इन पक्षों को नजरअंदाज करके केवल उनके गलत पक्ष का इस प्रकरण में वर्णन किया।

उक्त बातों के समाधान में कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मणों की अच्छाइयों से परिचित थे। उन्होंने पंडित नाम से उनका बड़ा आदर किया है। यह भी सच है कि बीच-बीच में पंडितों को संबोधित कर उन्हें उनकी गलतियों पर फटकारा भी है; परन्तु उनकी विशेषता को गहराई से लिया भी है। वे जगह-जगह बीजक में कहते हैं—

कहहिं कबीर हम जात पुकारा। पंडित होय सो लेय विचारा॥

कहहिं कबीर सुनो हो संतो, बूझो पंडित ज्ञानी॥

पंडित सो बोलिये हितकारी, मूरख सो रहिये झखमारी॥

आज भी ब्राह्मण कहे जाने वाले समाज में विनम्र, भक्त, संतसेवी, पाखंड-विरोधी, मानवमात्र में समता भाव रखने वाले, छुआछूत न मानने वाले, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तर्क-बुद्धि रखने वाले, विवेकी, विचारक और सदाचारी हैं। इतिहास उठाकर देखा जाय तो पुराकाल से आज तक हर राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति में ब्राह्मण-समाज के सदस्य पीछे नहीं रहे हैं। यह सब होते हुए भी समाज का नेतृत्व इन्हीं के हाथों में होने से इन्होंने गलतियां खूब की हैं। इसलिए उनके परिचय एवं निराकरण के लिए अप्रतिम संत कबीर देव ने निर्भीकतापूर्वक उनकी बखिया उधेड़ी है। दयालु डॉक्टर फोड़े का गहरा ऑपरेशन कर तथा उसे दबाकर सारा मवाद निकाल देता है। कबीर साहेब वैसे ही आध्यात्मिक डॉक्टर हैं।

कबीर साहेब ने इस प्रकरण में जो कुछ कहा है, आप केवल मूल को ही ध्यान में पढ़ जाइये तो देखेंगे कि वह कितना मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण है। जिसमें विचार नहीं है, ऐसा पुरोहित-वर्ग इसी तरह आज तक करता चला आया है। कबीर साहेब ने पुरोहित-ब्राह्मणों पर करुणा-विगलित होकर यह सब कहा है। उन्होंने अपने कथन के दौरान में ब्राह्मणों के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा है—"बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा।" इस वाक्य को ध्यान से पढ़िये तो लगता है कि उनके मन में कितना दर्द है इनके सुधार के लिए।

सद्गुरु कबीर ने ये पंक्तियां जब कहीं हैं, कई अर्थों में उस समय की स्थिति आज से काफी भिन्न थी। आज ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों के बच्चे न पुरोहिताई-विद्या पढ़ना चाहते और न उसे करना चाहते हैं। वे स्वयं पुरोहिताई की खिल्ली उड़ाते हैं। मानो सारा संसार ही कबीर साहेब का अनुयायी होता जा रहा है। अब पुरोहितों के भी बच्चे खेती, व्यवसाय एवं नौकरी का काम करना चाहते हैं, परन्तु पुरोहिताई कतई नहीं। पुरोहित वर्ग आज चिन्तित है कि इसकी परंपरा ही लुप्त हो जायेगी। पहले-जैसी छुआछूत की भावना भी अब नहीं रही। सद्गुरु कबीर जो चाहते थे, उनमें बहुत-सारी बातें अब होती जा रही हैं। पुरोहित-ब्राह्मणों की संतानें अब स्वयं कबीर के विचारों का प्रेमी तथा अनुयायी होती जा रही हैं।

●

फल छन्द

हे धर्म के जननी जनक,
हे सत्य के गुरुदेव हो।
हे परख के प्रकाश साहेब,
जानते सब भेव हो।।
हे सत्य प्रेम-प्रतीति के,
आधार मन्मत छेव हो।
हे सन्त-गुरु गुरु-परख रूपी,
परख रूप समेव हो।।

चौपाई

सदाचरण युत पारख पावै।
सहित विवेक असत बिलगावै।।
तजि प्रमाद सत्संग सुभावै।
जन्म मरण बिच पुनि नहिं आवै।।

कहरा

हेतु छन्द

ज्यों मीन जल से हीन तलफत,
प्रिय-वियोग विमोह से।
हा! दौड़ि लिपटत प्राणप्रिय,
पाँखी पतंग बिछोह से।।
चित रचत कहरा कहर बाढ़त,
ज्वाल विपदा कोह से।
इस हेतु कहरा शब्द बरसे,
शान्त अन्तः सोह से।।

दोहा

तन मन द्रष्टा स्वच्छ सत, प्रति घट जीवन रूप।
दृश्य सकल निस्सार लखि, लक्ष्यक पद लहि भूप।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

पंचम प्रकरण : कहरा

सहज-ध्यान तथा रामरस में निमग्नता

कहरा–१

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो॥ १ ॥
मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो॥ २ ॥
जस दुख देखि रहहु यह औसर, अस सुख होइहैं पाये हो॥ ३ ॥
जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो॥ ४ ॥
मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो॥ ५ ॥
मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो॥ ६ ॥
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो॥ ७ ॥
भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो॥ ८ ॥
जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो॥ ९ ॥
नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो॥१०॥
बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो॥११॥
जबहीं सावत आनि पहूँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो॥१२॥
ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहू के न छुटिहैं हो॥१३॥
एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो॥१४॥
अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो॥१५॥
लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो॥१६॥

जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो ॥१७॥
जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो ॥१८॥
जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो ॥१९॥
पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर-तीर का टोवहु हो ॥२०॥
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो ॥२१॥
तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो ॥२२॥
ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो ॥२३॥
जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कस होई हो ॥२४॥
सासु-ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो ॥२५॥
गुरु भौ ढील गोनी भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो ॥२६॥
ताजी तुर्की कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो ॥२७॥
ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोइ नाचे हो ॥२८॥
जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो ॥२९॥
नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो ॥३०॥
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो ॥३१॥

शब्दार्थ—सहज ध्यान = निजस्वरूप चेतन में स्थिति। मेली सृष्टि = सृष्टि में मिला हुआ, जगत में डूबा हुआ। चरा = विचरा हुआ, चंचल। चित्त = मन। दृष्टि = ध्येय, लक्ष्य। लौलाई = तन्मयता। खुटकार = खटका, चिंता, लगन। बेगि = शीघ्र। निवारहु = निवारना, रोकना, हटाना, बचाना, दूर करना। कोहू = कोह, क्रोध। मुक्ति की डोरि = साधना, अभ्यास। गाढ़ि = जोर से। रोहू = एक प्रकार की मछली, मन। खिजुवा = खिजाने वाले, चिढ़ाने वाले, निंदक। खीजि = खीजकर, उलझकर। मानू = माने हुए, माननीय, श्रद्धेय। मीत = मित्र। कमऊँ = कबहूं, कभी भी। गाँठि = प्रेम की गांठ। भोग = प्रारब्ध भोग, शरीर-यात्रा। भुक्ति = भोजन, देहव्यवहार, अधिकार। युक्ति = मन रोकने का तरीका। मतवलिया = मंतव्य, मन का निश्चय। ठाकुर = इन्द्रियों का स्वामी मन। दारुण = कठोर, भयंकर, दुखदायी। डंड = दंड, सजा। मतवाली = उन्मत्तता। सावत = शामत, विपत्ति, कालबली। साँटि = छड़ी, दण्ड, कोड़ा। निहुरि = झुककर। अनचीन्हे = अपरिचित। केवट = तारक, सद्गुरु। गर्भ = गर्व, अहंकार। समर = फल, मेवा, सत्कर्म का सुफल। सम युक्ति = साधु-विचार, उत्तम उपाय। अगमन = पहले से। मच्छ = मछली, मन, काम-क्रोधादि। डेहरि = बखारी, देह। धरन लागि = पकड़ने लगे। सोहरि = सोहर, नाव का फर्श, पाल खींचने की रस्सी। पेलना = नौका खेने के लिए लकड़ी का हत्था, विवेक। अछत = होते हुए। उथले = जहां पानी कम हो। हाथहु का = नर-जन्म। तर कै घाम = मन का उद्वेग। ऊपर कै भुँभुरी = प्राणी, पदार्थ तथा देहजनित पीड़ा। छाँह = छाया, शीतलता, शांति। पसीझेहु = पसीजेहु, गरमी से पीड़ित हुए, दुखी हुए। सीझेहु = कष्ट पाये। छतुरिया = छाता, विवेक की छाया। खेड़ = खेड़ा, गांव, खेट, आखेट, नीच, अधम, गलत

कर्म, खेल। सासु = संशय। ननद = कुमति। उलाटन = उलट-पलट कर कष्ट देना। गोई = छिपाना। गुरु = गुड़। गोनी = बोरा, शरीर। लचपच = ढीला-ढाला। ताजी = अरबी घोड़ा। तुर्की = तुर्किस्तानी घोड़ा। ताल = हथेली का स्वर, मंजीरा। झाँझ = कांसे के दो तश्तरी-जैसे टुकड़ों से बना मंजीरे-जैसा बाजा। कहरा = कहार, एक हिन्दू जाति जो डोली ढोने, पानी भरने, बरतन मांजने, चबैना भूनने आदि का काम करती है, तात्पर्य में विरही जीव। दुलहा = उपास्य। दुलहिन = उपासक। राँचे = रांचना, प्रेम करना। नौका = मानव शरीर।

भावार्थ—हे साधको! मैं तुम्हें बारम्बार निर्देश करता हूं कि तुम सहज निज चेतनस्वरूप के ध्यान में सदैव निमग्न रहो और उसके सहायक सद्गुरु के निर्णय वचनों में लीन रहो॥१॥ जगत में डूबे हुए इस चंचल चित्त को अपने वश में रखो, और सदैव अपने लक्ष्य में तन्मय रहो॥२॥ साधना के इस आरंभिक काल में जैसे तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, स्वरूपस्थिति एवं सहज-ध्यान की अवस्था प्राप्त होने पर वैसे तुम्हें सच्चे सुख का अनुभव होगा॥३॥ यदि साधना में तुम्हें शीघ्र चिंता नहीं लग रही है, तो यह तुम्हारे मलिन हृदय का लक्षण है, अतएव तुम अपने हृदय के काम-क्रोधादि मलों को दूर कर दो॥४॥ ध्यान रहे! मुक्ति की डोरी जोर से मत खींचो। अर्थात साधना-अभ्यास उतावलेपन से न कर उसे धीरे-धीरे चलने दो, तभी बड़ी मछली फंसेगी। अर्थात यह मन वश में होगा॥५॥ देखो, मनुवा से कह दो कि वह अपने आप को मारकर रखे। यदि कोई तुम्हारी निंदा एवं उपहास कर तुम्हें खिजाना चाहे तो उससे उलझकर न बोलो, किन्तु उससे भी शांत होकर ही बोलो॥६॥ मान्यवर मित्र, सद्गुरु एवं संतों के प्रति मित्रता कभी नहीं छोड़ना और उनमें लगी प्रेम की गांठ कभी नहीं खोलना॥७॥ शरीर-यात्रा के सुख-दुखों को निर्विकार भाव से सहन करो और व्यवहार में मिले हुए खान-पान, वस्त्र, मकान, प्राणी-पदार्थ, अधिकार आदि के मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में कभी मत भूलो। मानव शरीर का फल है युक्तिपूर्वक योग-साधना। अतएव भोग से ऊपर उठकर योग-द्वारा जीवन की ऊंचाई पर पहुंचो॥८॥ यदि इस प्रकार का मंतव्य रखते हो तो इसी ध्येय में अपने चित्त को मजबूती से जोड़ दो॥९॥ अन्यथा इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े भयंकर दुखदायी हैं, ये तुम्हारे साथ बुरे आचरण करेंगे॥१०॥ इन बुरे आचरणों के फल में तुम्हें सब बांधेंगे, मारेंगे और दण्ड लेंगे, तब जाकर तुम्हारा उन्माद ठंडा होगा॥११॥

जब कालबली आ पहुंचेगा, तब उसके डण्डे तुम्हारी पीठ पर खूब तड़ातड़ पड़ेंगे॥१२॥ तुम्हारे सब कुटुम्बी खड़े होकर यह तमाशा देखेंगे, परन्तु उस समय किसी के कहने से तुम मौत के हाथ से छूट नहीं सकोगे॥१३॥ एक तरफ तो तुम्हारे स्वजन एवं मित्र विनयावनत हो कालबली के पांवों पड़कर तुम्हें छोड़ देने की प्रार्थना करेंगे, दूसरी तरफ वह इतना कठोर है कि किसी की विनती नहीं मानता॥१४॥ जीवनभर तो तुम सत्य से अपरिचित रहे। तुमने कभी अपनी आत्मा तथा उसके बन्धन वासनादि का परिचय प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की। अब मौत के समय में तुम इन महत्वपूर्ण

विषयों को कैसे समझ सकते हो और कैसे अपना उद्धार कर सकते हो! ॥१५॥
में तो यमराज बुला लेता है, वह किसी से बात भी नहीं पूछता है और निश्
होकर कर्मों के फल देता है। तुम जीवनभर भवतारक सद्गुरु एवं संतों से अहं
भरी बातें करते रहे ॥१६॥ जिसकी गठरी में उत्तम कर्मों के फल नहीं हैं वह नि
बना भूखे-प्यासे भटकता रहेगा ॥१७॥ परन्तु जिन्होंने पहले से ही अपने साधु-वि
रखे थे, वे काम-क्रोधादि को मारकर अपने हृदय-बखारी में सत्कर्म के धन
लिये ॥१८॥ जिसके हाथ-पांव कुछ भी न हो वह नौका के पाल की रस्सी पकड़
उसे खेने लगे तो आश्चर्य होगा। साधक की दशा यही है। वह बाहरी चीजों से अकिं
एवं असहाय दिखते हुए भी जीवन-नौका के पाल की रस्सी अपने हाथों में ले लेता
और उसे घाट पर लगाकर महान हो जाता है ॥१९॥ हे पगले! जीवन-नौका खेने
लिए विवेक-पेलना एवं हत्था पास में होते हुए भी क्यों किनारे-किनारे टटोल रहा
पेलने से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ा ले चल! अर्थात विवेक से सारी वास
हटाते हुए अपना जीवन कल्याण की तरफ गतिशील करता चल ॥२०॥ यदि पूरा पार
जा सके तो उथले पानी में ही रह, गहरे में न जा। हाथ का भी मत खो। जिंदगी
डुबा मत। अर्थात यदि मुक्ति न पा सके तो दुष्कर्मों में न जाकर सत्कर्मों में ही
रह ॥२१॥

हे मनुष्य! भीतर की मनस्तापरूपी धूप और बाहर के प्राणी, पदार्थ तथा शरीरज
उपद्रव की जलती बालुका में तुम सदैव तपते रहे। तुम्हें जीवन में बाहर-भीतर कहीं
शीतलता एवं शांतिरूपी छाया नहीं मिली ॥२२॥ इस प्रकार संसार के दुखरूपी गरमी
तुम सदैव गलते और जलते रहे। संसार के ऐसे तापों को जानकर भी उससे बचने
लिए तुमने विवेक की छत क्यों नहीं बना ली! ॥२३॥ खैर, आज तक भूल-चूक में तु
जो कुछ अज्ञानजनित खोटे कर्मों के खेल किये सो किये, परन्तु अब पुनः वही दुखद
कैसे करोगे! अतः अब ऐसे दुखद कर्मों से बाज़ आओ ॥२४॥ तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी
को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। और तुम
निघरघट हो कि अपनी जगह छोड़कर टस-से-मस नहीं हो रहे हो। जहां तुम्हारी मनोव्या
की चिकित्सा हो सके उन संतों के सामने जाने में लज्जा करते हो, और उनसे मुख छिप
हो ॥२५॥

ऐसा करते-चलते तुम बूढ़े होकर उसी प्रकार ढीले-ढाले हो गये जैसे बरसात में बो
में भरा हुआ गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच, गीली एवं ढीली-ढाली हो जाती है।
मित्रो! तुमने मेरी दी हुई चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया ॥२६॥ तुमने तेज-तर्रार ताज
तुर्की घोड़े को कभी नहीं साधा, प्रत्युत जीवनभर काठ की घोड़ी पर चढ़े। अर्थात विवे
वैराग्य का आश्रय न लेकर देहाभिमान में डूबे रहे, कुछ धर्म के क्षेत्र में बढ़े भी
देहाभिमानजनित ही रागात्मिका भक्ति की, जिससे अपने आपको पत्नी मानने का भ्
करके बाहर पति को खोजते रहे ॥२७॥ कहारों के विवाह में ताल, झांझ, हुडुक्क आ
अच्छी तरह बजाते हुए बरात आती है और सभी कहार मिलकर नाचते हैं और जि
राग-रंग से दूल्हा विवाह करने आता है, उसी राग-रंग से प्रस्तुत होने के लिए दुलहन

रुचि रखती है। अर्थात रागात्मिका भक्ति करने वाले विरही जीव अपने आपको पत्नी तथा कल्पित देवादि को पति मानकर उससे अपना विवाह सम्बंध जोड़ते हैं और बजा, गा तथा नाच कर कल्पित दूल्हे को रिझाने का उपक्रम करते हैं। जिस भाव का देवता-दूल्हा होता है, उस भाव की भक्त-दुलहन होती है। यह सब काठ के घोड़े पर चढ़कर पार होने का दुस्साहस है।।२८-२९।। मानव-शरीररूपी नौका के रहते हुए भी तुम उसे खेने का तरीका नहीं जानते हो तो भवसागर कैसे पार होओगे! ।।३०।। कबीर साहेब अपने आपको प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थितिरूपी रामरस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है।।३१।।

व्याख्या—उत्तर प्रदेश में कहार उस जाति को कहते हैं जो डोली ढोती है, लोगों के घरों में पानी भरती है, बरतन मांजती है एवं भड़भूज का काम करती है। इसका अपना जातीय संगठन होता है। इसके अन्दर में हुई चारित्रिक गलतियों का यह स्वयं, पंचायत कर, सुधार करती है तथा संबंधित व्यक्ति को दंडित करती है। इसके किसी भी उत्सव में इसका जातीय नाच होता है जिसमें इसके ही सदस्य होते हैं। इसके नाच तथा गीत का नाम कहरवा होता है। इसके नाच-गाने में दो बाजे बजते हैं हुड़ुका और जोड़ी। हुड़ुका को ही हुड़ुक्क भी कहते हैं जो आकार में डमरू जैसा होता है, परन्तु डम्‍रू से बड़ा होता है। जोड़ी मंजीरा के आकार की होती है, परन्तु मंजीरा से बड़ी होती है। कहरवा नाच-गान हुड़ुका-जोड़ी पर ही हो सकते हैं। ढोल, तबले, हारमोनियम, सारंगी आदि पर नहीं। यदि कोई कहार ढोल-तबले आदि पर नाच-गा दे तो उसे कहारों की पंचायत द्वारा बहिस्कृत कर दिया जाता है।[१] सद्‌गुरु कबीर ने इन्हीं कहारों की ध्वनि एवं लोक-गीत में यहां बारह पद बनाकर कहरा नाम का प्रकरण रखा है। जिसका पहला कहरा प्रस्तुत पद है जो साधना की दृष्टि से बहुत मार्मिक है।

सहज ध्यान

इस कहरा में साधनात्मक विषय है। कहरा की पहली पंक्ति ही है "सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।" इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो सद्‌गुरु का आदेश है कि सहज ध्यान में रहो और दूसरी बात है कि गुरु के वचन में लीन रहो। अंततः दोनों का भाव एक ही है। गुरु के वचनों में लीन रहने का मतलब ही यही है कि उनके आदेशों का पालन किया जाय, और उनका मुख्य आदेश है कि मनुष्य सहज ध्यान में रहे। यहां सहज ध्यान वही है जिसे सद्‌गुरु ने अपने प्रसिद्ध शब्द "संतो सहज समाधि भली" में कहा है। सांख्यदर्शन में कहा गया है कि मन का निर्विषय हो जाना ही ध्यान है।[२] जब तक संकल्प रहते हैं तब तक मन में संसार रहता है और जब सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं तब मन का संसार समाप्त हो जाता है। तब शेष रह जाता है केवल शुद्ध चेतन। वही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। अतएव विषय-वासनाओं को छोड़कर

---

१. आज के वैज्ञानिक युग में यह प्रतिबन्ध ढीला हो गया है।

२. ध्यानं निर्विषयं मनः।। सांख्यदर्शन ६/२५।।

अपनी चेतना में रहना सहज ध्यान में रहना है। परन्तु हर समय कोई संकल्पों को छोड़क निर्विकल्प बैठा नहीं रह सकता। यदि केवल संकल्पहीन-काल ही सहज-ध्यान एवं सहज समाधि है तो वह जीवन में थोड़े-थोड़े समय रह सकता है, अतएव वह बहुत अल्पकालि ही होगा। इसलिए व्यवहारकाल में भी जब साधक मन का सदैव पारखी बना रहता है वह सब समय सभी संकल्पों का द्रष्टा रहता है, वह मलिन संकल्पों में तो बहता ही नहीं है, शुद्ध संकल्पों का भी साक्षी बनकर सदैव स्वरूपज्ञान में एवं निज चेतन में रमता है त वह मानो सब समय सहज-समाधि में ही रहता है।

एक सहज-ध्यान है, दूसरा अ-सहज-ध्यान है। जैसे एक सहज सौंदर्य है तथा दूस अ-सहज सौंदर्य। तेल, पाउडर तथा अनेक श्रृंगार-प्रसाधन से बनाया गया सौंदर्य अ-सह है, बनावटी है, परन्तु पानी-साबुन से शरीर तथा वस्त्र को स्वच्छ करने के बाद जो शरी का सौंदर्य है वह स्वाभाविक है। स्वाभाविक सौंदर्य ही असली सौंदर्य है। नकली सौंद तो केवल आरोपित है। इसी प्रकार अपने मन में किसी महापुरुष का चित्र या नाद, बिन्दु ज्योति आदि आरोपित कर उनमें मन लगाना अ-सहज-समाधि है, बनावटी ध्यान है। य ठीक है कि पहले इसकी आवश्यकता है; परन्तु है यह नकली ही। किन्तु जब मन के सा आलंबन छोड़ दिये जाते हैं और मन का भी साक्षी बनकर मात्र अपने चेतनस्वरूप में है स्थिति होती है, तब यह सहज-समाधि होती है। व्यक्ति का सहज-स्वरूप, सत्य स्वरूप असली स्वरूप चेतन है और उसमें स्थित रहना सहज-समाधि है। यही सहज-ध्यान है। ज सदैव सहज-ध्यान में है वह सदैव गुरु के वचनों में समाया है। यही तो गुरु का मुख आदेश है।

दृश्यों से उदासीनता तथा ध्येय में लीनता

"मेली सृष्टि चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" मनुष्य का चित्त सदैव सृष्टि प्रपंच में मिला तथा चरा एवं विचरा हुआ रहता है। सद्गुरु कहते हैं कि उसे स्थिर कर रखो और अपनी दृष्टि में, ध्येय एवं लक्ष्य में लवलीन रहो। इस पंक्ति में पहली बात है कि चित्त सृष्टि में मिला हुआ है। हर आदमी का मन संसार की बातों को ही हर सम सोचता रहता है। इस कूड़े-कबाड़ संसार में ही मन हर समय लीन रहता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी बाहर पांचों विषयों—रूप, गंध शब्द, स्वाद तथा स्पर्श की तरफ खुली रहती हैं। अतः इन्द्रियां सदैव विषयों को ग्रह करती हैं। इसलिए मन सदैव विषय-प्रपंचों में एवं संसार-सृष्टि में ही मिला रहता है और उसी में चरा रहता है। चरा का अर्थ है विचरा हुआ एवं गतिशील। अतएव सद्गु कहते हैं कि हे साधक! अपने विषयलीन चंचल चित्त को अपने वश में रखो। दूस बात है "रहहु दृष्टि लौ लाई हो।" यहां दृष्टि का अर्थ है लक्ष्य एवं उद्देश्य। साधक व लक्ष्य है सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि। अतएव उसे चाहिए कि वह उसी में सदै लवलीन रहे। जो अपने लक्ष्य में लवलीन रहता है वही अपने लक्ष्य को पाता है। आलस आदमी निकम्मा हो जाता है। जो श्रमशील होता है वह स्फूर्त होता है। परन्तु श्र उद्देश्यपूर्वक होने से उसका फल किसी दिशा में सफलता होता है। जैसे कोई रास्ते दिनभर चलता रहे, परन्तु उसका चलना निरुद्देश्य हो, एक घंटा आगे चले फिर एक घं

पीछे चले और इसी प्रकार दिनभर चलता रहे तो वह कहीं भी नहीं पहुंचेगा, परन्तु यदि वह अमुक जगह पहुंचने का उद्देश्य मन में रखकर उधर चलता है तो निश्चित है वह उस जगह पहुंचता है। अपने उद्देश्य में जिसकी लौ होती है, लगन होती है एवं उत्साहपूर्वक तत्परता होती है वह अपने उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करता है। साधक के मन में स्वरूपस्थिति की प्रगाढ़ लगन होनी चाहिए। अपने लक्ष्य में लवलीन साधक लक्ष्य को जल्दी पाता है।

श्रम से सफलता मिलती है

"जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहैं पाये हो।" इस साधन के समय में जैसे तुम्हें दुख लगता है, सिद्धि के समय में वैसे तुम्हें सुख मिलेगा। यह हर साधना की बात है। विद्या पढ़ने में, खेती का काम करने में, व्यापार में, रास्ता चलने में या किसी भी दिशा में मेहनत करने में मनुष्य को कष्ट लगता है, परन्तु परिश्रम कर लेने के बाद जब उसके फल मिलते हैं तब मन को कितनी प्रसन्नता मिलती है, यह सर्वविदित है। श्रम करना मनुष्य को स्वभाव से ही पसंद नहीं है। मन तो यही चाहता है कि बिना कुछ किये-धरे सब कुछ मिल जाय। परन्तु ध्यान रहे! बिना श्रम किये कुछ भी नहीं मिलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हमें तभी सफलता मिल सकती है जब हम श्रमशील हों। भौतिक वस्तुएं तो दूसरे के देने से भी मिल सकती हैं। जैसे हमें कोई भोजन, वस्त्र, आवास, औषध आदि दे दे तो हमारा काम चल सकता है। परंतु हमारी आध्यात्मिक प्रगति तो तभी होगी जब हम स्वयं उस दिशा में श्रम करें। श्रम को कष्ट मानने वाला आदमी अपने आपका ही शत्रु है, फिर समाज को वह क्या दे सकेगा! किसी दिशा के सच्चे साधक को श्रम में ही आनन्द आता है। जिस किसान को खेत गोड़ने, जोतने आदि में आनन्द नहीं आता वह सच्चा किसान नहीं है। जिसे सर्विस या व्यापार में मेहनत करने में आनन्द नहीं आता वह अपने आप में ईमानदार नहीं है। इसी प्रकार यदि साधक को साधना करने में आनन्द नहीं आता, तो वह सच्चा साधक नहीं है। आध्यात्मिक साधना में तो "इसके मनन में नित्य सुख है, इसके ध्यान, आचरण तथा निश्चयता में सुख है, फिर इसमें क्या घाटा है जो इसे छोड़कर दूसरी तरफ ध्यान दे।"[१]

बच्चों को जब पढ़ाया जाता है तब वे पढ़ना नहीं चाहते। कितने बच्चों को पढ़ने बैठना मानो फांसी में लटकना है। परन्तु वे ही बच्चे माता-पिता के शासन में जब धीरे-धीरे पढ़ लेते हैं तब विद्या के फल का सुख स्वयं जानते हैं। मोक्ष-साधना में स्वाध्याय, सेवा, मनोनिग्रह, त्याग, इन्द्रियों तथा मन की मलिन आदतों से अपने आपको हटाते रहना—इन सब बातों में बड़ा कष्ट लगता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुमने साधना में ये कष्ट सह लिये तो पीछे मन-इन्द्रिय-स्ववशता का अचल सुख मिलेगा। बिना सेवा के मेवा नहीं मिलता। जो बिना कुछ किये सब कुछ पाना चाहता है वह अपराधी है। साधक को चाहिए कि वह साधना के कष्ट को अमृत समझे। वस्तुतः किसी दिशा का

---

१. जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुख ध्येय।
घाटा तेहि में कौन है, जो औरहिं चित देय।। *मुक्तिद्वार ५/११२ ।।*

सच्चा साधक वह है जो साधना में भी आनन्दित रहता है। सिद्धि एवं फल तो आन
है ही, परन्तु उसके लिए किया जाने वाला श्रम भी आनन्दप्रद लगना चाहिए।

कल्याण-प्राप्ति की तीव्र इच्छा चाहिए

"जो खुटकार बेगि नहिं लागे, हृदय निवारहु कोहू हो।" यदि साधना के लिए तु
मन में शीघ्र चिन्ता नहीं होती है तो इसे तुम अपने मन की मलिनता समझकर हृदय
काम-क्रोधादि मल को दूर कर दो। यदि कल्याण की इच्छा तुम्हारे मन को आंदोलित न
करती है तो यह तुम्हारे मन की मलिनता है। कितने साधक ऐसे होते हैं जो खाते, सो
जीवन बिताते जाते हैं, परन्तु उनके मन में कल्याण-साधना करने का उद्रेक ही न
होता। जिस किसान के खेत में पानी लगा हो और उसे यह फिक्र ही न हो कि हमें ह
बैल लेकर खेत में जाना चाहिए, वह क्या खेती करेगा! समय आने पर अपने काम-धं
करने की जिसे चिंता नहीं रहती वह सफल नहीं हो सकता। कितने साधक ऐसे ही हो
हैं जिन्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचने की कोई परवाह नहीं है। यह बहुत बुरा लक्षण है
इसके मूल में है विषयासक्ति। जिसके मन में जितनी मलिनता होती है उतनी साधना
लापरवाही होती है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हारे मन में साधना के लि
जल्दी चिन्ता नहीं होती है तो समझ लो कि तुम्हारा हृदय अशुद्ध है। अतएव "हृदय
निवारहु कोहू हो।" 'कोहू' का अर्थ है क्रोध। यहां क्रोध का मतलब केवल क्रोध नहीं है
किन्तु काम, क्रोध, लोभादि समस्त मलिनता है। यहां क्रोध का शाब्दिक नहीं, किन्
लाक्षणिक अर्थ है, और वह है काम-क्रोधादि सारे मनोविकार। आदमी के मन में जितना
विकार होता है वह उतना ही अपनी कल्याण-साधना से लापरवाह होता है। इसलिए
सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने मन की मलिनताओं को दूर करो। तुम्हारा मन जितना
साफ होता जायेगा उतना साधना में तत्पर होता जायेगा।

उतावलेपन का त्याग

"मुक्ति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बझिहैं बड़ रोहू हो।" साधना जोर से मत
करो, तभी मन वश में होगा। कहार लोग जलाशय में जाल डालकर मछली फंसाते हैं।
उनके जाल में बड़ी-बड़ी रोहू नाम की मछलियां तभी फंसती हैं जब वे जाल की डोरी धीरे
से खींचते हैं। जोर से खींचने पर मछलियां चौंककर भाग जाती हैं। परन्तु धीरे-धीरे
खींचने पर वे अचेत रहती हैं, जान भी नहीं पातीं और फंस जाती हैं। मन या मनजनित
काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकार मछलियां हैं। ये तभी साधना के जाल में फंसकर
साधक के वश में होती हैं जब वह धैर्यपूर्वक लगातार साधना में लगता है। इस पंक्ति मे
सद्गुरु एक मुख्य बात बताते हैं कि जब तुम साधना में उतावलापन नहीं करोगे तब मन
वश में होगा।

ध्यान रहे! साधना तपस्या नहीं है। तपस्या में उत्कर्षता होती है। परन्तु साधना मे
स्थिरता एवं मंथरगति होती है। तपस्या दिखाऊ होती है, साधना सम होती है। एक तरफ
देहाभिमान एवं विषयों में आकंठ डूबे भोगी हैं तो दूसरी तरफ घोर तपस्या में तपते हुए

तपस्वी हैं। भोगी-जीवन मोक्ष का रास्ता है ही नहीं, किन्तु घोर तपस्या भी मोक्ष का रास्ता न होकर लोक-रिझावा एवं ऋद्धि-सिद्धि पाने का रास्ता है। यहां ऋद्धि-सिद्धि का अर्थ कोई अनहोनी कल्पित वस्तु या शक्ति की प्राप्ति न समझ लेना चाहिए; किन्तु इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति समाज की नजरों में तपस्वी हो जाता है उसके पीछे जनता लट्टू हो जाती है। उसे धन और सम्मान देने लगती है यही ऋद्धि-सिद्धि पाना है।

साधक का रास्ता भोगी और तपस्वी के बीच का है। भोगी स्वादासक्तिपूर्वक जमकर गला तक खाता है, तपस्वी महीनों उपवास करता है, किंतु साधक स्वादासक्ति-रहित स्वल्प भोजन लेता है। भोगी राग-रंग में डूबा रहता है, तपस्वी गरमी में पंचाग्नि, ठंडी में जलशयन तथा वर्षा में खुले आकाश में रहता है, किन्तु साधक शरीर-रक्षार्थ वस्त्र, वासन, आवासादि लेता है। भोगी केवल भीड़ चाहता है, तपस्वी केवल वन, किन्तु साधक भीड़ और वन दोनों में संतुलित रहता है। भोगी पैसे का दास होता है, तपस्वी पैसे नहीं छूता, किन्तु साधक प्राप्त पैसे का सही उपयोग करता है। साधक वह है जो भोग और घोर तप, इन दोनों अतियों से दूर मध्य-मार्गी है।

साधना में तेज चलने वाला जल्दी पहुंचता है;[1] यह बात सही होने पर भी, वह तेज चलना काम नहीं करता जो एक किलोमीटर तो दौड़कर चल ले और उसके बाद दिनभर बैठा रहे। इससे तो वह यात्री अच्छा है जो दिनभर धीरे-धीरे चलता है। कोई साधक चार दिन बड़े जोर-शोर से साधना में लग गया, परन्तु उसके बाद ढीलाढाला पड़ा है तो यह उसकी सफलता का साधन नहीं बन सकता। अतएव साधक को चाहिए कि वह न-उकताए हुए मन से धैर्यपूर्वक निरन्तर लगा रहे। जो दिनभर चलने वाला है वह दौड़ नहीं पायेगा और जो दौड़ेगा वह कुछ ही समय दौड़ सकता है, दिनभर नहीं। हां, यह बात सच है कि जिसके चलने में गति तीव्र है वह अपनी मंजिल पर शीघ्र पहुंचता है, और जिसकी गति मंद है वह देर में पहुंचता है। परन्तु साधक को यह स्वयं विचार लेना चाहिए कि वह उतनी गति से चले जिस गति से निरन्तर चलता रह सके। किसी भी साधना में निरन्तरता बहुत बड़ी बात है। जो दो-चार दिन बहुत जोर से व्यायाम करता है और उसके बाद महीना भर कुछ नहीं करता, उसका व्यायाम शरीर के लिए कल्याणकर नहीं है। व्यायाम चाहे बहुत थोड़ा-थोड़ा ही हो, रोज होना चाहिए। साधना में निरन्तरता उन्नति का मूल है और निरन्तर साधना मंथर गति से ही चल सकती है। साधना का अर्थ ही है धीरे-धीरे संतुलन लाना। ठूंसकर खाना सरल है और उपवास कर देना भी सरल है, परन्तु नित्य स्वादासक्ति से रहित होकर स्वल्प भोजन करना कठिन है, क्योंकि यही साधना है। साधना में दिखावा नहीं होता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा मन तुम्हारे वश में तभी होगा जब तुम धैर्यपूर्वक निरन्तर साधना में लगे रहोगे।

अपने मन को मारो, दूसरों से न उलझो

"मनुवहि कहहु रहहु मन मारे, खिजुवा खीजि न बोले हो।" हे साधक! मन को कह दो कि वह अपने आपको मारकर रहे, और खिजाने वाले निंदकों से खीजकर न

---

१. तीव्रसंवेगानामासन्नः। योगदर्शन १/२१।

बोले। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। पहली बात है अपने मन को मारकर रहन तथा दूसरी बात है अपने विरोधियों से न उलझना। ये दोनों बातें साधक के लि परमोपयोगी हैं ही, मानव मात्र के लिए भी उपयोगी हैं। हर मनुष्य को उसका मन ही परेशान करता है, अन्य कोई परेशान नहीं कर सकता। यदि हमारा मन ठीक है तो हमारी कोई हानि नहीं कर सकता। जो हम मान लेते हैं कि अमुक ने हमें कष्ट दिया, वह हमा मन की भूल है। हमें चाहिए कि हम केवल अपने मन को मारकर रखें, बस, हमें बाहर किसी को नहीं मारना पड़ेगा। यह साधना-क्षेत्र की बात चल रही है, नीति इससे अल है। वैसे हर क्षेत्र में अपने मन पर विजय तो आवश्यक ही है। सद्गुरु के कहने का लहजा कितना सुन्दर है "मनुवहि कहहु रहहु मन मारे" मन को कह दो कि वह अपने आपको मारकर रखे। साधक के लिए यही परम अमृत है। जो साधक अपने मन को जितना मारकर रहता है वह उतना ही शांति-लाभ करता है। वस्तुतः इच्छाओं का त्याग करना मन को मारना है। जिनकी सारी इच्छाएं निवृत्त हो गयीं वह मानो अपने मन को मार दिया। इच्छाजित होना मन मृतक होना, जीवत मृतक होना आदि कहलाता है। जिनकी सारी इच्छाएं मरी हुई हैं उन्हें कौन-सी पीड़ा हो सकती है! इच्छाजित अमृत है।

दूसरी बात है "खिजुवा खीजि न बोले हो।" कुछ लोग होते हैं जो साधक को खिजाना चाहते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, उन्हें कष्ट देने का प्रयास करते हैं। परन्तु साधक की इसी में असली कसौटी होती है। उलझकर बोलने वाले से उलझकर न बोला जाय। अगला आदमी चाहे जितना खीजकर बोले, साधक को शांत एवं गंभीर बात ही बोलना चाहिए। यह साधक की बहुत बड़ी कसौटी है। ऐसी बातें लिखते, कथा-प्रवचन करते समय ऐसा मन बना रहना सरल है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आपको संतुलित एवं निर्विकार बनाये रखना बहुत बड़ी बात है, और इसके बिना साधना पूरी भी नहीं होगी। एक बार एक तपस्वी साधक जब स्नान करके गुरु के पास दीक्षा लेने चला था तब एक मेहतर ने उसके शरीर पर धूल उड़ा दिया था और वह उससे जल-भुन उठा था। गुरुजी को यह सब पता लग गया था और उन्होंने साधक के पहुंचने पर उससे कहा था कि बेटा, तुम तपस्वी तो जरूर हो, परंतु तुम्हारा मन-सांप वैसे ही फुफकार मारता है। वह दुबारा तपस्या में लगा। तपस्या के बाद जब स्नानकर गुरु के पास चला तो मेहतर ने उसके अंग में झाड़ू छुआ दिया। अबकी बार तपस्वी ने कुछ कहा तो नहीं, किन्तु उसका मन क्रुद्ध हो गया था। गुरु ने अबकी तपस्वी साधक से कहा था कि बेटा! सांप अभी पूरा मरा नहीं है। तिबारा जब तपस्या के बाद साधक गुरु के पास चला था, तब मेहतर ने उसके ऊपर कचड़े की टोकरी ही उड़ेल दी थी, तो तपस्वी ने मेहतर के पैर पकड़ लिये थे और कहा था आपने तो मेरे उद्धार में गुरु का काम किया है।

ऐसे उदाहरण कहना, लिखना सब सरल है, परन्तु समय पर स्वयं इस कसौटी प खरा उतरना बड़ी बात है। आदमी छोटे-से मच्छर के काट लेने पर तिलमिला उठता है और उस पर हाथ चला देता है। किसी की तरफ से निन्दा-अपमान आदि पाकर उससे न खीजना, खीजकर न बोलना बहुत बड़ी बात है। साधक की भलाई तथा ऊंचाई भी इसी में है। संसार के उच्च संतों पर नजर डालिए तो पाइयेगा कि वे सदैव निर्विकार रहे

निन्दकों से खीजकर बोलने की बात दूर स्वयं कबीर साहेब ने ही निन्दकों को आंगन में कुटी छवाकर बसाने की बात की है "निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय।।" गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा "इतते ये पाहन हनै, उतते वै फल देत।" एक फकीर को एक व्यक्ति गाली दे रहा था, और फकीर मीठी वाणी में उसे समझा रहे थे। फकीर के एक शिष्य ने कहा—हुजूर, आप क्या कर रहे हैं? यह गाली दे रहा है और आप इससे मीठी बातें कर रहे हैं। एक तीसरे सज्जन ने कहा कि हर वस्तु अपना ही रस टपकाती है। दोनों में से अपना-अपना रस टपक रहा है। सद्‌गुरु ने एक जगह कहा है "बिजली परे समुद्र में, कहा सकेगी जारि।" यदि बिजली समुद्र में गिरे तो क्या जलायेगी! जो महापुरुष शीतल हैं उन्हें कोई उद्वेगित नहीं कर सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने निन्दकों से भी खीजकर न बोले।

सद्‌गुरु-संतों के प्रति सदैव भक्ति रखो

"मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो।" मान्यवर मित्र से मित्रता न छोड़े, उनकी मित्रता की गांठ कभी न खोले। साधक के परम मित्र वे हैं जो उसे कल्याण-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। वे हैं संत और गुरु। संत-गुरु ही साधक के परम मित्र हैं। उनसे यदि साधक का प्रेम घट गया तो इसका अर्थ यह है कि उसके हृदय में संसार के राग-रंग समा गये। मन तो एक है। उसमें सांसारिकता समाएगी तो साधना एवं संत-गुरु के प्रति प्रेम घटेगा और यदि उसमें भक्ति-वैराग्य एवं ज्ञान रहेंगे तो वह संत-गुरु के प्रति श्रद्धावान होगा। पानी को छोड़कर कमल हरा-भरा नहीं रह सकता। इसी प्रकार संत-गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, सेवा, आदर-भाव आदि छोड़कर साधक साधना में नहीं ठहर सकता। जब मन में सांसारिकता आती है तभी संत-गुरु के प्रति रही हुई श्रद्धा टूटती है। कबीर साहेब साधक को सावधान करते हैं कि हे साधक! संत-गुरु परम मित्र हैं। उनसे कभी भी मित्रता नहीं छोड़ना। संसार के कीचड़ से निकालने वाले वे ही हैं। उनका पल्ला छोड़ने के बाद तुम्हें रसातल जाना पड़ेगा, सावधान!

जीवन-यात्रा अनासक्तिपूर्वक करो

"भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो।" जीवन यात्रा के लिए यहां सब विवश हैं। ज्ञानी को भी खाना, पीना, सांस लेना, उठना, बैठना, सोना, जागना, चलना, फिरना एवं शरीर की आवश्यक नाना क्रियाएं करनी पड़ती हैं। जीवन-यात्रा में नाना अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ मिलते हैं; अधिकार, सम्मान और अपमान मिलते हैं; आदमी इन्हीं में भूलकर राग-द्वेष का शिकार हो जाता है। अनुकूल स्वास्थ्य, अनुकूल सहायक मनुष्य, अनुकूल पदार्थ जो देह-निर्वाह के लिए उपयुक्त हैं, अनुकूल भूमिका, आश्रम, सम्मान, फूलमालाएं, आरती, वन्दना और इसके विपरीत निन्दा, प्रतिकूलता, गाली-गुप्ता यह सब जीवन-यात्रा में मिलते हैं। जो सावधान नहीं हैं वे इन्हीं में उलझ-उलझकर राग-द्वेष में जलते हैं। सद्‌गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि तुम संसार से केवल शुद्ध शरीर-निर्वाह लो और संसार के प्राणी-पदार्थों में भूलो नहीं। यहां "भोगउ

बोले। इस पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। पहली बात है अपने मन को मारकर रहना तथा दूसरी बात है अपने विरोधियों से न उलझना। ये दोनों बातें साधक के लिए परमोपयोगी हैं ही, मानव मात्र के लिए भी उपयोगी हैं। हर मनुष्य को उसका मन ही परेशान करता है, अन्य कोई परेशान नहीं कर सकता। यदि हमारा मन ठीक है तो हमारी कोई हानि नहीं कर सकता। जो हम मान लेते हैं कि अमुक ने हमें कष्ट दिया, वह हमारे मन की भूल है। हमें चाहिए कि हम केवल अपने मन को मारकर रखें, बस, हमें बाहर किसी को नहीं मारना पड़ेगा। यह साधना-क्षेत्र की बात चल रही है, नीति इससे अलग है। वैसे हर क्षेत्र में अपने मन पर विजय तो आवश्यक ही है। सद्गुरु के कहने का लहजा कितना सुन्दर है "मनुवहि कहहु रहहु मन मारे" मन को कह दो कि वह अपने आपको मारकर रखे। साधक के लिए यही परम अमृत है। जो साधक अपने मन को जितना मारकर रहता है वह उतना ही शांति-लाभ करता है। वस्तुतः इच्छाओं का त्याग करना मन को मारना है। जिनकी सारी इच्छाएं निवृत्त हो गयीं वह मानो अपने मन को मार दिया। इच्छाजित होना मन मृतक होना, जीवत मृतक होना आदि कहलाता है। जिनकी सारी इच्छाएं मरी हुई हैं उन्हें कौन-सी पीड़ा हो सकती है! इच्छाजित अमृत है।

दूसरी बात है "खिजुवा खीजि न बोले हो।" कुछ लोग होते हैं जो साधक को खिजाना चाहते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, उन्हें कष्ट देने का प्रयास करते हैं। परन्तु साधक की इसी में असली कसौटी होती है। उलझकर बोलने वाले से उलझकर न बोला जाय। अगला आदमी चाहे जितना खीजकर बोले, साधक को शांत एवं गंभीर बात ही बोलना चाहिए। यह साधक की बहुत बड़ी कसौटी है। ऐसी बातें लिखते, कथा-प्रवचन करते समय ऐसा मन बना रहना सरल है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में अपने आपको संतुलित एवं निर्विकार बनाये रखना बहुत बड़ी बात है, और इसके बिना साधना पूरी भी नहीं होगी। एक बार एक तपस्वी साधक जब स्नान करके गुरु के पास दीक्षा लेने चला था तब एक मेहतर ने उसके शरीर पर धूल उड़ा दिया था और वह उससे जल-भुन उठा था। गुरुजी को यह सब पता लग गया था और उन्होंने साधक के पहुंचने पर उससे कहा था कि बेटा, तुम तपस्वी तो जरूर हो, परंतु तुम्हारा मन-सांप वैसे ही फुफकार मारता है। वह दुबारा तपस्या में लगा। तपस्या के बाद जब स्नानकर गुरु के पास चला तो मेहतर ने उसके अंग में झाड़ू छुआ दिया। अबकी बार तपस्वी ने कुछ कहा तो नहीं, किन्तु उसका मन क्रुद्ध हो गया था। गुरु ने अबकी तपस्वी साधक से कहा था कि बेटा! सांप अभी पूरा मरा नहीं है। तिबारा जब तपस्या के बाद साधक गुरु के पास चला था, तब मेहतर ने उसके ऊपर कचड़े की टोकरी ही उड़ेल दी थी, तो तपस्वी ने मेहतर के पैर पकड़ लिये थे और कहा था आपने तो मेरे उद्धार में गुरु का काम किया है।

ऐसे उदाहरण कहना, लिखना सब सरल है, परन्तु समय पर स्वयं इस कसौटी पर खरा उतरना बड़ी बात है। आदमी छोटे-से मच्छर के काट लेने पर तिलमिला उठता है और उस पर हाथ चला देता है। किसी की तरफ से निन्दा-अपमान आदि पाकर उससे न खीजना, खीजकर न बोलना बहुत बड़ी बात है। साधक की भलाई तथा ऊंचाई भी इसी में है। संसार के उच्च संतों पर नजर डालिए तो पाइयेगा कि वे सदैव निर्विकार रहे।

निन्दकों से खीजकर बोलने की बात दूर स्वयं कबीर साहेब ने ही निन्दकों को आंगन में कुटी छवाकर बसाने की बात की है "निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय॥" गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा "इतते ये पाहन हनै, उतते वै फल देत।" एक फकीर को एक व्यक्ति गाली दे रहा था, और फकीर मीठी वाणी में उसे समझा रहे थे। फकीर के एक शिष्य ने कहा—हुजूर, आप क्या कर रहे हैं? यह गाली दे रहा है और आप इससे मीठी बातें कर रहे हैं। एक तीसरे सज्जन ने कहा कि हर वस्तु अपना ही रस टपकाती है। दोनों में से अपना-अपना रस टपक रहा है। सद्गुरु ने एक जगह कहा है "बिजली परे समुद्र में, कहा सकेगी जारि।" यदि बिजली समुद्र में गिरे तो क्या जलायेगी! जो महापुरुष शीतल हैं उन्हें कोई उद्वेगित नहीं कर सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि अपने निन्दकों से भी खीजकर न बोले।

सद्गुरु-संतों के प्रति सदैव भक्ति रखो

"मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊ गाँठि न खोले हो।" मान्यवर मित्र से मित्रता न छोड़े, उनकी मित्रता की गांठ कभी न खोले। साधक के परम मित्र वे हैं जो उसे कल्याण-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। वे हैं संत और गुरु। संत-गुरु ही साधक के परम मित्र हैं। उनसे यदि साधक का प्रेम घट गया तो इसका अर्थ यह है कि उसके हृदय में संसार के राग-रंग समा गये। मन तो एक है। उसमें सांसारिकता समाएगी तो साधना एवं संत-गुरु के प्रति प्रेम घटेगा और यदि उसमें भक्ति-वैराग्य एवं ज्ञान रहेंगे तो वह संत-गुरु के प्रति श्रद्धावान होगा। पानी को छोड़कर कमल हरा-भरा नहीं रह सकता। इसी प्रकार संत-गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, सेवा, आदर-भाव आदि छोड़कर साधक साधना में नहीं ठहर सकता। जब मन में सांसारिकता आती है तभी संत-गुरु के प्रति रही हुई श्रद्धा टूटती है। कबीर साहेब साधक को सावधान करते हैं कि हे साधक! संत-गुरु परम मित्र हैं। उनसे कभी भी मित्रता नहीं छोड़ना। संसार के कीचड़ से निकालने वाले वे ही हैं। उनका पल्ला छोड़ने के बाद तुम्हें रसातल जाना पड़ेगा, सावधान!

जीवन-यात्रा अनासक्तिपूर्वक करो

"भोगउ भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो।" जीवन यात्रा के लिए यहां सब विवश हैं। ज्ञानी को भी खाना, पीना, सांस लेना, उठना, बैठना, सोना, जागना, चलना, फिरना एवं शरीर की आवश्यक नाना क्रियाएं करनी पड़ती हैं। जीवन-यात्रा में नाना अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ मिलते हैं; अधिकार, सम्मान और अपमान मिलते हैं; आदमी इन्हीं में भूलकर राग-द्वेष का शिकार हो जाता है। अनुकूल स्वास्थ्य, अनुकूल सहायक मनुष्य, अनुकूल पदार्थ जो देह-निर्वाह के लिए उपयुक्त हैं, अनुकूल भूमिका, आश्रम, सम्मान, फूलमालाएं, आरती, वन्दना और इसके विपरीत निन्दा, प्रतिकूलता, गाली-गुप्ता यह सब जीवन-यात्रा में मिलते हैं। जो सावधान नहीं हैं वे इन्हीं में उलझ-उलझकर राग-द्वेष में जलते हैं। सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हैं कि तुम संसार से केवल शुद्ध शरीर-निर्वाह लो और संसार के प्राणी-पदार्थों में भूलो नहीं। यहां "भोगउ

भोग भुक्ति जनि भूलहु'' का कोई निर्लिप्तवादपरक अर्थ करने का दुस्साहस न करे। यहां यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कबीर साहेब कहते हैं कि भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगो और उनमें भूलो नहीं। पहले भोग की परिभाषा कर लेनी चाहिए कि वे कौन-से भोग हैं जिन्हें सद्गुरु अनासक्तिपूर्वक भोगने के लिए कहते हैं। वे भोग ममता, मैथुन, नशा, नाच-रंग आदि नहीं हैं, किन्तु शरीर-निर्वाह की क्रियाएं हैं, जिनसे शरीर यात्रा चलती है। शुद्ध शरीर-निर्वाह की क्रियाएं भी तो भोग कहलाती हैं। इन्हें प्रारब्ध-भोग कहते हैं, अर्थात शरीर-निर्वाह-कर्म। जो सावधान नहीं रहता है वह इनमें भी भूल जाता है। खान-पान, वस्त्र, आश्रम, प्राणी, पदार्थ इन सब में राग या द्वेष बनाकर आदमी अपने लक्ष्य को ही भूल बैठता है।

सद्गुरु कहते हैं कि शरीर-निर्वाह के प्राणी-पदार्थों में न उलझकर तथा शरीर की आरामतलबी में न फंसकर इससे योग-युक्ति की साधना करो। शरीर को भोगों में न फंसाकर योग में लगाओ। मनुष्य जितना भोगों में लीन होता है उतना उसका विवेक नष्ट होता है और जितना वह अपने तन-मन को योग में लगाता है, उतनी उसकी आत्मा ऊपर उठती जाती है। भोग का फल शोक है और योग का फल मोक्ष एवं शांति है।

उद्देश्य में दृढ़ता रखो

"जो यह भाँति करहु मतवलिया, ता मत को चित बाँधहु हो।'' यदि इस प्रकार अपना मंतव्य रखते हो तो इसी मंतव्य में अपने चित्त को बांध दो। भोग से विरक्ति तथा योग में अनुरक्ति यदि तुम्हारा निश्चय हो तो तुम निश्चित ही सौभाग्यशाली हो। यह निश्चय, यह मंतव्य अत्यन्त दुर्लभ है। यह ख्याल संसार में किसी-किसी के मन में आता है। वे धन्य हैं जिनके मन से भोगों का कीचड़ दूर हो गया है और जो योग की स्वच्छता में पहुंच गये हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा ख्याल है तो तुम धन्य हो और ध्यान रखो कि इस मंतव्य से कभी विचलित नहीं होना। बल्कि इस मंतव्य में ही अपने चित्त को बांध देना। मन में निश्चय कर लेना कि अब भोग-कीचड़ में आजीवन नहीं पड़ूंगा और मृत्युपर्यन्त योग-साधना में बिताऊंगा। मन को वश में रखने का प्रयास ही तो योगाभ्यास है और मन को वश में कर लेना योग है। भोग मृत्यु का रास्ता है, योग अमरत्व का। भोग देहपरायणता है और योग आत्मपरायणता। भोग मलिनता है और योग स्वच्छता। भोग पीड़ा का पथ है और योग शांति का रास्ता। वह धन्य है, पूजने योग्य है जिसने भोग का पथ छोड़कर योग का रास्ता अपनाया है।

दारुण मन से सावधान

"नहिं तो ठाकुर हैं अति दारुण, करिहैं चाल कुचाली हो।'' ध्यान रहे, यदि तुमने भोग-पथ छोड़कर योग-पथ नहीं अपनाया तो समझ लो कि ये इन्द्रियों के ठाकुर मन बड़े दारुण हैं। ये बड़े भयंकर पीड़ाप्रद हैं। तुम्हें भोगों की तरफ झुकते देखकर ये चाल कुचाल कर देंगे। ये तुम्हें लेकर रसातल पहुंचा देंगे। मन तो अनादिकाल से विषयों से वासित है ही, जीव को उधर झुकते पाकर यह तो नरक में डुबाने के लिए तैयार बैठा ही है। इस

जीव से घिनौने-से-घिनौने कर्म कौन करवा देता है जिनके फल में जीव को जीवनभर केवल पश्चाताप करना पड़ता है! यह मन ही वह दारुण, कठोर एवं भयंकर ठाकुर है। ध्यान रहे, मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह केवल संस्कारों का समुच्चय है; परन्तु वह अनादिकाल से इतनी गलत आदतों वाला हो गया है कि थोड़ी-सी असावधानी में वह जीव को नीचे ले जाता है। मन के भुलावे में पड़कर ही मनुष्य व्यभिचार, चोरी, हत्या तथा अन्य घृणित कर्म करता है और उसके फल में पेटभर दुख भोगता है।

"बाँधि मारि डण्ड सब लेहीं, छूटहिं तब मतवाली हो।" दुष्कर्म करने पर फल यही होता है कि सब लोग उसे बांधते हैं, मारते हैं और दण्डित करते हैं, तब उसका प्रमाद ठंडा होता है। यहां 'सब' से अर्थ अन्दर की वासनाएं तथा बाहर प्राणी, दोनों हैं। दुष्कर्म करने वाले को तो पहले मन ही परेशान करता है। खोटे कर्म के परिणाम में बनी मन की वासनाएं ही जीव को रात-दिन जलाती रहती हैं। वे मानो भीतर-ही-भीतर दुष्कर्मी जीव को बांधती, मारती और दंडित करती हैं। कुकर्मी जीव मन में ही सदैव जलता रहता है। परन्तु अधिक कुकर्म करने से उसे बाहर के भी सब लोग धिक्कारते हैं। उसके नाम पर थूकते हैं। उसे बांधते, मारते तथा दंडित करते हैं। अपने दुष्कर्मों के परिणाम में भीतर-बाहर सताये जाकर जो पस्त होता है वह कल्याण-साधना करने का अवसर तथा बल खो चुका रहता है। जो आदमी दुष्कर्म में जिन्दगी बिताते हुए अपने आप को संसार में पस्त कर देता है उसका पुनः जगना बड़ा कठिन हो जाता है।

जो लोग भोगों से अपने मन को स्ववशतापूर्वक नहीं रोकते उनका मन उन्हें भोगों की आसक्ति में बांधकर, भली-भांति इन्द्रियों की दासता कराता है। विषयासक्ति में पड़कर सारे मान-अभिमान थोड़े ही दिनों में चूर्ण हो जाते हैं। स्ववशतापूर्वक जो अपने मन को नहीं रोकता, उसको पराधीन होकर रोकना पड़ता है, क्योंकि भोगों से अत्यन्त विषयासक्ति हो जाती है और अत्यंत विषयासक्तिवश मनुष्य की मन-इन्द्रियां हरक्षण चलायमान रहती हैं। परन्तु हरक्षण भोगों को भोगने की सुविधा, शक्ति, समय, योग्यतादि न रहने से उसे विवश होकर अपने मन-इन्द्रियों को हरक्षण रोकना पड़ता है। अतएव पहले ही रोकना अच्छा है।

मन मारना ही अच्छा है

एक सेठ से एक व्यक्ति ने सौ रुपये लिये। एक माह में लौटाने को कहा; परन्तु कई माह हो गये उसने रुपये नहीं दिये, यद्यपि उसके घर में रुपये थे। सेठ ने एक दिन एक युक्ति सोची और उससे कहा—भाई, यदि तू मेरे रुपये नहीं दे सकता तो सौ प्याज खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें क्या बड़ी बात है! सौ प्याज रखे गये, वह खाने लगा; परन्तु बड़ी कठिनता से आठ-दस खा सका। उसकी आंख-नाक से पानी बहने लगा। उसने कहा सेठ जी! यह तो मेरे वश की बात नहीं। सेठ ने कहा—अच्छा, सौ मिर्चे खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। वह सोचा इसमें झार नहीं होता, खा लूंगा। वह खाने लगा, परन्तु दो-चार ही मिर्चे खाने में उसका कलेजा जलने लगा। सेठ ने कहा—अच्छा, यदि तू सौ मिर्चे नहीं खा सकता तो सौ जूते खा ले, मैं रुपये छोड़ दूंगा। उसने सोचा इसमें न झार है न तितास, इसे सह लूंगा। निदान उसकी पीठ पर जूते पड़ने लगे, जब

ास जूते पड़े, तब उसके होश-हवास उड़ने लगे। उसने सोचा यदि सौ जूते इस शरीर पर ड़ेंगे तो प्राण-पखेरू पयान कर देंगे। अतः उसने सौ रुपये घर से लाकर सेठ के सामने ान दिये।

मनुष्य का मन विषयों में दौड़ता है, परन्तु वह उनसे रोकता नहीं, प्रत्युत यथाप्राप्त ाषयों को भोगता है। विषयों के वश स्थल-स्थल पर ठोकरें खाता है। बल-वीर्य-शरीर से ाण होकर तथा स्त्री-पुत्रादि के मोहरूपी खूंटे में बंधे-बंधे वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है ौर दीन-हीन हो जाता है। तब विवश होकर विषयों को छोड़ता है। यही प्याज, मिर्चा ौर जूते खाकर रुपये देना है। जो विषयों में न फंसकर पहले ही मन को रोक लेता है, से संसार की अवदशा रूपी प्याज, मिर्चे और जूते नहीं खाने पड़ते।

अतएव प्याज, मिर्चे और जूते खाकर रुपये क्यों दिये जायं! पहले ही रुपये क्यों न दिये जायं, जिससे उपर्युक्त आपत्ति न आये। इसी प्रकार सारी अवदशा सहने के पहले विषय-वासनाएं छोड़ दी जायं तो सर्वोत्तम है। नहीं तो विषयों में पड़कर सारी मस्ती ड़ जायेगी।

त्याग करन है सबन को, बचत न कोइ देखाय।
चहै तजै दुख भोगि कै, चाहै प्रथम हटाय।।

(भवयान, साखी सुधा-८७)

मौत का दौरा निश्चित

"जबहीं सावत आनि पहूँचे, पीठ साँटि भल टुटिहैं हो।" सावत का शाब्दिक अर्थ है ातियाडाह एवं ईर्ष्या। किन्तु यहां इस पंक्ति में प्रयुक्त 'सावत' शब्द 'शामत' का अपभ्रंश गता है। शामत कहते हैं विपत्ति को। यहां शामत एवं सावत का लाक्षणिक अर्थ है मौत वं कालबली। साहेब कहते हैं कि सांसारिकता में डूबे हुए आदमी के अंत समय में जब ालबली आ धमकता है तब उसकी पीठ पर मौत के डंडे अच्छी तरह से पड़ते हैं। इन बका अर्थ है कि जिसके मन में बुरे संस्कार हैं उसे अंतकाल में अपने मन में बड़े यानक-भयानक दृश्य दिखाई देते हैं। वहां बाहर से कोई पीड़ा देने वाला नहीं आया ़ता है। मौत भी कोई ऐसा जानवर नहीं है जो बाहर से आये। मौत तो शरीर की वधि के समाप्त होने को कहते हैं। वस्तुतः अपने ही दुष्कर्म तथा संसारासक्ति विचित्र ानसिक रूप लेकर जीव को पीड़ित करते हैं। अंतकाल में आदमी मोहवश बेचैन होकर ड़पता है, वह नहीं चाहता कि अपने माने हुए शरीर, परिवार, घर, धनादि को छोड़कर दा के लिए चला जाय; परन्तु मौत से तो कोई छुटने वाला नहीं है। सद्गुरु कहते हैं ठाढ़े लोग कुटुम सब देखें, कहै काहु के न छुटिहैं हो।" आदमी को मरते देखकर उसके ाजन कुटुम्बी खड़े देखते व रोते हैं और भगवान-भवानी मनाते हैं कि हमारे पिता, माता वं पुत्र को छोड़ दो, परन्तु किसी के भी कहने से मौत के पंजे से कोई नहीं छूट सकता। सार के बड़े-बड़े समर्थ कहलाने वाले तथा भगवान-भवानी कहलाने वाले मौत के मुख में ाने से बच नहीं सके। इस संसार में सबको अचानक मौत के मुख में जाना है।

"एक तो निहुरि पाँव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो।" एक तरफ तो कुटुम्बी लोग विनयावनत होकर मौत की विनती करते हैं कि हमारे प्यारे स्वजन को छोड़ दो, दूसरी तरफ मौत विनती करने पर भी नहीं मानती। मौत कब किसको छोड़ने लगी! यहीं तो सब विवश हैं। लोग नीति-अनीति करके धन कमाते हैं, भवन बनवाते हैं, परिवार-वृद्धि करते हैं तथा इस संसार में रहकर बड़ी लम्बी-लम्बी बातें सोचते हैं, परन्तु बीच में निर्दय मौत आ जाती है और मनुष्य को ऐसा चुपके-से उठा ले जाती है कि कोई पता भी नहीं पाता और उसकी सब आशा के महल बीच में ढह जाते हैं। मौत के समय में तो मनुष्य बिल्ली के सामने पड़े चूहे की तरह असहाय हो जाता है। उस समय तो उसे सब कुछ छूट जाने का भय सवार हो जाता है, फिर होश-हवास कहां ठिकाने रहे! जिन्होंने पहले आध्यात्मिक कमाई नहीं की है वे मौत के समय में अपने उद्धार का कोई रास्ता नहीं पा सकते।

स्वस्थ अवस्था में ही अपने स्वरूप तथा वासना-बन्धनों को पहचानो

ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु कहते हैं "अनचीन्हे रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनबेउ हो।" अर्थात तुम जीवनभर अपनी आत्मा से अपरिचित रहे और जिनसे तुम्हारी आत्मा बंधती है उन वासनाओं की पहचान भी तुमने कभी नहीं की, तो मरती बेला में इन गूढ़ विषयों की परख कैसे हो सकेगी तथा कैसे वासनाओं का त्याग होकर स्वरूपस्थिति हो सकती है! निजस्वरूप चेतन आत्मा तथा उसके शत्रु विषय-वासना, ये दोनों बातें सूक्ष्म हैं। इन्हें स्वस्थ अवस्था में सच्चे पारखी सद्गुरु एवं संतों की शरण में रहकर तथा उनकी सेवा-उपासना कर उनसे समझा जाता है और समझकर वासनाओं का त्याग किया जाता है एवं निजस्वरूप चेतन में स्थित हुआ जाता है। वासनानिवृत्ति तथा स्वरूपस्थिति दीर्घकाल की आध्यात्मिक साधना के फल होते हैं। पहले तो इनकी पहचान एवं परख ही कठिन होती है, फिर पीछे वासना का त्याग एक बहुत बड़ा काम होता है। जब वासना का त्याग हो जाता है तब स्वरूपस्थिति तो सहज हो जाती है, परन्तु यह सब मरती बेला में कैसे हो सकता है! कुछ लोग तो जो जीवनभर के दुराचारी होते हैं वे जब मर जाते हैं तब उनके कान में किसी गुरु नामधारी व्यक्ति से मंत्र-दान कराते हैं। किन्तु यह राख में हवन करने के समान है। अतएव मौत के पहले जब तक स्वस्थ अवस्था है मनुष्य को चाहिए कि वासनाओं को पहचानकर उन्हें त्याग दे और अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाय। मौत के पहले जब अपनी पक्की स्थिति रहती है तब मौत के समय भी वही दिव्य स्थिति बनी रहती है। किन्तु जो जीवनभर देहाभिमान और वासना में डूबा रहा, वह मरते समय कुछ नहीं कर सकता।

देहाभिमानी का उद्धार नहीं

"लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्भ तन बोले हो।" अहंकारी जीवात्मा को मौत अपने पास बुला लेती है और उससे बात तक नहीं पूछती, सीधे पुनः योनियों में डाल देती है। क्योंकि ऐसे जीवों ने अपने जीवन में भवतारक सद्गुरु-केवट से कभी कोई

रोकार नहीं रखा। जब उन्हें गुरुजन मिले तब उन्होंने उनसे शरीर का अहंकार लेकर ातें की। जीवनभर अहंकार में डूबा, सुपथ बताने वाले संत-गुरु से विमुख मनुष्य केवल ुराफाती संस्कारों का जखीरा बटोरता है। ऐसा आदमी भले सांसारिक उपलब्धियों से पन्न हो, परन्तु वह आध्यात्मिक दिशा में शून्य होता है। इसलिए ऐसे जीव के लिए द्गुरु ने यमराज की तरफ से बड़ी हेय भावना का वर्णन किया है, "लीन्ह बुलाय बात हिं पूछै"। जैसे कोई बहुत बड़ा अपराधी हो, वह दंडाधिकारी द्वारा बुला लिया गया हो ौर उससे अपनी सफाई देने की बात भी न पूछी गयी हो, उसे सीधे कारावास में डाल ्या गया हो। यही दशा उस वासनावशी जीव की होती है जिसने अपने जीवन में ल्याण का काम तो कुछ भी न किया हो, प्रत्युत निरंतर शरीराभिमान में ही डूबा रहकर ुसंस्कारों का संग्रह किया हो।

पवित्र संस्कारों की पूंजी ही धन है

"जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो।" जिस यात्री की गठरी फल-मेवे या खाने की कोई सामग्री नहीं है वह निर्धन होकर भटकता है। इस पंक्ति में ाया हुआ 'समर' शब्द अरबी भाषा का है। इसके अर्थ होते हैं फल, मेवे, परिणाम, त्कर्मों के फल आदि। कबीर साहेब कहते हैं कि जिसके पास में अच्छे संस्कारों की पूंजी हीं है वह आज तथा आगे निर्धन होकर भटकता है। मनुष्य की यह सबसे बड़ी भूल है ि वह रुपये, पैसे, चांदी-सोने, मोती, हीरे, जमीन-मकान, पशु-परिवार आदि को ही धन मझता है। यह ठीक है कि ये भी धन हैं। परन्तु मनुष्य का असली धन उसके मन के वित्र संस्कार हैं और यह धन जिसके पास नहीं होता है वह महा निर्धन है। भौतिक धन तो मुख्य धन रोटी है जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। जिनको चौबीस टे में एक बार भी पेटभर रोटी न मिलती हो ऐसे लोग दुखी हों तो उनका दुख ाभाविक लगेगा; परन्तु ऐसे लोग संसार में बहुत कम होंगे। किन्तु पेटभर खाते हुए भी न से हरदम दुखी बने तो संसार के अधिकतम लोग हैं। क्योंकि उनके पास पवित्र स्कारों की पूंजी नहीं है। पवित्र संस्कार सत्कर्मों के फल हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में यम का पालन करता है और दूसरों के लिए भलाई का व्यवहार करता है, उसके इन वेत्र कर्मों के फल में स्वच्छ संस्कार होते हैं। यह धन जिसके पास है वह महा धनी है। सार के बड़े-बड़े संतों के पास यही धन था। आज भी जो सच्चा संत एवं सच्चा इनसान उसके पास यही धन होता है। पैसे वाले स्वयं पैसे वालों को पूज्य नहीं मानते, किन्तु वेत्रात्माओं को पूज्य मानते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके मन में पवित्र स्कार नहीं है वह आज भी निर्धन बना भटक रहा है और आगे भी भटकेगा। धनी-र्धन, विद्वान-अविद्वान, राजा-प्रजा, गुणी-अवगुणी—सब इसलिए अभाव की अनुभूति में न-ही-मन जल रहे हैं, क्योंकि वे पवित्र संस्कारों की पूंजी से अकिंचन हैं।

पहले से सावधान हो जाओ

"जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।" जैसे आगासोची हार पहले ही मछलियां मारकर तथा उसे सुखाकर अपनी बखारी में भर लेते हैं और

उसे बेच-बेचकर खाते हैं, वैसे जो साधु-विचार एवं उत्तम विचार के व्यक्ति हैं वे पहले ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि को मारकर इनके विपरीत विचार, क्षमा, संतोष, विवेक, वैराग्य, समतादि सद्गुणों को अपने हृदय में संचित कर लेते हैं। यह कहरा प्रकरण होने से इसमें कहारों का रूपक जगह-जगह आयेगा ही। यहां इस पंक्ति में "धरिन मच्छ भरि डेहरि हो" कहारों-द्वारा मछली मारकर बखारी में भर रखने का रूपक है, जिसके सहारे सद्गुरु ने दुर्गुणों को मारकर सद्गुण-धन को हृदय में संचित करने का निर्देश किया है। "जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन" पहले ही से सावधान लोग स्वस्थ अवस्था में ही अपने मन-इन्द्रियों को साध लेते हैं। उनकी समझ की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए जो अपने कुमारपन एवं युवापन से ही साधना-मार्ग में लग जाते हैं। जो चलने के पहले ही रास्ते के लिए खर्चे का जुगाड़ कर लेता है वह समझदार है। इसी प्रकार वह प्रशंसनीय समझदार है जो जरा, रोग और मृत्यु के पूर्व ही अपने शुभाचारों-द्वारा पवित्र संस्कारों का अर्जन कर लेता है। जैसे 'गांठीदाम' तथा 'कंठेज्ञान' ही काम आते हैं, वैसे अपने द्वारा ठीक से आचरित पवित्र कर्मों के संस्कार ही जीव के लिए आज तथा आगे सुख के साधन बनते हैं। अतएव जो पहले से सावधान हैं वे ही समझदार हैं।

संत अकिंचन होकर संपन्न हैं

"जेकर हाथ पाँव कछु नाहीं, धरन लागि तेहि सोहरि हो।" जिसके हाथ-पैर कुछ नहीं, उसने पाल की रस्सी पकड़कर अपनी नौका घाट पर लगा ली। अर्थात संसार की दृष्टि से जिसे अकिंचन व्यक्ति कहा जा सकता है कि उसके तो हाथ-पैर कुछ नहीं हैं, उसने अपने पवित्र संस्कारों की पूंजी के बल पर महान आत्म-शक्ति का संचय कर लिया और अपनी जीवन-नौका को शांति एवं मोक्ष के घाट पर लगा लिया। 'सोहर' वह मांगलिक गीत है जिसे पुत्र पैदा होने पर गाया जाता है। परन्तु 'सोहर' के दो अन्य भी मिलते-जुलते अर्थ होते हैं, वे हैं 'नाव का फर्श' तथा 'पाल खींचने की रस्सी'। यहां रूपक में पाल खींचने की रस्सी ही 'सोहर' का अर्थ है। इस पंक्ति में सद्गुरु ने उलटवांसी का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है कि जिसके हाथ-पैर नहीं थे उसने पाल की रस्सी पकड़कर नौका को किनारे लगा लिया। हाथ-पैर न होने का लाक्षणिक अर्थ है सामर्थ्य से रहित होना। संसारी लोग संतों को ऐसे ही समझते हैं। वे मानते हैं कि साधु अकिंचन, एवं असमर्थ होते हैं। परंतु सद्गुरु कहते हैं कि हे संसारियो! जिन्हें तुम अकिंचन, गरीब एवं निर्बल समझते हो, वे संत ही सच्चे अर्थों में संपन्न, धनी एवं सबल हैं। वे ही अपनी जीवन-नौका के पाल की रस्सी पकड़कर उसे भवपार लगा लेते हैं। सच्ची संपन्नता तो मन की पवित्रता की होती है। जिसका मन पवित्र है वह मानो भवसागर से पार है। अच्छे-से-अच्छे धनपतियों का मन प्रसन्न नहीं रहता। प्रसन्न तो उसका मन रहता है जिसका हृदय राग-द्वेष से निवृत्त है। जिसके मन का भय सर्वथा दूर हो गया है वह सदैव प्रसन्न होता है। परन्तु मन का भय सर्वथा दूर तभी होता है जब राग एवं मोह सर्वथा दूर हो जायं। यह सब पवित्र संस्कारों की पूंजी तथा भीतरी संपन्नता कहलाती है। जिसके राग, मोह, भय दूर हैं, जो सदैव प्रसन्न है, मानो उसकी नौका भव-पार हो गयी, और वह सबसे बड़ा धनी हो गया।

सरोकार नहीं रखा। जब उन्हें गुरुजन मिले तब उन्होंने उनसे शरीर का अहंकार लेकर बातें की। जीवनभर अहंकार में डूबा, सुपथ बताने वाले संत-गुरु से विमुख मनुष्य केवल खुराफाती संस्कारों का जखीरा बटोरता है। ऐसा आदमी भले सांसारिक उपलब्धियों से संपन्न हो, परन्तु वह आध्यात्मिक दिशा में शून्य होता है। इसलिए ऐसे जीव के लिए सद्गुरु ने यमराज की तरफ से बड़ी हेय भावना का वर्णन किया है, "लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै"। जैसे कोई बहुत बड़ा अपराधी हो, वह दंडाधिकारी द्वारा बुला लिया गया हो और उससे अपनी सफाई देने की बात भी न पूछी गयी हो, उसे सीधे कारावास में डाल दिया गया हो। यही दशा उस वासनावशी जीव की होती है जिसने अपने जीवन में कल्याण का काम तो कुछ भी न किया हो, प्रत्युत निरंतर शरीराभिमान में ही डूबा रहकर कुसंस्कारों का संग्रह किया हो।

पवित्र संस्कारों की पूंजी ही धन है

"जाकर गाँठि समर कछु नाहीं, सो निर्धनिया होय डोले हो।" जिस यात्री की गठरी में फल-मेवे या खाने की कोई सामग्री नहीं है वह निर्धन होकर भटकता है। इस पंक्ति में आया हुआ 'समर' शब्द अरबी भाषा का है। इसके अर्थ होते हैं फल, मेवे, परिणाम, सत्कर्मों के फल आदि। कबीर साहेब कहते हैं कि जिसके पास में अच्छे संस्कारों की पूंजी नहीं है वह आज तथा आगे निर्धन होकर भटकता है। मनुष्य की यह सबसे बड़ी भूल है कि वह रुपये, पैसे, चांदी-सोने, मोती, हीरे, जमीन-मकान, पशु-परिवार आदि को ही धन समझता है। यह ठीक है कि ये भी धन हैं। परन्तु मनुष्य का असली धन उसके मन के पवित्र संस्कार हैं और यह धन जिसके पास नहीं होता है वह महा निर्धन है। भौतिक धन में तो मुख्य धन रोटी है जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। जिनको चौबीस घंटे में एक बार भी पेटभर रोटी न मिलती हो ऐसे लोग दुखी हों तो उनका दुख स्वाभाविक लगेगा; परन्तु ऐसे लोग संसार में बहुत कम होंगे। किन्तु पेटभर खाते हुए भी मन से हरदम दुखी बने तो संसार के अधिकतम लोग हैं। क्योंकि उनके पास पवित्र संस्कारों की पूंजी नहीं है। पवित्र संस्कार सत्कर्मों के फल हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में संयम का पालन करता है और दूसरों के लिए भलाई का व्यवहार करता है, उसके इन पवित्र कर्मों के फल में स्वच्छ संस्कार होते हैं। यह धन जिसके पास है वह महा धनी है। संसार के बड़े-बड़े संतों के पास यही धन था। आज भी जो सच्चा संत एवं सच्चा इनसान है उसके पास यही धन होता है। पैसे वाले स्वयं पैसे वालों को पूज्य नहीं मानते, किन्तु पवित्रात्माओं को पूज्य मानते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके मन में पवित्र संस्कार नहीं है वह आज भी निर्धन बना भटक रहा है और आगे भी भटकेगा। धनी-निर्धन, विद्वान-अविद्वान, राजा-प्रजा, गुणी-अवगुणी—सब इसलिए अभाव की अनुभूति में मन-ही-मन जल रहे हैं, क्योंकि वे पवित्र संस्कारों की पूंजी से अकिंचन हैं।

पहले से सावधान हो जाओ

"जिन सम युक्ति अगमन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।" जैसे आगासोची कहार पहले ही मछलियां मारकर तथा उसे सुखाकर अपनी बखारी में भर लेते हैं और

भीतर और बाहर के ताप

"तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।" साहेब यहां उलटवांसी में कहते हैं कि तुम नीचे की धूप में तथा ऊपर की गरम बालुका में जल रहे हो। घाम का अर्थ धूप तथा भुंभरी का अर्थ गरम बालुका है। लोक में मनुष्य के ऊपर एवं सिर पर धूप होती है तथा उसके नीचे एवं पैर के तलमें गरम बालू होती है। परन्तु यहां साहेब कहते हैं कि नीचे की धूप तथा ऊपर की भुंभरी से तुम जलते हो। तुम्हें आज तक कहीं भी शीतलता नहीं मिली। "तर का घाम" है मन का क्लेश तथा "ऊपर की भुंभुरी" है प्राणी-पदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव। इन दोनों में अबोधी मनुष्य निरन्तर जलता है। उसे कहीं क्षण मात्र के लिए भी शांति नहीं मिलती। मनुष्य के भीतर मन है। वह नाना आशंकाओं, मोह-ममताओं, राग-द्वेष, चिंता-फिक्र तथा अनेक द्वन्द्वों से निरन्तर जलता रहता है। यही मानो भीतर की धूप है। गरम बालुका स्थूल होती है और धूप सूक्ष्म होती है। इसी प्रकार बाहर के प्राणी, पदार्थ तथा शरीर स्थूल होते हैं और मन सूक्ष्म होता है। इसीलिए सद्‌गुरु ने मनजनित पीड़ा को घाम तथा शरीर एवं प्राणी-पदार्थजनित पीड़ा को भुंभरी कहा है। उलटवांसी में कथन उलटा-जैसा लगता है, परन्तु अर्थ सीधा होता है। सूक्ष्म मन की पीड़ा धूप है जो भीतर का है। स्थूल प्राणी-पदार्थ एवं शरीरजनित पीड़ा भुंभरी है जो ऊपर का एवं बाहर का है। अविवेकवश मन तो पीड़ा देता ही है, बाहर के प्राणी-पदार्थों तथा शरीर से भी जीव के सिर पर नाना उपद्रव आते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान बिना जीव को कभी शीतलता नहीं मिलती। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मोहग्रस्त मानव! भीतर की मानसिक पीड़ा तथा बाहरी संसार के उपद्रवों से ग्रस्त होकर तुम्हें कभी शीतलता नहीं मिल रही है।

विवेक-छत के नीचे शीतलता है

"ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो।" तुम उपर्युक्त तापों में सदैव जलते, तपते, गलते तथा क्षीण होते हो, किन्तु इन तापों को जानकर भी तुम इनसे बचने के लिए विवेक की छत क्यों नहीं बना लेते? सद्‌गुरु का मानव से कितना करुणापूर्वक आग्रह है कि दुखों के इतने तापों को झेलते हुए भी तुम उनसे बचने के लिए छतरी क्यों नहीं छा लेते हो! छतुरिया छाता को कहते हैं जो लोह की तीलियों एवं दंडे से बना रहता है और जिस पर कपड़ा तना रहता है। छप्पर, खपड़े, पत्थर, ईंट, सीमेंट, लोहे आदि से बनी छत को भी छतुरिया कहते हैं। धूप और भुंभरी से बचने के लिए किसी प्रकार छत चाहिए। यहां छतुरिया एवं छत विवेक है। विवेक की छत के नीचे ही शीतलता की छाया मिलेगी। इस ताप भरे शरीर एवं संसार में शांति पाने का एक ही रास्ता है—विवेक। विवेक उस मानसिक शक्ति का नाम है जिससे मन तथा संसार का कच्चाचिट्ठा दिखाई देता है। इसी से सत-असत की परख होती है। विवेक ही वृद्धता एवं बुजुर्गानी है। बूढ़ा होने पर भी यदि उसमें विवेक नहीं है तो वह बच्चा है, किन्तु शरीर से बच्चा होने पर भी यदि उसमें विवेक है तो वृद्ध के समान आदरणीय है। सुन्दरदास जी ने ठीक ही कहा है "जाहि को विवेक ज्ञान ताही को कुशल जान, जाही ओर जाय वाको

विवेक-पथ में बढ़ो

"पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर-तीर का टोवहु हो।" हे पगले! तेरे हाथों में पेलना एवं हत्था होते हुए तू किनारे-किनारे क्या टटोल रहा है! अरे, बीच धारा में हत्था मारते हुए नौका उस पार निकाल ले चल! मानव-शरीर नौका है, विवेक पेलना एवं हत्था है। उससे वासनाओं का पानी पीछे ठेलते हुए जीवन-नौका को आगे बढ़ाते चलो। पूजा-पाठ तथा कर्मकांड-जैसी छिछली क्रियाओं में समय न बरबाद करो। इस प्रकार तीर-तीर टटोलना छोड़ दो। कम पानी की नदियों में नाविक बांस-बल्ली नदीतल में मारते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। परन्तु जब नदी में पानी बहुत गहरा होता है जहां कि बांस-बल्ली से थाह नहीं मिलती, वहां नाविक नाव के दोनों तरफ खूंटे के सहारे बंधे हुए हत्थों से पानी पीछे पेलते हुए नौका आगे बढ़ाते हैं। इन हत्थों के जो हिस्से हाथ में होते हैं वे अपेक्षया पतले होते हैं और जो पानी में होते हैं वे चौड़े होते हैं। इन्हें हत्था एवं पेलना कहा जाता है। साहेब कहते हैं कि भवसागर का पानी गहरा है। अपनी जीवन-नौका कर्मकांडों की बांस-बल्ली से तीर-तीर टटोलते हुए चलने से भवपार नहीं हुआ जा सकता है। इसके लिए विवेक के पेलने से वासना का पानी पीछे पेलते हुए जीवन-नौका को आगे गतिशील करना चाहिए। जीवन का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसे केवल कर्मकांडों में उलझाकर मत व्यतीत करो, किन्तु विवेक का पथ अपनाओ और वासनाओं को जीतो।

पवित्र संस्कार बनाये रखो

"उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।" साहेब दूसरी दिशा में भी सावधान करते हैं कि यदि पार जाने की हिम्मत न हो तो उथले ही में रहो अर्थात यदि इस जीवन में पूर्ण मोक्ष न ले सको तो इतना अवश्य करो कि मोह-माया तथा दुष्कर्मों की गहराई में मत डूबो, किन्तु शुभकर्मों में लगे रहो। यह मनुष्य-जीवन हाथ का धन है। इतने सत्कर्म तो अवश्य होने चाहिए कि यह जीव पुनः मानव-शरीर में आ सके तथा मोक्ष-साधना को आगे बढ़ा सके। इस जीवन की पूर्ण सफलता है मोक्ष की प्राप्ति। सारी वासनाओं को त्याग निजस्वरूप की अविचल स्थिति प्राप्त हो जाना जीवन की अन्तिम ऊंचाई है। परन्तु यदि मनुष्य इसी जीवन में इतना न कर सके, तो शुभकर्मों की पूंजी तो अवश्य इकट्ठा करे। वह मोह-माया की गहराई में न डूबे। अपने माने हुए शरीर तथा परिवार के लिए दुष्कर्म न करे। जितना संभव हो दूसरों का हित करें। अपने मन को शुभ संस्कारों से संस्कारित करे। यदि इस प्रकार वह शुभ मार्ग में चलता है तो उसकी मानवता बनी रहेगी। वह इस शरीर के छूट जाने पर पुनः शुभ संस्कारों से संस्कारित विवेकसम्पन्न मानव-शरीर पायेगा और अपने कल्याण-पथ में आगे बढ़ जायेगा। साहेब कहते हैं "मति हाथहु की खोवहु हो" यह मानव-शरीर हाथ में मिला धन है, मूल पूंजी है। यदि मूल पूंजी छूट जायेगी तो व्यापार किस पर होगा! यदि मानव-शरीर ही आगे न मिले और यह जीव हाथी-घोड़ा खानियों में चला जाय तो वहां क्या करेगा! अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह यदि मोक्ष न ले सके तो इतना अवश्य करे कि मानवीय शुभाचार न छोड़े, जिससे वह कल्याण-पथ का पथिक आगे भी बना रहे।

भीतर और बाहर के ताप

"तर कै घाम ऊपर कै भुँभुरी, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।" साहेब यहां उलटवांसी में कहते हैं कि तुम नीचे की धूप में तथा ऊपर की गरम बालुका में जल रहे हो। घाम का अर्थ धूप तथा भुंभरी का अर्थ गरम बालुका है। लोक में मनुष्य के ऊपर एवं सिर पर धूप होती है तथा उसके नीचे एवं पैर के तलमें गरम बालू होती है। परन्तु यहां साहेब कहते हैं कि नीचे की धूप तथा ऊपर की भुंभरी से तुम जलते हो। तुम्हें आज तक कहीं भी शीतलता नहीं मिली। "तर का घाम" है मन का क्लेश तथा "ऊपर की भुंभुरी" है प्राणी-पदार्थ तथा शरीरजनित उपद्रव। इन दोनों में अबोधी मनुष्य निरन्तर जलता है। उसे कहीं क्षण मात्र के लिए भी शांति नहीं मिलती। मनुष्य के भीतर मन है। वह नाना आशंकाओं, मोह-ममताओं, राग-द्वेष, चिंता-फिक्र तथा अनेक द्वन्द्वों से निरन्तर जलता रहता है। यही मानो भीतर की धूप है। गरम बालुका स्थूल होती है और धूप सूक्ष्म होती है। इसी प्रकार बाहर के प्राणी, पदार्थ तथा शरीर स्थूल होते हैं और मन सूक्ष्म होता है। इसीलिए सद्‌गुरु ने मनजनित पीड़ा को घाम तथा शरीर एवं प्राणी-पदार्थजनित पीड़ा को भुंभरी कहा है। उलटवांसी में कथन उलटा-जैसा लगता है, परन्तु अर्थ सीधा होता है। सूक्ष्म मन की पीड़ा धूप है जो भीतर का है। स्थूल प्राणी-पदार्थ एवं शरीरजनित पीड़ा भुंभरी है जो ऊपर का एवं बाहर का है। अविवेकवश मन तो पीड़ा देता ही है, बाहर के प्राणी-पदार्थों तथा शरीर से भी जीव के सिर पर नाना उपद्रव आते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान बिना जीव को कभी शीतलता नहीं मिलती। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मोहग्रस्त मानव! भीतर की मानसिक पीड़ा तथा बाहरी संसार के उपद्रवों से ग्रस्त होकर तुम्हें कभी शीतलता नहीं मिल रही है।

विवेक-छत के नीचे शीतलता है

"ऐसेनि जानि पसीझेहु सीझेहु, कस न छतुरिया छायहु हो।" तुम उपर्युक्त तापों में सदैव जलते, तपते, गलते तथा क्षीण होते हो, किन्तु इन तापों को जानकर भी तुम इनसे बचने के लिए विवेक की छत क्यों नहीं बना लेते? सद्‌गुरु का मानव से कितना करुणापूर्वक आग्रह है कि दुखों के इतने तापों को झेलते हुए भी तुम उनसे बचने के लिए छतरी क्यों नहीं छा लेते हो! छतुरिया छाता को कहते हैं जो लोह की तीलियों एवं दंडे से बना रहता है और जिस पर कपड़ा तना रहता है। छप्पर, खपड़े, पत्थर, ईंट, सीमेंट, लोहे आदि से बनी छत को भी छतुरिया कहते हैं। धूप और भुंभरी से बचने के लिए किसी प्रकार छत चाहिए। यहां छतुरिया एवं छत विवेक है। विवेक की छत के नीचे ही शीतलता की छाया मिलेगी। इस ताप भरे शरीर एवं संसार में शांति पाने का एक ही रास्ता है—विवेक। विवेक उस मानसिक शक्ति का नाम है जिससे मन तथा संसार का कच्चाचिट्ठा दिखाई देता है। इसी से सत-असत की परख होती है। विवेक ही वृद्धता एवं बुजुर्गानी है। बूढ़ा होने पर भी यदि उसमें विवेक नहीं है तो वह बच्चा है, किन्तु शरीर से बच्चा होने पर भी यदि उसमें विवेक है तो वृद्ध के समान आदरणीय है। सुन्दरदास जी ने ठीक ही कहा है "जाहि को विवेक ज्ञान ताहीं को कुशल जान, जाही ओर जाय वाको

वाही ओर सुख है।'' हृदय में विवेक उदित होने पर मन का ताप दूर हो जाता है। जिसके हृदय में विवेक नहीं है उसके मन का ताप जा नहीं सकता, और जिसके मन में विवेक होगा उसके मन में ताप रह नहीं सकता। हृदय में विवेक उदय होने पर शरीर तथा प्राणी-पदार्थजनित उपद्रवों के ताप को सहने की शक्ति आती है। विवेक-शक्ति पूर्ण उदय हो जाने पर तो भीतर में द्वन्द्व रह ही नहीं जाता, बाहर के उपद्रव भी तुच्छ लगते हैं। इस संसार में ऐसा हो नहीं सकता कि प्रतिकूलता न आये। उसके प्रभाव से बचने के लिए मात्र एक तरीका है—विवेक। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम भीतर-बाहर के दुख से जलते हो, तो उससे बचने का उपाय क्यों नहीं करते!

अब अपने आपको न ठगाओ

''जो कछु खेड़ कियहु सो कियहु, बहुरि खेड़ कस होई हो।'' तुमने जो कुछ दुख का खेल आज तक किया सो किया, अब पुनः उसे क्यों करो! खेड़ का मुख्य अर्थ है गांव। वैसे खेड़ का अर्थ खेट एवं आखेट भी होता है। खेट को नीच और अधम भी कहते हैं। यहां खेड़ का तात्पर्य खेल है, जो मलिन एवं दुखदायी कर्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहेब कहते हैं कि तुमनें आज तक भूल-चूक में जो कुछ दुखदायी एवं मलिन कर्म किये सो किये, अब वैसे कर्मों का खेल मत करो। अब जग जाओ। ''एक बार ठगावै तो बावनबीर कहावै, बार-बार ठगावै तो गप्पूनाथ कहावै।'' एक बार ठगा गये सो ठगा गये, अब बारम्बार अपने आपको मत ठगाओ।

संशय और कुमति का त्याग करो

''सासु-ननद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो।'' तुम्हारी मनोवृत्तिरूपी बहू को संशयरूपी सासु तथा कुमतिरूपी ननद उलट-पलटकर जला रही हैं। तुम संतों से लज्जा कर उनसे अपना मुख छिपाते हो। तुम्हारा उद्धार कैसे होगा! संसार में अधिकतम सासु और ननद बहू को कष्ट देती हैं। कबीर साहेब ने संशय तथा कुमति के लिए सासु और ननद को मुहावरा ही बना लिया है। मनुष्य की मनोवृत्ति मानो बहू है और संशय तथा कुमति क्रमशः सासु और ननद हैं। इसका अर्थ यह है कि संशय और कुमति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति निरन्तर पीड़ित की जा रही है। मनुष्य की मनोवृत्ति में संशय के घुन लगे रहते हैं। उसे अपने आत्म-अस्तित्त्व पर संशय है, आचार पर संशय है, साथियों एवं पड़ोसियों की नेकनीयती पर संशय है, अपने जीवन-निर्वाह एवं भविष्य की खुशहाली पर संशय है। वह हर तरफ से हर समय संशय से घिरा रहता है। संशय मनुष्य के चित्त को चालते हैं। दूसरी है कुमति। कुमति तो सारे दुखों का कारण है। कुमति एवं कुबुद्धि होने से ही तो आदमी कुपथ पर चलकर अपने आपको दुखों में डाले रहता है। ये संशय तथा कुमतिरूपी सासु-ननद जीव की मनोवृत्ति को उलट-पलटकर जलाती रहती हैं, परन्तु जीव ऐसा निर्लज्ज बन गया है कि इन्हीं के बीच में सदैव पड़ा रहता है। मानसिक विकारों से छूटने का साधन साधु-संगत है। परन्तु साधु-संगत से मनुष्य अपना मुख छिपाता है। उनसे लज्जा करता है। मनुष्य की बुद्धि ऐसी उलटी हो गयी है कि वह

दुर्गुणों में पड़े रहने में तो लज्जा नहीं करता, किन्तु संतों से लज्जा करता है जिनसे अपना सुधार है।

बुढ़ापा आने के पहले जागो

"गुरु भौ ढील गोनी भइ लचपच, कहा न मानेहु मोरा हो।" गुड़ गीला हो जाने पर बोरी लचपच हो जाती है, इसी प्रकार मांस-पेशियों के ढीले हो जाने पर शरीर लचपच हो जाता है। देखो, बूढ़े का शरीर कितना लचपच होता है। न उसके पैर स्थिरता से जमीन पर पड़ते हैं, न हाथ ठीक से काम देते हैं न शरीर के अन्य अंग। यहां तक कि बुद्धि में भी सदैव विस्मृति बनी रहती है। बूढ़ा तो अपने शरीर की दैनिक क्रिया करने में ही अपने को असमर्थ पाता है। वह आलसी बना बिस्तर पर पड़ा रहना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह पर-सेवा तथा आत्म-साधना का काम क्या कर सकता है! साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें बारम्बार गुरुजन समझाते हैं कि तुम पर-सेवा तथा आत्मकल्याण की साधना में लगो, परन्तु तुम जीवनभर इनसे असावधान रहे, और अब तो गुड़ ढीला हो जाने से गोनी लचपच हो गयी है। शरीर बूढ़ा हो जाने से तुम्हारी सारी इंद्रियों ने जवाब दे दिया है। "अब पछिताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत।"

विवेक-वैराग्य अपनाओ

"ताजी तुर्की कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।" तुमने तेज ताजी-तुरकी घोड़े की सवारी नहीं की अपितु काठ के घोड़े की सवारी की। विवेक-वैराग्य ताजी और तुरकी घोड़े हैं। ताजी अरबी घोड़ों को कहते हैं तथा तुरकी तुर्किस्तान के घोड़ों को। ये बड़े तेज होते हैं। यहां ताजी-तुरकी के लक्षणा अर्थ हैं विवेक-वैराग्य। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने अपने जीवन में विवेक-वैराग्य को नहीं साधा, अपितु देहाभिमान में डूबा रहा। काठ के घोड़े पर सवारी करने से क्या फल होगा! वह तो मनुष्य को एक पग भी नहीं ले जा सकता, क्योंकि वह जड़ है। हम जड़ शरीर के अहंकार में डूबे हैं। यही मानो काठ के घोड़े पर चढ़कर भवपार जाने का दुस्साहस है। देहाभिमानी आदमी भक्ति-मार्ग में लगता है, परन्तु वह यदि किसी-न-किसी प्रकार देह की पूजा में ही जीवनभर लगा रहता है तो यह भी उसका काठ के घोड़े पर चढ़ना ही है। यह ठीक है कि जीवित गुरु एवं उपास्य की देह की सेवा की जाय, क्योंकि उसमें चेतन निवास करता है। परन्तु मर जाने के बाद देह के आकार में पुतले, चित्र आदि बनाकर उन्हें पूजना तथा उन्हीं के राग-रंग में लीन रहना एक अविवेक ही है। कोई भी महापुरुष कुछ काल रहकर मर जाते हैं। उनकी जीवात्मा की उनके कर्मों के अनुसार गति होती है तथा उनकी पार्थिव देह मिट्टी में मिल जाती है। यदि उनकी देह बहुत सुन्दर रही, तो इसका मतलब यह है कि जब उनका शरीर जवान था तब वह देखने में सुन्दर लगता था। परन्तु उनके बूढ़े हो जाने पर ही उनका शरीर कुरूप हो गया होगा। फिर मर जाने के बाद जबकि उनके शरीर का कहीं चेह्न भी अवशेष नहीं है तब उनके कल्पित शरीर के अंगों में कमलों की उपमा दे-देकर भाव-विह्वल रहना एक-भावुकता है तथा कठोर भाषा में कहें तो घोर अविवेक है। यह ठीक है कि आरंभिक काल में कितने साधक किसी पवित्रात्मा देहधारी के शरीर का

ध्यानकर मन एकाग्र करते हैं, परन्तु इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि जब किसी की कल्पित देह को ही भगवान एवं चिन्मय मान लिया जाता है तब उससे कभी हटने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। सगुणवादी रागात्मक भक्ति-पथ-पथिकों की यही दशा है। वे तथाकथित भगवान के काल्पनिक करकमल, मुखकमल, हृदयकमल, पदकमल, नेत्रकमल, कपोलकमल को छोड़कर अविनाशी शुद्ध चेतन स्वस्वरूप की ओर कभी ध्यान नहीं देते। यह सब काठ के घोड़े पर सवार होकर गंतव्य पर पहुंचने का दुराग्रह ही है।

बचपना छोड़ो

"ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोइ नाचे हो। जेहि रंग दुलहा ब्याहन आये, दुलहिनि तेहि रंग राँचे हो।" जब कहारों में किसी का विवाह होता है तब हुडुक्क-जोड़ी बजते हैं और कहार लोग नाचते हैं। दूल्हा जिस राग-रंग की भावना में विवाह करने आता है दुलहन भी उसी राग-रंग में प्रेम करती है। रागात्मिका भक्ति करने वालों की यही दशा रहती है। वे स्वयं अपने आपको पत्नी मानते हैं और किसी एक कल्पित देव को अपना पति चुनकर उससे मिलने के विरह में व्याकुल होकर बजाते, गाते और नाचते हैं। जिस रंग का दूल्हा होता है उसी रंग में दुलहन प्रेम करती है। यह दूल्हा-दुलहन तथा लल्ला-लल्ली का कुसंस्कार प्रस्तुत कर भक्ति का स्वरूप ही चौपट कर डाला गया है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ये लोग काठ के घोड़े पर सवार हैं जो कहीं नहीं जा सकता। ये लोग विवेक-वैराग्य रूपी ताजी-तुरकी घोड़े पर नहीं बैठते कि वे इन्हें गंतव्य तक पहुंचा दें।

जीवन जीने का कायदा जानो

"नौका अछत खेवै नहिं जाने, कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" नौका रहते हुए भी तुम उसे खेना नहीं जानते हो तो कैसे उस पार लगोगे! यह मानव-शरीर भवसागर से पार जाने के लिए नौका है। यह तुम्हें प्राप्त है, परन्तु तुम इसे बिताने का न सही कायदा जानते हो और न पूर्व से निर्मित वासनाओं को मिटाने का विवेक रखते हो, फिर कैसे भवसागर पार जाओगे! जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को कल्याण का एक साधन मात्र मानकर इसे विवेक से निभाता है, किसी प्राणी-पदार्थ को अपना न मानकर, उन्हें पथ में मिले हुए पथशाला की वस्तु समझकर सबसे अनासक्त रहता है और पूर्व की रही हुई मन की वासनाओं को विवेक-वैराग्य से नष्ट करता है, वह इसी जीवन में अपना उद्धार कर लेता है।

जीवन जीने का अच्छा तरीका है रामरस में लीनता

"कहहिं कबीर रामरस माते, जोलहा दास कबीरा हो।" इस पंक्ति को दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग है कि कबीर साहेब कहते हैं कि रागात्मिका भक्ति का पट बुनने वाले भक्त लोग कल्पित रामरस में मतवाले रहते हैं। वे स्वरूप-राम को नहीं समझते। इस अभिप्राय में 'दास कबीर' हैं उपासक भक्त जो भक्ति की चुनरी बीनने से

जोलहा हैं। ऊपर की २७वीं से ३०वीं पंक्ति तक इसका प्रसंग भी है। 'कहहिं कबीर' कहंकर ग्रन्थकर्ता इस कहरा में अपने नाम की छाप तो लगा ही देते हैं, फिर इसके बाद 'जोलहा दास कबीरा' कहकर अपने आपको प्रस्तुत करने का कोई तुक नहीं दिखता। एक ही पंक्ति में कहहिं कबीर कहकर फिर 'जोलहा दास कबीरा' कहना बे-तुका-सा लगता है। इसके अलावा 'माते' शब्द बीजक भर में प्रायः खंडनपरक है; अतएव यहां रामरस स्वात्माराम न होकर कल्पित राम या अवताराम के विषय में ही हो सकता है। अतएव इस पंक्ति का अर्थ हुआ कि कबीर साहेब कहते हैं कि भक्ति-चुनरी बीनने वाले भक्त लोग अवताराम एवं कल्पित रामरस में मतवाले बने हैं। वे आत्माराम पर ध्यान नहीं देते, इसलिए वे नौका अछत इसे खेने का तरीका नहीं जानते।

इस पंक्ति को दूसरे ढंग से समझने के लिए सीधा एवं सपाट अर्थ अपेक्षित है जो भावार्थ में दर्शाया गया है, वह यह है कि कबीर साहेब अपने आप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह जुलाहा दास कबीर तो स्वरूपस्थिति रूप रामरस में लीन है और यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। बीजक भर में 'माते' शब्द खंडनपरक होते हुए भी अपवादस्वरूप कहीं मंडनपरक होना असंभव नहीं है। 'कहहिं कबीर' कहने के बाद भी सद्गुरु ने अपने आप को विनम्ररूप से प्रस्तुत करने के लिए 'जोलहा' तथा 'दास कबीरा' भी कहा हो तो उन जैसे निर्मल संत के लिए स्वाभाविक ही है। यह अर्थ पहले से भी अधिक स्वाभाविक लगता है और कल्याणकारी तो इतना है कि कहना ही क्या!

जीवन जीने के पेशे अर्थात कर्म पूजा हैं

बाल बनाने, जूते टांकने, कपड़ा बुनने, कपड़ा सिलने, हल चलाने, गाय चराने, लकड़ी छीलने आदि मोटे काम के करने वालों में से कितने लोग, आज के इस प्रगतिशील-युग के शिक्षित लोग भी, अपने इन पेशों को लोगों से छिपाते हैं। वे इन सब कामों को घटिया कोटि के काम समझते हैं, जो उनकी गहरी भूल है। ये सारे काम तो इतने पवित्र हैं कि पूजा हैं। ये पूजा-तुल्य नहीं, किन्तु स्वयं पूजा हैं। इनके समान दूसरी पूजा हो ही नहीं सकती। इन सारे कामों से ही तो समाज की सेवा होती है। संसार के महापुरुषों ने अपने मोटे कहे जाने वाले पेशे को छिपाया नहीं है। करोड़ों के पूज्य श्रीकृष्ण महाराज लकुटी-कमरिया लेकर गाय चराने वाले ग्वालेरूप में प्रसिद्ध हैं जिन्हें गीता तक में बारम्बार यादव कहा गया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने अतिथियों के पैर धोने का काम लिया ही था।[1] करोड़ों के श्रद्धेय सन्त ईसा को कौन नहीं जानता है कि वे बचपन से जवानी तक लकड़ी छीलने एवं बढ़ई का काम करते थे। वे बाइबिल में बढ़ई के बेटे प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के एक जुलाहे ऋषि कहते हैं, "वरुण, मेरे पाप ने मुझे रस्सी की तरह बांध रखा है; मुझे छुड़ाओ। हम तुम्हारी जलपूर्ण नदी प्राप्त करें। बुनने के समय हमारा तन्तु कभी टूटने न पावे, असमय में यज्ञ की मात्रा कभी विफल न हो।"[2] कबीर

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३५, श्लोक १०।

२. टीका : रामगोविंद त्रिवेदी। मूल मंत्र इस प्रकार है—

साहेब जुलाहे के यहां पले थे, तो जुलाहे का काम तनना-बुनना किये ही होंगे, और यह वस्त्र-वयन का काम बड़ा ही पवित्र समाज-सेवा का काम है। भोजन के बाद मनुष्य के लिए दूसरी आवश्यकता वस्त्र ही है। भोजन-वस्त्र युग्म शब्द का प्रयोग होता है। कबीर साहेब जैसे उच्च विचारक जुलाहे के पवित्र काम को हीनभावना से कैसे देख सकते थे! कबीर कोई कच्चे धागे से नहीं बने थे। उन्होंने बीजक भर में जगह-जगह अपने आपको जुलाहा स्वीकारने में हिचक नहीं की है। इसी प्रकार रैदास, नानक, पल्टू आदि मूर्द्धन्य संतों ने अपने आपको मोची तथा बनिया कहा है। यह दूसरी बात है कि संत केवल संत होते हैं। परन्तु उन्होंने यदि जीवन जीने का कोई धन्धा अपनाया है तो वह पुनीत काम है। वैसे कृष्ण, ईसा और कबीर अपने जीवन की तरुणाई तक ही गाय चराने, लकड़ी छीलने तथा कपड़े बुनने का काम कर सके थे। इसके बाद तो वे संसार की सेवा में इस ढंग से लग गये थे कि अपने-अपने समय में लोकनायक हो गये थे। परन्तु यदि समयानुसार वे अपने पेशे के काम यदा-कदा जीवनभर करते रहे हों तो यह सोने में सुगन्ध ही है। कबीर-जैसे निर्गुणीधारा के संत परोपजीवी नहीं थे। उन्होंने कभी भिक्षा नहीं मांगी, किंतु स्वयं श्रम से जीवन जीया और लोक-कल्याण किया। यह आज के साधुओं के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा है।

दिखावा छोड़कर सरल रहो

आज महात्मा लोगों में अपने नाम के आगे-पीछे लंबे विशेषण लगाने की बड़ी भूख है। शास्त्री, आचार्य, महामंडलेश्वर, प्रतिवादभयंकर, शास्त्रार्थमहारथी, तर्कपंचानन, विद्यावाचस्पति, विद्यावागीश, विद्यावारिधि, साहित्यालंकार तथा और नये-नये विशेषण आविष्कृत कर लिये गये हैं जिन्हें अपनी कलम से अपने नाम के आगे-पीछे जोड़ते हैं। परन्तु आप पहले के ऋषियों तथा संतों को देखिए नारद, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव आदि सादे नाम हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब को देखिए तो वे अपनी पूरी वाणी में अपना नाम सादा 'कबीर' बोलते हैं। यदि कहीं विशेषण आता है तो कबीर के साथ केवल 'दास' है। इसके अलावा कुछ नहीं। अतः अपनी लेखनी से अपने हस्ताक्षर तक में नाम के आगे-पीछे संत, महंत, साहेब, स्वामी, शास्त्री, आचार्य तथा और नामालूम क्या-क्या जोड़ना कहां तक उचित है!

कितने लोग तो अपने आपको आजकल 'दास' लिखने में लज्जा करने लगे हैं, इसलिए वे अपने नाम के साथ लगे 'दास' शब्द हटा देते हैं। वे सोचते हैं कि दास तो गुलामी का शब्द है। पहले दास-प्रथा थी, उसी से उपजा शब्द दास रखना ठीक नहीं है। परन्तु गुलाम दास और संतों-भक्तों के नामों में लगे दास से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वैदिक महापुरुषों में भी यदा-कदा दास शब्द चलते थे। ऐसे ही वैदिक पुरुष हैं दिवोदास, जिनके पुत्र का नाम भी सुदास था। जिनके नाम से ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण ही है वे

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा नन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मात्रा शार्यपंशः पुर ऋतोः॥ ऋग्वेद २/२८/५ ॥

ऐतरेय महिदास थे जिनकी ब्रह्मचर्य के तेज से ११६ वर्ष तक जीवित रहने के लिए प्रशंसा की गयी है।[1] कोई अपने आपको स्वामी या साहेब लिख ले तो वह मन-इन्द्रियों पर विजयी नहीं हो जाता, परन्तु जिसने अपने मन तथा इंद्रियों पर विजय पायी है उसके नाम में कुछ भी विशेषण हो, वह स्वामी है।

कामरस छोड़कर रामरस में लीन होओ

हमें इस कहरा की आखिरी पंक्ति से सरलता और विनम्रता की आदर्श प्रेरणा मिलती है। कबीर साहेब का अपने आपको जुलाहा कहना उनकी सरलता तथा दास कहना उनकी विनम्रता है, और तीसरी बात जो उन्होंने इस पंक्ति में पहले ही कही है 'रामरस माते' उनके सारे कथनों का सार है। कबीर साहेब रामरस में निमग्न थे। यही जीवन जीने का अच्छा तरीका है। दो ही रस हैं, एक कामरस और दूसरा रामरस। जो आदमी जितना कामरस में डूबता है वह उतना ही पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता है। उसका मन सदैव वासनाओं तथा इच्छाओं में तपता रहता है। वह अभाव की अनुभूति की भट्ठी में सदैव जलता रहता है और जो रामरस में डूबा रहता है वह सदैव शीतल, सुखी एवं आनंदमय रहता है। जीवन जीने का सर्वाधिक उत्तम तरीका है रामरस में सदैव निमग्न रहना। निज स्वरूप आत्माराम में लीनता ही रामरस में निमग्नता है।

इस कहरा में सद्गुरु ने शुरू की पंक्ति में ही सहज-ध्यान में रहने का आदेश दिया है। सहज अपना चेतनस्वरूप है। अपनी चेतना में स्थित रहना ही सहज-ध्यान एवं सहज-समाधि है और यही अन्तिम पंक्ति की रामरस में मग्नता है।

सद्गुरु का प्रेम-बाण

कहरा–२

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो॥ १ ॥
अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो॥ २ ॥
नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो॥ ३ ॥
नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो॥ ४ ॥
राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो॥ ५ ॥
एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो॥ ६ ॥
आपन आपन झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो॥ ७ ॥
भैंसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो॥ ८ ॥
गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो॥ ९ ॥
पन्थी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो॥१०॥

---

१. छांदोग्य उपनिषद् ३/१६/७।

घाट छोड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे के लगबेहु तीरा हो॥११॥
जतइत के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो॥१२॥
दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठीक ठौरा हो॥१३॥
प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो॥१४॥
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो॥१५॥

शब्दार्थ—मत = राय, सम्मति, विचार, सिद्धांत। मानिक = रत्न, माणिक्य, मनुष्य, चेतन। बन्द = बंधन। निवारहु = त्याग करो। अटपट = अटपटा, टेढ़ा, ऊटपटांग, लड़खड़ाता हुआ। कुम्हरा = कुंभकार, मन। कुम्हरैया = घट बनना। चमरा गांव = चाम का शरीर। कोरिया = हिन्दू जुलाहा, जुलाहा, कर्मी जीव। पेट भरतु है = जीवनयात्रा एवं जीविका में लगता है, पैंठ, बाजार। छिपिया = छीपी, छींटें छापने वाला, कपड़े पर छींटे छापने वाला, रंगरेज, मन। नौवा = विवेकहीन, मनरूपी नाविक। बेरहि = बारम्बार। बेरा = बेड़ा, नौका। राउर = अन्तःपुर, श्रेष्ठ, चेतन। एक गाँव = शरीर। पाँच-तरुणि = पांच युवतियां, आंख, नाक, कान, जीभ, चाम ये पांच ज्ञानेन्द्रियां। जेठ = श्रेष्ठ, मन। जेठानी = बलवान, वासना। पिया = चेतन जीव। भैसिन = भैंसे, इन्द्रियां। बकुला = मन। तिकुला = ताकने योग्य, ध्यान देने योग्य स्वस्वरूप। गाइन = गायें, सात्विक पुरुष, संत। पद = पारखपद, निज चेतनस्वरूप। पन्थी = मोक्षपथ के पथिक मुमुक्षु। पन्थ = मोक्षपथ। घाट = पार उतरने की जगह। औघट = जहां से पार न उतरा जा सके। रेंगहु = रेंगना, चलना, भटकना। तीरा = किनारे, पार। जतइत = गेहूं आदि उत्तम अन्न पीसने का जांता, परलोक-सुख। कोदइत = कोदो आदि साधारण अन्न दलने का जांता, लौकिक सुख। चकरी = चक्की, जांता। दरर = दलना, पीसना, तृष्णा। ठीक ठौरा = स्थायी स्थिति। दीन्हों = मारा। गाढ़ो = ठस, खूब मजबूत। तीर = बाण। कमाना = कमान, धनुष। कहरा = यह पद, मुमुक्षुभाव। महरा = कहारों का प्रधान, तात्पर्य में निजस्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे चेतन-रत्न मनुष्य! मेरे विचारों को सुनो, और अपने हृदय के बंधनों का त्याग करो॥१॥ यह मनरूपी कुम्हार तो अटपटा कुम्हारपन करता है, अर्थात बारम्बार शरीर रूपी घट की रचना करता है, परंतु यह चमड़े का गांव शरीर तो टिकता नहीं, थोड़े दिनों में नष्ट हो जाता है॥२॥ जैसे रोज सुबह उठकर जुलाहे जीवन-निर्वाह के लिए कपड़े बुनते तथा उन्हें ले जाकर बाजार में दुकान लगाते हैं और रंगरेज उनके कपड़े छापने के लिए उनके आंगन में बारम्बार आते हैं, वैसे कर्मी जीव नाना शुभाशुभ कर्म कर अपने हृदय-बाजार को कर्म-पट से भरते हैं और उन कर्म-पटों में नाना विषय-रंग भरने वाला मन रंगरेज हृदय-आंगन में नाचता है॥३॥ रोज नींद से जागकर यह अविवेकी मनरूपी नाविक शरीर-रूपी नाव पर तो सवार होता है, परंतु वह इसे दिनभर बारम्बार विषय-नदी में डुबाता रहता है॥४॥ यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर को तथा इस शरीर में निवास करने वाले चेतन-सम्राट को जानता नहीं है, फिर वासनाओं का द्वंद्व कैसे दूर कर सकता है!॥५॥ इस शरीररूपी एक गांव में पांच ज्ञानेंद्रियांरूपी युवतियां रहती हैं जिनमें मन तथा वासना महाबलवान एवं बलवती हैं॥६॥ ये सब अपने-अपने विषय-भोगों के लिए झगड़े में लगी हैं और प्रियतम पीव चेतनात्मा से प्रेम नष्ट कर दिये हैं॥७॥

जैसे बगले भैंसों के शरीर के कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके दल में रहते हैं वैसे यह मलिन मन इंद्रियों के साथ उनके भोगों को भोगने के लिए लगा रहता है। यह मलिन मन ध्यान योग्य आत्माराम पर लक्ष्य नहीं देता ॥८॥ यह मन सत्पुरुषों एवं संतों की संगत में कभी बैठने को सोचता ही नहीं। फिर निज पारखपद एवं आत्माराम को कैसे पहचानेगा! ॥९॥ जैसे कोई महामूढ़ एवं गंवार आदमी किसी जानकार से रास्ता पूछे बिना चलता हो, वैसे यह मूढ़ तथा अहंकारी मानव जीवन के पथ में बिना गुरुजनों से पूछे ही चलता है ॥१०॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तुम घाट छोड़कर कुघाट में क्यों भटक रहे हो? तुम कैसे पार जा सकोगे? ॥११॥ मनुष्य का मन पारलौकिक सुखों के लिए ललचाता है इसलिए क्षण में उसी धन की खोज में पड़ जाता है। इतने में उसका मन लौकिक सुखों को पाने के लिए दौड़ने लगता है ॥१२॥ सद्गुरु कहते हैं कि इन दो चक्कियों के बीच में अपने मन को पीसकर तृष्णा मत फैलाओ, तभी तुम स्थायी शांति पा सकोगे ॥१३॥ सद्गुरु ने मजबूत तीर-कमान से एक प्रेम-बाण मुझे मारा है ॥१४॥ अतएव प्रेम-बाण से आहत विनम्र कबीर ने यह कहरा गाया है और अपने आत्माराम में लीन हो गया है ॥१५॥

व्याख्या—"मत सुनु मानिक मन सुनु मानिक, हृदया बन्द निवारहु हो।" सद्गुरु इस पंक्ति में मनुष्य को मानिक कहते हैं। गुलाबी या लाल रंग का एक रत्न होता है उसे माणिक्य कहते हैं। इसी का सरलीकरण कर मानिक शब्द कहा जाता है। संसार में जितने मणि-माणिक्य हैं सब जड़-पत्थर हैं। मनुष्य-जैसा माणिक होना ही असंभव है। यदि मनुष्य न होता तो मणि-माणिक्य की परख एवं उनका मूल्यांकन कौन करता! मनुष्य चेतन है, इसलिए वह सर्वोच्च मणि-माणिक्य है। सद्गुरु कहते हैं कि हे नर-रत्न! तू मेरे मत को सुन! मत का अर्थ है विचार, ज्ञान की बातें। कबीर साहेब का कोई ऐसा मत नहीं है जो किसी तथाकथित ईश्वर, अवतार तथा पैगम्बर के संदेश का मतवाद एवं सांप्रदायिकता हो। उनका मत तो सार्वभौमिक सत्य है। वे कहते हैं कि हे नर-रत्न! तुम अपने हृदय के बंधनों को दूर कर दो, मन की गुलामी की जंजीर तोड़कर फेंक दो। तुम रत्न हो, सर्वोच्च हो, परन्तु तुम मन की मलिनता में फंस गये हो। तुम्हारा मन तुच्छ विषयों का गुलाम हो गया है। इस गुलामी का परिणाम यह हुआ है कि तुम मूलतः महत्तम होकर भी दीन बन गये हो। विषयासक्तिवश तुममें इतनी कायरता पैदा हो गयी है कि तुम्हें यह अनुभव ही नहीं होता है कि तुम विषय-बंधनों से अलग हो। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि मैं तुम्हें याद दिलाता हूं कि तुम महान हो। तुम अपने स्वरूप की याद करो। मन को सारी विषयासक्ति के बंधनों से उन्मुक्त करो, फिर तो देखोगे तुम्हारे जीवन में केवल आनन्द-आनन्द रहेगा।

"अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गाँव न बाँचे हो।" यह मन अटपटा कुम्हार है। इसका कुम्हारपन भी ऊटपटांग ही है। यह नाना आशा के महल बनाता है जो क्षणमात्र में भहरा जाता है। अथवा इसके संस्कारों से ही तो इस शरीररूपी घड़े का निर्माण होता है। परन्तु यह चमड़े का गांव-शरीर बचता नहीं है। यह थोड़े दिनों में जल जाता है, गल जाता है तथा जंतुओं का आहार हो जाता है। यह विषय-बंधनों में डूबा

सकता है! अथवा हृदय-निवासी, चेतन-सम्राट का उसे बोध नहीं है तो वह कैसे भवपार होगा! इस पंक्ति में राउर के अर्थ—अन्तःपुर तथा सम्राट-चेतन, दोनों महत्वपूर्ण हैं। हम पहले अन्तःपुर वाले अर्थ को लें। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की खबर नहीं है कि उसमें क्षण-क्षण क्या हो रहा है, तो तुम्हारे मन का झगड़ा कैसे मिट सकता है! जो अपने हृदय की गतिविधि को नहीं देख पाता वह हृदय की उलझनों को कैसे सुलझा सकता है! साधक वही है जो अपने हृदय को, अपने अन्तःपुर को सदैव देखता रहता है, और जो अपने हृदय को देखता रहता है उसका मन सुलझ जाता है। राउर का दूसरा अर्थ चेतन-सम्राट है। जिसे यह बोध नहीं है कि इस शरीर में विद्यमान चेतन-सम्राट ही निजस्वरूप है, वह सदैव अकिंचन बना भटकता रहता है।

"एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो। आपन आपन झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो।" यह शरीर एक गांव है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी पांच युवतियां बसती हैं। ये बड़ी बलवान हैं। परंतु इनमें भी जेष्ठ-श्रेष्ठ मन है तथा एक जेठानी अति बलवान वासना है। ये सब अपने-अपने विषयों के भोग के लिए उन्मादी हैं। ये अपने-अपने भोगों के लिए झगड़ते रहते हैं। इस झगड़े में पड़कर इन युवतियों ने अपने चेतन-पति का प्रेम नष्ट कर दिया है। इन्द्रिय और वासनाओं की बलवत्ता का अनुभव सबको है। यदि इनसे साधक सावधान न रहे तो इनके चक्कर में पड़कर वह कब भूल जायेगा इसका ठिकाना नहीं है। मनुष्य का मन इन्द्रियों के भोगों में जितना डूबता है उतना स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से विमुख होता है। आदमी विषयरस ले या रामरस ले, दोनों में एक ही हो सकता है। एक काल में दोनों रस का एक साथ अनुभव कर पाना असंभव है। विषयरस मनुष्य को क्षीण करता है तथा रामरस बलवान बनाता है। विषयरस मलिनतापूर्ण है, रामरस स्वच्छ है। विषयरस का परिणाम भय, दुख एवं पीड़ा-पर-पीड़ा है और रामरस का परिणाम निर्भयता, सुख एवं आनन्द-आनन्द है।

"भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो।" बगले-पक्षी भैंसों के बीच में रहते हैं। जब भैंस-भैंसे मैदान में चरते हैं तब बगले उनके शरीर में लगे कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके आगे-पीछे सिर पर, धड़ पर, पूंछ पर तथा अन्य अंगों पर बैठते हैं। मन की दशा यही है। यह मलिन मन इन्द्रियों के गंदे विषयों के साथ लगा रहता है, क्योंकि इसे गंदगी ही पसंद है। यह तो जब व्यक्ति की सही समझ होगी और वह अपनी साधना से बगले-मन को हंस बना देगा तब मन इन्द्रिय-विषयों का साथ छोड़ कर ज्ञान के मोती चुगने लगेगा। साहेब कहते हैं कि मनुष्य का मन तो बगला बना है। वह सदैव इन्द्रियों की मलिनताओं में ही डूबा रहता है, इसलिए ध्यान योग्य आत्माराम में लीन नहीं होता।

"गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो।" हम सात्विकों, सज्जनों एवं सन्तों के पास बसते ही नहीं हैं तो अपने पद को कैसे पहचानेंगे! हम विषयों के चिन्तन एवं भोगों में क्यों डूबे हैं? क्योंकि हमें अपने पद का, अपने स्वरूप का एवं अपने आपा का ख्याल नहीं है। उसकी पहचान एवं परख नहीं है। पहचान इसलिए नहीं है, क्योंकि हम सत्संग नहीं करते। बिना सत्संग के किसी का जीवन बदल नहीं सकता।

मन ही मानो शरीर का बारंबार निर्माण करता है, जो निर्माण के सा
में जाने लगता है।

"नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाँचे हो।" ज
में रोज उठकर कपड़ों से बाजार भरते हैं। पेट यहां पैंठ भी माना जा
के लिए प्रयुक्त होता है। जुलाहे रोज बाजार में कपड़े की दुकान ल
उनके आंगन में जा-जाकर उनके कपड़े रंगने का काम करते हैं। यह
कर्मरूपी वस्त्र बुनता है और रोज अपने हृदय-बाजार में उसे भरता
छीपी है, कर्म-वस्त्र पर भाव के रंग छापने वाला है। यह मन-छीपी, र
जीव के हृदय-आंगन में नाचता रहता है और अनेक भावनाओं के
छापता रहता है। इस प्रकार जीव सांसारिक कर्म और वासनाओं के ज
है।

"नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो।" यह मन
रोज सुबह उठकर शरीररूपी नौका पर सवार होता है, परन्तु दुख यह
विषय-वासनाओं की नदी में डुबाता रहता है। नाविक ऐसा मूर्ख हो
जानता हो और नौका चलाता हो, तो वह उसे डुबायेगा ही। यह मन-न
यह नींद खुलते ही रोज शरीर-नौका को चलाना शुरू करता है, पर
जागता है, असंख्य बार इस नौका को विषयों की नदी में डुबाता रहता
जब नींद खुले तब से जब पुनः रात में सोने चलें, तब तक मन की स
गतिविधियों को एक कागज पर लिखते जाइये, तो देखिएगा कि एक दि
ने कितनी बार आपकी नौका को भवसागर में डुबाया है। यह तो
विषय है। दूसरों की बुराइयों की आलोचना करने में क्या लगता है!
बुराइयों को देखता है उसकी आंखें दूसरों की बुराइयों की तरफ से बंद ह
हम हर क्षण अपने मन को देखें तो दूसरों के दोषों को उछालना बंद क
हम पूर्ण शुद्ध मन के हो जायें तो दूसरों के कूड़ा-कचड़ा को अपने मन
देंगे। सद्गुरु कहते हैं कि मन-नाविक ऐसा ऊटपटांग है कि हर समय नौ
में डुबाता रहता है।

"राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे कै झगरा निबेरहु हो।" पूर्वी
पश्चिमी बिहार में राउ, राउर, रउआं आदि शब्द आदर-सूचक के रूप में
राउ तथा रउआं तो केवल आदर-सूचक हैं जिनका अर्थ राजा होता है।
भाव सूचक है। वैसे 'राउर' शब्द राजाओं के अंतःपुर एवं जनानखाना के
होता है। जैसे गोस्वामी जी ने लिखा है 'गे सुमंत तब राउर माहीं।' अ
राजा के अन्तःपुर में गये। यहां राउर[1] (राज+पुर, राऊ+पुर) अन्तःपुर अ
भी अर्थ है। सद्गुरु कहते हैं कि यह मूढ़ मन अपने हृदयरूपी अन्तःपुर
नहीं जानता है कि वहां क्या-क्या हो रहा है तब उसमें होते हुए द्वन्द्व को

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

सकता है! अथवा हृदय-निवासी, चेतन-सम्राट का उसे बोध नहीं है तो वह कैसे भवपार होगा! इस पंक्ति में राउर के अर्थ—अन्तःपुर तथा सम्राट-चेतन, दोनों महत्वपूर्ण हैं। हम पहले अन्तःपुर वाले अर्थ को लें। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हें अपने हृदयरूपी अन्तःपुर की खबर नहीं है कि उसमें क्षण-क्षण क्या हो रहा है, तो तुम्हारे मन का झगड़ा कैसे मिट सकता है! जो अपने हृदय की गतिविधि को नहीं देख पाता वह हृदय की उलझनों को कैसे सुलझा सकता है! साधक वही है जो अपने हृदय को, अपने अन्तःपुर को सदैव देखता रहता है, और जो अपने हृदय को देखता रहता है उसका मन सुलझ जाता है। राउर का दूसरा अर्थ चेतन-सम्राट है। जिसे यह बोध नहीं है कि इस शरीर में विद्यमान चेतन-सम्राट ही निजस्वरूप है, वह सदैव अकिंचन बना भटकता रहता है।

"एक गाँव में पाँच तरुनि बसे, जेहिमा जेठ जेठानी हो। आपन आपन झगरा प्रकासिनि, पिया सों प्रीति नसाइनि हो।" यह शरीर एक गांव है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियांरूपी पांच युवतियां बसती हैं। ये बड़ी बलवान हैं। परंतु इनमें भी जेष्ठ-श्रेष्ठ मन है तथा एक जेठानी अति बलवान वासना है। ये सब अपने-अपने विषयों के भोग के लिए उन्मादी हैं। ये अपने-अपने भोगों के लिए झगड़ते रहते हैं। इस झगड़े में पड़कर इन युवतियों ने अपने चेतन-पति का प्रेम नष्ट कर दिया है। इन्द्रिय और वासनाओं की बलवत्ता का अनुभव सबको है। यदि इनसे साधक सावधान न रहे तो इनके चक्कर में पड़कर वह कब भूल जायेगा इसका ठिकाना नहीं है। मनुष्य का मन इन्द्रियों के भोगों में जितना डूबता है उतना स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान से विमुख होता है। आदमी विषयरस ले या रामरस ले, दोनों में एक ही हो सकता है। एक काल में दोनों रस का एक साथ अनुभव कर पाना असंभव है। विषयरस मनुष्य को क्षीण करता है तथा रामरस बलवान बनाता है। विषयरस मलिनतापूर्ण है, रामरस स्वच्छ है। विषयरस का परिणाम भय, दुख एवं पीड़ा-पर-पीड़ा है और रामरस का परिणाम निर्भयता, सुख एवं आनन्द-आनन्द है।

"भैसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो।" बगले-पक्षी भैंसों के बीच में रहते हैं। जब भैंस-भैंसे मैदान में चरते हैं तब बगले उनके शरीर में लगे कचड़े तथा कीड़ों को खाने के लिए उनके आगे-पीछे सिर पर, धड़ पर, पूंछ पर तथा अन्य अंगों पर बैठते हैं। मन की दशा यही है। यह मलिन मन इन्द्रियों के गंदे विषयों के साथ लगा रहता है, क्योंकि इसे गंदगी ही पसंद है। यह तो जब व्यक्ति की सही समझ होगी और वह अपनी साधना से बगले-मन को हंस बना देगा तब मन इन्द्रिय-विषयों का साथ छोड़ कर ज्ञान के मोती चुगने लगेगा। साहेब कहते हैं कि मनुष्य का मन तो बगला बना है। वह सदैव इन्द्रियों की मलिनताओं में ही डूबा रहता है, इसलिए ध्यान योग्य आत्माराम में लीन नहीं होता।

"गाइन माँहि बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेक पद पहिचनबेउ हो।" हम सात्विकों, सज्जनों एवं सन्तों के पास बसते ही नहीं हैं तो अपने पद को कैसे पहचानेंगे! हम विषयों के चिन्तन एवं भोगों में क्यों डूबे हैं? क्योंकि हमें अपने पद का, अपने स्वरूप का एवं अपने आपा का ख्याल नहीं है। उसकी पहचान एवं परख नहीं है। पहचान इसलिए नहीं है, क्योंकि हम सत्संग नहीं करते। बिना सत्संग के किसी का जीवन बदल नहीं सकता।

देख-सुनकर रंग चढ़ता है। गलत संगत से मन गलत की तरफ जाता
से मन सही की तरफ जाता है। जब तक हम अच्छी संगत नहीं करें
एवं संतों के पास नहीं बैठेंगे, सद्ग्रन्थ नहीं पढ़ेंगे, तब तक हमें अप
पहचान एवं परख कैसे होगी!

"पन्थी पन्थ बूझि नहिं लीन्हा, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो। घाट छोड़ि
कैसे कै लगबेहु तीरा हो।" यदि पथिक अपना पथ जानकारों से पूछकर
बिना विचारे ही चल देता है तो वह केवल मूढ़, गंवार तथा अहंकारी
होने से घाट पर न पहुंचकर कुघाट पर पहुंच जायेगा, इसलिए नदी पा
कितने साधक ऐसे होते हैं जो अहंकारी होते हैं। वे किसी से कोई
पूछते कि उनको पूज्य मानना पड़ेगा। वे जो दूसरों से ज्ञान पाये भी रहे
करेंगे कि जिससे लोग समझें कि यह इनका अपना अनुभव है। इन्होंने
नहीं सीखा है। दूसरे को गुरु न मानना पड़े, उपासना, सेवा तथा विन
करना पड़े, इस लक्ष्य से ऐसे लोग अपने आप को सबसे बचाते हैं।
ऐसे लोग केवल मूढ़ हैं। "मूढ़हि मूढ़" का अर्थ होता है मूढ़-ही-मूढ़
और इतना ही नहीं, वे गंवार भी हैं। गंवार का अर्थ केवल गांव
होता। गांव में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो बहुत सुसभ्य एवं
शहर में रहने वालों में भी कितने ऐसे हैं जो मूढ़ तथा उजड्ड हैं। इ
अशिक्षित की भी बात है। कितने शिक्षित कहे जाने वाले मूढ़, उजड्ड,
हुए हैं और कितने अशिक्षित कहे जाने वाले बुद्धिमान, सुसभ्य एवं
का अर्थ केवल गांव में रहने वाला करना ठीक नहीं है। यहां गंवार
अनाड़ी एवं उजड्ड। जो व्यक्ति सज्जनों एवं संतों से विनयावनत होक
ग्रहण करता है वह मूढ़ है, अनाड़ी है, उजड्ड है तथा अहंकारी है। ऐ
सही नहीं होता है और न उसका व्यक्तित्व ही अच्छा निर्मित होता है।
ज्ञान के लिए तत्संबंधी सच्चे अनुभवी गुरु से सीख ग्रहण करने की
होती है। इसके लिए उसकी विनम्रतापूर्वक सेवा करना चाहिए तथा विन
बातें पूछना चाहिए। अपने आप को ज्ञानी जताते हुए प्रश्न करना अपन
करना है। जो साधक गुरुजनों की विनम्रतापूर्वक शरण लिये बिना, सेव
उनसे सच्चा रास्ता जाने बिना चलता है वह मूढ़ है और उसे भट
सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोग घाट छोड़कर कुघाट में भटकते हैं। गलत
आदमी कुघाट पर पहुंच जाता है और कुघाट से उतरा नहीं जा सक
उतरा जा सकता है।

"जतइत के धन हेरिन ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।"
उत्तम अन्न पीसे जाते हैं और कोदइत में कोदौ आदि साधारण अन्न पीसे
जतइत का धन सुने हुए परलोक के सुख हैं तथा कोदइत का धन इस
सद्गुरु कहते हैं कि श्रुति एवं नाना मतों के पुराणों में मनुष्य परलोक
सुखों का बड़ा आकर्षक रूप पढ़ते तथा सुनते हैं। इसलिए उनके मन

लेए लालच पैदा होता है, और उन्हीं की खोज में वे पड़े रहते हैं। इधर इस लोक के ी विषय-सुखों को देखकर इधर भी उनका मन दौड़ता है। इस प्रकार संसारी मनुष्यों का मन लोक-परलोक के विषय-सुखों के लिए ललचाता तथा दौड़ता रहता है। सद्गुरु कहते हैं "दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहौ ठीक ठौरा हो।" अर्थात इन दोनों ांतों में अपने मन को मत पीसो, तभी ठीक ठौर पाओगे। मनुष्य अपने मन को लोक था परलोक के कल्पित सुखों के जांते में पीसता है। अर्थात उसका मन सदैव लोक के ुखों के स्मरणों में पिसता है या कल्पित स्वर्गादि के सुखों के स्मरणों में पिसता है। हर ालत में मनुष्य का मन विषयों में डूबा रहता है वह चाहे लोक के हों या परलोक के। ाहेब कहते हैं जब तुम लोक और परलोक के विषय-सुखों से अपने मन को एकदम छुड़ा ोगे तभी ठीक ठौर पाओगे। ठीक ठौर क्या है? वस्तुतः ठीक ठौर वह है जहां से कोई ठा न सके। जो आदमी किसी सभा में जाकर गलत जगह बैठता है, वह वहां से उठा दिया जा सकता है, परन्तु जो अपनी उपयुक्त जगह पर बैठता है उसे कोई नहीं उठाता। ोक-परलोक और सारे विषय-सुख तुम्हारे लिए उपयुक्त जगह नहीं हैं। वे तुम्हारे ीक ठौर नहीं हैं। वहां तुम्हें स्थायी निवास मिल ही नहीं सकता। इसलिए जब तुम ोक-परलोक के सारे सुखों की तृष्णा छोड़ दोगे, तब तुम्हारा मन अपनी अंतरात्मा में ीन हो जायेगा और तब तुम्हें मानो ठीक ठौर मिल गया। लोक-परलोक के सारे सुख ाणभंगुर तथा छूटने वाले हैं, फिर उनमें स्थायित्व कहां मिल सकता है! परन्तु तुम्हारी ात्मा तुमसे कभी नहीं छूट सकती, इसलिए तुम अपनी आत्मा में ही स्थायी ठौर पा ाकते हो। जब तक लोक-परलोक के माने हुए विषय-सुखों की वासना नहीं छूटेगी तब ाक मन अंतरात्मा में स्थित नहीं होगा और तब तक तुम्हें स्थायी स्थिति नहीं मिलेगी। ासलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे शांति-इच्छुक! लोक-परलोक के मिथ्या सुखों की तृष्णा ्वं वासना का त्याग करो तब तुम स्थायी शांति एवं स्थिति पाओगे। अनन्त सुख पाने के लेए तुच्छ सुख छोड़ना पड़ेगा और दिव्य स्थिति पाने के लिए मलिन स्थिति से ऊपर ठना पड़ेगा।

"प्रेम बाण एक सद्गुरु दीन्हों, गाढ़ो तीर कमाना हो।" सद्गुरु के तीर-कमान बड़े ाजबूत हैं। उन्होंने मेरे हृदय में अपना प्रेम-बाण ऐसे जोर से मारा है कि वह अब इस ीवन में निकलने वाला नहीं है। संसार का प्रेम तो थोथा है, और इसका फल भी ांसारिकता तक है तथा बंधनप्रद भी; परंतु सद्गुरु का प्रेम तो उच्चतम है। उनके प्रेम के ापेट में आने वाले व्यक्ति भव-बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। सद्गुरु के प्रेम का फल अनन्त ांति है। सद्गुरु अपना प्रेम-बाण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पर चलाते हैं और वह जिसको लग ाता है वह संसार के लिए बेकाम हो जाता है। बाण यदि हृदय में लग जाय तो आदमी ार जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु का प्रेम-बाण जिसके हृदय में लग जाता है वह संसार से ार जाता है। वह संसार के लिए बेकार हो जाता है। परन्तु ध्यान रहे, वह संसार के लिए ारदानस्वरूप होता है। संसार के लोग मानसिक तापों में तपते हैं। संसार से बेकाम हुए ांत तो शीतल हो जाते हैं। वे लोगों को शीतलता देने वाले जगत-त्राता होते हैं। संसार ो बेकाम होने का मतलब यह है कि वे संसार के भोगों से विरत हो जाते हैं। परन्तु जो

संसार के भोगों से विरत हो जाता है वह संसार के लिए कल्याणकारक हो जाता है। भोगी संसार को कष्ट देता है और त्यागी संसार को सुख देता है।

"दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो।" कहरा और महरा ये दो शब्द इस पंक्ति में महत्वपूर्ण हैं। प्रथम कहरा की व्याख्या की शुरुआत में ही बताया गया है कि कहरा नाम की एक जाति होती है, उसके गाये गीत को भी कहरा या कहरवा कहते हैं और उसके नाच को कहरा या कहरवा कहते हैं। कहरा का अर्थ अरबी भाषा के कह्र से भी लिया जा सकता है जिसका तात्पर्य होता है बला, आफत एवं जुल्म। पहले वाले अर्थ में होगा कि विनम्र कबीर ने यह कहरा-पद रचा है, अथवा इस पद के भाव को हृदयंगम किया है और वह महरा में समा गया है। व्यक्तिवाचक कहरा को ही महरा कहते हैं। हां, कहीं-कहीं महरा उसे कहते हैं जो कहरा में श्रेष्ठ होता है। अतएव यहां कहरा साधारण दशा है तथा महरा शुद्ध दशा है। सार अर्थ हुआ कि कबीर कहरा की स्थिति बतलाकर महरा में लीन हो गये। अर्थात उन्होंने मनुष्य के बंधन, उसके मन, कर्म-इन्द्रियों की विवशता, मूढ़ता, लोक-परलोक की वासना आदि का परिचय दिया और लोगों को बताया कि सारे बंधनों को छोड़कर मुक्त हो रहो और स्वयं अपनी आत्मा में लीन हो गये। ध्यान रहे, कहरा से महरा अलग नहीं होता। कहारों में जो बुद्धि तथा अवस्था में श्रेष्ठ हो जाता है उसे महरा कहा जाता है। इसी प्रकार जीव से शिव अथवा पारख पृथक नहीं है, किन्तु वही जीव जब अपने स्वरूप को पहचानकर सारी विषय-वासनाओं का त्याग कर देता है तब शिव हो जाता है, पारख हो जाता है एवं कृतार्थ हो जाता है। अतएव बुजुर्ग कहरा ही महरा है और शुद्ध जीव ही शिव है।

यदि कहरा कह्र के रूप में मानकर उसका अर्थ जुल्म माना जाय तो अर्थ होगा कि जब कबीर पर सद्गुरु का प्रेम-बाण लगा तब मानो एक जुल्म हो गया और वह संसार के सारे मोह को छोड़कर निजस्वरूप में लीन हो गया। किसी के सीने में बाण लग जाय तो उसके ऊपर मानो कहर, विपत्ति एवं बला ही है। इसी प्रकार जिसके हृदय में सद्गुरु का प्रेम-बाण लग जाता है उसके ऊपर मानो जुल्म हो जाता है या वह स्वयं जुल्म कर बैठता है। वह सारे संसार का राग छोड़ देता है। वह काम से विमुख होकर राम में लीन हो जाता है। संसार के लोग इसे जुल्म मानते हैं। परन्तु ऐसा जुल्म ही साधक के लिए पुण्य का काम है। संसार की त्यागरूपी विपत्ति ही साधक की परम संपत्ति है।

तुम्हारी अंतरात्मा ही राम है और वासना-त्याग ही पूजा है

कहरा—३

राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो॥ १॥
और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो॥ २॥
ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो॥ ३॥
तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो॥ ४॥
मुख के दाँत गये कहा भौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो॥ ५॥

फिर-फिर चना चबाय विषय के, काम क्रोध मद लोभ के हो॥ ६ ॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, सकल सयाना पहुँना हो॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बीरा = शूर-वीर, शक्तिशाली चेतन। और = अन्य, दूसरे। बौरे = पागल, भोला। कारो = काला, मलिनता। बारो = बालक। संज्ञा = चेतना, बोध, ज्ञान, होश। दिलासा = आश्वासन, सांत्वना, धीरज, यहां का अर्थ है उमंग। सयाना = बुद्धिमान, चालाक।

भावार्थ—हे विवेक-वीरो! जीभ से राम-राम क्या रट रहे हो! राम तुमसे दूर नहीं है। तुम्हारी दुराशा ने ही उसे दूर कर दिया है॥१॥ हे पगले, राम को छोड़कर दूसरे देवताओं को क्या पूजता है? उनसे कल्याण की आशा करना व्यर्थ है॥२॥ हे भोले! ऊपर से उजले कपड़े पहनने से या बाल उजले होने से क्या हुआ यदि आज भी भीतर में मैल भरा है॥३॥ हे पगले! मात्र शरीर बूढ़ा होने से क्या होता है यदि मन आज भी बालक बना बांसों उछल रहा है॥४॥ हे गंवार! मुख के दांत उखड़ जाने से क्या हुआ जब भीतर तृष्णा के लोहे-जैसे मजबूत दांत लगे हैं, और उनसे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विषय के चने बारम्बार चबाये जाते हैं॥५-६॥ शरीर अत्यंत वृद्ध होने से उसके सारे अंगों की चेतना बहुत कम हो गयी, परंतु मन की उमंगें दुगुनी बढ़ गयी हैं॥७॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! सभी बुद्धिमान इस संसार में दो दिन के पहुने हैं॥८॥

व्याख्या—कबीर साहेब हमारे अज्ञान के हर पहलू पर चोट करते हैं। इस कहरा में उनके द्वारा अज्ञान के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह राम को अपने से अलग मानकर उसे पुकार रहा है। यहां राम का अर्थ परमतत्व है जिसके ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, अल्लाह, गॉड आदि बीसियों पर्यायवाची शब्द गिनाये जा सकते हैं। लोग राम-राम, ईश्वर-ईश्वर, अल्लाह-अल्लाह रटे जा रहे हैं। मालूम होता है कि वह कहीं सातवें आसमान पर बैठा है, और उसे पुकार-पुकारकर यह जताया जा रहा है कि हम तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हें चाहते हैं, तुम आकर मुझे दर्शन दो और ले चलो मुझे अपने धाम! परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। साहेब इस कहरा में पहली पंक्ति में कहते हैं "राम नाम का सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आशा हो।" हे वीरो! राम-नाम क्या रटते हो! वह तुमसे दूर नहीं है, केवल तुमने मान लिया है वह दूर है। वस्तुतः मनुष्य की आत्मा से अलग कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमतत्व हो। इसलिए मनुष्य को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं है। पुकारने से कुछ मिलने वाला नहीं है। क्योंकि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई कुछ देने वाला नहीं है। यह बात अलग है कि जब मनुष्य कोई पवित्र नाम लेता है तब उसका मन उसी में लगे होने से दुष्प्रवृत्तियां उस समय हट जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मन एक समय एक ही भाव को ग्रहण कर सकता है। यदि मन में काम है तो उस समय क्रोध नहीं रह सकता और यदि क्रोध है तो काम नहीं रह सकता, जबकि ये एक दूसरे के सहयोगी हैं। कोई एक मनोभाव रहने से दूसरा नहीं रहता। ध्यान रहे! किसी नाम या मंत्र जप से आपका मनोभाव कुछ समय के लिए शुद्ध

इन्हें यह होश-हवास नहीं है किं ये संसार में केवल चार दिन के पहुने हैं। भोग तथा भोग-संग्रह में अपनी बुद्धिमानी दिखाने वाले और छल-कपट एवं बलात करके दूसरों के संग्रह पर हाथ साफ करने वाले अपने पापों की गठरी लादकर चले गये, परन्तु उनके साथ संग्रहीत धन में से एक कौड़ी भी नहीं गयी। सद्गुरु ने साखी-ग्रंथ में कहा है—"हम जानी ये खायंगे, बहुत जिमी बहु माल। ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकरि ले गया काल॥"

सद्गुरु ने इस पूरे कहरा में यह बतलाया है कि राम को बाहर मत पुकारो। तुम्हारी अन्तरात्मा ही राम है, परमात्मा है, इससे अलग देवी-देवता व्यर्थ हैं। उनके चक्कर में पड़ो मत। बस, जीवन के पवित्र आचरण ही मानो पूजा-पाठ हैं। केवल बाहर के उज्ज्वल वेष और शरीर की वृद्धता आत्मशांति में सहायक नहीं होंगे। इसके लिए इंद्रियों तथा मन के विषयों एवं तृष्णाओं का त्याग होना चाहिए।

मन की अवधारणा में मत अटको

कहरा—४

ओढ़न मोरा राम नाम, मैं रामहि का बनजारा हो॥ १॥
राम नाम का करहु बनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो॥ २॥
सहस्र नाम का करों पसारा, दिन-दिन होत सवाई हो॥ ३॥
जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो॥ ४॥
कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो॥ ५॥
सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो॥ ६॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई हो॥ ७॥

शब्दार्थ—ओढ़न = ठंडी-गरमी निवारण के लिए ओढ़ना, रक्षक। बनजारा = व्यापारी। हटवाई = दुकानदारी। पसारा = फैलाव, प्रचार। देव = त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव। कानि तराजू = पसंगेदार तराजू, गलत तराजू, असंतुलित बुद्धि। तुकिनी = तुक दिया, कह दिया, कान में नाम सुना दिया। पासंग = तराजू का टेढ़ापन, बुद्धि का असंतुलन। जोर = हठकर। जहँड़ाई = ठगाना, गंवाना, हानि उठाना।

भावार्थ—नामोपासक कहता है कि राम-नाम जप ही मानो मेरा ओढ़ना एवं रक्षक है और मैं राम-नाम का ही व्यापारी हूं। मैं राम-नाम का ही व्यापार करता हूं॥१॥ हरि ही मेरी दुकानदारी का विषय है॥२॥ मैं हजारों नाम का प्रचार करता हूं और दिन-दिन यह प्रचार सवाया बढ़ता जाता है॥३॥ सद्गुरु कहते हैं कि जिस परोक्ष ईश्वर के पक्ष में त्रिदेवों तथा वेदों ने अपने विचार रखे हैं उसी की सर्वत्र दुकानदारी हो रही है॥४॥ परंतु इस दुकानदारी में तराजू टेढ़ा और पसंगेदार है तथा सेर तीन ही पाव का है। अर्थात यह व्यापार संतुलित बुद्धि से नहीं हो रहा है और सारे विचार त्रिगुण-माया तक हैं। गुरु लोग ढोल-मंजीरा बजाकर शिष्यों के कान में कोई मंत्र सुना देते हैं और इतने में उन्हें मुक्ति का

झांसा दे दिया जाता है।।५।। यदि ये सेर-पसेरी सही भी कर लें तो भी तराजू का पसंगेदार होना एवं टेढ़ापन मिट नहीं सकता। अर्थात मन और इंद्रियां तथा सदाचार ठीक कर आत्मतत्व का विवेचन करें तो भी बुद्धि असंतुलित होने से निजरूप की ठीक परख नहीं कर सकते।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! ये हठपूर्वक कुपथ में चलकर अपने आप को ठगा बैठे हैं।।७।।

व्याख्या—वैसे किसी प्रकार नाम-जप, संकीर्तन, नमाज, प्रार्थना, आत्मा से अलग ईश्वर मानकर उसकी किसी ढंग से उपासना यह सब किसी-न-किसी के लिए किसी-न-किसी प्रकार कुछ-न-कुछ हितकर ही है। परन्तु यहां वास्तविकता एवं यथार्थ बोध की बात की जा रही है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम-नाम या अन्य किसी प्रकार के नाम के जप को ही सर्वोपरि महत्व देने लगते हैं। वे कहते हैं कि हम तो नाम-जप के ही व्यापारी हैं। भगवान के सहस्र नाम का प्रचार करना तथा उसी का क्रय-विक्रय करना मेरा काम है। क्योंकि यह नाम-जप एवं संकीर्तन ही मेरा रक्षक है।

साहेब कहते हैं "जाके देव वेद पछ राखा, ताके होत हटवाई हो।" वेदों के हजारों मंत्रों में किन्हीं परोक्ष देव एवं ईश्वर की प्रार्थनाएं हैं और उनसे बारम्बार भक्तों ने भोग तथा मोक्ष मांगा है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा अन्य देवों के द्वारा भी बारम्बार यही कहलाया गया है कि मनुष्य की आत्मा से अलग कोई है जो प्रार्थना करने पर खुश होकर सब कुछ दे सकता है। इसी कल्पित ईश्वर की दुकान सर्वत्र चल रही है। प्रायः मतवादी लोग स्वयं श्रम, सदाचार एवं साधना से नहीं, किन्तु प्रार्थना के बल पर किसी के अनुग्रह से सब कुछ पाना चाहते हैं।

"कानि तराजू सेर तिनि पउवा, तुकिनी ढोल बजाई हो।" साहेब कहते हैं कि उक्त बातें सोचना एवं तौलना पसंगेदार तराजू का फल है। कानि तराजू का अर्थ है टेढ़ा एवं पसंगेदार तराजू। इसका लाक्षणिक अर्थ है असंतुलित बुद्धि। असंतुलित बुद्धि से ही यह बात मानी जाती है कि हमारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। वस्तुतः हमारा उद्धार हमारे सत्कर्मों से ही होगा। मनुष्य ही मनुष्य का सहायक है, वह भी बाहरी रूप में ही। भीतर वासनाओं का त्याग तो स्वयं करना पड़ेगा। गुरु भी केवल रास्ता बतलाता है, चलना स्वयं पड़ता है। यह मानना कि मनुष्य की आत्मा के अलावा कोई शक्ति है और उसकी प्रार्थना करने पर वह आकर मनुष्य का उद्धार कर देगी, एक भ्रमितबुद्धि एवं असंतुलित बुद्धि का लक्षण है। यही कानि तराजू होना है।

"सेर तिनि पउवा" किसी का सेर चार पाव की अपेक्षा तीन ही पाव का हो तो वह व्यापारी ईमानदार नहीं माना जाता। सेर का अर्थ ही है चार पाव का वजन। परन्तु उसका वजन तीन पाव है, फिर भी वह सेर कहा जाता है और उसे ही तौल-नाप में सेर की जगह प्रयोग किया जाता है तो यह धोखा देने का काम है। यहां लक्षणा अर्थ में सेर का मतलब है 'सत्य' और वह सत्य त्रिगुणात्मक है, तो त्रिगुणात्मक वस्तु जड़ होती है वह कभी भी व्यक्ति का अपना स्वरूप नहीं हो सकती। "पाखण्ड रूप रच्यो इन्ह तिरगुण"[1]

---

१. शब्द ३२।

तथा "त्रिगुणी फांस"[1] तो बन्धन करने वाली ही है। गीताकार भी कहते हैं "हे अर्जुन! सभी वेद त्रिगुण का उपदेश करते हैं, इसलिए तुम त्रिगुण से परे हो जाओ।"[2] नाम-जप, मंत्र-जप तथा निजात्मदेव से पृथक मन की अवधारणा को ईश्वरादि मानना, सब मन-वाणी का विषय होने से त्रिगुणात्मक ही है। निजस्वरूप चेतन के अलावा सब त्रिगुण का ही पसारा है उनमें उलझने से स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं आत्मबोध से जीव वंचित रह जाता है, इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि इन उपासकों का सेर तीन ही पाव का है अर्थात इनका सत्य एवं परमतत्व त्रिगुण माया के भीतर ही है।

"तुकिनी ढोल बजाई हो" ढोल-झांझ बजाकर शिष्यों के कान में नाम एवं मंत्र तुक दिये, कह दिये एवं फूंक मार दिये और इतने मात्र से भवबंधनों से मुक्ति की गारंटी दे दी गयी। यह कहां तक उचित है! किसी को सन्मार्ग में लगाने के लिए मंत्र-दीक्षा देना ठीक है, परन्तु केवल मंत्र-दीक्षा एवं नाम सुनाने मात्र से सब पाप एवं बंधन भस्म होने का दावा करना लोगों को भ्रम में रखना है।

"सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो।" यहां सेर-पसेरी से तात्पर्य है क्रमशः मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां। यदि मन और इन्द्रियों को संतुलित कर लिया जाय, परन्तु तराजू का पसंगेदार होने के समान बुद्धि का असंतुलन बना रहे, तो भी कल्याण नहीं होगा। मन और इन्द्रियों का संयम तो चाहिए ही, परन्तु बुद्धि का संतुलन एवं ज्ञान भी सच्चा चाहिए।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, जोर चला जहँड़ाई हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, लोग मतवाद के हठ में पड़कर अपने आप को ठगा देते हैं। पोथियों में लिखा है, गुरुजन कहते हैं, परम्परा में माना गया है, बस इन-जैसी कुछ बातों को लेकर आदमी अपनी गलत-सही बातों का सिद्धांत बनाकर उसी में अटक जाता है। फिर तो किसी के समझाने पर भी नहीं मानता और अपने आप को उसी हठ में ठगा देता है।

मोह-माया छोड़कर आत्माराम में रमो

कहरा—५

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो॥ १॥
लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो॥ २॥
दादा-बाबा औ परपाजा, जिन्हके यह भुइँ भाँड़े हो॥ ३॥
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सब छाँड़े हो॥ ४॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो॥ ५॥
उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँहीं हो॥ ६॥
नाता-गोता कुल-कुटुम्ब सब, इन्ह कर कौन बड़ाई हो॥ ७॥
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सब चतुराई हो॥ ८॥

---

१. शब्द ५९।
२. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। *(गीता, २/४५)*

शब्दार्थ—भजु = भजो, स्मरण करो। लक्ष करोरि = लाख-करोड़। दादा = पिता। बाबा = पितामह। परपाजा = परपितामह। भुइँ भाँड़े = भूमि और बरतन, सारी संपत्ति। धन्धा = व्यापार। बार = देरी।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस निजात्मतत्व का बारम्बार स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो ।।१।। तुम लाखों-करोड़ों रुपये जोड़कर जमीन में गाड़ रखे हो और उसी के अहंकार में हाथ चमकाते घूमते हो ।।२।। परंतु ध्यान रहे, तुम्हारे पिता, पितामह तथा परपितामह जिनकी यह पूरी संपत्ति थी, वे सब छोड़कर क्यों चले गये? तुम बाहर की आंखों के अंधे हो और तुम्हारे भीतर के विवेक-विचार के नेत्र भी फूटे हैं इसलिए बाहरी संसार की घटनाओं तथा भीतरी ज्ञान से प्रेरणा नहीं लेते हो ।।३-४।। इस संसार का सारा व्यवहार सारहीन है। अंत समय में कोई किसी का नहीं होता ।।५।। अपनी मानी हुई तुम्हारी सारी माया तो बादल की छाया की तरह है जिनके बनने-बिगड़ने में देरी नहीं लगती ।।६।। नात, गोत्र, कुल, कुटुम्ब—इन नश्वर चीजों की क्या विशेषता है! कबीर साहेब कहते हैं कि एक आत्माराम की स्थिति के बिना तुम्हारी सारी बुद्धिमत्ता डूब जायेगी ।।७-८।।

व्याख्या—कबीर साहेब 'राम' शब्द को बहुत आदर देते हैं। परन्तु राम-नाम का जितना दुरुपयोग किया जा रहा था जो आज भी किया जा रहा है उसको लेकर कबीर साहेब के मन में कष्ट था। इसलिए उन्होंने बीच-बीच में इस आडंबर पर बारम्बार प्रहार किया है। पिछले तीसरे तथा चौथे कहरा में आप देख आये हैं कि केवल राम-नाम-जप की मिथ्या महिमा का उन्होंने किस ढंग से निराकरण किया है! परन्तु वे बीच-बीच में सकारात्मक दृष्टि से भी 'राम नाम भजु राम नाम भजु' जैसे पद कहते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे वैष्णवों की तरह इन स्थलों पर राम-नाम संकीर्तन करने की प्रेरणा नहीं देते हैं, किन्तु उनका अभिप्राय रहता है राम शब्द को आदर देना तथा उसके अर्थ में अंतरात्मा का बोध देना। वे आम जनता के प्रमोदार्थ भी "राम नाम भजु" जैसे शब्द कहते हैं। इस कहरा में इसी भाव से कहा हुआ लगता है। वे आम जनता को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम-नाम का स्मरण करो और मन में सावधान होकर देखो कि संसार नश्वर है। यहां अभिप्रायः रट्टू सुग्गावत राम-नाम रटना नहीं है, किन्तु अर्थ है कि एक ओर तो आत्माराम है और दूसरी ओर देह, गेह, परिवारादि नश्वर संसार है। मन में विचारकर देखो कि दोनों में तुम्हारे साथ रहने वाला कौन है! ये देह-गेहादि तो देखते-देखते नष्ट हो जायेंगे, परन्तु राम अविनाशी है वह नहीं नष्ट होगा। देहादि तक छूटेंगे, परन्तु राम तो मेरी अपनी आत्मा ही है। जैसे जल से शीतलता, आग से गरमी तथा वायु से कोमलता अलग नहीं हो सकती, वैसे राम से मेरी आत्मा अलग नहीं हो सकती। राम और आत्मा एक ही वस्तु है। "अस्ति आत्माराम है, मन माया कृत नास्ति। याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति ।।"[1]

"लक्ष करोरि जोरि धन गाड़े, चलत डोलावत बाँही हो।" साहेब कहते हैं कि हे विमोहित मानव! तुमने लाखों-करोड़ों रुपये इकट्ठे कर जमीन में गाड़ रखा है और उसी

---

१. बीजक, पाठफल ३।

के अहंकार में अपने हाथ चमकाते घूमते हो। तुम समझते हो कि यह धन तुम्हारे साथ सदैव रहेगा। आज के जमाने में होते तो उन्हें कहना पड़ता कि जो तुमने लाखों-करोड़ों रुपये बैंकों में जमा कर रखा है, अपने नाम से फिक्स्ड डिपॉजिट कर रखा है इससे तू क्या समझता है! क्या तेरा जीवन भी बैंक वाले या कोई भी फिक्स्ड डिपॉजिट कर लेगा। यह समझ लो कि यह जीवन फिक्स्ड डिपॉजिट एवं स्थिर-धरोहर नहीं है। यह अचानक गायब हो जाने वाला है। इसलिए तन-धनादि का अहंकार करना केवल अज्ञान है।

तुम इतना ही ध्यान दो कि तुम्हारे पिता, पितामह, परपितामह आदि, जिनकी यह पूरी संपत्ति थी, नहीं ले जा सके। चलते समय उनके साथ करोड़ों में से कौड़ी भी तो नहीं गयी। इतना ही क्या, संसार में सूर्यवंश, चन्द्रवंश, निमिवंश, यदुवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश, शकवश, हूणवंश, गुप्तवंश, राजपूतवंश, गुलामवंश, मुगलवंश, फिरंगीवंश आदि के रजवाड़ों ने सैकड़ों वर्ष पृथ्वी पर राज्य किया, परन्तु आज उनके मात्र नाम शेष हैं। कितने रजवाड़ों के तो, टीलों की खुदाई में, कुछ अवशेष मिलते हैं, परन्तु जिनके अवशेष मिलते हैं उनके नामादि तक का परिचय नहीं मिलता। इन अहंकारी रजवाड़ों ने भी अधिकतर एक दूसरे को मारा-काटा, दबाया-सताया और अभिमान का प्रकाश किया, और क्या किया? यहां सब धन-जन को मेरा-मेरा कहकर हाथ-पैर पटकते हैं, परन्तु अन्त में किसी के साथ कुछ नहीं जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आंखों के अंधे हो जो दूसरों को खाली हाथ जाते देखकर भी नहीं चेतते हो। इतना ही नहीं, तुम्हारे हृदय के विवेक-विचार नेत्र भी फूटे हैं, क्योंकि तुम इतनी-सी बात भी नहीं समझते हो कि मिली हुई विजाति वस्तुएं एवं प्राणी अवश्य छूटते हैं। जो निश्चित ही अचानक छूट जाने वाले हैं उनके मोह-लोभ एवं राग-द्वेष में पड़े अपने रत्नतुल्य जीवन को बरबाद कर रहे हो।

"ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो। उपजत बिनसत बार न लागे, ज्यों बादर की छाँहीं हो।" इस संसार के सारे धन्धे सारहीन हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन-निर्वाह के धन्धे ही नहीं करना चाहिए। यहां धन्धा का तात्पर्य यह है कि यहां की सारी गतिविधियां अन्त में नश्वर हैं। यह ठीक है कि आदमी अपने शरीर के लिए, स्वजनों के लिए तथा परिजनों एवं परोपकार के लिए भी श्रम करे, परन्तु यह ध्यान रखे कि यहां आकर्षक मानकर कुछ रमने की वस्तु नहीं है। यहां सब कुछ नश्वर है। प्रातःकाल की सौम्य प्रकृति दोपहर को कहां रह जाती है? संध्या का रक्ताभ दृश्य काली रात में कहां रहता है? नवजवानी की मादकता अधेड़ एवं बुढ़ापा में कहां दृश्य होती है? वैवाहिक दिन के राग-रंग पीछे कहां रह जाते हैं? ये रसभरी जवानी, सुहागरात, अनुकूल पत्नी, मनोहर पुत्र, मित्रों का मिलन—सब कुछ नश्वर है। ये सब बादल की छाया की तरह क्षण-क्षण बनने-बिगड़ने वाले तथा अन्ततः एकदम गायब हो जाने वाले हैं।

तुम्हें अपने नाता-गोता, कुल-कुटुम्ब का बड़ा गर्व है, परन्तु यह तुम्हें ख्याल होना चाहिए कि इनमें से एक-एक कर कुछ दिनों में इस संसार से सब लोग उठ जायेंगे। तुम अपने आप को बहुत स्वजनों एवं मित्रों के बीच में पाकर गर्व करते हो, यह तुम्हारा भोलापन एवं बालकपन है। तुम भले बूढ़े हो गये हो, परन्तु यदि संसार के प्राणी-पदार्थों की गरमी में पड़े हो तो तुम भोले हो। ये स्वप्न में मिले हुए के समान हाथ आने वाले

नहीं हैं। संसार के धन-जन से संपन्न होने से तुम्हारी कोई बड़ाई नहीं है। तुम्हारी बड़ाई तो है राम-भजन में। सद्गुरु कहते हैं कि एक राम-भजन के बिना तुम्हारा सारा बड़प्पन, सारी बुद्धिमानी डूब जायेगी।

एक विद्वान प्रोफेसर एक नौका पर बैठकर नदी पार करने लगे। केवट नौका चलाने लगा। प्रोफेसर अपनी विद्वता के गर्व में केवट से पूछने लगे—क्यों जी! तुम अर्थशास्त्र जानते हो? केवट ने कहा—बाबूजी! मैं नहीं पढ़ा हूं। प्रोफेसर ने कहा—तुम्हारे जीवन का एक हिस्सा डूबा है। कुछ क्षण ठहर कर उन्होंने पुनः पूछा—क्या तुम विज्ञान जानते हो? केवट ने कहा—बाबू, नहीं जानता। प्रोफेसर ने गर्व में कहा—तुम्हारा आधा जीवन बेकार है। कुछ क्षण के बाद पुनः पूछा—क्या, तुम कुछ इंगलिश जानते हो? केवट ने कहा—बाबू! मैं स्कूल गया ही नहीं हूं। प्रोफेसर ने कहा—तब तो तुम्हारा पौना जीवन डूबा है। इतने में तूफान आया और नौका नाचने लगी। केवट को लगा कि नौका डूब जायेगी? उसने प्रोफेसर साहब से पूछा—बाबू जी! आप तैरना जानते हैं? प्रोफेसर साहब ने घबराकर कहा—मैं तो एक कदम भी नहीं तैर सकता, क्योंकि मैं तैरना बिलकुल नहीं जानता। केवट ने कहा—तब तो बाबू जी! आपका पूरा जीवन डूब गया। केवट बांस-बल्ली फेंककर नदी में तैरने लगा और कुछ क्षणों में पार लग गया और प्रोफेसर साहब नदी में डूब गये।

हमारी दशा यही है। हमारी सारी विद्या-बुद्धि एवं प्रभुता राम-भजन के बिना डूब जायेगी। राम-भजन है विषयों से विमुख होकर आत्माराम में लीनता। सारे ऐश्वर्य, विद्या-बुद्धि से संपन्न व्यक्ति भी अंत में भवसागर में डूब जाता है। भवसागर से तो वही पार होता है जो विषयों की आसक्ति छोड़कर आत्माराम में रमण करता है।

राम-रत्न तुम्हारे हृदय में ही है जो तुम्हारा स्वरूप है

कहरा—६

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जन्म गमायो हो॥ १ ॥
सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो॥ २ ॥
जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो॥ ३ ॥
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो॥ ४ ॥
दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो॥ ५ ॥
गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो॥ ६ ॥
कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सेमर = सेमल का फल। जहँड़े = ठगा गये, धोखा खा गये। ऊन = नीरस रुई। मदपी = शराब पीने वाला। गाँठि = पास, जेब। दर्बहीन = द्रव्यरहित, निर्धन। तवाई = संताप, दुख। रतन = रत्न, निजस्वरूप चेतन। पारख = परीक्षा, ज्ञान। बहोरी = पुनः।

भावार्थ—हे मनुष्य, जिसका नाम राम है उस निज आत्मतत्व के ज्ञान तथा उपासना-बिना तूने अपने नरजन्म को व्यर्थ ही खो दिया।।१।। तुम माया-मोह में उसी प्रकार ठगा गये जैसे शुकपक्षी ने सेमल के फल में रस की आशा कर उसमें चोंच मारी और उसमें से नीरस रुई निकली और उसे पश्चाताप करना पड़ा।।२।। और जैसे मदिरा पीने वाला अपनी जेब से पैसे देकर मदिरा पीता है और पास की बुद्धि भी खो बैठता है।।३।। भला, स्वाद मात्र लेने से पेट कैसे भरेगा! ओस चाटने से कहीं प्यास जाती है!।।४।। जैसे धनहीन आदमी लम्बी-लम्बी योजनाएं बनाने के बाद भी कुछ कर न सकने के कारण केवल मन में संताप करके रह जाता है, वैसे आत्माराम-धन के ज्ञान बिना आदमी धर्म के नाम पर भटकता है।।५।। रामरूपी रतन तो सबकी अपनी गांठ में एवं हृदय में ही है, परंतु लोग इस रहस्य को नहीं जानते। हां, पारखी सद्गुरु जिसे परखा देते हैं वह अपनी परख से, परीक्षा एवं ज्ञान से उसे जान लेता है और उसे सारी जड़ग्रंथियों से छुड़ा लेता है।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि आज स्ववश नरजन्म का सुनहला अवसर बीत जाने पर यह राम-रतन नहीं मिलेगा, आत्मबोध नहीं होगा। अतएव शीघ्र सावधान!।।७।।

व्याख्या—मनुष्य समझता है कि हम धन, भवन, परिवार, विद्या, अधिकार आदि से संपन्न हैं तो हमारा जीवन सार्थक है, किन्तु दीर्घदृष्टि वाले संतों ने जीवन की सार्थकता एवं निरर्थकता पर अपना भिन्न दृष्टिकोण रखा है, जिसे समझाने पर संसारी लोग भी समझते तो हैं, परन्तु उस समझ में स्थिर नहीं हो पाते, पुनः माया में भूलकर उसी की उपलब्धि में अपनी सार्थकता समझने लगते हैं। संत कहते हैं कि मनुष्य संसार के सारे प्राणी-पदार्थों को पाया, परन्तु अपनी अन्तरात्मा को नहीं पाया, तो क्या पाया! जीवन की सार्थकता है राम में रमने में। एक ओर आत्माराम है और दूसरी ओर भोग-काम। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य आत्माराम को न समझा, उसमें नहीं रमण किया तो वह कुछ नहीं पाया। आत्माराम की स्थिति-बिना संसार का सब कुछ पाकर भी मानो उसने अपने जीवन को व्यर्थ गवां दिया। क्योंकि माया चाहे जितनी मिले, वह अंततः छूट जायेगी और आत्माराम तो व्यक्ति का निजस्वरूप ही है। वह उससे अलग हो ही नहीं सकता। अतएव उसी के बोध तथा स्थिति में जीवन की सार्थकता है। इसलिए सद्गुरु ने इस कहरा में राम के बिना जीवन मिथ्या बताया है।

"सेमर सेइ सुवा ज्यों जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो।" मायासक्त जीव को अन्त में उसी प्रकार हाथ मल-मलकर पछताना पड़ता है जैसे शुक-पक्षी को सेमल-फल के सेवन के बाद जब उसमें सूखी रुई निकलती है तब पछताना पड़ता है। सेमल के पेड़ बड़े-बड़े होते हैं। वसंत में उसमें बड़े-बड़े लाल-लाल फूल खिलते हैं और ऐसे खिलते हैं कि पूरा पेड़ लाल फूलों से ढक जाता है। शुक-पक्षी उन्हें देखकर बहुत खुश होते हैं कि इनमें फल आयेंगे तब हम उन्हें खाकर तृप्त होंगे। फूल के बाद फल आते भी हैं। फल भी बड़े-बड़े देखने में शोभायमान होते हैं। शुक-पक्षी की आशाएं और बढ़ जाती हैं। जब फल पक जाते हैं और शुक-पक्षी उनमें चोंच मारते हैं कि अब इसका स्वाद चखें तब सेमल के फल फूटते हैं, और उनमें से नीरस रुई निकलती है, यह दशा देखकर शुक-पक्षी निराश होकर

उड़ जाते हैं। परन्तु वे मूढ़ अगले वसंत में पुनः उसी सेमल का सेवन करते हैं। इसी प्रकार वे पूरे जीवन सेमल से ठगाते रहते हैं।

मनुष्य की दशा यही है। वह अपनी रसभरी लगती हुई जवानी, युवती पत्नी, मनोहर बच्चे, मकान, धन, प्रतिष्ठा देखकर उनमें भूल जाता है। समझता है कि इससे बड़ी उपलब्धि क्या होगी! इससे बड़ा सुख क्या होगा! परन्तु थोड़े ही दिनों में अपना ही जवान शरीर ढीला हो जाता है। युवती पत्नी रूखी और अनसुहाती हो जाती है। जो पत्नी एक दिन भ्रमवश स्वर्ग लगती थी, वही पीछे नरक लगने लगती है। जिन बच्चों से बड़ी आशा थी, उनसे मन उदास हो जाता है। पद छूटते हैं। प्रतिष्ठा घटती है। मित्र बदलते हैं। सभी सुखों का आधार माना गया शरीर ही ढीला-ढाला हो जाता है, तब और क्या स्थिर रहने वाला है! साहेब कहते हैं—मूढ़ मानव! तू शुक-पक्षी से भी ज्यादा बेवकूफ है, क्योंकि शुक-पक्षी तो केवल स्वाद और पेटपूर्ति के लिए धोखा खाता है, परन्तु तू तो पांचों इन्द्रियों के भोगों में मतवाला बनकर संसार से धोखा खाता है।

"जैसे मदपी गाँठि अर्थ दै, घरहु कि अकिल गमाई हो।" संसार के लोग माया-मोह में पड़कर उसी प्रकार बेवकूफ बनते हैं जैसे मदिरा पीने वाला आदमी अपनी जेब से पैसे देकर अपने पास की बुद्धि भी खोता है। आप जानते हैं कि मदिरा पीने के आदती मदिरालय में जाकर अपनी जेब से धन देते हैं और मदिरा पीने के बाद अपनी बुद्धि भ्रष्ट करते हैं। यह भला, कौन-सी समझदारी की बात है! मनुष्य संसार के भोगों में पड़कर यही करता है! वह भोगों के संग्रह में पहले अपनी शक्ति क्षीण करता है और पीछे भोग-क्रियाओं में उलझकर विवेक-शक्ति नष्ट कर देता है। जिस सुनहले अवसर में वह संसार के भोगरूपी कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा करता है, उसमें वह अपने मन-इन्द्रियों को साधकर मोक्ष का काम कर सकता है। भोगों के संग्रह तथा उनके उपभोगों के बाद मनुष्य की दशा मदिरा पीने के बाद की स्थिति वाली हो जाती है। आदमी आदत एवं प्रमाद-वश मदिरा पीता है। उसे पीते समय बड़ी मर्दानगी एवं बहादुरी लगती है, परन्तु पीकर सड़कों में लड़खड़ाते हुए चलते समय एवं नालियों में लोटते समय उसकी जो दयनीय दशा होती है, वही भोग के बाद भोगी मनुष्य की या जीवन के उतार में भोगी जीवन की होती है। शराबी के जीवन की तरह भोगी जीवन अन्त में केवल पश्चातापों का घर होता है। भोगी जीवन अशांत, तृष्णा से उद्विग्न एवं पीड़ित होता है।

"स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसे प्यास न जाई हो।" भला केवल स्वाद से पेट कैसे भर सकता है! और ओस चाटने से प्यास कैसे जायेगी! कोई व्यक्ति केवल किसी स्वादीली वस्तु को जीभ से चाट-चाटकर अपना पेट नहीं भर सकता। तृप्त होने के लिए भोज्य पदार्थों को ठीक से जीमना पड़ता है। इसी प्रकार प्यासा आदमी यदि ओस चाटकर प्यास बुझाना चाहे तो उसकी दुराशा है। प्यास बुझाने एवं तृप्त होने के लिए स्वच्छ, शीतल एवं सुमिष्ट जल पीने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मानसिक भूख-प्यास भोगों से नहीं जा सकती। इन्द्रियों के सारे भोग-स्वाद ओसकणवत तुच्छ हैं। उनसे तृप्ति हो ही नहीं सकती। आज तक उनमें किसी की तृप्ति नहीं हुई है। भोगी आदमी स्वयं विचार ले कि वह जितने भोगों में लगा है, क्या उनमें तृप्त हुआ है! भोग तृप्ति के आधार

ही नहीं हैं। तृप्ति तो आत्म-भोग में ही है। जो अपनी अन्तरात्मा में निरंतर रमता है, जो अपने स्वरूपराम में सदैव निमग्न है, वही तृप्त है। भोगों को त्यागकर तृप्ति मिलती है। जो विषय-भोगों को त्याग देता है वह निजस्वरूप में नित्य तृप्त हो जाता है।

"दर्ब हीन जैसे पुरुषारथ, मन ही माँहि तवाई हो।" जैसे धनहीन की सारी लौकिक योजनाएं धरी रह जाती हैं। बिना धन के न जमीन खरीदी जा सकती है, न मकान बन सकता है, न दुकान चलायी जा सकती है और न साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं। धनहीन आदमी के प्रयोजन निष्फल जाते हैं। वह बेचारा मन में केवल संतापित रहता है।

यही दशा भोगियों की है। उनके पास अपार धन है। भवन, वाहन, पत्नी, बच्चे तथा समस्त ऐश्वर्य हैं, परन्तु आत्म-धन के बिना वह बिलबिलाता है। जिसने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना एवं जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो विषयों को त्यागकर अनासक्ति का धन नहीं इकट्ठा किया, जिसमें त्याग, वैराग्य, संयम, क्षमा, संतोष, सत्य, सदाचार तथा शांति का धन नहीं है, वह दरिद्र बना मन में पीड़ित होता रहता है। जैसे धन के बिना भोग नहीं होता वैसे त्याग के बिना शांति नहीं मिलती। भोग का परिणाम तो अंततः दुखदायी है। परन्तु त्याग का परिणाम सदैव आनन्द एवं शांति है।

"गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" सबकी गांठ में रत्न हैं, परन्तु उन्हें उनका ख्याल नहीं है। उनको परख भी नहीं है कि हमारी गठरी एवं जेब में जो है वह रत्न है कि कांच की गोली। ज्यादातर तो लोग यही जानते हैं कि हमारे पास तो कांच की गोली है, हम जैसे निर्धन के पास रत्न कहां हो सकते हैं! ऐसा वे क्यों समझते हैं, क्योंकि उनके पास परख नहीं है। परन्तु जिनके पास परख होती है; जिन्हें पारखी गुरु ने परखा दिया है; पारखी सद्गुरु-द्वारा जिनकी परख शक्ति का उद्घाटन हो गया है, वे अपनी गांठ एवं जेब के रत्न को जान लेते हैं, कि यह रत्न है और वे गठरी से खोलकर उसे भुना लेते हैं तथा उस धन से मालामाल हो जाते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम्हारे हृदय में जीव-धन महान रत्न है। इसकी तुम्हें परख नहीं है। इसलिए तुम इसे तुच्छ कांचवत समझते हो। तुम्हें भ्रम है कि यह देहनिवासी जीव तो अंश, प्रतिबिंब, आभास, अल्पज्ञ, अज्ञानी एवं तुच्छ है; पूर्ण, ज्ञाता और श्रेष्ठ तो कहीं आकाश में बैठा है। परन्तु ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण धारणा के मूल में है जीव की परख न होना। जीव का स्वरूप ही पारख है, ज्ञान है। जीव की परख से ही जीव की परख करनी है। अपने ज्ञान से ही हमें ज्ञानतत्व की महिमा को समझना है। जब पारखी सद्गुरु मिल जाते हैं तब वे अपनी परख से मनुष्य को परखा देते हैं कि यह जीव न किसी का अंश है, न प्रतिबिंब है, न आभास है। यह अपने आप में स्वरूपतः निर्विकार, निर्मल, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ तथा सर्वज्ञ जो कुछ कहो, ज्ञाता मात्र यही है। जीव के अलावा कहीं कोई दूसरा ज्ञाता है ही नहीं। जीव के अलावा कोई ज्ञाता है, यह जीव की ही कल्पना है। निश्चित है कि जीव संसार का अल्प ज्ञान रखता है। इसलिए वह कल्पना करता है कि एक कोई ऐसा होगा जो सब कुछ एवं सारे संसार के कण-कण को जानता होगा। परन्तु यह केवल कल्पना है।

वस्तुतः मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। यह परम रत्न है। इससे बड़ा रत्न कहीं कोई नहीं है। मनुष्य अपनी आत्मा को तुच्छ मानकर अलग परमात्मा मानता है यह उसकी परखहीनता है। वह किसी देव का पशु बनना चाहता है। जिसे पारखी सद्गुरु ने परखा दिया है और जिसे सच्ची परख हो गयी है वह समझ गया है कि मेरी आत्मा सभी देवों का देव, ईश्वरों का ईश्वर एवं परमात्माओं का परमात्मा है। मनुष्य की आत्मा के बराबर भी कोई नहीं है, फिर उससे बढ़कर किसी के होने की तो बात ही नहीं उठती। "गाँठी रतन मर्म नहिं जाने, पारख लीन्हा छोरी हो।" यह पंक्ति कबीर साहेब की वाणियों के महावाक्यों में से एक महावाक्य है। सबकी गांठ में रत्न है, परन्तु लोग उसका रहस्य नहीं जानते। जिनके पास पारख है वे उसे खोल लेते हैं। खोल लेने का मतलब है पहचान लेते हैं कि मेरी आत्मा ही महान है। खोलने का दूसरा अर्थ है कि अपने ज्ञानतत्व को वे सारी जड़ग्रन्थियों से छुड़ा लेते हैं। मन, देह, पांच विषय तथा संसार के समस्त प्राणी-पदार्थों की आसक्ति से अपनी चेतना को छुड़ा लेना ही गांठ से अपने रत्न को खोल लेना है। इस प्रकार "पारख लीन्हा छोरी हो।" का दो प्रकार से अर्थ हुआ। एक यह कि परखबल से आत्मा की पहचान हो गयी और दूसरा यह कि अपनी आत्मा को समस्त जड़ासक्तियों से छुड़ा लिया।

"कहहिं कबीर यह औसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि वर्तमान का सुनहला अवसर बीत जाने पर इस रामरत्न एवं आत्मरत्न का न ज्ञान होने का चांस रहेगा और न इसे बंधनों से छुड़ाकर तुम कृतार्थ हो सकोगे। इसलिए वर्तमान का दुरुपयोग न करना। भूत तो बीत चुका है और मर चुका है तथा भविष्य चाहे जितना स्वर्णिम हो, उसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। केवल वर्तमान तुम्हारे हाथों में है। यही अवसर है जब तुम अपने ज्ञानरत्न को समझकर तथा उसमें लीन होकर कृतार्थ हो सकते हो। यदि हमारा वर्तमान ज्ञानमय हो जाय तो मानो भूत सुधर गया तथा वर्तमान सुधरा हुआ होने से सारा भविष्य वर्तमान होता जायेगा और इस तरह मानो भविष्य भी सुधरा हुआ हो जायेगा। अतएव जिसने वर्तमान को सुधार लिया उसका सब मंगल है।

सद्गुरु ने इस कहरा में यह बताया है कि निज चेतनस्वरूप राम के ज्ञान तथा स्थिति के बिना तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। तुम जिन सांसारिक वस्तुओं को लेकर भूल रहे हो वे निस्सार हैं। उनमें तुम्हें तृप्ति नहीं मिल सकती। आध्यात्मिक शक्ति के बिना आदमी केवल दुखी होता है। आत्माराम रूपी रत्न सबके हृदय में विद्यमान है, किन्तु उसकी परख न होने से मनुष्य भटकता है। उसकी परख करने का सुनहला अवसर आज है। यदि आज चूक गया तो रामरत्न नहीं मिलेगा। यद्यपि वह नित्य प्राप्त अपना स्वरूप ही है, परन्तु उसकी हमें परख नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पारखी सद्गुरु की शरण लेकर उनके सत्संग में अपने राम-रत्न को परखे।

निष्काम व्यक्ति निर्भय हो सुख से सोता है

कहरा–७

रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो॥ १ ॥
मूँड़ मुँड़ाय फूलि के बैठे, मुद्रा पहिर मँजूसा हो॥ २ ॥

तेहि ऊपर कछु छार लपेटे, भितर-भितर घर मूसा हो ॥ ३ ॥
गाँव बसतु हैं गर्भ भारती, बाम काम हंकारा हो ॥ ४ ॥
मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो ॥ ५ ॥
माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो ॥ ६ ॥
निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सँभारे = संयत करना। मुद्रा = स्फटिक पत्थर या कांच का बना कुंडल जिसे गोरखपंथी योगी पहनते हैं। मँजूसा = मंजूषा, पिटारी, गुफा। छार = धूल, राख। गाँव = संसार। गर्भ = गर्व, अहंकार। भारती = दसनामी संन्यासियों का एक भेद, पूरे दसनामियों के नाम ये हैं—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी। बाम काम = टेढ़ा कार्य, स्त्री में आसक्ति। मोहन = मोहने वाला, स्थूल-सूक्ष्म भोग। पत = साख, लज्जा, मर्यादा। माँझ मँझरिया = हृदय। जन = मनुष्य। गुरु की नगरिया = गुरु की संगत, सत्संग, निजस्वरूप चेतन, निष्काम स्थिति।

भावार्थ—कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि हे मनुष्यो! तुम अपने आपको संयत रखो और सदैव आत्माराम का चिंतन करो।।१।। कितने लोग तो यह न कर साधु-संन्यासी बनने का ढोंग करते हैं। वे सिर के बाल छिलवा लेते हैं, कानों में कुंडल पहन लेते हैं और साधुत्व का अहंकार कर गुफा में जा बैठते हैं।।२।। वे शरीर के ऊपर कुछ राख भी लपेट लेते हैं, परंतु उनके हृदय-भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादि चोरों ने उनके ज्ञान-धन को चुराकर उन्हें खोखला बना दिया है।।३।। संसार में तो गिरि, पुरी, भारती आदि कहलाने वाले बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी बसते हैं, परंतु उनके प्रायः सारे काम टेढ़े तथा अभिमान से भरे होते हैं, और कितने तो काम-मोहित तथा कामिनी के दास ही होते हैं।।४।। सद्गुरु कहते हैं कि हे लंपट वेषधारियो! ये मोहने वाली माया तुम्हें यत्र-तत्र ले जाकर पटकेगी और स्वात्मा तथा संसार में तुम्हारी मर्यादा एवं साख नहीं रह जायगी।।५।। जो सारी वासनाओं को त्यागकर अपने हृदय में ठहरना जानते हैं वे ही मनुष्य स्थिरता एवं शांति पाते हैं।।६।। विनम्र कबीर तो सारी वासनाओं को छोड़कर निर्भय हो गया है और अंतरात्मा की स्थिति में सुख से सो रहा है।।७।।

व्याख्या—"रहहु सँभारे राम बिचारे, कहता हौं जे पुकारे हो।" कबीर साहेब अपनी बातें पुकारकर कहते हैं जिससे उनके इच्छुक तथा अनइच्छुक दोनों सुनें। कबीर साहेब के विचार एक आंदोलन है। वे इस कहरा की पहली पंक्ति में दो बातें कहते हैं। पहली बात है अपने आपको सम्हाल कर रखना और दूसरी बात है राम का विचार करना। संसार में जीव के उद्धार के लिए ये दो काफी हैं। इनसान हर समय बहता है। वह अपने आप को सम्हाल नहीं पाता। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि उसका पहला काम है कि वह अपने आप को सम्हाले। सम्हालने का अर्थ है अपने आप को संयत करना, अपने आप को काबू में रखना। जब हम अपने मन और इंद्रियों को अपने वश में कर लेते हैं तब मानो हमने अपने आप को सम्हाल लिया। इसके बाद दूसरी बात आती है राम का विचार करना। आत्मचिंतन ही राम का विचार करना है। देहाभिमान छोड़कर अपनी चेतना में स्थित होना ही राम का विचार करना है।

साहेब कहते हैं कि उक्त बातें तथ्य की हैं। सबको यही करना चाहिए। परन्तु कितने लोग यह साधना का काम न कर भड़कीले वेष बनाकर साधु-संन्यासी कहलाना चाहते हैं। वे मूड़ मुड़ा लेते हैं, कान में कुंडल पहन लेते हैं, देह में राख लपेट लेते हैं और इस वेष के अहंकार में फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। कहीं गुफा में बैठकर योग-साधना का भी पाखंड कर लिये तो भोले लोगों में वे और प्रसिद्ध हो जाते हैं। परंतु हार्दिक वैराग्य के बिना ये वेष उनके लिए बंधनों का ही कारण बनता है। वे ऊपर-ऊपर तो उच्च साधु-संन्यासी के वेष से मंडित रहते हैं और भीतर-भीतर खोखला बने रहते हैं। जैसे शिशु के हाथ में छुरी दे दी जाय तो वह उससे अपने हाथ-पांव काट लेने के सिवा कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकता, वैसे वैराग्य-विहीन लोग साधु-संन्यासी के वेष धारणकर अपने आप तथा समाज को छल सकते हैं, कोई रचनात्मक एवं कल्याण का काम नहीं कर सकते।

संसार में बड़े-बड़े अहंकारी साधु-संन्यासी हैं। वे अपने नाम के आगे-पीछे बड़ी-बड़ी पदवियां, विशेषण एवं उपाधियां लगाते हैं। कितने साधु-संन्यासियों के नाम यदि कहीं लिखे या छपे हों तो एक लंबी लाइन में होते हैं। उनमें उनका असली नाम क्या है तथा विशेषण क्या है समझना सरल कार्य नहीं है। कितने साधु-संन्यासी जिन्होंने अपने नाम में ज्यादा विशेषण लगा लिया है किसी के अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन करना तो दूर रहा, आशीर्वाद देने में भी अपनी हेठाई समझते हैं। वे नमस्कार करने वाले को ताक दें तो उनकी बड़ी कृपा होगी। कितने साधु-संन्यासी तो ऐसे हैं कि वे किसी को भी नमस्कार नहीं करते, चाहे वह कितना ही वृद्ध एवं ज्ञानी हो। साधु-वेष जो विनम्रता का लक्षण है, जिसे पहनकर विनम्र होना चाहिए, उसे पहनकर वे घोर अहंकारी हो जाते हैं। कितने वेषधारी साधु-संन्यासियों के काम ही टेढ़े रहते हैं। 'बाम काम' का अर्थ है टेढ़े काम। 'बाम काम' का अर्थ स्त्री-सम्मोहन भी है। बाम कहते हैं स्त्री को और काम कहते हैं इच्छा एवं वासना को। कितने साधु-संन्यासी नामधारी यह माने रहते हैं कि हम निर्लिप्त आत्मा हैं। इंद्रियां भोगों में लगी रहती हैं तो कोई हर्ज नहीं है। मैं इंद्रियों से निर्लेप हूं। इंद्रियां कुछ भी करें, मेरा कुछ नहीं बिगड़ता! ऐसे लोग उदाहरण देते हैं "ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, राम, कृष्ण, जनकादि सब सपत्नीक थे, इनमें कइयों ने गृहस्थी का भी अतिक्रमण कर भोगों को भोगा है, परन्तु उनके ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, तो मेरी इंद्रियां यदि विषयों में लगी रहें तो मुझ निर्लेप आत्मा का क्या बिगड़ता है।" कहना न होगा कि यह सब बाम-काम है और निर्लेप होने का मिथ्या अहंकार है। यह ध्यान रखना होगा कि जो ऊपर ब्रह्मादि के नाम लिये गये हैं वे सब गृहस्थ थे। साधु-संन्यासी विरक्त होता है। दोनों के आदर्श अलग-अलग हैं। यदि कोई गृहस्थी में रहकर उसका अतिक्रमण करके भोग करता है तो वह क्षम्य नहीं है और न उसके आचरण किसी के लिए भी आदर्श हो सकते हैं। यह ठीक है कि आत्मा मूलतः निर्लेप है, परन्तु उसी तरह अपने मन-इंद्रियों को भी जीवनभर विकारों से अलग रखे, तब उसकी निर्विकारता प्रमाणित होगी। इंद्रियों के विषयों में लिपटा रहे और निर्लिप्तता का जबानी जमा-खर्च किया करे तो वह धूर्त है। प्रकृति उसे कभी नहीं क्षमा कर सकती।

इसलिए साधु-संन्यासी के वेष में भोग की भावना रखने वाले और उसे शास्त्रज्ञान की डींग से ढाकने वाले वंचकों के लिए सद्गुरु ने कहा ''मोहन जहँ तहँ लै जइहैं, नहिं पत रहल तुम्हारा हो।'' मोहन कहते हैं मोहने वाले को। खानी जाल तथा वाणी जाल ये मोहन हैं। स्त्री, पति, पुत्र, धन, प्राणी, पदार्थ स्थूल वस्तुएं खानी जाल है तथा सत्य से विचलित कर असत्य में लगाने वाले शास्त्रों के वाक्यजाल वाणी जाल है। इन्हीं दोनों में मोहित होकर जीव भटकते हैं। साहेब कहते हैं कि तुम भले साधु-संन्यासी के वेष धारण करो, यदि तुम मोहन के चक्कर में हो तो वे तुम्हें जहां-तहां ले जायेंगे। यह ''जहँ तहँ लै जइहैं'' वाक्यांश बड़ा मार्मिक है। जो स्थूल-सूक्ष्म माया में मोहित होगा वह अपनी त्याग-मर्यादा में, स्वरूपस्थिति की मर्यादा में नहीं रह पायेगा। वह जहां-तहां भटकेगा। जो काम नहीं करना चाहिए वह काम करेगा। इसलिए ऐसे लोगों के लिए सद्गुरु कहते हैं ''नहिं पत रहल तुम्हारा हो।'' ऐसे लोगों की न तो अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा रह जाती है और न समाज में साख रह जाती है। वे भीतर से खोखले हो जाते हैं तथा बाहर से बदनाम हो जाते हैं।

अपनी आत्मा में कौन प्रतिष्ठा पाता है इसके लिए सद्गुरु कहते हैं ''माँझ मँझरिया बसै सो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो। निर्भय भये तहँ गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो।'' माँझ मझँरिया है हृदय। जो व्यक्ति अपने हृदय में बसना जानता है वह स्थिर होता है। जिसका मन हृदय से निकलकर बाहर भटकता है वह पतित है, और जिसका मन हृदय में ही ठहर जाता है वह स्थिर, शांत एवं सर्वोच्च पद पर स्थित है। मन हृदय में है। वह वहां से निकलकर कहीं जाता तो नहीं है, केवल बाहर की विकारी यादें करते रहना मानो मन का बाहर निकलकर भटकना है। अतएव अर्थ हुआ कि जिसका मन विकारों की याद नहीं करता, किन्तु शांत रहता है वह स्थिर है। इसी को इस ढंग से भी कह सकते हैं कि जिसका मन संसार का भटकाव छोड़कर हृदय में शांत हो गया है वह मानो स्थिति पा गया, ठहर गया।

मन की शांति ही गुरु का नगर है। यह निर्भय नगर है। जिसके मन में सांसारिक हलचल नहीं है, जिसके मन में हानि-लाभ, शोक-मोह के द्वंद्व नहीं उठते, जिसके लिए जीना-मरना समान है, उसकी यह दिव्य स्थिति गुरु का नगर है। जो इस नगर में बसता है वह निर्भय हो जाता है चाहे साधु-संन्यासी वेष में हो और चाहे साधारण वेष में हो। जो विनम्र है, जिसने सारे अहंकार तथा माया-मोह का त्याग कर दिया है, वह बंदा गुरु के निर्भय-नगर में निश्चिंतता की नींद सोता है। संत-गुरु का सत्संग भी निर्भयनगर है। साधुसंगत निर्भयनगर है। सत्संग में रहने वाला सुख से सोता है। किन्तु पूर्णरूप से निर्भय वही होगा जिसने गुरु के सत्संग का पूर्ण आचरण कर लिया है। चित्त का निर्विषय हो जाना, सांसारिक हानि-लाभ की चिंता समाप्त हो जाना, देहाभिमान का त्यागकर निरन्तर आत्माराम में विश्राम पा जाना—यही ''माँझ मँझरिया'' बसना है। यही गुरु का नगर है। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं वहां सुख से सोता हूं। जिसका हृदय शांत है, जो निर्भय है, वही सुख से सोता है। केवल धन, विद्या, पद, अधिकार, प्रतिष्ठादि पाने वाला निर्भय होकर सुख से नहीं सो सकता। निर्भय होकर सुख से सोना बड़े सौभाग्य का फल है और

यह सौभाग्य व्यक्ति के अपने हाथों में है। जो व्यक्ति सारी कामनाओं का त्याग कर देता है, वह निर्भय हो जाता है और सुख से सोता है।

माया-मोह छोड़कर राम में रमो

कहरा–८

क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो॥ १ ॥
आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो॥ २ ॥
सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो॥ ३ ॥
कहाँ लों गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो॥ ४ ॥
पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो॥ ५ ॥
ये भि जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो॥ ६ ॥
कुशल कहत-कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो॥ ८ ॥

शब्दार्थ—क्षेम कुशल = सुरक्षा, कल्याण। सही सलामत = निरापद, सुरक्षित। सर्वतंग = सभी व्यवस्था, सर्वस्व। जति = यति, त्यागी। पीर = गुरु। औलिया = तपस्वी, सिद्ध। मीरा = मीर, सैयद जाति की उपाधि, सरदार, धार्मिक नेता। सूरा = सूर्य। पूरा = संतोष।

भावार्थ—माया ने किसका कल्याण किया है! ॥१॥ वह आते और जाते दोनों समय मानो जीवों को लूटती है और उनका सर्वस्व हरण कर लेती है॥२॥ माया ने सुर, नर, मुनि, त्यागी, गुरु, तपस्वी, सिद्ध, सैयद, धर्माचार्य कहां तक गिनकर बताया जाय, असंख्य करोड़ तक प्राणियों को पैदा किया, परंतु यहां से सब चले गये और चले जाते हैं॥३-४॥ यहां तक कि पानी, पवन, आकाश आदि से निर्मित सारी वस्तुएं नष्ट होती हैं और चांद-सूर्य भी निरंतर गतिशील हैं॥५॥ इस संसार से तो 'ये' और 'वो' अर्थात सबको जाना निश्चित है। खेद यही है कि किसी को अपने जीवन में संतोष नहीं मिलता॥६॥ सब लोग एक दूसरे से माया का ही कुशल-मंगल पूछते और बताते हैं, परंतु माया में अपना कुशल एवं कल्याण मानना ही मानो काल की फांसी है॥७॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि तुम्हारी मानी हुई अपनी सारी मायावी दुनिया नष्ट हो जायेगी, परंतु अविनाशी राम कभी नहीं मिट सकता। वह सब समय अवशेष रहेगा॥८॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस कहरा में माया तथा मायावी वस्तुओं से कल्याण मानने का प्रत्याख्यान किया है। वे पहली पंक्ति में कहते हैं "क्षेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो।" कबीर साहेब की बातों के श्रोता हिन्दू और मुसलमान, इन दोनों वर्गों के लोग रहते थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इन दोनों को लक्ष्य में रखकर अपनी बातें कहीं हैं। वैसे उनकी बातें मानव मात्र के लिए हैं। यहां पर क्षेम-कुशल तथा सही-सलामत, ये दो शब्द ऐसे हैं जो क्रमशः हिन्दू और मुसलमानों में ज्यादा कहे जाते हैं। दोनों का अर्थ एक है। 'क्षेम' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका अर्थ

माया आते-जाते जीव को केवल लूटती है। माया आकर हर्ष का फुलावा देती है तथा जाकर शोक का पचकाव देती है। इन मायाजनित हर्ष-शोक के द्वंद्वों में उलझे रहना ही तो जीव का लुट जाना है। यह माया जीव का 'सर्वतंग' छीन लेती है। 'सर्व' का अर्थ सब है, 'तंग' का अर्थ चुस्त तथा कसा हुआ है। यहां सर्वतंग का अर्थ है व्यवस्था। तात्पर्य है कि माया जीव की सारी शांति-व्यवस्था ही छीन लेती है। यही उसका सर्वस्व छीन लेना है।

"सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो। कहँ लों गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो।" साहेब पहले बड़े-बड़े लोगों के नाम गिनाते हैं जैसे सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया, मीरा आदि। उसके बाद कहते हैं कि नाम कहां तक गिनाये जायं, माया ने अनंत करोड़ लोगों को पैदा किया है, परन्तु संसार से एक-एक दिन सब पयान कर गये हैं। सबको माया ने पैदा किया है इस कथन का भाव है कि सबके शरीर वासना तथा भौतिक चीजों से ही बनते हैं, अतएव शरीर-रचना के सूक्ष्म-कारण हों या स्थूल-कारण, वे माया ही हैं। सबका उत्पत्ति-कारण माया है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ पैदा होता है सब मायामय है और उन सबका विनाश है। फिर उनमें रमने से शांति कहां है!

"पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो।" पानी, पवन, आकाश, मिट्टी, आग आदि तत्व तो कभी मिटने वाले नहीं हैं। फिर इनको जाने अर्थात मिटने की बात कैसे कही गयी, यह प्रश्न हो सकता है। इस कथन का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है कि इन जड़-तत्वों से निर्मित सारे पदार्थ नाशवान हैं। जो कुछ मिट्टी, पानी, आग, हवादि तत्वों से बना है वह रहने वाला नहीं है और संसार के सारे निर्माण इन्हीं से हैं। पवन-पानी के साथ यहां आकाश का भी नाम आया है, परन्तु आकाश निष्क्रिय तथा निर्विकार है, अतः इससे कुछ निर्मित नहीं होता, तो इसका क्रिया के रूप प्रयोग 'जायँगे' क्यों हुआ है? वस्तुतः अन्य तत्वों के लपेट में आकाश का नाम भी ले लिया गया है, परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं है। हां, वस्तुओं के निर्माण में उसके बीच में या तत्वकणों की संधि में आकाश अपने आप रहता है। अतएव वस्तुओं के परिवर्तन में आकाश में परिवर्तन-जैसा लगता है, अन्यथा आकाश कोई अणुरूप द्रव्य न होने से उसमें कोई विकार नहीं है।

इसके साथ कहा गया है "चन्द्र जायँगे सूरा हो।" चांद और सूरज भी चले जायेंगे। उगने-डूबने को लिया जाय तो वे मानो नित्य आते-जाते ही हैं। वैसे ये अनादि-अनंत पदार्थ हैं, परंतु गतिशीलता तो सभी भौतिक क्षेत्रों में है।

"ये भि जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो।" ये भी और वो भी का तात्पर्य है सब लोग। जो कोई संसार में आया है उसे यहां से जाना है। न यहां रंक रह सकता है और न राजा। परंतु मनुष्यों की असफलता यह है कि उनके मन में संतोष नहीं आता। "परत न काहू के पूरा हो।" यह बड़ा मार्मिक वचन है। 'पूरा' का अर्थ है सन्तोष। किसी को सन्तोष नहीं होता। निर्धन असंतुष्ट है, धनवान असंतुष्ट है, अपढ़ असंतुष्ट है, विद्वान असंतुष्ट है, तिरस्कृत असंतुष्ट है, सम्मानित असंतुष्ट है, अज्ञानी असंतुष्ट

है शांति, कल्याण एवं प्रसन्नता। 'कुशल' शब्द भी संस्कृत भाषा का ही है। अनुमान है कि पुराकाल में 'कुश' नाम की घास लाने वाले को कुशल कहा जाता था। यज्ञादि धार्मिक कार्यों में कुश-घास का बहुत प्रयोग होता था। अतएव जो कुश-घास लाता था उसे कुशल कहा जाने लगा। कुश-घास को उखाड़कर लाना पड़ता था। उसके पत्ते धारदार होने से उनसे हाथ कट जाने का सदैव भय रहता है। अतएव जो बिना परेशानी के कुश-घास ले आये उसे प्रवीण भी माना जाने लगा। इसलिए कुशल का अर्थ पहले कुश लाने वाला हुआ, फिर पीछे प्रवीण एवं चतुर हुआ। कुश-घास मांगलिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए लायी जाती है इसलिए 'कुशल' शब्द मंगल एवं कल्याण अर्थ प्रकट करने वाला हो गया। इस प्रकार क्षेमकुशल के अभिप्राय सुरक्षा, कल्याण, शांति आदि होते हैं। इसी प्रकार सहीसलामत जिसका प्रयोग प्रायः उर्दू-भाषा वाले करते हैं उसके अर्थ निरोग, निर्दोष, निरापद, सुरक्षित आदि होते हैं।

यहां क्षेमकुशल तथा सहीसलामत का अर्थ है निर्भयता एवं आत्मशांति। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू जिस माया में रात-दिन लिपटा है उसने किसको निर्भयता दी है, किसको शांति दी है, जीवन की उच्चता है निर्भयता एवं शांति। निर्भयता में शांति है और शांति में निर्भयता। जीवन का सच्चा सुख इसी में है। वर्तमान और भविष्य के लिए यही सुरक्षित पथ है। परन्तु माया के द्वारा यह उच्च स्थिति कहां मिल सकती है! बल्कि माया के कारण जीव इस दशा से दूर बना रहता है। यद्यपि इस पूरे कहरा में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न उसके पर्यायवाची शब्द का ही, परन्तु पूरा कहरा उसी को केन्द्र बनाकर कहा गया है।

माया का सूक्ष्म और मौलिक स्वरूप है जो कुछ निजात्मा से भिन्न है उसका 'मोह' और माया का दूसरा अर्थ है संसार के प्राणी-पदार्थ एवं स्थूल जगत। माया का सूक्ष्म स्वरूप मोह ही के पर्याय वासना, कामना, राग, आसक्ति आदि हैं। मुख्य माया यही सब हैं। यदि ये न हों तो संसार एवं संसार के प्राणी-पदार्थ जीव को बांध नहीं सकते। परन्तु इनकी उत्पत्ति संसार के प्राणी-पदार्थों के सम्बन्ध में असावधान होने पर होती है, इसलिए प्राणी-पदार्थों को भी माया कहा जाता है।

"आवत जात दोऊ विधि लूटे, सर्वतंग हरि लीन्हा हो।" माया आती है और जाती है। यह कभी स्थिर नहीं रहती। यहां माया का अर्थ संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि हैं। ये आते हैं तब जीव इनमें विमोहित होकर अहंकार करता है। मन का विमोहन तथा अहंकार मानो जीव का लुट जाना है, और जब ये जाते हैं, अर्थात प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि जब छूटते हैं तब शोक एवं दुख होकर जीव पीड़ित होता है। दुखी होना, पीड़ित होना मानो जीव का लुट जाना है। इसीलिए सद्गुरु ने कहा है "हे ज्ञानरंग चेतन! तू कनक-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। ये मिल तथा बिछुड़कर वैसे केवल कष्ट देते हैं जैसे सांप की केंचुली आ तथा जाकर कष्ट देती है।"[1] इस प्रकार यह

---

१. कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जस केंचुलि तजत भुवंग।। साखी १४८।।

माया आते-जाते जीव को केवल लूटती है। माया आकर हर्ष का फुलावा देती है तथा जाकर शोक का पचकाव देती है। इन मायाजनित हर्ष-शोक के द्वंद्वों में उलझे रहना ही तो जीव का लुट जाना है। यह माया जीव का 'सर्वतंग' छीन लेती है। 'सर्व' का अर्थ सब है, 'तंग' का अर्थ चुस्त तथा कसा हुआ है। यहां सर्वतंग का अर्थ है व्यवस्था। तात्पर्य है कि माया जीव की सारी शांति-व्यवस्था ही छीन लेती है। यही उसका सर्वस्व छीन लेना है।

"सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो। कहँ लों गनों अनन्त कोटि लों, सकल पयाना कीन्हा हो।" साहेब पहले बड़े-बड़े लोगों के नाम गिनाते हैं जैसे सुर, नर, मुनि, यति, पीर, औलिया, मीरा आदि। उसके बाद कहते हैं कि नाम कहां तक गिनाये जायं, माया ने अनंत करोड़ लोगों को पैदा किया है, परन्तु संसार से एक-एक दिन सब पयान कर गये हैं। सबको माया ने पैदा किया है इस कथन का भाव है कि सबके शरीर वासना तथा भौतिक चीजों से ही बनते हैं, अतएव शरीर-रचना के सूक्ष्म-कारण हों या स्थूल-कारण, वे माया ही हैं। सबका उत्पत्ति-कारण माया है। साहेब कहते हैं कि जो कुछ पैदा होता है सब मायामय है और उन सबका विनाश है। फिर उनमें रमने से शांति कहां है!

"पानी पवन अकाश जायँगे, चन्द्र जायँगे सूरा हो।" पानी, पवन, आकाश, मिट्टी, आग आदि तत्व तो कभी मिटने वाले नहीं हैं। फिर इनको जाने अर्थात मिटने की बात कैसे कही गयी, यह प्रश्न हो सकता है। इस कथन का शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है कि इन जड़-तत्वों से निर्मित सारे पदार्थ नाशवान हैं। जो कुछ मिट्टी, पानी, आग, हवादि तत्वों से बना है वह रहने वाला नहीं है और संसार के सारे निर्माण इन्हीं से हैं। पवन-पानी के साथ यहां आकाश का भी नाम आया है, परन्तु आकाश निष्क्रिय तथा निर्विकार है, अतः इससे कुछ निर्मित नहीं होता, तो इसका क्रिया के रूप प्रयोग 'जायँगे' क्यों हुआ है? वस्तुतः अन्य तत्वों के लपेट में आकाश का नाम भी ले लिया गया है, परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं है। हां, वस्तुओं के निर्माण में उसके बीच में या तत्वकणों की संधि में आकाश अपने आप रहता है। अतएव वस्तुओं के परिवर्तन में आकाश में परिवर्तन-जैसा लगता है, अन्यथा आकाश कोई अणुरूप द्रव्य न होने से उसमें कोई विकार नहीं है।

इसके साथ कहा गया है "चन्द्र जायँगे सूरा हो।" चांद और सूरज भी चले जायेंगे। उगने-डूबने को लिया जाय तो वे मानो नित्य आते-जाते ही हैं। वैसे ये अनादि-अनंत पदार्थ हैं, परंतु गतिशीलता तो सभी भौतिक क्षेत्रों में है।

"ये भि जायँगे वो भि जायँगे, परत न काहू के पूरा हो।" ये भी और वो भी का तात्पर्य है सब लोग। जो कोई संसार में आया है उसे यहां से जाना है। न यहां रंक रह सकता है और न राजा। परंतु मनुष्यों की असफलता यह है कि उनके मन में संतोष नहीं आता। "परत न काहू के पूरा हो।" यह बड़ा मार्मिक वचन है। 'पूरा' का अर्थ है सन्तोष। किसी को सन्तोष नहीं होता। निर्धन असंतुष्ट है, धनवान असंतुष्ट है, अपढ़ असंतुष्ट है, विद्वान असंतुष्ट है, तिरस्कृत असंतुष्ट है, सम्मानित असंतुष्ट है, अज्ञानी असंतुष्ट

है, तथाकथित ज्ञानी असंतुष्ट है, गृहस्थ असंतुष्ट है तथा वेषधारी असंतुष्ट है। कहां तक गिनाया जाय "परत न काहू के पूरा हो।" किसी के मन में संतोष नहीं आ रहा है। वस्तुतः संतुष्ट वही होता है जिसने माया की इच्छा का त्याग कर दिया है।

"क़ुशल कहत-कहत जग बिनसे, कुशल काल की फाँसी हो।" संसार के लोग माया की उपलब्धि में ही अपना कुशल-मंगल एवं सही-सलामत मानते हैं। प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा मिल जायं तो लोग समझते हैं कि हमारा कुशल-मंगल हो गया। संसार के लोग दुनियवी चीजों को पाकर फूले-फूले घूमते हैं और अपने आप को उसी में कृतकृत्य मानते हैं। साहेब कहते हैं कि यह तुम्हारी मायिक कुशलता ही मानो काल की फांसी है। तुम माया के पदार्थों की प्राप्ति में फूलते हो तो मानो तुम्हें काल फांसी पर लटका देता है। माया के फुलाव में रहने वाले आदमी का मन स्थिर नहीं रह सकता। वह अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। माया का फुलाव ही तो जीव को नरक में डुबाता है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "आनन्द आनन्द सब कहै, आनन्द जीव को काल। पूरण परख प्रकाश भौ, शरण कबीर दयाल।।" यह तुम्हारा मायिक आनंद ही तुम्हें अपने आत्मज्ञान, आत्मसंयम, एवं आत्मस्थिति से गिरा देता है। इसलिए यह सांसारिक आनन्द तुम्हारे लिए काल-द्वारा दी गयी फांसी है।

लोग एक दूसरे से मिलते हैं, अभिवादन-प्रत्याभिवादन करते हैं और कुशल-मंगल पूछते हैं और एक दूसरे से यही कहते हैं कि कुशल-मंगल है, चकाचक है। परन्तु यह सब तो एक लोकाचार है, शिष्टाचार है। किसी के कुशल पूछने पर कैसे कोई अपना दुखड़ा रोने लग जाय! वहां कुशल पूछना भी एक शिष्टाचार है, तथा शिष्टाचार में 'कुशल है' कहकर उत्तर देना उचित है। परन्तु जब तक मनुष्य का मन सारी मोह-ममता, इच्छा-कामना को छोड़कर निर्भय, निष्काम एवं हर्ष-शोक से परे नहीं हो जाता है तब तक कहां कुशल-मंगल है? नहीं ज्यादा तो इस सन्मार्ग पर लगना भी कुशल-मंगल की शुरुआत है। परन्तु जो माया में ही उन्मत्त होकर कल्याण-मार्ग से दूर है उसका कहां कुशल-मंगल है!

"कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो।" सद्गुरु कहते हैं कि सारा संसार नाशवान है, सब कुछ विनष्ट होगा, परन्तु राम नहीं विनष्ट होगा, क्योंकि वह अविनाशी है। वह सदैव रहेगा। अब इन दो बातों पर थोड़ा विचार कर लें—"सारी दुनिया बिनसे" और "रहे राम अविनाशी"। यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि यह अनंत विश्व-ब्रह्मांड कभी एक साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। यहां पौराणिक प्रलय की भावना का वर्णन नहीं है। यदि सारे जड़ तत्त्व अपनी क्रिया को छोड़कर स्थिर हो जायं तो निश्चित ही सब कुछ का प्रलय हो जाय। परन्तु सारे जड़तत्त्वों के कण सब समय क्रियाशील रहते हैं। यह उनका अनादि-अनंत स्वभाव है। अतएव सारे संसार का न एक साथ निर्माण होता है, और न एक साथ सबका विनाश हो सकता है। परन्तु इसके साथ यह भी परम सत्य है कि सारे ब्रह्मांड में सब समय निरन्तर क्रिया होती रहती है। यह क्रिया कभी रुक नहीं सकती। जड़तत्त्वों का स्वभाव है गतिशीलता और गतिशीलता ही जड़तत्त्वों की संपत्ति है। इसलिए संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन में एक दूसरे पदार्थों की अपेक्षा बहुत अन्तर है। जैसे एक फूटी ककड़ी, एक

पका कुम्हड़ा तथा एक हीरा पर विचार करें। फूटी ककड़ी चार घंटे में सड़ने लगती है, पका कुम्हड़ा छह महीने के बाद भी स्वादिष्ट लगता है और हीरा में परिवर्तन इतनी मंथर गति से होता है कि उसके विनष्ट होने के भविष्यकाल का अनुमान पदार्थविज्ञानी ही कर सकते हैं। इतना परम सत्य है कि समस्त भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील है।

वस्तुतः जिस दुनिया से हमारा लगाव है वह व्यक्तिगत है। वह हमारे माने हुए प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि का संयोग है जिससे हमारा ममताजनित संबंध है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! जो तुम्हारा माना हुआ संसार है वह सब-का-सब नष्ट होगा, इसलिए उसका मोह छोड़ो!. और ध्यान दो राम पर, जो कभी नहीं मिटेगा, क्योंकि वह अविनाशी है। तुम शरीर और अपने माने हुए संसार के राग में चिपककर तृष्णा में भटकते हो, जो न स्थिर है और न तुम्हारे साथ, परन्तु उस राम में नहीं रमते जो न कभी मिटता है और न तुमसे कभी अलग होता है। ध्यान दो! तुम्हारे पिता, पितामह एवं परपितामह की दुनिया कहां रह गयी! तुम्हारे बचपन की दुनिया आज नहीं है। हमारी मानी हुई दुनिया तो क्षण-क्षण मिट रही है और हमसे छूट रही है। परन्तु राम कभी न मिटेगा, न छूटेगा, क्योंकि वह तो मेरी आत्मा है, वह मेरी चेतना है, मेरा चेतनस्वरूप, पारखस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है। इसलिए हमें चाहिए कि हम अनिश्चित को छोड़कर निश्चित को पकड़ें। माया अनिश्चित है और राम निश्चित है। माया जड़ है और राम चेतन है। माया पर है और राम स्व है। सद्गुरु हमें प्रेरित करते हैं कि हे अभागे! तेरी मानी हुई दुनिया नष्ट हो जायेगी और तेरी सारी माया मिट जायेगी, परन्तु अविनाशी राम जो तेरा निजस्वरूप है वह कभी नहीं मिटेगा। अतः तू यदि अपना कुशल-मंगल तथा सही-सलामत चाहता है तो माया-मोह को छोड़कर स्वरूपराम में मग्न हो जा!

देह की क्षणभंगुरता

कहरा—९

ऐसनि देह निरालप बौरे, मुवल छुवे नहिं कोई हो॥ १ ॥
डण्डवा की डोरिया तोरि लराइनि, जो कोटिन धन होई हो॥ २ ॥
उर्ध निश्वासा उपजि तरासा, हँकराइनि परिवारा हो॥ ३ ॥
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो॥ ४ ॥
चन्दन चीर चतुर सब लेपैं, गरे गजमुक्ता के हारा हो॥ ५ ॥
चौसठ गीध मुये तन लूटै, जम्बुकन वोद्र बिदारा हो॥ ६ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्ञान हीन मति हीना हो॥ ७ ॥
एक-एक दिना याहि गति सबकी, कहा राव कहा दीना हो॥ ८ ॥

शब्दार्थ—निरालप = अत्यन्त अल्पकाल रहने वाला। डण्डवा = कमर। डोरिया = करधनी। लराइनि = लड़ियां। उर्ध = ऊर्ध्व, ऊपर। निश्वासा = बाहर निकलने वाला श्वास। तरासा = त्रास, दुख। चीर = वस्त्र। चौसठ = चील्ह। गीध = गिद्ध। जम्बुकन = सियारों का समूह। राव = राजा।

भावार्थ—हे पगले! यह शरीर इतना क्षणभंगुर एवं गंदा है कि मर जाने पर इसे कोई छूना भी नहीं चाहता ।।१।। चाहे तुम करोड़ों की संपत्ति के स्वामी हो, परंतु मरते समय लोग तुम्हारी कमर की करधनी भी तोड़ लेंगे ।।२।। जब श्वास ऊपर चलने लगता है तब श्वास लेने में कष्ट होने लगता है और तब उसे यह विश्वास हो जाता है कि मेरा शरीर नहीं रह जायेगा। उसे सब कुछ छूटने का भय सवार हो जाता है। वह तुरंत अपने परिवार वालों को इसलिए बुलवाता है कि अब अंत में उन्हें देख लें तथा जिम्मेदारी सौंप दें ।।३।। परंतु श्वास टूट जाने पर जो कोई आता है उसे जल्दी श्मशान ले चलने की राय देता है। वह तब एक पल भी अपने माने हुए घर में रहने नहीं पाता ।।४।। अपने आप को बुद्धिमान समझने वाले जो लोग अपने शरीर में चंदन का लेपन करते थे, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनते थे तथा गले में गजमुक्ता आदि रत्नों की मालाएं पहनते थे, उनका शरीर कहीं जंगल आदि में छूट गया तो उसे चील और गिद्ध नोच-नोचकर खाते हैं और गीदड़ उनका पेट फाड़ते हैं ।।५-६।। कबीर साहेब कहते हैं कि संतो! सुनो, जो लोग ज्ञान से रहित तथा विवेकहीन हैं वे इस अपने शरीर की संभावित विनाशलीला को नहीं समझ पाते। परंतु एक-एक दिन सबके शरीर की यही दशा होती है वह चाहे राजा हो और चाहे रंक ।।७-८।।

व्याख्या—सद्गुरु कहते हैं कि यह शरीर निरा अल्प है अर्थात अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसका दूसरा दोष है कि यह अत्यन्त घृणास्पद है। मर जाने पर अपनी इच्छा से तो इसे कोई छूना नहीं चाहता। परन्तु मोहवश या लोक दिखावा को लेकर लोग छूते या अंतिम दर्शन के लिए आते हैं। अभिमानी जीव माने रहता है कि शरीर बहुत दिनों तक रहेगा। वह सोचता है कि दूसरे लोग मर जायं तो मर जायं, मैं अभी नहीं मरूंगा, परन्तु वह क्षण-पल में काल का चबैना हो जाता है। शरीर गंदा तो ऐसा है कि इसे सहज समझा जा सकता है कि इसमें क्या रखा है! हड्डी, मांस, मल, मूत्र, चाम—सब कुछ तो गंदगी का रूप है।

जब आदमी मर जाता है तब चाहे वह करोड़पति रहा हो, लोग उसकी कमर की करधनी भी तोड़ लेते हैं। यह संसार की कथा है। सब समझते हैं कि लाश के साथ चाहे कोई दस किलो सोना ही बांध दे तो क्या वह उस जीव के साथ जाने वाला है! जीव जब शरीर को छोड़कर चला जाता है तब उसके साथ तृण भी नहीं जाता।

शरीर छूटने के समय प्रायः लोगों का श्वास ऊर्ध्व गति से चलने लगता है। उस समय उसे श्वास लेने में कष्ट होने लगता है। उसे अनुभव होने लगता है कि अब शरीर नहीं रह जायेगा। जिसकी हृदयगति रुक जाती है उसकी मृत्यु तो अचानक होती है। वह तो कुछ भी किसी से बात नहीं कर पाता। परन्तु जिसका शरीर धीरे से छूटता है, जिसे कुछ सांस-कष्ट आदि होना शुरू होकर मृत होने के लक्षण धीरे-धीरे आते हैं, उसके मन के सामने एक दूसरी दुनिया आ जाती है। आप जरा गहराई से सोचें कि आपको कोई यह विश्वास दिला दे कि आप कल तक मर जायेंगे तो आपके मन के सामने यह संसार दूसरी तरह लगेगा। यह पृथ्वी, यह चांद, यह सूरज, ये सितारे, ये प्राणी-पदार्थ आपको

दूसरी तरह प्रतीत होंगे। विवेकवान का अनुभव ऐसी अवस्था में एक भिन्न तरह का होगा तथा एक मोही का अनुभव बिलकुल भिन्न तरह का होगा। विवेकवान संसार को स्वप्नवत देखेगा और उससे अपने मन को समेटकर अपने स्वरूप में स्थित होगा, परन्तु मोहग्रस्त आदमी व्याकुल हो जायेगा। उसके मन में पीड़ा होगी। वह सोचेगा 'हाय! मेरे प्यारे संबंधी एवं धन सभी छूट रहे हैं।' उसको शारीरिक पीड़ा चाहे कम हो, परन्तु मानसिक पीड़ा बहुत होगी, परन्तु विवेकवान को प्रारब्धवशात शरीर-पीड़ा चाहे अधिक हो, परंतु उसे मानसिक-पीड़ा नहीं होगी।

मोही आदमी स्वजनों को बुलाता है। उन्हें मरते समय देखना चाहता है। वह अपने बाल-बच्चों को सयानों के हाथों में सौंपता है और उन सबसे बिछुड़ने की बातें याद करके रोता है। परन्तु मौत निर्दय है। वह छोड़ने वाली नहीं है। वह उसे मार लेती है। मर जाने के बाद चाहे राजा हो और चाहे रंक, उसकी लाश लोग जल्दी गाड़ना, जलाना या फेंक देना चाहते हैं। सब का नाता जीव के रहते तक है। उसके निकल जाने पर कोई ऐसा माई का लाल नहीं है जो उसे रख सके। घी, दूध, दही, मेवे, फल, अन्न-पानादि से सेवित तथा वस्त्रालंकारों से मंडित शरीर क्षण-पल में राख की ढेरी, मछलियों, मेढकों, चील्ह-गिद्धों एवं कीड़ों-मकोड़ों का भोजन हो जाता है।

मोह में मूढ़ आदमी को, यह सब अपने शरीर का एक दिन हो जायेगा, इसका ख्याल भी नहीं रहता। वह तो सब समय प्रमाद में जीता है। इस पानी के बुल्ले शरीर को वह अजर-अमर माने बैठा रहता है। परन्तु राजा हो या रंक, एक-एक दिन यही दशा सबकी होती है। ज्ञानी संसार को जीतकर जाता है और अज्ञानी संसार से हारकर जाता है। ज्ञानी शरीर छोड़ने के पहले ही इसकी आसक्ति छोड़ देता है तथा अज्ञानी आसक्ति में चिपका-चिपका मरता है और उसके वर्तमान तथा भविष्य अंधकारमय होते हैं, परन्तु ज्ञानी का सब मंगलमय होता है। ज्ञानी संसार और शरीर दोनों छोड़कर जीता है। अर्थात वह सबकी आसक्ति को त्यागकर सुखी हो जाता है। आसक्ति ही तो कांटा है। जिसके मन से यह कांटा निकल गया वह सदा सुखी है। आसक्तिवश ही संसार में अपने-पराये का झमेला है। जिसके मन से आसक्तिरूपी भवव्याधि पूर्णतया निकल गयी है, उसकी दृष्टि में कुछ अपना नहीं रह गया। जिसके ख्याल से संसार में कुछ अपना नहीं है, वह परम सुखी है।

आत्मतत्व विवेचन

कहरा–१०

हौं सबहिन में हौं ना हौं, मोहि बिलग-बिलग बिलगाइल हो॥ १ ॥
ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो॥ २ ॥
एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो॥ ३ ॥
एक समान कोइ समुझत नाहीं, जाते जरा-मरण भ्रम जाई हो॥ ४ ॥
रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि-पुरुष समताई हो॥ ५ ॥

हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो ॥ ६ ॥
त्रिविधि रहौं सभनि मां बरतों, नाम मोर रमुराई हो ॥ ७ ॥
पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो ॥ ८ ॥
जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो ॥ ९ ॥
गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो ॥१०॥
अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो ॥११॥
सुर-नर-मुनि जाके खोज परे हैं, कछु-कछु कबिरन पाई हो ॥१२॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। हौं ना हौं = मैं देह नहीं हूं, अहंकार से रहित हूं। ओढ़न = ओढ़ने का वस्त्र, आवरण। पिछौरा = चादर, अविद्या। झाँई = प्रतिबिंब। चिलकाई = चटक-मटक, जवानी। त्रिविधि = जागृति आदि तीन अवस्थाएं। दुनियाई = संसार। जोलहा = मन। दश ठाँई = अनेक प्रकार, अनेक जगह। हीरा = जीव। भाष्यो = कहा। फिटकी = फिटकरी, एक मिश्र खनिज पदार्थ जो स्फटिक की तरह सफेद होता है और दवा, रंगाई आदि के काम आता है।

भावार्थ—सभी शरीरों में विद्यमान जो मैं-तत्व है वही व्यक्ति का निज-स्वरूप है, अतएव मैं प्रति देहों में रहने वाला शुद्ध चेतन हूं, परंतु मैं देहादि विजाति पदार्थों का अहं-स्वरूप नहीं हूं, अर्थात मैं देहादि नहीं हूं। विवेकियों ने जड़-चेतन अलग-अलग बताया है तथा प्रति शरीर में निवास करने वाले चेतनों को भी एक दूसरे से अलग-अलग कहा है।।१।। मेरा ओढ़ना मानो एक अविद्या रूपी चादर है, अर्थात मैं स्वयं अविद्या से ढका हूं। इसी अविद्या से लोग कहते हैं कि जड़-चेतन सत्ता अभेद है अथवा एक ही चेतन सत्ता है।।२।। वे प्रमाण देते हैं कि एक ही चेतन सभी शरीरों में उसी प्रकार प्रतिबिंबित होता है जिस प्रकार एक ही चंद्रमा अनेक घटों के जल में एक साथ प्रतिबिंबित होता है।।३।। वस्तुतः सब चेतन एक नहीं, किंतु एक समान हैं और सब अलग-अलग हैं, परंतु ऐसा कोई समझता नहीं है। ऐसा समझने से ही बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भ्रम दूर होगा। मोक्ष द्वैत में होता है अद्वैत में नहीं।।४।। शुद्ध चेतनस्वरूप में न रात है न दिन, उसमें स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं है, वह लिंगरहित सब में समान है।।५।। मैं न तो बालक हूं न बूढ़ा हूं और न मेरे में चमक-दमक वाली जवानी ही है।।६।। मैं तो बालक, युवा तथा वृद्ध तीनों अवस्थाओं में वर्तमान करने वाला तीनों से अलग हूं, परंतु सभी अवस्थाओं में रमण करने से मेरा नाम रामराजा है।।७।। मैं न तो किसी के भेजने से कहीं जाता हूं और न किसी के लाने से कहीं आता हूं, अर्थात मेरे ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं है कि मुझे किसी बात के लिए विवश कर सके। मैं संसार में सहजरूप से रहता हूं।।८।। जैसे कोई अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना का भेद न जानता हो और उलटा-पलटा ताना तनकर दस जगह फाड़कर बुनता हो, वैसे यह मन जीव के आत्मस्वरूप को न जानकर उसे दस जगह उलझा कर रखता है। अर्थात जीव को अनेकों जगह फंसा देता है।।९।। विभिन्न विचार के गुरुओं के प्रभाव में आकर मनुष्य उनके उपदेशों को सुनते हैं और जहां तक जो समझते हैं उनके अनुसार मानते हैं और चलते हैं। विरला मनुष्य निजस्वरूप का ठीक

बोध पाता है।।१०।। मन की अनंत करोड़ मान्यताओं ने जीवरूपी हीरे को बेध डाला है, इसलिए उसकी कीमत फिटकरी से भी कम हो गयी है। हीरा फिटकरी के दाम पर भी नहीं बिक रहा है। चेतन मनुष्य पत्थर के देवता के समान भी इज्जत नहीं पा रहा है।।११।। सुर, नर तथा मुनिजन जिस सत्यस्वरूप की खोज में निरंतर श्रमशील हैं, कबीर ने उसे कुछ-कुछ पा लिया है।।१२।।

व्याख्या—यह पूरा कहरा आध्यात्मिक तत्त्व विवेचन से भरा है। आध्यात्मिक तत्त्व में 'मैं' ही सार तत्त्व है। मनुष्य का 'मैं' तत्त्व ही तो सारे दर्शनों का केन्द्रबिंदु है। मनुष्य का 'मैं' तत्व न होता तो संसार में ज्ञान-विज्ञान की कोई खोज ही न होती। इस कहरा की पहली पंक्ति में पहला वाक्यांश है "हौं सबहिन में" इसका सरल अर्थ है कि 'मैं सब में हूं'। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मैं जड़-चेतन, पृथ्वी-पहाड़, चांद-सूर्य एवं समस्त विश्व-ब्रह्मांड में हूं, तो यह एक बहुत बड़ी अतिशयोक्ति होगी और मन का बहुत बड़ा भ्रम होगा। यह किसी का अपना अनुभव नहीं है कि मैं संसार के सारे पदार्थों में व्याप्त हूं। अतएव 'मैं सब में हूं' इसका तात्पर्य यह है कि सभी देहों में 'मैं'-'मैं' स्वीकारने एवं कहने वाले जीव हैं, चेतन हैं, आत्मा हैं। वही प्रति शरीर में 'मैं' हूं। सब में 'मैंपन' तो समान है परन्तु 'मैं'-'मैं' कहने वाले सब देहों के जीव अलग-अलग हैं। इस जीव को ही चेतन एवं आत्मा कहते हैं। मानो दस आदमी बैठे हों, तो तुम देखोगे कि दसों में 'मैं' कहने वाले जीव एवं आत्मा विद्यमान हैं। सब कहते हैं कि मैं खाता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह बात मानूंगा, मैं यह बात नहीं मानूंगा इत्यादि। इस प्रकार सबके भीतर 'मैं' तत्त्व एक दूसरे से सर्वथा अलग है। अर्थात सब में 'मैंपन' एक है, परन्तु व्यक्तित्व सबका अलग-अलग है। अतएव ज्ञानी कहता है कि 'मैंपन' तो सब में है। अर्थात सभी शरीरों में अलग-अलग आत्म-अस्तित्व है।

इस पंक्ति का दूसरा वाक्यांश है "हौं ना हौं" जिसका सरल अर्थ है 'मैं नहीं हूं'। इसका अभिप्राय यह है कि मैं कोई विजाति तत्व देहादि नहीं हूं। न मैं देह हूं, न मैं प्राण हूं, न मैं मन हूं, न मैं बुद्धि हूं, न मैं विश्व-ब्रह्मांड हूं। यह वाक्यांश सांख्यकारिका के इस वाक्यांश की याद कराता है, "न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं"[1] इस निषेधात्मक स्वर में सारे विजाति तत्वों एवं क्रियाओं को अस्वीकार कर शुद्ध चेतन पुरुष की स्थिति बतायी गयी है। इस पूरी कारिका का भाव है "इस प्रकार तत्व के अभ्यास से यह निश्चित हो जाता है कि न मैं क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। ऐसी स्थिति में कुछ बाकी नहीं रहता, यहां भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध 'केवल' ज्ञान उत्पन्न होता है।"[2]

'मैं' के दो रूप हैं। एक शुद्ध आध्यात्मिक एवं परमार्थ रूप और दूसरा मायिक। 'हौं सबहिन में' कहकर मैं का पारमार्थिक रूप बताया गया है। 'सबहिन में' को तो इतना ही

---

१. नास्मि न मे नाहम्।

२. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। *सांख्यकारिका, ६४।।*

समझ लीजिए कि सभी देहों में अलग-अलग चेतन जीव हैं। जैसे मैं हूं, वैसे अन्य देहों में भी मैं-स्वरूप चेतन जीव हैं। "हौं सबहिन में हौं ना हौं" इस वाक्यांश में इतना ही समझिए कि मैं हूं भी और नहीं भी। अर्थात चेतनरूप से मैं हूं और देहरूप से मैं नहीं हूं। जिस प्रकार घटरूप से घट है, किन्तु पटरूप से घट नहीं है। यदि पट घट में रखा है तो पट को यह न मान लेना चाहिए कि वह घट है। वह तो उस समय घट में केवल रखा है न कि पट घट है। इसी प्रकार जीव केवल शरीर में है। यह न मान लेना चाहिए कि जीव शरीर है। अतएव जीव चेतनरूप में है, देहरूप में नहीं है। मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्यता है और परम तथ्य है, किन्तु मैं देह हूं, अमुक अवस्था एवं रंगरूप वाला हूं, अमुक जाति-वर्ण वाला हूं—यह मानना मायिक है। यह अहंकारपूर्ण है। परमार्थ की भाषा में जो अपना नहीं है उसको अपना मानना अहंकार है और परमार्थ की दृष्टि से जीव के अलावा जीव का कुछ भी नहीं है। मेरी चेतना के अलावा मेरा कुछ नहीं है। अतएव यदि व्यक्ति अपनी चेतना के अलावा किसी भी वस्तु को मैं तथा मेरी मानता है तो यह उसका अहंकार है, मायिक है। किन्तु मैं शुद्ध चेतन हूं यह परमार्थ है, सत्य है एवं अटल सिद्धांत है। इस प्रकार मैं शुद्ध चेतन हूं, किन्तु मैं देह नहीं हूं।

"मोहि बिलग-बिलग बिलगाइल हो।" विवेकियों ने मुझे अलग-अलग समझा है। हर जीव दूसरे से अलग है। यदि सब जीवों को एक माना जाय तो यह असंभव एवं व्याघात-दोष से दूषित होगा। 'सब' और 'एक' यही कथन परस्पर विरोधी है। सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जीव असंख्य हैं और एक दूसरे से अलग हैं। अलग-अलग होने से ही किसी का अभी जन्म हो रहा है, कोई शिशु अवस्था में है, कोई बालक, कोई तरुण, कोई वृद्ध एवं कोई जरजर अवस्था में है, कोई मर रहा है, कोई बद्ध है तथा कोई मुक्त है। इस प्रत्यक्ष अनुभव का अपलाप करना ज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा भ्रम पैदा करना है। जो जैसा हो उसे वैसा स्वीकारना ही सच्चा ज्ञान है। इसके अलावा चेतन जड़ से सर्वथा अलग है ही। इस प्रकार जड़-चेतन दोनों मौलिक और भिन्न-भिन्न हैं। न जड़ से चेतन पैदा हुए न चेतन से जड़, और न दोनों कभी एक हो सकते हैं। सब चेतन जीव भी एक दूसरे से सर्वथा अलग-अलग हैं। सभी चेतनों का ज्ञान गुण एक है, परन्तु सबका व्यक्तित्व सर्वथा अलग-अलग है।

"ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो।" यह अविद्या रूपी चद्दर मानो मेरा एक ओढ़ना है, आवरण है। इसी आवरण के नाते जड़-चेतन की एकता प्रतीत होती है। महर्षि पतंजलि ने अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है "अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख में सुख तथा अनात्म (जड़) में आत्म (चेतन) बुद्धि होना अविद्या है।"[१] संक्षिप्त में कहें तो जड़-चेतन एक मान लेना अविद्या है। अविद्या में सारे काले अक्षर भैंस बराबर लगते हैं, परन्तु विद्या में अक्षरों, शब्दों एवं वाक्यों के विभाजन तथा उनके अर्थ अलग-अलग लगते हैं। बादलों से ढकी हुई भादों की घोर अंधियारी रात में सब काला दिखता है, परन्तु सूर्य उगने पर सब कुछ अलग-अलग दिखता है। अतएव जड़-चेतन में

---

१. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। *(योगदर्शन २/५)*

विवेक न कर पाना अविद्या है और जड़-चेतन अलग-अलग समझ लेना विद्या है, ज्ञान है। यह अविद्या ही जीव का ओढ़न है, पिछौरा एवं चादर है। यही जीव के ज्ञान को ढाकती है। इस चादर को फाड़-फेंकना कल्याणार्थी का परम कर्त्तव्य है।

"एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों शशि घट जल झाँई हो।" यह मान्यता भी एक अविद्या ही है कि एक चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब जैसे असंख्य घड़ों के जल में एक साथ ही पड़ते हैं, वैसे एक ही ब्रह्म के चेतनाभास सभी देहों में पड़ते हैं। यह अविद्या क्यों है, इस पर थोड़ा विचार कर लें। पहली बात तो यह है कि एकदेशी पदार्थ का ही दूसरे देश में रहे हुए पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है, सर्वदेशी पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। चन्द्रमा एकदेशी है। उससे और घटों में देश की दूरी है, तब जाकर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब अनेक घटजलों में पड़ते हैं। यदि चन्द्रमा सर्वव्यापक होता, तो किसी घटजल से उसकी दूरी न होने से तथा उसमें व्यापक होने से प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव ही नहीं होता। जिस ब्रह्म के लिए चन्द्रमा का उदाहरण दिया जाता है उस ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक बताया जाता है, और यहां तक भी बताया जाता है कि उसके अलावा कुछ है ही नहीं, फिर उसके प्रतिबिम्ब किसमें और कैसे पड़ सकते हैं? दूसरी बात यह है कि प्रतिबिम्ब जड़ होते हैं, परन्तु सभी शरीरों में जीव चेतन हैं। बिम्ब गंदा होने से प्रतिबिम्ब गंदे होते हैं और स्वच्छ होने से स्वच्छ। फिर शुद्ध ब्रह्म के प्रतिबिम्ब जब सब जीव हैं तब वे बुरे आचरण वाले क्यों हो जाते हैं! जिसको चन्द्रवत बिम्ब कहते हैं उस ब्रह्म का कहीं पता नहीं चलता और जिनको प्रतिबिम्ब कहते हैं वे जीव ही ब्रह्म की व्याख्या कर रहे हैं। आज तक सारे ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण जीव ने ही किया है जिसे वे प्रतिबिम्ब कहते हैं और जिसे बिम्ब कहते हैं उसका आज तक पता-लता नहीं है। अतएव प्रतिबिम्बवाद स्वस्वरूप-अज्ञान का फल है। जीव अपने पूर्ण स्वरूप के अज्ञान से स्वयं को प्रतिबिम्ब मानता है तथा जो केवल कल्पना का विषय है उसे परम श्रेष्ठ मानता है।

"एक समान कोइ समुझत नाहीं, जाते जरा-मरण भ्रम जाई हो।" कोई यह नहीं समझता कि सब जीव एक नहीं, किन्तु एक समान हैं, जिससे जरा-मरण और उसके मूल में रहे हुए भ्रम का अन्त हो। जन्म, जरा एवं मृत्यु आदि के चक्कर का मूल है विषयों में सुख-भ्रम और विषयों में सुख-भ्रम का भी मूल है देह को अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम। इन सारे भ्रमों का अन्त तथा जन्मादि चक्कर का अन्त होता है स्वरूपज्ञान में। और उसके साथ यह समझना कि मेरे ही समान अन्य जीव भी हैं जिनके साथ हमें करुणा का व्यवहार करना चाहिए। निजस्वरूप के ज्ञान से देहाभिमान तथा विषयासक्ति नष्ट होते हैं और अपने समान अन्य जीवों को समझने से उनके साथ प्रेम, करुणा एवं दया का व्यवहार होता है। यदि जीव एक ही होता तो न व्यवहार होता और न करुणा, दयादि गुणों की आवश्यकता होती। जीव नाना हैं, इसलिए उन्हें अपने समान मानकर अहिंसा, करुणादि का सुन्दर व्यवहार करना चाहिए।

"रैन दिवस ये तहवाँ नाहीं, नारि-पुरुष समताई हो। हौं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो।" निज चेतनस्वरूप में रात-दिन, स्त्री-पुरुष, बालक, जवानी एवं बुढ़ापा का भेद आदि नहीं होते। रात और दिन इंद्रियजन्य अनुभव है। शुद्ध चेतन में, जहां देह

और मन दोनों नहीं हैं, देह तथा मन न होने से वहां मानो पूरा संसार ही नहीं है, फिर वहां रात-दिन के भेद का क्या प्रश्न है! गीताकार इसके लिए ठीक ही कहते हैं "न वहां सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा चमकता है और न वहां अग्नि ही चमकती है, जिसे प्राप्तकर पुनः उससे लौटना नहीं होता वह मेरा धाम है।"[१] मेरा धाम, अपना धाम, जीव का परमधाम उसका अपना चेतनस्वरूप ही है। जो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसका रैन-दिवस आदि प्राकृतिक घटनाओं से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। शुद्ध चेतनस्वरूप में प्रकृति की गंध भी नहीं है। बोधवान देह में रहते-रहते सांसारिकता से अपने आपको ऊपर उठा लेते हैं। वे देखते हुए मानो नहीं देखते, सुनते हुए मानो नहीं सुनते, खाते हुए मानो नहीं खाते, क्योंकि वे सबसे अनासक्त रहते हैं। वे निरर्थक तथा अनर्थक क्रिया तो करते ही नहीं, केवल उतने ही कर्म करते हैं जिनके बिना जीवन का निर्वाह न चले।

वे समझते हैं कि स्त्री-पुरुष शरीर के लिंग हैं तथा बालपन, जवानी और बुढ़ापा शरीर की अवस्थाएं हैं। मेरे शुद्ध चेतनस्वरूप से इनसे कोई मतलब नहीं। मेरी आत्मा तो अ-लिंगी तथा सर्व अवस्थातीत है। इसलिए वे चमक-दमक में नहीं भूलते। न वे अपने माने हुए शरीर में मोहते हैं और न दूसरे के शरीर में। वे समस्त प्राकृतिक दृश्यों से अतीत अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में सदैव स्थित रहते हैं।

"त्रिविधि रहौं सभनि मां बरतों, नाम मोर रमुराई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं तीनों पन, तीनों अवस्थाओं तथा उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ स्थितियों, सब में रहता हूं और अनुकूल-प्रतिकूल सभी दशाओं में सम रूप से बरतता हूं, इसलिए मेरा नाम रामराजा है। 'संस्कृत हिन्दी कोश' में वामन शिवराम आप्टे ने राम के इतने शाब्दिक अर्थ किये हैं—१. सुहावना, आनंदप्रद, हर्षदायक, २. सुन्दर, प्रिय, मनोहर, ३. मलिन, धूमिल, काला तथा ४. श्वेत। परन्तु कबीर साहेब का इष्ट राम निज़ चेतनस्वरूप है। सब घट में रमने से इस चेतन का नाम सन्तों ने राम रखा है। यह चेतन ही परम रमणीय है। इसके न रहने से कोई शरीर रमणीय नहीं हो सकता। इसलिए यह चेतन ही राम है और यही सारे ज्ञान-विज्ञान का स्वामी होने से राजा है। अतएव ज्ञानी कहता है कि मैं ही रामराजा हूं।

"पठये न जाऊँ आने नाहिं आवों, सहज रहौं दुनियाई हो।" ज्ञानी कहता है कि मैं किसी के भेजने से कहीं जाता नहीं और किसी के बुलाने से कहीं आता नहीं। मैं संसार में सहज रूप से रहता हूं। जीव चाहे संस्कारों की बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, उसके ऊपर कोई अन्य कर्ता नहीं है कि वह उसे विवश कर सके। यदि वह कर्मवश है तो अपने बनाये संस्कारों के अनुसार ही उसका गमनागमन होता है और यदि वह मुक्तावस्था में है तो कृतार्थ एवं स्वरूपस्थ है ही। वस्तुतः यह ज्ञानावस्था की बात है। ज्ञानी किसी के अधीन नहीं होता है। वह स्वतन्त्र बोधभाव में विराजमान होता है। उसका कोई इष्टानिष्ट नहीं कर सकता।

---

१. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ *गीता, १५/६॥*

"जोलहा तान बान नहिं जाने, फाटि बिने दश ठाँई हो।" जो अनाड़ी जोलाहा ताना-बाना नहीं समझता वह थान को दस जगह खराब करके बुनता है। 'फाटि' कहते हैं फाड़कर, खराब कर। 'दश ठाँई' का मतलब गिनती में दस जगह नहीं है, किन्तु उसका लक्षणा अर्थ है बहुत जगह। अर्थात जिसे सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, वह उसे बहुत जगह खराब करके कुछ करता है। यह अविवेकी मन अनाड़ी जुलाहा है। यह जीवन-वस्त्र को जगह-जगह फाड़कर बुनता है। तात्पर्य है कि जीवन जीने का कायदा न जानने से यह मन जीव को दस जगह उलझाकर इसे भव-बंधनों में डाल देता है। जिसका मन ज्ञानवान है, जो विवेक में जाग्रत है, वह जीवन का वस्त्र सुव्यवस्थित बुनता है। वह जीवन के सारे व्यवहार सुलझाकर करता है। वह अपने आप को कभी उलझाता नहीं।

"गुरु परताप जिन्हें जस भाष्यो, जन बिरले सो पाई हो।" जिसको जैसा गुरु मिला, उसने उसे जैसा बताया, उसको वैसा निश्चय हुआ। कहा जाता है "पानी की मात्रा के अनुसार मछलियां होती हैं। गड्ढे में छोटी मछलियां हो सकती हैं, नदी में बड़ी तथा समुद्र में सर्वाधिक बड़ी। समुद्र में रहने वाली जैसी मछली गड्ढे तथा नदी में नहीं हो सकती। कुल-परम्परा के अनुसार आचरणों की शुद्धि होती है, और जिसको जैसा गुरु मिलता है उसको वैसी बुद्धि मिलती है।"[1] अतएव जो व्यक्ति जैसे गुरु के प्रभाव में आता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। सच्चा और निष्पक्ष ज्ञान तो किसी बिरले को होता है। गुरु श्रद्धेय हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं, ये सारी बातें ठीक हैं, परन्तु गुरु की परख भी सत्य से होती है। अतएव जो उदार होकर गुरु की बातों पर भी विचार करता है वही सत्य का मोती पाता है। बिना विचार किये गुरु की बात पकड़कर बैठ जाने से काम नहीं बनता। तुम्हें ठीक-ठाक गुरु न मिले हों, तो उनकी बातों में चिपके न रहो, किन्तु स्वतन्त्र विचार करो, और सच्चे गुरु की खोज करो। जो विनम्र गुरुभक्त तथा साथ-साथ निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र चिंतक होता है वही सत्यज्ञान का मोती पाता है और ऐसा आदमी बिरला ही होता है। यही 'जन बिरले सो पाई हो' का अभिप्राय है।

"अनन्त कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो।" जैसे कोई हीरा को चूर्ण बना दे तो वह फिटकरी के दाम भी न बिके, वैसे जीव को असंख्यों भ्रांत मान्यताओं ने झकझोरकर रख दिया है। इसलिए यह अपने आपको आभास, प्रतिबिम्ब, तुच्छ, किंचिज्ञ, अल्पज्ञ आदि बड़ी-बड़ी घृणित मान्यताओं से पंकिल कर लिया है। इसलिए इसकी कीमत, इसकी मर्यादा तथा इसकी प्रतिष्ठा लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, धातु आदि के बने जड़ देवी-देवताओं तथा नदी, पेड़, पहाड़ के समान भी नहीं रह गयी है। यह चेतन सम्राट जड़ पेड़-पत्थर के सामने घुटने टेककर उनसे भोग और मोक्ष मांगता है। सद्गुरु का कितना मार्मिक वचन है, यह समझते ही बनता है।

"सुर-नर-मुनि जाके खोज परे हैं, कछु-कछु कबिरन पाई हो।" सुर, नर, मुनि अर्थात सभी प्रबुद्ध लोग जिसकी खोज के पीछे पड़े हैं, उसे कबीर ने कुछ-कुछ पा लिया है।

---

१. जल परमाने माछली, कुल परमाने शुद्धि।
जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि।।

'कबिरन' शब्द बीजक में प्रायः खंडनपरक है, परन्तु यह कहीं-कहीं पद बैठने के लिए कबीर की जगह पर प्रयुक्त हो सकता है। यहां ऐसे लगता है। इस पंक्ति में "खोज परे हैं" और 'कुछ-कुछ' मार्मिक शब्द हैं। 'खोज परे हैं' में सुर, नर तथा मुनियों के लिए व्यंग्य है कि वे परमतत्व की खोज में पड़े हैं। वस्तुतः वह बाहर खोजने की वस्तु नहीं है, किन्तु आत्मशोधन की वस्तु है। परमतत्त्व निजात्मबोध ही है। उसको बाहर खोजना नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप समझकर तथा वासना त्यागकर स्थित होना है। 'कछु-कछु कबिरन पाई हो।" में कबीर साहेब की अपनी विनम्रता है। अपनी स्थिति सुदृढ़ होने पर भी विनम्रता की भाषा में यही कहा जाता है कि कुछ-कुछ ठीक है।

विद्या-द्वारा अविद्या-माया का विनाश

कहरा–११

ननदी गे तैं बिषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे॥ १ ॥
आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥ २ ॥
मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे॥ ३ ॥
जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे॥ ४ ॥
माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे॥ ५ ॥
आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे॥ ६ ॥
जौं लौं श्वास रहै घट भीतर, तौं लौं कुशल परी हैं गे॥ ७ ॥
कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ननदी = पति की बहन, कुमति। विषम = कठिन, असाधारण, अद्वितीय। सोहागिनि = सुहागिन, सधवा स्त्री, सौभाग्यवती। निन्दले = नींद में ले लेना, बेभान कर देना। खसम = स्वामी, जीव। बाप = अहंकार। मैं = विद्या। जेठानी = अविद्या। रसिक के जग में = संसारी अवस्था। माई = माया। पिता = अहंकार। सरा = चिता। सँगाती = साथी। मन्दिर = शरीर।

भावार्थ—विद्यावृत्ति कहती है कि अगे ननदी कुमति! तू बड़ी एवं अद्वितीय सौभाग्यवती है। तूने संसार के सारे जीवों को मोह की नींद में सुला रखा है॥१॥ मैं जब आती हूं तब देखती हूं कि तुम और मेरे स्वामी जीवात्मा एक साथ सोये हुए हैं, अर्थात जीव तुम्हारे पंजे में पड़कर माया-मोह में डूबा है॥२॥ मेरे पिता-अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं विद्यावृत्ति हूं और दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति है॥३॥ जब मैं ज्यादा सांसारिक अवस्था में थी तभी संसार के लोगों ने ये बातें जान ली थीं कि जीव की अविद्यावृत्ति के पीछे विद्यावृत्ति उत्पन्न हो गयी है॥४॥ मेरे अर्थात विद्यावृत्ति के पैदा होने पर तो जीवन का चित्र ही बदल गया, वह यह हुआ कि मेरे अहंकार-पिता के साथ मेरी माया-माता मर गयी और उसके दूसरे संगी-साथी भी ज्ञान-चिता रचकर उसमें जल मरे॥५॥ इस प्रकार माया-माता स्वयं तो मरी ही और भी अपने लोग-कुटुम्ब तथा संगी-साथियों को लेकर मर गयी॥६॥ जब तक शरीर में श्वास है तब तक अपना कुशल-मंगल करने का अवसर

है।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि जब श्वास निकल जायेगा तब शरीर आग में जल जायेगा और तब साधना करने का अवसर समाप्त हो जायेगा।।८।।

व्याख्या—इस कहरा में ननदी, खसम, बाप, मेहररुआ, जेठानी आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग है। कबीर साहेब अपनी गूढ़-से-गूढ़ बातों को प्रतीकों में कहने में बहुत माहिर हैं। यहां कैसा मार्मिक विचार कैसे साधारण प्रतीकों में कहते हैं और वे कितने सटीक हैं, यह सब सोचते ही बनता है।

इस पूरे कहरा में विद्यावृत्ति का भाषण है। विद्यावृत्ति का तात्पर्य है ज्ञानवृत्ति। वृत्ति कहते हैं मन की अवस्था को और विद्या का अर्थ है ज्ञान। अतएव मन की ज्ञानावस्था ही विद्यावृत्ति है। जब मनुष्य में यह पैदा होती है तब अविद्यावृत्ति की निवृत्ति होने लगती है। अविद्यावृत्ति का अर्थ है मन की अज्ञान अवस्था।

मिथिला-देश में स्त्रियां आपस में बात करते समय 'गे' या 'अगे' का संबोधन करती हैं। वहां की भाषा का प्रभाव इस कहरा की हर पंक्ति में 'गे' को लेकर परिलक्षित होता है। इस पद की पहली पंक्ति है "ननदी गे तैं बिषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे।" विद्यावृत्ति अविद्यावृत्ति को अपनी ननद कहती है। ननद पति की बहिन को कहा जाता है। बेसमझ ननद भाभी को कष्ट देने के फेर में रहती है। बीजक में तो संशय और कुमति के लिए 'सासु-ननद' एक मुहावरा ही बन गया है। यहां विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति-ननदी! तू बड़ी सौभाग्यवती है। तूने सारे संसार को मोह की नींद में सुला दिया है। यहां ज्ञानवृत्ति कुमति की प्रशंसा करती है, क्योंकि संसार में कुमति का ही बोलबाला है। कुमति को यहां सुहागिन कहा गया है। सुहागिन उस स्त्री को कहते हैं जिसका पति जीवित हो। जिसका पति जीवित है वह सौभाग्यवती मानी जाती है। कुमति का पति अज्ञान है। यदि कुमति है तो मानो अज्ञान जीवित ही है। बिना अज्ञान के कुमति रह ही नहीं सकती। अज्ञान है इसलिए कुमति है और इसलिए कुमति सौभाग्यवती है। कुमति का सर्वत्र राज्य है। जो नहीं सोचना चाहिए उसे सोचना, जो नहीं कहना चाहिए उसे कहना, जो नहीं करना चाहिए उसे करना, जो नहीं खाना-पीना चाहिए उसे खाना-पीना तथा इसी प्रकार जो व्यवहार नहीं बरतना चाहिए उसे बरतना, यही सब कुमति के राज्य का विस्तार है। देखा जाता है कि संसार में इन्हीं सब का बोलबाला है, इसलिए कुमति का राज्य है, कुमति सौभाग्यवती है, कुमति सुहागिन एवं अज्ञानपति से सदैव संयुक्त है।

विद्यावृत्ति कहती है कि हे कुमति-ननदी! तूने सारे संसार को मोहनींद में सुला दिया है। विचारकर देखो तो लगेगा कि इस संसार में कोई बिरला जागता होगा, शेष तो सब सो रहे हैं। विद्यावृत्ति अर्थात ज्ञान कह रहा है कि हे कुमति! तूने संसार के सारे लोगों को मोह-मूढ़ता में सुला दिया है। संसार के लोग मोह में सोते हैं, परन्तु इसका पता उन्हें नहीं है। यह तो विद्यावृत्ति उत्पन्न होने पर ही पता लगता है, यह सब तो ज्ञानोदय में जाना जाता है कि संसार के लोग सो रहे हैं। संसार के लोग नहीं जान पाते हैं कि हम सो रहे हैं, किन्तु जो जाग गया है वह जानता है कि संसार के लोग सो रहे हैं।

"आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।" विद्यावृत्ति कुमति से कहती है कि मैं जब आती हूं तब यही देखती हूं कि तुम और मेरा स्वामी जीव एक साथ

सोये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब-जब मन में ज्ञान का उदय होता है तब-तब यह पता चलता है कि जीव कितनी घोर कुमति में सोया है। सब जीव कुमति में, अज्ञान में एवं मोह में सोये हैं, परन्तु जो सोये हैं उन्हें इसका पता नहीं है कि हम अज्ञान में डूबे हैं। वो तो उस जीव को इसका पता चलता है जिसके हृदय में विद्यावृत्ति का उदय हो गया है, जिसके मन में ज्ञान का प्रकाश हो गया है। ज्ञानोदय में ही अज्ञान का पता लगता है कि हम कितने बुरे संस्कारों में डूब जाते हैं। अज्ञानी आदमी अपनी मनोवृत्ति को देखता ही नहीं, किन्तु ज्ञानी अपनी मनोवृत्ति को देखता है। इसलिए उसे पता चलता है कि अभी हृदय में कितना कूड़ा-कचड़ा भरा है। अतएव विद्यावृत्ति कहती है कि हे ननदी, हे दुखदायी कुमति! तू मेरे स्वामी जीव को सब समय भव में डुबाये रखती है।

"मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि मेरे पिता अहंकार की दो पत्नियां हैं, एक मैं तथा दूसरी मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अहंकार से ही विद्या तथा अविद्या दोनों वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि अहंकार से अविद्या का पैदा होना तो जमता है, परन्तु विद्या अर्थात ज्ञान भी अहंकार से पैदा होता है यह बात नहीं जमती। परन्तु ध्यान देने से बात समझ में आ जायेगी। यह समझ लेना चाहिए कि बिना अहंकार के जीव के मन, वाणी तथा इन्द्रियों से कोई कर्म नहीं हो सकता। सारे कर्म एवं करतूति के मूल में अहंकार है। अहंकार का एक रूप होता है जिसमें जीव का बंधन होता है, परन्तु उसके दूसरे रूप से बंधन खुलते हैं, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि शुद्ध अहंकार में भी असावधानी की जाय तो वहां भी बंधन बन जायेगा। शरीर में आग लग जाय तो शरीर जल जायेगा, परन्तु शरीर में आग न हो तो शरीर रह नहीं सकता। शरीर की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए शरीर में आग चाहिए ही। शरीर में आग होने से ही शरीर में डाला गया भोजन पचता है। परन्तु हम अधिक या बहुत कम भोजन करके शरीर की अग्नि का दुरुपयोग करें तो वह शरीरस्थ अग्नि ही शरीर के लिए अहितकर हो जायेगी। इसी प्रकार अशुद्ध अहंकार से मन, वाणी तथा इन्द्रियों में अशुद्ध कर्म होते हैं और शुद्ध अहंकार से शुद्ध कर्म। अतएव अविद्यावृत्ति का उदय तो अहंकार से हुआ ही है, परन्तु विद्यावृत्ति का उदय भी अहंकार से ही हुआ है। बस, अहंकार के दोनों रूपों में क्रमशः अशुद्ध तथा शुद्ध विशेषण का अन्तर है। अशुद्ध अहंकार जीव को बांधने वाला है; किन्तु शुद्ध अहंकार में भी गाफिली की जाय तो यह भी बांधने वाला बन जायेगा। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति बंधनप्रद है ही किन्तु कल्याणकारिणी विद्यावृत्ति का दुरुपयोग करने से, उसमें आसक्त होने से वह भी बांधने वाली बन जायेगी।

अविद्या और विद्या, ये दोनों वृत्तियां अहंकार से ही पैदा होती हैं। अविद्यावृत्ति तो पहले से ही विद्यमान है, परन्तु विद्यावृत्ति पीछे पैदा होती है। अज्ञान के बाद ही ज्ञान होता है। अविद्यावृत्ति के बाद ही विद्यावृत्ति होती है। एक प्रश्न और हो सकता है कि यदि अविद्यावृत्ति पहले से अर्थात अनादि से है तो उसका अहंकार से पैदा होने की बात अयुक्त है और यदि वह अहंकार से पैदा हुई है तो वह अनादि नहीं है? इसका उत्तर यह है कि आग और उसकी उष्णता दोनों अनादि हैं, परन्तु यह कहा जाता है कि आग से

उष्णता पैदा होती है। इसी प्रकार अहंकार और अविद्या अनादि हैं, परन्तु कहा जाता है कि अहंकार से अविद्या पैदा हुई है। अतएव अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति दोनों अहंकार से ही पैदा होने से दोनों उसकी पुत्रियां हैं, इसलिए विद्यावृत्ति ने कहा कि मेरे पिता की दो पत्नियां हैं, एक मैं और एक मेरी जेठानी अविद्यावृत्ति। अविद्यावृत्ति की उत्पत्ति पहले होने से अर्थात आनादिकाल के गर्भ में होने से वह जेठानी है। यहां जेठानी का अर्थ मात्र बड़ी है, जेठ की पत्नी नहीं। जैसे एक पुरुष की दो पत्नियां हों, तो उसमें से एक जो पहली विवाहिता है वह बड़ी है तथा पीछे की विवाहिता छोटी। इसी प्रकार अविद्यावृत्ति उम्र में बड़ी है तथा विद्यावृत्ति छोटी है।

"जब हम रहलि रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में थी तभी लोग मेरी बात जान गये थे। जीव पहले अविद्यावृत्ति में फंसा रहता है, इसलिए वह विषयों का रसिक रहता है। इसी बीच कुछ उसके पूर्व शुद्ध संस्कार तथा कुछ सत्संग एवं विवेक-जन्य पुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय होता है। अतएव जीव के रसिक अवस्था में रहते-रहते ही कुछ सत्संग एवं सत्पुरुषार्थ से विद्यावृत्ति का उदय हो जाता है। विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं रसिक के जग में पैदा हुई तभी जगत के लोग जान गये कि अहंकार का नाशक प्रकाश पैदा हो गया है, अमुक व्यक्ति के जीवन के अज्ञान-प्रदेश में ज्ञान का उदय हो गया है। वस्तुतः अविद्यावृत्ति तथा विद्यावृत्ति, दोनों वृत्तियां जीव के साथ अनादि से हैं। अन्तर यह है कि जीव अनादिकाल से अविद्यावृत्ति में ही लिपटा है। उसके साथ विद्यावृत्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। वह कभी-कभी तनिक-तनिक जाग जाती है जिससे जीव की स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं आता। परन्तु जब विद्यावृत्ति ठीक से जग जाती है तब अविद्या का नाश हो जाता है और जीव एकदम ज्ञानालोक से आलोकित हो जाता है। जीव का शुद्ध स्वरूप केवल ज्ञान है। वह तो अविद्यावृत्ति में लिपटे होने से दुखी है और विद्यावृत्ति के उदय होते ही अविद्या का नाश तथा मोक्ष संपादित हो जाते हैं।

"माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे। आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे।" विद्यावृत्ति कहती है कि जब मैं पूर्ण युवती हो गयी, अर्थात ज्ञान का अखंड प्रकाश हो गया तब मेरी माता मेरे पिता तथा अन्य साथियों को लेकर और चिता बनाकर उसमें जल मरी। इस प्रकार मेरी माता खुद तो मरी ही, किन्तु अपने मित्र, लोग, कुटुम्ब, संग एवं सभी साथियों को लेकर मर गयी। यहां माया माता है, अहंकार पिता है तथा लोग, कुटुम्ब, संग-साथी हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, प्रपंच, चिंता, शोक आदि समस्त मानसिक विकार। एक माया के जल जाने पर उससे उत्पन्न हुए सारे विकार जल जाते हैं।

मनुष्य को सत्संग करना चाहिए, यथार्थ सद्गुरु की खोज करनी चाहिए, उनके सत्संग में जड़-चेतन का निर्णय करना चाहिए और सबसे भिन्न अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को समझना चाहिए। फिर स्वरूपज्ञान के अभ्यास से विद्यावृत्ति का उदय होता है। वह अभ्यास से धीरे-धीरे प्रौढ़ हो जाती है। फिर अविद्या, माया, अहंकार तथा अन्य सारे मनोविकार नष्ट हो जाते हैं। इन सबके नष्ट हो जाने पर जीव समस्त वासनाओं से छुटा

हुआ होने से मुक्त ही है। अतएव विद्या का यह कहना बड़ा मार्मिक है "माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे।" मेरी माता-माया मेरे पिता-अहंकार को लेकर तथा अन्य कुटुम्बी-साथियों को लेकर एवं ज्ञान की चिता जलाकर उसमें जल मरी। विद्यावृत्ति ने माया, अहंकार, अविद्या तथा सारे मानसिक कूड़े-कचड़े का नाश कर दिया। उक्त सारे प्रतीकों एवं अलंकारों के जंजाल को हटाकर सरल अर्थ यह है कि मन से उत्पन्न हुए अज्ञान को, मन से उत्पन्न हुए ज्ञान ने नष्ट कर दिया और जीव शुद्ध बुद्ध स्वस्वरूप में स्थित हो गया।

उक्त मोक्ष का काम करने का अवसर वर्तमान समय है। इसमें चूको मत। इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है कि यह कब तक रहता है। साहेब कहते हैं कि "जौं लौं श्वास रहै घट भीतर, तौं लौं कुशल परी हैं गे। कहहिं कबीर जब श्वास निकरि गौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे।" सद्गुरु कहते हैं कि जब तक शरीर में श्वास चल रहा है तब तक सब कुशल-मंगल का काम करने का अवसर है। जिस दिन श्वास निकल जायेगा, उस दिन इस शरीर-मन्दिर में आग लगा दी जायगी और यह जल जायेगा। तब कुछ होने-जाने वाला नहीं है। इसलिए जीवन रहते-रहते सारे भ्रम को त्यागकर स्वरूपस्थिति करो।

तुम्हारे मन का मोह ही माया है, उसे त्यागो

कहरा—१२

ई माया रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो ॥ १ ॥
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो ॥ २ ॥
मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो ॥ ३ ॥
जंगल में के जंगल मारे, माया किन्हुँ न भोगी हो ॥ ४ ॥
बेद पढ़न्ते बेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो ॥ ५ ॥
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ॥ ६ ॥
शृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो ॥ ७ ॥
नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो ॥ ८ ॥
साकट के घर करता-धरता, हरि भक्तों के चेरी हो ॥ ९ ॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो ॥१०॥

शब्दार्थ—माया = मन का मोह तथा मोह के आलंबन। रघुनाथ = राम, जीव। बौरी = पगली। अहेरा = शिकार। चतुर = चालाक, बुद्धिवादी, तर्कशील। चिकनियाँ = बना-ठना, छैला, भावुक। चुनि-चुनि = खोजकर। दिगंबर = नंगे। जंगम = विचरणशील, लिंगायत संप्रदाय के साधु। सिंघल = भारत के दक्षिण का द्वीप जिसे श्रीलंका कहते हैं। साकट = निगुरा, ज्ञानरहित। चेरी = दासी।

भावार्थ—यह जीव ही की बनायी पगली माया जीव ही पर शिकार खेलने चली ॥१॥ इसने बुद्धिवादियों तथा छैलछबीले भावुकों, दोनों को खोज-खोजकर अपने

बाणों से आहत किया। इसने किसी को भी अपने जाल से अलग नहीं रहने दिया ॥२॥ इसने मौनियों, वीरों, दिगंबरों तथा ध्यान धारण करने वाले योगियों को भी मार गिराया॥३॥ माया ने जंगल में विचरने वाले तपस्वियों तथा शैवों को भी मारा। माया का तो कोई भोग नहीं कर पाया। किंतु माया ने ही भोग-लोलुपों को रगड़ दिया॥४॥ इतना ही नहीं, वेद पढ़ने वाले वेदाभिमानियों को भी माया ने धर दबोचा और पूजा करने वाले स्वामियों को भी॥५॥ इसी प्रकार उसने अर्थ-विचार तथा टीका-व्याख्या एवं भाष्य करने वाले पंडितों को दे पटका और सबको अपनी लगाम में बांध लिया॥६॥ माया ने वन के भीतर रहने वाले ऋष्य शृंग को पकड़कर मार गिराया और ब्रह्मा जी का तो उसने सिर ही फोड़ दिया॥७॥ मत्स्येन्द्रनाथ तो माया से पीठ देकर भागे अवश्य, परंतु माया ने उन्हें सिंहल में दे पटका और विषय में डुबा दिया॥८॥ यह माया निगुरों तथा अभक्तों के यहां तो स्वयं कर्ता-धर्ता बनकर उन्हें ठगती है और हरिभक्तों के यहां दासी बन कर उन्हें बेवकूफ बनाती है॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! मैं तो, माया सामने आते ही उसे लौटा देता हूं। माया से मुक्त रहने का यही सही तरीका है॥१०॥

व्याख्या—इस ग्रन्थ में साखी १०४-१०५, १४०-१४२, शब्द ५९ आदि की व्याख्या में माया की परिभाषा कर दी गयी है। वस्तुतः मन का मोह माया है और जिन प्राणी-पदार्थों से मोह उत्पन्न हो वे माया के आलंबन भी माया हैं। जब अपने हृदय में पूर्ण विवेक उदित हो जाता है तब वे ही प्राणी-पदार्थ मोह नहीं उत्पन्न कर पाते। परन्तु यदि हम असावधान हो जायें तो वे पुनः मोह उत्पन्न करने लगते हैं। अतएव माया मुख्यतः अपने मन का, अर्थात मन में रहा हुआ मोह ही है। अब विचारना यह है कि इस माया को किसने पैदा किया, अथवा यह माया किसकी बनायी है! सद्गुरु कहते हैं कि यह माया रघुनाथ की बनायी है। 'रघुनाथ' शब्द देखकर विद्वान लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और वे लोग जीव से अलग एक 'मायी' राम मान लेते हैं। 'मायी' कहते हैं माया-विशिष्ट को। वह ईश्वर है। वह जादूगर है, छलिया है। अतएव वे मानते हैं कि मानो जादूगर एवं छलिया ईश्वर ने अपनी माया-कुतिया को संसार के सभी लोगों पर लुहकार दिया अर्थात दौड़ा दिया है और वह सबको चुन-चुन कर मार रही है। बीजक-वर्णित माया का अर्थ इस प्रकार इसीलिए किया जाता है कि पहले से मन में यह भावना भरी है कि हरि-माया दुरत्यया है। प्रभु-माया सबको नचा रही है। परन्तु यह सिद्धांत न सत्य है और न मनुष्य का कल्याणकर। हमारे मन का मोह किसी दूसरे ईश्वर की देन नहीं है, किन्तु हमारे अविवेक का फल है, और इसका विनाश भी हम ही कर सकते हैं। मनुष्य ने माया बनायी है और वही उसे मिटा सकता है। मनुष्य के मन में जो मोह है वही माया है। उसको छोड़कर माया नाम की चीज कोई बाहर नहीं बैठी है जो मनुष्य के ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े। माया बलवती इसलिए लगती है कि हमारी उसमें आदत हो गयी है। बीड़ी छोड़ना इसलिए कठिन लगता है कि उसमें हमारी आदत प्रबल हो गयी है। परन्तु जब हमें उससे घृणा हो जायेगी तब बीड़ी छोड़ना सरल हो जायेगा। हमारे मन में बनी आदत, आसक्ति एवं मोहरूपी माया केवल हमारी बनायी है और इसे केवल हम ही मिटा सकते

हैं। बाहरी एक नहीं, करोड़ों ईश्वर मिलकर भी उसे नहीं मिटा सकते। गुरु भी केवल उपदेश दे सकते हैं, रास्ता बता सकते हैं, काम हमें ही करना पड़ेगा।

इस पर भी निवेदन किया जा चुका है कि कबीर साहेब के समय में हरि, राम, रघुनाथ आदि शब्दों का जनमानस में काफी प्रचार हो गया था। कबीर साहेब ने इन नामों को लिया, परन्तु जहां उन्होंने इन शब्दों को विधेयात्मक संदर्भ में लिया वहां इनका अर्थ आत्माराम रखा है। जनमानस में फैले हुए शब्दों को अपना विवेकपूर्ण अर्थ देना एक क्रांति है। कबीर साहेब की भाषा में यहां का 'रघुनाथ' शब्द जीव एवं आत्मा के लिए है। "ई माया रघुनाथ की बौरी" अर्थात यह जीव की बनायी पगली माया जीव पर ही शिकार खेलने चली। जीव ही ने तो सिगरेट पीने की आदत बनायी और यह आदतरूपी माया इतनी पगली हो गयी कि सिगरेट के डिब्बे पर यह लिखा देखकर भी कि 'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है', हम पीते जाते हैं। इससे अधिक पागलपन क्या हो सकता है! शराब पीने के बाद जो दशा होती है उसे शराबी जानता है, परन्तु फिर-फिर शराब पीता है। क्या यह पागलपन नहीं है। काम-भोग के बाद की क्षीण-मलिन स्थिति का ज्ञान हर कामी को है, परन्तु वह समय आने पर मर्यादित ही नहीं अमर्यादित व्यवहार भी कर पेट भर पछताता है। क्या यह बौरी माया का हमारे अपने ऊपर शिकार खेलना नहीं है! "कबीर माया राम की, चढ़ी राम पर कूद। हुकुम राम का मेटि के, भई राम ते खूद॥"[१] राम ही की माया राम को धरदबोची। अर्थात मनुष्य की ही बनायी आदत, वासना एवं मोहरूपी माया मनुष्य को पीड़ित कर रही है। जीव ही रघुनाथ है और इसके मन का मोह ही माया है। यही उलटकर जीव के लिए दुखद है।

'चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो।" यहां कबीर साहेब 'चतुर-चिकनियाँ' तथा 'चुनि-चुनि' कहकर सुन्दर अनुप्रास अलंकार का प्रयोग करते हैं। इसमें 'चतुर' और 'चिकनियाँ' ये दो शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं। यहां चतुर के मुख्य अर्थ हैं चालाक या बुद्धिवादी। इसमें सूक्ष्म व्यंजना है बुद्धि के अभिमानी के लिए। जिसे अपनी बुद्धि का बड़ा गर्व हो उसे यहां चतुर कहा गया है। दूसरा चिकनियां है। चिकनियां उसे कहते हैं जो अपने शरीर को बहुत सजाता हो, छैलछबीला बनकर रहता हो। चिकनियां में भावना की प्रधानता होती है। संसार में प्रायः दो प्रकार के मनुष्य होते हैं एक बुद्धिवादी तथा दूसरे भावुक। यहां चतुर बुद्धिवादी है तथा चिकनियां भावुक। सद्‌गुरु कहते हैं कि माया दोनों को धरदबोचती है। यथार्थ ज्ञान, साधना, संयम एवं सत्संग के बिना केवल बुद्धि की बाहुल्यता जीव को माया से नहीं बचा सकती। संसार में कितने लोग ऐसे मिलेंगे जो बुद्धि के सागर हैं। उनका तर्कजाल विस्तृत है। वे सही को गलत तथा गलत को सही सिद्ध करने में माहिर हैं। परन्तु वे मन-इन्द्रियों के दास हैं और वे समय-समय पर ऐसे कर्म करते हैं जो एक अनाड़ी की दृष्टि में भी हास्यास्पद है। फिर चिकनियां एवं भावुक की तो बात ही न्यारी है। वह तो शरीर के श्रृंगार एवं राग-रंग में उन्मत्त होता ही है। ऐसे मनुष्य को माया सहज ही लपेट लेती है। इस प्रकार सद्‌गुरु कहते हैं कि बुद्धिवादी तथा भावुक,

---

१. कबीर परिचय।

दोनों प्रकार के लोगों को माया मानो खोज-खोजकर मारती है। इन दोनों प्रकार के लोगों को फंसा लेने के बाद संसार में मानो कोई नहीं बचा। भावुकों को तो माया ने मारा ही, बुद्धिवादियों को भी मारा, तो बचा कौन! इन सबका अभिप्राय यही हुआ कि भावुक और बुद्धिवादी, सब अपनी वासनात्मक दुर्बलताओं के शिकार हैं। "बड़े आलिम वो फाजिल हैं, मगर विषयों के बस होकर। उसी रस्ते से आ निकले, जिधर नादान घिसता है।।"

"मौनी बीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो। जंगल में के जंगम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो।।" कुछ लोग बोलना छोड़ देते हैं और मौन हो जाते हैं। संसार में लड़ने-भिड़ने वाले शूर-वीर होते हैं, और शैव संप्रदाय में भी वीर-शैव कहलाने वाले साधु होते हैं। जो दिशाओं को ही वस्त्र मानकर नंगे हो गये हैं ऐसे नंगे साधुओं को दिगम्बर कहा जाता है। योगी लोग प्रायः धारणा, ध्यान आदि में लगे रहते हैं। जंगल में रहने वाले साधु-संन्यासी, विचरण करने से जंगम कहे जाने वाले तथा शैव लिंगायत जंगम साधु—इन सब को माया ने धर दबोचा। इन सब का अर्थ यह है कि मन का मोह, मन की नीच आदतें, काम-वासनाएं या इसी प्रकार अन्य मन की कुटेव, यही सब माया हैं, और ये सब केवल मौनी, वीर, नंगे, योगी, जंगम आदि बनने से नहीं जीते जा सकते। यह ठीक है कि यह सब साधना करना चाहिए। वासनाओं को जीतने के लिए ये सब आधार हैं। परन्तु साहेब का कथन गहराई से है। वे कहते हैं कि तुम बाहरी आचार कर बहुत शीघ्र उच्च साधक कहलाने लग सकते हो। तुम मौनी, दिगम्बर, योगी, शिवाचारी आदि बन सकते हो, परन्तु मात्र इतने से यह नहीं माना जा सकता कि तुम माया पर विजयी हो गये। सद्गुरु कहते हैं कि खबरदार! तुम बाह्याचार के धोखे में न रहना। यह माया, यह वासना बड़ी बलवती है। तुम यह भ्रम पाले रहोगे कि तुम मौनी-योगी आदि हो, परन्तु यदि तुम में सावधानी, विवेक तथा जागरूकता नहीं हैं तो बाहरी ढंग से साधक दिखते हुए भी भीतर से बह जाओगे। इसलिए बाह्याचार तथा वेष का कभी गर्व न करना। पुराकाल में विश्वामित्र, नीमीऋषि, नारद आदि बड़े-बड़े तपस्वी इसलिए गिर गये क्योंकि उन्होंने कुसंग का त्याग नहीं किया और न तो सावधानी बरती।

सद्गुरु कहते हैं "माया किनहुँ न भोगी हो।" किसी ने माया का भोग नहीं किया। अर्थात कोई माया को भोग नहीं पाया। जिस प्रकार मनुष्य की इच्छा रहती है वह भोगों को कहां भोग पाता है! जितनी इच्छा मन में पैदा होती है उसका शतांश भी मनुष्य नहीं भोग पाता। आदमी को इच्छा पूरी हुए बिना भोगों को तथा संसार को छोड़ना पड़ता है। भर्तृहरि ने भी कहा है "मैंने भोगों को नहीं भोगा, किन्तु भोगों ने ही मुझे भोग डाला, मैंने तप नहीं किया, किन्तु तप ने ही मुझे तपा डाला, काल समाप्त न हुआ किन्तु मेरी ही समाप्ति हो चली और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु मैं बूढ़ा हो गया।"[1]

---

१. भोगा न भुक्तः वयमेव भुक्तास्तपौ न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।। *भर्तृहरि वैराग्य शतक, १२।।*

"वेद पढ़न्ते वेदुवा मारे, पूजा करन्ते स्वामी हो।" वेदुआ लोग वेद पढ़ते-पढ़ते माया-द्वारा मारे गये। यहां कबीर साहेब ने वेदपाठी पंडितों को 'वेदुआ' कहा है। वेदपाठियों को बड़ा अभिमान होता है कि हम वेद का पाठ करते हैं जो सीधे ब्रह्म-वचन है। 'वेदुआ' शब्द में वेदाभिमान की व्यंजना है। वेदपाठ करके क्या होगा यदि मन अपने वश में नहीं है। यदि मलिन वासनाओं को न जीता गया तो वेद-शास्त्र-पाठ निरर्थक हैं। यह पीछे जगह-जगह बताया गया है कि मंत्रविद्, वेदविद् तथा वेद्यविद् तीन प्रकार के ज्ञाता होते हैं। जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दंड, रथ, घनपाठ वेदमंत्र के अवयव होते हैं। जो व्यक्ति इनका पूर्णज्ञान प्राप्त कर शुद्ध उच्चारणपूर्वक पाठ करता है वह मंत्रविद् है। जो वेदमंत्रों के अर्थों को जानता है वह वेदविद् है। परन्तु जो जीवन में जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद् है। वस्तुतः वेद्यविद् ही श्रेष्ठ है। परन्तु उसे भी जाने हुए को आचरण में उतारने पर ही माया पर विजय मिलेगी। 'आचरणहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।'[1] साहेब कहते हैं बड़े-बड़े स्वामी लोग जो निरन्तर पूजा-अर्चा में लगे रहते हैं, माया-द्वारा मारे जाते हैं। अतएव न तो वेदपाठ प्रमाण है आचरण-पवित्रता का और न पूजा। वेदपाठ और पूजा का दौरदौरा चलते हुए भी मन माया का गुलाम बना रह सकता है।

"अर्थ विचारत पण्डित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।" पंडित जो बुद्धि और विद्या से सम्पन्न होता है, वह बड़े-बड़े गूढ़ ग्रन्थों, पदों, श्लोकों, प्रतीकों, रूपकों, उलटवांसियों आदि से मार्मिक अर्थ निकाल लेता है, सुन्दर-सुन्दर टीकाएं, व्याख्याएं एवं भाष्य कर देता है, परन्तु इस प्रकार कितने अर्थ विचार करने वालों को माया तुच्छ-तुच्छ विषयों में पटक देती है। ऐसा आदमी अर्थ विचारते समय परम ज्ञानी होता है, परन्तु एकांत मिलने पर उसके मन की कुटेव एवं गलत आदतें उसे अनर्थ करने को तत्पर कर देती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया ने सबको लगाम लगा दिया। घोड़ा बड़ा बलवान होता है, परन्तु उसके मुख में लगाम लगा देने पर वह वश में हो जाता है। इसी प्रकार माया वासनावशी मनुष्यों को लगाम लगा देती है।

"शृंगी ऋषि बन भीतर मारे, शिर ब्रह्मा का फोरी हो। नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंघल हू में बोरी हो।।" इस माया ने ऋष्यशृंग को वन के भीतर मार गिराया, ब्रह्मा का सिर फोड़ दिया तथा मछन्दरनाथ को सिंहल में विषय-वासनाओं में डुबा दिया।

ऋष्य शृंग

विभांडक नाम के एक ऋषि थे।[2] वे जल में समाधि लगाकर बैठे थे। उर्वशी अप्सरा को जाते देखकर मोहित हो गये। उनका वीर्य निकल गया। एक मृगी वहां पानी पी रही थी। उसने पानी सहित उस वीर्य को पी लिया। उसे गर्भ रह गया। समय से एक बच्चा हुआ। बच्चा मनुष्य था, परन्तु उसके सिर पर एक सींग था। विभांडक ने उस बच्चे का

---

१. आचारहीनः न पुनन्ति वेदाः।

२. महाभारत, वनपर्व, अध्याय ११० से ११३ तक।

नाम ऋष्यशृंग रखा। ऋषि ने उसे स्वयं पाला।

ब्राह्मणों के कोप के कारण अंगदेश[1] में घोर अवर्षण से अकाल पड़ा। पंडितों ने कहा कि विभांडक ऋषि के पास एक ऐसा बच्चा है जिसने अभी तक स्त्री का मुख तक नहीं देखा है, एवं शुद्ध ब्रह्मचारी है। यदि वह अंगदेश में आये तो देश में वर्षा होगी। अंगदेश के राजा लोमपाद थे। उन्होंने वेश्याओं को भेजा। वे नौका में बैठकर विभांडक ऋषि के आश्रम पर गयीं। उन्होंने आश्रम से दूर ही अपनी नौका रोककर यह पता लगाया कि विभांडक कब आश्रम से बाहर जाते हैं। जब विभांडक ऋषि आश्रम से बाहर थे, उस समय एक वेश्या आश्रम पर जाकर ऋष्यशृंग को मिली। उसने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। उनके अंगों को छुआ और प्रेम से बात किया। उन्हें खाने के लिए मीठे-मीठे फल दिये और विभांडक के आश्रम पर पहुंचने के पहले वह अपने डेरे पर लौट गयी। जब विभांडक आश्रम पर आये तब ऋष्यशृंग ने यह सब पुलकित होकर बताया कि एक सुन्दर मनुष्य आया था। वह बड़ा प्रेमी था। उसके अंगों के लक्षण भी बताये। विभांडक समझ गये कि ये लक्षण तो स्त्रियों के हैं। उन्होंने दूसरे दिन जब फल एवं लकड़ी के लिए आश्रम से बाहर जाना चाहा तब ऋष्यशृंग को समझा दिया कि अब यदि वह आये तो उसकी उपेक्षा कर देना, क्योंकि वह बहुत बुरा जीव है।

विभांडक के बाहर जाने पर वेश्या पुनः आश्रम पर आयी। ऋष्यशृंग उसके व्यवहार में मोहित होकर उसके साथ अंगदेश चले गये। अंगदेश पहुंचने पर राजा लोमपाद ने उनके साथ अपनी पोष्यपुत्री शांता की शादी कर दी। इस प्रकार "शृंगीऋषि बन भीतर मारे" कहा गया।

इस कथा में ब्राह्मणों के कोप से अवर्षण बताकर ब्राह्मणों ने इस कथा में अपनी मिथ्या धाक जमायी है जो प्रायः उनकी मनोवृत्ति-सी रही है। साथ-साथ विभांडक ऋषि को इतना दुर्बल मन का सिद्ध किया है कि अप्सरा को देखते ही उनका वीर्य गिर गया। पुरुष का वीर्य मुख से पीने से मृगी गर्भवती हो जाय यह एक असत्य एवं प्रकृतिविरुद्ध बात है। सार इतना ही है कि माया ने ऋष्यशृंग को वन में विमोहित कर उन्हें अंगदेश की राजधानी में लाकर उनकी शादी करा दी।

"शिर ब्रह्मा का फोरी हो" कहा जाता है कि शिव-पार्वती के विवाह में ब्रह्मा उपस्थित थे। वे पार्वती के रूप-सौंदर्य देखकर विमोहित हो गये। इसे देखकर शिवजी को कोप हुआ और उन्होंने अपना हाथ उनके सिर पर मारा तो ब्रह्मा का सिर कटकर उनके हाथ में चिपक गया। विष्णु जी ने शिव को राय दी कि आप बदरिकाश्रम की तरफ जाकर तप करो तब हाथ से सिर अलग होगा। इस प्रकार ब्रह्मा के मन के मोह ने उनका सिर फोड़वा दिया। अथवा ब्रह्मा अपनी पुत्री पर मोहित हो गये।[2] इससे मानो उनका सिर फूट गया, बुद्धि मारी गयी।

---

१. अंगदेश पूर्वोत्तर बिहार का भागलपुर क्षेत्र है।

२. श्रीमद्भागवत, स्कंध ३, अध्याय १२/ मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में भी।

मत्स्येन्द्रनाथ

"नाथ मछन्दर चले पीठ दै, सिंहल हू में बोरी हो।" ईसा नवीं शताब्दी में मछन्दरनाथ हुए हैं। इनको मस्त्येंद्रनाथ तथा मीननाथ नाम से भी जाना जाता है। इनके गुरु आदिनाथ थे तथा इनके मुख्य शिष्य गोरखनाथ थे। गोरखनाथ ने अनेक जगह इस विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने एक षटपदी (छह पदों के छंद) के अंत में कहा है "यह षटपदी कहने वाला गोरख अवधूत आदिनाथ का नाती (प्रशिष्य) तथा मछन्दरनाथ का पुत्र (शिष्य) है।"[१]

अद्वैतवेदांत-मार्ग तथा योग-मार्ग, दोनों वैराग्य-प्रधान मार्ग हैं, परन्तु दोनों में एक-एक भयंकर दुर्बलता है। वेदांतमार्ग में यह मान लिया जाता है कि आत्मा के निर्मल होने के कारण यदि ज्ञानी की इन्द्रियां भोगों में लगी भी रहें तो कोई हानि नहीं है। इसलिए आदि शंकराचार्य को यह चित्रित किया गया कि उन्होंने परकाया प्रवेशकर रानियों के साथ भोगों को भोगा। वेदांत के इस निर्लिप्तवाद ने ही विरक्त शंकराचार्य को अत्यन्त कामलीन बताकर उन्हें निर्लिप्त सिद्ध किया है।[२] योग मार्ग की दुर्बलता है बज्रोली तथा अमरोली साधना। योगी अपने शिश्न से क्रमशः पानी, दूध तथा मधु खींचने का अभ्यास करता है। कहा जाता है कि इसके बाद उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि स्त्रीप्रसंग करते हुए वह अपने वीर्य को गिरने नहीं देता, प्रत्युत स्त्री के रज को भी अपने शिश्न-द्वारा खींच लेता है। इसे बज्रोली-साधना कहते हैं। योगी मानते हैं कि ऐसा करने वाला परम योगी है। गोरखनाथ जैसे वैराग्यवान योगी ने भी इसकी प्रशंसा में इस प्रकार लिखा है "जो बज्रोली साधना करे तथा उसके साथ अमरोली तथा प्राण साधना करे और भोग करते हुए अपने वीर्य को क्षीण न होने दे वह गोरख का गुरुभाई है। अग्नि की आंच पर पारा को उड़ने से बचाने के समान जो स्त्री-संग करते हुए अपना वीर्य न गिरने दे वह हमारा गुरु है।"[३]

उक्त वाणी चाहे गोरखनाथ ने खुद कही हो और चाहे उनके अनुगामियों ने उनसे कहलवाया हो, अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। यह बज्रोली-अमरोली-जैसी घृणित साधना वैराग्य का शत्रु, नैतिकता का नाशक तथा साधकों का नरक-पंथ है। योग के चोंगे में भोग का यह प्रपंच चलता रहा। वामाचार ने ते योग-मार्ग का नाश ही कर दिया है। कहा जाता है कि इसी वामाचार तथा बज्रोली आदि साधना के भ्रम में पड़कर मछंदरनाथ जैसा महायोगी महारानी मंगला और कमला की काम-क्रीड़ा का दास हो गया। ये महारानियां सिंहल देश के नरेश की थीं या भारत स्थित कामरूप (आसाम) की थीं, पक्का निर्णय नहीं है। ज्यादा

---

१. आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता। षटपदी भणींलै गोरख अवधूता।। गोरखबानी, पद २।।

२. देखिए माध्वाचार्य कृत शंकर दिग्विजय नवां-दसवां सर्ग। तथा इस ग्रंथ के १४वें शब्द की व्याख्या में भी।

३. बजरी करंतां अमरी राषै, अमरि करंता बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै, ते गोरख का गुरुभाई।।
भगमुषि ब्यंद अगनिमुषि पारा, जो राषै सो गुरू हमारा।।

(गोरखबानी, सबदी १४१-१४२, गोरखनाथ मंदिर)

प्रसिद्ध सिंहल है। इसीलिए सद्गुरु ने सिंहल का नाम लिया है। यह भी हो सकता है कि कामरूप में ही किसी क्षेत्र का सिंहल नाम रहा हो। कामरूप में वामाचार अधिक रहा है, यह परम सत्य है। जो हो, इतना सत्य है कि मछंदरनाथ वामाचार के चक्कर में राजरानियों के कामभोग में डूब गये। इस दुर्घटना का संदेश गोरखनाथ को योगी कान्हपा ने दिया कि तुम्हारे गुरु मछंदरनाथ योग-मार्ग को छोड़कर भोग-मार्ग में लग गये हैं। गोरखनाथ वहां गये जहां मछंदरनाथ रानियों के रंगमहल की वाटिका में विराजमान थे। वहां पहरा था, दूसरा कोई जा नहीं सकता था। अतएव गोरखनाथ ने उस घेरे के बाहर से गाया "जाग मछन्दर गोरख आया।" और भी उन्होंने अनेक पद ऐसे बनाकर गाये कि उन्हें सुनकर मछन्दरनाथ की मोह-नींद भंग हुई और गोरखनाथ से जा मिले। ऐसे पदों में से केवल दो पद यहां लें, जिनसे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

गोरखनाथ अपने गुरु मछन्दरनाथ को लक्ष्य बनाकर कहते हैं "हे गुरु जी! ऐसा कर्म न कीजिये जिससे शरीर के लिए अमृत के समान महारस-वीर्य क्षीण हो। ये स्त्री सिंहनी है। ये दिन में शृंगारकर हाव-भाव-कटाक्षकर पुरुष को मोहती है और रात में उसके वीर्य-सरोवर को सोखती है। ये मूर्ख पुरुष यह सब जानकर भी घर-घर में इस सिंहनी को पालते-पोषते हैं। नदी के तट पर लगा हुआ पेड़ अब गिरा-अब गिरा करता है, वैसे स्त्री के साथ रहता हुआ पुरुष शीघ्र पतित होता है। काम मन से उत्पन्न होता है और उससे मनुष्य उसी प्रकार पतित हो जाता है जिस प्रकार मानो कोई सुमेरु पर्वत से गिर गया हो। इस पतन से उसकी जड़ ही नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति अपने आपको काम में क्षीण करता है उसके पैर जल्दी डगमगाने लगते हैं, पेट पाचनशक्ति कम कर देता है, सिर के बाल जल्दी ही बगुलपंख-जैसे उजले हो जाते हैं। यह स्त्रीरूप सिंहनी भयंकर मथन करने वाले नेत्रबाण चलाती है और वीर्यरूपी अमीरस को सोखती है। अतएव इस स्त्री-सिंहनी को निंदित करना चाहिए और इसके मोह को नष्ट कर देना चाहिए। यह अपनी काया भी तो सिंहनी है जो काम-भोग की तरफ ले जाती है। गोरख कहते हैं कि इस कामिनी सिंहनी ने सुर, नर, मुनि आदि सब को लूट-लूटकर खा लिया है।"[१]

"हे गुरुदेव! स्त्री रूपवती है, रूपवती है ऐसा चाहे जितना माना जाय, परन्तु यह महाकुरूपा है। यह भीतर से सिंहनी है, केवल ऊपर से भोली-भाली दीखती है। यह पुरुष भी बेबूझ है कि जिस माता ने नौ महीने अपने पेट में रखकर तथा पुनः पैदाकर मनुष्य

---

१. गुरूजी ऐसा करम न कीजै, ताथैं अमी महारस छीजै।।टेक।।
दिवसै बांघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि-घरि बाघणि पोषै।।
नदी तींरै बिरषा नारी संगे पुरषा अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा।।१।।
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुलां की पंषियां।
अमी महारस बांघणीं सोष्या घोर मथन जैसी अषियां।।२।।
बाघनी कौ निंदिलै बाघनीं को बिंदलै बाघनीं हमारी काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुर नर षाये भणंत गोरष राया।।३।। *गोरखबानी, पद ४३ ।।*

जाति नारी को सीने से चिपकाकर सोता है। गोरख
थ! आप जरा अपने गुरु आदिनाथ के उपदेशों पर
मन्मुखी हो रहे हैं और बंधनों में पड़े हैं। यह आपका
त्रियों के बीच में पड़े-पड़े रात-दिन चाम घिसते हैं।
ीण होती जायेगी। यह काम-भोग ओष्ठ, कंठ तथा
भी निकालकर खा जायेगा। हे गुरुदेव! जैसे पतंग
ारता है, वैसे मनुष्य कामवश स्त्री के साथ अपने
ाये हैं, फिर भी इस अवस्था में आपको राजरानियों
। इस अवस्था में भी आप मोह-माया नहीं छोड़ रहे
मछन्दरनाथ! आप शिव तुल्य आदिनाथ के शिष्य
वीर्य को जो झरने न दे प्रत्युत उसे सुरक्षित रखे,
वधूत हैं, इसका स्मरण करें।''[१]

कि मछन्दरनाथ को माया ने सिंहल में डुबा दिया।
ुख्य अर्थ है कि माया ने उन्हें पथभ्रष्ट कर दिया।

भक्तों के चेरी हो।'' निगुरों के घरों में माया स्वयं
ों के घर में वह चेरी बनकर उन्हें फंसाती है।
हैं उनके घरों में तो माया ही सब कुछ है। वे तो
रिभक्तों को भी यह माया चेरी बनाकर फंसा लेती
 आश्रमों में साधुनी, संन्यासियों के आश्रमों में
, स्वामियों के यहां सेविका बनकर उनके ज्ञान-
 नाम पर कायर-कपूत लोग बिगड़ी घड़ी बनकर

भोलै-भोले,
ले सूते षोले।।टेक।।
गोरष ऐसा,
जोग है कैसा।।१।।
। छीजै काया,
मिजालू षाया।।२।।
भग की छाया,
जी मोह माया।।३।।
ईस्वर के पूता,
बोलौ अवधूता।।४।। *गोरखबानी, पद ४९ //*

है कि उन्होंने अपने गुरु को पतित समझकर
लिए प्रयत्न किया। और मछंदरनाथ महाराज की
पदेशों से वे सावधान हो गये। उन्होंने अहंकार

संसार में गलत आदर्श उपस्थित करते हैं। मुमुक्षु पुरुषों के लिए स्त्री माया है और साधिका स्त्रियों के लिए पुरुष माया है। वस्तुतः मन का मोह माया है और वह मोह जिन माध्यमों से बढ़े वह माया है।

"कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।" कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! माया सामने आते ही उसे लौटा दो या तुम उससे अपना मुख फेर लो। बीजक के महासूत्रों में से इस कहरा की यह अंतिम पंक्ति महासूत्र है। "ज्यों आवै त्यों फेरी हो" जिन दृश्यों से मन मलिन हो, उधर से मुख घुमा लो और जिन स्मरणों से मन मलिन हो उन्हें त्याग दो, उनसे अपना मन हटा लो। तुम्हें संसार की वे वस्तुएं मिलें जो देह-निर्वाह में काम देती हैं तो उनका अधिक संग्रह न कर उन्हें लोगों में खर्च होने दो। 'फेरी' के अर्थ बांटना तथा घुमाना, दोनों हैं। वस्तुओं को बांटते रहो तथा अपने नेत्रों को दृश्यों से तथा मन को बुरे संकल्पों से लौटाकर अपने आत्माराम में लगाते रहो।

कबीर साहेब माया को किसी प्रभु-प्रेरित तथा दुरत्यया नहीं मानते, किन्तु वे कहते हैं कि माया तुम्हारे मन की खोटी आदतें हैं तथा वे आदतें जिसके संबंध से पैदा हों वे प्राणी-पदार्थ हैं। अतएव माया से छूटना तुम्हारे हाथों में है। तुम यदि माया से छूटना चाहते हो तो अन्दर-बाहर जड़दृश्यों से अपने मन-इन्द्रियों को लौटाकर उन्हें अपने आत्माराम में लगाओ।

●

फल छन्द

केहु भाँति नहिं सन्तुष्टि थी,
दिन-दिन वही भव व्याधियाँ।
रुचि सुभग ललना वत्स धन,
सुख भोग रोग उपाधियाँ।।
मद काम क्रोध विमोह वल्लभ,
बाम वंचक साथियाँ।
सो सब विषमता दूर भौ,
जब श्रवण गुरुवच गाथियाँ।।

चौपाई

सो उपकार कहो किम भूलै।
पाय स्वपद अमृत, दलि शूलै।।
वचन अर्थ सब कहत समूलै।
जीवन लाभ मिलै नहिं झूलै।।

सद्‌गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

षष्टम प्रकरण : बसन्त

वासनात्यागी का वसन्त-उल्लास नित्य है

बसन्त—१

जाके बारह मास बसन्त होय, ताके परमारथ बूझे बिरला कोय॥ १ ॥
बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार॥ २ ॥
पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय॥ ३ ॥
बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास॥ ४ ॥
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय॥ ५ ॥
जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव॥ ६ ॥
अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझै सो पाव॥ ७ ॥

शब्दार्थ—बसन्त = वसंत, छह ऋतुओं में से एक जो चैत्र-वैशाख में पड़ता है, आनन्द-उल्लास के दिन। परमारथ = परमार्थ, उत्कृष्ट वस्तु, नित्य, सत्य, मोक्ष। हरियर = हरा-भरा। अठारह भार = संपूर्ण वनस्पति। पनिया = पानी, जल। कसमलिन = विकार, पाप, विषयवासना। आकाश = ब्रह्मांड। बास = गंध। बोय = बू, गंध (सुगंध या दुर्गंध)। चाव = तीव्र इच्छा, अनुराग।

भावार्थ—वासना-त्याग और निजस्वरूपस्थिति के कारण जिसके जीवन में बारहों महीने मानो वसंत लगे हों और हर समय आनंद-उल्लास हो, उसकी उत्कृष्ट स्थिति को कोई विरला समझ सकता है॥१॥ जैसे वसंत में धूप की अखंड धारा बरसती है और संपूर्ण वनस्पतियां हरी-भरी हो जाती हैं, वैसे उक्त ज्ञानी के जीवन में ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है और उसका अंतःकरणरूपी वन हरा-भरा हो जाता है॥२॥ वसंत में गरमी

बढ़ जाने से जैसे लोग पानी को बहुत आदर देने लगते हैं और पीने-नहाने आदि में उसका बहुत उपयोग करने लगते हैं तथा शरीर से निकले हुए पसीने से उत्पन्न मैल को शुद्ध करने के लिए खुले वायु का भी सेवन करने लगते हैं, वैसे जिसके जीवन में ज्ञानाग्नि की जितनी प्रचंडता बढ़ती है वह उतना ही निर्णय वाणी को आदर देता है और नित्य के व्यवहार में उत्पन्न होती हुई मलिनता को विचार-पवन से धोता है।।३।।

परमार्थ के नाम पर हठयोगियों का वसंत चलता है, जो क्षणिक है। उनके यहां बिना वृक्ष-वन हुए आकाश में फूल खिलते हैं। अर्थात जब हठयोगी वायु को मूलाधार से ऊपर उठाते हुए ब्रह्मरंध्र एवं ब्रह्मांड में पहुंचते हैं तो वहां कल्पित ब्रह्मरूपी फूल खिल जाता है जिसमें शिव तथा विरंचि-जैसे महानुभावों ने भी सुगंधी ली है।।४।। इसकी सुगंधी में सनकादि ऋषिजन भी भूल गये हैं। उन्होंने तो जो चौरासी लाख योनि है उस जड़-चेतनात्मक संसार को ही ब्रह्म मान लिया है।।५।।

हे साधक! यदि तुम्हें सद्गुरु सत्य स्वरूप का ज्ञान दे देंगे, तो उनके चरणों की भक्ति तुम्हारे मन से छूट नहीं सकती।।६।। यह अपनी आत्मा ही अमरलोक है और उसमें स्थित होना ही उसको जानने का फल है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो इसे समझेगा और जिसके मन में इसके लिए उत्कट इच्छा होगी वह इस स्थिति को प्राप्त करेगा।।७।।

व्याख्या—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ये छह ऋतुएं हैं। जिनमें भारतीय समय-सारिणी के अनुसार वसंत पहली ऋतु है जो चैत्र-वैशाख में पड़ती है। वसंत को ऋतुराज कहा गया है। अर्थात समस्त ऋतुओं में वसंत श्रेष्ठ ऋतु मानी जाती है। वसंत ऋतु में पेड़-पौधे पुराने पत्ते तथा छाल छोड़ते और नये पत्ते एवं छाल ग्रहण करते हैं। वसंत में गरमी आरम्भ हो जाती है, परन्तु संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा हो जाता है। आप वसंत में बाग और वन में जाकर वहां की छटा देख सकते हैं। पेड़-पौधों में नये पत्ते और छाल तो आते ही हैं, उनमें मौर तथा फूल-फल भी आते हैं। कामी लोग वसंत को काम का सहचर मानते हैं और वैराग्यवान संत निर्विकल्प वैराग्य का साधन। वस्तु तो वही होती है, उसका सदुपयोग कल्याणकारी होता है तथा दुरुपयोग अकल्याणकारी।

प्राकृत-जगत एवं संसार में तो बारह महीने में केवल दो महीने के लिए वसंत आता है, परन्तु जो मनुष्य सांसारिकता से ऊपर उठकर अपने आत्माराम में निरन्तर रमण करते हैं उनके लिए मानो बारहों महीने वसंत है। जिसका मन संसार के भोगों में लगा रहता है उसके मन में सदैव आशंका, भय, चिन्ता तथा हर्ष-शोक के द्वन्द्व आते रहते हैं। परन्तु जिसका मन अनित्य संसार के भोगों को सर्वथा छोड़कर नित्य निजस्वरूप चेतन में रमा है उसका सुख कभी घटता नहीं। संसारासक्त आदमी तो बाहरी वसन्त एवं मोहक दृश्य पाकर उनमें आनंदित होता है जो क्षणिक हैं इसलिए उसका आनन्द भी क्षणिक है। परन्तु जो अपने अविचल एवं शाश्वत आत्माराम में रमता है उसका आनन्द घट नहीं सकता, क्योंकि उसके आनन्द का आलंबन क्षणिक पदार्थ नहीं, किन्तु अविनाशी चेतन है। अतएव आत्मरत पुरुष के लिए मानो पूरा जीवन वसंत का उल्लास-आनन्द है। परन्तु "ताके परमारथ बूझे बिरला कोय।" उसकी उत्कृष्ट स्थिति को, उसकी उच्चतम दशा को

कोई विरला ही समझेगा। साधारण आदमी संत को भी केवल इतना ही जान पाता है कि जैसे हम खाते-पीते, सोते-जागते मानव हैं वैसे संत कहलाने वाले लोग भी हैं। यह ठीक है कि संत कहलाने वाले सब लोग ऐसी उच्चतम स्थिति में नहीं होते हैं, परन्तु जो होते हैं उन्हें समझने वाला भी विरला होता है। व्यक्ति का निजस्वरूप चेतन ही सत्य है, उसका वासनाओं से मुक्त होना मोक्ष है, यही जीवन की उच्चतम दशा है और यही परमार्थ है। यह स्वसंवेद्य है। दूसरे की इस स्थिति का अनुमान वही कर सकता है जो स्वयं इस स्थिति में हो। श्रद्धा एवं समझ से इसे हम परोक्ष में एवं धुंधुलके में ही जान सकते हैं।

"बरसै अगिन अखण्ड धार, हरियर भौ बन अठारह भार।" 'एक मास ऋतु आगे धावै' कहावत के अनुसार किसी भी ऋतु के पिछले हिस्से में अगली ऋतु का आभास मिलने लगता है। जैसे जेठ आते ही वर्षा की शुरुआत हो जाती है, वैसे वसंत ऋतु का पिछला महीना वैशाख आते ही गरमी खूब बढ़ जाती है। चैत्र-वैशाख ही वसंत ऋतु है और इसमें धूप बढ़ जाती है। वैशाख में तो धूप वैसे हो जाती है कि मानो आग की अखंड धारा ही बरस रही हो। परन्तु आश्चर्य होता है कि संपूर्ण वनस्पति-जगत इस समय हरा-भरा हो जाता है और फूलने-फलने भी लगता है। "हरियर भौ बन अठारह भार" में 'अठारह भार' ध्यान देने योग्य है। अठारह भार क्या है? कहते हैं फल वाली वनस्पति चार भार, लताएं चार भार, फूलों वाली छह भार और कांटे वाली वनस्पति चार भार होती है। "पांच करोड़, तीन लाख, अट्ठासी हजार को दूना करने से जितना होता है उतने को पण्डितजन एक भार कहते हैं।"[1] अर्थात दस करोड़, सात लाख, छिहत्तर हजार प्रकार की वनस्पतियों को एक भार कहा जाता है। और पूरी वनस्पति अर्थात अठारह भार की कुल संख्या होगी एक अरब, एक्कासी करोड़, वंतालीस लाख, अड़सठ हजार (१, ८१, ३९, ६८,०००)। रज्जब ने भी कहा है—

ज्यों माखी मधु काढ़ि ले, शोधि अठारह भार।
त्यों रज्जब तत् ही गहो, तीन्यू लोक मँझार॥

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे वसंत में खूब गरमी पड़ने लगती है और साथ-साथ संपूर्ण वनस्पति-जगत हरा-भरा भी हो जाता है, वैसे ज्ञानी के भीतर ज्ञानाग्नि की अखंड धारा बरसती है, और उसका हृदय-कानन हरा-भरा एवं पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। जैसे वसंत के ताप से वनस्पति-जगत सूखने की अपेक्षा हरा-भरा होता है वैसे ज्ञान के ताप से हृदय का वन हरा-भरा होता है। इस प्रकार ज्ञानी के हृदय-कानन में सदैव वसंत ऋतु है और वह सदैव आनन्दमग्न रहता है।

"पनिया आदर धरिन लोय, पौन गहै कसमलिन धोय।" हेमंत तथा शिशिर ऋतु में पानी और हवा, दोनों काटे खाते हैं, परन्तु वसंत ऋतु आते ही ये दोनों आदरणीय हो

---

१. धीकोटि-स्त्रीणि लक्षाणि वस्वशीतिसहस्रकम्।
एतानि द्विगुणीकृत्य भारमेकं जगुर्बुधाः॥
(उद्धृत श्री विचार साहेब की बीजक टीका से)

जाते हैं। पीने तथा नहाने के लिए पानी का ज्यादा उपयोग होने लगता है और खुली हवा में बैठकर लोग अपने शरीर के पसीने को सुखाना चाहते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में निर्णय की वाणी ही मिष्ट पानी है तथा विचार ही शीतल, मंद, सुगंध हवा है। समझदार एवं ज्ञानी ही इनका आदर करता है। हममें जितना ज्ञान बढ़ेगा, हम उतना निर्णय वाणियों को आदर देंगे और उतना ही विचार को प्रश्रय देंगे। अल्पज्ञानी तथा संकुचित व्यक्ति ही केवल परंपरा की पूंछ पकड़े हुए 'अंधे अंधा पेलिया' की कहावत चरितार्थ करता है। जिसका ज्ञान जितना बढ़ जाता है वह उतना ही उदार हो जाता है। वह कहीं से भी निर्णय वाणी ग्रहण कर लेता है चाहे किसी मत या शास्त्र की हो, बालक, बूढ़ा, पागल आदि के मुख से निकली हो या दीवार पर लिखी हो। उदार ज्ञानी के लिए सत्य समान आरदरणीय है। मनुष्य का कल्याण निर्णय वाणी से है, केवल परंपरा से नहीं। इसलिए निष्पक्ष मनुष्य सब जगह सार-सार लेता है और विचार-पवन से सदैव अपने मन के मैल को धोता है। जीवन के नित्यप्रति के व्यवहार में मनुष्य के मन में मैल आने की संभावना बनी रहती है। इसलिए उसे दूर करने के लिए समझदार मनुष्य विचार-पवन का सेवन करता है। विचारवान का मन उसी प्रकार निर्मल रहता है जैसे गंगोत्री की उछलती धारा।

"बिनु तरिवर फूले आकाश, शिव विरंचि तहाँ लेई बास। सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइनि जोय।" परमार्थ के नाम पर योग का भी एक वसंत है जिसका फल क्षणिक है। वैसे योग का अर्थ है मन की एकाग्रता। परन्तु योग के नाम पर पुराकाल से अपनी आत्मा से भिन्न किसी भास-अध्यास को ही अपना लक्ष्य मानकर उसमें रमने की आदत रही है। योगी लोग श्वास को ब्रह्मांड एवं खोपड़ीरूपी आकाश में चढ़ाते हैं। वहां शब्द, नाद एवं ज्योति की चमक-दमक को ब्रह्म मानकर उसी में भूल जाते हैं। "बिनु तरिवर फूले आकाश" का अर्थ यही है कि बिना पेड़ के अर्थात खोपड़ी के शून्याकाश में एक ज्योति की कल्पना की। उसे ब्रह्म माना। वही मानो आकाश का फूल है। शिव तथा ब्रह्मा-जैसे ज्ञानी लोग भी उसी की सुगंध लेने लगे। इतना ही क्या सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार आदि भी उसी की सुगंध में भूल गये। क्योंकि उन्होंने चौरासी लाख योनिरूप जड़-चेतनमय संसार को ही ब्रह्म मान लिया। वस्तुतः अपनी चेतना एवं अपनी आत्मा से अलग ब्रह्म की कल्पना करना ही मानो आकाश के फूल की सुगंध लेने का मिथ्या प्रयास है।

'जो तोहिं सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरण भाव।" कबीर देव साधकों से कहते हैं कि यदि तुम्हें सच्चे सद्गुरु मिल जायेंगे और वे सत्स्वरूप का बोध दे देंगे, तो तुम निश्चय ही उनके चरणों की भक्ति में अचल हो जाओगे। किसी को फांसी की सजा मिली हो और उसे फांसी के तख्ते पर खड़ा कर दिया गया हो, इतने में कोई आकर उसे तख्ते से उतार ले, किसी डूबते हुए तथा आग के बीच में पड़े हुए को कोई बचा ले तो वह उसका कितना श्रद्धेय हो जायेगा, यह सहज समझा जा सकता है। परन्तु इन घटनाओं में तो केवल क्षणिक देह की ही रक्षा हुई। देह की रक्षा आगे नहीं हो सकती। शरीर का नाश होना तो एक दिन है ही, वह चाहे आज हो या दूसरे दिन। वस्तुतः मनुष्य का परम रक्षक एवं उद्धारक वह है जो उसे भवसागर में बहने से बचा ले। इससे

अविनाशी जीव की रक्षा होती है। अतएव अग्नि, जल, विष, फांसी आदि से बचाने वाले की अपेक्षा सद्गुरु का उपकार महान है। जो जीव को मानसिक पीड़ा से मुक्त होने के पथ में ला दे उस सद्गुरु के समान उसका कोई उपकारी नहीं। इस बोध के महत्त्व का जिसे पता है वह साधक सद्गुरु तथा संतों के चरणों में अचल श्रद्धा रखता है। वह गुरु-संतों के प्रति लगी हुई श्रद्धा कभी नहीं छोड़ सकता।

"अमर लोक फल लावै चाव, कहहिं कबीर बूझै सो पाव।" हमारे मन में अमरलोक के फल पाने के लिए उत्कट इच्छा होनी चाहिए। साहेब कहते हैं जो इसे बूझेगा वह पायेगा। हमारी अपनी चेतना ही अमरलोक है। जीव अमर है। अतएव जीव के शुद्ध स्वरूप आत्माराम को छोड़कर कहीं बाहर अमरलोक नहीं है। हम भूलवश जड़ भोगों की चाहना करते हैं जो क्षणिक हैं। यदि हम अविनाशी निजस्वरूप की स्थिति की चाहना करें तो इसका मिलना सहज है। इसको ठीक से समझकर बाहर से इसमें लौट आना ही इसे पाना है और यही अमरलोक का फल पाना है। अमरलोक अपना चेतनस्वरूप है। उसका फल है शांति। जो इस तत्व को समझ जायेगा वह शांति पा जायेगा। फिर उसके लिए निरन्तर वसंत हो जायेगा।

क्षणिक माया में मत भूलो

बसन्त–२

रसना पढ़ि लेहु श्री बसन्त, बहुरि जाय परबेहु यम के फन्द॥ १ ॥
मेरुडण्ड पर डंक दीन्ह, अष्ट कँवल परचारि लीन्ह॥ २ ॥
ब्रह्म अगिन कियो परकाश, अर्ध ऊर्ध तहाँ बहे बतास॥ ३ ॥
नौ नारी परिमल सो गाँव, सखी पाँच तहाँ देखन धाव॥ ४ ॥
अनहद बाजा रहल पूरि, तहँ पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि॥ ५ ॥
माया देखि कस रह्यो है भूलि, जस बनस्पति रहि हैं फूलि॥ ६ ॥
कहहिं कबीर यह हरि के दास, फगुआ माँगै बैकुण्ठ बास॥ ७ ॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ। श्री बसन्त = वह शोभायमान वसंत जो हठयोग का फल है। मेरुडण्ड = मेरुदंड, रीढ़, गुदा से सिर तक पीठ पर गयी हुई गुरियादार हड्डी। डंक = बिच्छू आदि का जहरीला कांटा, वृत्ति। अष्टकँवल = अष्टकमल—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार तथा सुरितकमल। परचारि = प्रज्वलित। अर्ध = नीचे, नाभि। ऊर्ध = ऊर्ध्व, ऊपर, ब्रह्मांड। बतास = वायु। नौ नारी[1] = पुहुखा,

---

१. नौ नाड़ियां तथा पांच प्राणों के स्थान एवं गतिविधि—पुहुखा बायें कान में, पयस्विनी दाहिने कान में, गंधारी बायें नेत्र में, हस्तिनी दाहिने नेत्र में, कुहू लिंग में, शंखिनी गुदा में, अलंबुषा मुख में, गणेशिनी बायें हाथ में और वारुणी दाहिने हाथ में माना है।

प्राण का स्थान हृदय है, इसका काम नाक-द्वारा बाहरी वायु को पकड़ना-छोड़ना है। अपान का स्थान पेडू है, इसका काम मल-मूत्र का त्याग और गर्भ प्रसव करना है। समान

पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशनी तथा वारुणी। परिमल = सुगंध। सखी पाँच = पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। अनहदबाजा = अनाहतनाद। बहत्तर = बहत्तर कोठे।

भावार्थ--योगी लोग कहते हैं कि हे रसना! हठयोग के शोभायमान वसंत के फलस्वरूप प्राप्त जो ब्रह्म है उसका जप कर लो। यदि यह न करोगे तो पुनः वासनाओं में बंधकर संसार में भटकोगे।।१।। उक्त योग की प्रशंसा सुनकर योगियों ने मेरुदंड पर अपनी वृत्ति लगायी और मूलाधार से लेकर सभी चक्रों का वेधन करते हुए ऊपर आठवें सुरतिकमल में जाकर ज्योति प्रज्वलित कर दी।।२।। वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश हो गया और नीचे के समस्त वायु ऊपर पहुंच गये।।३।। उस सुगंधित सुषुम्णा एवं सुरतिकमल ग्राम में पुहुखा, पयस्विनी आदि नौ नाड़ियां भी पहुंच गयीं। इतना ही नहीं, प्राणादि पांच सखियां भी देखने दौड़ीं। अर्थात वहां जाकर मिल गयीं।।४।। वहां बहत्तर कोठे के वायु भी आकर मिल गये और अनाहतनाद का मानो घनघोर बाजा बजने लगा और इस वसंत उत्सव में चेतन-पुरुष धूल खेलने लगा।।५।। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इस माया के खेल को देखकर क्यों भूल रहे हो! यह तो वसंत ऋतु में वनस्पति में फूल आने के समान बहुत क्षणिक है।।६।। कबीर साहेब कहते हैं कि ये हरि-भक्तों की यही कथा है। ये इस फगुआ के खेल में ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं या बैकुण्ठवास चाहते हैं।।७।।

व्याख्या—इस वसंत में हठयोग का सुन्दर रूपक है। मेरुदंड-स्थित चक्रों का वेधन, आठवें सुरति-कमल में पहुंचना, वहां ब्रह्माग्नि का प्रकाश होना, उस सुगंध भरे गांव में नौ नारियों का पहुंचना, फिर पांच सखियों का वहां तमाशा देखने के लिए दौड़ जाना, अनहद बाजा बजना और बहत्तर पुरुषों का धूल खेलना—सब बड़ा ही रोचक एवं मनमोहक है। यह सब कहकर साहेब यह चित्रित करते हैं कि योगी छह या सात चक्रों का वेधन करके आठवें सुरतिकमल में पहुंच जाता है जहां ज्योति-प्रकाश जल जाता है तथा अनाहतनाद उठने लगता है, क्योंकि वहां इसके पहले ही नौ नाड़ियों, पांच प्राणों एवं बहत्तर कोठों से वायु सिमिटकर इकट्ठा हो जाता है। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह सब माया का खेल है। वे कहते हैं कि हे योगियो! तुम इस माया का खेल देखकर क्यों भूल रहे हो! हठयोग का सारा फल अनाहतनाद एवं ज्योति है जिन्हें जीव इन्द्रियों से सुनता तथा देखता है, तो वे सब श्राव्य एवं दृश्य मात्र होने से जड़ हैं और उनके श्रोता तथा द्रष्टा जीव चेतन हैं। जैसे वसन्त में या किसी समय वनस्पतियां फूलों से लद गयी हों, तो वह सब कब तक रहेंगी! "टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास।" माया का सारा शृंगार दस दिन का खेल है। जैसे बाहर की माया क्षणिक है, वैसे हठयोग-द्वारा उपलब्ध भास-दृश्य की चमक-दमक क्षणिक है। जो जीव से कभी नहीं छूटता वह उसका अपना स्वरूप है, अपनी चेतना एवं आत्मा है। स्थूल-सूक्ष्म संसार से लौटकर उसी

का स्थान नाभि है, इसका काम भोजन पचाना है। व्यान का स्थान शरीर भर में है, इसका काम जोड़ों को घुमाना और रस-रक्त का शरीर भर में वहन करना है। उदान का स्थान कंठ है, इसका काम है जल-भोजन निगलने में बल देना तथा अन्न-जल का विभाग करना।

निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से अविचल शांति मिलेगी। यही अनन्तपद है जो कभी नहीं छूटता।

साहेब कहते हैं कि परन्तु ये जो हरि के भक्तजन हैं, ये फगुआ में बैकुण्ठवास चाहते हैं। होली के समय लोग द्वार-द्वार पर फगुआ गाते हैं और लोगों से उपहार मांगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर योगमार्ग-द्वारा ब्रह्मज्योति में मिलना चाहते हैं। दूसरे सगुण उपासक लोग कहीं अलग भगवान का लोक मानकर तथा उनके नाम बैकुण्ठ, साकेत, शिवलोक, ब्रह्मलोक, सतलोक आदि रखकर उन्हीं में से किसी एक में स्थायी निवास चाहते हैं। वे अपने भक्तिरूपी फगुआ के फल में ईश्वर के लोक में जाना चाहते हैं; परन्तु इन भोले लोगों को यह पता नहीं है कि हठयोग का सारा फल जो नाद-श्रवण एवं ज्योति-दर्शन माना है वह ब्रह्म नहीं, किन्तु मन-इन्द्रियों का भास मात्र है तथा जो सगुण उपासकों ने लोक-लोकांतर मानकर वहां किसी भगवान से मिलकर भोगों को भोगने की लालसा की है वह उनका केवल बालकपन है, क्योंकि अपनी आत्मा के अलावा न कहीं परमात्मा है जो मिलेगा और न कोई लोक एवं बैकुण्ठ, स्वर्गादि है जहां पहुंचकर छककर सुख मिलेगा। वैसे स्वर्ग की प्राप्ति भी क्षणिक ही माना गया है। "क्षीणेपुण्ये मृत्युलोके विशन्ति" परन्तु पहली बात तो वह है ही नहीं।

मेरी अपनी आत्मा के अलावा सब कुछ छूटने वाला, क्षणिक एवं नश्वर है। इसलिए बाह्य सारी उपलब्धियां वनस्पतियों के क्षणिक फूलों की रौनक के समान नाशवान हैं। अतएव हमें सारे दृश्यों का मोह छोड़कर अपने द्रष्टा चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

शरीर एक करघा है जिससे कर्मों के वस्त्र बुने जाते हैं

बसन्त–३

मैं आयों मेस्तर मिलन तोहिं, ऋतु बसन्त पहिरावहु मोहिं॥ १ ॥
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन॥ २ ॥
सर लागै तेहि तिनसै साठ, कसनि बहत्तर लागु गाँठ॥ ३ ॥
खुरखुर-खुरखुर चाले नारि, बैठि जोलाहिन पल्थी मारि॥ ४ ॥
ऊपर नचनियाँ करत कोड़, करिगहमा दुइ चलत गोड़॥ ५ ॥
पाँच पचीसों दशहूँ द्वार, सखी पाँच तहँ रची धमार॥ ६ ॥
रंग बिरंगी पहिरे चीर, हरि के चरण धै गावैं कबीर॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मेस्तर = महत्तर, श्रेष्ठ सद्‌गुरु। पुरिया = ताना, वासना, देह। पाई = बांस की तीलियों या बेंत का बना ढांचा जिस पर ताने के सूत को फैलाकर जुलाहे उसे मांजते हैं, विवेक, आयु। सूत = श्वास। खूंटा तीन = ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। सर = सरकंडे। नारि = नरी, नाड़ी। जोलाहिन = मनोवृत्ति। कोड़ = क्रीड़ा। करिगह = करघा। गोड़ = पैर, श्वास। पाँच = पंच प्राण। पचीसों = प्रकृतियां। दसहूँ द्वार = दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न तथा ब्रह्मरंध्र। सखी पाँच = पांच ज्ञानेन्द्रियां। धमार = फाग के गीत, आनंद-उल्लास, उछल-कूद।

भावार्थ—हे महान सद्गुरु, मैं आपसे मिलने आया हूं। मुझे सनातन होने वाली आध्यात्मिक वसंत ऋतु का वासंती वस्त्र पहनाओ ।।१।। यह मेरा शरीररूपी पुरिया धारण करने का क्रम लम्बा अर्थात अनादिकालीन है। इसको मांजने की विवेक-पाई क्षीण है। श्वास भी पुराना है जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा—इन तीन खूंटों में बंधा है ।।२।। इस शरीर में तीन सौ साठ सरकंडे एवं हड्डियां लगी हैं और बहत्तर[१] गांठों से कसा है ।।३।। यह शरीर एक करघा ही है जिसमें कर्म के वस्त्र बुने ज़ा रहे हैं। जैसे करघा चलते समय भरनी-सूत की नरी दायें से बायें, बायें से दायें खुरखुर-खुरखुर चलती है, अलग जोलाहिन पल्थी मारकर बैठी हुई नरियों में चरखी द्वारा सूत की आंटी तैयार करती है, करघे के ऊपर लगी हुई चटकनियां नाचती हैं और करघे के नीचे गड्ढे में जोलाहे के दोनों पैर चलते हैं, वैसे इस शरीररूपी करघे में श्वास की नरियां खुरखुर-खुरखुर चलती हैं, इसमें मनोवृत्तिरूपी जोलाहिन पलथी मार कर बैठी रहती है, ऊपर दोनों नेत्र मानो नचनियां की तरह नाचते हैं और शरीर के दोनों पैर चलते हैं ।।४-५।। पंच प्राण, पचीस प्रकृतियां, दस दरवाजे के साज वाले इस शरीर में पांच ज्ञानेंद्रियांरूपी सखियां विषय-रंग रूप फाग के गीत गातीं तथा उछल-कूद मचातीं हैं। इस प्रकार नाना योनियों के शरीर-रूपी रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव पहनता रहता है। इन सब बंधनों से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु हरि या गुरु के चरणों को पकड़कर अपना विनय सुनाता है ।।६-७।।

व्याख्या—फारसी भाषा में 'मेह' का अर्थ बड़ा, बुजुर्ग एवं सरदार है और 'मेहतर' कहते हैं अधिक बड़ा को। संस्कृत भाषा में 'महत्तर' शब्द है, जिसका अर्थ होता है अधिक बड़ा। वैसे फारसी के मेहतर का एक प्रसिद्ध अर्थ मैला उठाने या साफ करने वाला भी है तथा संस्कृत के 'महत्तर' का एक अर्थ दरबारी या शूद्र भी है। यहां इस वसंत की आरम्भिक पक्ति में 'मेस्तर' फारसी भाषा का 'मेहतर' लगता है जिसका अर्थ अधिक बड़ा होता है। परन्तु संस्कृत भाषा के महत्तर का अर्थ भी वही होता है। यहां यह शब्द सद्गुरु के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसने शरीर की वास्तविकता को समझ लिया है वह इसके भौतिकीय परिवेश से विरक्त हो जाता है। यह अलग बात है कि यह शरीर ही कल्याण का साधन है। इसलिए वह साधना की दृष्टि से इसका महत्त्व समझता है, किन्तु मायिक दृष्टि से इसे तुच्छ समझता है।

मुमुक्षु कहता है कि हे महान सद्गुरु! मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। आने का एक ही कारण है कि मैं सांसारिक क्षणिक वसंत एवं राग-रंग से उदास हो गया हूं। अब मैं ऐसा वसंत चाहता हूं जो कभी समाप्त न हो। ऐसी वसंत ऋतु का ही वासंती वस्त्र मुझे पहना दो जो कभी न उतरे। वासना के त्याग के बाद जो अमर आत्माराम में रमण होता

---

१. कहा जाता है कि शरीर में बहत्तर ग्रंथियां हैं। उनके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं—१६ कंडराएं, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थिसंघात, १४ सीमंत तथा १ त्वचा। इन्हीं बहत्तर ग्रंथियों से शरीर ग्रथित है। इन बहत्तर ग्रंथियों की प्रत्येक में से एक-एक हजार नाड़ियां फैली हुई मानी जाती हैं। इसलिए शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का विस्तार माना जाता है।

है वह महान वसंत है और वह वसंत कभी समाप्त नहीं होता। उसके भावों का निरन्तर बना रहना ही मानो वासंती वस्त्र है। जब सद्गुरु सत्पात्र शिष्य को जड़-वासना-त्याग तथा आत्माराम के अनुराग का उपदेश करता है और साधक इस उपदेश को जीवन में उतारकर उसमें निमग्न हो जाता है तब मानो उसके लिए अनंत वसंत ऋतु का आरम्भ हो जाता है जो कभी समाप्त होने वाला नहीं है। जो सारी विषयासक्तियों को त्यागकर निरन्तर निजस्वरूप में रमण करता है उसे कहां मोह तथा कहां शोक। वह 'सदा अनंदा' है।

'पुरिया' बाना फैलाने की नरी या ताना को कहते हैं और 'पाई' उसे कहते हैं जो बांस की तीलियों या बेतों का एक ढांचा होता है जिस पर ताने के सूत को फैलाकर उसे जुलाहे मांजते हैं। यह शरीर लम्बी पुरिया है। इसके बनने-मिटने का क्रम अनादि है। इसे मांजकर साफ करने की 'पाई' विवेक है, वह क्षीण है। जहां विवेक ही क्षीण हो वहां जीवन मांजकर शुद्ध कैसे किया जा सकता है! सूत को हम श्वास मान सकते हैं जो ईडा, पिंगला तथा सुषुम्णा रूपी तीन खूंटे में बंधा है। यदि सूत का अर्थ सनातन जीव लें तो अर्थ होगा कि यह वित्तैष्णा, पुत्रैष्णा एवं लोकैष्णा अथवा काम, क्रोध और लोभ, अथवा रज, सत एवं तम इन तीन खूंटों में बंधा है।

इस शरीर को साहेब ने यहां करघा बताया है। करघा में वस्त्र बुना जाता है। इस शरीररूपी करघा में कर्म का वस्त्र बुना जाता है। यह पंचप्राण, पचीस प्रकृतियों तथा दस दरवाजे का करघा है जिसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां-सखी सदैव धमार खेलती हैं, उछल-कूद मचाती हैं। इस प्रकार कर्मों एवं कर्मजनित शरीरों के रंग-बिरंगे वस्त्र यह जीव बारम्बार पहनता है। कभी स्त्री का शरीर, कभी पुरुष का शरीर, कभी नपुंसक का शरीर तो कभी अन्य विविध योनियों का शरीर धारण करता रहता है। इन दुखों से छूटने के लिए मुमुक्षु जीव हरि के चरणों को पकड़कर विनय करता है। मनुष्य की जैसी समझ होती है वैसा आलंबन पकड़ता है। कोई गुरु को ही हरि मानकर उसी से प्रेरणा प्राप्त करता है, और यही तथ्य है। गुरु के अलावा हरि का कोई लक्षण ही नहीं मिलेगा। परन्तु बहुत-से लोग गुरु से बाहर हरि खोजते रहते हैं। जैसी भावना तथा समझ होती है, मनुष्य उसी प्रकार संसार के दुखों से छूटने के लिए प्रयास करता रहता है।

बुढ़िया माया की जवानी

बसन्त–४

बुढ़िया हँसि बोली मैं नितही बार, मोसे तरुनि कहो कवनि नार॥ १ ॥
दाँत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात॥ २ ॥
नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत॥ ३ ॥
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार॥ ४ ॥
कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बुढ़िया = माया, तृष्णा। बार = बाला, युवती। नार = नारी। कजरा = काजल। बैस = वयस, उम्र। आनन्द गाय = सुखद सीधी गाय। पूत भतारहिं = सभी मनुष्यों को।

भावार्थ—तृष्णा-मायारूपी बुढ़िया हंसकर बोली कि मैं नित्य युवती हूं। कहो भला, मेरे समान युवती स्त्री दूसरी कौन होगी!।।१।। यदि मेरे टूटे दांत, उजले केश, बैठी आंखें तथा बूढ़े शरीर देखकर मेरी जवानी के प्रति शंका हो, तो लो, मैं इसका भेद बताये देती हूं—यह तो अधिक पान खाते-खाते मेरे दांत झड़ गये हैं, गंगा में अधिक नहाते-नहाते मेरे केश उजले हो गये हैं, अधिक काजल लगाते-लगाते मेरी आंखें बैठ गयी हैं और पर-पुरुषों का समागम करते-करते मेरी उम्र ढली-जैसी लगती है, परंतु बात ऐसी है नहीं, मैं नित्य युवती हूं।।२-३।। जो मेरे सुख का अनुभव रखते हैं, उनका तो मैं नित्य आहार करती हूं और जो मेरे सुख से अजानकार हैं उनको फंसाने के लिए श्रृंगार करती हूं।।४।। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह बुढ़िया माया देखने में आनंदप्रद सीधी-सादी गाय लगती है, परंतु है खुंख्वार बाघिनी, जो सभी मनुष्यों को खा बैठी है।।५।।

व्याख्या—माया है मन का मोह और यह अनादिकालीन है। इसलिए सद्गुरु ने इसे बुढ़िया कहा है। परन्तु यह बुढ़िया होते हुए भी नित्य युवती है, क्योंकि मनुष्य की तृष्णा बिना ज्ञान के कभी समाप्त नहीं होती है। शरीर तो बूढ़ा होता है परन्तु तृष्णा युवती बनी रहती है। पिछले वसन्त के पूरे पद में शरीर के लिए करघा का रूपक था। इस वसन्त में पूरा पद माया के लिए बुढ़िया-मानव का रूपक है। कबीर साहेब का अद्भुत दिमाग था। उनका सोचना अद्भुत था। वे अपनी बातों को रूपकों, प्रतीकों, उलटवांसियों आदि में इतने सटीक ढंग से रख देते हैं कि सोचते ही बनता है।

यहां बुढ़िया का अर्थ किसी स्त्री से नहीं है, किन्तु माया ही बुढ़िया है। माया मन का मोह है, मन की तृष्णा है। हम जिन प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से लगाव करते तथा उनका उपभोग करते हैं उनके प्रति हमारे मन में मोह बनता है और वहां तृष्णा अपना घर बनाती है। तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। शरीर बूढ़ा हो जाता है, परन्तु तृष्णा ताजा-तवाना बनी रहती है। यहां बुढ़िया-माया एवं तृष्णा का हंसना इसलिए बताया गया है कि वह बुद्धिमान, विद्वान एवं बड़े-बड़े वाचिक ज्ञानियों को अपने वश में रखती है। 'हैं सब मेरे पंजे में और बनते हैं बुद्धिमान, विद्वान और ज्ञानी।' यही भाव उसके हंसने का है।

कबीर साहेब ने बुढ़िया-माया के माध्यम से मायावशी लोगों का इस वसन्त में जैसा मजाक उड़ाया है वह बड़ा ही मनोरंजक है। तृष्णा एवं मन के मोह में डूबे लोग यही मानते हैं कि हम तो जवान ही हैं। उनके शरीर ढीले हो जाते हैं, वे दिन-दिन बुढ़ापा की तरफ खिसकते जाते हैं, परन्तु उन्हें यही भ्रम बना रहता है कि हम जवान हैं।

तृष्णा का सर्वाधिक मनोरंजक मजाक दूसरी और तीसरी पंक्तियों में है "दांत गये मोरे पान खात, केश गये मोरे गंग नहात। नैन गये मोरे कजरा देत, बैस गये पर पुरुष लेत।" माया और तृष्णा में डूबे लोग अपने आपको यही चित्रित करते हैं कि हम अभी बूढ़े नहीं हैं चाहे वे भले बूढ़े हो गये हों।

"जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार।" जो लोग विषय भोगों के आदती हैं वे मानो विषयों के सुख जानते हैं। जानते क्या हैं, उनको भ्रम होता है कि हमें विषयों में सुख मिलता है। इसी भ्रम के परिणाम में वे माया एवं तृष्णा के खाद्य बन जाते हैं। जिनको जितना विषय-सुख का भ्रम होता है, वे उतना उसमें डूबकर अपने आपको खोते हैं। माया मानो उन्हें अपना आहार ही समझती है। जो लोग माया में नहीं लगे हैं उनको फंसाने के लिए वह श्रृंगार करती है। जो माया-मोह वाले लोग हैं उनको देखते नहीं हो कि वे सरल लोगों को कुसंग एवं विषय का पाठ पढ़ाकर उन्हें भी माया में डुबा देते हैं। सरल लोगों को बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, फैशनबाजी, विषय-लंपटता, चोरी, धोखाधड़ी तथा अनेक कुकर्मों का पाठ कौन पढ़ाता है? जो पहले से उनमें डूबे रहते हैं।

"कहहिं कबीर बुढ़िया आनन्द गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।" यह बुढ़िया माया एवं तृष्णा बड़ी प्यारी लगती है, आनन्दप्रद भोली-भाली गाय-जैसी लगती है, परन्तु ऐसी न होकर यह क्रूर सिंहनी है। क्योंकि यह सबको खा बैठी है। मोह एवं तृष्णा सबको प्रिय हैं। अविवेकवश मोह-माया कितनी प्यारी लगती है! भोगों की तृष्णा बड़ी अच्छी लगती है, परन्तु यही इसकी क्रूरता है जिसे समझना मामूली बात नहीं है। काम-भोग सब जीवों को प्रिय है, परन्तु यही सारे मानसिक द्वन्द्वों एवं क्लेशों का कारण है। मोह-माया और तृष्णा में फंसा हुआ जीव निरंतर भवाटवी में भटकता रहता है। यह माया "पूत भतारहिं बैठी खाय" पूत-भतार से मतलब है सभी मनुष्य। यह सभी मनुष्यों को अपने में फंसाकर उन्हें दुख दे रही है।

इस पूरे वसंत का सरल भाव यह है कि मनुष्य अपने अज्ञानवश विषयों की तृष्णा में फंसा जीवनभर अंधा बना रहता है। वह शरीर, जवानी तथा प्राणी-पदार्थों को सत्य माने बैठा रहता है। उसे अज्ञानवश अपनी भक्षक आदतें एवं वासनाएं ही प्यारी लगती हैं। अज्ञान की निवृत्ति तथा वासना के त्याग से ही यह दुख दूर होगा।

यह विषयों की तृष्णा बड़ी दुर्धर बेड़ी है। बड़ी ही साधना, कड़ाई, सत्संग, वैराग्य, विवेक एवं ज्ञान से इसको मिटाया जा सकता है। इसके रहते तक मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं हो सकता। तृष्णा के कारण ही मन सदैव विषयों में लोटा-पोटा करता है। जब विषयों की तृष्णा का अन्त हो जाता है तब मनुष्य की जो दिव्य स्थिति होती है, उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। अनुभव करके ही उसकी महत्ता जानी जा सकती है।

मनुष्य के जीवन में यदि विशेषता है तो यही है। मनुष्येतर पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि तो विषयों के कीड़े बने ही हैं। यदि मनुष्य भी विषयों का कीड़ा बना हो तो वह पशु आदि से क्या विशेष हुआ! इस पांच फुट के हाड़-मांस के शरीर में रहते-रहते जब जीव निर्विकार मन वाला हो जाता है और तृष्णा को सर्वथा जीत लेता है तब वह अपने गौरव में प्रतिष्ठित हो जाता है। सारा सुख और श्रेष्ठता इस निर्मल मन की स्थिति में ही समझना चाहिए। जिसका मन विषय-वासनाओं के दलदल से नहीं निकला है वह अन्य सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होने पर भी तुच्छ है और जिसका मन इस दलदल से सर्वथा मुक्त होकर निष्काम,

निर्हंकार, निर्मोह एवं वितृष्ण हो गया है वह अन्य प्रकार से तुच्छ होने पर भी महान-से-महान है। उसके बराबर कोई नहीं है। फिर उससे बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है!

माया-नारि

बसन्त—५

तुम बुझ-बुझ पण्डित कौनि नारि, काहु न ब्याहलि है कुमारि॥ १ ॥
सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह॥ २ ॥
प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि॥ ३ ॥
ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि॥ ४ ॥
कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कुमारि = कुमारी, कुंआरी, जो ब्याही न गयी हो। हरि = विष्णु। पदुमिनी = पद्मिनी, स्त्रियों का उत्तम भेद। जोवत = खोजती है। बर = वर, दूल्हा, पति। रैनि = रात, वासना।

भावार्थ—हे पंडितो! तुम लोग बारम्बार बूझो और समझो कि वह कौन ऐसी स्त्री है जिसे कोई ब्याह कर अपनी पत्नी नहीं बना सका और जो आज तक कुंआरी बनी है॥१॥ कहते हैं कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु को दिया तो वे उसे चारों युगों से अपने साथ लिये हैं॥२॥ इस स्त्री का पहला एवं उत्तम लक्षण पद्मिनी है, परंतु यह सर्पिणी है और संसार के लोगों को खदेड़कर खा जाती है॥३॥ यह अपने लक्षणों वाला दूल्हा खोजती है, परंतु यदि इसे वैसा पति नहीं मिलता है तो इसे वासना का अत्यंत तीव्र वेग सहना पड़ता है॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह जगत को प्यारी लगती है, परंतु यह अपने जन्माये हुए बालकों को ही मारती है॥५॥

व्याख्या—सद्गुरु इस वसंत में एक ऐसी नारी का वर्णन करते हैं जो किसी से ब्याही नहीं गयी है और आज तक कुंआरी है। वह कौन नारी है, इसे समझने के लिए वे पंडितों को निमंत्रित करते हैं। क्योंकि पंडित सूक्ष्मदर्शी होते हैं। वस्तुतः तत्वविवेकी को ही पंडित कहा जाता है। प्रश्न होता है कि यह कौन नारी है जो आज तक किसी-द्वारा ब्याही नहीं गयी है! यह है 'माया'। आज तक माया किसी के अधीन नहीं हुई। यह धरती अनादिकाल से पड़ी है। इसे भोगने के लिए बड़े-बड़े तूफान रचने वाले लोग हुए, परन्तु वे कुछ ही दिनों में कीड़े के समान इस धरती में समा गये। यह प्रसिद्ध लोकोक्ति अत्यन्त हृदयस्पर्शी है "यह वसुधा काहू की न भई।" माया की जितनी चीजें हैं धरती कह देने से सब का बोध हो जाता है क्योंकि "सबकी उत्पत्ति धरती।"[1] जीव को जो कुछ प्राप्त होता है वह सब माया है, और उसके पास नित्य रहने वाला नहीं है। अतएव यह मायारूपी नारी आज तक किसी-द्वारा ब्याही नहीं गयी अर्थात किसी-द्वारा अधिकृत नहीं की गयी। इस लक्षण से आगे के लिए भी समझा जा सकता है कि यह किसी के भी अधीन होने

---

१. साखी २०१।

वाली नहीं है। जैसे रेल की छाया, अंजुली का जल स्थिर नहीं, वैसे माया अपने अधीन नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे पंडितो! इस बात पर गंभीरता से विचार करो और माया के मोह का त्याग करो। माया-मोह के त्याग में ही पांडित्य है।

कहा जाता है कि माया अपना सुन्दर वेष बनाकर एक महात्मा के पास गयी और उसने उनसे कहा कि आप मुझसे विवाह कर लें।

महात्मा—तू कितनी अवस्था की है?

माया—मैं अनादिकाल की हूं, मेरी अवस्था की सीमा नहीं।

महात्मा—क्या अभी तक तेरा विवाह नहीं हुआ?

माया—नहीं?

महात्मा—क्यों?

माया—संसारी मुझे चाहते हैं, परन्तु मैं उन्हें नहीं चाहती। त्यागी को मैं चाहती हूं, परन्तु वे मुझे नहीं चाहते, इसलिए अभी तक मैं कुंआरी हूं।

महात्मा—तो मैं भी तुझे नहीं चाहता।

यह सुनकर माया लज्जित होकर चली गयी।

"सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ युग हरि संग लीन्ह।" पुराणों में तो समुद्र-मंथन की बात आती ही है।[1] कहते हैं समुद्र-मंथन से चौदह रत्न निकले।[2] उनमें से श्री अर्थात लक्ष्मी भी एक रत्न हैं जो समुद्र-मंथन करने से उसमें से निकली।[3] कहते हैं कि जब लक्ष्मी निकलीं तब देवताओं ने मिलकर उन्हें श्री विष्णु को अर्पित कर दिया और श्री विष्णु ने लक्ष्मी को लेकर उन्हें चारों युगों तक अपनी पत्नी के रूप में रखा। पौराणिक धारणा यह है कि श्री विष्णु जगत के मालिक परम ईश्वर हैं और लक्ष्मी उनकी आदिशक्ति हैं। लक्ष्मी कभी श्री विष्णु से अलग नहीं होतीं। अन्य जीव के अधीन तो लक्ष्मी नहीं होतीं, परन्तु वे श्री विष्णु के नित्य अधीन रहती हैं।

कहना न होगा कि देहधारी कोई ऐसा विष्णु नहीं है कि वह अमर हो। इस बात को बीजक भर में बारम्बार दोहराया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव सब देह धरकर छोड़ चुके हैं। यह तथ्य है कि ब्रह्मादि नाम के ये तीनों महापुरुष रहे होंगे तो मनुष्य के रूप में जन्म लेकर कुछ दिन रहे होंगे और वृद्ध होकर शरीर छोड़ चुके होंगे। वैसे जिस ढंग से पुराणों में इनका वर्णन है उस ढंग से तो इनका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। न वेद-शास्त्र इसके साक्षी हैं और न प्रकृति के नियम। चार हाथ, चार मुंह आदि का होना, उनका लोक-लोकांतरों में अपनी देह के सहित आना-जाना, करोड़ों-करोड़ों वर्ष रहना, जगत के उत्पत्ति, पालन, संहार करना आदि केवल मनोरंजन मात्र है।

---

१. हरिवंशपुराण, भविष्य पर्व, अध्याय ३०।

२. श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमी, शंख, गजराज।
कल्पवृक्ष, शशि, धेनु, धनु, धन्वन्तरि, विष, बाज।।

३. भागवत, स्कन्ध ८, अध्याय ८।

यहां दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु के प्रति अर्पित किया और उन्होंने लक्ष्मी को पत्नी बनाकर कहावत के अनुसार चारों युगों तक साथ रखा। परन्तु इसके साथ इस पंक्ति में यह भी अर्थ छिपा है कि विष्णु के साथ लक्ष्मी का सदा रहना भी असंभव है। भले पौराणिक कल्पना हो कि श्री विष्णु तथा लक्ष्मी सदैव साथ रहते हैं। परन्तु विष्णु यदि देहधारी थे तो वे कब के देह छोड़ चुके होंगे और लक्ष्मी भी देह छोड़ चुकी होंगी। हर देहधारी संसार को छोड़ने के लिए एक दिन विवश है। भावनाओं के लोकों का विचरण जगत के तथ्य को नहीं बदल सकता।

"प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि।" स्त्रियां चार प्रकार की मानी गयी हैं—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी तथा शंखिनी। इनके जोड़े पुरुष हैं क्रमशः शशा, मृग, वृषभ तथा गर्दभ। इनके अलावा दो उपलक्षणों वाली स्त्रियां मानी गयी हैं, उनके नाम हैं नागिनी तथा डंकिनी। इनके पुरुष हैं क्रमशः अश्व तथा महिष। इन सब का वर्णन कामशास्त्र तथा कोकशास्त्र में मिलता है। स्त्री और पुरुषों के शरीर के अंगों के लक्षणों को लेकर पंडित लोग निर्धारित करते हैं कि कौन स्त्री तथा पुरुष किस लक्षण के हैं। स्त्रियों में पद्मिनी के अंगों के लक्षण उत्तम हैं तथा पुरुषों में शशा के अंगों के लक्षण उत्तम हैं। इनके लक्षणों का वर्णन करना काम-वासना प्रदीपन में सहायक हो सकता है। इसलिए कल्याणार्थियों के लिए हानिकर समझकर इस प्रसंग को यहां नहीं बढ़ाया जा रहा है।

सद्गुरु कबीर वैराग्यप्रवर संत थे। उन्होंने स्त्रियों में उत्तम अंगों के लक्षणों वाली पद्मिनी का नाम लेकर काम-वासना पर वैराग्य का करारा कुल्हाड़ा चलाया है। वे कहते हैं कि यह पद्मिनी उत्तम लक्षणों वाली कहलाती है, परन्तु विवेक से देखें तो भयंकर सर्पिणि है और लोगों को खदेड़कर खा जाती है। कामी कवियों ने स्त्रियों को काम-वासना का खिलौना बना डाला है। उन्होंने स्त्रियों के एक-एक अंग का इतना शृंगारिक तथा कामोद्दीपक वर्णन किया है कि उससे स्त्री और पुरुष दोनों का पतन है। कामियों के ऐसे वर्णन तथा पुरुषों को स्त्रियों के प्रति लंपट देखकर वैराग्यवान संतों ने समाज को इस काम-वासना से विरत करने के लिए इससे मनुष्यों की पतनशीलता का वर्णन किया और स्त्रियों के शरीर में दोष-दर्शन कराया। यहां साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस स्त्री-देह को तुम उत्तम लक्षणों वाली मानकर उसके प्रति आसक्त हो रहे हो, वह तेरे बंधनों का कारण है। काम-वासना के अधीन होकर केवल पुरुष ही नहीं, किन्तु नारी भी दुखों एवं बंधनों का शिकार होती है। अतएव काम-वासना ही नारी है और नर-नारी दोनों की देहों में रहने वाले चेतन पुरुष हैं। अतएव इन चेतन पुरुषों के कल्याण के लिए आवश्यक है कि काम-वासनारूपी नारी के जाल से वे मुक्त हों।

"ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि।" हर स्त्री अपना 'वर' खोजती है। अर्थात अपने लक्षणों वाला पति खोजती है, जैसे पद्मिनी शशा को, चित्रणी मृग को, हस्तिनी वृषभ को, शंखिनी गर्दभ को, नागिनी अश्व को तथा डंकिनी महिष को। यदि इनमें से किसी को अपना जोड़ा न मिलकर बेमेल मिलता है तो उसके मन को सन्तोष नहीं होता, बल्कि उसे काम-वासना की रात में अत्यन्त तीव्र मनोवेग सताते हैं।

यह सब कामशास्त्र का विषय है। आंगिक अध्ययन के अनुसार इन बातों में कुछ सत्यता हो सकती है, परन्तु तथ्य तो यह है कि भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग का घनचक्कर बढ़ता है। अतृप्ति इच्छा का परिणाम है। इच्छा भोग का परिणाम है। काम-वासना का उद्वेग इसलिए होता है कि संसार के नर तथा नारी काम-भोग को महत्त्व देते हैं, उसी में लगे रहते हैं, इसलिए उसकी आदत बनकर इच्छा बन जाती है और वे आदत तथा इच्छा जीव को बैठने नहीं देतीं।

"कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि।" कबीर साहेब कहते हैं कि यह माया जगत के लोगों को प्यारी लगती है, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि यह अपने बालकों को ही मार खाती है। कबीर साहेब की यह सब वैरागी-भाषा है। कहा जाता है कि सर्पिनि अंडे देती है। अंडों से बच्चे निकलते हैं। सर्पिनि अपनी देह की कुंडली में बच्चों को रखकर उन्हें खाती है। जो बच्चा कहीं कुंडली से बाहर निकल जाता है वही बच पाता है। इसी प्रकार माया सबको जन्म देकर पुनः सबको अपनी कुंडली में बांधकर और उन्हें अपने में आसक्त कर मार खाती है।

इस वसन्त में 'नारि' शब्द में माया तथा स्त्री दोनों अर्थों का श्लेष है। अर्थात यहां नारि के ये दोनों अर्थ हैं। नारि का मुख्य अर्थ माया है जो किसी के अधीन नहीं होती, परंतु उसमें फंसने वाले भव-बंधनों में पड़कर मारे जाते हैं।

ज्ञानी जीव के लक्षण

बसन्त–६

माई मोर मनुसा अतिरे सुजान, धन्धा कुटि-कुटि करत बिहान ॥ १ ॥
बड़ी भोर उठि आँगन बाढु, बड़ो खाँच ले गोबर काढु ॥ २ ॥
बासी भात मनुसे लिहल खाय, बड़ो घैल लिये पानी को जाय ॥ ३ ॥
अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट ॥ ४ ॥
कहहिं कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—माई = माता, चेतनाशक्ति, आत्मशक्ति। मनुसा = मनुष्य, मर्द, पति। सुजान = समझदार, ज्ञानी। धन्धा = काम-काज, साधना। बिहान = सबेरा, ज्ञान। भोर = सबेरा, प्रातःकाल। आँगन = हृदय। बाढु = बुहारना। खाँच = टोकरी, अनासक्ति की टोकरी। गोबर = विषयासक्ति। काढु = निकाल फेंकना। बासी भात = प्रारब्ध भोग। बड़ो घैल = बड़ा घड़ा, सद्बुद्धि, अच्छी समझदारी। पानी = सत्संग, ज्ञान। सैयाँ = पति, चेतन पुरुष। पाट = कपड़ा, आंचल। हरि = ज्ञान। जोइया = पत्नी, स्वरूपस्थवृत्ति, आत्मा में रमने वाली वृत्ति। लाज = लज्जा।

रूपक—एक युवती लड़की अपनी ससुराल से पहली बार नैहर आयी, तो माता ने उससे उसकी ससुराल का कुशल-मंगल पूछा। ज्यादा तो यह पूछा कि तुम्हारे पतिदेव का स्वभाव कैसा है! पुत्री ने अपनी माता को बताया—हे माता! मेरे पतिदेव बड़े समझदार

हैं। वे आधी रात के बाद से ही ढेंकी से धान कूटना शुरू करते हैं और उसे कूटते-कूटते सबेरा करते हैं। जब सबेरा हो जाता है तब घर-आंगन बुहार लेते हैं और एक बड़ी टोकरी लेकर पशु-शाला से गोबर निकालकर घूर में फेंक आते हैं। पतिदेव केवल परिश्रमी ही नहीं हैं, बड़े संतोषी भी हैं। वे बासी-भात खा लेते हैं। उसके बाद मेरे नहाने-धोने के लिए बड़े-बड़े घड़े लेकर पानी भरने जाते हैं। हे माता! मैं अपने ऐसे प्रेमी एवं वफादार पति की महिमा को अपने आंचल में बांध रखूंगी और उसे हाटोहाट बेचती फिरूंगी। अर्थात मैं अपने पतिदेव का सर्वत्र गुणानुवाद करती फिरूंगी। कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का व्यवहार है। ऐसी सौभाग्यवती पत्नी के साथ में रहने से क्या लज्जा है!

भावार्थ—स्वरूपस्थवृत्ति आत्मशक्ति से कहती है कि हे माता! मेरा पति चेतन देव बड़ा ज्ञानी है। वह निरंतर साधना करते-करते माया की अंधियारी का नाश कर देता है॥१॥ वह नित्य प्रातः उठकर विवेक-विचाररूपी झाड़ू से हृदयरूपी आंगन को बुहार देता है और अनासक्तिरूपी बड़ी टोकरी लेकर विषयासक्तिरूपी गोबर को निकालकर फेंक देता है॥२॥ वह अनासक्तिपूर्वक बासी रूप प्रारब्ध भोगों को भोगता है और अपनी विशाल समझदारी एवं सद्बुद्धिरूपी घड़े लेकर गुरु-संतों के सत्संगरूपी सरोवर में निर्णयरूपी जल भरने जाता है॥३॥ हे चेतनाशक्ति माता! मैं अपने चेतन-पतिदेव की इस महिमा को अपने आंचल में बांधकर ग्राम, बाजार, शहर सर्वत्र इसका प्रचार करूंगी॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का काम है। चेतन पुरुष को ऐसी स्वरूपस्थवृत्ति रूपी पत्नी के साथ में रहने में कोई लज्जा नहीं होनी चाहिए॥५॥

व्याख्या—पिछले वसन्त में आया है "अपने बलकवहिं रहल मारि" यह माया अपने बालकों को ही मार रही है, क्योंकि "है साँपिनि जग खेदि खाहि" यह माया सांपिनि है। यह खदेड़कर खा जाती है। प्रश्न होता है कि क्या किसी प्रकार की पत्नी ठीक नहीं है! उत्तर में मानो सद्गुरु यह वसन्त बोलते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह जो स्वरूपस्थवृत्ति एवं समाधिलीनवृत्तिरूपी पत्नी है, इसके साथ में रहने से कोई लज्जा नहीं करनी चाहिए। यह तो परमादर, परम प्रतिष्ठा ही का कारण नहीं, किन्तु परम शांति का कारण है।

"माई मोर मनुसा अतिरे सुजान, धन्धा कुटि-कुटि करत बिहान।" स्वरूपस्थवृत्ति एवं समाधिलीनवृत्ति कहती है कि हे चेतनाशक्ति एवं आत्मशक्ति माता! मेरा पति चेतनदेव बड़ा ज्ञानी है। वह निरंतर साधना-द्वारा अज्ञान-रात का सर्वथा नाश कर देता है। यह चेतन चेतना का पति है। जिस चेतन एवं जीव को स्वरूपज्ञान की समझ हो जाती है, उसकी दुनिया बदल जाती है। ज्ञान होने का अर्थ है निरन्तर साधना में लगे रहना। जो साधक निरंतर साधना में लगा रहता है वह विहान कर देता है। विहान का शाब्दिक अर्थ है विशेष हान, अर्थात एकदम नाश, और विहान का लक्षणा अर्थ है सबेरा, क्योंकि जब अंधकार का एकदम नाश हो जाता है तब सबेरा हो जाता है। "धन्धा कुटि-कुटि" में धान कूटने की व्यंजना है। धान कूटने से उसके असार अंश छिलके निकल जाते हैं और सार स्वच्छ चावल रह जाता है। इसी प्रकार जो साधक निरंतर साधना करता है उसके

मन से असार विषय-वासनाएं, गलत आदतें एवं माया-मोह निकल जाते हैं और शुद्ध चेतनस्वरूप की स्थिति रह जाती है। निरन्तर साधना का परिणाम ही है जीवन में शांति।

"बड़ी भोर उठि आँगन बाढ़ु" संसार में देखा जाता है कि सावधान लोग एकदम सबेरे ही उठकर अपने घर-आंगन बुहारते हैं। ज्ञानी पुरुष का भी यही काम होता है। उसकी नींद ब्राह्ममुहूर्त में ही खुल जाती है और वह तुरन्त विवेक-विचार रूपी झाड़ू लेकर हृदयरूपी आंगन को बुहारने लगता है। सच्चा साधक वह नहीं है कि जो देर तक सोता रहता है। सच्चा साधक वह है जो ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाता है। प्रातःकाल का मन बालक के मन के समान कोमल और स्वच्छ होता है। प्रातः उसके द्वारा साधना करना परम कर्त्तव्य है। इसके लिए आचरणों की पवित्रता आवश्यक है। जिसने पिछले दिन खुराफाती व्यवहार किया है सुबह उठकर उसका मन निर्मल बच्चे के मन के समान नहीं रह सकता। अतएव शांति-इच्छुक को चाहिए कि वह अपने सारे व्यवहार निष्कामभावपूर्वक, अहिंसापूर्वक एवं सद्भावपूर्वक करे। जिसके जीवन के सारे व्यवहार निष्काम एवं कोमलभावपूर्वक होते हैं उसका मन मक्खन के समान होता है, और प्रातःकाल तो अधिक स्वच्छ होता है। साधना के लिए प्रातःकाल बहुत अच्छा होता है। एक तो प्रकृति में शांति रहती है, दूसरी बात वातावरण प्राणप्रद वायु से व्याप्त रहता है, तीसरी बात मन हलका-फुलका रहता है। इसलिए प्रातःकाल ही उठना चाहिए और अपना मन शोधना चाहिए। प्रातःकाल किसी समस्या पर विचार करने से उसका समाधान अच्छा सूझता है। हम एकांत होकर जितना सोचेंगे, हमारे जीवन का व्यवहार उतना ही सुलझेगा।

"बड़ो खाँच ले गोबर काढ़ु" पशु-शाला से गोबर निकाल तथा टोकरी में भरकर घूर में फेंका जाता है। यह ग्राम का नित्य का अनुभव है। साधक भी एक किसान है। उसके मन में जो विषयासक्ति का गोबर रोज इकट्ठा होता रहता है उसे वह अनासक्तिरूपी टोकरी में भरकर बाहर फेंक देता है। इसका अर्थ है कि साधक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह सब समय मन को विषयासक्ति से निवृत्त करने का प्रयत्न करता रहे। विषयासक्ति ही मलिनता है। इस मलिनता का त्याग करने वाला परमोज्ज्वल मानव है और वही परम शांति पाता है।

"बासी भात मनुसे लिहल खाय" गांवों में सुबह लोग बासी भात खाते हैं। यह भी गांव का अच्छा अनुभव है। बासीभात है प्रारब्धभोग। जो भात पिछले दिन का बनाया हुआ रखा है वही तो आज बासी है। इसी प्रकार जो पिछले जन्मों के कर्मभोगों के जोर से यह वर्तमान शरीर तथा इसके सुख-दुख भोग बने हैं यही प्रारब्ध है। विवेकवान इसे अनासक्त होकर भोगता है। ज्ञानी क्रियमाण कर्म का त्याग कर देता है, संचित कर्म ज्ञान से जल जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगना पड़ता है, जैसे श्वास लेना-छोड़ना, खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना तथा इन सबके लिए श्रम करना आदि। शरीर-यात्रा ही प्रारब्ध भोग है और इसका अनासक्त होकर वर्तमान करना बासी भात खाना है। विवेकवान खाना-पीना आदि शरीर की सारी आवश्यक क्रियाओं को अनासक्त होकर करता है।

"बड़ो घैल लिये पानी को जाय" गांवों का यह सामान्य अनुभव है कि लोग बड़े-बड़े घड़े लेकर दूर कुआं, तालाब, झरने आदि से पानी लेने जाते हैं। अच्छी समझदारी ही मानो बड़ा घड़ा है। जिसे लेकर साधक साधु-सन्तों की संगतरूपी स्वच्छ सरोदर में जाता है और वहां से ज्ञान का पवित्र जल भर-भर कर लाता है। तात्पर्य यह है कि सच्चा साधक सदैव सत्संग-परायण होता है। वह नित्य सत्संग में बैठकर अपनी समझ को सद्ज्ञान से भरता जाता है।

"अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट।" स्वरूपस्थवृत्ति कहती है कि मैं अपने ऐसे पतिदेव की महिमा को सदैव अपने हृदय में रखूंगी और उसे सर्वत्र फैलाती रहूंगी। अर्थ यह है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त दिव्य आचरणों से संपन्न होता है उसकी मनोवृत्तिरूपी पत्नी सदैव आनंदित होती है। जिसकी रहनी दिव्य है उसकी मनोवृत्ति आनन्दमय होगी ही, और जिसके ये दोनों हैं उसकी सुगंधी संसार में फैलेगी ही।

"कहहिं कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज।" सद्गुरु कहते हैं के यही ज्ञान का व्यवहार है। हरि ज्ञान है। गुरु को भी हरि कह सकते हैं। उसका भी अर्थ ज्ञान पर ही आयेगा। गुरु का तो यही काज है और ज्ञान का भी यही काज है कि ीवन की रहनी पवित्र हो, विषयासक्ति की सर्वथा निवृत्ति हो, मन शांत हो और वरूपस्थवृत्ति, समाधिलीनवृत्ति एवं शांतिरूपी पत्नी के साथ चेतन-पुरुष का निवास हो, ो ऐसी जोइया के ढिग रहने से जीव के लिए लज्जा की बात ही नहीं है। यह तो च्चतम प्रशंसा है। जो चेतन पुरुष अपनी स्वरूपस्थवृत्तिरूपी पत्नी के साथ निरन्तर नेवास करता है वह धन्य है। उसी का देहधारण करना सफल है। अर्थात जो जीव नित्य ांति में लीन है वह धन्य है।

वासनाओं को छोड़कर तुम स्वयं कृतार्थ हो

बसन्त–७

घरहि में बाबुल बाढ़लि रारि, उठि-उठि लागलि चपल नारि ॥ १ ॥
एक बड़ी जाके पाँच हाथ, पाँचों के पचीस साथ ॥ २ ॥
पचीस बतावैं और-और, और बतावैं कइ एक ठौर ॥ ३ ॥
अन्तर मध्ये अन्त लेइ, झकझोरि झोरा जीवहिं देइ ॥ ४ ॥
आपन-आपन चाहैं भोग, कहु कैसे कुशल परिहैं योग ॥ ५ ॥
विवेक-विचार न करे कोय, सब खलक तमाशा देखें लोय ॥ ६ ॥
मुख फारि हँसे राव रंक, ताते धरे न पावैं एको अंक ॥ ७ ॥
नियरे न खोजैं बतावैं दूरि, चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि ॥ ८ ॥
लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव-पीव ॥ ९ ॥
अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव ॥१०॥

शब्दार्थ—घर = शरीर, अंतःकरण। बाबुल = बाबू, जीव। रारि = झगड़ा। एक = वासना। पाँच हाथ = पांच ज्ञानेन्द्रियां—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। पचीस = पचीस प्रकृतियां। अन्त = सर्वस्व, नाश। खलक = संसारी मनुष्य। अंक = चिह्न, लक्षण। बागुलि = बागुर, फांस, जाल। लच्छ = लाख, लाखों। अहेरी = शिकारी। चुकाव = अदा करना, निबटना, वासनाओं का पूर्ण त्याग करना। दाव = अवसर, कार्यसिद्धि का सुयोग।

भावार्थ—हे बाबू! घर ही में झगड़ा बढ़ा हुआ है, मन ही सदैव द्वंद्व-ग्रसित है। चंचल स्त्रियां उठ-उठकर झगड़ रही हैं।।१।। एक स्त्री बड़ी है वह वासना है। उसके पांच हाथ हैं—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांचों के साथ पचीस प्रकृतियां हैं।।२।। ये पचीसों जीव को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाती हैं। फिर तो वहां और अनेक गलत आदतें बन जाती हैं और वे उसे और अन्य-अन्य जगह ले जाकर घसीटती हैं।।३।। ये वासनारूपी चपल स्त्रियां मनुष्य के भीतर घुसकर सर्वस्व हरण कर लेती हैं तथा उसका पतन कर देती हैं और उसे बारम्बार झकझोरती रहती हैं।।४।। ये सारी इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं। कहो भला! लोगों के कल्याण का संयोग कैसे होगा!।।५।। कोई विवेक-विचार नहीं करता है, बल्कि संसारी लोग घुस-घुसकर विषयों का ही तमाशा देखते हैं जिससे उनका मन और उलझता है।।६।। राजा हो या दरिद्र, जिससे विषयों की वासनाएं बढ़ें ऐसी क्रिया में ही लगे रहते हैं और उन्हीं में मुख फाड़-फाड़कर हंसते तथा आनंद मनाते हैं। इसीलिए वे शांति का एक लक्षण भी नहीं धारण कर पाते।।७।। शिक्षित हो या अशिक्षित शांति, तृप्ति, परमात्मा, मोक्ष आदि शब्दों से व्यक्त अपने परम लक्ष्य को अपने पास एवं अपनी आत्मा में नहीं खोजते, बल्कि उसे दूर बताते हैं, परंतु अपनी आत्मा के अलावा तो चारों तरफ बंधनों का ही जाल फैला है।।८।। एक जीव के ऊपर लाखों शिकारी हैं, इसलिए जीव बेचारा अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है।।९।। परंतु कबीर साहेब कहते हैं कि यदि कोई आज इस जीवन में अपने स्वरूप को समझकर सारी वासनाओं का त्याग कर दे, तो मानो उसने बाजी मार ली।।१०।।

व्याख्या—"घर ही में बाबुल बाढ़लि रारि।" इस अर्धाली में 'बाबुल' तथा 'रारि' ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। बाबुल का अर्थ पिता होता है। अवधक्षेत्र में बच्चे भी एक दूसरे को भाई या मित्र की दृष्टि से बाबुल कहते रहते हैं। 'रारि' कहते हैं झगड़ा को। कबीर साहेब मानव मात्र के लिए प्यार के भाव से बाबुल शब्द का प्रयोग करते हैं। अतएव यहां बाबुल का अर्थ है बाबू, भैया, मित्र आदि। साहेब कहते हैं कि हे भाई! घर ही में झगड़ा बढ़ गया है, फिर बाहर की क्या बात करें! कबीर साहेब हर विषय में बुनियाद को पकड़ते हैं। उत्साहीजन लोककल्याण की बात बहुत करते हैं, परन्तु कबीर साहेब आत्मकल्याण की बात करते हैं। लोग कहते हैं कि संसार के लोग भ्रष्ट हो गये हैं, परन्तु कबीर साहेब कहते हैं "कबीर हम सबते बुरे"। हम अपने हृदय को देखें कि हमारे में कुछ बुराई है कि नहीं। साहेब कहते हैं कि तुम दूसरे के झगड़े को क्या देखते हो! तुम अपने अन्दर झांककर देखो, तो तुम्हारे भीतर बहुत बड़ा झगड़ा मिलेगा। भीतर के झगड़े से ही बाहर का झगड़ा बढ़ता है। जिसके मन के भीतर झगड़ा नहीं रह जाता, उसके द्वारा

बाहर झगड़ा नहीं होता। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने मन के भीतर के झगड़े को समाप्त करें।

यह शरीर एक घर है और इसके भीतर सब समय झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े में चपल स्त्रियां उठ-उठकर लगती रहती हैं। इसमें एक स्त्री बड़ी है, वह वासना है। उसके बाद पांच स्त्रियां हैं। वे मानो उस पहली वाली एक के पांच हाथ हैं अर्थात बल हैं। वे कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, और उनकी सहायिका पचीस स्त्रियां हैं। वे हैं पचीस प्रकृतियां। कथन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इस शरीर-घर में वासना बड़ी स्त्री है। यहां बड़ी का अर्थ है बलवती। यह वासना बलवती है। इसे रखकर कोई शांति नहीं पा सकता। इसे नष्टकर ही शांति मिल सकती है। इस वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ अर्थात बल हैं कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ग्रहण किये जाते हैं। जीवन-रक्षा के लिए शुद्ध एवं अनासक्त होकर इन पांचों विषयों को ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु जहां अविवेक है वहां इन इंद्रियों-द्वारा दूषित पांचों विषयों का उपभोग होता है। इसलिए वासना अधिक बलवती होती है। जैसे एक तालाब हो और उसमें बाहर से पानी आने के लिए पांच नहरें हों। यदि हमें तालाब सुखाना है तो पहला काम नहरों के मुख को बांध देना है, जिससे उनसे तालाब में पानी न आवे, फिर पीछे तालाब के पानी को उलीच देना है, तब तालाब सूख जायेगा। वैसे यदि वासना का सरोवर सुखाना है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में करना पड़ेगा, क्योंकि इन्हीं-द्वारा पांचों विषयों की आसक्ति अन्तःकरण-सरोवर में इकट्ठी होती है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयोपभोग ही वासना को बल देते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ इन इंद्रियों को कहा है।

इन पांचों इंद्रियरूपी स्त्रियों की अन्य पचीस स्त्रियां सहायिका हैं। पृथ्वी तत्व की पांच प्रकृतियां हैं—हाड़, चाम, मांस, नस तथा रोम; जल की लार, मूत्र, वीर्य, रक्त और पसीना; अग्नि की भूख, प्यास, आलस्य, नींद तथा जमुहाई; वायु की बलकरन, संकोचन, पसारन, बोलन तथा धावन; स्थिर वायु या आकाश की काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय[1] माना गया है। ये प्रकृतियां हैं जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बल देती हैं। ये पचीस प्रकृतिरूपी स्त्रियां जीव को अनेक तरफ खींचती हैं और यह जीव अनेक तरफ भटककर अपनी स्थिति से बहुत दूर हो जाता है।

सभी इंद्रियों, प्रकृतियों आदि का निचोड़ वासना है। यह वासना मनुष्य के भीतर धंस जाती है। "अन्तर मध्ये अन्त लेइ" और भीतर धंसकर जीव का सर्वस्व नष्ट कर देती है। जीव का सर्वस्व है शांति। वासना से शांति नष्ट होती है। हृदय में जितनी मात्रा में वासना होगी उतनी मात्रा में अशांति होगी। वासनाएं जीव को झकझोरती हैं। वासना के कारण ही तो जीव उद्वेगित होकर भटकता है। बड़े-बड़े धनपतियों, पदाधिकारियों एवं

---

१. काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय प्रकृति नहीं, किन्तु मनोविकार हैं। मनोविकार मिटते हैं, प्रकृति नहीं मिटती।

स्वामियों को कौन नींद नहीं लेने देता है? वह यही वासनाओं का उद्वेग ही है। जिसकी वासनाएं शांत हो गयी हैं वह जीवन में धन्य हो गया है।

इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं, तो साहेब कहते हैं कि जीव के कल्याण का योग कब पड़ेगा! यदि मनुष्य अपनी इंद्रियों को निरंतर लंपट ही बनाये रखेगा तो उसका कल्याण कहां है! कोई विरला होगा जो इस बात पर विचार करता होगा और विवेक के पथ में लगता होगा, शेष लोग अंधाधुंध वासना में पड़े हैं। संसारी लोग तो ऐसे ही तमाशे देखने में रात-दिन लगे हैं जिससे विषयों की वासना उत्तरोत्तर बढ़े। लोग वासना घटने वाला काम नहीं करते, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ने वाला काम करते हैं। जिसमें उनका पतन है उसी में उन्हें हंसी-खुशी लगती है। धनी हो या गरीब, राजा हो या प्रजा, शिक्षित हो या अशिक्षित, विषयों के आमोद-प्रमोद में ही अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। इसलिए उनके जीवन में कल्याण का एक लक्षण भी नहीं आता। वे आत्मशांति का एक लक्षण भी पकड़ नहीं पाते।

"नियरे न खोजैं बतावैं दूरि" सुख, शांति, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, खुदा, गॉड, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष आदि शब्द कहकर इनके लक्ष्य को लोग अपने निकट अर्थात अपनी आत्मा में, अपने आपा में नहीं खोजते, किन्तु दूर खोजते हैं। आदमी की यह सर्वाधिक भ्रांति है कि परमात्मा या मोक्ष 'स्व' नहीं, किन्तु 'पर' है। परन्तु यदि ये 'पर' हैं तो हमें स्थायी शांति दे नहीं सकते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही परमात्मा है और वासना त्याग देना मोक्ष है। इसलिए परमात्मा और मोक्ष जीव से अलग नहीं, किन्तु जीव का ही स्वरूप है। परन्तु लोग बताते हैं कि परमात्मा दूर है तथा मोक्ष अलग मिलेगा। साहेब कहते हैं "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" अर्थात चारों दिशाओं में भ्रांति का जाल फैला है। संसारी तो संसारी ही हैं, पंडित तथा महात्मा कहलाने वाले लोग भी कितने हैं जो जीव को बाह्याचार में भटका देते हैं। "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" यह सर्वत्र फैले हुए अन्धविश्वास के सम्बन्ध में मार्मिक वचन है। प्रायः जहां जाकर कल्याण की बात पूछो तो धार्मिक कहलाने वाले आकाश की ओर उंगली उठाते हैं, हृदय की ओर इशारा नहीं करते।

"लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव-पीव।" एक जीव पर लाखों शिकारी हैं इसलिए वह आत्मविवेक खोकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है। सोखा, ओझा, नाउत, बैगा, तांत्रिक, पंडे-पुजारी, फलित-ज्योतिषी, भटके हुए पंडित, भटके हुए साधु एवं भटके हुए गुरु इस मनुष्य को ऐसी भ्रांतिपूर्ण राय देते हैं कि यह स्वावलंबन, विवेक तथा आत्मविश्वास छोड़कर हर समय देवी, देवता तथा ईश्वर की दुहाई देता फिरता है। विरले विवेकी मिलते हैं जो यह बतायें कि तुम स्वयं अपने कर्मों के कर्ता और विधाता हो; तुम स्वयं अपना उद्धार कर सकते हो; संसार से उद्धार होकर तुम्हारा कोई अलग आश्रय नहीं है, किंतु तुम्हारी आत्मा स्वयं आश्रय है, तुम स्वयं अपने आप में पूर्ण हो।

"अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" चुकाव कहते हैं छुटकारा को तथा समाप्त होने को। साहेब कहते हैं कि यदि अबकी बार सारी वासनाएं समाप्त कर दी गयीं तो मानो जीवन की बाजी मार ली गयी। इस जीवन में वही सर्वोच्च

पद पर पहुंचा जिसने सारी वासनाओं, तृष्णाओं एवं एषणाओं को समाप्त कर दिया। दुख कहां है यदि वासनाएं समाप्त हो गयीं और सुख कहां है यदि वासनाएं बनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम अबकी बार सावधान हो जाओ और वासनाओं को छोड़कर मुक्त हो जाओ।

इस प्रकार इस पूरे वसंत में हृदय-घर के वासनात्मक झगड़े का वर्णन कर अंत में सद्गुरु ने बताया है कि तुम्हारा लक्ष्य तुम से दूर नहीं है, किन्तु वासनाओं को त्याग देने के बाद तुम स्वयं कृतार्थ हो।

माया के चक्कर से बचे वह पण्डित है

बसन्त–८

कर पल्लव केवल खेले नारि, पंडित होय सो लेइ बिचारि॥ १ ॥
कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि॥ २ ॥
उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार॥ ३ ॥
कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कर पल्लव = हाथ की उंगुलियां। नारि = माया, मन का मोह। कपरा = कपड़ा। निर्जिव = जड़ भौतिक वस्तुएं। धनि = युवती, वधू, माया। बाजु = बजाना। तार = ताल, हाथ पर हाथ मारकर लय उत्पन्न करना।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि माया ऐसा दावं खेलती है कि अपनी उंगुलियों पर संसार के लोगों को नचाती है। जो सत-असत का विवेकी-पंडित होगा वह मेरी बातों पर विचार कर लेगा॥१॥ माया स्वयं कभी कपड़ा नहीं पहनती। वह सदैव नंगी रहती है। अर्थात वह निर्लज्ज है अथवा माया स्वयं जीव का आवरण है, उसका अन्य आवरण कुछ नहीं। माया भौतिक वस्तुओं के प्रति ही अधिक प्रेम उत्पन्न करती है॥२॥ वह अपनी हथेली उलट-पलटकर बजाती तथा संसार में एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है॥३॥ कबीर साहेब दासों के दास अथति अत्यंत विनम्र बनकर कहते हैं कि यह माया किसी को क्षणिक सुख देती है और किसी को निराश कर देती है। अथवा माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख तथा आशा-निराशा में पीड़ित रहते हैं॥४॥

व्याख्या—यहां भी 'नारि' माया का प्रतीक मात्र है। माया है मनुष्य के मन का मोह। अर्थात विषयों के प्रति जो उसके मन में मोह है वही माया है। जैसे कोई कल-बल करने में प्रवीण स्त्री हो और अपने पति को उंगली पर नचाती हो, वैसे यह माया है। 'उंगुली पर नचाना' एक प्रसिद्ध मुहावरा है। इसका अर्थ होता है इच्छानुसार काम कराना, इशारों पर नचाना, परेशान करना आदि। ऐसी कितनी ही स्त्रियां होती हैं जो अपने पतियों को अपनी उंगुली पर नचाती हैं। वे जैसा चाहती हैं उनका पति वैसा ही हर समय करने के लिए तैयार रहता है। मनुष्य के मन की माया इसी तरह है। मन का मोह माया है। यह माया नारी है। जीव उसका पति है, परन्तु यह माया-नारी जीव-पति को अपने

उंगुलियों पर नचाती है। आदमी हानिकर जानते हुए भी बीड़ी, सिगरेट, पान, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, कबाब आदि का सेवन करता है। इसी प्रकार गंदी-गंदी आदतें जिन्हें मनुष्य जानता है कि ये मेरा पतनकारी हैं उन्हीं के वश होकर नाचता है। जैसे विवाह करके पत्नी लाने वाला मनुष्य है और उसके वश नाचने वाला वही मनुष्य है, वैसे गंदी आदतें बनाने वाला मनुष्य है तथा उन्हीं के अधीन होकर नाचने वाला मनुष्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इस बात पर कोई पंडित ही विचार करेगा कि जीव की ही बनायी माया जीव को ही अपनी उंगुलियों पर नचा रही है। जिस दिन जो विचार करेगा उस दिन से वह अपने आप को माया से अलग करता जायेगा। ऐसा करना ही पांडित्य है।

"कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि।" इस माया के दो लक्षण और हैं, एक तो यह कपड़ा न पहनकर सदा नंगी रहती है और दूसरी बात है यह निर्जिव वस्तुओं से बड़ा प्रेम करती है। माया सदैव नंगी रहती है। अर्थात यह निर्लज्ज है। इसे अपने अंग किसी को समर्पित करने में देरी नहीं तथा उससे हटने में देरी नहीं। देखो, वेश्या कैसी होती है! वह भी मानो कपड़ा नहीं पहनती। इसका अभिधा अर्थ नहीं, लक्षणा अर्थ है। वैसे वेश्या कपड़ा पहनती है, परन्तु वह किसी के भी सामने सदैव निर्वस्त्र होने के लिए तैयार रहती है। भीड़ में लोग उससे मजाक करते हैं, उसके अंगों को छूते आदि हैं, परन्तु वह इससे लजाती नहीं है। वह किसी को भी अपनी देह बेचने के लिए हर समय तैयार रहती है, अतएव वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। यही दशा माया की है। यह सदैव नंगी, निर्लज्ज तथा सर्वगामी है। जो वेश्या की संगत करता है वह अपनी आत्मदृष्टि से तो गिर ही जाता है, समाज की दृष्टि से भी गिर जाता है। इसी प्रकार जो माया से, गलत आदतों तथा मलिन वासनाओं से संबंध रखता है वह अपनी आत्मस्थिति से तो गिर ही जाता है, बाहर से भी हलका हो जाता है। जैसे मनुष्य के शरीर का आवरण कपड़े होते हैं, कपड़ों का आवरण दूसरा कुछ नहीं होता। कपड़े स्वयं आवरणहीन होते हैं, वैसे जीव का आवरण माया है, परन्तु माया का आवरण कुछ नहीं। अतएव माया सदैव आवरणहीन है, इसलिए वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। जब जीव माया को देख लेता है, उसे पहचान लेता है तब वह मानो पंडित हो जाता है और माया निवृत्त हो जाती है। पंडित की दृष्टि से माया गायब हो जाती है। यह भाव सांख्यदर्शन की इस कारिका की याद दिलाता है "चेतन पुरुष यह विचार कर प्रकृति से उदासीन हो जाता है कि मैंने उसे देख लिया; और प्रकृति पुरुष-द्वारा देखी जाने के कारण उस पुरुष के लिए व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार शरीर रहते तक प्रकृति-पुरुष का संयोग रहने पर भी प्रकृति उस पुरुष के लिए सृष्टि का कारण नहीं बनती।"[१]

माया का अन्य लक्षण है कि यह निर्जीव वस्तुओं से अधिक प्यार करती है। देखते नहीं हो कि जमीन, मकान, रुपये-पैसे आदि जड़ वस्तुओं के लिए लोग पिता, भाई, गुरु, राजा आदि की हत्या करते हैं। इन्हीं सबके लिए चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपट तथा

---

१. दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ *सांख्यकारिका, ६६ ॥*

नाना दुराचार किये जाते हैं। इन जड़-वस्तुओं की माया में पड़कर ही लोग चेतन प्राणी के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। जो लोग जितना माया में आसक्त होते हैं वे उतना ही जीव के साथ निश्शीलता तथा जड़पदार्थों के साथ अनुराग करते हैं। सारी कठोरता तथा क्रूरता, माया में आसक्ति का फल है।

"उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार।" जैसे कोई मतवाली स्त्री अपने दोनों हाथों को उलट-पलटकर ताली बजाये और बहुत-से अपने रसिक पुरुषों के बीच में धमाल मचाये और किसी को मारे तथा किसी को उबारे, वैसे संसार की माया मानो जीवों के बीच में उलट-पलट कर ताली बजाती है और परिवर्तन की एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है। माया के अनेक रूप हैं। मन का मोह माया है, यह ऊपर कहा गया है। यहां माया संसार की परिवर्तनशीलता है। इस परिवर्तनशील संसार में एक काल में कोई मरता है तथा कोई बचता है, परंतु जो अभी बचता है वह आगे नहीं रह जाता।

"कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास।" यहां कबीर साहेब अपने आप को दासों का दास बतलाते हैं। यह उनकी अत्यन्त उदारता है। कबीर साहेब उनके सामने उग्र बन जाते हैं जो धर्म, ईश्वर तथा मोक्ष के नाम पर लोगों को मूर्ख बनाते हैं, परन्तु वे अपने आप में अत्यन्त विनम्र हैं। "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।"[१] कहने वाले कबीर साहेब यहां भी अपने आपको 'दासों का दास' बताते हैं।

साहेब कहते हैं कि यह माया किसी को सुख देती है और किसी को निराश करती है। यह प्रक्रिया सब जीवों पर घूम-घूम कर आती रहती है। अर्थात माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख, आशा-निराशा के रहंट चक्र में घूमते रहते हैं, वे चाहे धनी हों या निर्धन, राजा हों या रंक, शिक्षित हों या अशिक्षित, सब आशा-निराशा के झमेले में पड़े फूलते-पचकते रहते हैं।

इस प्रकार इस वसंत में 'नारी' माया का प्रतीक है। नर-नारी में कही जाने वाली नारी को यहां नारी नहीं कहा गया है, किन्तु नर और नारी दोनों के मन में रहने वाली आसक्ति तथा गलत आदतें माया है और यहां यही नारी है, जिसके चक्कर में पड़े समस्त नर-नारी दुखी हैं। इसलिए सबको माया का त्याग करना चाहिए। अर्थात मन के मोह का त्याग करना चाहिए।

देहाभिमान छोड़कर आत्माराम का भजन करो

बसन्त—९

ऐसो दुर्लभ जात शरीर, राम नाम भजु लागू तीर॥ १ ॥
गये बेनु बलि गये कंश, दुर्योधन को बूड़ो बंश॥ २ ॥
पृथु गये पृथिवी के राव, त्रिविक्रम गये रहे न काव॥ ३ ॥

---

१. साखी ३२२।

छौ चकवै मण्डली के झारि, अजहूँ हो नर देखु बिचारि ॥ ४ ॥
हनुमत कश्यप जनक बालि, ई सब छेंकल यम के द्वारि ॥ ५ ॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग, जस रावण मार्‍यो करत भोग ॥ ६ ॥
ऐसी जात देखि नर सबहिं जान, कहहिं कबीर भजु राम नाम ॥ ७ ॥

शब्दार्थ— त्रिविक्रम = तीन डग (विष्णु के); विष्णु, वामन। छौ चकवै = छह चक्रवर्ती। मण्डली = समूह, छोटे-छोटे राजा मांडलिक कहलाते हैं और बारह राजाओं का अधिपति मंडलीक कहलाता है।

भावार्थ— हे मनुष्य! ऐसे दुर्लभ शरीर का समय बीता जा रहा है, अतएव अविनाशी राम का भजन करो और संसार-सागर से पार लगो ॥१॥ यहां से थोड़े दिनों में सब चले जाते हैं। देखो वेन, बलि तथा कंस जैसे बलवान राजा चले गये। दुर्योधन जैसे प्रतापी राजा का वंश डूब गया ॥२॥ पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट पृथु चले गये और बलि को छलने वाले वामन भी चले गये। यहां कोई भी नित्य रहने नहीं पाता ॥३॥ हे मनुष्य! आज भी विचार कर देखो, मांडलिक राजाओं के मंडलीक छह चक्रवर्ती सब बाल-बच्चे सहित संसार से चले गये ॥४॥ यहां तक कि हनुमान, कश्यप, जनक तथा वाली, ये सब भी मृत्यु के द्वारा घेर लिये गये ॥५॥ गोपीचंद उत्तम योग करते हुए चले गये, उनसे विपरीत रावण भोग करते हुए चले गये ॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार सबकी जान जाती हुई देखी जाती है। इसलिए माया का अहंकार एवं मोह छोड़कर अविनाशी राम का भजन करो ॥७॥

व्याख्या— मानव शरीर दुर्लभ है। दुर्लभ उसे कहते हैं जिसका प्राप्त होना कठिन हो। देखो, संसार में नाना खानियों में असंख्यात जीव हैं, परंतु मनुष्य बहुत थोड़े हैं। मानव-शरीर में ही विवेक उत्पन्न होता है। यहीं से भवबंधनों के नाश के उपाय किये जा सकते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने राम ऐसा नाम जिस तत्व का रखा है उसका स्मरण करो; क्योंकि वह अविनाशी है। तुम जिस माया का रात-दिन स्मरण करते हो वह नाशवान है। इसलिए उसके स्मरण में, उसके मोह में तुम्हारा पतन है। तुम संसार के राग में पड़कर ही भवधारा में बहते हो। परंतु यदि तुम अविनाशी राम का भजन करो जो तुम्हारा स्वरूप ही है तो संसार-सागर से उद्धार हो जाय। तुम काम में लगे हो इसलिए राम का स्मरण छुटा हुआ है, परन्तु यदि राम में लग जाओ तो काम छूट जायेगा। काम कीचड़ है, राम स्वच्छ चेतन है। काम मलिनता है, राम परम पवित्र है। काम जगतरूप है, परन्तु राम निजस्वरूप है। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि काम-कीचड़ से निकलकर अविनाशी निजस्वरूप राम का भजन करो।

इस संसार में बड़े-बड़े नाम वाले आये, परन्तु थोड़े दिनों में सब अपने नौबत-नगाड़े बजवाकर यहां से कूच कर गये। जवानी, प्रभुता, पद, अधिकार, धन-दौलत थोड़े दिनों की लालिमा है। इनके आकर लौट जाने में देरी नहीं लगती। जो इनके अहंकार एवं मोह में डूबा है वह वज्र मूढ़ है। संसार की चीजें तो आत्मकल्याण और लोककल्याण करने के साधन मात्र हैं। इनका अहंकार करना भूल है। बिजली की चमक, बादल की छाया और

संसार के ऐश्वर्य एक समान क्षणभंगुर हैं। हम मोह-मूढ़ बने इन्हीं में लिपटे रहते हैं। इतना ही नहीं, इनके लिए नामालूम क्या-क्या पाप करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि संसार की क्षणिक माया का मोह छोड़ो और कभी न बिछुड़ने वाले अपने आत्माराम का भजन करो। जो क्षणिक संसार का मोह छोड़ देता है और अविनाशी आत्माराम में रमण करता है वह संसार-सागर से तर जाता है।

वेन तथा पृथु

राजा अंग तथा रानी सुनीथा से एक पुत्र पैदा हुआ उसका नाम वेन था। वेन दुष्ट था। वह खेलते समय बच्चों को पीड़ा देता था तथा मूक पशुओं को बाण से व्यर्थ में मार देता। राजा अंग ने उसे बहुत समझाया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। उन्होंने सोचा कि कुपुत्र की अपेक्षा निर्वंश रहना अच्छा था। परन्तु कुछ क्षण में सोचा कि मुझे कुपूत मिला तो अच्छा ही है। मेरा मन संसार से विरक्त हो रहा है। एक रात राजा अंग सबको छोड़कर विरक्त हो वन में चले गये। प्रजा, मंत्री तथा पुरोहितों ने उन्हें उसी प्रकार वन में खोजा जैसे योग के यथार्थ मर्म को न जानने वाले लोग अपने हृदय में छिपे हुए परम तत्त्व को बाहर खोजते हैं।[१] अन्ततः वे राजा को नहीं पाये।

मंत्रियों की सम्मति न होने पर भी पुरोहितों ने राजकुमार वेन को इसलिए राजगद्दी पर बैठा दिया कि राज्य में अराजकता न फैल जाय; परन्तु वेन राजगद्दी पर बैठकर और उन्मादी हो गया। वेन-द्वारा उत्तरोत्तर प्रजा को पीड़ा मिलने लगी। अतः ब्राह्मणों ने उसकी हत्या कर दी। जब राजा न रहने से पुनः प्रजा में अव्यवस्था फैलने लगी तब ब्राह्मणों ने वेन के पुत्र पृथु को राजगद्दी पर बैठाया जो धर्मात्मा था।

बीच में पंडितों ने काल्पनिक बातें जोड़ी हैं। वह यह कि वेन को कोई संतान न थी। उसे ब्राह्मणों ने मार दिया। उसकी लाश पड़ी थी। ब्राह्मणों ने उसके जंघे को मथा तो उससे एक बालक निकला जो काला था। उसे ब्राह्मणों ने कहा 'निषिद' (बैठ जा)[२] इसलिए उसका नाम निषाद कहलाया, फिर तो उसी से निषाद-जाति ही बन गयी। फिर ब्राह्मणों ने वेन की भुजाओं को मथा तो उनसे एक स्त्री तथा एक पुरुष पैदा हुए।[३] स्त्री का नाम अर्चि तथा पुरुष का नाम पृथु हुआ। पृथु धर्मवान थे।

पृथु जब राजगद्दी पर बैठे, तब प्रजा में भुखमरी थी। राजा ने पृथ्वी से अन्न देने के लिए कहा। पृथ्वी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। पृथु ने कुपित होकर धन्वा-बाण सम्हाला। पृथ्वी गौ बनकर भागी। परन्तु कहीं शरण न पाकर पृथु की शरण ही में गयी। तब पृथु ने स्वयंभुव मनु को बछड़ा बना कर पृथ्वीरूपी गौ से अन्न तथा औषधियों आदि को दुहा। राजा पृथु ने आगे चलकर सौ अश्वमेध यज्ञ किया। पीछे से उन्होंने तप किया और संसार से चले गये।[४] पृथ्वी का गौ बनना तथा पृथु का उसे दुहना एक

---

१. यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः। (*भागवत ४/१३/४८*)

२. भागवत ४/१४/४५।

३. वही, ४/१५/१-२।

४. वही, ४/१५-२३।

प्रतीकात्मक कथन है। इसका मतलब यह है कि पृथु ने कृषि-विज्ञान-द्वारा खेती की उन्नति की।

बलि

राजा बलि के पिता का नाम विरोचन तथा पितामह का नाम प्रह्लाद था। ये दान करने में प्रसिद्ध थे। विष्णु ने छलकर इनकी सरलता का दुरुपयोग किया और वामन रूप धारणकर इनका राज्य छीन लिया था।

कंस

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का क्षेत्रज पुत्र था। इसने मगधराज जरासंध की अस्ति तथा प्राप्ति नाम की दो कन्याओं का पाणिग्रहण किया था। इसने जरासंध की सहायता लेकर अपने पिता उग्रसेन को राजगद्दी से हटाकर उसे कारावास में डाल दिया था और यह स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया था। यह श्री कृष्ण के क्रांतिकारी स्वभाव से डरकर उनसे शत्रुता रखता था। अंततः कृष्ण ने इसे मार डाला।

त्रिविक्रम

'त्रि' कहते हैं तीन को तथा 'विक्रम' कहते हैं कदम, डग एवं पग को। इसका रूढ़ अर्थ विष्णु है। अर्थात त्रिविक्रम वह है जिस विष्णु ने अपने तीन पग से बलि का सारा राज्य नाप लिया था। विष्णु ने अपने बड़े भाई इंद्र के संतोष के लिए बलि के साथ छलकर उनसे तीन पग जमीन मांगी और तीन पग में उनका सारा राज्य नाप लिया। तीन पग में पूरे राज्य को नाप लेने की बात आलंकारिक है। सार इतना ही है कि जिस वामन एवं विष्णु ने बलि के साथ छल कर उनका राज्य छीन लिया था वे भी उसे छोड़कर चले गये।

दुर्योधन, हनुमान, जनक, वाली

दुर्योधन धृतराष्ट्र का पुत्र था जो बहुत बड़ा योद्धा, सम्राट तथा अभिमानी था। हनुमान महावीर थे, जिन्होंने सीताहरण के बाद श्रीराम का काम बनाया था। जनक मिथिला के राजा तथा आत्मज्ञानी पुरुष थे। वाली किष्किंधा का राजा, महान बलवान तथा प्रतापवान था, परन्तु ये सब संसार से चले गये।

कश्यप

कश्यप[१] बहुत महत्त्वपूर्ण नाम है। कश्यप नाम के ऋग्वेद के ऋषि भी हैं; ऐतरेय ब्राह्मण में कश्यप पुरोहित हैं। शतपथ ब्राह्मण में कश्यप प्रजापति का नाम है। महाभारत तथा पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के छह मानस-पुत्रों में से एक 'मरीच' थे जिन्होंने अपनी इच्छा से कश्यप नामक पुत्र पैदा किया। कश्यप ने दक्षप्रजापति की सत्तरह (१७) पुत्रियों के साथ अपना विवाह किया। उन १७ पत्नियों से इस प्रकार सृष्टि हुई—

१. अदिति से आदित्य (देवता)

---

१. कश्यप—हिन्दू धर्मकोश।

२. दिति से दैत्य
३. दनु से दानव
४. काष्ठा से अश्वादि
५. अनिष्ठा से गंधर्व
६. सुरसा से राक्षस
७. इला से वृक्ष
८. मुनि से अप्सरागण
९. क्रोधवशा से सर्प
१०. सुरभि से गौ और महिष
११. सरमा से श्वापद (हिंस्र पशु)
१२. ताम्रा से श्येन-गृधादि
१३. तिमि से यादोगण (जल जन्तु)
१४. विनता से गरुड और वरुण
१५. कद्रू से नाग
१६. पतंगी से पतंग
१७. यामिनी से सलभ

मार्कंडेय पुराण के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां हैं। उनके नाम ये हैं १. दिति, २. अदिति, ३. दनु, ४. विनता, ५. खसा, ६. कद्रु, ७. मुनि, ८. क्रोधा, ९. रिष्ठा, १०. इरा, ११. ताम्रा, १२. इला और १३. प्रधा।

कश्यप एक गोत्र भी है जो बहुत व्यापक है। जिस व्यक्ति का कोई गोत्र नहीं मिलता उसका गोत्र कश्यप मान लिया जाता है, क्योंकि कश्यप से ही सबकी उत्पत्ति मानी गयी है।

कश्यप की १७ या १३ पत्नियों से मनुष्य ही नहीं, पशु, कीड़े, सांप-गोजर भी पैदा हुए यह निरीकल्पना है। सद्गुरु के कथन का तो मतलब यह है कि संसार में बड़े-बड़े नामधारी हुए और वे रह नहीं गये। इस संसार में वह सफल नहीं है जिसने केवल माया का संग्रह कर लिया है। सफल तो वह है जो संसार की आसक्ति का त्यागकर आत्माराम का भजन करता है।

भर्तृहरि के भांजे गोपीचन्द एक राजकुमार थे। वे विरक्त होकर गोरखपंथ में दीक्षित हो गये थे। वे योग में प्रवीण थे। इसके विरुद्ध प्रतापवान, बलवान एवं विद्वान सम्राट रावण भोग में प्रवीण था। साहेब कहते हैं कि रावण भोग करते मारा गया। यहां तक, भोग-कामना के वशीभूत हो परायी स्त्री का हरण किया और उसके फल में मारा गया।

साहेब यहां गोपीचन्द तथा रावण का विरुद्ध उदाहरण देते हैं कि एक गोपीचन्द थे जिन्होंने राजपाट छोड़कर अच्छा योग किया और दूसरा रावण था जो विद्वान तथा प्रतापवान होकर भोगों के चक्कर में मारा गया। जीवन उसी का धन्य है जो भोगों से हटकर योग में लगता है, तथा सांसारिक कामनाओं से हटकर आत्माराम में लगता है।

अहंकार छोड़ो तथा आत्माराम के भजन में लगो

बसन्त–१०

सबहीं मद माते कोई न जाग, संगहि चोर घर मूसन लाग॥ १ ॥
योगी माते योग ध्यान, पण्डित माते पढ़ि पुरान॥ २ ॥
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते कर हंमेव॥ ३ ॥
मोलना माते पढ़ि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ॥ ४ ॥
संसारी माते माया के धार, राजा माते करि हंकार॥ ५ ॥
माते शुकदेव उद्धव अक्रूर, हनुमत माते लै लंगूर॥ ६ ॥
शिव माते हरि चरण सेव, कलि माते नामा जयदेव॥ ७ ॥
सत्य-सत्य कहैं सुमृति-वेद, जस रावण मारेउ घर के भेद॥ ८ ॥
चंचल मन के अधम काम, कहहिं कबीर भजु राम नाम॥ ९ ॥

शब्दार्थ—मद = नशा, अहंकार। जाग = सावधान, होश-हवास। चोर = अहंकार, वासना। मूसन = चुराना। भेव = भेद, रहस्य। हंमेव = अहंकार, अहं ब्रह्मास्मि। मोलना = मौलवी। मुसाफ = कुरान शरीफ। निसाफ = इंसाफ, न्याय। धार = धारा, लहर। नामा = नामदेव। घर के भेद = घर की फूट।

भावार्थ—सब किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर नशा में चूर हैं। कोई सावधान नहीं हो रहा है। उनके साथ ही में अहंकार-कामनारूपी चोर लगे हुए हैं जो उनके शांति-धन को चुरा रहे हैं॥१॥ योगी लोग योग तथा ध्यान के अहंकार में चूर हैं। पंडित लोग पुराण पढ़कर उसके अहंकार में डूबे हैं॥२॥ तपस्वी लोग तपस्या के मद में मतवाले हैं। संन्यासी लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाकर अहंकार में डूबे हैं॥३॥ मौलाना लोग कुरान-शरीफ पढ़कर इस अहंकार में डूबे हैं कि हम तो खुदाई किताब के पाठक हैं। काजी लोग इसलाम के न्याय सुनाकर घमंड में चूर हैं कि यह ईश्वरीय कानून है॥४॥ संसारी लोग माया की लहर में डूबे हैं। राजा लोग विश्व अभिमान में बेभान हैं॥५॥ ज्ञान के नशे में शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर डूबे हैं। हनुमान अपनी पूंछ के घमंड में डूबे हैं॥६॥ शिवजी विष्णु के चरणों की सेवा कर मतवाले हुए और कलियुग में भक्ति के जोश में नामदेव तथा जयदेव मतवाले बने॥७॥ वेदों और धर्मशास्त्रों में यह बात पूरी-की-पूरी सही कही गयी है कि आदमी अपने ही अन्दर में उत्पन्न हुए अहंकार-कामना की आग में जलता है। जैसे रावण अपने घर की फूट से मारा गया वैसे हर व्यक्ति अपने ही भीतर के अहंकार-कामना रूपी हमलावरों से मारा जाता है॥८॥ चंचल मन के सभी काम नीच

होते हैं, इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सब प्रकार अहंकार-कामना का परित्याग कर अविनाशी आत्माराम का भजन करो।।९।।

व्याख्या—किन्हीं भी प्राणी, पदार्थ, पद, भाव, क्रिया आदि का सम्बन्ध होने पर यदि सावधान न रहे तो उनमें अहंकार जगता है। अहंकार के साथ कामना छिपी रहती है। ये अहंकार-कामना मनुष्य के भीतर रहे हुए चोर हैं जो उसके ज्ञान एवं शांति-धन को नित्य चुराते रहते हैं। साहेब कहते हैं कि सब लोग किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर मरते हैं। सबके हृदय-घर में चोरी हो रही है, परन्तु लोगों को इसका पता नहीं है।

"योगी माते योग ध्यान" वैसे योग का अर्थ है मन की एकाग्रता, जिससे चेतन जड़वर्ग से अलग होकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसमें किसी प्रकार के अहंकार की गुंजाइश नहीं है, परन्तु अधिकतम योगी योग के बाह्याचार में उलझ जाते हैं, जैसे नेति, धोति, कपालि, कुंजल आदि षटकर्म करना, षटचक्र वेधन, ज्योति-दर्शन, नाद-श्रवण, आसन, मुद्रा दिखाना, ऋद्धि-सिद्धि तथा चमत्कार का दिखावा करना आदि। वे इन्हीं सबका अहंकार लिये घूमते हैं। जो योग-मार्ग सारे अहंकारों को दूरकर निजस्वरूप में स्थित होने के लिए है, उसे ही अहंकार का कारण बना लेना अपनी ही असावधानी है।

"पण्डित माते पढ़ि पुरान" पंडित लोग पुराणों को पढ़कर मतवाले हैं। पुराणों में थोड़ा-सा सत्य लेकर शेष झूठी कथाओं की भरमार है। प्रायः हर कथा में यही दर्शाने की चेष्टा की गयी है कि ब्राह्मणों को जितना अधिक दान दिया जा सके उतना अच्छा है। ब्राह्मणनामधारी सबसे बड़ा है वह चाहे जैसा हो। नैतिकता पर जोर कम, किन्तु देवी, देवता, हरि तथा पूजा-पाठ एवं तीर्थ-नदी से सारे पापों का नाश एवं मोक्ष माना गया है। पंडितों ने पुराणों को पढ़कर उसके सारे वर्णन को सत्य मान लिया और वे उसी में मस्त हो गये।

"तपसी माते तप के भेव" तपस्वी लोगों ने तपस्या के गूढ़ रहस्यों को खोजा। वे जलशयन, अग्नितापन, खुले आकाश में निवास, घोर उपवास तथा और भी अनेक ऊलजलूल काया-कष्ट की विधियों की गवेषणाकर उनमें अपने शरीर को तपाने लगे। वे अपने आगे दूसरों को तुच्छ समझने लगे। वे काया को अधिक संताप देना ही कल्याण का रास्ता समझने लगे और उसी के क्रियाकलाप में डूब गये।

"संन्यासी माते कर हंमेव" संन्यासी लोग अहंकार में मतवाले हैं। उन्होंने समझा कि सच्चा ज्ञान केवल हमारे पास है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ब्रह्म हूं, मैं चेतन हूं, यह भाव सारे अहंकारों के विसर्जन का साधन है, परंतु उन्होंने इसे अहंकार का साधन बना लिया। उन्होंने मान लिया कि हम सारे विश्व के कर्ता-धर्ता हैं जबकि वे अपने शरीर में पैदा हुई एक फुंसी को चुटकी बजाते नहीं अच्छा कर सकते। वे अपने पीठ-पीछे की बात नहीं जानते, किन्तु अहंकार करने लगे कि मैं सर्वत्र व्याप्त विश्व का नियन्ता हूं। वे प्रलाप करने लगे कि मैं ही सूरज हूं, मैं ही चांद हूं और मैं ही अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं। कितने संन्यासी तो अहंकार में इतना चूर रहते हैं कि अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन नहीं कर सकते। यहां तक कि वे आर्शिवाद देने में अपनी हेठाई समझते हैं। उनके ख्याल से वे

ठहरे ब्रह्म, और उनके अलावा कोई या कुछ है ही नहीं, फिर वे कुछ क्या मानें! अतः वे अपने आप को ही सर्वोच्च मान लिये।

"मोलना माते पढ़ि मुसाफ" मौलवी साहब कुरानशरीफ को पढ़कर मतवाले हुए। उन्होंने माना कि ईश्वर एक है और वह वही है जो मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को भेजा है। भले उसने पहले दूसरे पैगंबर तथा किताबें भेजी हों, परन्तु अब तो वह मुहम्मद को खत्मा-नबी बनाकर भेजा है। अब इसके आगे न कोई दूसरा नबी आयेगा, न किताब आयेगी और न मजहब आयेगा। अतएव अनंत ब्रह्मांड तथा महाप्रलय तक के लिए बस एक ही ईश्वरीय धर्मग्रन्थ है कुरान, एक ही पैगंबर है मुहम्मद तथा एक ही रास्ता है इसलाम। इसलिए जो कुरान शरीफ पढ़ता है वही राहेखुदा है, बाकी लोग राहेजुदा एवं राहेदोजख हैं। लोग ऐसा मजहबी कुआं के मेढक बनते हैं कि उससे अधिक उन्हें कुछ पता ही नहीं होता और वे अपने कुएं में पड़े मस्त रहते हैं।

"काजी माते दै निसाफ" काजी लोग इसलाम मजहब के कानून-कायदे के अनुसार न्याय सुनाकर उसी में मतवाले हो गये। उन्हें न देश की परवाह है और न काल की। ईसा की छठी शताब्दी में अर्थात हजरत मुहम्मद के काल में अरब वालों के लिए जो कुछ न्याय था वही सब आज भी सारी दुनिया के लिए न्याय बनाने का हठ है। आये दिन संसार के मुसलिम राष्ट्र अपनी प्रजा को बेवकूफ बनाकर उन पर राज्य कायम रखने के लिए इसलाम-शासन की दुहाई देते हैं और समाज के विविध वर्गों पर अत्याचार करते हैं। सबसे दयनीय दशा तो स्त्रियों की बनायी जाती है। शताब्दियों पूर्व किसी देश के कानून संसार भर के सब समय के लिए कानून नहीं हो सकते। परन्तु काजियों को यही गर्व है कि इसलाम के कानून सब देश तथा सब काल के लिए समान हैं।

"संसारी माते माया के धार" संसार की आसक्ति में डूबे हुए संसारी लोग तो माया-मोह की धारा में बहते हुए अपने नशा में मतवाले हैं। उनके ख्याल से जवानी, धन, पद, अधिकार, प्रतिष्ठा सब अजर-अमर हैं। वे इनके लिए पाप-पुण्य सब करने के लिए तैयार हैं। उन्हें वर्षों में शायद एक बार भी न मौत की बात याद आती है और न इन सबके छूटने की। वे सब समय माया के उन्माद में चूर रहते हैं। जैसे आग से घिरा हुआ सांप क्रोध से फनफनाता हुआ ऐंठ-ऐंठ कर जल मरता है वैसे अंततः माया-अहंकारी की दशा होती है।

"राजा माते करि हंकार" राजा लोग अपने विश्व अहंकार में डूबे रहते हैं। इतिहास उठाकर देखो तो राजाओं, सम्राटों एवं चक्रवर्ती नामधारियों में से अनेकों ने जो-जो अत्याचार जनता पर किये हैं, अपने राज्य-विस्तार के लिए जो निरपराधों का खून बहाया है वह अत्यन्त निंदनीय है। अंततः सारे राजे-महाराजे बिजली की तरह चमककर बुझ गये हैं। जब तक जो सत्ता में रहता है तब तक वह अपने आप को अजर-अमर माने रहता है, परन्तु कुछ दिनों के बाद उनका कोई नामलेवा नहीं रह जाता। असंख्य राजे-महाराजे हो गये, जिन्हें आज कोई जानता तक नहीं। क्या रखा है इस संसार के राज-काज में! परन्तु जो व्यक्ति जब जहां गद्दी पर बैठता है वह समझता है कि मैं अब अजर-अमर हूं और मेरी गद्दी अजर-अमर है।

"माते शुकदेव उद्धव अक्रूर" शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर ज्ञान में मतवाले हो गये। इन सब ज्ञानियों ने पहले तो अपनी आत्मा से देह तथा जगत को अलग बताया और पीछे देह-जगत सब कुछ को आत्मरूप ही बता दिया। ब्रह्मविचार करते-करते ब्रह्मविचार न रहकर जड़-चेतन एकतारूपी अविद्या का स्वरूप उपस्थित हो जाता है। शुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित को आत्मज्ञान का सारा उपदेश देने के अंत में कहा—"सर्प अपने विषपूर्ण मुख से जीभ लपलपाते हुए तुम्हारे पैर को काट ले तो इसकी कोई परवाह नहीं करना, क्योंकि तुम शरीर और संसार को अपनी आत्मा से अलग नहीं समझोगे।"[१] यहां पर शुकदेव मुनि ने सारा गुड़ गोबर कर दिया। शरीर और संसार तो जड़ हैं, विकारी हैं तथा आत्मा चेतन और निर्विकार है। दोनों की एकता को अविद्या कहा गया है, फिर यह ज्ञान कैसे हो गया! इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के नाम पर शुकदेव, उद्धव, अक्रूर आदि ज्ञानी जड़-चेतन एवं आत्मा-देह की एकता कहकर अध्यात्मक्षेत्र में महाभ्रम फैला दिये हैं। एक बार कहते हैं कि जड़-चेतन अलग-अलग हैं, देह तथा आत्मा सर्वथा भिन्न हैं और बाद में कहते हैं कि देह तथा आत्मा एक है तथा शरीर-संसार सब आत्मा ही है। यह सब ब्रह्मज्ञान के नशा में मतवाला हो जाना ही है।

"हनुमत माते लै लंगूर" हनुमान को अपनी पूंछ का घमंड हुआ। पूंछ तो एक कहावत मात्र है। हनुमान, सुग्रीव, वाली आदि न वानर थे और न उनकी पूंछें थीं। यदि यह सब होता तो सुग्रीव तथा वाली की पत्नियों को भी पूंछें होतीं और वे भी वानरी के शक्ल में होतीं। जो मनुष्यों से बात करता है, कपड़ा पहनता है, राज-काज करता है, दूसरे मनुष्यों तथा राजाओं से प्रेम-वैर करता है, वह वानर कैसे हो सकता है! कबीर साहेब ने यहां रामायण के अनुसार कहा है, क्योंकि रामायण में हनुमान जी को पूंछ वाले वानर के रूप में चित्रित किया गया है।

विविध रामायणों में यह चित्रित किया गया है कि हनुमान को गर्व हो गया था, इसलिए उनको समय-समय से मुंह की खानी पड़ी। बलरामदास की रामायण में लिखा है कि जब लंकाविजय के बाद हनुमान श्रीराम के साथ भरद्वाज आश्रम में आये तब उनको यह बड़ा गर्व था कि मैंने राम का बड़ा महान कार्य किया है। श्रीराम ने हनुमान को भरद्वाज आश्रम के पास एक वन में किसी काम से भेजा, तो हनुमान अष्टक नामक एक असुर से परास्त हुए।[२] राम कियेन (अध्याय २३) के अनुसार जब हनुमान लंका गये तो वे लंका के पार नारद के आश्रम में पहुंच गये और उन्होंने नारद से एक रात रहने के लिए जगह मांगी। नारद ने एक छोटी कुटी बतायी कि इसमें रह लो, तो हनुमान ने अपने गर्व में अपना शरीर बढ़ाया। नारद ने अपने योगबल से जोरों का हिमपात कराया जिससे हनुमान सिमिट गये और उनका गर्व चूर हो गया। दूसरे दिन हनुमान एक सरोवर में नहाने गये तो नारद की प्रेरणा से एक जोंक हनुमान की ढोंढ़ी में लग गयी। हनुमान उसे

---

१. दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ।। *भागवत १२/५/१२ ।।*

२. रामकथा, अनुच्छेद ६०८।

"चंचल मन के अधम काम" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चंचल म
नीच होते हैं। वह जीव से फूटकर विषयों में मिलता रहता है। जब मन अ
तथा विषयों के अभिमुख होता है तभी तो व्यक्ति का पतन होता है।
चंचलता है। यही उसकी नीचता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "कहहिं क
नाम" राम ऐसा नाम जिस तत्व का है उस अविनाशी का भजन, चिंतन एवं
साधक जब राम का चिंतन करेगा तब स्वाभाविक ही विषयचिंतन नहीं हों
एवं राम-चिंतन से विषय-चिंतन समाप्त हो जाते हैं। आत्माराम के चिंतन
चंचलता एवं विषय-विकार नष्ट होंगे।

काशी-महिमा के विषय में शिवजी से प्रश्न

बसन्त–११

शिवकाशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेहु
चोवा चन्दन अगर पान, घर घर सुमृति होत
बहु विधि भवने लागू भोग, ऐसो नग्र कोलाहल करत
बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै
जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब
हर हर्षित सो कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दुसरा न
दिना चारि मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहहिं

शब्दार्थ—चोवा = चोआ, कई गंध द्रव्यों को मिलाकर बनाया जाने
सुगंधित द्रव्य। अगर = एक सुगंधित लकड़ी, धूप, अगरबत्ती। सुमृति = र
नगर, काशी शहर। परजा = शिष्य, शाखा। ढीठ = धृष्ट, बेअदब, संकोचरहि
अकल्याण। हर = शिव, ज्ञानी। भेव = भेद, रहस्य। केव = कोई।

भावार्थ—हे शिव जी! तुम्हारी काशी कैसी हो गयी है? आज भी
बात पर विचार कर लो॥१॥ चोवा, चंदन, अगर, पान आदि से तुम्हारी
और घर-घर में स्मृतियों, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की कथा होती है॥२॥ घर-
व्यंजनों के द्वारा तुम्हें भोग अर्पित किया जाता है। लोग शहर में हर-हर
महादेव कहकर हल्ला करते हैं और तुम्हें पुकारते रहते हैं॥३॥ यहां तुम्हारे
है, इसलिए तुमसे पूछने में मेरा मन भी निस्संकोच हो गया है॥४॥ हम
बालक हैं, अतएव हमारा ज्ञान थोड़ा है। तुम तो परम ज्ञानी हो, फिर तुम
समझावे!॥५॥ जिसके मन में जैसा आता है काशी की वैसी ही महिमा हांक
में मरने से हत्यारा भी मुक्त हो जाता है, दुराचारी भी मुक्त हो जाता है,
धर्मग्रंथों में लिख रखी हैं। हे शिव जी! मैं तुमसे पूछता हूं कि ये नाना प्रक

र छोड़कर कहां समायेंगे, कैसी दशा प्राप्त करेंगे, तुम्हीं बताओ! ।।६।। ध्यान गरी की महिमा के झांसे में पड़कर यदि जीवों का अकल्याण हुआ तो यह हीं माना जायेगा। यह दोष स्वयं हुजूर को पड़ेगा।।७।। कबीर साहेब की र शिवजी हर्षित होकर कहने लगे—सुनो कबीर! जहां हम हैं वहां दूसरा अर्थात शैव ज्ञानियों ने कहा कि काशी में शिव का निवास है। यहां यमराज ा, इसलिए यहां कैसे भी कर्म वाले मनुष्य मरें, वे मुक्त ही हैं।।८।। कबीर कि इन मिथ्या महिमाओं के झांसे में पड़कर भले भक्त लोग चार दिन , परंतु अंत में अपने-अपने कर्मों के फल सबको भोगने पड़ेंगे। कबीर तो तो देखते हैं, अर्थात जो वास्तविकता है।।९।।

-काशी, वाराणसी, अविमुक्त, आनन्दकानन, श्मशान, महाश्मशान आदि नगरी जानी जाती है। यह भारत की अति प्राचीन नगरी है। कम-से-कम र्षों से इसकी प्रतिष्ठा है। कुछ विद्वान लिखते हैं कि काशी से कौशांबी क कुश्-घास बहुत थी इसलिए एक का नाम काशी तथा दूसरे का नाम । पंडितजन कहते भी हैं कि 'काश' का अर्थ है चमकता हुआ। इस नगरी विद्वानों की तपस्या और विद्या की चमक थी इसलिए इस नगर का नाम गर के दक्षिण 'असि' तथा उत्तर 'वरणा' नदी है। इसलिए दोनों के बीच में को वाराणसी कहते हैं। इसी का अपभ्रंश बनारस है। यहां पहले बहुत -ऋषि रहते थे, इसलिए इसे आनन्दकानन भी कहते हैं। यहां श्मशान था। हां मरने से या कम-से-कम यहां अंत्येष्टि करने से मोक्ष की कल्पना थी, ोग दूर-दूर से मरने आते थे या मर जाने के बाद शव जलाने के लिए यहां , इसलिए यहां महाश्मशान था। आज भी यह सब बातें हैं। एक नाम इस मुक्त भी है। 'अविमुक्त' का अर्थ 'बद्ध' होता है, परन्तु यहां यह अर्थ नहीं ुक्त नाम एक महिमापरक अर्थ लेकर है। काशी खंड में लिखा है "हे मुने! ती प्रलयकाल में भी काशी का त्याग नहीं करते, इसलिए इस नगरी को जाता है।"[२] अविमुक्त अर्थात जिससे शिव और पार्वती कभी मुक्त एवं हों।

षि लिंग-पूजक नहीं थे। वे ऐसे भी किसी शिव की पूजा नहीं करते थे जो हो, सिर पर गंगा तथा अर्धचंद्र धारण करता हो, राख लगाता हो, जिसके ली हो। वेदों में रुद्र है, परन्तु वह केवल तूफान का देवता है। लिंगपूजकों 'शिश्नदेवाः" कहकर उनकी निन्दा की है। अतएव ऐतिहासिक अध्येताओं ाला है कि भारत के आदिवासी लिंगपूजक थे जो अनार्य थे, अतएव आर्यों द भी काशी में अनार्यों-द्वारा लिंग-पूजा होती रही। परन्तु धीरे-धीरे आर्यों ने

प्रयाग से पश्चिम-दक्षिण ५० किलोमीटर पर एक खंडहर के रूप में आज भी है। यह पुराकाल में वत्सदेश (प्रयाग क्षेत्र) की राजधानी थी।

ायकालेपि नैतत् क्षेत्रं कदाचन।
यात् शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः।। *काशी खंड, अध्याय २६, हिन्दू धर्मकोश।।*

लिंग-पूजा स्वीकार ली, फिर पीछे से आदिवासियों के लिंग तथा आर्यों के
कर लिया गया।

काशी पुराकाल से विद्या और साधना की नगरी बनी है। यहां वै
वर्चस्व रहा है। महात्मा बुद्ध ने भी अपना प्रथम उपदेश बनारस के उ
(वन) में दिया जो आजकल सारनाथ कहलाता है। स्वामी शंकराचार्य
अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। कबीर साहेब का तो काशी जन्म, कर्म
उपदेश की स्थली ही रही। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यहीं बैठकर
लिखा। जहां तप, विद्या और ज्ञान का बोलबाला हो उस नगरी को मोक्ष-
स्वाभाविक है। फिर तो महिमा के जोश में चल पड़ा कि काशी मोक्ष
मरकर मुक्ति की कल्पना कर ली गयी। बात तो यहां से शुरू हुई थी कि
तपस्वी एवं ज्ञानी जन रहते हैं। यदि कोई यहां आकर उनसे प्रेरणा ले त
ग्रहण करे तो उसके लिए मोक्ष-कार्य सरल हो जायेगा। परन्तु आगे च
भोलेपन में इस तथ्य पर दृष्टि नहीं रही और यह मान लिया कि काशी
मोक्ष का कारण है। कुछ उदाहरण लें—

"हे कुरुश्रेष्ठ! तीर्थों का सेवन करने वाला अविमुक्त (काशी) में जा
महादेव के दर्शन कर ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है। यदि काशी में
तो वह मुक्त हो जाता है।"[१] वाराणसी मेरा सर्वोत्तम तीर्थस्थल है। सभी
यह मोक्ष का कारण है।[२] विषयासक्त चित्त धर्म-भक्ति को त्यक्त कर दें
यदि काशी में मर जाते हैं, तो वे पुनः जन्म नहीं लेते। सहस्रों जन्मों के
उपरांत योग-प्राप्ति होती है; किन्तु काशी में मृत्यु होने से इसी जीवन में प
जाता है।[३] पापी, शठ एवं अधार्मिक व्यक्ति भी पापमुक्त हो जाता है, य
(काशी) में प्रवेश करता है।[४] भोगपरायणा एवं कामाचारिणी स्त्रियां भी य
पाने पर मोक्ष पाती हैं।[५] समय से ग्रह एवं नक्षत्र गिर सकते हैं, किन्तु अ
में मरने से कभी भी पतन नहीं हो सकता।[६] दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों या
भी दुष्टकर्म जान एवं अनजान में किये गये, जब वे अविमुक्त (काशी) मे
तो वे (दुष्टकर्म) भस्म हो जाते हैं।[७] काशी में रहने वाला म्लेच्छ भी भाग्य
रहने वाला, चाहे वह दीक्षित (यज्ञ करने वाला) ही क्यों न हो, मुक्ति का

---

१. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः। *(महाभारत, वनपर्व ८४/७९-८*

२. मत्स्य पुराण, १८०/४७।

३. मत्स्य पुराण, १८०/७१ तथा ७४।

४. मत्स्य पुराण, १८३/११; पद्मपुराण, १/३३/३८।

५. मत्स्य पुराण, १८४/३६।

६. मत्स्य पुराण, १८५/६१। काशी खंड ६४/९६।

७. नारदीय पुराण, उत्तर, ४८/३३-३४।

सकता।[1]

कहना न होगा कि उक्त काशी की महिमा की बातें नशे में धुत्त होकर लिखी गयी हैं। इन विद्या के धनियों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि मोक्ष का अर्थ क्या है! वासना-निवृत्ति ही मोक्ष है जो जीवन में सबसे ऊंचा काम है और बड़े त्याग, तप एवं साधना का फल है, परन्तु तीर्थों में मूढ़ जनता से पुजवाने के लिए इन धर्म के धंधेबाजों ने मोक्ष के विषय में भ्रम पैदाकर अक्षम्य अपराध किया है और तीर्थों के नाम पर खूब पाप बढ़ाया है। जब सारे दुष्कर्मों के संस्कार काशी में पहुंचते ही कपूर की तरह उड़ जाते हैं तो पाप से क्यों डरा जाय! जो समझ नहीं रखते वे काशीवासी तो अपने आप में नैतिकता की कोई चिन्ता ही नहीं करेंगे। सभी तीर्थस्थलों के पंडे-पुजारी प्रायः लुटेरे हो गये हैं, क्योंकि वे कुछ भी करें, उनका मोक्ष तो रिज़र्व है।

शिवजी काशीवासी हैं और कबीर साहेब भी ठहरे काशीवासी। मानो दोनों की मुलाकात हो गयी हो। कबीर साहेब हर अन्याय के विरोधी हैं ही। शिवजी की काशी अज्ञान में डूबी है, यह देखकर कबीर साहेब ने शिव से प्रश्न कर दिया हो। संवाद बड़ा मनोहर है। जरा ध्यान दें। वस्तुतः कबीर साहेब ने अपनी कल्पना में शिव को संबोधित करते हुए काशी के अंधविश्वास का परदाफ़ाश किया है।

साहेब कहते हैं "शिव काशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेहु विचारि।" हे शिव जी, तुम्हारी काशी नगरी की दशा कैसी विचित्र हो गयी है! आज भी तो इस बात पर विचार करो। काशी के पंडे-पुजारी तीर्थयात्रियों के साथ कैसा अत्याचार करते हैं! काशी में रहने वाले सब समय मुक्त ही हैं इस मिथ्या धारणा ने काशीवासियों को पाप से निर्भय कर दिया है। काशी के लोग पाप करने से क्यों डरें! जिस शिव को यह कहा जाता है कि वह विश्व का संहारक है, वह अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने की क्षमता नहीं रखता, यह कितनी बड़ी विडंबना है! साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम आज भी इस पर विचार करो और अपने भक्तों का सुधार करो।

काशी में बाह्याचार बहुत बढ़ गया है। ज्ञान उड़ गया, कर्मकांड फैल गया। चोआ, चन्दन, अगर, पान आदि से शिव तथा अन्य देव-मूर्तियों की पूजा हो रही है। स्मृति-पुराणादि भी घर-घर बांचे जा रहे हैं। शिव तथा अन्य देव-मूर्तियों को भोग भी घर-घर लगाया जा रहा है। जिस तरफ देखो काशी में हर-हर, बम-बम, महादेव की आवाज सुनाई पड़ती है। भक्तों की तरफ से शिव के नाम पर इतना कोलाहल है और शिव का भक्तों की तरफ कोई ध्यान नहीं है कि वह अपने भक्तों को सद्‌बुद्धि दें।

'बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर।" साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम्हारे भक्तों की बहुत बड़ी भीड़ है, यह देखकर मेरा मन तुमसे बातें पूछने के लिए निस्संकोच हो गया है। भक्तों के कथनानुसार जब तुम हर समय सर्वसमर्थ के रूप में सब जगह विद्यमान हो और काशी में तो विशेष रूप में मौजूद हो तब यहां अंधेरखाता क्यों चलता है!

---

१. काशी खंड, ८५/१५। (उद्‌धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १३४५)

"हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन।" विनम्रतापूर्वक व्यंग्य भरे वचनों में कहते हैं कि हे शिवजी! हम तो बालव बुद्धि ही कितनी है! बालक का ज्ञान थोड़ा होता है। परन्तु तुम तो बड़े बड़े ज्ञानी हो। फिर तुम्हें दूसरा कौन समझा सकता है! न तुम्हें अपने भत कि वे क्या कर रहे हैं और न अपनी काशी का पता है कि उसमें क्या हो तले अंधेरा है। यदि कबीर साहेब आज होते तो उन्हें कहना पड़ता कि f के ऊपर ही अंधेरा है। क्योंकि दिया के तले में अंधेरा होता है और अंधेरा होता है। जहां से शिव जी टस-से-मस नहीं होते वही काशी अज्ञा और दुराचार में डूबी है। इससे अधिक दुख की बात और क्या हो सकती

"जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जि आता है वह काशी की वैसी ही महिमा हांकता है। काव्य देखो, पुराण ३ धर्मग्रन्थ देखो तो विवेक-बुद्धि को ताख पर रखकर लेखकों ने काशी की है। चाहे जितना पापी हो, हत्यारा हो, दुराचारी हो, परन्तु काशी पहुंचते ही से छूट जाता है, निर्वाण एवं मोक्षपद पा जाता है। यह सब मनमानी एवं धर्म के धंधेबाजों के चलते रहते हैं। जिसके मन में जो आया महिमा के ज हांका। परन्तु साहेब कहते हैं "जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जी समाता है? जीव जब शरीर छोड़ देता है तब उसकी क्या स्थिति होती विचार करो। जीव ने जीवन में जैसे कर्म किये हैं, उन कर्मों के संस्कार अंकित रहते हैं। उन कर्मों के अनुसार जीव की गति होती है। कोइ अयोध्या, प्रयाग, गया, बद्री, कोई शिव, विष्णु, राम, कृष्ण उसके पाप सकते। इनके स्वयं के ही कर्म नहीं कटे[1] इन सबको अपने कर्म-फल भो फिर ये तुम्हारे कर्म कैसे काट सकते हैं! नदी स्नान, भूमि दर्शन तथा f भ्रमण तुम्हारे मन के पाप को काट नहीं पायेंगे। तुम्हारे विवेक ग्रहण तथा से ही तुम्हारे बन्धन कट सकते हैं। अतएव जीव जैसे-जैसे कर्म कर रखा है फल भोगने पड़ेंगे।

"ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज।" यदि क महिमा में भूलकर मनुष्य उसी के भरोसे अपने कर्म नहीं सुधारे तो उस होगा। परन्तु उसका दोष उस पर नहीं माना जायेगा। यह तो स्वयं शिव म माना जायेगा। जो सब कुछ जानते हुए भी भक्तों के सामने सही बात नह इसका तात्पर्य यह है कि काशी की मिथ्या महिमा से भक्तों के गुमराह होने पर कम है, किन्तु इसके प्रचारकों पर ज्यादा है। प्रचारकों, पंडितों, पुरोहि संन्यासियों ने यह मिथ्या महिमा फैलाकर मनुष्यों को पथभ्रष्ट किया है।

उक्त बातें सुनकर शिव जी हर्षित होकर बोले। यहां शिव के बोलने काशी की महिमा करने वाले शैव लोग हर्षित होकर बोले कि जहां शिव ज

---

१. देखिए 'आपन कर्म न मेटो जाई।' (शब्द ११०)

करते हैं वहां पाप और यम का प्रवेश नहीं हो सकता। यहां काशी की मिथ्या महिमा की पुष्टि शिव के द्वारा भी करा दी गयी है। क्योंकि पुराणों में ऐसी ही बातें शिव जी से कहलायी गयी हैं।

इसके बाद कबीर साहेब ने कहा कि लोग भले यह कहकर चार दिन संतोष करें कि काशीवास मात्र सारे पापों से मुक्त कर देगा, परन्तु यह बात सच नहीं है। वस्तुतः कबीर तो वही कहते हैं जो विवेक से देखते हैं। विवेक से यही ठहरता है कि जीव जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा। ये काशी आदि तीर्थ उसके पाप नहीं काट पायेंगे।

पाखंड छोड़कर आत्मशोधन करो

बसन्त—१२

हमरे कहलक नहिं पतियार, आप बूड़े नर सलिल धार॥ १ ॥
अन्धा कहै अन्धा पतियाय, जस बिश्वा के लगन धराय॥ २ ॥
सो तो कहिये ऐसो अबूझ, खसम ठाढ़ ढिग नाहीं सूझ॥ ३ ॥
आपन-आपन चाहैं मान, झूठ प्रपंच साँच करि जान॥ ४ ॥
झूठा कबहुं न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज॥ ५ ॥
छाड़हु पाखण्ड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ॥ ६ ॥
कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—पतियार = पतिआर, विश्वास, प्रतीत। सलिलधार = पानी की धारा, वासना-प्रवाह। अन्धा = विवेकहीन। बिश्वा = वेश्या। लगन = लग्न, विवाह का मुहूर्त। खसम = पति, स्वामी, चेतन आत्मा। ढिग = पास। निलाज = निर्लज्ज। यम = वासना। रोझ = नीलगाय।

भावार्थ—मनुष्य हमारी बातों पर विश्वास नहीं करता। वह स्वयं भवसागर की धारा में डूबता है॥१॥ अंधे लोग अंधों की बातों पर विश्वास करते हैं। आदमी उसी प्रकार आत्मनिष्ठा छोड़कर नाना देवी-देवताओं की भावनाओं में बह रहा है जैसे वेश्या नित्य नये-नये लोगों को अपना पति बनाती है॥२॥ उसको तो ऐसा नासमझ कहना चाहिए कि जैसे किसी का स्वामी पास ही में खड़ा हो किंतु उसे वह न दिखाई दे और वह अन्यों के साथ भटके, वैसे आत्मारूपी परमात्मा हृदय में ही विद्यमान है, परंतु अज्ञानवश आदमी बाहर नये-नये परमात्मा खोजता फिरता है॥३॥ संप्रदायी लोग केवल अपने-अपने मान-सम्मान में भटके हुए हैं, इसलिए वे अपने बनाये झूठे आडम्बर को सच्चा समझते हैं॥४॥ परंतु हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें झूठ की तरफ जाने से रोकता हूं, क्योंकि असत्य तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकता॥५॥ इसलिए पाखण्ड की बातें छोड़कर मेरी सत्य बातों को समझने का प्रयास करो, अन्यथा वासनाओं के हाथ में पड़े जगन्नगर में चक्कर काटा करोगे॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आदमी स्थिर होकर आत्म-अन्वेषण नहीं करता, प्रत्युत वन की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है॥७॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने देखा कि चारों ओर लोग झूठी बातों को धर्म, देवता तथा ईश्वर मानकर उनके जाल में उलझे हैं। यदि उनको सही राय दी जाती है तो वे उस पर ध्यान नहीं देते। जैसे कोई नदी की धारा में या समुद्र की लहरों में डूबता हो और बाहर खड़े अपने हितचिंतक के किये गये सहयोगों का आधार न पकड़ता हो, वैसे मनुष्य नाना भ्रांतियों में डूबता है, परन्तु सही पथ दिखाने वाले सन्तों की ओर वह निगाह ही नहीं डालता है।

संसार में अंधे अंधों को चला रहे हैं, तो वे दोनों कहीं कुएं में गिरकर डूबेंगे। जिसे स्वयं विवेक नहीं है वह दूसरे को तारने का ठेका ले रहा है। जो स्वयं भटका हो वह दूसरे को रास्ता क्या बता सकता है! परन्तु संसार में ऐसे ही गुरु सैकड़ों मिलेंगे जिन्हें अपने तनोबदन की खबर नहीं, किन्तु वे दूसरों के उद्धार में लगे हैं। और ये आदमी भी बड़े भोले हैं। वेश्या के पास नये-नये पुरुष आते हैं, उसका अपना कोई पति नहीं है। यही दशा उन दिशाहीन भक्तों की है जिनको अपने स्वरूप का बोध न होने से वे नये-नये देवी-देवताओं के चक्कर में भटकते रहते हैं। ऐसे लोगों को महा अज्ञानी कहना चाहिए। जो बाहर देवी-देवताओं में भटकता है वह सदैव भटकता ही रह जायेगा, परन्तु उसे संतोष नहीं मिलेगा। बिना शीतल सुमिष्ट जल पाये ओस चाटने से भला प्यास कैसे जायेगी! देवों का देव परमदेव, परम परमात्मा तो हृदय-गुहा में विराजमान अपनी आत्मा ही है। यह अपनी चेतना, अपना आपा तथा 'स्व' यही तो असली ब्रह्म है, खुदा है, अल्लाह है, गॉड है। यही परम परमार्थ है। परन्तु मनुष्य की अपनी मूढ़ता यह है कि वह परमात्मा को, परमदेव को बाहर खोजता फिरता है।

अधिकतम सम्प्रदायों के लोगों को न सत्य को समझने की चेष्टा है और न आत्मज्ञान की पिपासा। वे तो अपनी-अपनी गुरुवाई में लिपटे हैं और अपनी-अपनी वेषमर्यादा के चक्कर में लगे रहते हैं। उनको भूख है कि उनको सम्मान मिले, उनके नाम फैलें। इसलिए वे धर्म, भगवान, अवतार, देवी-देवता आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी जालसाजियां करते हैं। वे अपनी झुठाई का जाल फैलाते हैं। वे अपने आप को अवतार एवं भगवान घोषित करते या शिष्यों से करवाते हैं। वे ऐसी झूठी-झूठी अफवाहें उड़ाते हैं या उनके शिष्य उनके लिए उड़ाते हैं कि जनता उनको चमत्कारी पुरुष माने, और चमत्कार छल-कपट के अलावा कुछ नहीं है। चाहे बड़े पुरुषों के नाम में जुड़े चमत्कार हों और चाहे धर्म के धन्धेबाजों के नामों में, वे सब छल-कपट के प्रपंच रहते हैं। बड़े पुरुषों ने तो अपने लिए स्वयं चमत्कार का प्रपंच लगाया नहीं है और जो स्वयं अपने विषय में चमत्कार स्वीकारता हो या किसी भी तरह चमत्कार को प्रश्रय देता हो वह चाहे जितना नाम-ग्राम में बड़ा हो, वस्तुतः धूर्त है। जो विश्व के नियमों के विरुद्ध है वह असत्य है।

सद्गुरु कहते हैं "झूठा कबहुँ न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज।" हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें रोकता हूं। असत्य तेरा कल्याण नहीं कर सकता। चमत्कार तथा देवत्व का झांसा देकर कोई धर्म का धन्धेबाज धन तथा चेले भले बढ़ा ले, परन्तु उसकी अंतरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकती। वे निर्लज्ज हैं जो एक तरफ तो धर्म और ईश्वर के भक्त बनते हैं और दूसरी तरफ अतिमानवीय, दैवीय, चमत्कारी तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करते

हैं जो सब-की-सब झूठी होती हैं। जिसमें कपट, छल और दिखावा है, वही चमत्कारी बातें करता है। उसके पास शांति नहीं रह सकती। शांति तो उसके हृदय में रहती है जिसका हृदय निष्कपट, सरल तथा सत्यानुरागी हो। पाखंडी धन तथा जनता जुटा सकता है, परन्तु उसके मन में शांति नहीं आ सकती। असत्य हर जगह कंटक का पथ है और धर्म के नाम पर असत्य का आधार लेना तो महापाप है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "छाड़हु पाखंड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ।" पाखण्ड छोड़ दो और बात मानो, सदैव सत्य का आधार लो, अन्यथा वासनाओं के सिकंजे में फंसकर दुख भोगोगे। जो लोग मूढ़तावश असत्य में फंसे हैं, कल्याण तो उनका भी नहीं है, परन्तु वे मन से ईमानदार होने से उतने अशांत नहीं होंगे, किन्तु जो लोग धर्म के नाम पर धूर्त हैं, जान-बूझकर लोगों को असत्य में फंसाते हैं, उनको उनकी वासनाएं क्षमा नहीं कर सकतीं। कोई बाहर से धर्म का चाहे जितना साफ चोंगा पहन ले, परन्तु उसके भीतर की छलपूर्ण वासनाएं उसे कचोटती रहेंगी और उसकी आत्मा को पीड़ित करती रहेंगी। जो पाखंड नहीं छोड़ेगा वह यम के हाथों में अवश्य पड़ेगा। यम के हाथ हैं वासनाओं का जाल। आदमी बाहर किसी को छल सकता है, परन्तु उसकी अपनी अंतरात्मा जानती है कि वह क्या कर रहा है! उससे मनुष्य का बचना असंभव है। हम बाहर के लोगों से अपने को छिपा सकते हैं, किन्तु अपने भीतर वाले से नहीं छिपा सकते।

"कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ।" आदमी खोज नहीं करता है, किन्तु जंगल की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है। जंगल की नीलगायें बड़ी तेज होती हैं। वे भय की थोड़ी ही आहट पाकर जोर से भागती हैं। इस अन्तिम पंक्ति में दो महत्वपूर्ण भाव वाले शब्द हैं 'खोजना' तथा 'भटकना'। खोजने वाला भटकता नहीं तथा भटकने वाला खोज नहीं कर सकता। बाहर की वस्तुओं को खोजने के लिए तो बाहर चलना भी पड़ता है; किन्तु यदि हम अपनी खोज करना चाहें तो उसके लिए भटकना बन्द करना पड़ता है। आत्म-खोज में भटकना स्वयमेव बन्द हो जाता है। अपने आप का शोधन करना कि मैं कौन हूं, किसमें बंधा हूं, मुझे छुटकारा कैसे मिलेगा, मुझे क्या चाहिए, इन बातों पर जो निरन्तर चिंतन करेगा उसको थोड़े दिनों में आत्मबोध एवं निजस्वरूप का बोध हो जायेगा। इसके लिए बोधवान सद्गुरु तथा विवेकी संतों का सत्संग करना चाहिए। भटकना तभी बन्द हो सकता है जब निजस्वरूप का बोध हो जाय।

●

फल छन्द

माया वसन्त विहार तजि,
निजरूप में निरवाध्य हो।
संयोग और वियोगमय,
जिसमें न अन्य उपाध्य हो।।
सत् न्याय अस दीन्हें प्रभो,
जो सर्व हितकर साध्य हो।
करुणा-निधान पिछान यह,
सेवक सदा पद राध्य हो।।

चौपाई

कामुक राग दूर सब डारे।
शुद्ध भद्र ह्वै मन को मारे।।
सोइ प्रेमी सत पारख धारे।
आप तरे औरन कहँ तारे।।

चाचर

हेतु छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न आशा,
कोटि—कोटि विहार में।।
तृष्णा बढ़ी चिल्लात हा! हा!!
पर न चेतत सार में।।
कामी वो क्रोधी लोभिया,
दम्भी छली जु हजार में।
रे जीव! जीवन व्यर्थ में,
क्यों खोवता कु-अहार में।।

दोहा

चाचर मेरो बैन सुनि, तृष्णा करि निर्मूल।
पर बोझा डालब सहज, निजपद निज अनुकूल।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

सप्तम प्रकरण : चाचर

माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता

चाचर–१

खेलति माया मोहनी, जिन्ह जेर कियो संसार ॥ १ ॥
रचेउ रंगते चूनरी, कोइ सुन्दरि पहिरे आय ॥ २ ॥
शोभा अद्भुत रूप वाकी, महिमा बरणि न जाय ॥ ३ ॥
चन्द्र बदनि मृगलोचनी, माया बुन्दका दियो उघार ॥ ४ ॥
जती सती सब मोहिया, गजगति ऐसी जाकी चाल ॥ ५ ॥
नारद को मुख माँड़ि के, लीन्हों बसन छोड़ाय ॥ ६ ॥
गर्भ गहेली गर्भ ते, उलटि चली मुसकाय ॥ ७ ॥
शिव सन ब्रह्मा दौरि के, दूनों पकरे धाय ॥ ८ ॥
फगुआ लीन्ह छुड़ाय के, बहुरि दियो छिटकाय ॥ ९ ॥
अनहद धुनि बाजा बजै, श्रवण सुनत भौ चाव ॥१०॥
खेलनहारा खेलि हैं, जैसी वाकी दावँ ॥११॥
ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव ॥१२॥
खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दावँ ॥१३॥
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्त औ व्यास ॥१४॥
सनक-सनन्दन हारिया, और की केतिक बात ॥१५॥
छिलकत थोथे प्रेम सों, मारे पिचकारी गात ॥१६॥
कै लीन्हों बसि आपने, फिर फिर चितवत जात ॥१७॥

ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ ॥१८॥
शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात ॥१९॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप ॥२०॥
दृष्टि परे उन काहु न छाड़े, कै लीन्हों एकै धाप ॥२१॥
जेते थे तेते लिए, घूँघट माहिं समोय ॥२२॥
कज्जल वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय ॥२३॥
इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय ॥२४॥
कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय ॥२५॥

शब्दार्थ—जेर = दुर्बल, पराजित। चूनरी = चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों; सत, तम गुण से युक्त रजोगुण की त्रिगुणात्मिका चुनरी। बदनि = मुख वाली। बुन्दका = सेंदुर का गोल टीका, टिकुली। जती = त्यागी। सती = सत्यधारी, पतिव्रता। माँड़ि के = छिपाकर। बसन = लज्जारूपी वस्त्र। गर्भ गहेली = गर्व रखने वाली, मदोन्मत्ता। फगुआ = फगुआ खेलने के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला उपहार (भेंट)। छिटकाय = फैला दिया, जगत की तृष्णा में बांध दिया। ढाल = तलवार की चोट रोकने के लिए चाम या धातु का बना गोल शस्त्र, ज्ञान रूपी ढाल। छिलकत = उछलते हैं। थोथे = उथले, मिथ्या। गात = शरीर। डाँग = डंडा, दंड, स्तंभ। रोपिया = स्थिर किया, गाड़ दिया। धाप = एक मील की या दो मील की लंबान, दौड़। रेख = चिह्न, छाप। अदग = निर्दोष, निष्कलंक।

भावार्थ—जिसने संसार के सारे जीवों को दुर्बल एवं पराजित कर दिया है वह मोहिनी-माया मानो जीवों के साथ फाग खेल रही है।।१।। इसने रजोगुण की लाल जमीन पर सतोगुण तथा तमोगुण की सफेद तथा काले रंग की छाप डालकर त्रिगुण की चुनरी बनायी है जिसे कोई देहाभिमानी जीव ही पहनता है।।२।। उस माया की रूप-शोभा अद्भुत है। उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।।३।। उसका मुख चंद्रमा-जैसा तथा आंखें मृगिनी-जैसी हैं। उस माया ने मस्तक में सेंदुर का गोल टीका लगाकर अपने मुख को उघाड़ रखा है।।४।। त्यागी और सत्यधारी जो कोई उसके चपेट में आये सब विमोहित हो गये। जिसकी चाल ही मस्त हाथी की तरह है उससे कोई विरला ही बचेगा।।५।।

उसने नारद का असली मुख छिपाकर बन्दर का बना दिया और उनके लज्जा के वस्त्र छीन लिये जिससे वे निर्लज्ज होकर सभा में माया के लिए उचकते फिरे।।६।। वह अभिमानिनी माया नारद की मूर्खता पर गर्व से हंसती हुई लौटकर विष्णु के साथ चली गयी।।७।। शिव के सहित ब्रह्मा को भी माया ने दौड़कर पकड़ लिया।।८।। इस फाग के खेल में उसने उनको ध्यान-योग से वंचित कर दिया, और फिर भोगों की तृष्णा में उन्हें बिखेर दिया।।९।। माया के आभूषणों एवं स्वर-संगीतों से जो उनको मधुर-ध्वनि सुनाई दी, उन्हें अनाहतनाद-जैसा पवित्र लगा, वे उसे अपने कान से सुनते ही उस माया की चाहना में पागल हो गये।।१०।। माया की घुड़दौड़ में खेलने वाले लोग

जैसा दावं पाते हैं, खेलते हैं।।११।। कितने ज्ञानियों ने अपने ज्ञान की ढाल आगे कर माया से युद्ध किया, परंतु बहुत जोर लगाने पर भी वे माया के मजबूत पांव नहीं हटा सके।।१२।। माया के साथ खेलने वाले तो खेलेंगे ही। समय बीत जाने पर उनको पुनः माया के उपभोग का अवसर तो मिलेगा नहीं, अतः वे माया-भोग को ही परम सौभाग्य मानते हैं।।१३।। यहां तक कि प्रकार-भेद से सुर, नर, मुनि, देवता, गोरख, दत्तात्रेय, वेदव्यास, सनक-सनंदनादि सब माया-द्वारा परास्त किये गये हैं, फिर दूसरे की बात क्या चलायी जाय! ।।१४-१५।।

माया, मोह की पिचकारी सबके शरीर पर मारती है और सब उसके क्षणिक प्रेम में उछलते हैं।।१६।। उसने लोगों को अपने वश में कर लिया है, और वह लौटकर पुनः-पुनः देखती है कि कोई मेरे फंदे से बच तो नहीं गया है, अथवा वह घूम-घूमकर लोगों को नेत्र-बाण मारती है और पुनः-पुनः मोहित करती है।।१७।। उसने देखने के लिए ज्ञान का स्तंभ गाड़ रखा है, परंतु उसके साथ त्रिगुण लगा दिया है। अतएव शिव के सहित ब्रह्मा ने ज्ञान ग्रहण के बहाने मानो माया को ही लेने की बात की है, फिर दूसरे की बात ही क्या है! ।।१८-१९।। एक ओर तो देवता, मनुष्य तथा मुनिगण अर्थात सारी सृष्टि खड़ी है, और दूसरी ओर माया स्वयं अकेली खड़ी है। परंतु उसने अपनी दृष्टि में आने वाले उन किसी को भी नहीं छोड़ा जो उसके मोह में पड़े। उसने अपनी एक ही दौड़ में सबको धर-दबोचा।।२०-२१।। जितने मोहित जीव थे, माया ने सबको अपने घूंघट में विलीन कर लिया। उसकी छाप ही कालिख है जिससे निष्कलंक कोई नहीं गया।।२२-२३।। यहां तक कि इंद्र और कृष्ण भी माया के द्वार पर खड़े हैं और उनके नेत्र माया को देखकर ललचा रहे हैं तथा इच्छा भर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं।।२४।। कबीर साहेब कहते हैं कि माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता।।२५।।

व्याख्या—चांचर होली के अवसर पर गाया जाने वाला गीत है। होली भारतवर्ष का एक कामोद्दीपक एवं राग-रंग का उत्सव एवं पर्व है। यह फाल्गुन के उत्तरपक्ष से मनाया जाने लगता है। पूर्णिमा को होलिका दहन किया जाता है तथा चैत्र के प्रथम दिन मुख्य फाग खेला जाता है जिसमें लोग एक दूसरे के ऊपर रंग और अबीर छोड़ते हैं। भद्दे लोग धूल और कीचड़ भी छोड़ते हैं। होलाका (होलिका) का वर्णन 'जैमिनि' तथा 'काठकगृह्य' में है; इससे सिद्ध होता है कि यह उत्सव ईसा के पूर्व से ही प्रचलित था। इस समय ठंडी समाप्त होते ही नयी फसल आती है, वृक्षों के पुराने पत्ते प्रायः झड़कर नये पत्ते आते हैं, आम्र-वृक्षों तथा अनेक वृक्षों में मोर तथा फूल आते हैं तथा आता है ऋतुराज वसंत। इसलिए संसारी लोग इस अवसर पर होलिका तथा फाग के नाम पर हंसी, गीत, नाचना, बजाना, रंग, गुलाल, अबीर आदि से मनोरंजन करते हैं।

कबीर साहेब अत्यन्त संवेदनशील पुरुष थे। उन्होंने अपनी कविताओं में ऐसे भी विषय दिये हैं जो उत्सव तथा त्योहार के साथ जुड़े हैं। उन्होंने यहां चाचर प्रकरण रखकर उसमें दो चांचर गीत कहे हैं जिसमें फाग का खेल है। इस चाचर में माया की प्रबलता का वर्णन है। बताया गया है कि माया सबके साथ फाग खेल रही है। होली में होने वाली स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक युद्ध-क्रीड़ा को भी चांचर कहते हैं। इसमें दोनों ओर से पिचकारी

चूकने न दें। फिर दावं नहीं मिलेगा। अतएव वे विषयों में डूबे हुए गोबरकीट बने रहते हैं और उसी में अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं।

"ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव।" कितने ज्ञानियों ने अपनी ज्ञान-ढाल आगे देकर माया से युद्ध किया, परन्तु वे माया के मजबूत पैर हटा न सके और अंततः माया से परास्त हुए। वस्तुतः उन ज्ञानियों की ज्ञान-ढाल अज्ञानरूप ही थी। शुद्ध ज्ञान के सामने माया का अंधकार तो रुक ही नहीं सकता। परन्तु जहां ज्ञानाज्ञान मिलित को शुद्ध ज्ञान मान लिया जाता है, वहां सम्हलना बड़ा कठिन होता है। "खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दाँव।" यह माया ज्ञान में मिलकर जीव को भुला देती है, या कहना चाहिए कि जीव ज्ञान के नाम पर सुखाध्यासवश अज्ञान में मिलकर पुनः विषयों का खेल खेलने लगता है और उसी में अपना उत्तम अवसर समझता है। ज्ञान के नाम पर जब उसे कुछ मान, कीर्ति, पूज्यता, प्रतिष्ठा एवं भोग वस्तुएं मिल जाती हैं तब वह उन्हीं में अपने आप को पूर्णकाम मान लेता है। यह उसकी दरिद्रता एवं तुच्छता है।

साहेब सुर, नर, मुनि, देवता तथा व्यास के साथ विरक्त गोरख, दत्तात्रेय, सनक-सनंदनादि को भी माया-द्वारा हारे हुए बताते हैं। यहां उनके कथन का सूक्ष्म अर्थ है। माया केवल स्थूल-भोग ही नहीं है, किन्तु अपने शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा से अलग जो कुछ अपना माना जाय वह सब माया है। ज्ञानीजनों में भी जो कोई अपने स्वरूप एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा तथा अपने लक्ष्य को मान बैठा है यह माया-द्वारा मानो परास्त किया जाना ही है, और कोई अपनी आत्मा की गरिमा समझा भी तो उसे जड़ विश्व में मिलाकर अग-जग व्यापक होने की धारणा कर ली, जो माया ही है। कहने का अर्थ यह कि अपनी शुद्ध आत्मा में न स्थित होकर ज्ञानियों ने अपने मन की कल्पनाओं में स्थिति मानी, इसलिए मानो वे माया एवं मन से परास्त किये गये।

संसार का प्रेम छिछला है उसके छिछले प्रेम में आंदोलित होना बालकपन है और सारा संसार इसी में भटक रहा है। जैसे फाग में एक दूसरे के शरीर पर रंग की पिचकारी मारते हैं, वैसे संसार के लोग एक दूसरे को आसक्ति-फांस में बांधकर संसार-सागर में डूबते-डुबाते हैं। इस माया ने सबको अपने वश में कर लिया है और वह पुनः-पुनः देखती जाती है कि कोई मेरे फंदे से बचा तो नहीं है। "फिरि फिरि चितवत जात" में माया के मोह-बाण की व्यंजना है।

"ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ। शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात।" जिसके साथ त्रिगुण लगा हुआ है ऐसा ज्ञानस्तंभ मानो माया ने ही रोपा है। जिस ज्ञान में जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप से अलग अपने लक्ष्य की कल्पना करता हो तथा जिस ज्ञान में जड़ से सर्वथा अलग अपनी स्थिति न हो वह ज्ञान भले ऐसा लगे कि यह तो ज्ञान का महान स्तंभ ही है, परन्तु उसे समझ लो कि वह त्रिगुणयुक्त है अर्थात मायारूप ही है। ऐसे मायायुक्त ज्ञान को शिव के सहित ब्रह्मा ने भी ग्रहण करने की बात कही है, फिर दूसरे की बात क्या कही जाय! जहां ज्ञानियों ने अपने ज्ञानातिरेक में यह कह डाला है कि मैं ही चांद, सूरज तथा अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, वहां यही बात है कि ज्ञान के साथ त्रिगुण मिल गया है। यदि चेतन अपने साक्षीपन को भूलकर दृश्य भास को

अपना रूप मानता है तो वह ज्ञान के नाम पर घोटाले में है। हां, सारे संकल्पों के त्याग देने के बाद जब शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है तब साक्षी भी न रहकर केवल ज्ञान-मात्र रहता है। यही दशा उच्चतम है। परन्तु जो ज्ञानी कहलाने वाले जड़ दृश्य भास को अपना स्वरूप मानते हैं वे मानो रूप बदलकर ज्ञान के चोंगे में माया में ही डूब रहे हैं।

साहेब कहते हैं कि माया बड़ी विचित्र है। एक ओर तो सुर, नर, मुनि आदि सृष्टि के सभी जीव खड़े हैं और दूसरी ओर केवल माया खड़ी है, परन्तु वह अपनी नजरों में आने वाले सभी लोगों को एक दौड़ में धर दबोचती है। यह माया किसी को स्थूल इन्द्रियों के भोगों में, किसी को मान-बड़ाई में, किसी को ब्रह्मज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान में, किसी को पूजा-पाठ एवं भक्ति के नाम पर पानी-पत्थरों में भटकाती है। माया के स्थूल-सूक्ष्म दोनों स्वरूपों को परखकर उससे अलग निज शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होना विरले पारखी का काम है। जो परखते-परखते माया के सारे स्थूल-सूक्ष्म जालों को काट पायेगा वही इससे पूर्णतया उबरेगा।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जितने लोग थे उन सबको माया ने अपने घूंघट में समा लिया है। माया की रेख कज्जल है। अर्थात किसी प्रकार का दाग लग जाना मानो माया का लक्षण है और "अदग गया नहिं कोय" इस माया से कोई निष्कलंक नहीं गया। विशेष क्या कहें "इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय।" देवेंद्र इन्द्र तथा महायोगिराज कहलाने वाले महाज्ञानी कृष्ण माया के द्वार पर करबद्ध खड़े हैं और उसकी झांकी के लिए ललचा रहे हैं। इन्द्र पुलोम दानव की हत्या कर उसकी सुन्दरी पुत्री शची को छीनते हैं और कृष्ण रुक्मी को हराकर उसकी बहन रुक्मिणी को छीनते हैं।[1] इसके साथ "श्री कृष्ण ने सद्गुण-सम्पन्न उत्तम कुलवाली आठ कन्याओं से विवाह किया जो उनकी पटरानियां बनीं, वे हैं कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, जाम्बवंती, रोहिणी, लक्ष्मणा, सत्यभामा तथा तन्वंगी। इनके अलावा सोलह हजार और स्त्रियां थीं। इन सबके साथ निस्सीम बल वाले श्री कृष्ण ने उतने ही रूप धारणकर उनसे विवाह किया।"[2]

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ५९। भागवत, १०/५२-५३।

नोट—यह भी सच है कि शची इन्द्र को चाहती थी तथा रुक्मिणी श्रीकृष्ण को चाहती थी।

२. महीषीरष्ट कल्याणीस्ततोऽन्या मधुसूदनः।
उपयेमे महाबाहुर्गुणोपेताः कुलोद्भवाः॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां नग्नजितीमपि।
सुतां जाम्बवतश्चापि रोहिणीं कामरूपिणीं॥
मद्रराजसुतां चापि सुशीलां शुभलोचनाम्।
सात्राजितीं सत्यभामां लक्ष्मणां चारुहासिनीम्॥
शैब्यस्य च सुतां तन्वीं रूपेणाप्सरसोपमाम्।
स्त्रीसहस्राणि चान्यानि षोडशातुलविक्रमः॥
उपयेमे हृषीकेशः सर्वा भेजे स ताः समम्॥

(हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ६०, श्लोक ४०-४४)

१. रुक्मिणी—विदर्भदेशीय भीष्मक की पुत्री, जिसका हरणकर कृष्ण ने राक्षस विधि से विवाह किया। "राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम्"[१]

२. कालिंदी—सूर्यपुत्री।

३. मित्रविंदा—श्रीकृष्ण की बुआ राजाधिदेवी के गर्भ से उत्पन्न।

४. सत्या—अयोध्यानरेश नग्नजित की पुत्री।

५. जांबवंती—जांबवंत की पुत्री।

६. रोहिणी—केकयनरेश की पुत्री। यह श्रीकृष्ण की बुआ श्रुतिकीर्ति की कन्या थी।

७. लक्ष्मणा—मद्रराज की पुत्री।

८. सत्यभामा—सत्राजित की पुत्री।

९. तन्वंगी—गांधारदेशीय राजा शैब्य की पुत्री।[२]

पण्डितों ने इन नौ रानियों एवं पत्नियों के बाद कृष्ण से सोलह हजार स्त्रियां जोड़ीं। इन सबको श्रीकृष्ण कैसे संतोष देते थे, इसके समाधान में पण्डितों ने लिखा है कि वे सोलह हजार कृष्ण बन जाते थे और एक-एक कृष्ण एक-एक पत्नी के साथ हो जाते थे। श्रीकृष्ण सपत्नीक तथा अनेक पत्नियों वाले थे यह ठीक है, परन्तु सोलह हजार पत्नियां उनसे जोड़ना पण्डितों के मन की मलिनता का फल है। इसके बाद हजारों पर-नारियों से रास करना तथा भागवत और ब्रह्मवैवर्त वर्णित रास एवं गर्गसंहिता वर्णित अरबों-खरबों स्त्रियों का सहवास सर्व असंभव तथा पण्डितों का कृष्ण के साथ अन्याय है। यदि कृष्ण ने रास की होती तो युधिष्ठिर के यज्ञ में जब कृष्ण की अग्रपूजा से कुपित होकर शिशुपाल ने उन्हें गालियां दी थीं तब वह उनके द्वारा की गयी रास का उल्लेख अवश्य करता, परन्तु महाभारत में ऐसा कुछ नहीं है।

यहां का भाव तो इतना ही है कि श्री कृष्ण-इन्द्रादि सब माया के वश हुए। प्रश्न होता है कि क्या माया से बचने का कोई उपाय है? इसके उत्तर में सद्‌गुरु कबीर कहते हैं "कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।" जिसके मन में स्थूल-सूक्ष्म किसी प्रकार की माया का मोह नहीं समाता उसका माया कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वस्तुतः मोह ही माया है। जिसने स्थूल-सूक्ष्म सारे मोह का त्याग कर दिया है वह निर्विघ्न एवं सच्चा सुखी है।

चाचर–२

जारो जग का नेहरा, मन बौरा हो॥ १ ॥
जामें सोग सन्ताप, समुझि मन बौरा हो॥ २ ॥
तन धन से क्या गर्भ सी, मन बौरा हो॥ ३ ॥

---

१. भागवत, १०/५२/१८।

२. हरिवंश, विष्णुपर्व ६०/४०-४४, गीता प्रेस, सटीक।

भस्म कीन्ह जाके साज, समुझि मन बौरा हो॥ ४ ॥
बिना नेव का देव घरा, मन बौरा हो॥ ५ ॥
बिन कहगिल की ईंट, समुझि मन बौरा हो॥ ६ ॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो॥ ७ ॥
चित्र रचो जगदीश, समुझि मन बौरा हो॥ ८ ॥
काम अन्ध गज बशि परे, मन बौरा हो॥ ९ ॥
अंकुश सहियो सीस, समुझि मन बौरा हो॥१०॥
मर्कट मूठी स्वाद की, मन बौरा हो॥११॥
लीन्हों भुजा पसारि, समुझि मन बौरा हो॥१२॥
छूटन की संशय परी, मन बौरा हो॥१३॥
घर घर नाचेउ द्वार, समुझि मन बौरा हो॥१४॥
ऊँच नीच समझेउ नहीं, मन बौरा हो॥१५॥
घर घर खायो डाँग, समुझि मन बौरा हो॥१६॥
ज्यों सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो॥१७॥
ऐसो भरम विचार, समुझि मन बौरा हो॥१८॥
पढ़े गुने क्या कीजिये, मन बौरा हो॥१९॥
अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो॥२०॥
सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो॥२१॥
ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो॥२२॥
नहाने को तीरथ घना, मन बौरा हो॥२३॥
पुजबे को बहु देव, समुझि मन बौरा हो॥२४॥
बिनु पानी नर बूड़हीं, मन बौरा हो॥२५॥
तुम टेकेउ राम जहाज, समुझि मन बौरा हो॥२६॥
कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो॥२७॥
तुम छाड़हु हरि की सेव, समुझि मन बौरा हो॥२८॥

शब्दार्थ—जारो = जाल, बंधन, अथवा जला डालो। नेहरा = मोह। साज = सामग्री, ठाट। कहगिल = गिलावा, गारा। कालबूत = मेहराब बनाने के लिए रखा गया कच्चा भराव, कच्चा काम, कृत्रिम। जगदीश = जगत का ईश्वर, मन। अंकुश = गजबांक, हाथी हांकने का लोहे का छोटा शस्त्र। मर्कट = बंदर। डाँग = दंड, डंडा। सुवना = शुक, सुग्गा। ललनी = सुग्गा फंसाने की चरखी। टेकेउ = हठ पकड़ा है।

भावार्थ—हे पगले मन! संसार का मोह तुम्हारे फंसने के लिए जाल है। उसमें केवल शोक-संताप हैं, इसे समझ और मोह को जला दे॥१-२॥ हे पगले मन! ऐसे शरीर और धन का क्या अहंकार करता है जिसका शृंगार क्षण ही में खाक हो जाने वाला

है।।३-४।। हे पगले मन! तू इस बात को ठीक से समझ ले कि जैसे कोई देवालय बिना नींव के बना हो और उसकी दीवारों की ईंटों में गिलावा न लगा हो तो उसके ढहने में क्या देरी है, वैसे तुम्हारे सारे ऐश्वर्य क्षणभंगुर हैं।।५-६।। हे पगले मन! जैसे काले कागज की हथिनी को सही मान कर कामांध हाथी उसके पास आता है और फंसा लिया जाता है तथा जीवनभर पीलवान का अंकुश सहता है, वैसे हे पगले! तू इस बात को समझ कि तू मन रूपी ईश्वर के बनाये स्त्री-पुत्रादि चित्रों में उलझकर जीवनभर मरता है।।७-१०।। हे मन पगले! स्वाद के वश बन्दर चने के लोभ से सुराही में हाथ डालता है और मुट्ठी में चने लेता है। वह न चने छोड़ता है और न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है। फलतः बन्दर कलन्दर-द्वारा हाथ फैलाकर पकड़ लिया जाता है। फिर बन्दर को उसके हाथ से छूटने का संशय होता है कि इसके बन्धनों से छुटूंगा कि नहीं। फिर वह ऊंच-नीच घर-घर तथा द्वार-द्वार नचाया जाता है और कलंदर के डंडे सहता है। यही दशा तुम्हारी है। तुम विषयों के लालच में पड़कर मनरूपी कलन्दर-द्वारा जीवनभर संसार में नचाये जाते हो और संसार के डंडे सहते हो।।११-१६।। हे पगले मन! तुमने अपने आप को वैसे ही इस संसार के विषयों में सुख-भ्रम से बंधा हुआ मान लिया है जैसे शुक-पक्षी लालमिर्ची खाने के लोभ से नलिका-यंत्र में अपने आप को स्वयं बंधा हुआ मान लेता है।।१७-१८।। हे पगले मन! इस बात को समझ कि केवल पढ़ने-गुनने से क्या होता है, यदि उसको अंत में माया-बिल्ली ने खा लिया।।१९-२०।। हे पगले मन! तू इस बात को समझ कि जिस प्रकार सूने घर में आया हुआ पहुना जैसे भूखे-प्यासे आया वैसे लौट गया, उसी प्रकार तू इस संसार में अतृप्त होकर आया और अतृप्त ही लौट जाये तो जीवन का क्या फल मिला! ।।२१-२२।। हे पगले मन! तूने नहाने के लिए बहुत-सी नदियां और तीर्थ निर्धारित कर लिये और पूजने के लिए बहुत देवता बना लिये, और राम-नाम के जहाज का मोह पकड़ लिया, परंतु तुम बिना पानी के डूब रहे हो, इसे समझो।।२३-२६।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! संसार के लोग तो भटके हुए हैं। हे संसार के लोगो! इस बात को समझो कि तुमने हरि का सेवन करना, अर्थात ज्ञानपथ से चलना छोड़ दिया है।।२७-२८।।

व्याख्या—यह दूसरा चांचर है। चांचर राग-रंग का विषय होता है; परन्तु विरक्त चूड़ामणि कबीर-रचित चाचर तो राग-रंग से वैराग्य [illegible]ाने वाला विवेक से पूर्ण है। उन्होंने इस पूरे चांचर में मन को सम्बोधित किया है और मन को पगला कहा है तथा उसे वास्तविकता समझने की राय दी है। विवेक कर देखा जाय तो प्रायः हर मनुष्य का मन पागल बना है। पागल अव्यवस्थित बातें सोचता है तथा अव्यवस्थित बातें करता है, वैसी ही दशा अन्य मनुष्यों की है। अन्तर यह है कि पागल कहा जाने वाला अपनी अव्यवस्थित बातें खुलकर कहता है तथा चेष्टा भी वह वैसी ही करता है और दूसरे मनुष्यों का मन अव्यवस्थित रहता है, उनका सोचना पागल-जैसा रहता है, परन्तु वे अपने मन के पागलपन को बुद्धि से दबाकर रखते हैं। साठ वर्ष का बूढ़ा पागल यदि सोचता है कि मैं बाइस वर्ष का हूं तो वह वैसे जबान से कहता भी है, परन्तु दूसरे साठ वर्ष के बूढ़े, मन में तो सोच सकते हैं कि हम नवयुवक हैं, परन्तु जबान से वैसा नहीं कहते। विचार करके

देखें तो सारा संसार भीतर-भीतर पागल है। वह ऊपर से तो होशहवास वाला बनता है, परन्तु भीतर से पागल रहता है। जिसका भीतरी पागलपन ज्यादा बढ़ जाता है उसका वह उभड़कर वाणी और कर्मों में आने लगता है। गाली, परनिंदा, असत्यभाषण, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपटपूर्वक दूसरे का धन हड़पना तथा अन्य दुराचार भीतरी पागलपन का प्रकाशन है। इतना ही नहीं, मैं शरीर हूं, शरीर मेरा है, ये दुनिया के धन-दौलत तथा प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, ऐसा मानना पागलपन ही है। विषयों में सुख है, यह मानना पागलपन है। इन सब आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर सद्गुरु ने मन को पागल कहा है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे पगले मन! तू इस बात को भलीभांति समझ ले कि संसार का मोह तेरे फंसने का भयंकर जाल है। "जारो जग का नेहरा" 'जारो' को संज्ञा तथा क्रिया दोनों रूपों में मानकर उसका अर्थ किया जा सकता है। जारो का शुद्ध रूप है जार, जिसके दो अर्थ होते हैं, जाल तथा परस्त्री से प्रेम करने वाला। यहां पहला अर्थ ही उपयुक्त है, जाल। 'जारो' को ज्यों-का-त्यों रखकर अर्थ होगा 'जला दो'। संज्ञारूप में जारो का अर्थ 'जाल' तथा क्रिया रूप में 'जला दो' होगा। साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! तू जिन प्राणी-पदार्थों में मोह करता है, जिन्हें अपना मानता है, वे तो तेरे फंसने के लिए जाल हैं। इसलिए इस मोह को जला दे। इसे ज्ञान की आग से राख कर दे। तू इस बात को समझ कि संसार के मोह में तुम्हें केवल शोक-संताप मिलते हैं। यह जीव अकेला आया है। यह अकेला है ही। इसे अपने आप को सदैव अकेला समझना चाहिए। इस संसार में कहीं और कभी भी ममता की रस्सी में नहीं बंधना चाहिए। कहीं ममता करो और शोक-संताप में जलो, यही ममता का फल है।

"तन धन से क्या गर्भ सी" तन और धन का क्या गर्व करते हो! चार दिनों में शरीर ढीलाढाला हो जाता है, रोग तथा बुढ़ापा से जीर्ण होकर काल के गाल में चला जाता है। और ऐसा ही नहीं, माता के गर्भ में, पैदा होने पर शिशुपन में, बालकपन में, तरुणाई में तथा भरी जवानी में—जब भी अवधि पूरी होती है इस देह के विनशते देरी नहीं लगती। यह शरीर एक दिन राख होता ही है, धन भी नष्ट हो जाता है। फिर इसका क्या अहंकार किया जाय!

शरीर, परिवार, समाज, पद, प्रतिष्ठा, धन, वैभव उसी प्रकार क्षणिक हैं जैसे बिना नींव तथा गिलावा के बना मकान। इस संसार में कुछ भी स्ववश नहीं है। हाथ ही तुम्हारे हाथ में—वश में नहीं है। देह रहते-रहते जब कंपवायु धर दबोचता है तब गिलास उठाकर पानी पीना तथा मुख में ग्रास लेना कठिन हो जाता है।

जंगल में गड्ढा खोदकर उस पर टाटी रख देते हैं तथा टाटी पर कागज की हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। जंगली हाथी जब उधर आता है तब उसे असली हथिनी समझकर कामांध हो उसके पास दौड़ा जाता है। वहां आते ही टाटी टूट जाती है और हाथी गड्ढे में गिरकर वहीं पड़े रहने के लिए विवश हो जाता है। फंसाने वाले कई दिनों तक उसे उसी में पड़े रहने देते हैं। वह भूख-प्यास से निर्बल हो जाता है। इसके बाद उसे जंजीर में फंसाकर उस गड्ढे से निकालते हैं। पीलवान गजबांक एवं भाले से उसे मार-

मारकर और त्रास दे-देकर अपने वश में करता और प्रशिक्षित करता है। फिर वह जीवनभर पराये हाथों में पड़ा रहता है तथा अपने सिर पर पीलवान के अंकुश की मार सहता है।

मनुष्य की यही दशा है। वह कामांध होकर कालबूत की हस्तिनी में फंसता है। वह एक आकर्षक दिखते हुए जोड़े में फंस जाता है जो कालबूत के समान कच्चा, दिखाऊ तथा थोड़े दिनों में क्षीण हो जाने वाला है, परन्तु एक बार फंसकर जीवनभर उससे निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। कोई विरला ही वीर होगा जो उससे निकल सके। एक बार फंसे हुए मनुष्य के लिए फिर तो जीवनभर के लिए वह घनचक्कर चलना शुरू होता है, जिससे उबरना कठिन है। यह काम-वासना ही फांसी का तख्ता है। जिस पर विमूढ़ आदमी हंस-खेल तथा गा-बजाकर चढ़ता है। फांसी का तख्ता तो मिनटों में दुखों से मुक्त कर देता है, परन्तु यह काम-वासना का तख्ता जीवनभर छुट्टी नहीं देता। इस फांसी पर जो चढ़ा वह जीवनभर इसी पर लटका रहता है। यहां तक कि इसी वासना के कारण जीव जन्म-जन्मांतरों तक भटकता रहता है। मन ही जगदीश है, जगत का ईश्वर है। यही स्त्री-पुत्रादि का चित्र बनाकर खड़ा करता है जिसमें जीव फंसकर भटकता है।

बन्दर ने देखा कि सुराही में चने हैं। उसने लोभवश उसमें हाथ डाला और अपनी मुट्ठी चने से भर ली। मुट्ठी बंध जाने से सुराही से निकलती नहीं है; क्योंकि सुराही का मुख संकरा है और चने के लोभ से मुट्ठी खोलता नहीं है। इतने में कलंदर आकर अपने हाथ फैलाकर उसे बांध लेता है। फिर तो जीवनभर वह कलंदर का डंडा सहता है और उसके द्वारा घर-घर नचाया जाता है। यही दशा जीव की है। इन्द्रियों के सुख के लिए यह मूढ़ मन घर-गृहस्थी बसाता है। कुछ दिनों में संसार के विषयों में खूब आसक्त हो जाता है। यद्यपि उसे संसार से कष्ट मिलता है, परन्तु उसने विषयों के स्वाद की मुट्ठी पकड़ रखी है। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि बन्दर चने का लोभ छोड़कर अपनी मुट्ठी खोल दे तो भागकर बच जाय, तथापि उसे लोभ ने जकड़ रखा है जो मन की अदृश्य रस्सी है। इसी प्रकार मनुष्य यदि मोह-लोभ छोड़ दे तो उसे कोई शक्ति बांध नहीं सकती, परन्तु उसके मन की अदृश्य रस्सी उसे मजबूती से बांधे रखती है। जैसे बंदर ऊंच-नीच सभी के द्वार पर कलंदर का डंडा खाते हुए नाचता है, वैसे जीव जीवनभर संसार एवं मन का डंडा खाते हुए नाचता है और ऊंची-नीची नाना योनियों में भटकता है।

शुक-पक्षी लालमिर्ची को खाने के लोभ में नलिकायंत्र (चरखी) पर बैठता है। चरखी तो उसके फंसाने के लिए ही रखी रहती है। शुक-पक्षी के बैठते ही चरखी घूम जाती है। इतने में शुक भयभीत होकर उसे जोर से पकड़ लेता है। वह समझता है कि मैं पकड़ लिया गया हूं, परन्तु तथ्य यह रहता है कि लालमिर्ची के खाने के लोभ में पड़कर उसने स्वयं चरखी को पकड़ रखा है। इसके बाद शुक पिंजरे में बन्द कर लिया जाता है। यही दशा मनुष्य की है। मनुष्य विषयों के भोग के लालचवश गृहस्थीरूपी चरखी पर बैठता है और गृहस्थी-चरखी उसको लेकर घूम जाती है। वह गृहस्थी के चक्कर में स्वयं को फंसा लेता है; परन्तु उसे लगता है कि गृहस्थी ने मुझे पकड़ लिया है जबकि उसने स्वयं गृहस्थी

पकड़ रखी है। वस्तुतः गृहस्थी तो है विषयवासना। यह जीव स्वयं उसे पकड़ता है और स्वयं उसमें अपने आपको उलझाता है।

"पढ़े गुने क्या कीजिये, मन बौरा हो। अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो।।" शुक-पक्षी मनुष्य के पिंजरे में पलकर बहुत पढ़ लेता है, परन्तु इससे क्या हुआ जब उसको अन्त में बिल्ली ने धरदबोचा। इसी प्रकार आदमी बहुत पढ़ा-लिखा, अनेक भाषा, अनेक शास्त्रों तथा अनेक विषयों का विद्वान हो गया, परन्तु अन्ततः यदि वह माया-बिल्ली-द्वारा खा लिया गया तो उसका पढ़ना-लिखना सब मिट्टी है। गृहस्थ को भी सदाचारसम्पन्न तो होना ही चाहिए।

यहां थोड़ा विचार साधुओं के लिए कर लेना चाहिए। गृहस्थ लोग जो विशेष नौकरी-चाकरी करना चाहते हैं उनके लिए तो ठीक है कि वे स्कूली विद्या पढ़ते रहें, परन्तु विरक्त मार्गावलंबियों को घर-गृहस्थी में रहकर जितनी स्कूली विद्या पढ़ लिये हों उसी के आधार पर यहां अध्ययन में लगना चाहिए। साधुओं को डिग्री नहीं लेनी है। डिग्री लेने से उनके मन में केवल मोह बढ़ सकता है। उन्हें तो अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन से ज्ञान बढ़ता है, कक्षा एवं डिग्री से नहीं। यदि साधु संत-गुरु के संरक्षण में रह खूब डूबकर अध्ययन करें तो उन्हें जो चाहिए—भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन—सब में पंडित हो जायेंगे। यह ठीक है कि साधु को साधना की गहराई में उतरना चाहिए और तपस्वी होना चाहिए, परन्तु उसे विद्वान भी होना चाहिए। किंतु विद्वान होने के लिए उसे स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय का चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं है। उसे संत और गुरुओं के साथ में रहकर अपने उपयोगी विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

कालेज एवं विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले साधु-छात्रों को अन्य गृहस्थ छात्रों के संपर्क में आना पड़ता है, और रजोगुणी तथा अनेक स्वभावों के गृहस्थ छात्रों का संसर्ग पाकर साधु-छात्रों के मन में रजोगुणी संस्कार आने लगते हैं। डिग्रियों की प्राप्ति के बाद कितने साधु-छात्रों के मन में नौकरी करने की वासना जग जाती है, फिर पीछे लुगाई की। यह ठीक है कि कुछ-न-कुछ साधक तो लौट ही जाते हैं चाहे वे कितने ही उच्च संतों के पास रहते हों; परन्तु यहां तो बात है मात्रा पर। यदि गृहस्थों के संपर्क में युवक साधु ज्यादा आयेंगे तो उनके जीवन में गिरावट आयेगी।

अतएव साधुजनों को चाहिए कि अपने मठों एवं समाजों को साधना एवं विद्या—दोनों का केन्द्र बनावें। जितने मुमुक्षु विरक्ति-मार्ग में आवें उन्हें वैराग्य और साधना का प्रशिक्षण दिया जाय, साथ-साथ भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि पढ़ाया जाय, जो साधु के धर्म-प्रचार में आवश्यक हैं। अतएव साधु-समाज साधना और विद्या दोनों का केन्द्र होना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि बहुत पढ़ा-लिखा, परन्तु उसको माया-बिल्ली ने धरदबोचा तो पढ़ने-गुनने से क्या हुआ!

"सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो। ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो।।" किसी घर पर पहुना आया, परन्तु घर पर ताला लगा है। वहां कोई है ही नहीं, तो पहुना बेचारा जैसा भूखा-प्यासा आया वैसा ही लौट गया। यही दशा उनकी है जिन्होंने उत्तम

मानव जीवन पाकर अपना कल्याण नहीं कर लिया। जीव अतृप्त ही इस संसार में आया और अतृप्त होकर ही लौट गया, तो जिन्दगी पाने का क्या मतलब हुआ! संसार में धन मिला, परिवार मिला, प्रतिष्ठा मिली, परन्तु भीतर में संतोष नहीं मिला, शाश्वत शांति नहीं मिली, तो क्या मिला!

यह ठीक है कि आदमी ने नहाने के लिए बहुत नदियों एवं तीर्थों का निर्धारण किया है, पूजने के लिए बहुत-से देवी-देवताओं का सृजन किया है और संसार-सागर से पार जाने के लिए राम नाम के जहाज का पल्ला पकड़ा है; परन्तु ये सब बहुत ऊपर-ऊपर की बातें हैं। ये सब बच्चों के खिलौने के समान हैं, जो थोड़ा सात्विक मनोरंजन करते हैं। इतने मात्र से वासनाओं का क्षय, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं होती। इसके लिए सच्चे सद्गुरु की खोज, सुव्यवस्थित सत्संग, उनसे विनम्रतापूर्वक निर्णय ग्रहण, साधना एवं अध्यात्म में गहरी पैठ होनी चाहिए। साहेब कहते हैं कि आदमी यह सब नहीं करता। वह बिना पानी के डूबता है। कोई पानी में डूबे तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु बिना पानी के डूबता है तो यह आश्चर्य लगता है। आदमी मिथ्या मान्यताओं में बंधकर अपना जीवन नष्ट करता है।

"कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो। तुम छाड़हु हरि की सेव, समुझि मन बौरा हो।" सद्गुरु कहते हैं कि जगत के लोग भटक रहे हैं; क्योंकि उन्होंने हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। हरि है ज्ञान, और संसार के लोग ज्ञान का सेवन करना त्याग दिये हैं। निष्पक्ष निर्णय-द्वारा नीर-क्षीर-विवेक करना तथा नीर का त्यागकर केवल क्षीर को ग्रहण करना, हरि का सेवन करना है। विवेक करने से जो असत्य एवं छूटने वाला सिद्ध हो, उसका मोह छोड़कर कभी न छूटने वाले निजात्मदेव में रमण करना ही हरि का सेवन करना है। परन्तु मनुष्य हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। इसलिए वह भटकता है।

यदि ऐसा अर्थ किया जाय कि संसार के लोग भटक रहे हैं इसलिए तुम हरि का सेवन करना छोड़ दो, तो हरि का अर्थ माया होगा। हरि के अनेक अर्थों में एक अर्थ माया भी है जिस पर ३४ से ३७ वें शब्द में काफी विचार किया गया है। लोग माया के सेवन के कारण ही भटकते हैं, यदि आदमी माया का सेवन करना छोड़ दे तो उसका भटकना बंद हो जायेगा।

●

फल छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न अब तो,
लौटि गुरुपद ओर भौ।
सद्ज्ञान अग्नी भस्म कंटक,
शान्त भाव स्वठौर भौ।।
अब तो न कुछ इच्छा रही,
केवल निरिच्छा जोर भौ।
निज शान्ति साधक रहनि में,
पारख परख लहि भोर भौ।।

चौपाई

संत पारखी पारख दाता।
कहहिं बोधप्रद वचन सुहाता।।
सोइ बोधक वच, मन वच भ्राता।
कहहिं कबीर परख पद त्राता।।

बेलि

हेतु छन्द

यह रमैया राम चेतन-
धाम है विश्राम का।
जड़ से परे अतिशय खरे,
ज्ञाता स्वयं अभिराम का।।
पै यह अविद्या बेलि माया,
भास ग्रन्थि अनादि का।
अजहूँ परख परकाश बिन,
त्रयताप दुःख विषादि का।।

दोहा

श्वान कोल खग मृग दशा, भूल अहो दे शूल।
भूल सोई विघटन हितू, दीन बन्धु कहि रूल।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

अष्टम प्रकरण : बेलि

खरा और खोट परखो

बेलि–१

हंसा सरवर शरीर में, हो रमैया राम ॥ १ ॥
जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम ॥ २ ॥
जो जागल सो भागल, हो रमैया राम ॥ ३ ॥
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम ॥ ४ ॥
आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम ॥ ५ ॥
काल बसेरा बड़ि दूरि, हो रमैया राम ॥ ६ ॥
जइहो बिराने देश, हो रमैया राम ॥ ७ ॥
नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम ॥ ८ ॥
त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम ॥ ९ ॥
भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम ॥ १० ॥
फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम ॥ ११ ॥
बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम ॥ १२ ॥
तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम ॥ १३ ॥
हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम ॥ १४ ॥
जस रे कियेहु तस पायेउ, हो रमैया राम ॥ १५ ॥
हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम ॥ १६ ॥
अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम ॥ १७ ॥

सहज किये‍हु विश्वास, हो रमैया राम ॥ १८ ॥
राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम ॥ १९ ॥
लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम ॥ २० ॥
पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम ॥ २१ ॥
नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम ॥ २२ ॥
पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम ॥ २३ ॥
खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम ॥ २४ ॥
शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम ॥ २५ ॥
सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम ॥ २६ ॥
आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम ॥ २७ ॥
सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम ॥ २८ ॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम ॥ २९ ॥
परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—हंसा = हंस, जीव। सरवर = सरोवर, शरीर। रमैयाराम = हृदय में रमने वाला चेतन जीव। आजु = वर्तमान। काल = मृत्यु के बाद। बिराने देश = मनुष्येतर खानि, जड़ देश। दूर = मानवेतर योनि। त्रास = दुख। दधि = समुद्र, वाणी एवं संसार। भवन = देह। बेधिन = विखंडित किया। निर्बान = मोक्ष। मानिक = मानने वाला, लालमणि, माणिक्य। हटलो = रोकना। अगम = पहुंच के बाहर, मोक्षतत्व। गम = पहुंच, बाह्याचार। सहज = प्रार्थना-पूजादि। पाँच लदनुवाँ = अन्तःकरण पंचक, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। नौबहियाँ = नौ बहंगी—नौ नाड़ियाँ—पुहुषा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। दश गोनि = दस बोरे (थैले)—पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां। ख़ाँगि = खाँगना, गाय-बैल आदि के खुर पक जाने का रोग, दुर्बल। खाखर = खांखर, जिसमें बहुत छेद हों, शरीर। खरा = विशुद्ध, खालिस, सच्चा, निज चेतनस्वरूप। खोट = दोष, बुराई, घटिया माल।

भावार्थ—हे रमैयाराम चेतन! तुम हंस हो। तुम्हारा मानसरोवर शरीर के भीतर ही है; परन्तु दुख यह है कि तुम जाग्रतस्वरूप हो, फिर भी तुम्हारे हृदय-घर में कामादि चोर आत्म-धन को चुरा रहे हैं॥१-२॥ जो ठीक से जागता है वह इन चोरों के पास से भाग खड़ा होता है, परंतु हे रमैया राम! जो सोता है, असावधान रहता है, वह अपने धन को खो देता है॥३-४॥ हे रमता चेतन! आज तुम्हारा निवास कल्याण-स्थल के बहुत निकट है; परंतु यदि तुम कल्याण-साधना नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा निवास बहुत दूर हो जायेगा। पता नहीं तुम किस योनि में पहुंच जाओ॥५-६॥ हे रमता राम! तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति न होने से तुम पराये देश—पशु आदि योनियों में चले जाओगे, फिर कल्याण-साधन-स्थल से दूर पड़े नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोते रहोगे॥७-८॥ हे रमैया राम! सांसारिक तापों से व्यथित होकर तुम्हारे मन में मंथन हुआ, इसलिए तुमने सुख के

लिए मानो पूरा संसार-सागर ही मथ डाला, और भोगों में अपने इस शरीर को तो पूर्णरूप से मथा ही ॥९-१०॥ परंतु हे रमैया राम! फल कुछ न मिला। यह जीव सुख के लिए फिर संसार का पहुना बना, जहां कि सुख नहीं है। इसने विषयों के वश होकर मोक्ष-पद को विखंडित कर दिया ॥११-१२॥ हे रमैया राम! तुम हंस हो, तुम मन को प्रकाशित करने वाले माणिक्य हो, परंतु तुम मेरा रोकथाम नहीं मानते हो और विमोहित होकर मन के ही चक्कर में पड़ जाते हो ॥१३-१४॥ हे रमता चेतन! तुम जैसा कर्म करते हो वैसा फल पाते हो। मुझे दोष मत दो, क्योंकि मैंने तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया है ॥१५-१६॥

हे असंग चेतन! तूने अपने स्वरूप के भूलवश स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष-तत्व को पहुंच के बाहर मानकर उसकी बात काट दी और कर्मकांड तथा कल्पित देवी-देवता-पूजन को अपनी पहुंच के भीतर मानकर उन्हीं के बाल-खेल में जीवनभर लगा रहा और सहज-प्राप्त तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि बाह्याचार से पूर्ण कल्याण का विश्वास कर लिया ॥१७-१८॥ हे रमैया राम! रामतत्व को समझने तथा उसमें स्थित होने को दरकिनार कर तूने रामनाम धन को व्यापार बना डाला, उस अनमोल धन को लादकर भी उसके बोध से जीवनभर वंचित रहा ॥१९-२०॥ हे रमैया राम! बोझा ढोने वाले अंतःकरण पंचकरूप पांच टट्टू तुम्हारी मान्यताओं के बोझा को लाद ले चले। उसमें सहायक हुईं नौ नाड़ियां रूपी नौ बहंगी तथा दस इंद्रियांरूपी दस बोरे ॥२१-२२॥ परंतु हे रमैया राम! उक्त अंतःकरण पंचकरूप बोझा लादने वाले पांचों टट्टू दुर्बल हो गये, फिर तो असंख्य छिद्र भरे इस शरीर को फोड़ डाले ॥२३-२४॥ अंततः हंस सिर पटककर उड़ चला और जो शरीर-सरोवर कल्याण-साधन होने से तुम्हारा मित्र था, उसे तुम हार चले ॥२५-२६॥ हे रमैया राम! फिर तो तुम्हारे माने हुए शरीर-सरोवर में आग लगा दी गई और वह जलकर धूल हो गया ॥२७-२८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो और हे रमता चेतन! सुनो, तुम स्वयं परख लो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, तुमसे न छूटने वाला क्या है तथा छूटने वाला क्या है! ॥२९-३०॥

व्याख्या—यह बेलि प्रकरण है। इसमें दो बेलि-छन्द हैं। बेलि का अर्थ होता है लता। माया मानो लता है, जिसने सबको लपेटकर बांध रखा है। तिरपनवें शब्द में सद्गुरु ने कहा है "बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी। कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

इस ग्रन्थ में 'हंस' की व्याख्या कई जगह कर दी गयी है। अहंसः से अ और विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है 'मैं वह हूं जो मैं चाहता हूं।'[1] मैं शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप ही शांत है। हंस प्रसिद्ध सफेद पक्षी है जो मानसरोवर में रहता है। कहावत है कि वह नीर-क्षीर-विवेक करता है। इस जीव में हंस शब्द के शाब्दिक तथा रूढ़, दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। जीव स्वयं वह है जो चाहता है और वह ज्ञानस्वरूप होने से नीर-क्षीर विवेकी है। यह चेतन-हंस शरीर-सरोवर का निवासी है। "हंसा सरवर शरीर में"

---

१. अहंसः = अहम्+सः—मैं+वह (हूं)।

जीव-हंस शरीर-सरोवर में रहता है। सरवर का दूसरा अर्थ है चेतना एवं स्वरूपस्थितिरूपी मानसरोवर। इस दृष्टि से अर्थ होगा कि हे हंस! तुम्हारा मानसरोवर, तुम्हारे विहार एवं विलास का स्थान इस शरीर के भीतर तुम्हारी आत्मचेतना ही है। इस शरीर में दो सुख हैं, एक ऐंद्रिक तथा दूसरा अतीन्द्रिय। ऐंद्रिक-सुख जीव को विमोहितकर संसार में भटका देता है और अतीन्द्रिय-सुख जीव को संसार से मुक्त कर चिरशांति देता है। इन्द्रियों से विषयों का भोग ऐंद्रिक-सुख है, जिसमें पड़कर जीव को केवल भटकाव एवं अशांति मिलती है, और जहां इन्द्रियों का व्यापार तथा मन का भी व्यापार बन्द हो जाता है, उसके आगे निज चेतना का क्षेत्र है। इस दशा में स्थित होने से जो सुख का अनुभव होता है, वह अतींद्रिय है। यह दिव्य है। इसका अनुभव भी इस शरीर में रहते हुए ही हो सकता है। जो साधक इस अतीन्द्रिय-सुख को पूर्णतया पा जाता है उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

"जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम।" जैसे कोई अपने घर में जाग रहा हो, और चोर उसके घर में चोरी कर उसके धन को ले जा रहे हों तो यह उसकी कायरता है। एक व्यक्ति के घर में चोर घुसे थे। घर का मालिक खाट पर लेटा था और जाग रहा था। उसकी पत्नी भी जाग रही थी। उसने अपने पति को सावधान किया कि घर में चोर घुस आये हैं। पति ने पत्नी से कहा था कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर माल लेकर घर से चल दिये, पुनः पत्नी ने उसे सावधान किया था, परन्तु उसने डरवश पुनः अपनी बात दोहरायी कि मैं देखता हूं, जानता हूं। जब चोर माल लेकर चले गये तब घर का मालिक तलवार-बंदूक पटकने लगा। वस्तुतः यह उसकी कायरता थी। वह स्वयं चोरों से डर रहा था। यही दशा मनुष्य की है। उसके हृदय-घर में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि चोर घुसकर चोरी कर रहे हैं। जीव जानता है कि मेरे घर में चोरी हो रही है, परन्तु विषयासक्ति के कायरतावश उन्हें खदेड़ नहीं पाता। जीव स्वरूपतः जाग्रतस्वरूप एवं चेतनस्वरूप है। उसमें जानीवदशा है। वह हर समय जानता रहता है; परन्तु साधारण जानना काम नहीं करता। जब वह विषयासक्ति की नींद छोड़कर पूर्णतया जग जाता है तब उसकी दशा एकदम भिन्न हो जाती है। इसके लिए सद्गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं—

"जो जागल सो भागल, हो रमैया राम।" जो जागता है वह भागता है। जागने का मतलब है भागना। कोई कहे कि मैं जागता हूं, परन्तु वह भागता नहीं है तो वह जाग कहां रहा है! भागने का मतलब है अपने मनोविकारों को छोड़कर और सीमित स्वार्थ से हटकर आत्मकल्याण और लोककल्याण में लग जाना। आज के प्रगतिशील कहते हैं कि "भागो न, बदलो"। परन्तु यह समझ लो कि सच्चे सन्त इस तरह नहीं भागते हैं कि वे समाज-कल्याण के काम को छोड़ देते हों। सच्चे सन्त अपने छुद्र स्वार्थ को छोड़कर विराट संसार के स्वार्थ एवं कल्याण में लग जाते हैं। यदि कोई ऐसा सन्त हो जो लोक के देखने में कोई जगत-कल्याण का कार्य न करता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण साधनसम्पन्न है तो उससे अनेकों को सत्प्रेरणा मिलेगी। इसलिए उसे भी यह माना जायगा कि वह समाज को बदल रहा है। समाज केवल वक्तव्य देने से नहीं सुधरता, किन्तु पवित्र आचरणों का आदर्श पाकर सुधरता है। मूल बात यहां यह है कि जो पूर्ण जाग्रत हो जाता है वह मोह-

माया से भागता है। महर्षि वेदव्यास शास्त्रों के महान ज्ञानी थे, परन्तु वे जगे नहीं थे, उनके पुत्र शुकदेव कोई शास्त्रज्ञानी नहीं थे, परन्तु वे जगे थे। इसलिए वे भाग खड़े हुए। गौतम के समय में बहुत-से प्रकांड पंडित रहे होंगे, परन्तु वे जहां के तहां पड़े रहे, किन्तु गौतम जग गये थे इसलिए वे भाग खड़े हुए। भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि जग गये तो भाग खड़े हुए। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं, कितने नाम ऐसे हैं जिनके विषय में हम परिचित नहीं हैं किन्तु वे जगे थे और मोह-माया से भगे थे। इस कथन का इतना ही अर्थ नहीं है कि जो घर-द्वार छोड़कर साधु-संन्यासी हो जाय, मात्र वही जगा है। वस्तुतः जिसके मन से मोह दूर हो जाय वही जगा है। मोह को छोड़ देने वाला ही दुखों से मुक्त होता है तथा संसार के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।

"सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम" जो सोया वह खोया। सोने का मतलब है इन प्राप्त क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में आसक्त होना। जहां से हमें क्षण-पल में सदैव के लिए चल देना है वहां के लिए राग-द्वेष करना मानो असावधान होकर सोना है। जागता वही है जो यहां कहीं भी राग-द्वेष नहीं करता। जो सदैव शरीरांत के दिन को देखता है और उसके लिए तैयार बैठा रहता है वह मानो हर समय जागता है। मोह करना सोना है तथा मोह-भंग कर देना जागना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा व्यक्ति केवल मौत की प्रतीक्षा करता है और दूसरा काम नहीं करता। वह जीवन तथा जगत के लिए महान काम करता है। ऐसी दिव्यदृष्टि वाले की स्थिति सर्वोच्च होती है।

"आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम। काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम।" आज तुम्हारा बसेरा कल्याण के निकट है। यदि तुम आज अपना कल्याण नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा बसेरा बड़ी दूर हो सकता है। मनुष्य-शरीर ही कल्याण के निकट है। यह जीव मानव-शरीर में रहकर ही अपना कल्याण कर सकता है। यदि इसने आज यहां असावधानी की और अपनी कल्याण-साधना नहीं कर ली, तो शरीर छूट जाने पर यह पता नहीं किन-किन योनियों में भटकने के लिए चल दे।

कबीर साहेब बड़ी करुणा से कहते हैं "जइहो बिराने देश, हो रमैया राम। नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम।" जीव अज्ञानवश बहुत दूर चला जायेगा। दूर चले जाने को दो ढंग से समझ सकते हैं। एक तो कल्याण-साधन योग्य मनुष्य शरीर से बिछुड़कर अन्य खानियों में जाकर वहां नाना दुख सहना मानो दूर जाकर रोना है। समझने का दूसरा ढंग है कि जीव अपने स्वरूप का बोध न पाकर दृश्य-विषयों में उलझ जाता है। यही उसका दूर जाकर दुखी होना है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा देह-गेहादि एवं मनोमय सब बिराना देश है। जीव क्यों रोता है, वह क्यों दुखी होता है, क्योंकि वह अपना चेतन देश छोड़कर जड़-बिराने देश में चला जाता है। वह जितना संकल्प-विकल्पों में विलास करता है उतना दुखी रहता है और जितना संसार के प्राणी-पदार्थों में राग-द्वेष करता है उतना उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। दूर पड़ा नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोने का एकमात्र कारण है जड़दृश्यों में भटकाव। जो दृश्यों का राग छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित हो जाता है उसके सारे क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

"त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम। भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम।" संसार के राग-द्वेष-वश शोक-संताप में मनुष्य का मन पीड़ित होता है। उसके मन में त्रास का मंथन होता है। संसार का सब कुछ क्षणभंगुर है, अतएव जिसका मन उसमें डूबा रहेगा वह निश्चित ही अनेक भय से पीड़ित रहेगा। अतएव मनुष्य के मन में दुख का मंथन होता है, तब वह दधि का मंथन करता है। यहां दधि का अर्थ दही नहीं, किन्तु समुद्र है। मनुष्य संसार-समुद्र का मंथन करता है। अपने इन्द्रिय-सुख और सम्मान-सुख को सुरक्षित रखने तथा उन्हें पाने के लिए वह संसार-समुद्र का मंथन करता है। इन्द्रिय-सुख और सम्मान के लिए संसार में रात-दिन भागा-दौड़ी करना मानो संसार-समुद्र का मंथन करना है। फिर यह 'भवन' को 'भरपूरि' मथता है। भवन है शरीर। यह भूला जीव इन्द्रिय-सुख के लिए अपने शरीर का मंथन करता है। यहां मंथन में सद्‌गुरु 'भरपूरि' विशेषण लगाते हैं। मनुष्य भोगों में अपने शरीर का अच्छी तरह दोहन करता है और सब प्रकार से क्षीण होता है। परन्तु इन्द्रिय-भोगों में बहादुरी दिखाने वाला आदमी कभी शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

"फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम। बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम।" उपर्युक्त प्रकार से भोगों तथा संसार के शोक-संताप में उलझे हुए जीव बारम्बार शरीर-संसार के पहुना बनते हैं; क्योंकि उन्होंने मोक्ष-पद का विखंडन किया है। अभिप्राय यह है कि वासनाओं के त्याग से मोक्ष मिलता है, परन्तु मनुष्य ने वासनाओं की वृद्धि करके मोक्ष-कार्य के उलटे काम किया है। इसलिए इसने निर्वाण पद को बेध डाला है, मोक्ष-पथ का उल्लंघन किया है। जीव को मन की वासनाओं से मुक्त होना चाहिए था, तो वह मन की वासनाओं में ही डूब गया है।

"तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम। हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम।" हे हंस चेतन! तुम मन को प्रकाशित करने वाले मणि हो। अर्थात जीव ही मन को मानने वाला तथा उसके ऊपर उसका कर्ता-धर्ता है। वह चाहे तो मन को अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह तो मूढ़ होकर मन के वेग में ही बहता है। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें रोकता हूं कि तुम मन की धारा में न बहो, परन्तु तुम मेरी बातें नहीं मानते हो। जीव ने अपने स्वरूप को भूलकर मन को ही सर्वोपरि मान लिया है। मणि प्रकाशमय होती है। उसके आस-पास की वस्तुएं मणि की चमक से ही चमकती हैं। मणि हवा-पानी या किसी वस्तु से बुझने वाली नहीं होती। मणि स्वतः प्रकाशस्वरूप है। इसी प्रकार यह जीव स्वतः ज्ञानमय है। मणि तो एक उदाहरण मात्र है। वस्तुतः देखा जाय तो मणि जड़ एवं नाशवान है। परन्तु चेतन अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध एवं ज्ञानमय है। वह ज्ञान से मन को आलोकित करता है। मन का साक्षी, मन का मानने वाला चेतन जीव मन के ऊपर है। उसे चाहिए कि वह मन का तत्वतः द्रष्टा बनकर अपने स्वरूप में शांत हो।

"जस रे कियेहु तस पायेहु, हो रमैया राम। हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम।" साहेब कहते हैं कि भाई, हमें दोष मत देना कि आपने मुझे सावधान नहीं किया। हम तो तुम्हें सावधान कर रहे हैं। आज तक जैसे कर्म किये हो वैसे फल पाये हो, आगे भी जैसा करोगे, वैसा पाओगे। यह संसार का अकाट्य नियम है। "अपनी कमाई आप का, ना

माई ना बाप का।'' हमें गुरुजन सावधान करते हैं, परन्तु हम ऐसे मोहमूढ़ हो जाते हैं कि पतिंगे की तरह संसार की ज्वाला में कूद-कूदकर जलते हैं।

''अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम। सहज कियेहु विश्वास, हो रमैया राम।'' 'अगम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच न हो और 'गम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच हो। मनुष्य की स्थूल-बुद्धि होने से उसे स्वरूपज्ञान, आत्मतत्व चिंतन, स्वरूपस्थिति पहुंच के बाहर लगते हैं। इन्हें वह अगम मानता है; परन्तु तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि पहुंच के भीतर मानता है। इसलिए अधिकतम मनुष्य न स्वयं निजस्वरूप का विचार करते हैं और न संतों की संगत में इस विषय पर खोज करते हैं। यदि कोई संत इस पर विचार भी देना चाहे तो लोग उसकी बातें काटकर स्थूलबुद्धि की बातें करने लगते हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम जीवनभर बच्चे ही बने रहना चाहते हो, यदि तुम जीवनभर 'क' माने कबूतर तथा 'ख' माने खरगोश ही पढ़ना चाहते हो, तो तुम्हारा उद्धार कब होगा! बचपन का समय जीवन में थोड़ा होना चाहिए, फिर तो बुजुर्गी आनी ही चाहिए। यह कर्मकांड तथा स्थूल उपासना का समय बहुत थोड़ा होना चाहिए। जीवनभर गुड्डी-गुड्डे खेलते रहना कहां तक बुद्धिमानी है! साहेब कहते हैं कि हे रमैया राम! तुमने आत्मतत्व-विचार एवं आत्मस्थिति को अगम मानकर छोड़ दिया और केवल कर्मकांड एवं जड़उपासना तथा प्रार्थना में लग गये और सहज, सांसारिक क्रियाओं में जीवनभर उलझे रहे। यह तुम्हारी काहिली है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति जिसे तुम अगम मान रखे हो वह अगम नहीं, किन्तु तुम्हारा निज सहजस्वरूप ही है, अतएव वह अति सुगम है। उसकी तरफ न ध्यान देना तुम्हारा दुर्भाग्य है।

''राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम। लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम।'' आत्माराम परम धन है और वह अमोल वस्तु है, यह सच है। परन्तु तुम्हें उसका परिचय नहीं है। तुम केवल राम-नाम को ही बहुत बड़ा मान लिये और उसी को अनमोल धन मानकर उसको व्यापार का विषय बना लिये। जैसे कोई पानी नामक वस्तु, जो द्रव एवं शीतल होती है उसकी न तलाश करे तथा उसे न प्राप्त करे, बस केवल पानी-पानी जपने को ही उसके विषय में बड़ी उपलब्धि मान ले तो यह उसका दुर्भाग्य है। पानी का अखंड कीर्तन करने से वहां पानी की एक बूंद भी नहीं उपस्थित हो सकती। इसी प्रकार कोई राम-नाम का अखंड कीर्तन करने लगे और जीवनभर करता रहे, परन्तु वह जब तक राम रूपी रत्न के पारखी के पास जाकर उसके विषय में निरख-परख न करेगा, तब तक उसे रामतत्त्व का सच्चा बोध नहीं होगा और जब तक राम का सच्चा बोध नहीं होगा तब तक उसमें स्थिति भी कैसे होगी! इन्द्रिय-मन तथा उनके व्यापार से परे निज चेतनस्वरूप ही राम है; परन्तु लोगों ने तो मन-इन्द्रियों के व्यापार को ही राम मान लिया है।

''पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम। नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम।'' अंतःकरण, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच लदनुवां एवं लद्दू घोड़े या टट्टू हैं। सारे भास-अध्यास का बोझा ये ही लादकर चलते हैं। मन से मनन, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निश्चय तथा अहंकार से करतूति होती है और चारों से संग्रहीत संस्कार अंतःकरण में अध्यस्त हो जाते हैं। शुभाशुभ सारे अध्यासों को ये अंतःकरण-पंचक

लादकर चलते हैं। इसमें सहायक होती हैं नौ बहंगियां। बहंगी कहते हैं कांवर को जो बांस का फट्ठा होता है। दोनों तरफ छींके लटकाकर उस पर माल ढोया जाता है। माल वहन करने के कारण उसे बहंगी कहते हैं। नौ नाड़ियों से ग्रथित यह काया मानो नौ अवयवों से बनी बहंगी है और पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी और पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुख, गुदा तथा उपस्थ—ये दस गोनियां, बोरे एवं थैले हैं। इन्हीं पर नाना संस्कारों, वासनाओं एवं अध्यासों के माल ढोये जाते हैं। जीव इन्हीं पर सारे विषयों की वासनाएं ढोता है। और कहना न होगा कि निजात्मतत्त्व से विमुख होकर राम-रहीम के संस्कार भी मनुष्य इन्हीं अन्तःकरण आदि साधनों से ढोता रहता है। जब तक राम को केवल मन-वाणी का विषय बनाये रखा जायेगा तब तक वह शरीर-मन का अध्यास ही होगा। जब आत्मतत्व के रूप में राम का बोध हो जायेगा तब मन, बुद्धि, वाणी से परे निजस्वरूप में स्थिति होगी।

"पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम। खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम।" एक दिन शरीर जीर्ण होता है और एक दिन नष्ट भी होता है। अतएव शरीर के साथ शरीर के भास-अध्यास भी खो जाते हैं। जब शरीर बूढ़ा होता है तब पांचों लद्दू घोड़े कमजोर हो जाते हैं। मन दृढ़ता से कुछ सोच नहीं पाता, चित्त देर तक किसी विषय का अनुसंधान नहीं कर पाता, बुद्धि का निश्चय ढीला हो जाता है, अहंकार का कार्य करतूति भी नहीं हो पाता, अन्तःकरण से बातें भूल जाती हैं। मन-वाणी कें व्यापारस्वरूप राम भी खो जाता है। यह शरीर तो असंख्य छिद्रों वाला होने से खांखर है। यह एक दिन फूट जाता है। जीव के साथ तो अन्य कुछ भी नहीं जाता। जीव के साथ तो केवल जीव ही जाता है। जिसने पहले ही समझ लिया कि यह जीव ही राम है तो वह राम को पा गया, क्योंकि वह स्वयं है। परन्तु यदि उसका राम केवल मन-वाणी का विषय रहा तो वह शरीर के साथ ही समाप्त हो गया।

"शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम। सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम।" जहां शरीर-खांखर फूटा कि चेतन हंस उड़ चला। हंस का यह मानव-शरीर मानसरोवर था। यह कल्याण-साधन होने से जीव का मित्र तुल्य था। परन्तु जीव ने इसका आदर न किया। इसे साधना में न लगाकर भोग में लगा दिया। इसलिए यह मानो इसे हार गया। जैसे युधिष्ठिर अपना सर्वस्व जुआ में हार गये और वन-वन भटके, वैसे यह जीव विषयों में फंसकर मोक्ष-साधन मानव-देह को हार जाता है। यह अपने दुरुपयोग से मित्र को शत्रु बना लेता है। जो शरीर कल्याणदायी है उसे बन्धनदायी बना लेता है।

"आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम। सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम।" फिर तो हंस के निकल जाने पर शरीर-सरोवर में आग लगा दी जाती है और यह मिनटों में जलकर राख हो जाता है। सारी अहंता-ममताओं का केन्द्र शरीर था और वही राख हो गया, तो जीव जो कुछ मान रखा था उसमें क्या बचा! शरीर गया तो मानो उसके लिए दुनिया गयी। "कहहिं कबीर सुनो हो मुनिया, आप मरे पीछे डूबि गई दुनिया।" परन्तु जीवनभर मनुष्य की आंखों पर पट्टी बंधी रहती है। वह देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थों एवं मान्यताओं को सत्य मानते हुए उन्हीं के पीछे पागल बना भटकता रहता है। देखते-

देखते एक दिन ऐसा आता है कि उसका शरीर इस संसार-समुद्र में खो जाता है और उसी के साथ उसका अपना माना हुआ सब कुछ खो जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो, हो रमैया राम। परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम।" सद्गुरु कबीर इस लंबे पद के अन्त में कहते हैं कि हे बटोही जीव! हे रमता राम! तुम स्वयं खरा और खोट को परख लो। देखो, जीव खरा है तथा शरीर खोट है, राम खरा है और काम खोट है। तुम्हारी अपनी आत्मा ही खरा है और जो कुछ अनात्म एवं जड़ है सब खोट है। ये अनेक शब्द कहे गये, परन्तु जीव, राम, आत्मा एक चेतनतत्त्व के नाम हैं जो मेरा स्वरूप है। यह निजस्वरूप चेतन ही खरा है, शेष सब खोट है। अतएव सबका मोह छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित होना चाहिए।

शास्त्र-प्रमाण के भटकाव से बचो

बेलि–२

भल सुमृति जहँड़ायेउ, हो रमैया राम॥ १ ॥
धोखे कियेउ विश्वास, हो रमैया राम॥ २ ॥
सो तो है बन्सी कसी, हो रमैया राम॥ ३ ॥
सो रे कियेहु विश्वास, हो रमैया राम॥ ४ ॥
ई तो है वेद शास्त्र, हो रमैया राम॥ ५ ॥
गुरु दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम॥ ६ ॥
गोबर कोट उठायेउ, हो रमैया राम॥ ७ ॥
परिहरि जैबेहु खेत, हो रमैया राम॥ ८ ॥
मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम॥ ९ ॥
तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम॥ १० ॥
यह सुनि के मन धीरज धरहु, हो रमैया राम॥ ११ ॥
मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम॥ १२ ॥
फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम॥ १३ ॥
कालबूत सब आहि, हो रमैया राम॥ १४ ॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम॥ १५ ॥
मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम॥ १६ ॥

शब्दार्थ—भल = अच्छी तरह। सुमृति = स्मृति-ग्रन्थ, धर्मशास्त्र। जहँड़ायेउ = ठगाया, हानि उठाया। बन्सी = मछली फंसाने की कटिया। कसी = बंधन। थापि = आरोपित कर देना, थोप देना, विश्वास कराना, मर्यादा कर देना। कोट = गढ़, किला। खेत = रणक्षेत्र, मैदान। बढ़ि = बढ़ा हुआ। हेरहु = खोजो। कालबूत = कच्चा भराव, नकली।

भावार्थ—हे रमता राम चेतन! हे मानव! तूने धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में पड़कर अपने आप को अच्छा ठगाया तथा खोया है। वस्तुतः तुमने धोखे में विश्वास

कर लिया है ।।१-२।। परंतु तुमने जिसमें विश्वास किया है वह तो चारे का प्रलोभन देकर लोहे के कांटे में मछली को फंसा लेने-जैसा है। अर्थात तुम मिथ्या प्रलोभन देकर फंसा लिये गये हो ।।३-४।।

भक्तों ने कहा—हे महाराज ! यह तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं। गुरुओं ने कहा कि इन पर विश्वास करो। उन्होंने हमें शास्त्रों की मर्यादा में बांध दिया है ।।५-६।।

सद्गुरु ने कहा—तुम तो शास्त्रों की दुहाई देकर उसी प्रकार अपना उद्धार सोचते हो जैसे कोई राजा अपने हमलावर-शत्रुओं से बचने के लिए गोबर का परकोटा उठाये। हे बटोही मनुष्य ! ऐसी स्थिति में तुम्हें रणक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ेगा ।।७-८।।

हे सत्य-इच्छुक रमता राम ! जहां मन और बुद्धि नहीं पहुंचती है वहां खोज कैसे की जा सकती है ? यह सुनकर मन में धैर्य पकड़ो। तुम्हारी आत्मा से अलग न राम है, न रहीम है, न ईश्वर है और न ब्रह्म है ।।९-११।।

उक्त बातें सुनकर भक्तों का कल्पना में फैला हुआ मन लज्जित हो गया ।।१२।। (भक्तों के निरुत्तर हो जाने पर कबीर साहेब ने पुनः उन्हें समझाया—)

हे पथिक चेतन राम ! अब पुनः पीछे लौटकर कुछ मत खोजो, क्योंकि तुम्हारी अपनी आत्मा से अलग जो कुछ तुम्हें मिलेगा वह सब नकली वस्तुएं हैं जो छूट जायेंगी ।।१३-१४।।

कबीर साहेब ने कहा कि हे संतो और हे रमैया राम ! सुनो, अब तुम अपने मन और बुद्धि को अपने पास ही फैलाओ। अर्थात अब तुम बाहर कुछ न खोजकर सदैव आत्म-अनुसंधान करो ।।१५-१६।।

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति-पंक्ति में क्रांति है, किन्तु कहीं-कहीं वह सघन है। इस बेलि में भी सघन है। इस बेलि की पहली ही पंक्ति में विदग्धात्मक स्वर है। वे कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में विश्वास कर अपने को ठगा लिया है। धर्मशास्त्र किसी संप्रदाय एवं मजहब के हों, उन्हें आंख मूंदकर मानने पर उनकी अच्छी बातों के साथ अनर्थकारी बातें भी पल्ले पड़ेंगी। कबीर साहेब हिन्दू-परम्परा से जुड़े थे, इसलिए वे अधिकतम वेद-शास्त्र तथा भारतीय चिन्तनधारा के शास्त्रों के ही नाम लेते हैं चाहे समर्थन में और चाहे खंडन में। वैसे वे बीच-बीच में वेद के साथ कितेब कह देते हैं। वस्तुतः वे हिन्दू परम्परा में जुड़े होने से ज्यादा हिन्दू मान्यता तथा शास्त्र के नाम लेते हैं, परन्तु उनके कहने का अर्थ यह होता है कि संसार के सभी मत-मजहबों एवं धर्मशास्त्रों में कोई भी स्वतः प्रमाण नहीं है। किसी बात की प्रामाणिकता उसकी जांच-परख के बाद ही मानी या नहीं मानी जा सकती है।

नाना मत के गुरुओं एवं पुरोहितों ने अपने धर्मशास्त्रों पर ईश्वर की दुहाई देकर जनता से उनकी सारी बातें सत्य मानने की अपील की है। उन्होंने समाज को यह झांसा दिया है कि हमारे शास्त्र किसी अतिमानवीय शक्ति ईश्वर-द्वारा भेजे गये या कहे गये हैं या ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा कहे गये हैं जो पूर्णज्ञानी एवं सर्वज्ञ थे। उनके कथन में कुछ झूठ हो ही नहीं सकता है। इसलिए हमारे शास्त्रों पर थोड़ा भी विचार न करो, किन्तु उनकी सारी बातें ज्यों-की-त्यों मान लो।

कुछ ही संप्रदायों को छोड़कर दुनिया के शेष सभी मजहबों एवं परंपराओं में तथाकथित ईश्वर तथा देवताओं को खुश करने के लिए जीव-हत्या का विधान है जो महापाप है। परन्तु यह इसलिए चलता है कि इसके लिए ईश्वरीय या आप्त-प्रमाण वचन का झांसा दिया जाता है। मेरे मजहब के आदमी आस्तिक, दीनदार तथा पवित्र हैं और दूसरे मजहबों के आदमी नास्तिक, बेदीन तथा अपवित्र हैं, क्योंकि ऐसा हमारी इलहामी-किताबों तथा ईश्वरीय-शास्त्रों में लिखा है।

जन्म एवं कुल से ही विविध वर्ग के लोग छूत या अछूत होते हैं, ऊंच या नीच होते हैं, क्योंकि ऐसा ही हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है। प्रभु-वाणी ही ऐसी है। प्रभु ने ऐसा कहा है। यह ईश्वर-वचन, खुदाई-कलाम तथा आप्तवाणी ऐसा धोखा है कि इसी की आड़ में विविध मजहब के लोग आम जनता को दिग्भ्रमित कर उनका बौद्धिक तथा अन्य प्रकार का शोषण करते हैं। ईश्वरीय-वचन तथा आप्त-वचन का धोखा जब एक बार किसी के दिमाग पर बैठा दिया जाता है तब उसे तब तक मूढ़ बनाया जाता है जब तक कि वह इस धोखे से न निकले।

मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई किताब संसार में भेजी हो। यदि कोई कहता है कि हमारी किताब मानवेतर शक्ति-द्वारा लिखी या भेजी गयी है तो वह छल-कपट से पूर्ण है। अब रहा आप्त-वचन। आप्तपुरुष उसे कहते हैं जो अपने जीवन में पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है। परन्तु उनको सर्वज्ञ मान लेना भूल है। कोई पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है तो वह चाहे जिस मत-मजहब का हो, मानवता के लिए वरदानस्वरूप है, पूज्य है। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वह भी सर्वज्ञ नहीं है। उसकी हर बात बिना जांचे-परखे मानने की बात करना भूल है। एक कवि ने बड़ा अच्छा लिखा "कोई जाहिद (संयमी) है, परन्तु रास्ता भूला है, तो मैं उसका साथी कैसे बनूं; क्योंकि वह कहता है कि अल्लाह है और मैं कहता हूं कि अल्लाह मैं ही हूं।"[१] एक ऐसा आदमी है जो पूर्ण संयमी है, सच्चा है, ईमानदार है और उसका मन निरंतर संतुष्ट है, अर्थात वह जीवन्मुक्त है; परन्तु यदि वह साइकिल का पंचर बनाना नहीं जानता है तो उसके विषय में उसके वचन कैसे प्रमाण माने जा सकते हैं! इसलिए जिसे आप्त[२] पुरुष कहते हैं उसकी बातों को भी जो समझ में न आये जांच-परख करने के बाद ही स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए। जो बात तर्क, बुद्धि, युक्ति, विश्व के नियमों तथा अनुभव में न आये उस पर पुनर्विचार करना और उसकी जांच-परख करना अति आवश्यक है। संसार में कोई एक भी पुस्तक एवं शास्त्र स्वतः प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए, किन्तु सभी बातों पर विचार करना चाहिए।

शास्त्रों को आदर न देना मानो अपने तथा मानवता के लिए घात करना है। उन्हें चोट पहुंचाकर अपनी ही हानि करना है। परन्तु यदि हम ईश्वर तथा आप्त की दुहाई देकर

---

१. जाहिदे गुमराह का मैं किस तरह हमराह हूँ।
वह कहे अल्लाह है और मैं कहूँ अल्लाह हूँ।।

२. आप्त का अर्थ है प्राप्त या पहुंचा हुआ।

शास्त्रों की हर बात सिरे से स्वीकारते हैं तो मानो खाई में गिरते हैं। इसलिए हमें सभी मजहबों के धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए उनकी बातों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जांच-परख करना चाहिए। इसी में सबका आदर है, सत्य का बोध है और सबका कल्याण है।

सद्गुरु कहते हैं कि बटोही मानव! तूने धर्मशास्त्रों की सही-गलत सारी बातों पर विश्वास कर अपने आप को धोखे में डाल दिया और ठगा दिया। परन्तु यह समझ लो कि जहां गुरु तथा पुरोहित लोग युक्ति और विवेक से न समझाकर केवल स्वतः प्रमाण के जोर से समझा रहे हैं वहां दाल में काला है। वहां असत्य है, हिंसा है और धोखा है। देखो, बधिक-मछुवारा बंसी में चारा लगाकर उसे पानी में डालता है। वह मछलियों को धोखा देता है कि मैं तुम्हें चारा खिला रहा हूं। परन्तु तथ्य यह होता है कि मछलियां चारे के लोभ से उसे अपने मुख में ले लेती हैं और चारे के भीतर रहे हुए लोह के कांटे मछलियों के गलफड़ को बेधकर उन्हें फंसा लेते हैं और इस प्रकार मछलियां मारी जाती हैं। धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर ऐसा ही किया जाता है। इसलिए साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने जिसमें केवल विश्वास किया है और विवेक का आश्रय नहीं लिया है, वह 'बंसी कसी' है। अर्थात वह तेरे लिए बंसी-जैसा फंदा है।

उक्त तर्कयुक्त बातें सुनकर शास्त्रों के भक्त लोगों ने अपनी भावना का बयान दिया कि ये तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं, ये ईश्वरीय एवं खुदाई बातें हैं, आप्त वचन हैं, इन पर हम थोड़ा भी विचार नहीं कर सकते। यदि इन पर हम विचार करते हैं तो नास्तिक, बेदीन, काफिर एवं अपवित्र हो जायेंगे। गुरुओं ने इन शास्त्रों की बातें हमारे ऊपर थोप दी हैं। उन्होंने कह दिया है कि यह धर्मशास्त्र ईश्वर-वाणी है, आप्त-वचन है। इसे इनकार न करना, अन्यथा नरक में जाओगे। तो महाराज! हम शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उन पर विचार नहीं करते।

कबीर साहेब उक्त लोगों को फटकारते हुए समझाते हैं कि तुम लोग वैसे नकली ज्ञान से अपनी रक्षा चाहते हो जैसे किसी राजा पर उसका हमलावर शत्रु हमला करने वाला हो और यह बात उस राजा ने सुन ली हो, तो वह अपने नगर के चारों तरफ गोबर की दीवार का परकोटा उठवाये कि इससे हमारी शत्रु के हमले से रक्षा होगी, तो वह राजा कितना नादान है! गोबर की दीवार को ढहाने में कितनी देर लगती है! जैसे गोबर का किला बेदम है वैसे ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए यह बात बेदम है कि यह अमुक शास्त्र में लिखी है इसलिए सत्य है। लोग बातें करते समय कहते हैं कि साहेब, जरा ध्यान दीजिये, यह बात अमुक शास्त्र में लिखी है, यह प्रभु-वचन है, इसे कैसे नहीं मानोगे! वस्तुतः हमें यह कभी नहीं सोचना या कहना चाहिए कि यह बात कहां लिखी तथा किसने कही है; किन्तु यह सोचना चाहिए कि क्या लिखी है तथा क्या कही है! हजारों शास्त्र-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते। गोबर के परकोटे की आड़ से यदि हमलावरों से युद्ध करना चाहोगे तो समझ लो कि तुम्हें रणक्षेत्र से भाग खड़ा होना पड़ेगा। जो विवेक तथा अनुभव को छोड़कर शास्त्रों के अंध-प्रमाणों पर बात करेगा उसे सत्संग छोड़कर भाग खड़ा होना पड़ेगा। वह तो निर्णय से मुख छिपाने वाला होगा। अंधप्रमाण का पुछलग्गू निर्णय से कतराता है।

"मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम। तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम।" कई शास्त्र कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है और उस परमात्मा में मन-बुद्धि की पहुंच नहीं है। अर्थात हम उसे मन तथा बुद्धि से नहीं जान सकते। इस प्रकार के प्रमाण तो शास्त्रों में बहुत हैं, परन्तु यहां एक देना काफी होगा। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाक् पहुंचता है, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[१]

साहेब कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहर की किसी भी वस्तु को जानने के लिए मन-बुद्धि आदि स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियां ही साधन हैं। इनसे जो कुछ जानने में आता है वह सब जड़ विषय है। इसीलिए कहा जाता है कि परमात्मा मन-बुद्धि से नहीं जाना जा सकता है। मन-बुद्धि की उसमें पहुंच ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि सारी खोज का साधन आंख आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियां हैं। यदि इनसे परमात्मा की खोज नहीं होती है तो परमात्मा का ज्ञान कैसे होगा? उसकी खोज कैसे होगी?

व्यक्ति की आत्मा एवं चेतनस्वरूप भी मन-बुद्धि से परे है, परन्तु वह तो मन-बुद्धि का प्रकाशक है। उसे जानना नहीं है किन्तु वही सबको जानता है। परन्तु जब आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना की जाती है तब यह तर्क स्वाभाविक सामने आता है कि वह कैसे मिलेगा! जो मन-बुद्धि से जाना जायगा वह तो जड़ माया होगा तब उसे किस साधन से जाना जायेगा! सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहरी वस्तु की खोज करने का साधन मन-बुद्धि ही है और यदि वह उनसे नहीं खोजा जा सकता है, तो वह मनुष्य को मिल भी नहीं सकता। फिर वह यदि कहीं हो भी तो उससे मनुष्य की आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और यह भी सच है कि जो मन-बुद्धि में आता है वह पंचविषय-दृश्य है।

साहेब कहते हैं कि उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य धारण करो। तुमसे अलग कहीं कोई ऐसा परमात्मा नहीं है जो तुम्हें मिलेगा और तुम्हें कुछ देगा। तुम स्वयं परमात्मा हो। तुम सारे विकारों को छोड़ दो तो बस तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। तुम्हें केवल इच्छाएं छोड़नी हैं; कुछ पाना नहीं है। न तुम्हें परमात्मा पाना है, न मोक्ष पाना है, न शांति पाना है। तुम्हारे मन की सारी इच्छाएं छूट जाने पर तुम स्वयं परमात्मा हो, मुक्त तथा शांत हो। इसलिए तुम उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य पकड़ो, स्थिर होओ। तुम्हारा अधैर्य, तुम्हारी इच्छाएं, तुम्हारा निजस्वरूप का अज्ञान ही तुम्हें भटका रहे हैं। अतएव तुम अधैर्य, इच्छाएं तथा अज्ञान छोड़ो, तुम अपने आप में तृप्त हो जाओगे।

---

१. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।।

(केन उपनिषद् १/३)

"मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम।" उक्त बातें सुनकर भक्तों का मन लज्जित हो गया। उन्होंने सोचा कि हम शास्त्रों की दुहाई देकर तथा अलग परमात्मा खोजकर बहुत गलत कर रहे थे। साहेब ने ठीक समझाया है। ऐसा सत्य-द्रष्टा दुर्लभ है। ऐसे गुरु के चरणों में सर्वस्व निछावर करना चाहिए। इतना निष्पक्ष एवं सत्यज्ञाता गुरु परम वंदनीय एवं श्रद्धेय हैं।

साहेब ने पुनः उन भक्तों से कहा "फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम। कालबूत सब आहि, हो रमैया राम।" हे बटोही! यहां से जाकर, इन सत्य निर्णयों को भूलकर पीछे फिर न बाहर ईश्वर खोजने लगना! तेरी आत्मा एवं चेतना से अलग ईश्वर-परमात्मा सब कालबूत है, कृत्रिम है, नकली है। तुम्हारी आत्मा से अलग परमात्मा केवल मन से बनाया हुआ है, इसलिए नकली है। अतएव बाहर का नकली परमात्मा छोड़ो और स्वस्वरूप परमात्मा में विश्राम करो।

"कहहि कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम। मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम।" कबीर साहेब ने इस पद के अन्त में कहा कि हे संतो तथा हे रमताराम बटोही जीवो! तुम सब आगे के लिए सावधान रहना और अपने मन तथा बुद्धि को अपने पास फैलाना। अर्थात अपने मन-बुद्धि का उपयोग बाहरी काल्पनिक वस्तुओं की प्राप्ति की दुराशा में न करना, किन्तु आत्म-अनुसंधान में करना। यह जीव, यह आत्मा ही मन-बुद्धि का प्रकाशक है, परन्तु मन-बुद्धि से उलटकर इनसे आत्म-शोधन में सहायता मिलती है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने मन और बुद्धि का उपयोग व्यर्थ की बातों में न करो, किन्तु अपने कल्याण में करो। मन-बुद्धि ढिग फैलाने का मतलब यही है कि उनसे आत्म-उद्धार की बातें सोची जायं।

●

फल छन्द

कैसा मिला सत्संग फल,
महिमा अमित को कहि सके।
जानत हृदय भाविक सदय,
गुरुदेव यश वाणी रुके।।
निज नयन मन शिर नम्र उर,
सेवा व भक्ती में जुटे।
तन मन व धन तृण अर्पि फल,
अविनाशि पद में अब डटे।।

चौपाई

जेहि दर्शन से जनम जनम के।
विगत क्षुधा अब शान्ति सदन के।।
स्वतः राम अभिराम रहन के।
सहित विवेक मननं सुवचन के।।

बिरहुली

हेतु छन्द

इस नित अनादि प्रवाह जग की,
मानि उत्पति जीव ये।
परब्रह्म ईश खुदाय कर्ता,
कब मिलेंगे पीव ये।।
संयोग माहि वियोग भय,
जाने नहीं भ्रम कीव ये।
भव-भय विरह नाशक बिरहुली,
करु श्रवण लहु धीव ये।।

दोहा

भव - विरही भव - बीज को, करै बिरहुली दग्ध।
सो विचारि पद लेहु जिव, अब न लहहु भव बग्ध।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

नवम प्रकरण : बिरहुली

तुम्हारा लक्ष्य तुम से बाहर नहीं है

बिरहुली—१

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली॥ १ ॥
निशि-बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली॥ २ ॥
ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली॥ ३ ॥
मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली॥ ४ ॥
नित गोड़ै नित सींचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली॥ ५ ॥
छिछिलि बिरहुली छिछिलि बिरहुली। छिछिलि रहल तिहुँलोक बिरहुली॥ ६ ॥
फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली॥ ७ ॥
सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली॥ ८ ॥
सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली॥ ९ ॥
विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली॥१०॥
विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली॥११॥
जन्म-जन्म यम अन्तरे बिरहुली। फल एक कनयर डार बिरहुली॥१२॥
कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली॥१३॥

शब्दार्थ—आदि = आरम्भ। अन्त = समाप्ति। बिरहुली = सर्पिणी (बिरहुला = सर्प), परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है प्रिय के वियोग से पीड़ित विरही। जर = जड़। डार = शाखा। मूल = कारण। मास असारे = आषाढ़ महीना, मानव शरीर। सातों बीज = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार। छिछिलि = फैल गया। फूल एक = एषणा,

वासना। लोढ़े=तोड़ते हैं। बन्दि=वंदनीय, सम्मानित। राउर=श्रेष्ठ। बैतल=पागल। विषहर मंत्र=विष का प्रभाव हरने वाला मंत्र, सच्चा ज्ञान। गारुड़=सांप का विष दूर करने वाला मंत्र, (गारुड़ी=सांप का जहर उतारने वाला, विष-वैद्य)। लोढ़त=तोड़ते, लुनते। यम=वासना। अन्तरे=दूर। कनयर=कनेर, पांच प्रकार के फूलों वाले कनेर पेड़ होते हैं—उज्ज्वल, काला, लाल, पीला और गुलाबी, उज्ज्वल कनेर के फूल और जड़ घोटकर पिलाने से सर्प-विष दूर होता है। सच=सत्य, स्वरूपज्ञान।

भावार्थ—हे जीव! तुम्हारा न आरम्भ है और न नाश है। तुम निर्विकार हो, इसलिए तुम्हारा कोई दूसरा कारण एवं जड़ नहीं है और न तुम्हारी अन्य शाखा है न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से पैदा हुए हो और न तुमसे अन्य कुछ पैदा हुआ है।।१।। तुम्हारे देहातीत शुद्ध चेतनस्वरूप में न दिन है, न रात है, न जगत के कारणभूत बीज हैं, न पवन है और न पानी है।।२।। निजात्म तत्व को पाने के लिए ब्रह्मादि-सनकादिकों ने असंख्य योग-प्रक्रियाओं का वर्णन किया है।।३।। जैसे आषाढ़ महीने में पानी बरसने पर लोग खेतों में बीज बोते हैं, वैसे जीव मानव-शरीर रूपी कर्म-भूमिका में पांचों विषय, मन तथा अहंकार ये सातों बीज बोता है। अर्थात अहंता-ममतापूर्वक पांचों विषयों का व्यापार करता है।।४।। नाना कर्मों-द्वारा यह अंतःकरणरूपी खेत मानो रोज गोड़ा और सींचा जाता है और इसमें संसार-विस्तार के नित्य नयी-नयी शाखाएं तथा पल्लव-पत्र आते हैं।।५।। यह कर्मों का वृक्ष मन, वाणी तथा शरीर रूपी तीनों लोकों में फैल जाता है।।६।। इस कर्म-वृक्ष में एषणा एवं वासना का एक फूल खिलता है। विचारकर देखिए तो संसार में सबके मन-उपवन में यही फूल खिला है।।७।। संतजन इस फूल को तोड़ देते हैं इसलिए वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से रहित होकर कृतार्थ हो जाते हैं और जगत में श्रेष्ठ और वंदनीय होकर मुक्त हो जाते हैं।।८।। परंतु अपने से अलग परमात्मा मानकर उसके विरह में पीड़ित भक्त लोग मानो उस वासना-फूल की वंदना करते हैं। भले परमात्मा पाने की वासना है, परंतु है तो अपनी आत्मा से अलग की वासना ही। अतएव उस वासना-फूल में से जड़ाध्यास रूपी पागल-सांप निकलकर उन्हें काट लेता है।।९।। यद्यपि विवेकी पारख की अपार वाणी बोलते हैं, परंतु विष को दूर करने वाला मंत्र उनको नहीं लगता जो अलग परमात्मा मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से व्यथित हैं।।१०।। हे विरही जीवो! तुमने निजस्वरूप से भिन्न कुछ भी पाने की वासना बनाकर मानो क्यारी में विष के बीज बो दिये हैं। अब उनके फूल-फल चुनने में पश्चाताप क्या करते हो!।।११।। हे विरही जीवो! वासनाओं ने तुम्हें जन्म-जन्मांतरों से निजस्वरूपस्थिति से दूर ही किया है। स्वरूपज्ञानपरक निर्णय वाणी कनेर वृक्ष की तरह कड़वी होती है, परंतु उसका फल (जड़) ही सर्प-दंस का विष दूर कर सकता है।।१२।। कबीर साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! तभी सत्य का अमृतजीवन पाओगे जब मेरा कड़वा फल चखोगे।।१३।।

व्याख्या—जीव अपने स्वरूप को न समझकर भटकता है। वह अपना प्रिय, अपना परमात्मा अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके लिए पीड़ित होता है। प्रिय के वियोगजनित पीड़ा को ही विरह कहते हैं और ऐसा विरह जिसे हो, उसे विरही कहते हैं। जैसा कि शब्दार्थ में बताया गया है कि बिरहुली का अर्थ होता है सर्पिणी और बिरहुला

का अर्थ सर्प। परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है जो विरह-सर्प से डंसा जाकर पीड़ित है वह विरही भक्त।

साहेब कहते हैं कि हे विरही भक्तो, परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके भ्रमजनित वियोग से पीड़ित होकर भटकने वालो! तुम जरा अपनी तरफ देखो। तुम स्वयं पूर्णकाम हो। तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। "आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली।" हे जीव, न तुम्हारा आदि है और न अन्त। न तुम्हारी कभी शुरुआत हुई है और न कभी भी आखिर होगा। तुम सदा से हो और सदा रहोगे। तुम अनादि एवं अनंत हो। तुम्हारी कोई दूसरी जड़ नहीं है। तुम्हारा कोई दूसरा मूल नहीं है और न तो तुम दूसरे के मूल हो। न तुम्हारी कोई शाखा है और न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से हुए हो और न तुमसे कोई होने वाला है। तुम नित्य, अनादि, अनंत, अजर, अमर, अविकार, शुद्ध-बुद्ध चेतन हो।

इतना ही नहीं, "निशि-बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली।" रात, दिन, पवन, पानी तथा बीज, कुछ भी तुम्हारे स्वरूप में नहीं है। देहेंद्रिय संघात में रात-दिन का बोध होता है। इनका संबंध शुद्ध चेतन से कुछ भी नहीं है। जब साधक मन को समेटकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, वहां ही रात-दिन का भास नहीं होता, फिर देहेंद्रिय संघातरहित शुद्ध चेतन में रात और दिन तथा उनमें होने वाले व्यापार की कहां गंध है! इसी प्रकार पवन, पानी और जगत-बीज, यह सब संसार की चीजें हैं। शुद्ध चेतन में इनकी कोई पहुंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि सारे विकारों तथा जड़ दृश्यों से रहित अपना शुद्ध चेतनस्वरूप है। अखंड, अजर, अमर है, तब उसमें कुछ मिलना या बिछुड़ना कैसे हो सकता है! जीव से कौन-सा परमात्मा बिछुड़ा है जो उससे मिलने के लिए उसे तड़फड़ाना चाहिए। इस अखंड चेतन स्वरूप को क्या मिलकर उसमें समायेगा! अखंड में कुछ समाता नहीं है। जो स्वयं अखंड निर्विकार, स्वतः एवं पूर्णकाम है, वह अपने स्वरूप को भूलकर ही बाहर परमात्मा खोज रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि विवेकियों की संगत में अपने आपका यथार्थ बोध प्राप्त करे।

"ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली।" ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि प्राचीन महापुरुषों, ज्ञानियों तथा योगियों ने निजात्मतत्व को पहचानने एवं उसमें स्थित होने के लिए अपार योग की प्रक्रियाओं का कथन किया है। अनेक ज्ञानियों ने तो आत्मा से अलग परमात्मा माना ही नहीं है। जिन्होंने माना भी है, उन्होंने भी किसी-न-किसी प्रकार घूमकर आत्मा को ही परमात्मा कह दिया है। किन्तु निजस्वरूप की ठीक पहचान न होने से लोग स्थित नहीं हो पाते, बाहर परमात्मा मानकर भटकते हैं।

"मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली।" जैसे गरमी के बाद आषाढ़ महीने में वर्षा शुरू होती है और जमीन शीतल एवं नम हो जाती है, तब किसान खेतों में बीज बोते हैं, वैसे अन्य योनियों के बाद जीव जब मानव-शरीर में आता है तब यहां वह कर्मों के बीज बोता है। वे कर्म-बीज पांचों विषयों में अहंता-ममता करने से ही होते हैं। अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार, ये मानो सातों बीज बन

जाते हैं। जहां तक दृश्य जड़ है सब पांच विषय है। इन पांचों विषयों में सुख की मान्यता एवं अहंकार करने से सारे कर्म-बन्धन बनते हैं; अतएव मानो पांच विषय, मन तथा अहंकार ही कर्मबीज हैं। ये सब अन्य योनियों में भी रहते हैं, परन्तु वहां कर्म-बन्धन नहीं बनते। कर्म-बन्धन केवल मनुष्य-शरीर में ही बनते हैं और यहीं मिटते भी हैं।

"नित गोड़ै नित सीचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली।" जैसे खेत में बीज डालकर पौधे हो जाने पर किसान फसल के लिए गोड़ता, सींचता है, वैसे संसारी जीव राग-द्वेषादि से अपने कर्म की फसल को गोड़ते-सींचते हैं। इसलिए उनके संसार-वृक्ष में नित्य नयी-नयी शाखाएं आती हैं, पत्ते और पल्लव आते हैं। अर्थात कर्मी जीव अपने बन्धनों को नित्य बढ़ाता जाता है। फिर तो उसका संसार-वृक्ष इतना फैलता है कि उससे तीनों लोक छा जाता है। मन, वाणी और इन्द्रियां ही मानो जीव के तीनों लोक हैं। कर्मी जीवों के ये तीनों कर्म-संस्कारों से छा जाते हैं। मनुष्य के दिन जितने बीतते हैं, वह सांसारिकता से उतना बोझिल होता जाता है।

"फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली।" कर्म के वृक्ष में एक प्रसिद्ध फूल खिलता है जिसको एषणा एवं वासना कहते हैं। संसार में जहां तक जीव हैं सबके मन में यही फूल है। अन्य जीवों की वासनाएं बड़ी हलकी तथा धुंधली होती हैं। मनुष्य की वासनाएं प्रबल होती हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा, इन तीन एषणाओं में सभी मनुष्य बंधे हैं। यह एषणा, चाहना एवं वासना ही फूल है जो सबके मनरूपी उपवन में खिला है।

"सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली।" उक्त फूल को सन्त जन तोड़ते रहते हैं। अर्थात सन्त वह है जो अपने मन में उठी हुई एषणाओं, चाहनाओं एवं वासनाओं को त्यागता रहे। जैसे किसी वृक्ष में कली एवं फूल आये और माली यदि उन्हें तोड़ता रहे तो आगे फल होने की कोई संभावना नहीं है, वैसे यदि मनुष्य अपने मन की एषणाओं एवं इच्छाओं को त्यागता रहे तो वह भव-बंधनों से मुक्त हो जायगा। संत यही करते हैं। यही करने वाले को ही संत कहते हैं। वैसे साधना के प्रथम अवसर में ही एषणाएं रहती हैं जिन्हें साधक को त्यागना पड़ता है। साधना की पूर्ण परिपक्व अवस्था हो जाने पर मन में एषणाएं उठती ही नहीं। और यदि कोई एषणा आये भी तो संत उस कली को तोड़ फेंकते हैं। संत का यही संतत्व है एषणा एवं इच्छा रूपी फूल को निरंतर तोड़ते रहना।

जो इस प्रकार एषणा-विजयी एवं इच्छा-त्यागी हो जाता है वह संसार का वंदनीय हो जाता है और राउर हो जाता है। वह इस संसार से श्रेष्ठ एवं वंदनीय होकर जाता है। बंदि कहते हैं जो जेलखाने में बन्द हो अथवा जो वंदनीय हो। यहां वंदनीय अभिप्राय है। और राउर कहते हैं अंतःपुर को तथा श्रेष्ठ को, यहां अर्थ श्रेष्ठ है। इच्छाजित के लिए यहां दो विशेषण हैं, एक वंदि तथा दूसरा राउर। एक का अर्थ वंदनीय तथा दूसरे का श्रेष्ठ है। जिसने वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा का सर्वथा त्याग कर दिया है वह इस संसार में वंदनीय हो जाता है, महान हो जाता है। यह तो बाहरी बात हुई। वस्तुतः वह अपने

भीतर से महान शांति का सागर, निर्भय तथा सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इच्छा-त्यागी के समान कोई नहीं। सद्गुरु कबीर ने अन्यत्र कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछु नहिं चाहिए, सो साहनपति साह ।।

"सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली।" उस फल-फूल की, उस एषणा की भक्तजन वंदना करते हैं, उसकी उपासना करते हैं, इसलिए उन्हें उस फूल से निकलकर पागल सांप काट खाता है। यहां भक्त वह है जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है। उसे परमात्मा से मिलने की एषणा है, परमात्मा को पाने की इच्छा है। जब तक अपनी आत्मा से भिन्न कुछ भी वस्तु पाने की इच्छा है, तब तक मानो संसार की ही एषणा है। निजस्वरूप से भिन्न ईश्वर कालबूत ही तो है। अर्थात नकली ही तो है। जो कुछ अपनी आत्मा से अलग है वह माया है, जगत है, भले ही उसका नाम परमात्मा रख लिया गया हो। अतएव उसकी एषणा एवं कामना रखने से वियोगजनित पीड़ा होगी ही, क्योंकि वह कुछ नहीं है। वह मिलने वाला ही नहीं है। वह तो केवल विरहियों को तड़फाने वाला है। किसी विरही ने कहा है—

जो में ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम न करियो कोय।।
प्रेम कियो रघुनाथ सो, बाढ़ी विरह अपार।
'राम सखे' सहि जात नहिं, ज्यों नागिन विष झार।।

जीव से अलग कोई परमात्मा नहीं, जो मिले। रघुनाथ का अर्थ यदि राजा दशरथ का पुत्र श्री रामचन्द्र है तो वे भी नहीं मिल सकते, क्योंकि उनका शरीर छूटे हजारों वर्ष बीत गये हैं। अलग से भगवान पाने की इच्छा रखने वालों को जीवनभर केवल रोना-तड़फना है। विरह के बावला सांप ने जिसे काट लिया है उसे जीवनभर केवल परेशान रहना है। जो जीवनभर छटपटाता रहे क्या उसे माना जायेगा कि वह परमात्मा को पा गया है! परमात्मा को पाने के लक्षण तो हैं आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम एवं तृप्तकाम हो जाना और यह तभी होगा जब अपनी आत्मा से अलग परमात्मा पाने का भ्रम मिट जायेगा। वस्तुतः निजस्वरूप का बोध, निजस्वरूप में स्थिति ही परमात्मा पाना है। आत्मा ही जब पूर्णकाम हो जाता है, अर्थात जब उसकी सारी एषणाएं छूट जाती हैं तब वही मानो परमात्मा हो गया। परन्तु विरही भक्तों की दशा इससे उलटी होती है। वे अलग से परमात्मा पाने के भ्रम को जीवनभर पाले रहते हैं और उसको लेकर जीवनभर रोते-कल्पते रहते हैं।

"विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली।" सर्पदंस से व्याप्त विष को दूर करने वाला मंत्र विषहर मंत्र कहलाता है। यह समझ लेने की बात है कि कुछ अंडबंड या सुव्यवस्थित ही सही, शब्दों का समूह कहकर छू कर देने से सांप का विष नहीं दूर होता। मंत्र के झाड़ने से सांप या बिच्छू का विष बिलकुल नहीं दूर होता। ऐसा करना केवल अंधविश्वास है। यह विज्ञानसिद्ध बात है कि मंत्र से विष नहीं दूर होता। विष तो

औषध से ही दूर होता है। यहां गारुड का शुद्ध रूप गारुडी है जो सर्प-विष को दूर करता है। मंत्र से झाड़ने वाले को भी गारुडी कहते हैं तथा औषध से विष दूर करने वाले विष-वैद्य को भी गारुडी कहते हैं। यहां विषहर मंत्र और गारुडी क्रमशः स्वरूपज्ञान तथा सद्गुरु के लिए रूपक मात्र है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यद्यपि सद्गुरु-गारुडी अपार ज्ञान की बातें बोलते हैं, तथापि विषहर-मंत्र एवं स्वरूपज्ञानपरक बातें विरही जीव नहीं मानते। जो भक्त लोग बाहर से ऐसे भगवान को पाने के लिए तड़फड़ा रहे हैं जिनके सारे अंग कमलों के समान सुन्दर तथा देखने में कोमल-कमनीय हैं या इसके अलावा साकार-निराकार किसी प्रकार ईश्वर का नक्शा बनाकर उससे मिलने के लिए लालायित हैं, उन्हें विवेकवान कितना ही समझावें कि यह सब तुम्हारे मन का धोखा है, तुम्हारी चेतना, तुम्हारी आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है तो वे इस बात को नहीं समझते। सच है—

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जिवै, उठे कराहि-कराहि ।। साखी, ७३ ।।

"विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" हे विरही जीवो! तुमने बाहर से कुछ पाने की इच्छारूपी विषबीज बोकर उसकी फसल तैयार कर ली है, अब उसके असन्तोषरूपी फूल-फल चुनने में क्या पछतावा कर रहे हो! संसार में देखा जाता है कि आदमी जब संसार के भोगों का तीव्र इच्छावाला हो जाता है तब वह पुण्य हो या पाप, सारे कर्म करके उसे पाना चाहता है। उसे भोग तो मन के अनुसार मिल नहीं सकते, और यदि मिल भी जायं, तो सब छूट जाते हैं। इन अपूर्ण भोगों की तीव्र इच्छा के वश होकर जो शुभाशुभ कर्म कर लिये जाते हैं, उनके फल जीव को संसार-नगर में भटकाने वाले एवं दुख देने वाले हो जाते हैं। जो विष की क्यारी बोयेगा उसके फूल-फल उसे लोढ़ने पड़ेंगे। रूपक में तो विवशता नहीं है। माली विष का पेड़ लगाकर भी उसके फूल-फल न चुने, उसे काटकर फेंक दे तो बन सकता है, परन्तु यह रूपक जिस अर्थ में दिया गया है उसमें स्ववशता नहीं है। कर्म कर लेने के बाद उसके फल भोगने ही पड़ेंगे, चाहे कोई भी हो। "विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" इसमें दो अर्थों का श्लेष है। एक अर्थ है स्थूल शुभाशुभ कर्म तथा दूसरा अर्थ है बाहर से परमात्मा पाने का भ्रम। अंततः दोनों अर्थों का मूल एक ही है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाने की चेष्टा करेगा वह मानो विष के बीज बो रहा है और उसे उसके फल में केवल असन्तोष एवं अभाव का ही अनुभव करना पड़ेगा।

"जन्म-जन्म यम अन्तरे बिरहुली।" जन्म-जन्मांतरों से वासनारूपी यम ने तुम्हें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर किया है। इसको सीधा कहें तो होगा कि तुम अनादिकाल से बाहर से कुछ पाने की वासना में पड़कर आत्मबोध तथा आत्मशांति से वंचित रहे हो। ये एषणाएं, इच्छाएं एवं वासनाएं ही तो जीव को भटका रही हैं। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो जो तुम्हारे मन का मात्र धोखा है। जीवन रहे तक शरीर की

रक्षा के लिए कुछ रोटी-कपड़े की आवश्यकता है। फिर ये भी शरीर के साथ छूट जायेंगे। शेष इन्द्रिय-भोग तो मन को विकारग्रस्त बनाकर छूटने वाले ही हैं। जिसे तुम पाना चाहते हो वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। अतएव यदि भटकन से मुक्ति चाहते हो, शाश्वत शांति एवं अनन्त सुख चाहते हो तो सारी वासनाएं छोड़ दो और अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

"फल एक कनयर डार बिरहुली। कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली।" साहेब कहते हैं कि जैसे उजले फूल वाले कनेर की जड़ तथा फूल को पीसकर पिलाने से सर्प-विष उतरता है, वैसे स्वरूपज्ञानपरक वाणी मानो कनेर का पेड़ है। वही तुम्हारे लिए औषध का काम करेगी। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो, स्वरूपज्ञान की वाणी तुम्हें जाग्रत करेगी कि बाहर से तुम्हें केवल धोखा मिल सकता है, तत्व तो तुम्हारे भीतर है और वह तुम्हारा स्वरूप है। साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! यदि मेरा स्वरूपज्ञानपरक विचार ग्रहण करोगे तो तुम्हें सत्य का बोध मिलेगा। बारम्बार सत्य निर्णय की वाणी पढ़ने से तथा वैसी ही वाणी सुनने से उसका मन पर प्रभाव पड़ता है। आज तक भ्रांति की वाणियों में तुम डूबे थे, इसलिए बाहर सुख तथा परमात्मा खोजते तथा भटकते रहे! अब स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान की वाणियों का अध्ययन करो, फिर धीरे-धीरे बाहर से कुछ पाने की भ्रमपूर्ण विरह-व्यथा मिट जायेगी। जब तक तुम बाहर से कुछ पाना चाहोगे, तब तक मन से पीड़ित रहोगे, और जब निजस्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब वह भ्रम दूर हो जायेगा और जीवन में पूर्ण संतुष्ट हो जाओगे।

यहां सद्गुरु एक बहुत मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि मेरी वाणी कनेर डाल का फल है जो कड़वा होता है, परन्तु उसको चखने से ही तुम्हें सत्य एवं शांति मिलेगी। सत्य कड़वा होता है क्योंकि वह अविवेकी मन के प्रतिकूल होता है।

●

फल छन्द

निज-निज गुणों युत गुण-गुणी,
रवि तेज इव सो अनादि जू।
चैतन्य जड़ दुइ वस्तु हैं,
इसकी न उत्पत्ति बादि जू।।
अभाव से नहिं भाव हो,
सद् भाव ही सु अनादि जू।
जड़ कार्य-कारण से रहित,
पारख स्वछन्द समाधि जू।।

चौपाई

पढ़ैं विरहुली अर्थ लगावैं।
उल्झनि शोक समूह नशावैं।।
गुरु कबीर निज रूप प्रखावैं।
पारख पाय सोई रहि जावैं।।

हिण्डोला

हेतु छन्द

मनमोद हेतु हिण्डोल में,
झूलत लखे संसार को।
अतिही भयंकर मृत्यु हित,
जन्मादि ताप अपार को।।
हा! जन्म अगणित साजसाजे,
भोग विषयन धार को।
लहि हर्ष-शोक पतंग मानुष,
भ्रमत चक्र अधार को।।

दोहा

अग्नि जले जल में डुबे, फाँसी कष्ट अपार।
सुख-वश कहँ नहिं झूलहीं, देखत संत पुकार।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

दशम प्रकरण : हिण्डोला

भ्रम का हिण्डोला

हिण्डोला–१

भरम हिण्डोला झूले, सब जग आय ॥ १ ॥
पाप-पुण्य के खम्भा दोऊ, मेरु माया माँहि ॥ २ ॥
लोभ भँवरा विषय मरुवा, काम कीला ठानि ॥ ३ ॥
शुभ अशुभ बनाये डाँड़ी, गहे दूनों पानि ॥ ४ ॥
कर्म पटरिया बैठि के, को-को न झूले आनि ॥ ५ ॥
झूलत गण गन्धर्व मुनिवर, झूलत सुरपति इन्द्र ॥ ६ ॥
झूलत नारद शारदा, झूलत ब्यास फणिन्द्र ॥ ७ ॥
झूलत बिरंचि महेश शुक मुनि, झूलत सूरज चन्द्र ॥ ८ ॥
आप निर्गुण-सगुण होय, झूलिया गोबिन्द ॥ ९ ॥
छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय ॥१०॥
खानि बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय ॥११॥
खण्ड-ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कितहूँ नाहिं ॥१२॥
साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं ॥१३॥
शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं ॥१४॥
काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं ॥१५॥
तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय ॥१६॥
साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय ॥१७॥

ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान ॥१८॥
कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन ॥१९॥

शब्दार्थ—मेरु = दोनों खम्भों के बीच की लकड़ी जो झूले को संतुलित रखती है। भँवर = भंवरकली, कील में जड़ी हुई वह कड़ी जो सब ओर घूम सके। इसके आधार से झूला सब ओर घूमता है। मरुवा = वह लकड़ी जिसमें हिंडोला लटकाया जाता है—'मरुआ लगे नग ललित लीला, सुविधि सिल्प सँवारि'—सूरदास, बंडेर। पटरिया = जिस पर बैठकर लोग झूलते हैं। शारदा = सरस्वती, दुर्गा। फणीन्द्र = शेष जी। गोबिन्द = गो-पालक कृष्ण जी। छौ = छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत। चार = चारवेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। चौदह = चौदह विद्याएं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सात = सात स्वर्ग। एकइस = इक्कीस भुवन। खानी = मोटी माया। बानी = झीनी माया। अस्थिर = स्थिर। निस्तरि = मुक्त होकर। शारदी = शरद ऋतु संबंधी। काल-अकाल = समय की अच्छी-बुरी स्थिति। सुजान = ज्ञानी। सत = जो तीनों काल में रहे, सत्य, निजस्वरूप का बोध। सुकृत = पुण्य, सत्कर्म।

भावार्थ—संसार के सारे जीव भ्रम के हिंडोले पर बैठकर झूलते हैं ॥१॥ इस भ्रम के हिंडोले में पाप और पुण्य के खंभे हैं, माया का मेरु है, लोभ की भंवरकली है जो झूले को घुमाती है, विषय का मरुआ है जिसमें झूला पड़ा है, इसमें काम के कीले ठुंके हैं, शुभ और अशुभ के दो डंडे हैं जिन्हें मनुष्यों ने दोनों हाथों से पकड़ रखा है और कर्म की पटरी है जिस पर सब जीव बैठकर झूलते हैं। इस झूले में भला कौन-कौन नहीं आकर झूला! ॥२-५॥

इस झूले में शिव के गण, गंधर्व, श्रेष्ठ मुनि, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमनि, सूर्य, चंद्र, यहां तक कि निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपाल कृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं ॥६-९॥

चार वेद, छह शास्त्र तथा चौदह विद्याएं रचकर और सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन एवं तीन लोकों की कल्पनाकर सब जीव भ्रम-हिंडोले पर झूल रहे हैं। खोजकर देखो, खानी और वाणी के जाल में उलझे हुए जीव स्थिर नहीं हैं ॥१०-११॥ इस ब्रह्मांड के खंड-खंड में खोजकर देख लो कहीं इस झूले से छूटने का साधन नहीं है ॥१२॥ हे सत्य शोधक! संतों की संगत में जाकर अनुसंधान करो कि जीव कृतार्थ होकर कहां जायेगा! ॥१३॥

जहां चन्द्रमा, सूर्य, रात-दिन, शरद आदि ऋतुएं, जड़ तत्व एवं उनके कार्य, उत्पत्ति-प्रलय, समय की अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति आदि नहीं हैं, उस शुद्ध चेतनस्वरूप में कोई विरला संत स्थित होता है ॥१४-१५॥ उस अपने दिव्य स्वरूप से जीव अनादिकाल से बिछुड़ा (विस्मृत) है और इस संसार में उलझकर अपनी स्थिति को भूल गया है ॥१६॥ अब संतों की संगत में बैठकर अपनी उस स्थिति का अनुसंधान करो, जिससे पुनः उलटकर संसार में न लीन होना पड़े ॥१७॥ जो पूर्ण विवेकवान संत हैं उन्हें इस भ्रम-हिण्डोले में झूलने का भय नहीं रह जाता। वे इसके प्रलोभन से सर्वथा मुक्त हो जाते

हैं॥१८॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको निज सत्य स्वरूप का बोध मिल गया और मन-वाणी-कर्मों की पवित्रतारूपी सुकृति की प्राप्ति हो गयी, वह लौटकर भ्रम-हिंडोले में नहीं झूलता॥१९॥

व्याख्या—जीव जिस भ्रांति में अनादिकाल से भटक रहा है उसे झूले का रूपक देकर सद्गुरु ने कैसा मार्मिक ढंग से समझाया है; यह सोचते ही बनता है। जैसे खंभे, मेरु, मरुआ, भंवरकली, कांटी, डंडे, पटरी आदि के बिना झूले का रूप नहीं खड़ा होता, वैसे पाप-पुण्य, माया, लोभ, काम, शुभाशुभ वासनाएं, कर्म आदि के बिना यह भ्रम का हिंडोला, यह सांसारिकता एवं जन्म-मरण का हिंडोला नहीं खड़ा होता।

जिस हिंडोले में सब जीव झूल रहे हैं, वह भ्रम का है। भ्रम यह है कि सुख मेरी अपनी आत्मा से अलग है। इस भ्रम ने जीव को विषयों का दास बना दिया है। जो लोग विषयों की दासता से अपने आपको छुड़ा लेते हैं, वे मोक्ष और परमात्मा को अपने से अलग मानकर उनकी खोज करने लगते हैं, और इस भटकाव को वे धर्म मान लेते हैं। अतएव विषय-बंधन तो वैराग्य उदित होने पर छूट भी जाते हैं, परन्तु ईश्वर और मोक्ष खोजने का भ्रम नहीं मिटता, क्योंकि आदमी इन्हें जीवन का परम लक्ष्य समझता है। इस काम को समाज-द्वारा बड़ी श्रद्धा से देखा जाता है और देखा जाना भी चाहिए, परन्तु यदि मनुष्य दिशा भूलकर चलता है तो उसके चलने से उसे गंतव्य नहीं मिल सकता। विषयों में सुख खोजना घृणित कार्य है, परन्तु मुक्ति और ईश्वर खोजना पुनीत कार्य है, किन्तु मोक्ष और ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग खोजना विपरीत दिशा में जाना है। इस प्रकार अपनी आत्मा से अलग अपने कल्याण के लिए कुछ भी खोजना भ्रम-हिंडोले पर झूलना है।

इस भ्रम के हिंडोले में पहला अवयव है दो खंभे। झूला डालने के लिए पहले खंभे ही गाड़ने पड़ते हैं। इस भ्रम-हिंडोले के खंभे पाप और पुण्य हैं। जीव विषय-सुखों के लिए कर्म करता है और कर्म में दो प्रकार होते हैं एक पाप दूसरा पुण्य। जो कुछ करने से दूसरे को पीड़ा मिले तथा अपना मन मलिन हो वह पाप है और जो कुछ करने से दूसरों को सुख मिले और अपना मन प्रसन्न हो वह पुण्य है। ये पाप-पुण्य इस भ्रम-हिंडोले के स्तंभ हैं। पाप-कर्म तो बांधते ही हैं, पुण्य-कर्म भी उनमें अहंता-ममता हो जाने से बांधते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पाप तो बिलकुल करे ही नहीं, पुण्य भी निष्काम होकर करे। जहां सकाम होकर किया गया वहां पुण्य भी बांधेगा।

झूले का संतुलन रखने वाला 'मेरु' है। इस भ्रम-हिंडोले में माया ही मेरु है। माया ही इस भ्रम-हिंडोले को संतुलित बनाये रखती है। माया कहते हैं मन के मोह को। दृश्यों के प्रति जो मन में मोह है यही माया है। यह जितना प्रबल होगा उतना भ्रम-हिंडोला बना रहेगा। मोह टूटने पर तो हिंडोला बिखर जायेगा। मोह असत्य में सत्य, घृणित में सौंदर्य, दुखद में सुखद, जड़देह में आत्मबुद्धि कराकर जीव को सदैव अंधकार में रखता है। यही माया है। जहां अपना पतन हो वहीं सुखबुद्धि होना माया है। मन का छलावा ही तो माया है। तुम देखो अपने मन को, कि यह कब-कब गंदी चीजों की याद कराकर उसमें

सुखबुद्धि पैदा करता रहता है! जहां तुम्हारा कुछ नहीं है, वहीं सब कुछ होने का भ्रम होना माया है। यही भ्रम-हिंडोले का 'मेरु' है, शिखर है।

भंवर एवं भंवरकली उस कड़ी को कहते हैं जो कील में जड़ी हुई तो रहती है, परन्तु वह सब ओर घूम सकती है, जैसे पशुओं के गले की जंजीर में लगायी जाती है। झूला को घुमाने वाली भंवरकली होती है। इस भ्रम-हिंडोले की भंवरकली लोभ है। लोभ वह मनोवृत्ति है जिसमें जड़ वस्तुओं के लिए लालच, ललक एवं आकर्षण रहता है। यही तो भ्रम-हिंडोले को झुलाता है। भंवरा झूले को घुमाने में सहायक है, वैसे लोभ भ्रम-हिंडोले को चक्कर देने में सहायक है। लोभ के कारण ही तो आदमी रात-दिन बैठना नहीं चाहता। जीवन धारण करने के लिए वस्तुएं तो सभी को चाहिए, परन्तु जो लोभवश हो जाता है वह भटकता रहता है। लोभी आदमी त्यागी नहीं हो सकता और जो त्यागी नहीं हो सकता वह शांति नहीं पा सकता। इसलिए यह लोभ भ्रम-हिंडोले को वेग से नचाने वाला है जिसमें सब जीव चक्कर काट रहे हैं।

जिस पर झूला लटकाया जाता है वह अवयव मरुआ कहलाता है। इस भ्रम-हिंडोले का मरुआ विषय है। विषय पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इन्हीं विषयों के समवेत स्वरूप पर यह झूला लटका है। यह जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक से रमण करता एवं आसक्त होता है। विषयों के वश होकर सारा संसार नाच रहा है। शब्द में हिरन, स्पर्श में हाथी, रूप में पतिंगे, रस में मछली तथा गंध में भंवरे मारे जाते हैं। मनुष्य में तो ये पांचों विषय प्रबल हैं, फिर इसकी दशा सर्वाधिक घृणित हो तो स्वाभाविक है। यह सच है कि मनुष्य में विवेक है, वह यदि अपने सुप्त विवेक को जगा ले तो सभी विषयों से छूट सकता है, परन्तु हिरन आदि नहीं छूट सकते, क्योंकि उनमें विवेक नहीं है। परन्तु मनुष्य पशु-पक्षियों से भी अधिक अविवेकी बन गया है। मनुष्य रात-दिन विषयों के वश नाचता है। कहीं शब्द में नाचता है, कहीं स्वाद में, कहीं गंध में नाचता है, कहीं रूप में और स्पर्श में तो इतना नाचता है कि कहना क्या! यही सब तो भ्रम-हिण्डोला है।

हिण्डोले के सारे अवयव लोहे के कीले गाड़कर कसे होते हैं। इस भ्रम के हिण्डोले के सारे अवयवों को कसने में काम के कीले लगे हैं। काम का अर्थ कामना, इच्छा, एषणा है। ये वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा ही तो काम के कीले हैं। कीले निकल जायं तो झूला बिखर जाय, इसी प्रकार कामना का अन्त हो जाय तो भ्रम का हिण्डोला रहे ही नहीं। यह काम जीव को नचाता है। कामना में अंधे होकर ही लोग व्यभिचार, हत्या, डाका, छल-कपट एवं विश्वासघात करते हैं। कामना में प्रमत्त होकर ही लोग पिता, गुरु, पति, पत्नी आदि की हत्या करते हैं। कामना में अंधा होकर आदमी क्या-क्या नहीं करता है! यह कामना के क़ीले से कसा हुआ भ्रम-हिण्डोला जीव को चक्कर कटा रहा है।

झूले पर बैठने के आसन होते हैं जिन पर बैठकर लोग झूलते हैं और उन आसनों के आधार डंडे होते हैं जो आसनों को टांगे रहते हैं। झूलने वाले दोनों हाथों से उन डंडों को पकड़े रहते हैं। इस भ्रम-हिण्डोले में कर्म पटरी एवं आसन हैं तथा शुभ और अशुभ

वासनाएं डंडे हैं जिन्हें जीव ने पकड़ रखे हैं। इस हिण्डोला-पद के शुरू में पाप-पुण्य खम्भे कहे गये हैं और यहां शुभ और अशुभ डाँड़ी कहे गये। इसमें भ्रम हो सकता है कि पाप-पुण्य ही तो अशुभ-शुभ हैं, फिर यहां पुनरुक्ति क्यों की गयी! परन्तु ऐसी बात नहीं है। पाप और पुण्य कर्म हैं, किन्तु शुभ-अशुभ वासनाएं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये जीव शुभ और अशुभ वासनाओं के डंडे पकड़कर कर्म की आसनी पर बैठे झूल रहे हैं। किसी ने पूछा कि इस भ्रम-हिण्डोले पर कौन-कौन झूल रहा है? सद्गुरु ने उससे प्रतिप्रश्न में कहा कि यह पूछो कि इस झूले पर कौन-कौन नहीं झूल रहा है! सब तो झूल रहे हैं। इसके बाद सद्गुरु शिव के गण, गंधर्व, मुनिश्रेष्ठ, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमुनि, सूरज, चांद के नाम तो लेते ही हैं, वे कहते हैं निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपालकृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं, अथवा निर्गुण-सगुण के झमेले में कृष्ण झूल रहे हैं।

उक्त सूची में सूरज-चांद के नाम भी आये हैं। वस्तुतः सूरज-चांद नाम के देवता पुराणों में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के लिए यह प्रयोग होगा क्योंकि कर्म के एवं भ्रम के हिण्डोले पर जीवधारी ही के झूलने की बात कही जा सकती है। आकाश के जड़पिण्ड सूरज-चांद को तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्राकृतिक गतिविधियों से झूल रहे हैं। परन्तु ये अचेतन होने से न इनमें मन है, न इन्हें सुख-दुख है और न इन्हें कुछ राय देने की आवश्यकता है। दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात है "आप निर्गुण-सगुण होय झूलिया गोबिन्द।" स्वयं गोपाल कृष्ण निर्गुण-सगुण के चक्कर में झूलते हैं, कथन के इस भाव को लेकर अवतारवादी धारणा वाले कहते हैं—"देखो, कबीर साहेब अवतार मानते थे। कबीर साहेब यहां कहते हैं कि कृष्ण मूलतः निर्गुण हैं, परन्तु सगुण अवतार लेकर झूलते हैं।"

वस्तुतः यहां कृष्ण को अवतार सिद्ध करने की बात नहीं है। जो कबीर बीजक भर में अवतारवाद का खंडन करते हैं वे यहां एकाएक उसका मंडन नहीं करने लगेंगे। वैसे सब जीव स्वरूपतः निर्गुण अर्थात प्रकृति-गति से परे हैं और कर्मवश सगुण अर्थात देहधारी हैं। श्रीकृष्ण या कोई भी, विश्व का कर्ता-धर्ता नहीं है। श्रीकृष्ण हों या श्रीराम, इनसे सम्बन्धित महाकाव्यों के पहले रूपों में अवतारवाद का उल्लेख नहीं था। यहां संदर्भ श्रीकृष्ण का है। ऋग्वेद (८/८५/१३-१६) में कृष्ण को शूरवीर, कर्मकांडों का विरोधी तथा वन्य जातियों का रक्षक माना गया है और छांदोग्य उपनिषद् (३/१७/६) में अध्यात्मज्ञान का जिज्ञासु, जिसे 'घोर आंगिरस' ने ज्ञान दिया है। महाभारत कौरव-पांडवों की कथाओं का काव्य है। इसके प्रथम संस्करण में जब इसका नाम 'जय' था कृष्ण की चर्चा कौरव-पांडवों के सम्बन्धी के रूप में थी। पीछे जितने दिन बीतते गये कृष्ण को अवतार और फिर पूर्ण परब्रह्म बनाया गया। समस्त वेद, वैदिक साहित्य तथा वैदिक शास्त्र में राम-कृष्ण के ब्रह्म होने तथा अवतार होने की चर्चा ही नहीं है। विवेक से तो यह सिद्ध ही है कि ये सब मनुष्य थे। अतएव यहां कृष्ण के अवतार की चर्चा नहीं है, किन्तु कबीर साहेब यहाँ व्यंग्य रूप में कहते हैं कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म कहे जाने वाले श्रीकृष्ण बेचारे स्वयं इस भ्रम-हिण्डोले में झूल रहे हैं। वैसे सब देहधारी इस भ्रम-हिण्डोले

में झूल रहे है, परन्तु कबीर साहेब यहां बड़ों-बड़ों के नाम इसलिए लेते हैं कि लोग इन्हें अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न होने की कल्पना करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रम पैदा करने वाला है। साहेब कहते हैं कि सभी देहधारी वे चाहें जितने बड़े नाम-ग्राम वाले हों, इस संसार के झूले में झूल रहे हैं।

"छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय। खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" चार वेद, छह शास्त्र, चौदह विद्याएं रचकर तथा सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन और तीन लोकों की कल्पना कर सब जीव इस झूले में झूल रहे हैं। इसका अर्थ है कि आदमी खानी जाल में तो उलझा ही है, वाणी जाल में भी खूब उलझा है। वेद-शास्त्रों एवं विविध विद्याओं में जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के तत्व हैं, परन्तु उनमें ऐसे अंश भी हैं जो जीव को दिग्भ्रमित करते हैं। इसलिए परखदृष्टि से शोधकर ग्रहण करने वाला उनसे लाभ लेता है और जिसे परखदृष्टि नहीं है वह उनमें उलझता है। परम पारखी संत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रंथी में लिखा है कि वेदादि समस्त वाणियों का बोध के लिए उपयोग करो।[1] जब शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है और विश्वसत्ता के नियमों की कसौटी से उनके ज्ञान को नहीं कसा जाता है तब शास्त्र वाणीजाल हो जाते हैं। नाना लोक-लोकांतरों की कल्पना भी वाणीजाल है कि अमुक जगह स्वर्ग है, अमुक जगह मोक्षधाम है आदि। इंद्रिय-लम्पटता तथा प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझना खानी जाल में फंसना है तथा शास्त्रों की स्वतः प्रामाणिकता के भ्रम में पड़कर ज्ञान के क्षेत्र में तर्कहीन, विवेकहीन तथा विश्व-नियमों के विरुद्ध बात मानना एवं करना वाणीजाल में उलझना है। साहेब कहते हैं कि तुम खोजकर देखो कि जो लोग खानी और वाणी के जाल में उलझे हैं उनको जीवन में शांति नहीं है। यह खानी-वाणी जाल ही तो भ्रम-हिण्डोला का सर्वांग रूप है। भोगैश्वर्य की कामना खानी जाल है तथा अंधविश्वासपूर्ण ज्ञान एवं अंध शास्त्रप्रमाणता वाणी जाल है। जिसका मन विषयों में डूबा है तथा बुद्धि भ्रम में डूबी है, उसे कहां शांति मिलेगी। कबीर साहेब के महावाक्यों में यह एक है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

"खण्ड-ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूँ नाहिं।" इस ब्रह्माण्ड के खंड-खंड में खोजकर देख लो, जीव को बंधनों से छूटने की कोई जगह नहीं है। अर्थात बाहर तो केवल जाल है। बाहर न कहीं स्वर्ग-लोक है और न मोक्ष-लोक है। इसलिए इस प्रकृतिजाल में मोक्ष का ठिकाना मत खोजना। सात स्वर्ग, सात तपक, जन्नत, साकेतलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सारे लोक केवल वाणीजाल है। कहीं कुछ नहीं है। जहां कहीं जमीन होगी और उसमें प्राणी होंगे वे घूम-फिरकर यहां की तरह बंधनों में होंगे। अतएव लोक-लोकांतरों में मोक्ष की कल्पना करना और इस भ्रम-हिण्डोले से छुटकारा की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

"साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं।" सद्गुरु जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को राय देते हैं कि तुम संतों की संगत में जाओ और वहां सेवा करते हुए श्रद्धा,

---

१. वेद आदि बानी सबै, बोध हेतु उर धार॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोहा ३९ ॥

में झूल रहे है, परन्तु कबीर साहेब यहां बड़ों-बड़ों के नाम इसलिए लेते हैं कि लोग इन्हें अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न होने की कल्पना करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रम पैदा करने वाला है। साहेब कहते हैं कि सभी देहधारी वे चाहें जितने बड़े नाम-ग्राम वाले हों, इस संसार के झूले में झूल रहे हैं।

"छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय। खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" चार वेद, छह शास्त्र, चौदह विद्याएं रचकर तथा सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन और तीन लोकों की कल्पना कर सब जीव इस झूले में झूल रहे हैं। इसका अर्थ है कि आदमी खानी जाल में तो उलझा ही है, वाणी जाल में भी खूब उलझा है। वेद-शास्त्रों एवं विविध विद्याओं में जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के तत्व हैं, परन्तु उनमें ऐसे अंश भी हैं जो जीव को दिग्भ्रमित करते हैं। इसलिए परखदृष्टि से शोधकर ग्रहण करने वाला उनसे लाभ लेता है और जिसे परखदृष्टि नहीं है वह उनमें उलझता है। परम पारखी संत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रंथी में लिखा है कि वेदादि समस्त वाणियों का बोध के लिए उपयोग करो।[1] जब शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है और विश्वसत्ता के नियमों की कसौटी से उनके ज्ञान को नहीं कसा जाता है तब शास्त्र वाणीजाल हो जाते हैं। नाना लोक-लोकांतरों की कल्पना भी वाणीजाल है कि अमुक जगह स्वर्ग है, अमुक जगह मोक्षधाम है आदि। इंद्रिय-लम्पटता तथा प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझना खानी जाल में फंसना है तथा शास्त्रों की स्वतः प्रामाणिकता के भ्रम में पड़कर ज्ञान के क्षेत्र में तर्कहीन, विवेकहीन तथा विश्व-नियमों के विरुद्ध बात मानना एवं करना वाणीजाल में उलझना है। साहेब कहते हैं कि तुम खोजकर देखो कि जो लोग खानी और वाणी के जाल में उलझे हैं उनको जीवन में शांति नहीं है। यह खानी-वाणी जाल ही तो भ्रम-हिण्डोला का सर्वांग रूप है। भोगैश्वर्य की कामना खानी जाल है तथा अंधविश्वासपूर्ण ज्ञान एवं अंध शास्त्रप्रमाणता वाणी जाल है। जिसका मन विषयों में डूबा है तथा बुद्धि भ्रम में डूबी है, उसे कहां शांति मिलेगी। कबीर साहेब के महावाक्यों में यह एक है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

"खण्ड-ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूँ नाहिं।" इस ब्रह्माण्ड के खंड-खंड में खोजकर देख लो, जीव को बंधनों से छूटने की कोई जगह नहीं है। अर्थात बाहर तो केवल जाल है। बाहर न कहीं स्वर्ग-लोक है और न मोक्ष-लोक है। इसलिए इस प्रकृतिजाल में मोक्ष का ठिकाना मत खोजना। सात स्वर्ग, सात तपक, जन्नत, साकेतलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सारे लोक केवल वाणीजाल है। कहीं कुछ नहीं है। जहां कहीं जमीन होगी और उसमें प्राणी होंगे वे घूम-फिरकर यहां की तरह बंधनों में होंगे। अतएव लोक-लोकांतरों में मोक्ष की कल्पना करना और इस भ्रम-हिण्डोले से छुटकारा की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

"साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं।" सद्गुरु जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को राय देते हैं कि तुम संतों की संगत में जाओ और वहां सेवा करते हुए श्रद्धा,

---

१. वेद आदि बानी सबै, बोध हेतु उर धार॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोहा ३९ ॥

भक्ति एवं बुद्धि पूर्वक सत्य की खोज करो। संतों के सत्संग में इसका शोधन करो कि जीव मुक्त होकर कहां जायेगा! यह जीव जब इस भ्रम-हिण्डोले से उतर जायेगा तब उससे मुक्त होने पर इसकी स्थिति क्या होगी। यह कहां स्थित होगा!

सद्गुरु कबीर उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं देते हैं "शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं। काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं।" यह जीव संसार के भ्रम-हिण्डोले से उतरकर एवं मन से मुक्त होकर जहां जाता है वहां न चन्द्रमा है, न सूरज है, न रात है, न दिन है, न शरद आदि ऋतुएं हैं। वहां जड़तत्व की कोई गंध भी नहीं है। इसलिए वहां उत्पत्ति-प्रलय रूप विकार की कोई गुंजाइश नहीं है। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का भी प्रश्न नहीं है। ऐसे दिव्य धाम में कोई विरला संत पहुंचता है। यह है व्यक्ति का अपना स्वरूप, अपनी आत्मा, अपना आपा। इसी को पारख पद कहते हैं। इसी को कोई अपनी-अपनी भाषा में ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष कुछ भी कह सकता है। देह में रहते-रहते जब साधक सारे संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है तब वह देह भी भूल जाता है। समुद्र के तट पर खड़ा हुआ व्यक्ति जब समुद्र की तरफ देखता है तब वह केवल जल देखता है और जब उधर पीठ कर देता है तब जमीन की तरफ उसकी दृष्टि हो जाने से केवल थल देखता है। मन उपस्थित होने पर संसार दिखता है, जब मन विलीन हो गया तब केवल निज चेतनस्वरूप रह गया। वहां प्रकृति है ही नहीं। मन ही संसार को जीव के सामने उपस्थित करता है। अतएव जब मन शांत हो जाता है तब जीव अकेला रह जाता है। यही असंगता है, यही कैवल्य है और यही तत्त्वतः अद्वैत भी हो सकता है। समस्त जड़-चेतन मिलाकर अद्वैत की कल्पना करना भ्रम है। वस्तुतः सारी कल्पनाओं का अन्त अद्वैत है, अकेलापन है। तात्पर्य यह है कि मन तथा मन की रागात्मक प्रवृत्तियां ही भ्रम-हिण्डोला है। इससे उतरने पर जीव केवल अपनी शुद्ध चेतना में स्थित हो जाता है जहां चांद-सूरज, दिन-रात आदि प्रकृति क्षेत्र नहीं है। इस दशा में कोई विरला संत ठहरता है।

हर साधक को चाहिए कि वह प्रतिदिन कुछ समय के लिए एकांत में बैठकर सारे संकल्पों को छोड़ने का प्रयत्न करे। वैराग्य और अभ्यास जितने बढ़ेंगे इस काम में उतनी शीघ्र सफलता होगी। परिपक्व साधक तो बैठे-लेटे जब चाहता है तब सारे संकल्पों को छोड़कर केवल अपनी चेतना में स्थित हो जाता है। देह में रहते-रहते देहातीत शुद्ध चेतन की स्थिति का अनुभव करना चाहिए। इस स्थिति के प्रगाढ़ अभ्यासी को देह-गेहादि किसी का राग नहीं रह जाता।

हर मनुष्य की अंतरात्मा चाहती है कि हम निर्भय स्थान में पहुंच जायं। सारा प्रकृति-क्षेत्र परिवर्तनशील है और जहां तक परिवर्तन है, वहां तक निर्भयता नहीं है। हर आदमी का दिल यही चाहता है कि इस दुख भरे, परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर संसार से दूर कहीं ऐसी जगह में चले जायं जहां केवल स्थिरता, निर्भयता, शान्ति एवं सुख-ही-सुख हो। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें ऐसी ही जगह बता रहा हूं जहां स्थूल चन्द्रमा, सूरज से लेकर सूक्ष्म जड़तत्व तक नहीं हैं। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का चक्कर नहीं है। वहां प्रकृति जाल है ही नहीं तो उत्पत्ति-प्रलय होने का प्रश्न ही कहां है! वहां तो समस्त

जड़दृश्य जाल से परे केवल तुम-ही-तुम शुद्ध चेतन हो। यह निर्भय-पद है। सारी वासना छोड़ो और केवल अपनी चेतना में स्थित होओ। देह में रहते-रहते इस विदेह अवस्था को प्राप्त करो। इस साधना में डूबा साधक सब समय निर्भय एवं सुखी होता है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" उक्त दिव्य स्थिति से बिछुड़े तुम्हारे बहुत कल्प हो गये। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प माना जाता है। ऐसे बहुत कल्प बीत गये हैं और तुम उक्त दिव्य एवं निर्भय स्थिति से बिछुड़कर इस भूमि पर एवं इस संसार में भटक रहे हो। यहां "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ है कि बहुत कल्प बीत गये हैं जिसका लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल का समय बीत गया है। गीता में आता है कि योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोक में जाकर वहां "शाश्वतीः समाः"[१] अनंतकाल तक रहता है। 'शाश्वतीः समाः' का अर्थ अनंतकाल होता है। परन्तु वहां कहने का भाव यह नहीं है, किन्तु भाव है कि बहुत वर्षों तक रहता है; क्योंकि ब्राह्मण-परम्परा में स्वर्ग को अक्षय नहीं माना गया है। इसीलिए उसी श्लोक में है कि वह जीवात्मा पवित्रात्मा तथा धनी लोगों के यहां जन्म लेता है। जब वह स्वर्ग के बाद जन्म लेता है तब वह स्वर्ग में "शाश्वतीः समाः" कहां रहा! अतएव यहां 'शाश्वतीः समाः' का अर्थ बहुत वर्षों तक है। इसी प्रकार बीजक के इस हिण्डोले में "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ हुआ कि बहुत कल्प बीत गये। परन्तु इसका लक्षणा अर्थ है कि अनादिकाल का समय बीत गया। जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर भटक रहा है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" इसका सपाट अर्थ यही है कि जीव पहले प्रकृति-जाल से रहित दिव्य स्वरूपस्थिति दशा में था, परन्तु बहुत कल्पों से वहां से बिछुड़ गया है और इस संसार में भटक रहा है। प्रश्न होता है कि मोक्ष-स्थिति में तो बंधन में आने का कोई कारण नहीं था, तो वह कैसे बंधन में आ गया! यह विषय इतना नाजुक है कि बंधन अनादि ही कहने पर इसका समाधान हो सकता है। पहले मुक्त होता तो बंधनों में क्यों आता! वस्तुतः जीव का मौलिक स्वरूप ऐसा है कि वह प्रकृतिजाल से सर्वथा अलग है, इसलिए वह बंधनों को छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। इसलिए कुल मिलाकर इस पंक्ति का अर्थ है कि जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर संसार एवं प्रकृति-जाल में भटक रहा है।

"साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुम संतों की संगति में जाकर निजस्वरूप का शोधन करो और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाकर ऐसी दिव्य रहनी में रहो जिससे पुनः उलटकर गर्भवास में न लीन होना पड़े। जब तुम विषयों में नहीं लीन होगे तब गर्भवास में भी नहीं डूबोगे। कबीर साहेब शाश्वत मोक्ष मानते हैं। वे मोक्षतत्त्व तथा मोक्षरहनी दोनों की खोज करने के लिए साधु-संगति बताते हैं। डॉक्टरों की संगति से डॉक्टरी, विद्वानों की संगति से विद्या तथा वकीलों की

---

१. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ *गीता ६/४१* ॥

संगति से वकालत का ज्ञान होता है, इसी प्रकार परमार्थ-परायण एवं जीवन्मुक्ति में रमने वाले संतों की संगति से मोक्षतत्त्व का ज्ञान होगा। शास्त्रज्ञानी मोक्ष का बौद्धिक व्याख्यान कर देगा, किन्तु जो मोक्ष-स्थिति में रम रहा है उसके द्वारा सही निर्देश मिलेगा। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम साधु की संगत करो। उनकी उपासना एवं भक्ति करो। उनकी सेवा करो। उनसे इस मोक्षतत्त्व के विषय में प्रश्न करो। उनकी संगति में तुम्हें अपने स्वरूप की परख होगी और वासनाओं को त्यागकर स्वरूप में स्थित होने के लिए बल मिलेगा। वैराग्य-बोध-प्रिय संतों की संगति ही तुम्हें मोक्ष-पथ में शक्ति देगी।

"ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान।" जो सुजान संत है, जिसे अच्छी तरह जड़-चेतन के भिन्नत्व का, अपने स्वरूप का तथा मोक्ष की रहनी का ज्ञान है और जो सारी एषणाओं तथा वासनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित है, उसे इस भ्रम-हिण्डोले पर झूलने का प्रश्न नहीं रह गया है। उसको यह भय नहीं होता है कि मैं पुनः फिसल जाऊंगा; क्योंकि उसकी विवेक-वैराग्य की दिव्य रहनी रहती है। वह कुसंग से दूर तथा सत्संग में निवास करता है। वह मोक्ष की समस्त रहनी का आचरण करता है। वह हर समय वासनाओं को त्यागकर अपने असंग स्वरूप के विचार में मग्न रहता है। उसके मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि का द्वन्द्व दूर हो जाता है। वह किसी के छूटने-विनशने के भय से मुक्त होता है।

हर जीव को हर समय भय सवार रहता है। अनुकूल लोग प्रतिकूल न हो जायं, धन मिट न जाय, शरीर में रोग न लग जाय, कोई एक्सीडेंट न हो जाय, या इसी प्रकार अनेक भय होते हैं। सुजान संत इन सारे द्वन्द्वों से रहित रहता है। जो अपनी चेतना में रमता है, उसके ख्याल में छूटने तथा मिटने की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जो छूटने वाला था, उसका मोह उसने पहले छोड़ दिया है और जिसमें वह रमता है वह उसकी आत्मा ही है। वह उससे अलग नहीं हो सकती। इसलिए उसके सारे भय मिट जाते हैं। वह इसी जीवन में कृतकृत्य हो जाता है, आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम तथा प्राप्तकाम हो जाता है।

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।" जन्म-मरण के झूले से तभी छुटकारा मिलेगा जब सतसुकृत मिले। सत्य के साथ सुकृत की भी महान आवश्यकता है। सत उसे कहते हैं जो तीनों काल में रहे। ऐसे पदार्थ दो हैं एक जड़, दूसरा चेतन। जड़ में भी अनेक तत्व तथा उनके असंख्य परमाणु हैं, वे सब सत हैं; परन्तु जिस सत की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है वह सत जड़ नहीं है। तो चेतन सत पर विचार कीजिए। चेतन भी एक नहीं, असंख्य हैं, परन्तु उन सभी चेतनों से भी मोक्ष में प्रयोजन नहीं। केवल अपने आप से प्रयोजन है। मैं चेतन हूं और सत हूं। सत्रहवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने भी कहा था—

"यदि यह निश्चय हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चय है कि मैं सोचता हूं; क्योंकि संशय करना एक प्रकार सोच या विचार है। पर जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे कुछ विचार कर सकती है! इसलिए यदि मैं विचार करता हूं तो मैं अवश्य हूं। इससे यह निःसंदेह सिद्ध हुआ कि मैं हूं।"

तात्पर्य यह कि 'मैं सत हूं' इसमें कोई कोरकसर नहीं। इसके साथ-साथ 'मैं चेतन यह भी निर्विवाद है। मनोविकार के सम्बन्ध में ही मैं विकारी बनता हूं, अन्यथा उ हटाकर मैं निर्मल हूं, अर्थात मैं स्वरूप से सर्वथा शुद्ध हूं। चेतन विलक्षण वस्तु ; इसलिए वह जड़ से बना हुआ नहीं, अपितु अजन्मा है, इसीलिए वह किसी का अंश । नहीं, क्योंकि अंश का नाश हो जाता है। वह अंशी भी नहीं, क्योंकि अंशी विकारी होत है, तभी उसमें अंश बनते हैं। अतएव मैं व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी तथा जड़ से सर्वथ पृथक सत+चिद्-शान्त हूं—इस प्रकार ठीक से समझ लेना ही सत की प्राप्ति है। 'सत' ; हूं, अपने आप को ठीक समझकर अपने आप में ही स्थित हो जाऊं, बस सत मिल गया

उपर्युक्त सत का बोध प्राप्त कर उस सत में स्थित होना तब तक संभव नहीं जब तक 'सुकृत' न प्राप्त कर लें। जैसे जब तक खेत को कई बार जोत न लिया जाय, उसमें खाद पानी डालकर उसे उर्वर न बना लिया जाय, तब तक उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार जब तक सुकृत का संचय न कर लिया जाय तब तक न सत का बोध होगा न उसमें स्थिति होगी।

प्रश्न होता है कि सुकृत क्या है! उत्तर में समझना चाहिए समस्त पुण्य आचरण ही सुकृत है। पहले तो चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भोजन तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकार छोड़ दिये जायं, पुनश्च अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, दया, पवित्राचार, लोक-सेवा, प्राणि-रक्षा, विवेकी सन्त-गुरु की सेवा आदि किये जायं। यह मन-इंद्रियों का उत्तम-निर्मल व्यवहार ही सुकृत है। इसका आचरण करने वाला ही भाग्यवान है। अपने भाग्य के विधाता हम स्वयं हैं।

इस प्रकार उत्तम आचरण वाले व्यक्ति का हृदय कमाये हुए खेत की भांति उर्वर होता है। उसमें ज्ञान के बीज पड़ते ही उग आते हैं और थोड़े ही दिनों में लहलहाकर परमार्थ के वृक्ष सर्वांग हो जाते हैं और मुक्ति के उत्तम फल लग जाते हैं।

इस प्रकार 'सत' निजस्वरूप चेतन तथा सुकृत पवित्र रहनी है। स्वरूपबोध और रहनी, जब दोनों जीवन में हो जाते हैं तब जीव संसार के भ्रम-हिंडोले में पुनः नहीं झूलता। मेरा स्वरूप निर्मल तथा निर्विकार है यह सत का बोध तब काम देता है जब मन से मल एवं विकार छोड़ दिये जाते हैं। इसलिए स्वरूपज्ञान प्राप्त होने के साथ वासनाओं को त्यागकर स्वरूपस्थिति की दशा अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरु ने पूर्ण परख के साथ यह पंक्ति कही है—

कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।

इस झूले की आशा छोड़ो

हिंडोला—२

बहु विधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रास॥ १ ॥
जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास॥ २ ॥
झूलत-झूलत बहुकल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस॥ ३ ॥

रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास॥ ४ ॥
कबहुंक ऊँचे कबहुंक नीचे, स्वर्ग भूत ले जाय॥ ५ ॥
अति भरमित भरम हिण्डोरवा, नेकु नहीं ठहराय॥ ६ ॥
डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय॥ ७ ॥
कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण हरि तुम आय॥ ८ ॥

शब्दार्थ—क्रीड़ा = खेल। रास = शब्द, ध्वनि, कोलाहल, नृत्यक्रीड़ा। रहस = आमोद-प्रमोद, आनन्द। स्वर्ग = आकाश, लोकांतर। भूत = भूतल, जगत, यह लोक। नेकु = थोड़ा। यादव राय = श्री कृष्ण।

भावार्थ—हरि ने अनेक प्रकार के चित्र बनाकर भ्रम-हिंडोले की नृत्य-क्रीड़ा का प्रवर्तन किया है।।१।। इस पर झूलने की इच्छा जिसे न हो वैसी विवेकवती बुद्धि भला किसके पास होगी! ।।२।। इस विषय-रंगरूप भ्रम-हिंडोले पर झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, परंतु मन आज तक इससे नहीं ऊबता और अभी भी विषयों की आशा नहीं छोड़ता।।३।। यह भ्रम-हिंडोले की नृत्यक्रीड़ा एवं आनंद-उत्सव ऐसा चला रखा है जो चारों युग रूपी चौमासा में रात-दिन चलता रहता है।।४।। यह भ्रम-हिंडोला जीव को कभी ऊंची योनियों (मनुष्य) में ले जाता है और कभी नीची योनियों (पशु, पक्षी, कृमि आदि) में ले जाता है, कभी यह आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह भ्रम-हिंडोला अत्यंत भ्रमणशील है। यह थोड़ा भी स्थिर नहीं होता।।५-६।। अबोधी जीव कहता है कि क्रीड़ा-रासरूपी हिंडोले के प्रवर्तक हे यादवपति श्री कृष्ण जी! मैं आपके बनाये झूले से भयभीत हूं। आप इस झूले को स्थिर कर दीजिये, जिससे मैं इससे उतर पड़ूं।।७।। कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार अबोधी जीव गोपाल श्री हरि कृष्ण जी की शरण में जाकर उनसे विनती करते हैं।।८।।

व्याख्या—भ्रम-हिंडोले के साथ इस पद में रास शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पौराणिक लोग मानते हैं कि इस रासक्रीड़ा का प्रवर्तन कार्तिक पूर्णिमा को श्री कृष्ण ने किया है। ऋग्वेद (८/८५/१३-१६), छांदोग्य उपनिषद् (३/१७/६) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है, रासलीला की गंध भी नहीं है। इसकी शुरुआत हरिवंश[1] पुराण से होती है, भागवत पुराण के रास पंचाध्यायी में यह फलती-फूलती है, ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसका अधिक विस्तार होता है तथा गर्ग संहिता में यह अधिकतम फैल जाती है। इसके बाद जयदेव, सूरदास आदि अनेक रसिक भक्त-कवियों ने इसको अपने-अपने स्वर में फैलाया है।

यह हमारे देश का महा दुर्भाग्य रहा है कि जिन श्री कृष्ण तथा श्रीराम को हमने महान माना है, उन्हीं के चरित्र-हनन का हमने मूढ़तापूर्ण प्रयत्न किया है। ऊपर बताया गया कि वेद, उपनिषद् तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है रास की गंध भी नहीं है। यहां तक कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब श्री कृष्ण की अग्रपूजा से क्षुब्ध

---

१. हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय २०।

होकर शिशुपाल ने श्री कृष्ण को गालियां दी हैं[1] तब वह एक जबान में भी रास की च
नहीं कर सका है। यदि श्री कृष्ण ने रास जैसा घृणित कार्य किया होता और इसका प
कहीं चित्रण होता तो शिशुपाल इसको लेकर श्री कृष्ण की सभा में चींधी-चींधी उ
देता। परन्तु घोर दुख की बात है कि श्री कृष्ण के प्रेमी कहलाने वाले पण्डित और भ
ने श्री कृष्ण के साथ रास जोड़कर उनके चेहरे को ख़राब किया है। इसी की नकल
पीछे से श्री राम के चरित में रास जोड़ा गया। यह सर्वविदित है कि राम के जीवन चरि
का प्रथम काव्य ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण है और उसमें श्री राम को एकपत्नीव्रती बता
गया है, परन्तु कृष्ण-कथा के साथ जोड़े गये रास को देखकर राम-भक्तों को भी य
लालच उत्पन्न हुआ और उन्होंने भी श्रीराम के जीवन में रासलीला जोड़ दी। इसके लि
हनुमत संहिता, बृहत्कोशल खंड, ब्रह्मरामायण, चित्रकूट-माहात्म्य, भुशुंडि रामाय
महारामायण आदि देखने योग्य हैं।

रासक्रीड़ा-जैसे घृणित कृत्य का प्रवर्तक श्री कृष्ण को निरूपित करने का प्रयास उन
के भक्तों ने किया। भारत के नस-नस में यह ऐसा समा गया है कि उसका स्वाभावि
रूप बन गया है। इस दूसरे हिंडोले में एक बार 'रास' तथा दूसरी बार 'रहस' शब्द आय
है। दोनों का अर्थ एक है स्त्रियों के साथ नाचना-गाना, आमोद-प्रमोद करना तथा विषय
क्रीड़ा करना। यहां तो यह प्रतीक मात्र है। कबीर साहेब-द्वारा वर्णित भ्रम-हिंडोले क
रासक्रीड़ा जीव की अविद्या-द्वारा संचालित मन का संसरण एवं विषय-वासना है जो स
के मन में है। परन्तु इस पद में रास तथा रहस कहकर कबीर साहेब ने तथाकथित रास
नायक श्री कृष्ण का भी नाम लिया है। इस पद में दो बार हरि कहकर, एक बा
यादवराय तथा एक बार गोपाल कहकर कृष्ण की याद की गयी है जो केवल प्रतीकात्मक
कथन है।

ध्यान देने योग्य बात है कि कबीर साहेब पूरे बीजक में अवतारवाद का खंडन करते
हैं। वे श्रीराम एवं श्रीकृष्ण को महापुरुष मानते हैं, परब्रह्म एवं विश्वनियंता नहीं। श्री
कृष्ण के विषय में वे कहते हैं—

केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया।। शब्द १८ ।।

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय।। चाचर १ ।।

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय।। साखी २३६ ।।

अर्थात—श्री कृष्ण-जैसे कितने वंशी बजाने वाले हुए, वे भी संसार को नहीं समझ
सके। इन्द्र और कृष्ण सब माया के द्वार पर खड़े हैं। उनके नेत्र माया-भोगों के लिए
ललचा रहे हैं और मनभर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं। श्री कृष्ण के पास रहने
वाले पांडव अपने पाप-क्षय के लिए हिमालय में गल मरे। यदि लोहा को पारस-पत्थर मिल
जायेगा तो उसे काई क्यों खायेगी! यदि पांडवों को परब्रह्म मिल गये थे, तो हिमालय
जाने की क्या आवश्यकता थी!

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३७ तथा ४१।

श्री कृष्ण की ईश्वरता पर इतना तीव्र तर्क देने वाले कबीर एकाएक उन्हें परमात्मा मानकर उनकी शरण में जाकर वन्दना करने लगे कि महाराज मुझे भवजाल से बचाओ, यह कैसे हो सकता है! कबीर कोई अव्यवस्थित चित्त के व्यक्ति नहीं थे।

"बहु बिधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रस।" वस्तुतः मन ही हरि है। यही अनेक प्रकार मान्यताओं के चित्र बनाकर रासक्रीड़ा एवं विषयविलास की क्रीड़ा रचता है। हर जीव अपने मन के बनाये विषय-वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझता है। कोई ईश्वर जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है, तो यह ईश्वर जीव को बन्धनों में फंसाने वाला ही है। ऐसे ईश्वर की उपासना करना घोर अविद्या है। मलिन मन जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है यह ठीक बात है। इसीलिए गंदे मन का त्याग करना उचित माना गया है। इस मन के बनाये भ्रम-हिंडोले एवं रासक्रीड़ा में सब जीव उलझे हैं। इसी भटकाव में पड़कर सब जीव पीड़ित हैं।

"जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास।" इस विषय-वासना के हिंडोले में जिसे झूलने की इच्छा न हो ऐसी बुद्धि भला किसके पास है! यह कितनी मार्मिक पंक्ति है! जो विषय-भोगों में न ललचाता हो, जिसे विषय-भोग दावानल के समान लगते हों, वे नर-नारी धन्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पांच विषयों में आसक्त होकर तथा इनमें निरन्तर आकर्षित होकर ही जीव दयनीय दशा को प्राप्त है। मन की सबसे बड़ी दुर्बलता विषयासक्ति है। विषयासक्ति ही भवजाल है, विषयासक्ति ही भ्रम-हिंडोला है, विषयासक्ति ही जीव के लिए महारोग है। जिस जीव के मन से विषयासक्ति की निवृत्ति हो जाती है उसका मानो बेड़ा पार हो जाता है। जिसमें ऐसी बुद्धि आ जाती है कि विषयासक्ति नरक है, और जो अपने आप को उससे बचा लेता है, वह धन्य है, पूजने योग्य है।

"झूलत-झूलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस।" इस विषय-वासना के भ्रम-हिंडोले में झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, फिर भी मनुष्य का मन उसकी आशा नहीं छोड़ता। भर्तृहरि जी कहते हैं कि मनुष्य जानता है कि वे ही दिन हैं, वे ही रात हैं, तो भी वे उन्हीं काम-धन्धों के पीछे दौड़ते हैं। मनुष्य जिन्हें अनेक बार कह और भोग चुके हैं उन्हीं क्षणिक विषयों तथा कामों में लगे रहते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्यों को लज्जा नहीं आती।[1]

---

१. रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो।
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारंब्धतत्तक्रियाः॥
व्यापारै पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनाऽमुना।
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे॥ *वैराग्य शतक ७८॥*
उक्त श्लोक का सुन्दर हिन्दी अनुवाद श्री प्रतापसिंह का इस प्रकार है—
वे ही निसि वे ही दिवस, वे ही तिथि वे बार।
वे उद्यम वे ही क्रिया, वे ही विषय-विकार॥

पतिंगे अनुभव करते हैं कि ज्योति में मेरे अंग जल रहे हैं, परन्तु मोहमाया का ऐ आवरण है कि वे ज्योति से चिपके जाते हैं। आदमी जिन प्राणी-पदार्थों, काम-धन्धों त विषय-वासनाओं में पड़कर सैकड़ों और हजारों बार पछताया है, उन्हीं में पुनः डूबता है इस संसार के हिंडोले में दुख पाते हुए भी जीव इससे सुख की आशा नहीं छोड़ता य उसकी प्रबल मोहमूढ़ता है।

"रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास।" मनुष्य के मन ने यह विषयान का ऐसा हिंडोला रचा है जो चारों युग रूपी चौमासे में रात-दिन चलता रहता है। वर्षा चौमासे में हिंडोला पड़ता है। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का हिण्डोला सब सम चलता है; क्योंकि इसका चौमासा मानो चारों युग है! युगों की कल्पना के अनुस सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग घूम-घूमकर आते रहते हैं। अतएव यहां चारों युग कह का अर्थ है सब समय। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का भ्रम-हिण्डोला चारों युग रू चौमासे में रात-दिन चलता है। यह अनादिकाल से निरन्तर चलने वाला भ्रम-हिण्डोल जीव को कभी ऊंची योनियों में ले जाता है और कभी नीची योनियों में। यह कभी जी को आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह हिण्डोला अत्यन भ्रमणशील है। यह कभी जरा भी नहीं ठहरता। वस्तुतः मन का ठहरना ही हिण्डोले क ठहरना है, क्योंकि मन का मोह ही हिण्डोला है। जब तक मन शुद्ध एवं शांत नहीं होग तब तक भटकाव बन्द नहीं होगा।

"डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय। कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण ह तुम आय।" कबीर साहेब कहते हैं कि यदुपति गोपाल श्री कृष्ण को हरि मानकर भावुव जीव उनकी शरण में जाकर उनकी वंदना करते हैं कि हे यादवनाथ! हम तुम्हारी शरण आये हैं। तुम्हारा ही रचा यह संसार-रास तथा भ्रम-हिण्डोला है। तुम्हीं इसको रोककर ह त्राण दे सकते हो। हमें इस हिण्डोले से उतारो, संसार-सागर से बचाओ।

परन्तु जिन्हें तत्वविवेक है, वे समझते हैं कि जीव का भ्रम-हिण्डोला तथा जीव क भव-बंधन जीव से अलग कोई दूसरा नहीं रचा है। जीव ही ने अपने अज्ञान से अपन झूलने के लिए यह भ्रम-हिण्डोला बना रखा है। इसी को ऐसा भी कहा जाता है कि यह हिण्डोला मन का बनाया है। दोनों का सार अर्थ एक है। जीव अपनी अशुद्ध मनोवृत्ति से ही तो अपने लिए भूलवश बंधन बनाता है तथा वही अपनी शुद्ध मनोवृत्ति से उसे तोड़ सकता है। अतएव हम अपने भव-बन्धनों को बनाने के संबंध में स्वयं उत्तरदायी हैं और हमीं उन्हें तोड़ सकते हैं। न किसी दूसरे ने इसे बनाया है और न कोई दूसरा तोड़ सकता है। जैसे मनुष्य ही पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि की आदतें बनाकर उनमे उलझता है और स्वयं ही उन्हें बंधन समझकर तोड़ देता है, वैसे यह मन का भ्रम-

---

वे ही विषय-विकार, सुनत देखत अरु सूंघत।
वे ही भोजन भोग, जागि सोवत अरु ऊंघत॥
महा निलज यह जीव, भोग में भयो विदेही।
अजहूँ पलटत नाहिं, कढ़त गुण वे के वे ही॥

हिण्डोला जीव ही ने अपने स्वरूप को भूलकर बना रखा है और वही अपने स्वरूप को समझकर इससे उतर जायेगा।

यहां रास तथा रहस शब्द आये हैं, अतएव लोकधारणानुसार रास के प्रवर्तक यादव एवं गोपाल शब्द आये हैं जो श्री कृष्ण के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये सब प्रतीकात्मक हैं।

वस्तुतः मन ही कृष्ण है, इसी ने इस भ्रम-हिण्डोले का रास रचा है। जीव अपने शुद्ध मन-द्वारा ही इसे तोड़ सकता है। अतएव अशुद्ध मनरूपी हरि हिण्डोला रचने वाला है तथा शुद्ध मनरूपी हरि इसे उखाड़ फेंकने वाला है।

विवेकी झूले से अलग हो जाता है

हिण्डोला–३

लोभ मोह के खम्भा दोऊ, मन से रच्यो है हिण्डोर॥ १ ॥
झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर॥ २ ॥
चतुर झूलहिं चतुराइया, झूलहिं राजा शेष॥ ३ ॥
चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष॥ ४ ॥
लख चौरासी जीव झूलहीं, रविसुत धरिया ध्यान॥ ५ ॥
कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि॥ ६ ॥
धरति अकाश दोउ झूलहीं, झूलहिं पौना नीर॥ ७ ॥
देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर॥ ८ ॥

शब्दार्थ—थित = स्थिति। ठौर = भूमिका। शेष = शेषनाग। रविसुत = यमराज, वासना। हरि = विष्णु, कृष्ण। हंस = विवेकी।

भावार्थ—लोभ और मोह के दो खम्भे गाड़कर मन से भ्रम-सुख का हिण्डोला खड़ा किया गया है॥१॥ जहां तक संसार के जीव हैं सब उसमें झूल रहे हैं। किसी को नहीं देखता हूं कि वह स्थिति-भूमिका में स्थिर हो॥२॥ चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं, राजा अपने राज-मद में झूल रहे हैं और शेषनाग भी इस झूले पर झूल रहे हैं॥३॥ चांद और सूर्य, ये दोनों भी संसारचक्र में झूल रहे हैं। ये भी अपने वेष की आज्ञा नहीं टाल रहे हैं। आकाश में रहकर संसार को प्रकाश देना ही इनकी मर्यादा है॥४॥ चौरासी लाख योनियों के जीव वासना रूपी यम का ध्यान धारणकर, अर्थात वासना के वश होकर इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं॥५॥ संसार के झूले में झूलते-झूलते करोड़ों कल्प और करोड़ों युग बीत गये, किंतु आज भी जीव उससे हार नहीं मानते॥६॥ धरती, आकाश, पवन तथा पानी भी झूल रहे हैं॥७॥ यहां तक स्वयं विष्णु देह धारण कर इस झूले में झूल रहे हैं। इस झूले को विवेकी-तटस्थ होकर देखते हैं॥८॥

व्याख्या—पहले हिण्डोले में भ्रम-हिण्डोला के पाप-पुण्य खम्भे कहे गये थे, इस तीसरे हिण्डोले में लोभ-मोह खम्भे कहे गये। यह केवल कथनशैली का अन्तर है, तत्वतः कोई अन्तर नहीं है। देखे हुए लोक तथा सुने हुए परलोक के भोगों का लोभ तथा अनुकूल

प्राणियों के मोह में फंसकर ही तो जीव का मन भटक रहा है। यह मन ही तो हिण्डोला है और लोभ-मोहादि विकारों के शांत हो जाने पर मन का हिण्डोला शांत हो जाता है।

"झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर।" जहां तक संसार का विस्तार है और उसमें जितने जीव हैं सब झूल रहे हैं। जो मूर्ख हैं वे तो झूल ही रहे हैं, चतुर कहलाने वाले भी झूल रहे हैं। चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं। जो संसार के भोगों में चतुराई दिखाता है वह मन के चक्कर में और झूलता है। राजा और शेष दोनों इस भ्रमचक्र में झूल रहे हैं। वैसे शेष स्वयं राजा थे। इसलिए राजा शेष का विशेषण मानकर भी समझा जा सकता है कि राजा शेषनाग भी इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं। डॉ रांगेय राघव लिखते हैं "विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नागजाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था।"[१]

"चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष।" चांद तथा सूर्य जड़पिंड हैं। इनका अपना वेष, अपनी मर्यादा है विश्व को प्रकाश देना। ये अपने नियमों का उल्लंघन न करते हुए निरन्तर प्रकृतिक्षेत्र में झूल रहे हैं। इसी प्रकार सद्गुरु धरती, आकाश, पवन, पानी कहकर प्रकृति-समुच्चय का मानो नाम ले लेते हैं और कहते हैं कि ये सब झूल रहे हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जड़प्रकृति तथा उसके स्थूलपिंड अपनी स्वाभाविक क्रियाओं से निरंतर गति कर रहे हैं। उनमें न मन है, न चेतना तथा न काम, क्रोधादि। इसलिए उनका निरन्तर चक्कर काटना उनके लिए कोई दुख उत्पन्न करने वाला नहीं है। आदमी या अन्य प्राणी दौड़ते हैं तब वे थक जाते हैं, परेशान होते हैं, परन्तु हवा एवं पानी की धारा दौड़ती है तो उन्हें कोई परेशानी नहीं; क्योंकि जहां से सुख-दुखों की उत्पत्ति होती है वह चेतना है, और वह उनमें है नहीं। जीव के चक्कर काटने के साथ सद्गुरु ने चांद, सूरज, पवन, पानी, पृथ्वी आदि को भी गिनाकर यह बता दिया कि चेतन के साथ जड़प्रकृति भी निरन्तर गतिशील है। जड़ की गतिशीलता स्वभावसिद्ध है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। उसे अपनी गति में कोई हैरानी भी नहीं है, किन्तु चेतन की गतिशीलता वासनावश है, इसलिए उसे हैरानी है। जड़ स्वभाव से गतिशील है इसलिए वह रुक नहीं सकता, किन्तु चेतन वासनावश गतिशील है इसलिए वह वासना त्यागकर स्थिर एवं अपने स्वरूप में शांत हो सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव नाना योनियों में रविसुत का ध्यान धारणकर झूल रहे हैं। पौराणिक कथानुसार यमराज रवि के पुत्र हैं। यह तो प्रतीक मात्र है। वस्तुतः मन की वासनाएं ही यमराज हैं। इन्हीं वासनाओं को अपने ध्यान में रखकर जीव भटक रहा है। यदि वे वासनाएं छोड़ दे तो वह कृतार्थ हो जायेगा।

साहेब कहते हैं "कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि।" कोटि कल्प युग का अर्थ अनादिकाल है। अनादिकाल का समय बीत गया है किन्तु जीव आज भी इस झूले से हार नहीं मानता। संसार के झूले में जीव अनादिकाल से संकट सहता आ रहा है,

---

१. महायात्रा गाथा, भाग १, अध्याय २, पृ० ६१।

परन्तु वह उससे थकता नहीं है। संसार के विषयों में सारे दुख भोगते हुए भी उनसे उसे घृणा नहीं हो रही है। जिसे घृणा हो जाती है वह सबसे विरक्त हो जाता है। विरक्ति ही झूले से छूटने का तरीका है।

"देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर।" साहेब कहते हैं कि लोग विष्णु को या राम-कृष्णादि को ब्रह्म मानते हैं, किन्तु वे भी देह धारणकर झूल रहे हैं। देह ही नहीं, किन्तु सांसारिक वासनाओं में भी झूल रहे हैं। इसे केवल विवेकी साक्षी बनकर देखते हैं।

"ठाढ़े देखहिं हंस कबीर" में यह प्रश्न हो सकता है कि 'भ्रम-हिण्डोले' पर झूलते हुए सब जीवों को देखने वाले हंस या विवेकी पुरुष भी शरीर धारणकर ही देखते हैं, फिर शरीरधारी होने से वे भी उसी हिण्डोले पर सिद्ध हुए? उत्तर में समझना चाहिए कि आज तक तो वे भी इस झूले पर अवश्य थे, परन्तु अब उन्हें ज्ञान हो गया है। वे खानी-वाणी के सुख-भ्रम-हिण्डोले की दुखरूपता को समझ लिये हैं और उससे रहित हो गये हैं। परन्तु पूर्वजन्मों के प्रारब्ध कर्मवश स्थूल शरीर है। उसका निर्वाह आसक्ति-रहित होकर कर रहे हैं। जैसे बीज भून देने पर पुनः अंकुर नहीं फूटते, इसी प्रकार स्वरूपज्ञान तथा वैराग्यादि समस्त हंसगुण से चलकर सर्वासक्ति मिटा देने पर पुनः जीव संसार के जन्मादि चक्कर में नहीं आता। अतएव विवेकी पुरुष 'भ्रम-सुख-हिण्डोला' से उतरकर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हैं। शरीर रहे तक वे संसार-हिण्डोला के द्रष्टा रहकर उससे सुज्ञ जीवों को उतारकर स्वरूपस्थिति राज्य देते हैं।

सामान्य मनुष्य ज्ञानी पुरुषों को भी अपने सदृश खाते-पीते, सोते-जागते देखता है। तब वह सोचता है हमारे और इनमें क्या अन्तर है! परन्तु ज्ञानी के अन्तस्तल की उच्च-स्थिति सामान्य मनुष्य क्या समझ सकता है! इस संसार-रहंटचक्र को ज्ञानी दुखों से पूर्ण देखता है। वह लोकहित की दृष्टि से शुभकर्म करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता और अशुभ कर्म तो उससे होते ही नहीं। प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति तथा पांचों विषय-जगत के संस्कार ही जीव को बारम्बार जन्म-मरण में घुमाते हैं, इस रहस्य को भली-भांति समझकर विवेकी इनसे विरक्त रहता है।

जिसने समस्त दृश्य का राग अर्थात मोह छोड़ दिया है, जो अनुकूल-प्रतिकूल की आसक्ति और द्वेष में नहीं फंसता, जो अनुद्वेग तथा क्रोधरहित है, जो मन, वाणी, कर्म से गुप्त-प्रकट काम पर पूर्णरूपेण विजयी है, जो समता, शीतलता, दयालुता, मानवता से पूर्ण है, जिसका मन किसी पदार्थ में फंसा हुआ नहीं है, जिसका चित्त निर्मल है, जो अपना कहे जाने वाले शरीर की ममता को छोड़ चुका है, जो जीवन तथा उसके सारे वैभव को तृणवत समझता है, जो अपने स्वरूप राम में ही निरन्तर रमण करने वाला है, वह शरीर में स्थित हुआ भी मानो अशरीर ही है। अन्यों की भांति खाते-पीते, सोते-जागते दिखते हुए भी उसकी मानसिक स्थिति बड़ी उच्च होती है।

ज्ञानी समझता है कि जिन प्राणी-पदार्थों के प्रति हमारे मन में आज महान आकर्षण है, उनका वियोग निश्चित है। उस वियोगकाल को बीत गये कभी हजारों, लाखों और करोड़ों वर्ष तथा कल्पों हो जायेंगे, फिर इन सब में क्या रखा है! अतएव अपने से भिन्न

समस्त दृश्यों को विवेक से पृथक कर ज्ञानी अपने आप में ही रमण करता है। इसलिए वह लोकदृष्टि में संसार-शरीर में रहते हुए भी वास्तव में—ज्ञान की स्थिति में—उससे सर्वथा पृथक है।

ज्ञानी पुरुष संसार की अवहेलना नहीं करता और न उसका दुरुपयोग ही करता है। वह तो उसके साथ सुन्दर बरताव करता है। जो भोगों का त्यागी है उसी का बरताव दूसरों के लिए उज्ज्वल हो सकता है, क्योंकि वह निस्वार्थी होता है। अतः ज्ञानियों तथा सच्चे सन्तों-द्वारा समाज का बहुत बड़ा कल्याण होता है। भौतिकता की चरमोन्नति के शिखर पर पहुंच जाने पर भी आत्मशांति नहीं मिलती। उसके लिए तो सन्तों-द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्मुख साधना ही है। प्रमादवश इसकी कोई अवहेलना भले करे, किन्तु इसका अपलाप असम्भव है।

सारांश यह है कि स्थितिवान-ज्ञानी पुरुष समाज का कल्याण करते हुए तथा अपना शरीर-निर्वाह लेते हुए निरन्तर ऐसी अतीन्द्रिय अवस्था एवं दिव्य स्थिति में रहते हैं जिसका विवरण जिह्वा नहीं दे सकती, साधना कर और उस अवस्था को प्राप्त करके अनुभव किया जा सकता है। कारावास में बन्दी-अपराधी भी रहता है और उसमें शिक्षक तथा डॉक्टर भी रहते हैं। परन्तु बन्दी पराधीन है और शिक्षक तथा डॉक्टर स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार संसार-शरीर में ज्ञानी-अज्ञानी दोनों रहते हैं, किन्तु ज्ञानी आसक्ति-विरहित मुक्तात्मा है और अज्ञानी आसक्ति में, विषय में आबद्ध है।

जिस 'भ्रम-सुख-हिण्डोले' पर बैठकर जीव अनादिकाल से जन्म-मरण में झूल रहा है, उस दुखमय हिण्डोले का परिचय देकर सद्गुरु ने उससे हंसों को छुड़ाया। अब स्वरूप-स्थिति की रहनी धारण करने के लिए अगला विस्तृत साखी प्रकरण कहते हैं।

●

फल छन्द

सुनि पुकार दयालु के,
कुछ ध्यान आया जीव के।
सत्ता समेटा वेगि के,
लहि शान्त सत्य सुशीव के।।
मनदृढ़ विवेक - विराग के,
गुरु-भक्ति शुभ मग लीव के।
निज पर्ख अविचल धाम के,
विश्राम निर्भय धीव के।।

चौपाई

को है झूलत कौन है हेतू।
सो परखाय करायो चेतू।।
चेतन स्वतः शान्त ह्वै केतू।
धन्य - धन्य गुरु महिमा लेतू।।

साखी

हेतु छन्द

सत्य साक्षी कौन है,
सब थापता सो कौन है? ।
अनुमान औ परत्यक्ष किसको,
भासता वह कौन है? ।।
साखी गवाही करि प्रमाणित,
पन्थ नाना गौन है।
इस हेतु साखी बैन से,
भ्रम-भूल हनि गुरु तौन है।।

दोहा

साक्ष्य - भास सब दुर लखे, तन-मन दुख लखि त्याग।
दुख त्यागक द्रष्टा परख, साक्षी लक्ष्य स्व पाग।।

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

एकादश प्रकरण : साखी

मानव जीवन एवं मन का महत्त्व

साखी

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तू कहाँ चला बिगोय॥ १ ॥

शब्दार्थ—जहिया = जब। जन्म मुक्ता = मुक्त जन्म, स्वतन्त्र नरजन्म। हता न कोय = अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे। छठी = मन। हौं = अहंकार।

भावार्थ—जब-जब जीव स्वतन्त्र नरजन्म में था या वर्तमान में है, तब-तब मानवेतर अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे और न आज हैं। परंतु हे जीव! तू मन में अहंकार जागृतकर और अपने आप को खोकर कहां जा रहा है? ॥१॥

व्याख्या—'जहिया जन्म मुक्ता हता' का तात्पर्य 'जब जीव मुक्त था' करना योग्य नहीं। क्योंकि मूल पद में 'जहिया जीव मुक्ता हता' नहीं है, बल्कि 'जन्म मुक्ता' है। जन्म से नरजन्म का अभिप्राय है और मुक्ता से स्वतन्त्र। अर्थात मनुष्य-जन्म स्वतन्त्र साधन करने का क्षेत्र और अन्य तीन खानियों की विवशताओं से रहित है। यदि जीव अन्य तीन खानियों में होता, तो कल्याण-साधना नहीं कर सकता। इसके लिए मनुष्य-शरीर ही योग्य है।

मनुष्य और मनुष्येतर खानियों में जो अन्तर है, वह स्पष्ट है। मनुष्य में मन की विशेषता है तथा अन्य खानियों के देहधारियों में शरीर-इंद्रियों की विशेषता है। वैसे सभी खानियों के जीवों के पास देह, इंद्रिय तथा मन हैं। परन्तु मानवेतर खानियों में देह-इंद्रिय की विशेषता है। मछली, हाथी आदि के समान मनुष्य भारी-भरकम नहीं होता। पक्षी के समान मनुष्य उड़ नहीं सकता। चींटी के समान दूर तक सूंघ नहीं सकता। गिद्ध के समान

दूर तक देख नहीं सकता। घोड़े और नीलगाय के समान तेज दौड़ नहीं सकता। गधे-खच्चर के समान बोझा ढो नहीं सकता। पशु के बच्चे के समान जन्मते ही तैर नहीं सकता। पशु, पक्षी और कीड़े बिना सिखाये जैसे अपनी स्वाभाविक कला में निपुण होते हैं, जैसे बया पक्षी का घोंसला बनाना, मधुमक्खियों का मधुरस इकट्ठा करना आदि, वैसे मनुष्य बिना सिखाये कोई कला का ज्ञाता हो नहीं सकता। इस प्रकार मानवेतर खानियों के जीवों में शरीर और इंद्रियों की विशेषता होती है।

मानव में मन की विशेषता है। 'मननात् मनुष्यः' मनन तथा विवेक करने के कारण ही मानव मनुष्य है। मानवेतर खानियों में मनन एवं विवेक नहीं है। यद्यपि वहां भी मन है। वे मन से अपने जीवन की मुख्य घटनाओं को याद रखते हैं। जैसे पशु दिन भर जंगल में चरते हैं, परन्तु शाम को अपने रहने के घर में आकर अपने खूंटे पर खड़े हो जाते हैं। पक्षी शाम को अपने घोंसले में आ जाते हैं तथा चींटियां अपने बिल में आ जाती हैं। मानवेतर प्राणी भी अपने जीवन-गुजर की क्रिया कर लेते हैं। मानव उनमें से कुछ ही देहधारियों को कुछ कला सिखा सकता है। परंतु विशेष कला, विशेष ज्ञान उन्हें नहीं सिखाया जा सकता। जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष का भेद आदि उन्हें कुछ नहीं बताया जा सकता है।

मानवेतर खानियों में प्राकृतिक संयम है। ज्ञान देकर उन्हें पूर्ण संयमी नहीं बनाया जा सकता। अधम कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामांध होते हैं। अन्य महीनों में संयमी होते हैं। कितने ही पशु-पक्षी वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि अपनी प्राकृतिक अवधि में ही नर-मादा संयोग करते हैं और प्रजनन करते हैं। परन्तु मनुष्य में यदि ज्ञान न हो तो वह हर समय कामी बना रहता है। उसमें प्रकृति की तरफ से संयम है ही नहीं। परन्तु मानवेतर प्राणी शिक्षा से ब्रह्मचारी नहीं बन सकते और मनुष्य शिक्षा एवं ज्ञान पाकर अखंड ब्रह्मचारी बन जाता है। मानवेतर प्राणियों में मन का जितना प्राकृतिक विकास है, बस उतना ही रहता है। उनमें शिक्षा से कोई ज्यादा विकास की संभावना नहीं है; किन्तु मनुष्य में शिक्षा-द्वारा मन के विकास का विशाल क्षेत्र है। मनुष्य के मन में ज्ञान की अनंत संभावनाएं हैं। अतएव मानव की विशेषता उसके विकासशील मन से है।

यह भी सच है कि मानवेतर प्राणियों में विकासशील मन न होने से वे ज्यादा दुखी नहीं रहते। एक पशु के सामने चारा डाल दो, वह उसे खायेगा। जब पेट भर जायेगा तब वह चिन्ता नहीं करेगा कि बचे हुए चारे को सुरक्षित रखूं और इसे कल खाऊंगा। वह उसी चारे पर टट्टी-पेशाब कर देगा। उसी पर बैठ जायेगा। कल क्या खाऊंगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं है। किन्तु मनुष्य सालभर के खाने की वस्तु घर में सुरक्षित रखकर भी चिन्ता करता है कि आगे क्या खाऊंगा! एक बूढ़ा बैल शायद यह नहीं सोचता होगा कि मैं जवान हो जाऊं; परन्तु एक बूढ़ा आदमी सोचता है कि मैं जवान हो जाता, तो कितना अच्छा होता! मन की उलझनों के कारण इस संसार में केवल मनुष्य पागल होता है। घोड़ा, गधा, बैल आदि मानवेतर प्राणियों को आपने कभी पागल होते नहीं देखा होगा। हां, खोपड़ी में कीड़े पड़ने पर कुत्ते तथा मद चढ़ने पर हाथी पागल हो जाते हैं, परन्तु ये दोनों ही भौतिक कारण से पागल होते हैं। मन की उलझन से नहीं। मन की उलझन से

केवल मनुष्य पागल होता है। जो मनुष्य खुले रूप में पागल हो जाते हैं और गाली देते, अपने कपड़े फाड़ते तथा अंट-संट क्रिया करते घूमते हैं, वे तो पागल हैं ही। जो ऐसे नहीं होते हैं, स्वस्थ और सभ्य दिखते हैं, वे भी भीतर-भीतर पागल होते हैं। यदि एक बूढ़ा कहता हो कि मैं बाईस वर्ष का नौजवान हूं, एक दरिद्र अपनी टूटी झोपड़ी में बैठा यदि कहता हो कि मैं करोड़पति हूं, तो आप यही तो कहेंगे कि ये पागल हैं। यदि ऊपर से स्वस्थ और सभ्य लोगों के मन में भी ऐसी भावनाएं उठती रहती हैं, तो ऐसे लोग पागल ही हैं। फरक यही है कि ये सभ्य पागल हैं। इस प्रकार जो मानव खुले रूप में पागल हैं वे तो पागल हैं ही, शेष भीतर-भीतर पागल हैं।

इसका कारण है मनुष्य के पास विकासशील मन का होना। मनुष्य का मन इतना अधिक सोचने की क्षमता रखता है कि यदि उसे ज्ञानपूर्वक नहीं रखा जाय, तो वह मनुष्य को पागल बनायेगा ही; परन्तु यदि उसे ज्ञानपूर्वक रखा जाय तो वह अपने तथा दूसरे के कल्याण का कारण बन जायेगा।

एक बार हम काशी-वास में थे। वहां पुस्तकें छप रहीं थीं। हम एक पुस्तक खरीदने के लिए चौक में गये। वहां न मिली। ज्ञानवापी पर गये। एक पुस्तकालय पर खड़े हुए। दुकानदार कोई पचास वर्ष की उम्र का मल्ल प्रौढ़ शरीर का मस्तमौला आदमी था। उसने हमसे छूटते ही कहा—"महाराज, यदि कहीं ईश्वर-विश्वर होता हो, तो उससे कह दीजियेगा कि मुझे अगला जन्म मनुष्य का न दे। वह मुझे बैल, कुत्ता, घोड़ा, पक्षी कुछ भी बना दे, किन्तु मनुष्य न बनाये। बैल होता तो जैसे टट्टी की हाजत लगती, तुरन्त दस सेकेंड में वहीं टट्टी कर देता। दुर्भाग्य से मनुष्य हूं। जब टट्टी लगती है तब गमछा, साबुन, लोटा लेकर टट्टी घर और बाथरूम में जाना पड़ता है। आधा घण्टा लग जाता है। महाराज, आप पुस्तक खरीदने के चक्कर में यहां भटक रहे हैं।"

हमें उसकी बातों पर हंसी आ गयी। उसकी बातों में भी सार था। पशु मनुष्य से ज्यादा निश्चिंत होता है। परन्तु उसमें संभावनाएं कुछ भी नहीं हैं। मनुष्य में बड़ी संभावनाएं हैं। मानवेतर प्राणियों का मन विकासशील न होने से वे विवश हैं। मनुष्य का मन विकासशील होने से वह सोचने में स्वतन्त्र है। यदि मनुष्य विवेकपूर्वक सोचे तो उसे अपने बन्धनों को खोलने में स्वतंत्रता है। यदि वह अविवेकपूर्वक सोचता है, तो अपने को अधिक बांध लेता है। जिसके पास शक्ति है, वह उसका सदुपयोग करे तो वह अपने तथा दूसरे के लिए कल्याणप्रद हो जायेगी और यदि दुरुपयोग करे, तो अकल्याण करने वाली हो जायेगी।

"जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय" यह मानवीय स्वतंत्रतापरिचायक महामंत्र है। जीव जब-जब मानव-शरीर में रहता है, तब-तब उसके पास मानसिक विवशता का कोई बंधन नहीं रहता। त्याग से ही बन्धन कटते हैं और त्याग करने में मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र है। बाहर के प्राणी, पदार्थ, स्थान का त्याग मनुष्य जब चाहे कर सकता है और भीतर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, देहाभिमान आदि का त्याग भी जब चाहे कर सकता है। अतएव मानव अपना कल्याण करने में सर्वथा स्वतन्त्र है।

"छठी तुम्हारी हौं जगा" छठे में तुम्हें अहंकार जगा। आंख, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी छठा[१] कहा गया है, वहां प्रायः मन का अभिप्राय है। हम बाहरी पांच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को क्रमशः कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जानते हैं। परन्तु भीतर सुख-दुख आदि का ज्ञान मन से होता है। इसलिए बाह्य पांच ज्ञानेन्द्रियों के बाद भीतर एक मन भी इंद्रिय है। हम पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं और भीतर ज्ञान के साधन को अन्तःकरण कहते हैं। करण कहते हैं ज्ञान के साधन को। बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा अन्तःकरण मन है। अतएव मन पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां है।

सद्गुरु कहते हैं मन बहुत काम की चीज है। विकासशील मन ही तो मनुष्य के जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। उसी को विवेकपूर्ण बनाकर जीव का कल्याण होता है। दुर्भाग्य यह है कि उसी मन में मनुष्य को अहंकार जगता है। जो मन विनम्र और विशुद्ध बनकर मनुष्य के कल्याण में साधन बनता है, वही मन जब अहंकार से भर जाता है, तब गंदा बनकर मनुष्य के कल्याण का शत्रु बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं "तू कहाँ चला बिगोय।" मन में अहंकार भरकर तू अपने को कहां खो चला!

बाह्य प्राणी, पदार्थों, नाम, रूपों एवं विविध कल्पनाओं का अहंकार मन में भर लेना, यही बन्धन है, और इन सारे अहंकारों को मन से निकालकर उसे खाली कर लेना, शुद्ध कर लेना, यही मोक्ष है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू स्वतन्त्र मानव-जन्म पाया, अद्भुत शक्तिसम्पन्न विकासशील मन पाया; परन्तु तू उससे कल्याण का काम न करके, उलटे मन में संसारी अहंकार भरकर अपने को खो रहा है। अभी भी जाग।

छठीं का अर्थ हंस-भूमिका भी किया जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनंदमय—इन पांच कोशों के ऊपर हंस-भूमिका है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. अन्नमयकोश—अन्न से सुरक्षित रहने वाला इन्द्रियों का समूह शरीर अन्नमयकोश कहलाता है।

२. प्राणमयकोश—अपान, समान, व्यान, उदान और प्राण इन पंच प्राणों का समूह, जो स्थूल देह-इन्द्रियों को सत्ता देता है।

३. मनोमयकोश—सब स्मृतियों (यादगीरियों) का जो केन्द्र मन है, और प्राणमयकोश को सत्ता देता है।

---

१. छठयें माँ सब गयल बिगोई॥ रमैनी ३७॥
छठयें माह दरश सो पावै॥ रमैनी ५२॥
छप्पर बाँचे घर जरे॥ साखी ६८॥

४. ज्ञानमयकोश—सत्य-असत्य निर्णय करने का साधन जो बुद्धि है, और मन को सत्ता देती है।

५. आनंदमयकोश—अहंकारजनित आनंद का समूह जो बुद्धि को सत्ता देता है।

उक्त पांचों कोश जीव के ऊपर आवरण हैं। इनकी वासना हंस-भूमिका में कटती है। मनुष्य के हृदय में जो मानवता, सद्गुण एवं विवेक-भूमिका है उसे हंस-भूमिका कहते हैं। हंस-भूमिका के संक्षिप्त लक्षण हैं—दया, शील, सत्य, धैर्य, विचार, स्वरूपज्ञान, वैराग्य और गुरुभक्ति। इसके अतिरिक्त अद्रोही, समता, मित्रजीव, अभय, अद्रुतनयन, क्षुधानिवारण, प्रियवचन, शांतिबुद्धि, पारखप्रत्यक्ष, सर्वसुखप्रकट, निर्णय, निर्विंद, प्रकाश, स्थिर, क्षमा, मिथ्यात्याग, सत्यग्रहण, निस्संदेह, साधुसेवन, हंतानिरसन, अस्ति-नास्तिपद निर्णय, यथार्थ शुद्ध व्यवहार, यथार्थ पारख (विवेक) टकसार, बोध हेतु वेदादि वाणियों का ग्रहण।[1] यह सब हंस-भूमिका या हंस-देह के लक्षण हैं। इसको दैवीसंपदा, साधु संपत्ति एवं सद्गुण-समूह कह सकते हैं।

इस विवरण के अनुसार "छठी तुम्हारी हौं जगा" का अर्थ होगा कि हे जीव! तुम्हारी कल्याण करने की भूमिका तो छठीं हंसदशा है। तू उसे छोड़ कर कहां माया में बहा जा रहा है।

छठीं का अर्थ जीव भी किया जा सकता है। धनौती कबीर मठ की बीजकटीका गुरुगमबूझ में यह बात जगह-जगह आयी है कि पांच तत्त्व छठम जीव। पांच तत्वों, पांच विषयों के ऊपर छठा जीव है। अतएव हे जीव "छठीं तुम्हारी" अर्थात तुम्हारी स्थिति तो पांच तत्त्व एवं पांच विषयों से रहित छठे जीव में है। अर्थात तेरी स्थिति तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। तू अपनी स्वरूपस्थिति छोड़कर कहां भटका जा रहा है!

शब्दों की महत्ता और उनका मूल्यांकन

शब्द हमारा तू शब्द का, सुनि मति जाहु सरक।
जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख॥ २ ॥

शब्दार्थ—शब्द = सारशब्द, निर्णय वचन। सरक = खिसक, पतित। निजतत्व = अपना मूल स्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे मानव! जो हमारे निर्णय वचन हैं, तुम उनके अधिकारी हो, परंतु उन्हें सुनकर खिसक न जाओ, प्रत्युत उनका आचरण करो। तुम यदि अपने मूल स्वरूप का बोध चाहते हो, तो सार-असार शब्दों की परख करो।।२।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की वाणियां तथा उपदेश देश, जाति, संप्रदाय की संकुचित भावनाओं से परे, निष्पक्ष, सार्वभौमिक एवं यथार्थ-दर्शक हैं। अतः मानव मात्र उनका अधिकारी है। वे कुछ ऐसा कर्मकांड नहीं बतला रहे हैं जिसे कोई एक समुदाय ही मान सके। उनकी सारी वाणियां, उनकी सारी शिक्षाएं जन-जन के लिए महौषधि हैं।

---

१. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न ५।

"शब्द हमारा तू शब्द का" यह वाक्यांश ध्यान देने योग्य है। 'जो हमारे शब्द हैं तू उनका अधिकारी है।' यहां शब्द से अर्थ उपदेश एवं विचार हैं। कबीर साहेब के द्वारा दिये गये उपदेश केवल उन्हीं के नहीं हैं, किन्तु मानो पूरी सत्ता-द्वारा दिये गये उपदेश हैं। क्योंकि वे परम सत्य हैं। इसलिए उनके उपदेशों का मानव मात्र अधिकारी है। जो परम सत्य होता है वह सबका अपना होता है। हवा, पानी, आकाश, सूरज आदि सबके हैं। इसी प्रकार यथार्थ निर्णय सबके हैं।

"सुनि मति जाहु सरक।" यह वाक्यांश कहकर सद्गुरु अपने श्रोताओं को झकझोर देते हैं। संसार में श्रोताजन अधिकतम उपदेशों की यही दशा करते हैं। वे सुनते हैं, परन्तु सुनकर और उन्हें वहीं छोड़कर खिसक जाते हैं। वे प्रायः उनका आचरण नहीं करना चाहते। क्योंकि आचरण करने में त्याग की आवश्यकता होती है। हर मनुष्य कम-ज्यादा मात्रा में विषयासक्त है। विषयासक्ति त्याग मार्ग में बाधक है। इसको जीते बिना कोई न त्याग-मार्ग में आगे बढ़ सकता है, न धर्म और अध्यात्म के उपदेशों का आचरण कर सकता है। विषयासक्ति का अर्थ केवल काम-भोग न लेना चाहिए, किन्तु मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि का मोह भी है। दृश्यमात्र का मोह विषयासक्ति है। भोजन के गुणों का केवल वर्णन करने से तृप्ति नहीं होगी, किन्तु उसे पकाकर खाने से तृप्ति होगी। इसी प्रकार केवल उपदेश सुनना पर्याप्त नहीं है; किन्तु उसके आचरण करने से जीवन में संतोष मिलेगा।

"जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।" 'निज तत्त्व' बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। तत्त्व कहते हैं वास्तविकता, सार एवं स्वरूप को। संसार में मुख्य दो तत्त्व हैं 'निजतत्त्व' तथा 'परतत्त्व'। 'परतत्त्व' जड़ दृश्य है जो पांच विषयरूप है। 'निजतत्त्व' 'मैं' के रूप में विद्यमान चेतन है जो अपना स्वरूप है, सार है, वास्तविकता है। मनुष्य परतत्त्व-जड़-विषयों में रात-दिन बहता है। उसे निजतत्त्व का भान ही नहीं है। सारे क्लेशों की जड़ यही है। जिसे अपने धन का पता न हो, वह घूर पर एवं कचड़े में दाने ही तो बीनेगा! स्व-स्वरूपज्ञान बिना लोग कचड़े में दाने बीन रहे हैं। वे क्षणभंगुर जड़ दृश्य विषयों में आनन्द खोज रहे हैं। बाहर की चाहे जितनी चीजें मिलें, वे एक दिन छूट जायेंगी, परन्तु 'निजतत्त्व' निज से कभी अलग हो ही नहीं सकता। मेरी अपनी आत्मा, मेरा अपना चेतनस्वरूप, मेरा अपना निजतत्त्व है। विवेकी पारखी संतों के सत्संग में इसको ठीक से समझना चाहिए और समझकर निजतत्त्व में स्थित होना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि निजतत्त्व का ज्ञान एवं निजतत्त्व में स्थिति चाहते हो "तो शब्दहि लेहु परख।" संसार में अध्यात्म के नाम पर अपार शब्दों की गूंज है। वे सभी शब्द 'निजतत्त्व' के सच्चे परिचायक नहीं हैं। अध्यात्म के नाम पर ऐसे-ऐसे शब्द हैं जो मनुष्य को 'निजतत्त्व' से दूर ले जाकर पटक देते हैं। संसार में ज्यादा धार्मिक एवं आध्यात्मिक लोग तो 'निजतत्त्व' के होशहवास में नहीं हैं। वे अपने लक्ष्य को सदैव अपने से बाहर ही खोजते रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा उच्चरित वाणियां भी इतनी विशाल हैं कि नये जिज्ञासु उन्हीं में भटकते रहते हैं।

सद्गुरु कबीर परम पारखी हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम निजतत्त्व चाहते हो तो शब्दों की परख करो। कौन-सा शब्द निर्णयपूर्ण एवं सार है और कौन-सा शब्द भ्रांतिपूर्ण एवं असार है, इसकी परख बिना रास्ता नहीं मिलेगा। महापुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय जो कहता है वह सच है—इस धारणा का मोह छोड़ना पड़ेगा। बड़े पुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय सब आदरणीय हैं; परन्तु सबकी बातों पर विचारकर तब उनका ग्रहण अथवा त्याग करना उचित है।

उलझनभरी वाणियों का परिचय देते हुए श्री तुलसीदास जी भी कहते हैं "रोचक, भयानक तथा यथार्थ तीन प्रकार के शब्द हैं। वर (श्रेष्ठ-विधि योग्य), विघटन (खण्डन योग्य) दोनों प्रकार के शब्द केश के लट के समान एक में लिपटे हैं। बंधनों के कारणरूप अविरल (सघन) वाणी का अल (पसारा) होने से अयुक्त वाणीरूप पानी को पीकर अज्ञानी जीव भूले हैं।" यथा—

त्रिविधि भाँति के शब्द वर, विघटन लट परमान।

कारन अविरल अलपियत, तुलसी अविध भुलान।। सतसई।।

इसलिए पारखी सन्तों की संगत करो, स्वयं पारखी बनो और परखकर सार-सत्य को मानो, असत्य को छोड़ो। 'निजतत्त्व' एवं अपना चेतनस्वरूप ही अपनी वास्तविकता है। इसे सत्संग-विवेक से ठीक जानकर, इसी में स्थित होओ।

शब्द हमारा आदि का, शब्दे पैठा जीव।

फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया घीव।। ३ ।।

शब्दार्थ—आदि = मूल, मुख्य, सत्य। घोरे = घोर, मट्ठा, छांछ, कल्पित वाणी। घीव = घी।

भावार्थ—हमारे निर्णय शब्द जीव के मूल स्वरूप के परिचायक हैं। परंतु जीव भ्रामक शब्दों में घुसा पड़ा है। मानव-शरीर तो सारशब्द रूपी फूल रखने की टोकरी है। जैसे घी मट्ठा में पड़ा रहने से खराब हो जाता है, वैसे जीव भ्रामक शब्दों में पड़ा रहने से पतित हो जाता है।।३।।

व्याख्या—"शब्द हमारा आदि का" इस साखी का प्रथम चतुर्थांश है। इसमें आया हुआ 'आदि' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'आदि' के दो मुख्य अर्थ होते हैं, एक 'मूल' तथा दूसरा 'आरंभ'। 'मूल' अर्थ वस्तु की वास्तविकता का परिचायक है और 'आरम्भ' शब्द किसी कालखण्ड में शुरू होने वाली गतिविधि का परिचायक है। इस साखी में आदि का अर्थ मूल है। इसके पूर्व की साखी में सद्गुरु 'निजतत्त्व' बतला आये हैं। वही निजतत्त्व यहां आदि है, मूल है। सद्गुरु कहते हैं कि हमारे उपदेश मूलस्वरूप एवं निजतत्त्व के परिचय देने वाले हैं। आपने ३७वीं रमैनी की साखी में भी कहा है कि बीजक गुप्त धन को बतलाता है, वैसे मेरे बीजक-शब्द शरीर में गुप्त जीव के स्वरूप को बतलाते हैं। अतएव सद्गुरु कबीर के सारे उपदेश स्वरूपज्ञान के लिए हैं।

"शब्दे पैठा जीव" यद्यपि मनुष्यजीव शब्दों की कुंडली एवं परिमंडल में सदैव घुसा पड़ा है; परन्तु वह निर्णय शब्दों से दूर है। वह सदैव सार तथा असार मिश्रित शब्दों में

पड़ा है। मानव के भीतर-बाहर सदैव शब्द ही गूंजते हैं। नाना प्रकार के शब्दों से ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं और जीव उन्हीं में उलझता है।

मनुष्य को मन-शक्ति के बाद दूसरी शब्द-शक्ति प्राप्त है। शब्दों में अपने मन के भावों को व्यक्त करना तथा दूसरे के व्यक्त भावों को उसके शब्दों-द्वारा सुनना एवं समझना—यह मानव प्राणी की महान उपलब्धि है। जैसे इस प्रकरण की पहली साखी की व्याख्या में बताया गया है कि मनुष्य का मन विकासशील होने से उसमें अनेक संभावनाएं हैं; किन्तु मन का दुरुपयोग होने से वही मन महान दुखों एवं बन्धनों का कारण है; उसी प्रकार मानव में शब्द-शक्ति उसके विकास एवं मोक्ष-साधन के लिए वरदानस्वरूप है; परन्तु गलत शब्दों में फंस जाने से वही शब्दजाल मानव के लिए महान बन्धन का कारण है।

"शब्दै पैठा जीव" मानव जीव के बाहर-भीतर शब्द गूंज रहे हैं। यह शब्दों में बुरी तरह उलझा है। मोहन इसलिए दुखी है, क्योंकि उसको किसी ने अपमान के शब्द कह दिये हैं। गिरीश को इसलिए सदमा हो गया कि ज्योतिषी ने उसके ऊपर ग्रह का टेढ़ा होना बता दिया है। जगेश्वर को पुत्र पैदा हुआ है, फिर भी उसके घर में मातम है, क्योंकि पंडित ने बच्चे को सत्ताइसा में पड़ा हुआ बता दिया है। माता ने जब से भूत-प्रेत तथा चुड़ैल की बात कही, तब से सुरेश अंधियारे से बहुत डरने लगा है। कहां तक गिनाया जाय, शब्दों के जाल ने मनुष्यों को तोड़ दिया है। शास्त्रों में शब्द लिखा है कि अमुक अछूत है, अमुक नीच है; और अमुक पापी है तो भी बड़ा है, क्योंकि वह अमुक जाति में पैदा हुआ है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य कठपुतली है, तुच्छ है। वह कर ही क्या सकता है! सब कुछ हरि-अधीन है।

मनुष्य को साहस लाना होगा। उसे शब्दों को चुनना होगा। कौन-से शब्द गलत हैं और कौन-से शब्द कल्याणकारी हैं। यह मानव शरीर फूल रखने की टोकरी है "फूल रहन की टोकरी" अच्छे-अच्छे निर्णय, ज्ञान, विवेक, समता तथा शीलप्रद शब्दों को चुनकर हृदय में रखना होगा। सच्चा पारखी बनकर परखना होगा कि कौन-से शब्द हमारे बन्धनप्रद हैं और कौन-से शब्द कल्याणप्रद हैं। हमें निर्भय होकर हर जगह केवल सार लेना होगा। तभी हम अपने को बन्धनों से छुड़ा सकते हैं। तभी हम इसी जीवन में परम सुखी हो सकते हैं।

"घोरे खाया घीव" अर्थात छांछ में पड़े रहने से घी खराब हो जाता है। इसी प्रकार गलत शब्दों में पड़े रहने से मनुष्य पागल हो जाता है। नाली का पानी पीने वाला तथा अपना कपड़ा फाड़ने वाला ही पागल नहीं होता, किन्तु सुसभ्य व्यक्ति भी पागल होता है। जिसका मन अपने वश में नहीं है, जिसे अपने स्वत्व का बोध नहीं है, जिसका मन राग-द्वेष में पीड़ित है, जो अपने आपके बोध से विहीन बना परोक्ष में अपना लक्ष्य खोज रहा है, यही सब तो पागल हैं। घी जब रोज-रोज छांछ में ही पड़ा रहेगा, तब खराब होगा ही। जब मनुष्य कल्पना के शब्दों में ही, वाणीजाल में ही पड़ा रहेगा, तो बंधनों में जकड़ता जायेगा ही। इसलिए शब्दजाल से अपने आप को बचाना है। निजतत्त्व बोध एवं शांतिप्रद शब्दों का ही संग्रह करना है।

शब्द बिना सुरति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिर-फिर भटका खाय॥ ४ ॥

शब्दार्थ—शब्द = सारशब्द, निर्णय वचन। सुरति = लक्ष्य, मन। आँधरी = विवेकहीन। द्वार = गुरुमुख।

भावार्थ—निर्णय-वचनों को न पाने से मनुष्य का मन विवेकहीन होकर अंधा हो गया है। कहो भला, वह कहां जायेगा? वह शब्दों का द्वार गुरुमुख निर्णय वचन न पाने से बारंबार कल्पित शब्दों के भंवरजाल में भटका खाता है॥४॥

व्याख्या—शास्त्र-वचन एवं गुरु-वचन के नाम पर संसार में शब्दों का ऐसा भयंकर वन है, जिसमें से निकल पाना बहुत बहादुरी का काम है। निर्णय शब्दरूपी कसौटी न होने से मनुष्य का मन अंधा बना वाणी के घोर वन में भटक रहा है। श्री रामरहस साहेब ने कहा है कि एक शब्द-समुदाय में चार प्रकार की वाणियां हैं काल, संधि, झांई और सार।[1] सारशब्द एवं निर्णय-वचन लेकर ही अन्य वाणियों को परखकर उनसे उबरा जा सकता है।

संसार में एक सृष्टिक्रम है, कारण-कार्य-व्यवस्था है तथा विश्व के शाश्वत नियम हैं। जिन वाणियों में तथ्यपरक वर्णन है वही सारशब्द है और जिनमें अनर्गल बातें, चमत्कार, अंधविश्वास एवं राग-द्वेषपूर्ण बातें हैं, वे सब त्याज्य हैं। किसी महापुरुष के ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं—"आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते हैं कि आप्त अथवा योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनों को स्वीकारते हैं, जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[2] भामतीकार भी कहते हैं "हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[3]

जैसे अंग में चुभे हुए कांटे को दूसरे कांटे से निकाला जाता है, वैसे निर्णयवचनों से भ्रामक वचनों के जाल को काटकर उससे विवेकवान निकल आते हैं। सद्गुरु कहते हैं "द्वार न पावै शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।" यदि मनुष्य शब्दों का द्वार न पाया, तो वह बारम्बार भ्रामक शब्दों के घेरे में भटकता रहेगा। शब्दों का द्वार है निर्णयवचन। इसी के बिना मनुष्य का मन अंधा बना भटकता है। अतएव हमें शब्द समूह का मोह न होना चाहिए, किन्तु निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए पूर्ण निष्पक्षता की आवश्यकता है।

शब्द-शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मथि लीजै।
कहहिं कबीर जहाँ सार शब्द नहिं, धृग जीवन सो जीजै॥ ५ ॥

---

१. एक शब्द समुदाय जो, जामें चार प्रकार।
काल शब्द सन्धि शब्द, झांई औ पुनि सार॥ *पंचग्रन्थी, टकसार॥*

२. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा।
युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधै॥ *अनिरुद्धवृत्ति १/२६॥*

३. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ *भामती॥*

शब्दार्थ—अन्तरे = भेद। धृग = धिक्कार है। जीजै = जीना।

भावार्थ—शब्द-शब्द में बड़ा भेद होता है। अतएव विवेक की मथानी से मथकर सारशब्दों को निकाल लो। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मनुष्य में सारशब्दों का विचार और आदर नहीं है, वह व्यर्थ ही जीवन जी रहा है ।।५।।

व्याख्या—उक्त साखी में सद्गुरु तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शब्द-शब्द में बड़ा अन्तर होता है। शास्त्र, गुरु एवं परम्परा किसी के भी शब्द हों, वे विचारणीय हैं। दूसरी बात यह कि उन शब्दों का विवेक-द्वारा मंथनकर उनमें से केवल सारशब्द एवं निर्णयवचनों को ले लें, शेष छोड़ दें। तीसरी बात है कि जो बिना विचार किये आंख मूंदकर मानता है और सारशब्दों का आदर नहीं करता, उसके जीवन को धिक्कार है।

सद्गुरु ने "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[१] कहकर शास्त्र, गुरु तथा परम्परा सबका आदर करते हुए अपने विवेक को प्रमुखता दी है। वे कहते हैं कि सबका आदर करो; परन्तु अपने विवेक का निरादर करना तो सब कुछ पर पानी फेर देना है। आखिर शास्त्र, गुरु और परम्परा की बातें भी तो अपने विवेक से ही समझी जा सकती हैं। अतएव विवेक का स्थान सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं कि विवेक की मथानी से वाणियों को मथो और उनमें से सार को निकाल लो और असार छोड़ दो।

वेदों के पूज्य ऋषि भी हमें यह राय देते हैं "जहां पर विवेकवान चलनी से सत्तू छान लेने के समान मन से वाणी को छान लेते हैं, वहां मित्र मित्रता को जानते हैं और ऐसी वाणी में कल्याणप्रद लक्ष्मी निवास करती है।"[२] महाकवि कालिदास जी भी कहते हैं "हर चीज इसलिए अच्छी नहीं मानी जा सकती कि वह पुरानी है। सिर्फ नयी होने से कोई चीज तुच्छ नहीं। विवेकवान ठीक परीक्षा के बाद इस या उस वस्तु को ग्रहण करते हैं। केवल मूर्ख मनुष्य दूसरों की बातों पर तुरन्त विश्वास कर पतित होते हैं।"[३] गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे परम्परावादी महात्मा भी कह बैठते हैं—"जड़-चेतन और गुण-दोषों को मिलाकर कर्ता ने सृष्टि रची है। संत को चाहिए कि वे हंस के समान दोषरूपी पानी को छोड़कर केवल गुणरूपी दूध ग्रहण कर लें।"[४]

उक्त उदाहरणों को देने का तात्पर्य यह है कि जो वास्तविकता होती है, उसकी आवाज सब तरफ से किसी-न-किसी प्रकार उठती ही है। चीनी और रेत डाल दीजिये, तो चींटी भी परखकर चीनी ले लेगी और रेत छोड़ देगी। फिर विवेक-शक्तिसंपन्न मानव यदि

---

१. बीजक, साखी २४७।

२. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।। *ऋग्वेद १०/७१/२ ।।*

३. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धिः ।। *मालविकाग्निमित्र ।।*

४. जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार ।। *मानस, बालकांड, दोहा ६ ।।*

नीर-क्षीर विवेक नहीं करता, तो उसकी जिन्दगी का क्या अर्थ है! सद्गुरु ने साखी ग्रंथ में भी कहा है—

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय॥

शब्दै मारा गिर परा, शब्दै छोड़ा राज।
जिन्ह-जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥ ६ ॥

शब्दार्थ—गिर परा = पतित हुआ। सरिगौ = बन गया।

भावार्थ—विषयासक्तिपूर्ण एवं भ्रामक शब्दों ने ऐसी चोट मारी कि उनसे घायल होकर कितने मनुष्य अपनी मानवता एवं कल्याणपद से पतित हो गये। परंतु एक विवेक-वैराग्यपूर्ण शब्द सुनकर, राज्य तक की आसक्ति त्यागकर सुज्ञजन विरक्त हो जाते हैं। अतएव जिन-जिन लोगों ने सत-असत शब्दों का विवेक कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग किया, उनका कल्याण बन गया॥६॥

व्याख्या—"शब्दै मारा गिरा परा" ऐसे-ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से आदमी नीचे गिर जाता है। अच्छे-अच्छे साधक जब सजगता छोड़कर विषय-वासनाओं से भरे शब्दों तथा शृंगारिक गीतों को सुनते, शृंगारिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हैं, तब धीरे-धीरे अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। नारी जाति से अपरिचित ऋषि शृंग एकांत जंगल में युवती वेश्या के शृंगारिक शब्द सुनकर विमोहित हो गये। योगिराज मछंदरनाथ सिंहल की रानियों के रसीले शब्दों को सुनकर अपना योग-वैराग्य छोड़ बैठे। पतिता स्त्रियों की विषयरस-वाणी सुन-सुनकर कितने साधक अपने पद से गिर जाते हैं, फिर सामान्य की बात ही क्या!

विषय-वासनावर्द्धक गीत एवं शब्द सुनने पर यदि साधक सावधान न रहे तो उधर के ही स्मरण होने लगेंगे और मन में विषय-वासना आ जायेगी। अतएव यह परम सत्य है कि ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से मनुष्य अपने कल्याण-पथ को छोड़ बैठता है। भ्रामक शब्दों को सुनकर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है।

"शब्दै छोड़ा राज।" यह भी परम सत्य है कि ऐसे-ऐसे भी शब्द होते हैं कि जिन्हें सुनकर राजा लोग राजपाट छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। प्रत्यक्ष घटना देखकर और रथ-चालक से यह सुनकर कि रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु सबके पीछे हैं, गौतम के मन में वैराग्य का मंथन होने लगा और वे राज छोड़कर विरक्त हो गये। ऋषभदेव, महावीर, भर्तृहरि, गोपीचन्द कितने राजाओं ने राजपाट त्यागकर विरक्ति ले ली। लोककहावत के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी पत्नी-द्वारा यह बात सुनकर "तुम्हें जितना प्रेम मेरे चाम से है, उतना राम से होता तो तुम्हारा कल्याण हो जाता" विरक्ति ले ली।

एक शब्द राग कराता है, दूसरा शब्द वैराग्य कराता है। एक शब्द भ्रम उत्पन्न करता है, दूसरा शब्द भ्रम का निवारण करता है। एक शब्द हंसने वाले को रुलाता है, एक शब्द रोने वाले को हंसाता है। एक शब्द शोक पैदा कर देता है, एक शब्द हर्ष ला देता है।

एक शब्द शत्रुता का कारण बनता है, एक शब्द मित्रता का। एक शब्द तीर बनकर चुभ जाता है और हृदय को सालता है, एक शब्द मीठी औषध बन जाता है। एक शब्द बने काम को बिगाड़ देता है, एक शब्द बिगड़े काम को बना देता है। एक शब्द विघटन का कारण होता है, एक शब्द संगठन का। एक शब्द बंधन देता है, एक शब्द मोक्ष। अतएव बड़ी सावधानी से शब्दों का ग्रहण-त्याग करो।

सद्गुरु कहते हैं "जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज।" अर्थात जिन लोगों ने शब्दों का विवेक कर गलत का त्याग एवं ठीक का ग्रहण किया, उनका कल्याण हो गया।

मनुष्य के बिगड़ने-बनने में शब्दों का महत्त्व है। मन को विषयों की ओर खींचने वाले अश्लील उपन्यास, पत्र-पत्रिका, साहित्य, नाटक, कहानी, तथाकथित धर्मग्रन्थ—इन सबसे बचना चाहिए। श्रृंगारिक उपन्यास हो या रासलीला का ग्रंथ—दोनों ही कल्याण-विरोधी हैं। अनेक भाषाओं के विद्वान एवं परम विरक्त संत श्री भगवदाचार्य जी महाराज ने एक जगह लिखा है कि जिन्हें साधना से रहना हो और ब्रह्मचर्य-पालन करना हो, वे संस्कृत-साहित्य एवं उर्दू-साहित्य का पढ़ना एकदम त्याग दें, क्योंकि ये दोनों श्रृंगाररस-प्रधान हैं।

शब्द हमारा आदि का, पल-पल करहू याद।
अन्त फलेगी माँहली, ऊपर की सब बाद॥ ७ ॥

शब्दार्थ—आदि का = मूल स्वरूप का। माँहली = अन्तःपुर में जाने वाला सेवक, महल में रहने वाला, तात्पर्य में स्व-स्वरूप में स्थित चेतन।

भावार्थ—हमारे निर्णय-शब्द मूल चेतनस्वरूप के परिचायक हैं, अतः ऐसे शब्दों का निरंतर मनन-चिंतन करो। इसके अंतिम फल में स्वरूपस्थिति-रूपी महल के निवासी बन जाओगे, ऊपर की माया तो सब व्यर्थ है।।७।।

व्याख्या—कबीर देव के वचन बारंबार जीव का बोध देते हैं। कबीर देव इतने सजग पुरुष हैं कि वे बारंबार हमें अपनी वाणियों से जगाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर खींचते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हें स्वरूपज्ञान की याद दिलाता हूं। तुम अपने चेतनस्वरूप की पल-पल याद करो। स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का बारंबार स्मरण-मनन करने से स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति दृढ़ हो जाते हैं। इसका फल होता है कि जीव 'माहली' हो जाता है। वह अपने 'महल' में, अपने भवन में रहने लगता है।

जीव का महल क्या है? क्या जो यह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी से महल खड़ा कर लिया गया है, यह जीव का महल है? बिलकुल नहीं। यह तो इस शरीर के रहने के लिए दो दिन का मुसाफिरखाना है। जीव का महल तो उसकी अपनी स्वरूपस्थिति है। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एक ऐसा पक्का-पोक्ता भवन है, जो न कभी गिरने वाला है और न छूटने वाला है।

वर्षा के पानी से भीगता, जेठ की धूप से तपता तथा पौष-माघ की ठंडी से कांपता आदमी जब गिरता-भागता अपने मजबूत और सुरक्षित मकान में आ जाता है, तब वह

अपने आपको कितना सुरक्षित अनुभव करता है, कितना आनंदित होता है, यह सबका अपना अनुभव है। यह तो क्षणिक है। पुनः घर से निकलकर वर्षा, धूप तथा ठंडी में काम करने जाना पड़ता है। परन्तु जो वैराग्यप्रवर साधक संसार के तापों से भागकर अपने स्वरूपस्थिति-महल में पहुंच जाते हैं, वे सदा के लिए परमविश्राम, परम शांति एवं परमानन्द धाम में पहुंच जाते हैं। वे समझते हैं "ऊपर की सब बाद" सारी माया अन्ततः छूटने वाली है। इसमें मेरी क्या हानि, क्या लाभ! मेरा क्या छुटेगा, क्या मिटेगा! मैं तो अपनी स्थिति में स्थायी भवन पा गया हूं। अब मुझे बाहरी चीजों में कोई हानि-लाभ नहीं है। अब कुछ भी छूट जाने का भय नहीं रहा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा— "नित पारख प्रकाश में, सोई निज घर जान।" तथा "बसै आनंद अटारी।" यह स्वरूपस्थिति ही निज घर तथा आनन्द अटारी है।

बाहर के मकान, महल शरीर के लिए आवश्यक होते हुए भी मन को तापों से मुक्त नहीं कर सकते। सब सुविधाओं से पूर्ण, संगमरमर पत्थरों से बने चमचमाते हुए विशाल भवन में पहुंचकर मन थोड़े समय के लिए बड़ा सुख का अनुभव कर सकता है; परन्तु यदि उसी में बहुत काल या कुछ समय रहने का अवसर पड़ जाय, तो थोड़े दिनों में मन उदास हो जायेगा। जब किसी कारण से मन बेचैन होता है, तब मित्रों, स्वजनों एवं सब सुविधाओं से भरा भव्य-भवन भी श्मशान या जेलखाना के समान प्रतीत होता है। निरन्तर सुख से पूर्ण, शांतिमय, अक्षय तथा कभी न छूटने वाला महल स्वरूपस्थिति ही है। अतएव अपने आप में रमो, आत्माराम होओ।

स्वर्ग धरती पर है

जिन्ह जिन्ह सम्मल ना कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन आथये, सम्मल कियो न जाय॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सम्मल = शंबल, यात्रा के लिए भोजन पदार्थ, मार्ग का खर्च, धर्म तथा अध्यात्म की पूंजी। पुर = ग्राम, मानव शरीर। पाटन = बाजार, सत्संग। झालि = अन्धकार, बुढ़ापा की दुर्बलता। दिन आथये = जीवन का अन्त।

भावार्थ—ऐसा उत्तम नर-शरीर और सत्संग पाकर जिसने आध्यात्मिक पूंजी नहीं बना ली, वह बूढ़ा होने पर तथा जीवन के अन्त होने पर कुछ नहीं कर सकेगा॥८॥

व्याख्या—किसी को दूर जाना है तो उसे रास्ता के लिए खर्चा रखना पड़ता है, रुपये, खाने-पहनने की सामग्री आदि। इसी को 'शंबल' कहते हैं। शंबल का अर्थ आधार, सहारा आदि भी है। ये सभी अर्थ एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। गांव तथा बाजार में ही शंबल जुटाया जा सकता है। यहां सबका आध्यात्मिक अभिप्राय है। यह मानव-शरीर गांव है और सत्संग बाजार है। इसी में आध्यात्मिक शंबल अर्जित किया जा सकता है।

अच्छे विचार, अच्छी वाणी तथा अच्छे आचरण का प्रयोग करने से मन में अच्छे संस्कार संग्रहीत होते हैं। ये अच्छे संस्कार ही जीव के लिए शंबल हैं, पूंजी हैं और जन्म-जन्मान्तर के लिए सुखद हैं। इस शंबल एवं पूंजी का उपार्जन आज ही संभव है।

आज हमारे पास आंखें न होतीं तो हम देख न सकते। पैर न होते, तो चल न सकते। हाथ न होते, तो सेवा का काम न कर सकते। बुद्धि न होती, तो समझ न सकते। पागल होते, तो नाली का पानी पीते। सत्संग और सद्ग्रंथ न मिले होते, तो अच्छे विचारों का संग्रह न कर पाते और हमारे कल्याण का आधार न बन पाता। सौभाग्य है कि हमें सब सुविधाएं प्राप्त हैं। अभी सब इंद्रियां ठीक हैं। स्वास्थ्य ठीक है। अवस्था साधना करने योग्य है। ऐसे सुनहले अवसर को यदि हम मलिन विषय-सेवन में लगाते हैं और कल्याण-साधना नहीं करते हैं, तो यह हमारा घोर प्रमाद है।

"झालि परे दिन आथये" अर्थात जब आंखों से दिखेगा कम, कान से सुनाई नहीं देगा, पैर जमीन पर रखने से डगमगायेंगे, हाथ में बल नहीं रह जायेगा, बुद्धि में दृढ़ता नहीं रहेगी, मन से बातें भूल जाया करेंगी एवं सारा शरीर शिथिल हो जायेगा, और मौत निकट आ जायेगी, तब हम क्या कर सकते हैं! तब "सम्मल कियो न जाय।" तब हमसे कुछ भी होना सम्भव नहीं।

अतएव आज ही धर्म की कमाई करो। धन केवल अपने तथा अपने परिवार के भोगों में ही मत स्वाहा करो। धन से यथासंभव दान करो। दुखियों, अभावग्रस्तों की सहायता में लगाओ। संतों की सेवा तथा सत्साहित्य के प्रचार में लगाओ। सार्वजनिक सेवा-संस्थानों को दान करो। शरीर से दूसरों की सेवा करो। वाणी से प्रिय एवं हितकर बोलकर दूसरे की सेवा करो। मन से मानव मात्र के प्रति प्रिय तथा प्राणि मात्र पर दया का भाव रखो। आज सुनहला अवसर तुम्हें मिला है। इसे व्यर्थ न जाने दो। धन छुटेगा। शरीर छुटेगा। परिवार छुटेगा। पद और प्रतिष्ठा छुटेंगे। क्या रह जायगा तुम्हारे पास! पैसा-पैसा बटोरकर क्या करोगे! क्या पुत्र के लिए! 'पूत सपूत तो का धन संचय' और 'पूत कपूत तो का धन संचय!' यदि पुत्र लायक होगा तो कमाकर खायेगा। उसके लिए संग्रह करने की आवश्यकता नहीं, और पुत्र नालायक होगा, तो उसके लिए संग्रह करके क्या करोगे! वह तो शराब-कबाब, जुआ-व्यभिचार आदि में संग्रहीत धन नष्ट कर देगा। अतएव अपने तन-धन को पर-सेवा में लगाकर पवित्र संस्कारों की पूंजी कमाओ। यही शांति का परम शंबल है। यही बड़ी पूंजी है। यह कल नहीं बन पायेगा। इसे आज ही बनाओ।

अन्ततः जीव का परम शंबल तो स्वरूपस्थिति है। सारी वासनाओं-इच्छाओं को छोड़कर जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो गया, वह सदैव के लिए सम्राट हो गया। संसारी सम्राट का तो एक उदाहरण मात्र है। सम्राट बेचारा निश्चिंतता का सुख जानता ही नहीं है। स्वरूपस्थ एवं आत्माराम पुरुष तो सदैव चिंताहीन परम सुख का उपभोक्ता है। इसके लिए आज ही डट जाओ। किसी ने कितना सुंदर कहा है—

मानुष तन सद्गुरु मिलन, मोक्षहु इच्छा होय।
दुर्लभ तीनों परम हैं, पाय सुयोग न खोय॥

यहाँ ई सम्मल करिले, आगे विषई बाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ ना हाट॥ ९ ॥

शब्दार्थ—यहाँ ई = नर जन्म में। आगे = मानवेतर योनियों में। बिसाहन = खरीदने।

भावार्थ—वर्तमान स्वस्थ नरजन्म में अपनी कल्याण-साधना कर लो। इसके अतिरिक्त पशु आदि खानियों में तो केवल विषयों का मार्ग है। सब जीव स्वर्ग में कल्याण-सौदा खरीदने चले, जहां न वणिक हैं, न बाजार। अर्थात जहां न सद्गुरु हैं, न सत्संग।।९।।

व्याख्या—मानव-जीवन कर्म-भूमिका है। यहीं कर्मों का निर्माण तथा ज्ञान-द्वारा कर्मों का अभाव भी होता है। मानव जीवन में ही विवेकबुद्धि है। यहीं धर्म का शंबल एवं अच्छे संस्कारों की पूंजी बनायी जा सकती है। यहीं सत्संग में अपने चेतनस्वरूप को ठीक से जानकर उसमें स्थिति की जा सकती है। मनुष्य शरीर के बाद अन्य पशु-आदि योनियों में तो केवल विषय-सेवन का ही रास्ता है। पशु-पक्षी आदि तो केवल पेट भरने की क्रिया करते हैं और प्रजनन करते हैं। पेट और भोग के अलावा वहां कुछ संभव ही नहीं है। अतएव हमारे मानव जीवन की सफलता पेट भरने और बच्चा पैदा करने में नहीं है, किन्तु सत्संग, विवेक, परसेवा, स्वरूपविचार आदि में रमने में है।

पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर कुछ लोगों की यह धारणा है कि गंगादि नदियों में नहाकर, तीर्थों में निवास कर एवं मूर्तियों के दर्शन कर तथा अमुक मंत्र एवं नाम-जपकर हम स्वर्ग-लाभ करेंगे। स्वर्ग में भगवान के पास पहुंचकर कृतार्थ हो जायेंगे। परन्तु यह सब बच्चों का मनोरंजन मात्र है। सद्गुरु कहते हैं "स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ न हाट।" वहां न तो बनिया है और न बाजार। अर्थात न कहीं स्वर्ग है और न वहां कोई भगवान।

स्वर्ग वहां नहीं है जहां पौराणिक लोग कल्पना करते हैं। यह तो यहीं है। इसी धरती पर विवेक-वैराग्यसंपन्न सद्गुरु भगवान हैं। संत एवं सज्जन लोग देवता हैं और सत्संग स्वर्ग है। हमें स्वर्ग धरती पर उतारना होगा। उतारना क्या, धरती पर स्वर्ग है ही।

सद्गुरु कबीर का सारा ज्ञान ताजा, व्यावहारिक और तथ्य की धरती पर अवलंबित है। वे कहते हैं "यहाँ ई सम्मल करिले" इसी धरती पर स्वर्ग को बसा लो। आकाश में कोई स्वर्ग नहीं है।

तुम यह मानो कि तुम्हारा घर या आश्रम स्वर्ग है। उसमें रहने वाले सारे सदस्य देवता हैं। सुबह नींद खुलते ही जिन लोगों पर दृष्टि पड़े उन्हें देवता के रूप में देखो और उनका श्रद्धा, आदर एवं प्यार से सत्कार करो। सबसे मीठा बोलो, मीठा व्यवहार करो। घर, दुकान, दफ्तर, कारखाना, खेत तथा सड़क पर परिवार, ग्राहक, नौकर, स्वामी एवं जनता के रूप में जो मिलें, उन्हें देवी-देवता समझो। उनके साथ सुन्दर व्यवहार करो, तो देखोगे यह संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम तुम ऐसा व्यवहार करना सीखो, तो तुम्हारे लिए सर्वत्र स्वर्ग ही मिलेगा।

जीव की गरिमा और उसका स्वागत

जो जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार।।१०।।

शब्दार्थ—सार = मुख्य, सर्वोत्तम, वास्तविक, पूर्णतः प्रमाणित, मूल, सत्य, स्वागत।

भावार्थ—यदि जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसे पूर्णतः प्रमाणित सर्वोच्च सत्ता समझो और उसका स्वागत करो। जीव मानव शरीर में ऐसा पहुना है, जो लौटकर पुनः इसमें नहीं आयेगा ।।१०।।

व्याख्या—संसार के अधिकतम संप्रदायवादी कहते हैं कि जीव तो तुच्छ है, अंश, प्रतिबिंब, आभास, प्रतिभास है, यह अल्पज्ञ है, इच्छा, प्रयत्न, द्वेषादि से स्वरूपतः संबद्ध है। वे कहते हैं कि श्रेष्ठ तो ईश्वर एवं ब्रह्म है।

विचारकर देखा जाय कि यदि ईश्वर तथा ब्रह्म जीव से पृथक है, तो वह एक अनुमान है, जिसकी कल्पना जीव ने ही की है। जीव न होता तो ईश्वर एवं ब्रह्म की कल्पना कौन करता! वस्तुतः जीव अनुमात है और ईश्वर-ब्रह्म अनुमान (अटकल), जीव कल्पक है और ईश्वर-ब्रह्म कल्पना। जीव अपरोक्ष मैं के रूप में विद्यमान है। ईश्वर-ब्रह्म जीव-द्वारा की गयी चर्चा मात्र है। जीव को तुच्छ कहने वाला जीव ही है जो अपनी भूल से ऐसा कह रहा है। जिस दिन जिस जीव को अपने स्वरूप की पहचान होगी, उस दिन वह जीव को तुच्छ कहने का अपराध न करेगा। जीव तुच्छ है तो शिवत्व की घटना कहां घटेगी? जीव को हटा देने के बाद ईश्वर-ब्रह्म का नामलेवा भी कोई न रहेगा। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है "कबीर देव का यह प्रामाणिक निर्णय है कि जीव जो मूल है उसे न समझा गया, तो सब थोथा है।"[1] जीव को तुच्छ कहना तो आत्मघात है।

सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग जीव को तुच्छ कहते हैं उनकी बातें जाने दो। परन्तु यदि तुम जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसकी महत्ता का बोध प्राप्त करो। जीव चेतन है, आत्मा (स्वयं स्वरूप) है, सर्वोच्च सत्ता है, व्यक्ति के अपने आप की यथार्थता है, ज्ञानस्वरूप है, अमृतस्वरूप है[2] तथा रामस्वरूप है।[3] इस सर्वोच्च सिद्धांत की गरिमा को समझो और इस तथ्य का स्वागत करो। अर्थात जीव का स्वागत करो।

जीव का स्वागत करना, अपने आपका स्वागत करना है। अपने आपका स्वागत करना है अपने आपको सारे बन्धनों से छुड़ा लेना। जीव जब सारे बन्धनों से छूट जाता है, तब यही शिव है।

"जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार" यह मानव-शरीर पहुनाई की जगह है और जीव पहुना है। मानव-शरीर कल्याण करने का साधन है। क्योंकि यह विवेक-प्रधान है। अतएव जीवन में विवेक जगाया जाय, मन के बन्धनों को तोड़ा जाय और जीव इस जीवन में परम विश्राम पा जाये। यही जीव का स्वागत करना है। यदि यह काम आज कर लिया गया, तो यही जीवन की सफलता है, जीव का इस शरीर में आने की सार्थकता है, अन्यथा सब थोथा है।

---

१. कहहिं कबीर पुकारि के, ये निर्णय परमान।
जीव जमा जाने बिना, सबै खर्च में जान।। *निर्णयसार।।*

२. बीजक, रमैनी साखी १०।

३. रमैनी ४१।

जीव जब शरीर छोड़ देगा, तो वह पुनः इसमें नहीं आयेगा और जीव इस शरीर से कब चला जाय, कोई नहीं जानता। इसलिए आत्म-कल्याण का काम शीघ्र करना चाहिए।

जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।
पानि पचावहु आपना, तो पानी माँगि न पीव॥११॥

शब्दार्थ—पानि = पानी, वाणी, वासना। पचावहु = नष्ट कर दो।

भावार्थ—यदि जगत में जीने की कला जानते हो और उस जीव को भी जानते हो जो तुम्हारा स्वरूप है, तो आज तक की ग्रहण की हुई सारी वासनाओं को नष्ट कर दो तथा आगे किसी प्रकार वासना संसार से न ग्रहण करो॥११॥

व्याख्या—उक्त साखी में चार बातें बतायी गयी हैं—स्वरूपज्ञान, जीने की कला, वासना निवृत्त करना तथा पुनः वासना न ग्रहण करना। हम इन पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

पहली बात लें "जो जानहु सो जीव" जीव के दो अर्थ होते हैं—देहधारी तथा शुद्ध चेतन। कहीं बिजली जल रही है और वहां बहुत-से पतिंगे आ गये, तो लोग कहते हैं 'बहुत जीव आ गये।' यहां देहधारी के लिए जीव कहा गया। दूसरा जीव का अर्थ शुद्ध चेतन है। वह देह में हो या देह से रहित अवस्था में हो, चेतन को जीव कहा जाता है। हमें यह समझना चाहिए कि हम देह नहीं हैं, किन्तु शुद्ध चेतन हैं, जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अतएव देह का विनशना, मेरा अपना विनशना नहीं है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कहें या आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें, ये सब जड़-तत्त्व हैं। इनमें चेतना का कोई गुण नहीं है। अतएव जीव, जिसका मौलिक स्वरूप ही चेतन है, वह जड़ से नहीं बना है, किन्तु स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है, वह नित्य, अनादि-अनन्त एवं अविनाशी होता है। अतः हमें समझना चाहिए कि हमारी न कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी नाश होगा। विज्ञान के दृष्टिकोण से भी हर मौलिक पदार्थ नित्य है। चेतन जीव मौलिक है, अतः वह नित्य है, अविनाशी है। जब हमें दृढ़ बोध हो जाता है कि हम अविनाशी हैं, तब हमें संसार में किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता। इस बोधभाव को जितना साधा जाय, उतना जीवन सुखद होगा। यह बोध आध्यात्मिक साधना का मूलाधार है।

दूसरी बात है "जो जानहु जग जीवना" अर्थात यदि जगत में जीना जानते हो तो। जगत में पैदा तो बहुत मनुष्य होते हैं, परन्तु जो ठीक से जीना जानता हो, वह विरला है। मान लो, कोई व्यक्ति एक हजार रुपये लेकर व्यापार करना शुरू करता है, और दो महीने में उसके पास आठ सौ रुपये की पूंजी रह गयी, चार महीने में छह सौ रुपये की। इसी प्रकार रोज उसकी पूंजी घटती गयी। वह मुनाफा तो कुछ भी नहीं कमा पाया, किन्तु उसका मूलधन ही नित्य घटता गया और आखिर में पूरा जमा धन समाप्त हो गया, तो स्पष्ट है कि उसका व्यापार घाटे में चलकर अंत में असफल हो गया।

इसी प्रकार हमारा जीवन एक व्यापार है। मनुष्य जन्म लेता है, शिशु के रूप में रहता है। उसका चित्त एकदम शुद्ध होता है। बालपन भी शुद्ध चित्त तथा चिन्तारहित

बीतता है। जवानी आने पर मलिनता शुरू होती है, साथ-साथ चिन्ता भी। फिर भी जवानी में काफी कुछ उदारता, सरलता तथा मानसिक प्रसन्नता रहती है। परिपक्व अवस्था में पहुंचकर आदमी काफी चिंताक्रांत हो जाता है। बुढ़ापा में तो केवल चिन्ता एवं मन की खिन्नता ही शेष रह जाती है, और असंतोष में ही वह शरीर छोड़ देता है। यह जीवन-व्यापार का घाटे में चलते-चलते अंततः निष्फल हो जाना है। ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि हम जीवन जीने की कला नहीं समझ सके। यदि कुछ समझे भी हों, तो उसका जीवन में प्रयोग नहीं कर सके।

जीवन जीने की कला है जीवन में कहीं न उलझना। राग में, द्वेष में, ममता में, वैर में, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि में, झगड़ा-झंझट में—कहीं भी अपने आपको न फंसाना ही जीवन जीने की अच्छी समझदारी का फल है। सद्गुरु विशाल देव ने कहा है "जगत में रहि कै चलो बचाय।" अपनी भूल और प्रलोभन से उलझनें आती हैं। दूसरे लोग भी कटुवचन, अपमान, वस्तुहानि, निन्दा आदि कर उलझाने के कारण बनते हैं। विवेकवान को अंदर-बाहर सावधान रहना पड़ेगा। यह बात नहीं कि जीवन में कहीं उलझनें आयेंगी ही नहीं। ऐसा तो किसी का भी जीवन नहीं होता है जिसमें कभी-न-कभी उलझन आये ही नहीं। सभी से कुछ-न-कुछ भूलें हो जाती हैं और अपने गलत व्यवहार से भी उलझनें आ जाती हैं। कोई जीवन की शुरुआत में ही परिपक्व नहीं हो जाता। बहुत ठोकरें खाने के बाद जीवन में परिपक्वता आती है। और परिपक्वता भी उसी को आती है जो समझदारी से काम करता है। अन्यथा जीवन बीत जाता है और कितने लोग बालक ही बने रहते हैं। सबके जीवन में बाहर से भी कुछ-न-कुछ उलझनें आ ही जाती हैं। खल लोगों का काम ही है दूसरे के मार्ग में रोड़े अटकाना। परन्तु विवेकवान शोध-शोधकर अपनी भूलों को छोड़ता है और दूसरों-द्वारा आये हुए रोड़ों को समता-समझदारी से हटाते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

इस संसार में चाहे अपने माने गये लोग हों और चाहे दूसरे, विचारों की भिन्नता होने पर उनसे लड़-लड़कर समाधान नहीं किया जा सकता। विवेकवान का काम है दूसरे-द्वारा आये हुए आक्षेपों को सह लेना तथा सदैव कुसंग का त्याग करना। जो अपने माने गये हों, उनमें जिनको सुधार मिले, समता से विचार देकर उन्हें सुधारना तथा जो शक्ति के बाहर दिखें उनसे दूर हो जाना, यही समझदारी है। सार यह है कि किसी मनुष्य की न तो ममता में बंधना और न वैर में। जो पांचों विषयों की आसक्ति को जीत लेता है और भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आसक्ति भी त्याग देता है, केवल अनासक्त होकर जीवन-निर्वाह लेता है, वह कहीं नहीं बंधता।

कुल मिलाकर कहा जाय तो अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। जो व्यक्ति सर्वत्र अनासक्त होता है, वह जानबूझकर कहीं भी गलत काम नहीं करता। जो गलत नहीं करता, वह उलझता नहीं। बाहर से उलझाकर कोई उसे अशांत नहीं कर सकता। जिसका हृदय शुद्ध एवं दृढ़ है, जो पूर्ण परिपक्व हो चुका है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अतएव अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। उठी हुई पहली बात

"जो जानहु सो जीव" अर्थात अपने अविनाशी स्वरूप का ज्ञान अनासक्त होने में महान सहयोगी है।

तीसरी बात है "पानि पचावहु आपना" यह बहुत गम्भीर भाव का वाक्यांश है। यहां पानी का अर्थ वाणी और वासना है। वाणी अर्थात शब्द। मनुष्य के मन में निरन्तर शब्द गूंजते रहते हैं। अनेक प्रकार के भावना-उत्पादक शब्द मनुष्य के मन में भरे रहते हैं, और वह उन्हीं में निरन्तर ऊबता-डूबता रहता है। शब्द और वासना का घनिष्ठ संबंध है। मानवेतर प्राणियों में शब्दशक्ति बहुत कम होने से उनमें वासनाएं भी कम होती हैं। मनुष्य वासनाओं का पुंज बना रहता है; क्योंकि वह शब्दों को बहुत ग्रहण करता है। शब्दों के पीछे कुछ अर्थ होते हैं और अर्थों के पीछे उलझन।

शांति-इच्छुक को चाहिए कि उलझाने वाले शब्दों को तो वह एकदम छोड़ दे; किन्तु समाधि में पहुंचकर सारे शब्दों को छोड़ दे। शब्द छोड़ने पर स्मरण छूटेंगे तथा स्मरण छोड़ने पर शब्द छूटेंगे।[1]

अंततः 'पानी' का परिपाक अर्थ वासना ही है। वासना का अर्थ है आसक्तिपूर्ण संस्कार। अपने चेतनस्वरूप से जो कुछ पृथक है, उसके राग-द्वेषात्मक संस्कार ही वासना है। देह से जगत पर्यंत एवं पिंड से ब्रह्मांड तक जो कुछ जड़ दृश्य है, इसकी वासना ही जीव को परतन्त्र बनाती है। सद्गुरु कहते हैं कि आज तक जितनी वासनाएं ग्रहण कर रखे हो, उन्हें विवेक से नष्ट कर दो; और आगे संसार से मांगकर कोई नयी वासना मत ग्रहण करो। पुनः वासनाएं ग्रहण न करो यही चौथी बात है। जीवन जीने की यह सर्वोत्तम कला है कि आज तक संसार की जितनी अहंता, ममता एवं वासनाएं हमने ग्रहण कर रखी हैं, उन्हें त्याग दें और नयी अहंता-ममताएं एवं वासनाएं न ग्रहण करें। अहंकाररहित, ममतारहित एवं वासनारहित जीवन ही मुक्त जीवन है। यही सच्चा जीवन है। यही जीवन सच्चे अर्थों में सुखी रहता है।

उपदेष्टाओं को चेतावनी

पानि पियावत क्या फिरो, घर-घर सायर बारि।
तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि ॥१२॥

शब्दार्थ—पानि = पानी, उपदेश। घर-घर = घट-घट, सबके मन में। सायर = समुद्र। झख = कुढ़न, अहंकार।

भावार्थ—उपदेश क्या देते फिरते हो! सबके मन में ज्ञान का सागर भरा है, अर्थात सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। जो व्यक्ति सत्योपदेश का प्यासा होगा, वह अहंभाव छोड़कर स्वयं ग्रहण करेगा ॥१२॥

व्याख्या—कुछ उपदेशकों का मुंह हर समय चरचराता रहता है। वे इस ताक में रहते हैं कि कोई मिले तो मैं उसे उपदेश देना शुरू करूं। सुनने वाले चाहे थक जायं, परन्तु ऐसे उपदेशक नहीं थकते।

---

१. शब्द पर पीछे २ से ७ वीं साखी की व्याख्या देखें।

एक चर्च में एक पादरी प्रवचन देने आये। उनका प्रवचन शुरू हुआ। रात के दस बज गये, परन्तु उनकी वाणी रुक ही नहीं रही थी। लोग उठ-उठकर जाने लगे। काफी लोग चले गये, रात के ग्यारह बज गये। प्रवचन-कक्ष से सभी लोग चले गये थे, केवल एक आदमी था जो पादरी की तरफ निगाह लगाये बैठा था। पादरी ने कहा—"आपकी श्रद्धा धन्य है। आप को मेरे उपदेशों में रस आ रहा है। भले ही सब चले गये, जब तक आप सुनना चाहेंगे, मैं बोलता रहूंगा चाहे सुबह हो जाय। सत्पात्र एक काफी होता है।"

उस आदमी ने कहा—"महाशय! मैं इस मकान का चौकीदार हूं। जब तक आप इस कक्ष से बाहर नहीं होंगे, तब तक मैं अपने घर जा नहीं सकता; क्योंकि इसमें मुझे ताला लगाना पड़ेगा।"

उपदेश देने और प्रवचन करने की अति मत करो। संसार भर को चेताकर उन्हें शिष्य तथा अनुगामी बनाने की इच्छा प्रबल मोह है। इससे संसार का तो कोई कल्याण नहीं होता, अपना अकल्याण होता है। संसारियों के मन में अनेक कल्पनाएं और कामनाएं भरी हैं। जब तक उनका भी लक्ष्य आपकी ओर नहीं होगा, तब तक आपके उपदेशों की झड़ी लगा देने मात्र से उनको बोध नहीं होगा।

पहले साधक बनो। विवेक-वैराग्यसंपन्न किसी सद्गुरु की शरण में जाओ। उनके चरणों में अपने आपको समर्पित करो। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करो। स्वरूपज्ञान तथा पवित्र रहनी का बोध प्राप्त करो। शम, दम, एकांतवास, वैराग्य, द्रष्टा-अभ्यास और साधनों-द्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में पूर्ण निमग्न हो जाने के बाद ही दूसरों को चेताने की बात सोचो। स्वयं तृप्त होकर ही दूसरों को उस तरफ प्रेरणा दे सकते हो। केवल वाणी से उपदेश पर्याप्त नहीं है। यही महापुरुषों का अनुक्रम है।

कितने उपदेष्टा नामधारी तो विवेक-वैराग्य तथा सदाचार की बातें ही दूर, वे साधारण आचरणों तक का पालन नहीं करते। वे बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग उड़ायेंगे, मुख में पान-तम्बाकू भरकर तब उपदेश देने खड़े होंगे। उनका मुंह देखो तो भड़भूज का भाड़ बना रहता है। जैसे भड़भूज भाड़ में लकड़ी, कंडे, पैरा, पत्ते आदि सब झोंकता रहता है, वैसे वे अपने मुंह में जो पाते हैं झोंकते रहते हैं। उपदेशकों, गुरुओं, अध्यापकों आदि के दांत मोती के समान चमकते रहने चाहिए।

अपात्रों के पीछे मत दौड़ो। सत्पात्रों को उपदेश दो। "जो जिव झाँकि न उपजै, तो कहा पुकार कबीर।" यदि व्यक्ति के मन में प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेश देने से क्या फायदा! अतएव सत्पात्रों को उपदेश दो।

"घर-घर सायर बारि" सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। सबके मन में ज्ञान का सागर होने का अहंभाव है। मुझे तो कई बार ऐसा होता है। लोग मिलने आते हैं और जब तक पास में बैठे रहते हैं केवल अपनी बातें सुनाते रहते हैं। वे सुनना कुछ भी नहीं चाहते। जब वे अपना वक्तव्य देकर उठकर जाने लगते हैं तब कहते हैं कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया।

सद्गुरु विशाल साहेब से एक सज्जन मिलने आये। नमस्कार कर बैठ गये और लगे श्लोक पर श्लोक झाड़ने। बहुत देर तक वे धाराप्रवाह अपनी बातें कहते रहे; और बीच-बीच में विशाल देव से कहते जाते थे कि महाराज, आप कुछ सुनावें। विशाल देव चुप बैठे सुनते रहे। जब आगंतुक सज्जन बहुत समय तक बोलते रहे, तब अंत में उन्होंने पुनः कहा कि आप कुछ सुनावें। विशाल देव ने कहा—आपके शब्दों की भीड़ इतनी है कि उसमें घुस पाना ही कठिन है। जब कभी आप शांत होंगे, तब समय देखकर मैं भी कुछ कहूंगा।

वे सज्जन चले गये। कुछ दिनों के बाद पुनः आये और नमस्कार कर चुपचाप बैठ गये। दस-पन्द्रह मिनट बैठे रहे। वे भी चुप और विशाल देव भी चुप। वे इस चुप्पी से घबरा गये और उन्होंने कहा—"महाराज, कुछ सुनाइए।" विशालदेव ने कहा—अभी आप केवल बाहर से मौन हैं। आपके भीतर शब्दों की भीड़ उतनी ही है।

आदमी जब तक अपने मन को खाली कर, विनम्र होकर कुछ ग्रहण करने के लिए न बैठे, तब तक वह उपदेशों का पात्र नहीं है। जिसको सदुपदेशों की पिपासा होती है वह स्वयं विनम्र होकर गुरुजनों के निकट आता है। सद्गुरु ने इसी साखी प्रकरण में कहा है कि जिसमें ग्रहण करने की भावना होती है वह निरहंकारी होता है और जो अहंकारी होता है, वह ग्रहण करने वाला नहीं है। वह तो शब्दों की छाया पकड़कर घूमता है।[1] गीताकार ने भी बताया है कि सत्योपदेश का अधिकारी कौन होता है! कहा है "तत्त्व के जानने वाले ज्ञानियों की शरण में तू विनम्रतापूर्वक जाकर उनकी सेवा कर, उनसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न कर, वे तुम्हें उसका उपदेश करेंगे।"[2] यहां शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिए तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का वर्णन है—प्रणिपात, सेवा तथा प्रश्न। प्रणिपात का अर्थ है चरणों पर झुकना। अतएव विनय, सेवा तथा प्रश्न (जिज्ञासा) से ज्ञान पाने का अधिकार प्राप्त होता है।

सार्वजनिक सभा में तो प्रवक्ता प्रवचन देता है। हां, वह सभा में बैठे अधिकतम व्यक्तियों की योग्यता एवं पात्रता का अनुमान लगाकर तदनुसार उपदेश करता है। सार्वजनिक सभा में भी प्रवक्ता का यह कर्तव्य है कि वह ऐसा उपदेश करे जिससे कुछ-न-कुछ सभी प्रकार के पात्रों को शिक्षा मिल जाय।

चेतन हंस की गुरुता

हंसा मोति बिकानिया, कंचन थार भराय।
जो जाको मरम न जाने, सो ताको काह कराय॥१३॥

---

१. जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाँहि॥ साखी २८९ ॥

२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ *गीता ४/३४॥*

शब्दार्थ—हंसा = जीव, चेतन, मनुष्य। मोति = मोती, मुक्ति। जो = भ्रमिक गुरु। जाको = मुक्ति का।

भावार्थ—जैसे हंस-पक्षी मोती चुगने के प्रलोभन में पड़कर तथा बधिक के जाल में फंसकर बाजार में बिक जाय, वैसे चेतन-मानव मुक्ति के प्रलोभन में पड़कर तथा थाली में स्वर्ण-मोहरें भरकर गुरुओं को अर्पित करता है और उनके जाल में फंसकर संसार-बाजार में बिक जाता है, किन्तु जो भ्रमिक एवं अधकचरे गुरु स्वयं मुक्ति का रहस्य नहीं जानते हैं, वे शिष्यों को क्या रास्ता बता सकते हैं! ॥१३॥

व्याख्या—संसार में ज्ञान तथा मोक्ष के इच्छुकों की कमी नहीं है, परंतु वे सच्चे सद्गुरु का आधार न पाकर भटक जाते हैं। विरही मुमुक्षु गुरु को अपने तन, मन तथा धन अर्पित करना चाहता है और यह उसका कर्तव्य ही है; परन्तु गुरु भी सही होना चाहिए।

शिष्य से तन, मन, धन अर्पित कराने वाले गुरु बहुत घूमते हैं, परन्तु वे स्वयं अध्यात्म का क, ख भी नहीं जानते।

किसी के लच्छेदार व्याख्यान सुनकर, रूप, जाति, प्रभुता, प्रचार देखकर अपने भावुकतावश शीघ्र ही उसको अपने तन, मन तथा धन को अर्पित करके, उसे अपना मोक्षदाता गुरु न मान लो। ऐसा न हो कि तुम धोखे में पड़ जाओ। यह जगत प्रसिद्ध उक्ति आदरणीय है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।"

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
गुरू सदा सो बंदिये, शब्द लखावै दाव॥ कबीर अमृतवाणी॥
सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।
सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध॥

अर्थात—गुरुजनों में अन्तर है। उनके मनोभाव भी भिन्न-भिन्न हैं। वही गुरु वन्दनीय है जो सार-असार शब्दों को परखने की युक्ति बताता है। उन्हीं गुरुद्वारा यथार्थ ज्ञान की प्रत्यक्षता होती है, जिनमें अनुमान-कल्पना एवं मिथ्या मान्यताएं नहीं हैं। ऐसे सद्गुरु के मिलने से जीवन्मुक्ति की प्रत्यक्ष, पूर्ण, निर्मल एवं यथार्थ शांति मिलेगी।

हंसा तू सुवर्ण वर्ण, क्या बर्णों मैं तोहिं।
तरिवर पाय पहेलिहो, तबै सराहौं तोहिं॥१४॥

शब्दार्थ—हंसा = हंस, चेतन जीव। सुवर्ण = उत्तम ज्ञान वर्ण। तरिवर = तरुवर, वृक्ष, मानव-शरीर। पहेलिहो = रहस्य को समझोगे।

भावार्थ—हे चेतन! तू उत्तम ज्ञान-रंग है। मैं तेरी क्या प्रशंसा करूं! मनुष्य-शरीर तो पाये हुए हो, परंतु जब अपने रहस्य को समझोगे, तभी मैं तुम्हारी प्रशंसा करूंगा॥१४॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस साखी में पाठकों को दो बातों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। पहली बात जीव की श्रेष्ठता, दूसरी बात उसका रहस्य जानने की विशेषता।

यह जीव हंसरूप है। हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर जैसे स्वच्छ एवं विशाल सरोवर में रहता है। कवि कल्पनानुसार वह नीर-क्षीर विवेक करता है और मोती चुगता है। बातों को समझाने के लिए कवियों की अनेक कल्पनाएं होती हैं। सार यह है कि जीव शुद्ध चेतन है। वह मानव-शरीर जैसे उच्च शरीर में आज निवास कर रहा है। उसे नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिए। उसे जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, ग्राह्य-त्याज्य, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध पर विचारकर सार ग्रहण करना चाहिए। उसे मोती चुगना चाहिए। अर्थात आत्मकल्याण का काम करना चाहिए। उसे सदैव सद्गुण एवं स्वरूप-विचार तथा आत्मचिंतनरूपी मोती चुगना चाहिए।

''ह'' और ''स'' दो-वर्ण तथा एक मात्रा बिन्दु (ं) मिलकर हंस शब्द बनता है। यदि इस शब्द का पदच्छेद किया जाय, तो बन जायेगा 'हम्-स', यदि पूर्ण संस्कृत में कहें तो हो जायेगा 'अहम्-सः'। 'अहम्' का अर्थ 'मैं' तथा 'सः' का अर्थ 'वह' है। भावार्थ हुआ कि 'वह' 'मैं' हूं जो मेरा उद्देश्य है। 'वह' अन्य पुरुष है तथा 'मैं' उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा, वह ब्रह्म, वह राम, वह मोक्ष आदि जहां तक अपने परम प्राप्तव्य को 'वह' रूप में अर्थात अन्य पुरुष के रूप में देखा जाता है, एक अज्ञान है। हंस का हंसत्व है कि वह मैं हूं। 'अहम्-सः' अर्थात 'वह मैं' हूं। मैं ही ईश्वर हूं, ब्रह्म हूं, परमात्मा हूं, राम हूं, मोक्ष हूं। मेरा प्राप्तव्य मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है। उसी के लिए ये सारे विशेषण लगाये जा सकते हैं।

भारतीय परम्परा में चेतन जीव को हंस पुराकाल से ही कहा गया है। कबीर साहेब ने तो बीजक में दर्जनों बार चेतन के अर्थ में हंस का नाम लिया है।

सद्गुरु कहते हैं कि चेतन शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। परन्तु उसकी प्रशंसा मैं तब करूंगा, जब वह अपनी पहेली को समझ लेगा। पहेली कहते हैं घुमावदार बात को। अपने आप को समझने की बात सर्वाधिक घुमावदार है। यह बात मानव-शरीर में ही समझी जा सकती है, क्योंकि मानव-शरीर विवेक-प्रधान है।

निकट की वस्तुएं कम दिखती हैं। हम दूसरे के पहने हुए कपड़े के दाग को तो शीघ्र देख लेते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़े के दाग शीघ्र नहीं देख पाते। हम दूर के पर्वत, यहां तक करोड़ों किलोमीटर दूर के तारे को देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे हुए कज्जल या अपनी आंखों के पास लगे हुए बाल को नहीं देख पाते। इसी प्रकार हम बाहर की वस्तुओं को जानते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं जानते कि हम कौन हैं!

मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह अपने आप को नहीं जानता। वह भाषाओं का व्याकरण जानता है, वकालत, डॉक्टरी तथा इन्जीनियरिंग जानता है, खगोल-भूगोल तथा विश्व की अनेक पहेलियों को समझने की चेष्टा करता है; परन्तु वह अपनी पहेली नहीं समझता कि मैं कौन हूं!

अपने आप को न समझने से ही जीवन में अंधियारी है। हमारी दृष्टि विषय-मुखी है, इसलिए अपने आप को समझना एक पहेली हो गया है, परन्तु यदि हम विषयों से हटकर अपने आप को समझने की चेष्टा करें, तो यह समझना बड़ा सरल है। जो सबको समझता

है, वह मैं ही तो हूं। मैं पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-द्वारा पांचों विषयों एवं संसार को जानता हूं और जानकर उनका ग्रहण-त्याग करता हूं। इसलिए मैं उन सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। विषयों को भोगने से इच्छाएं बनती हैं, अन्यथा मैं इच्छारहित, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं पूर्ण तृप्त हूं। सारा जड़ दृश्य मुझसे सर्वथा भिन्न होने से मैं असंग, निराधार एवं अकेला हूं। इस बोध में स्थित हो जाने से जीवन में केवल चिरशांति ही रह जाती है। यही मानव का लक्ष्य है। यही स्थिति प्राप्त करने पर सद्गुरु उसकी प्रशंसा करना चाहते हैं। वे कहते हैं, जीव मूलतः शुद्ध-मुक्त तो है ही, परन्तु जब वह व्यवहारतः भी अपने आप को वैसा कर ले, तब उसकी प्रशंसा है।

मनुष्य को चाहिए कि वह धन, पद, वर्ण, शरीर, विद्या, सम्मान, महंती, ऐश्वर्य आदि के सारे अहंकार छोड़कर निष्पक्षतापूर्वक सत्य को समझने का प्रयास करे। संसार की सारी चीजें नाशवान, क्षणभंगुर एवं स्वप्नवत हैं। अपना सत्य स्वरूप ही अपना परम निधान है। उसको समझना तथा उसमें स्थित होना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया, तैं किया और लगवार ॥१५॥

शब्दार्थ—रंग = भाव। कुरंगे = कुभावना में, विषय-वासना में। लगवार = उपपति, अपने ऊपर ईश्वरादि की कल्पना।

भावार्थ—हे चेतन! तू तो ज्ञान से अत्यंत ठोस, महान शक्तिशाली था और है। परंतु अपने बुरे आचरणों से हलका हो गया है। तू विषय-वासनाओं और मनःकल्पनाओं के रंग में रंग गया है। तू स्वतन्त्र सम्राट होते हुए अपने ऊपर दूसरा मालिक मान रखा है॥१५॥

व्याख्या—यह सबल जीव निर्बल क्यों बना है! इस साखी में सद्गुरु इसके दो कारण बतलाते हैं। एक है विषय-वासनाओं की आसक्ति और दूसरी बात है अपने ऊपर अन्य कर्ता-धर्ता मान लेना। इन दोनों कारणों से जीव की चाल हलकी हो गयी है। वह विषयों का एवं ईश्वर का मुहताज हो गया है।

शरीरधारी को पांचों विषयों का जीवन में उपयोग करना पड़ता है। अतएव विवेक तथा अनासक्तिपूर्वक शरीर-निर्वाह लेना कल्याण में सहायक है। परन्तु शरीर-निर्वाह के अलावा काम-भोग तथा अन्य राग-रंग जिससे मन में विषयों की आसक्ति पुष्ट होती हो, ऐसे विषय-सेवन से जीव विषयासक्ति एवं मोह में बंध जाता है। जिसका मन संसार के किसी भी विषय में बंधा है, वह न स्वतन्त्र हो सकता है और न सबल। यद्यपि जीव स्वतः सबल है, परन्तु विषयासक्ति के आवरण में पड़ने से उसे अपने बल की याद ही नहीं हो सकती। जो कहीं भी आसक्त है, वह कायर एवं निर्बल हो जाता है। राजा दशरथ की कैकेयी में आसक्ति होने से ही, वे कैकेयी के क्रुद्ध होने पर, उसके सामने दीन बने गिड़गिड़ा रहे थे।

कहीं भी मोह होने से ही आसक्ति बनती है, और जहां हम मोह करते हैं, उसकी कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं। जब हम किसी विषय की कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं, तब उससे हम छोटे हो जाते हैं। यही निर्बलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही पूर्णरूप से सबल हो सकता है, जो कहीं भी आसक्त न हो। विषयों की सारहीनता तथा

आसक्ति के दुष्परिणाम को जो पूर्णरूपेण समझता है, वह आसक्ति को सांप-बिच्छू ए बाघ-सिंह से भी अधिक भयंकर समझता है।

दुर्बलता का दूसरा कारण है अपने ऊपर दूसरा कर्ता-धर्ता मान लेना। मनुष्य व इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, इसलिए वह अपने आप को निर्बल मान लेता है और अपने ऊप एक सर्वसमर्थ ईश्वर की कल्पना करता है और आशा करता है कि जब हम उसके साम विनय-वंदना करेंगे, रोयें-गायेंगे तब वह हमारी सारी इच्छाओं को पूरी कर देगा। उत्त भावना को लेकर वह मन से निर्बल बना एक कल्पित धारणा के सामने जीवनभर घुट टेककर रोता है।

इच्छाओं का न पूरी होना तो अपने अज्ञान से है। हम विषयासक्त हैं और नान इच्छाएं पैदा करते हैं, इसलिए वे पूरी नहीं होतीं। वस्तुतः इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, व निवृत्त की जाती हैं। जब ज्ञान हो जाता है और आदमी विषयों की आसक्ति छोड़ देता है तब वह व्यर्थ इच्छाओं को उठाता ही नहीं। रही शरीर की मुख्य आवश्यकताएं, वे श्र करने से अपने आप पूरी होती रहती हैं। उसके लिए किसी के सामने गिड़गिड़ाने क आवश्यकता नहीं है।

जहां तक संसार के प्राणी-पदार्थों का बिछुड़ना, बिगड़ना, विनशना, शरीर में रोग लगना तथा जीवन में उतार-चढ़ाव आना है, इसे कोई रोक नहीं सकता। रोग औ समस्याओं के प्रतिरोध में संयम, श्रम और धैर्य का आधार लेना चाहिए। संसार के सा प्राणी-पदार्थ नाशवान हैं, इन्हें कोई तथाकथित ईश्वर-परमात्मा भी स्थिर बनाये नहीं रख सकता।

मनुष्य ने अपने स्वतः सबल, शुद्ध चेतनस्वरूप की भूल से मन-द्वारा ईश्वर की सृ की और भक्तिभावना के नाम पर ईश्वर की मनःकल्पित धारणा में इतना आसक्त हो गय कि अपने आपा को भूल गया। प्रार्थना-वंदना के नाम पर रोना-गिड़गिड़ाना उसकी नियति हो गयी। भूलवश जीव मान लिया कि हम अंश, प्रतिबिम्ब, अल्पज्ञ एवं अनाथ हैं। जैसे मनुष्य अपने हाथों से मिट्टी, पत्थर, धातु आदि की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुट टेकता है, वैसे वह मन से ईश्वर की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुटने टेकता है।

अपने ऊपर ईश्वर की अवधारणा बनाकर जीव कभी अपने सबल चेतनस्वरूप क पहचान नहीं कर सकता। ईश्वरवादी को अपनी महत्ता का सच्चा बोध कभी हो ही नह सकता।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस चेतन! तू विषयासक्ति की दुर्बलता तथा अपने ऊपर कर्ता-धर्ता की बनायी हुई मान्यता को दूर कर। अपनी पूर्णता, सबलता, स्वतन्त्रत को पहचान और अपने गरिमामय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो।

हंसा सरवर तजि चले, देही परिगौ सून।
कहहिं कबीर पुकारि के, तेहि दर तेही थून॥१६॥

शब्दार्थ—सरवर = तालाब, देह।

भावार्थ—जब जीव शरीर छोड़कर चला जाता है, तब यह शरीर चेतना से शून्य होकर मुरदा हो जाता है। सद्गुरु जोर देकर कहते हैं कि कर्माध्यासी जीव पुनः उसी गर्भ में प्रवेश करता है, जहां उसका शरीर निर्मित होता है ॥१६॥

व्याख्या—शरीर जड़ है। यह तभी तक मंगलमय प्रतीत होता है, जब तक इसमें जीव निवास करता है। जीव के निकल जाने पर यह व्यर्थ है। अतः शरीर से जीव पृथक और सत्य है।

पृथ्वी, जलादि भौतिक तत्त्वसमुदाय प्रत्यक्ष और सत्य हैं। उनके असंख्य परमाणु अखण्ड हैं। कहा जाता है विज्ञान ने आज परमाणु का भी विखण्डन कर दिया है; परन्तु परमाणु का अर्थ तो होता है, जो अत्यन्त छोटा हो, जिसका पुनः खण्डन न किया जा सके, अर्थात भौतिक द्रव्य की अन्तिम इकाई ही परमाणु है, वह अखण्ड ही होगा। उन भौतिक इकाइयों परमाणुओं का यौगिक रूप ही यह संसार है जो हमारे सामने है, यह प्रवाहरूप अनादि-अनंत है। यह केवल जड़ है। इसमें चेतन के कोई लक्षण नहीं हैं। यह दृश्य और भोग्य है। इसका द्रष्टा और भोक्ता संसारी चेतन अर्थात जीव है।

द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, चेतन और जड़ एक नहीं होते, दोनों के धर्म विरोधी हैं। मूल में जो गुण-धर्म नहीं रहेंगे, उसके कार्य में वे नहीं आ सकते। महुआ, गुड़, अन्न सड़ाकर शराब बनाने से उसमें जो नशा आ जाता है, तो उसके मूल—महुआ, गुड़, अन्न इत्यादि में सूक्ष्मरूप से नशा रहता है। महुआ आदि भी जड़ हैं, नशा भी जड़ है। इसमें कोई विलक्षणता नहीं। अतएव जड़ पदार्थों के संयोग से चेतन की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार चेतन में केवल ज्ञान-धर्म, ज्ञान-गुण, ज्ञान-आकार हैं, अर्थात वह केवल ज्ञानमय है। अतएव उससे जड़ भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति मानना भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसा होना असंभव है। अतएव जड़ भौतिक कारण-कार्य पदार्थों से नाना अविनाशी चेतन पृथक और स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

जड़ तत्त्वों की अंतिम इकाई (परमाणु कहो या कुछ कहो) अदृश्य है, अखण्ड है। वह कहीं भी रहे, परन्तु उसका नाश कभी नहीं। चेतन तो अभौतिक है, उसका सूक्ष्म और अदृश्य रहना स्वाभाविक है। वह चेतन भी कहीं रहे, उसका नाश नहीं। जड़ तत्त्वों के परमाणु कहीं भी रहें, वे अपने मूलतः गुण-धर्मों के अनुसार क्रिया करते रहेंगे। इसी प्रकार जब तक जगत-वासनाओं का नाश नहीं होता, तब तक जीव भी चाहे जहां रहे, वह शरीर धारण करके नाना क्रिया करना, पुनः छोड़ना और वासनावश शरीर धारण करना यह व्यवहार करता रहेगा।

भौतिक परमाणुओं में उनके गुण-धर्म-क्रियादि स्वभावसिद्ध हैं। अतएव उनका प्रवाह सदैव चलता रहेगा। परन्तु चेतन में जगत-वासना विषयासक्तिवश है। इसके नाश होने पर जगत-वासना का अंत हो सकता है और जगत-वासना नष्ट होने पर जीव का संसार में आना-जाना, जन्मना-मरना समाप्त हो जाता है। जड़ परमाणुओं में क्रिया स्वाभाविक है, इसलिए वह नित्य है। जीव जान-जान तथा मान-मानकर क्रिया करता है। यदि विवेकी सद्गुरु के सत्संग-द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को समझ ले और जड़-वासना, जगदासक्ति में

जैसे अनंत दुख भरे हैं वह ठीक-ठीक परख ले तो वह उसे अवश्य छोड़ देगा। फिर जगत-राग कट जाने पर जन्म-मरण का प्रश्न आ ही नहीं सकता। परन्तु जब तक जगत-वासना है, जीव नाना कर्म कर एक शरीर से दूसरे शरीर में परिभ्रमण करते तथा दुख भोगते हैं। मानव का अन्तिम और परमोच्च कर्तव्य तो यही है कि इन दुखों से छुट्टी ले। यह कोई नशा नहीं, यथार्थ ज्ञान की बात है। आसक्तिरहित पुरुष इसी शरीर में ऐसी शांति प्राप्त करता है जिसके अन्यत्र दर्शन भी दुर्लभ हैं।

प्रकृत साखी में तो यह चर्चा है कि अविनाशी जीव शरीर को छोड़कर जब चल देता है, तब शरीर मुरदा हो जाता है और जीव पुनः कर्मवश दूसरा शरीर बनाने के लिए चल देता है। अतः पुनर्जन्म और कर्म-फल-भोग सत्य हैं। इससे मुक्ति का मार्ग सद्गुरु ने बताया है—

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूलै आन।" (बीजक, हिण्डोला १)

हंस बकु देखा एक रंग, चरें हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये, बकुहिं धरेंगे काल॥१७॥

शब्दार्थ—हरियरे ताल = हरे-भरे सरोवर में।

भावार्थ—देखा कि हंस और बगले एक ही उज्ज्वल रंग में हैं, और हरे-भरे ताल में चर रहे हैं। परंतु हंस की पहचान उसके नीर-क्षीर विवेक में होती है, और बगले की पहचान उसकी क्रूरता में होती है। वह मछली आदि जीवों को पकड़कर खाता है॥१७॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपनी वाणियों में पदे-पदे रूपकों एवं अलंकारों का प्रयोग करने में बड़े प्रवीण हैं। ऐसे समर्थ कवि प्रयत्न कर अलंकारों का प्रयोग नहीं करते, किन्तु उनके हृदय से वह सब स्वाभाविक ढंग से निकलता रहता है। यहां सज्जन-असज्जन के लिए हंस-बकु तथा संसार के लिए हरे-भरे ताल के कितने सुन्दर रूपक हैं।

यह सच है कि मनुष्यों की आकृति और वस्त्रों से उन्हें बहुत ज्यादा नहीं पहचाना जा सकता। किसी नये आदमी की पहली पहचान का माध्यम उसकी आकृति और पहनाव हैं, दूसरा माध्यम उसकी बोली और तीसरा माध्यम उसके आचरण हैं। किसी की पूर्णतया पहचान उसके आचरण से ही होती है।

आजकल तो और मुश्किल हो गया है। पढ़ाई-लिखाई बढ़ गयी है। राजनीतिबाजी बढ़ गयी है तथा कपड़े की स्वच्छता भी बढ़ गयी है। अतएव बड़ी अच्छी पोशाक तथा मीठी और सभ्य भाषा में भी कुछ लोग ऐसे मिलते हैं जो मोर की तरह देखने में सुन्दर और मीठे बोलने वाले होते हैं, किन्तु खाते हैं सांप। मोर के वेष और भाषा में जो भूल जायेगा, वह उसकी सच्ची पहचान नहीं कर सकेगा। उसकी असली पहचान तो तब होती है जब उसे सांप खाते देखा जाता है।

बगला भी वेष में कितना उज्ज्वल हंस के तुल्य होता है। वह सरोवर के निकट अर्धउन्मीलित नेत्र कर बैठता है, तो लगता है कि तपस्वी ध्यान कर रहा है और कभी-कभी जब एक पैर उठाकर केवल एक ही पैर के बल खड़ा होता है, तब तो लगता है कि

अभिप्राय है कि विवेकसंपन्न मानव-जीवन को पाकर भी जीव दुखी क्यों है? उत्तर है कि उसके भीतर-बाहर लाखों शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। वह अपने आप को कितने प्रहारों से बचाये! ॥१८॥

व्याख्या—यहां हिरनी एवं मृग जीव के लिए रूपक है। मानव-शरीर विवेकसंपन्न है। ऐसे उत्तम शरीर में रहकर भी जीव दुखी क्यों है? क्योंकि उसके बाहर-भीतर लाखों शिकारी उसे मार रहे हैं। भीतर विषयों की असंख्य इच्छाएं; क्रोध, काम, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेषादि के अनेक कुसंस्कार; भ्रांति, अबोध, संशय आदि अज्ञान के दल अपने जहरीले बाणों से जीव पर निरन्तर वार करते हैं।

बाहर बहुत प्रकार के मनुष्यों की संगत है। उनमें एक-से-एक शूर-वीर हैं जो समझा-बुझाकर जीव को विषय-वासनाओं, भ्रांति, संदेह एवं अज्ञान की खाई में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु विशाल देव भी कहते हैं—"बाहर में कुसंग पांचों विषयों के पदार्थ एवं प्राणी हैं जो दुर्बुद्धि उत्पन्न कर मन को जलाते हैं, साथ में कुसंग शरीर, मन तथा इन्द्रियां हैं और भीतर में कुसंग इच्छाएं तथा चाहनाएं हैं।"[1]

इस प्रकार मन में अनादिअभ्यस्त विषय-वासनाएं तथा बाहर पांचों विषयों का गरम बाजार और प्राणी-पदार्थों का कुसंग मनुष्य को अविवेक की ओर ले जाने में निरन्तर सहायक बनते हैं। इन सबों का फल यह होता है कि मनुष्य सदैव मन से मलिन, अध्यात्म से निर्बल एवं चित्त से दुखी बना रहता है।

मानव-जीवन दुख भोगने के लिए नहीं मिला है। मानव-जीवन में विवेक के बीज हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सज्जनों एवं साधुओं की संगति करे, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करे और एकांत में बैठ, हृदय की गहराई में उतरकर चिंतन करे और अपने विवेक को जगाये। हृदय में विवेक का प्रकाश जग जाने से मन की सारी दुर्बलताएं, विषय-वासनाएं एवं कुसंस्काररूपी अन्धकार गायब हो जायेगा। मन विवेक से सबल हो जाने पर बाहर के प्राणी-पदार्थ प्रलोभन नहीं उत्पन्न कर सकेंगे। जो दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति हृदय को ज्ञान से आलोकित कर लेता है, उस पर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। कुसंगी लोग उसी को भुला पाते हैं जो भूलना चाहता है, और वासनाएं भी उसी को भटका पाती हैं जो भटकना चाहता है। जो सुज्ञ जीव सत्संग, स्वाध्याय एवं साधना के द्वारा विषयासक्ति और अज्ञान को हटा देता है, वह महान बलशाली हो जाता है। उसके जीवन में भटकाव नाम की कोई बात नहीं है। सद्गुरु रामरहस साहेब भी कहते हैं—

जिन-ज़िन पारख पाये, तिन-तिन लागि न फाँस।
अज्ञ जीव परबस परे, समुझि परी नहिं गाँस॥ पंचग्रंथी, टकसार॥

तीन लोक भौ पींजरा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल॥१९॥

---

१. बाहेर कुसँग पदारथ संगति, जड़ चेतन मिलि दुर्मति दाह।
साथै कुसँग देह मन इन्द्री, अन्दर कुसँग कामना चाह॥ *भवयान ४/६/५ ॥*

तपस्वी एक पैर पर ही खड़ा होकर तपस्या कर रहा है; परन्तु यह सब मछली पकड़ने की सुविधा के लिए करता है। उसकी असली पहचान तो तब होती है, जब वह मछलियों पर टूट पड़ता है।

सफेदपोशी और सभ्यता का दिखावाकर दूसरे के अधिकार को छीनकर खाने वालों पर जब नजर डालिए तो दुनिया में उनका बहुत बड़ा दल दिखता है, जो ऊंचे से नीचे तक व्याप्त है। आज के विकास-युग में इसका भी काफी विकास हुआ है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार में हंस और बगले—दोनों हैं। किसी के स्वच्छ वेष में न भूल जाना चाहिए। केवल उसकी वाणी में भी मत धोखा खाना। उसके ऊपरी मधुर चाल-ढाल से भी मत ठगाना। उसकी पहचान उसकी करनी से करना। यदि आदमी बगले के समान दूसरे की जान मारकर खाता है, दूसरे के अधिकार को हड़पता है, तो उसकी बाहरी सभ्यता और सफेदपोशी किस काम की!

हंस की पहचान नीर-क्षीर-विवेक में है। सज्जन हर जगह से बुराई त्यागकर केवल अच्छाई लेता है। संसार में अच्छाई-बुराई सब हैं। यदि हम हर जगह की बुराई लें तो हमारा पूरा जीवन बुराइयों से भर जायेगा। किन्तु सब जगह से अच्छाई चुनें, तो हमारा जीवन अच्छाइयों से भर जायेगा।

जो दूसरों की बुराइयों की चर्चा करता रहता है, जिसे परदोष-दर्शन में ही रुचि है, वह बगला है, काक है, जोंक है। न उसकी समाज में प्रतिष्ठा होती है और न अपनी अन्तरात्मा में। उसको जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती।

हंस के लक्षण ही अलग होते हैं। विवेकवान पुरुष परदोष-दर्शन, परनिंदा, पर-चर्चा को अपनी विषय-वस्तु नहीं बनाता। "सोई कहंता सोइ होउगे"[1] हम जैसा कहेंगे, सुनेंगे तथा सोचेंगे, वैसा ही हो जायेंगे। अतएव सज्जन सदैव मधु इकट्ठा करता है। जिन्दगी का दीपक क्षणिक है। वह कब बुझ जायेगा, ठिकाना नहीं है। इसलिए हमें हरक्षण सावधान रहना चाहिए कि हमें कोई गंदे संस्कार न ग्रहण हों। सद्गुरु कहते हैं कि तुम हंसवत क्षीरग्राही बनो, बगले की तरह किसी का मांस नहीं खाना।

जीव को बन्धन क्यों हैं?

काहे हरिनी दूबरी, यही हरियरे ताल।
लक्ष अहेरी एक मृग, केतिक टारों भाल॥१८॥

शब्दार्थ—लक्ष = लाख की संख्या, तात्पर्य में बहुत। अहेरी = शिकारी। भाल = तीर, तीर का फल (नोक), भाला।

भावार्थ—ऐसे हरे-भरे ताल में हिरनी दुबली क्यों है? (हिरनी ने उत्तर दिया—) मुझ एक के ऊपर लाखों शिकारी बाण चला रहे हैं। मैं कितने बाणों से अपने आप को बचाऊं!

---

१. रमैनी, साखी २४।

अभिप्राय है कि विवेकसंपन्न मानव-जीवन को पाकर भी जीव दुखी क्यों है? उत्तर है कि उसके भीतर-बाहर लाखों शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। वह अपने आप को कितने प्रहारों से बचाये! ।।१८।।

व्याख्या—यहां हिरनी एवं मृग जीव के लिए रूपक है। मानव-शरीर विवेकसंपन्न है। ऐसे उत्तम शरीर में रहकर भी जीव दुखी क्यों है? क्योंकि उसके बाहर-भीतर लाखों शिकारी उसे मार रहे हैं। भीतर विषयों की असंख्य इच्छाएं; क्रोध, काम, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेषादि के अनेक कुसंस्कार; भ्रांति, अबोध, संशय आदि अज्ञान के दल अपने जहरीले बाणों से जीव पर निरन्तर वार करते हैं।

बाहर बहुत प्रकार के मनुष्यों की संगत है। उनमें एक-से-एक शूर-वीर हैं जो समझा-बुझाकर जीव को विषय-वासनाओं, भ्रांति, संदेह एवं अज्ञान की खाई में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु विशाल देव भी कहते हैं—"बाहर में कुसंग पांचों विषयों के पदार्थ एवं प्राणी हैं जो दुर्बुद्धि उत्पन्न कर मन को जलाते हैं, साथ में कुसंग शरीर, मन तथा इन्द्रियां हैं और भीतर में कुसंग इच्छाएं तथा चाहनाएं हैं।"[1]

इस प्रकार मन में अनादिअभ्यस्त विषय-वासनाएं तथा बाहर पांचों विषयों का गरम बाजार और प्राणी-पदार्थों का कुसंग मनुष्य को अविवेक की ओर ले जाने में निरन्तर सहायक बनते हैं। इन सबों का फल यह होता है कि मनुष्य सदैव मन से मलिन, अध्यात्म से निर्बल एवं चित्त से दुखी बना रहता है।

मानव-जीवन दुख भोगने के लिए नहीं मिला है। मानव-जीवन में विवेक के बीज हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सज्जनों एवं साधुओं की संगति करे, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करे और एकांत में बैठ, हृदय की गहराई में उतरकर चिंतन करे और अपने विवेक को जगाये। हृदय में विवेक का प्रकाश जग जाने से मन की सारी दुर्बलताएं, विषय-वासनाएं एवं कुसंस्काररूपी अन्धकार गायब हो जायेगा। मन विवेक से सबल हो जाने पर बाहर के प्राणी-पदार्थ प्रलोभन नहीं उत्पन्न कर सकेंगे। जो दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति हृदय को ज्ञान से आलोकित कर लेता है, उस पर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। कुसंगी लोग उसी को भुला पाते हैं जो भूलना चाहता है, और वासनाएं भी उसी को भटका पाती हैं जो भटकना चाहता है। जो सुज्ञ जीव सत्संग, स्वाध्याय एवं साधना के द्वारा विषयासक्ति और अज्ञान को हटा देता है, वह महान बलशाली हो जाता है। उसके जीवन में भटकाव नाम की कोई बात नहीं है। सद्गुरु रामरहस साहेब भी कहते हैं—

जिन-जिन पारख पाये, तिन-तिन लागि न फाँस।
अज्ञ जीव परबस परे, समुझि परी नहिं गाँस।। पंचग्रंथी, टकसार।।

तीन लोक भौ पींजरा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल।।१९।।

---

१. बाहेर कुसँग पदारथ संगति, जड़ चेतन मिलि दुर्मति दाह।
साथै कुसँग देह मन इन्द्री, अन्दर कुसँग कामना चाह।। *भवयान ४/६/५ ।।*

शब्दार्थ—तीन लोक = सत, रज, तम। सावज = शिकार। काल = मन की कल्पनाएं, अज्ञान।

भावार्थ—सत, रज और तम ये तीनों गुण पिंजड़े बन गये, पाप तथा पुण्य जाल बन गये और सब जीव इनमें फंसने वाले शिकार बन गये। एक अज्ञान-काल-शिकारी ने सबको फसाकर मारा।।१९।।

व्याख्या—किसी भी वस्तु का दुरुपयोग मनुष्य का पतनकारी तथा सदुपयोग कल्याणकारी है। सत, रज और तम—इन तीनों गुणों की जीवन में परम आवश्यकता है। यदि इनका सदुपयोग किया जाय तो ये जीवन के कल्याण में सहायक बनते हैं। पिण्ड और ब्रह्मांड सब कुछ तो त्रिगुणात्मक है। जीवन के क्षण-क्षण के व्यवहार में तीनों गुण बरतते हैं। ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता सतोगुण है, क्रियामात्र रजोगुण है और आलस्य, निद्रादि तमोगुण है। सतोगुण का कार्य ज्ञान तथा प्रसन्नता है और इसकी आवश्यकता है। परन्तु क्रियाशीलतारूप रजोगुण की भी आवश्यकता है। मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, यह भी रजोगुण का कार्य है। क्योंकि यह एक क्रियाशीलता है। जब हम सोने चलते हैं, तब बत्ती बुझा देते हैं। अन्धकार तथा नींद दोनों ही तमोगुण के कार्य हैं; परन्तु दोनों की जीवन में बड़ी आवश्यकता है, यह समझना सरल है।

इनका दुरुपयोग बंधन बन जाता है। ज्ञान सतोगुण का कार्य है, परन्तु यदि ज्ञान में अहंकार हो तो वही बंधन का कारण बनता है। ऐसे अन्य गुणों के विषय में भी समझें। गीताकार ने इस विषय को बड़ा साफ कहा है कि कैसे ये तीनों गुण बंधन बन जाते हैं। वे कहते हैं—

"हे निष्पाप! उनमें से सत्त्व निर्मल, प्रकाशस्वरूप तथा स्वास्थ्यप्रद है; अतएव वह सुख तथा ज्ञान की आसक्ति (अहंभाव) में बांधता है।।६।। हे कौन्तेय! तुम यह समझो कि रागरूप रजोगुण कामना तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ है। वह जीव को कर्म की आसक्ति में बांधता है।।७।। सब देहधारियों को भ्रम में डालने वाले तमस को अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो। हे अर्जुन! वह जीव को प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा में बांधता है।।८।।"[1]

उक्त तीनों गुणों के कार्य, जिनका सदुपयोग करने से वे कल्याणकारी होते हैं, उन्हीं का दुरुपयोग करने पर उक्त ढंग से जीव के फंसने के पिंजड़े बन जाते हैं।

"पाप पुण्य भौ जाल" सद्गुरु कहते हैं कि ये पाप और पुण्य दोनों जीव के फंसने के लिए जाल बन जाते हैं। जीवन में पाप को तो कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए।

---

१. तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।। *गीता, अध्याय १४।।*

निश्चित ही जीव के लिए यह केवल बंधन ही है। परन्तु पुण्य कर्मों की जीवन में महती आवश्यकता है। आदमी एकदम निष्क्रिय होकर हरक्षण नहीं रह सकता। यदि वह पुण्य कर्म एवं शुभ कार्य नहीं करेगा, तो उससे पाप एवं अशुभ कर्म होने लगेंगे। अतएव पुण्यकर्म करते रहने की बड़ी आवश्यकता है। हां, उसे अनासक्ति, अहंकाररहित तथा निष्काम भाव से करना चाहिए। परन्तु जब आदमी पुण्यकर्म कर उसका अहंकार करता है, तब वह उसके लिए बन्धन बन जाता है। पाप-कर्म तो अहंकारवश होते ही हैं, परन्तु मनुष्य जब पुण्य-कर्म करता है, तब अविवेकवश उसमे भी अहंकार कर लेता है। इसलिए पुण्य-कर्म भी जीव के लिए बन्धन बन जाते हैं। इसी लक्ष्य को लेकर सद्गुरु ने कहा है—

"कहहिं कबीर ये दोनों बेरी। एक लोहा एक सोना केरी।।"

इस प्रकार तीनों गुणों के कार्य और पाप तथा पुण्य कर्म जीव के अज्ञान तथा अहंकार-वश उसके फंसने के लिए पिंजड़े एवं जाल बन गये। इस जाल में जीवों को फंसाने वाला एक ही शिकारी है—काल! काल का अर्थ है मन की अविवेकपूर्ण कल्पनाएं। मन का अज्ञान, मन की कल्पनाएं, मन की मलिनता ही काल है। यदि यह काल मर जाय, तो कहीं कोई बन्धन नहीं। केवल मन शुद्ध हो जाय, तो जीवन के सारे व्यवहार इतने निर्मल हो जायेंगे कि तीनों गुणों के कार्य कल्याणकारी बन जायेंगे। तब जीवन में पाप तो होगा ही नहीं, पुण्य-कर्म भी निष्काम तथा निर्मानभाव से होंगे और जीवन पूर्ण निर्ग्रंथ, निर्मल, मुक्तरूप हो जायगा।

लोभे जन्म गँमाइया, पापै खाया पून।
साधी सो आधी कहैं, तापर मेरा खून।।२०।।

शब्दार्थ—पापै=लोभ ने। साधी=सिद्ध करने वाला, जो साधना में लगा हो, साधक, जीव। आधी=अधकचरा ज्ञान। खून=क्रोध, गुस्सा।

भावार्थ—लोग अपना जीवन लोभ में खो देते हैं। लोभ तो पाप की जड़ है। वह पुण्य को खा जाता है। अधकचरे गुरु साधक-जीव से परमार्थ की आधी-अधूरी बातें करते हैं। उन पर मुझे गुस्सा आता है।।२०।।

व्याख्या—पुत्र का लोभ, स्त्री का लोभ, परिवार का लोभ, धन का लोभ, ऋद्धि-सिद्धि का लोभ, ईश्वर-दर्शन का लोभ, मोक्ष का लोभ—बहुत-से लोभ होते हैं। इन लोभों में पड़कर आदमी अपना जीवन खोता है। ऐसे लोभियों को ठग-गुरु मिल जाते हैं और उन्हें मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। श्री गुरुदयाल साहेब ने कहा है "लोभी के गांव में ठग उपासा नहीं रहता। जो जिस वस्तु का लोभी होता है उसी वस्तु को देने का झांसा देकर ठग उसे बेवकूफ बनाने के लिए उसके घर पर वास करता है।"[१]

---

१. कबीर लोभी के गांव में, ठग नहिं परे उपास।
जो जेहि मत को लोभिया, तेहि घर ठग को वास।। *कबीर परिचय।।*

जितना अनाड़ी गंवई अनपढ़ होता है, उतना ही अनाड़ी शहरी तथा पढ़ा-लिखा होता है। लोभ में पड़कर धोखेबाज गुरुओं से लोग ठगाते रहते हैं। काशी में एक समझदार कहे जाने वाले सेठ ने पंडित नामधारियों के झांसे में पड़कर गंगा के तट पर इसलिए ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा उन्हें दक्षिणा दी थी, कि इससे उनके मकान के तीसरे तल्ले पर नगरपालिका का पानी खूब चढ़ने लगेगा। क्षत्रियों के एक शिक्षित गांव में एक पंडित नामधारी अपने को नेपाल-नरेश का गुरु बताकर इस आधार पर हजारों रुपये उड़ा ले गया कि मैं पूजा कर दूंगा और तुम लोगों को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो जायगी तथा अन्य अभाव दूर हो जायेंगे। अच्छे-अच्छे अधिकारी, जज, वकील, प्रोफेसर, राजनेता, मंत्री तक अपने-अपने मंगल के लिए झूठे तंत्र-मंत्र करने वाले धूर्तों के झांसे में पड़े बराबर अपने आप को उनसे ठगाते रहते हैं।

इलाहाबाद के पश्चिम पीपलगांव में एक धूर्त अपने हाथों से पानी का स्पर्श करके लोगों को इस आधार पर प्रसाद देने लगा कि इसके सेवन से सब प्रकार की सफलता मिलेगी, तो बोतल में पानी भर-भरकर जो भीड़ चारों तरफ से वहां पहुंचने लगी कि इलाहाबाद के रिक्शे, तांगे तथा टैक्सी वालों की चांदी हो गयी।

ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष के लोभियों को भी धूर्त लोग खूब ठगते हैं। गुरुआ लोग शून्य को, ज्योति को, शब्द-नाद आदि को ईश्वर-दर्शन बताकर उनसे अपना दासत्व कराते हैं।

वस्तुतः जो अपने पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध में होता है वही मिलता है। पूजा करके, मंत्र-तंत्र करके कोई कुछ नहीं दे सकता। यदि यह सब करने से कुछ कभी मिल जाता है, तो यह एक तुक है। वह भी मिलता है अपने प्रारब्ध से ही, मंत्र-तंत्र एवं पूजा से नहीं। ईश्वर-दर्शन-जैसी चीज तो कुछ है ही नहीं। दर्शन दृश्य के होते हैं। वह सब माया है, जड़ है तथा अपने मन की कल्पना है। मोक्ष बाहर से मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो मन का वासनाहीन होकर शांत हो जाना है, जो स्वरूपज्ञान, विवेक तथा अनासक्ति का फल है।

मनुष्यों का यह लोभरूपी पाप सत्यज्ञान, सत्यमार्ग एवं सत्यधर्मरूपी पुण्य का नाश करता है। कहा जाता है कि एक युवक पंडित पढ़-लिखकर काशी से अपने घर गया। उसका गौना लाया गया। नववधू पत्नी ने अपने पंडित-पति से पूछा—"आपने अपनी विद्या पढ़कर समाप्त कर ली?" पंडित ने सकारात्मक उत्तर दिया। पत्नी ने कहा "पाप का बाप क्या है?" पंडित ने कहा—"मैंने यह तो नहीं पढ़ा।" पत्नी ने कहा—"तब तुम्हारा सब पढ़ना बेकार है।"

पंडित अपनी अपढ़ पत्नी से पराजित होकर बहुत दुखी हुए और पुनः काशी चल दिये यह पढ़ने के लिए कि पाप का बाप क्या है!

काशी के जिस मुहल्ले में पंडित पहले रहते थे, उसी में एक वेश्या रहती थी। पंडित को लौट आया देख उन्हें बुलाकर उसने उनसे लौटने का कारण पूछा। पंडित ने कारण बता दिया। वेश्या ने आश्वासन दिया "आप मेरे घर पर रहिए, मैं आज ही आपको बता दूंगी कि पाप का बाप क्या है!"

पंडित रुक गये। वेश्या ने एक थाली में जलपान लाया और साथ में दस अशर्फियां। पंडित संकोच में पड़ गये। वेश्या के हाथ का जलपान पंडित कब करने वाले थे! परन्तु साथ में दस अशर्फियां थीं। बहुत उठापटक के बाद अशर्फियों के लोभ ने उनको जलपान करने के लिए तैयार कर दिया।

वेश्या ने कुछ देर में भोजन की थाली लाकर पंडित के सामने रख दी और साथ में सौ अशर्फियां भी। पंडित जी बड़े सकते में पड़े। उन्होंने दरवाजे की तरफ देखा, कोई दूसरा नहीं था। उन्होंने अपने मन को समझाया। सौ अशर्फियां कम नहीं होतीं। पंडित भोजन जीम लिये।

चलने का समय हुआ। पंडित जी ने वेश्या से पूछा "तो बताओ, पाप का बाप क्या है?" वेश्या ने कहा "महाराज, क्या अभी बात समझ में नहीं आयी? क्या आप मेरे हाथ का भोजन कर सकते थे? यह तो अशर्फियों के लोभ ने ही कराया है। बस, पाप का बाप लोभ है, याद रखना!"

पंडित जी घर पर अपनी पत्नी से पराजित हुए थे। यहां एक वेश्या से पराजित हुए। "पाप का बाप लोभ है," हम लोग भी याद कर लें।

"साधी सो आधी कहैं" साधी कहते हैं जो सिद्ध करने में लगा हो। जो अपने जीवन के लक्ष्य को पाना चाहता है, वह साधक ही 'साधी' है। अधकचरे गुरु उनसे आधी बात करते हैं। गुरु कहलाने वाले जब स्वयं अधकचरे हैं, तब शिष्य एवं साधकों को भी आधी, अधूरी एवं अधकचरी बात ही तो बतायेंगे। 'नीम हकीम खतरे जान'। जैसे अधकचरे डॉक्टर रोगियों के जीवन को ले डूबते हैं, वैसे अधकचरे गुरु साधकों के साधनात्मक जीवन को ले डूबते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "तापर मेरा खून" ऐसे गुरुओं पर मुझे गुस्सा आता है। उनको जब स्वयं छाछ नहीं जुरता तब दूसरों को क्षीर बांटने क्यों चलते हैं! वे स्वयं खारी खाते हैं और दूसरों को कपूर बांटते हैं।

सार वचन का महत्त्व

आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।
क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय॥२१॥

शब्दार्थ—सिर खड़ी = रक्षक, पूर्ण कल्याणदायी एवं बोधप्रद। निरुवारी = निर्णय।

भावार्थ—यदि विचार एवं निर्णय करके आचरण में लायी जाय तो बोधप्रद आधी साखी भी पूर्ण कल्याणदायी हो सकती है। निर्णय-रहित पंडित की बड़ी-बड़ी पोथियों को रात-दिन गाने से क्या लाभ जिनमें स्व-स्वरूप का सच्चा बोध नहीं है॥२१॥

व्याख्या—आधी साखी हो, आधा दोहा हो, चौपाई एवं श्लोक हो। अर्थात कोई छोटा-सा वाक्य हो; परन्तु यदि वह निर्णयपूर्ण वचन है और उसका हम पूर्ण विचारकर उसके आधार पर सार-असार, जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष का ठीक निर्णय कर लेते हैं, तो वह

हमारे लिए पूर्ण कल्याणप्रद हो सकता है। संख्या एवं मात्रा का महत्त्व नहीं, गुण का महत्त्व है।

तथ्यपूर्ण आधी साखी भी हमारे सिर पर खड़ी हमारी रक्षा कर सकती है। यदि उस पर हम विचार करें और उसका आचरण करें।

"आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।" इस पंक्ति में मुख्य दो बातें हैं। एक तो यह कि आधी ही साखी हो, अर्थात छोटा ही वचन हो, परन्तु तथ्यपूर्ण हो। दूसरी बात है हम उसका निर्णय करें, शोध करें तथा उसका आचरण करें। 'निरुवार' का अर्थ है खोलना, छुड़ाना, मुक्त करना, सुलझाना, अलग-अलग करना, त्यागना, तय करना, फैसला करना आदि।

धर्म के क्षेत्र में बहुत-से संप्रदाय एवं धार्मिक लोग निर्णय करने, विचार करने एवं तर्क करने की राय नहीं देते। कबीर साहेब इसके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं 'निरुवार' करना बहुत जरूरी है। जब हम बात-बात पर निर्णयकर सार तथा असार को अलग-अलग समझेंगे, तभी सार-ग्रहण एवं असार-त्याग होगा।

"क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय।" सत्यासत्यविवेकिनी बुद्धि को 'पंडा' कहते हैं और जिसकी बुद्धि पंडा हो, उसको पंडित कहते हैं। इस प्रकार पंडित का मूल अर्थ विवेकी है। इसीलिए कबीर साहेब ने इस ग्रन्थ में जगह-जगह पंडितों को सादर सम्बोधित किया है "बूझो पंडित ज्ञानी" तथा "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।" इत्यादि।

परन्तु यहां पर पंडित का अर्थ विवेकी न होकर पत्राधारी पंडित पुरोहितों के लिए है। केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित पंडितों के लिए ही नहीं, किन्तु संसार के किसी भी संप्रदाय के पुरोहित पंडित के लिए है। केवल ब्राह्मण पुरोहित-पंडितों की पोथियों में ही बकवास नहीं होती, किन्तु मुसलमान, इसाई, बौद्ध, जैन, कबीरपंथ, नानकपंथ एवं अन्य सभी पंथों के पुरोहितों की पोथियों की कम-बेश यही दशा है। हर मत के पुरोहित-पंडितों की पोथियों में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये गये हैं। उनकी मोटी-मोटी पोथियां अतिशयोक्तियों, मिथ्या महिमाओं तथा सांप्रदायिक भावनाओं से पूर्ण रहती हैं। उनमें निर्णय वचन तो काक-तालीय न्याय कहीं किंचित होते हैं; परन्तु वे उन्हीं महिमाओं में दबे रहते हैं। अतएव हमें निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए।

जीव की सर्वोच्चता

पाँच तत्व का पूतरा, युक्ति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव॥२२॥

शब्दार्थ—पूतरा = पुतला, देह। कीव = कर दिया।

भावार्थ—पांच तत्वों के इस पुतले शरीर को मैंने ही रचकर तैयार किया है। हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं "शब्द बड़ा होता है कि जीव?" ॥२२॥

व्याख्या—"युक्ति रची मैं कीव" में 'मैं' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सबके शरीरों में एक ऐसी सत्ता निवास करती है जो रात-दिन कहती है "मैं खाता हूं, मैं पीता हूं, मैं आता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह काम करूंगा, मैं यह काम नहीं करूंगा इत्यादि।" यह 'मैं' शब्द जिस सत्ता से स्फुरित होता है, वह सत्ता ही जीव है।

सद्गुरु बतलाना चाहते हैं कि 'मैं' कहने वाला जीव ही इस शरीर को युक्तिपूर्वक बनाकर खड़ा करता है। वस्तुतः यह कथन लाक्षणिक है; क्योंकि जीव माता के पेट में जब रज-वीर्य के साथ जाता है, तब वह अचेत अवस्था में रहता है। अचेत जीव सोच-समझकर गर्भावस्था में शरीर बनाये, यह संभव ही नहीं है। एक लोहार या सुनार सावधान होकर युक्तिपूर्वक हथियार या आभूषण बनाता है, वैसे गर्भस्थ जीव शरीर नहीं बना सकता। जीव कर्मवासनाओं के सहित गर्भाशय में पहुंच जाता है और उसकी उपस्थिति मात्र से उसके शरीर की रचना उसके कर्मों के जोर से होती है। सार इतना ही है कि शरीर की रचना में अपने कर्मों के सहित जीव ही मुख्य कारण है। स्थूल कारण माता-पिता हैं यह तो सब जानते हैं, इसलिए उनका उल्लेख यहां नहीं हुआ है।

पंडित लोग पोथियों के आधार पर कहते रहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया है। ईश्वर माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं कि शब्द बड़ा होता है कि जीव? सारे शब्द जीव ही बोलता है। वेद, शास्त्र, कुरान, बाइबिल, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि मनुष्य ही ने रचे हैं। ॐ, ईश्वर, ब्रह्म, राम-रहीम आदि शब्द भी जीव ही बोलता है। जीव न हो तो वर्णात्मक शब्दों का अस्तित्त्व ही न हो। अतएव पंडितों का यह कथन शब्द मात्र है कि मनुष्य को ईश्वर ने बनाया।

अतएव जीव की ही सत्ता स उसके कर्मानुसार शरीर बनता है और शरीर धारण कर जीव ही नाना शब्दों की रचना करता है। इसलिए हमें चाहिए कि शरीर और शब्द—दोनों कृत्रिम पदार्थों से ऊपर उठकर अपने असली स्वरूप जीव को पहचानें।

पाँच तत्व का पूतरा, मानुष धरिया नाँव।
एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव॥२३॥

शब्दार्थ—एक कला = परख, सद्बुद्धि, स्वरूपज्ञान। बिकल = विकल, अशांत, कष्टित।

भावार्थ—पांच तत्व के पुतले इस शरीर को धारण करने से जीव का नाम मनुष्य रखा गया। परन्तु एक सद्बुद्धि के बिना यह सब जगह पीड़ित रहता है॥२३॥

व्याख्या—सद्गुरु इस साखी में एक ही बात बताना चाहते हैं जो बहुत सरल होते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि जीव ने मनुष्य का पुतला तो जरूर धारण कर लिया, परन्तु मानवीय-गुण विवेक-बुद्धि उसमें नहीं है। इसलिए वह हर जगह दुखी है।

अधिकतम मनुष्यों के जीवन में केवल दुख देखा जाता है। यही नहीं कि जिनको खाने के लिए नहीं है वही दुखी हैं, किन्तु खाते-पीते भी दुखी हैं। इसके मूल में सद्बुद्धि का अभाव है।

एक युवक तथा एक युवती परस्पर विवाह के बंधन में जीवनभर के लिए बंध जाते हैं और दंपती कहलाते हैं। एक ही को अर्धांग या अर्धांगिनी कहा जाता है। दोनों को मिलाकर सर्वांग होता है। वे एक-दूसरे को दो-चार महीने तथा साल-दो साल सर्वथा नहीं समझ पाते हैं तो कोई बात नहीं। किन्तु दुख तो यह है कि कितने ही दंपती जीवनभर एक दूसरे को नहीं समझ पाते और सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आप समझ सकते हैं कि पति-पत्नी के सदैव लड़ते रहने से उनकी संतान पर इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है! कितने ही पति-पत्नी अपने जानकार बच्चों के सामने या उनके प्रकाश में परस्पर रसिक वार्ता एवं शृंगारिक हाव-भाव करते हैं। इन सबका बुरा प्रभाव बच्चों के मन में पड़ता है और ऐसे बच्चे आगे चलकर अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धालु नहीं रह जाते।

एक ही माता के पेट से पैदा हुए भाई के समान कौन प्यारा होगा; परन्तु संसार में अधिकतम भाई आगे चलकर एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध में लग जाते हैं। कहते हैं शत्रु से बात करेंगे, किन्तु भाई से नहीं। संसार में कम लोग ऐसे हैं जो अपने पड़ोसियों से प्रेम करते हों; जबकि वे उनसे अपने लिए प्रेम चाहते हैं। मनुष्य, जो असली देवता है, उससे घृणा करता है। फिर जीवन में शांति कहां से आ सकती है! इन सबका कारण है सद्बुद्धि का अभाव।

नौकरी छूट न जाय, व्यापार में घाटा न हो जाय, व्यापार बंद न हो जाय, खेती मारी न जाय, प्रिय स्वजनों का वियोग न हो जाय, शरीर रोगी न हो जाय, समाज में अपमान न हो जाय, इन-जैसे अनेक संशय मनुष्य के मन को रात-दिन चालते रहते हैं। जबकि इनमें से कई बातें तो जीवन में होती ही नहीं हैं, और यदि हो जाती हैं, तो जीवन के लिए दूसरा रास्ता निकल आता है। कई बार पहले से भी अच्छा रास्ता निकल आता है। सबसे बड़ी बेवकूफी तो हमारी यह होती है कि सोचते रहते हैं कि हम मर न जायं, जबकि मरना पक्का है। मर जायेंगे तो क्या बिगड़ जायेगा!

आदमी सद्बुद्धि के अभाव में मांस, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गुड़ाखू, पान-सुपारी नामालूम क्या-क्या खाने की आदत बनाकर उनकी आदतों में तथा उनके परिणामस्वरूप रोगों एवं धनाभाव में पीड़ित रहता है।

यह परख ही नहीं है कि मैं कौन हूं! मनुष्य अपने आप चेतन देव को देह, मन, बुद्धि, आदि से पृथक नहीं समझता। इसके परिणाम में भोगबुद्धि रखकर मनुष्य रात-दिन विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है। विषयासक्त आदमी इच्छाओं की भट्ठी में निरन्तर जलता है। भोग-क्रियाओं से इच्छाएं बनती हैं और इच्छाओं से भोगों में पुनः प्रवृत्ति होती है। भोगों के बाद पुनः इच्छाओं की ज्वाला धधकती है। भोगों में पड़े हुए मनुष्य का यह घनचक्कर कभी नहीं छूटता। भोगों का त्याग किये बिना इच्छा-ज्वाला कभी बुझ ही नहीं सकती। इच्छा-ज्वाला के बुझे बिना जीव हर जगह बिलबिलाता रहेगा।

जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन है, निराधार एवं असंग है, पूर्णकाम तथा पूर्ण संतुष्ट है। परन्तु इस प्रकार अपने स्वरूप का बोध न होने से तथा इस बोध में न स्थित होने से "बिकल होत सब ठाँव" जीव हर जगह हर समय दुखी रहता है।

मानव-जीवन की मौलिकता विवेक में है। विवेक सब सुखों की खानि है। मानव की तकदीर में दुख नहीं लिखा है; किंतु विवेक लिखा है। परन्तु वह विवेक का प्रयोग नहीं करता, इसलिए दुखी रहता है। "एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव" यंही एक कला विवेक है, जिसके अभाव में आदमी हर जगह अशांत है क्या पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में, क्या निर्वाहिक बातों में और क्या आध्यात्मिक दिशा में।

अतएव जिनके पास अच्छी समझ, सद्बुद्धि, विवेक एवं परख है, वे ही जीवन में सच्चे अर्थ में सुखी हो सकते हैं। सद्गुरु रामरहस साहेब ने कहा है—

फेर परा नहिं अंग में, नहिं इन्द्रीयन के माहिं।
फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवारेहु नाहिं।। पं० मा० दो० २१।।

रंगहि ते रंग ऊपजे, सब रंग देखा एक।
कौन रंग है जीव का, ताका करहु विवेक।।२४।।

शब्दार्थ—रंग = रंग, लाल, पीला इत्यादि।

भावार्थ—रंगों से ही अन्य रंगों की उत्पत्ति होती है। अन्त में देखा गया, तो सब रंग एक—जड़ है। जीव का रंग कौन-सा है—इसका विवेक करो।।२४।।

व्याख्या—सफेद चूना और पीली हल्दी मिला देने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार अन्य रंगों के सम्मिलन से अनेक रंग बनते रहते हैं। परन्तु सभी रंग जड़ हैं। क्योंकि उनके मूल में पृथ्वी आदि जड़ तत्त्व रंगयुक्त हैं। इन्हीं से सब रंगों का विस्तार है। अर्थात मूल पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों के पीलादि रंग होने से, उनसे उत्पन्न वृक्ष, वनस्पति, फल, फूल, पत्ते, धातु आदि विविध पदार्थों में रंग हैं।

जीव का रंग लाल-पीलादि प्राकृतिक नहीं है। विवेक करना चाहिए कि वह क्या है! शब्दादिक पांचों विषयों को जानने के लिए श्रोत्रादिक पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनमें श्रोत्र से शब्द जान सकते हैं, नेत्र से नहीं। नेत्र से ही रूप जान सकते हैं, घ्राण से नहीं। इस प्रकार जब अपने विषय को छोड़कर अन्य विषय ही का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता, तो निर्विषय जीव का ज्ञान उनसे कैसे होगा!

अतएव जीव को समझने के लिए विवेक की आवश्यकता है। "मैंने ही नेत्र से रूप देखा, श्रोत्र से शब्द सुना, जिह्वा से रस चखा, घ्राण से गंध सूंघा, त्वचा से स्पर्श किया और मन से स्मरण किया।" यह ज्ञानकर्ता कौन है? वही जीव है, अर्थात मैं ही हूं। मैं सबको जानता हूं, अपने को क्या जानूं! मैं तो हूं ही। मैं न होऊं तो सबको जाने कौन!

जब जानत वह अन्य को, लहि मानन्दि सम्बन्ध।
घूमि लखत तब आपको, मैं जाना व तमन्ध।।

(भवयान, अपना बोध, ४९)

अर्थ—मानन्दी (स्मरण) के सहारे, वह अन्य को जब जानता है, तब उससे घूमकर अपने को देखता है कि मैंने ही तो उन जड़-अन्धकारपूर्ण विषयों को जाना है। अतः मैं जनैया ही जीव हूं।

जो नाशै सो जीव न होई। जीव सदा अविनाशी सोई॥
पाँच तत्त्व का जानन हारा। तीनों गुण का करत विचारा॥
वीर्य रक्त तेज तम श्वासा। सबको जानि करत विश्वासा॥
शून्यहि जाने शून्य न होई। जाननहार जीव है सोई॥
जानहि आप जीव कहलाई। सबको जाने सब नहिं होई॥
जो पांचों तत्व जानै भाई। सो कहाँ आपु तत्व होय जाई॥
तत्वहि होय के तत्व समावत। सो पुनि तत्वहि कौन बतावत॥
जानहिं मात्र जीव है सोई। जान ते अधिक और नहिं कोई॥

पाँच तत्व यह जगत सब, जानै सो जीव जान।
कल्पै सोई कल्पना, मानै सो अनुमान॥ निर्णयसार, दोहा ४३॥

चेतन-जड़, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, साक्षी-साक्ष्य दो ही वस्तु संसार में हैं। चेतन, ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी सब जीव ही के पर्याय हैं।

पारख-स्थिति के साधनाकाल में सभी वासनाओं को त्याग देने पर जो शेष बच रहता है, वही जीव का स्वरूप है। उसी को पारख कहते हैं। सबका अभाव करने पर, अभाव करने वाला अपने आप चेतन रहा, वही मैं हूं।

वेदान्त-ग्रन्थों में भी आता है—'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं; परन्तु भूल वहीं करते हैं, जब जीव को जड़-चेतनमिश्रित व्यापक अद्वैत कह देते हैं। वास्तव में जीव जड़ से भिन्न और नाना हैं।

जीव का रंग क्या है, इस पर सद्गुरु स्वयं प्रकाश डालते हुए अगली साखी में कहते हैं—

जाग्रत रूपी जीव है, शब्द सोहागा सेत।
जर्द बुन्द जल कूकुही, कहहिं कबीर कोइ देख॥२५॥

शब्दार्थ—जाग्रत = ज्ञान। रूपी = रूप का, रंग का। सोहागा = सुहागा, एक क्षार-द्रव्य जो सोना गलाने के काम में आता है तथा इसकी दवाई भी बनती है। सेत = शीतल, जड़बुद्धि। जर्द = पीला, रज। बुन्द = वीर्य। जल-कूकुही = जल कुक्कुट, एक जलपक्षी, जल का फेन शरीर।

भावार्थ—जीव ज्ञान रंग का है, परन्तु भ्रांति एवं विषय-वासनापूर्ण शब्दरूपी सुहागा को पाकर यह स्वर्णमय चेतन जीव अपने पद से पिघलकर जड़-बुद्धि का हो गया है। अतएव यह कर्म-वासनावश पिता के वीर्य एवं माता के रज में मिलकर जल बुदबुदारूप शरीर को धारण करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इस प्रकार कोई विरला ही समझता है॥२५॥

व्याख्या—चौबीसवीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं प्रश्न उठाया था कि जीव का रंग क्या है! साथ-साथ यह भी बताया था कि उसके लिए विवेक करो। क्योंकि जीव का रंग कोई भौतिक नहीं कि आंख से देखने की वस्तु हो। वह तो विवेक से ही समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्गुरु आरम्भ में ही बताते हैं "जाग्रत रूपी जीव है" जाग्रत का अर्थ ज्ञान तथा रूपी का अर्थ रंगवाला है। अर्थात जीव ज्ञान रंग का है। क्या ज्ञान भी कोई रंग है! ज्ञान कोई लाल-पीलादि की तरह रंग नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि जीव केवल ज्ञानस्वरूप है। शुद्धस्वरूप चेतन जीव की मौलिकता ज्ञान में है। जड़-पदार्थों में गुण, धर्म, क्रिया, आकारादि होते हैं। जैसे पृथ्वी का गुण गंध, धर्म (स्वभाव) कठोर, क्रिया सहज, आकार स्थूलतम है। जल का गुण रस, धर्म शीतल, क्रिया अधो, आकार स्थूल है। आग का गुण रूप, धर्म उष्ण, क्रिया ऊर्ध्व तथा आकार सूक्ष्म है। वायु के गुण स्पर्श और शब्द, धर्म कोमल, क्रिया तिरछी तथा आकार सूक्ष्मतम है।[१] इसी प्रकार यदि जीव के गुण, धर्म, क्रिया तथा आकार पूछा जाय कि क्या हैं, तो यही कहना होगा कि उसका गुण ज्ञान है, धर्म ज्ञान है, क्रिया ज्ञान है तथा आकार ज्ञान है। उसमें ज्ञान के अलावा कोई लक्षण नहीं है। जीव केवल ज्ञान का ठोस स्वरूप है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीव "शब्द सोहागा सेत" हो गया है। अर्थात शब्दों का सुहागा पाकर और पिघलकर जड़बुद्धि का हो गया है। आप जानते हैं कि सोना में सुहागा डालकर आंच दिखाने से सोना पिघल जाता है। जीव किस तरह पिघल गया है? यहां पिघलने का अर्थ यह नहीं है कि जीव सोना की तरह पिघलकर पतला एवं द्रव हो गया है। यहां का कथन भावनात्मक अर्थ में है। अर्थात जीव का मन पिघल गया है। उसका मन विषय-वासना एवं भ्रांतियों में पड़कर बहने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि शब्दों का सुहागा पा गया।

साखी प्रकरण के शुरू में कहा गया है कि जीव के पास मन-शक्ति के साथ शब्द-शक्ति भी प्रबल है। जिससे मन में विषय-वासनाएं बढ़ें तथा नाना भ्रांतियां खड़ी हों, संसार में ऐसे शब्दों की गूंज है। मनुष्य उन्हें सुन-सुनकर अपने पद से पतित होता रहता है। मनुष्य विषय-वासनाओं का अध्यासी तो है ही, वह जो देवी-देवताओं तथा अदृश्य कल्पनाओं की भ्रांतियों में पड़ता रहता है, इसमें मुख्य कारण है कि संसार में सर्वत्र भ्रामक शब्दों का जोर है। उन्हें सुन-सुनकर मनुष्य का मन भ्रमित होता रहता है। विषय-वासनावर्धक एवं भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर मनुष्य के मन में जड़तारूपी बर्फ का गोला जम गया है। वह भ्रामक शब्दों को पाकर 'सेत' हो गया, ठंडा हो गया एवं जड़बुद्धि का हो गया है।

इस जड़ता के कारण ही "जर्द बुन्द जल कूकुही" की दशा में पहुंचता है। यह भ्रमित जीव कर्मवासनावश माता-पिता के रज-वीर्य में मिलकर जलबुदबुदारूप शरीर की रचना करता है। अभिप्राय यह है कि यह अध्यासी जीव जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ा रहता है।

"कहहिं कबीर कोइ देख" सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार सम्यकरूप से जीव को विरला समझता है। पहली बात है कि जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका मौलिक स्वरूप

---

१. आकाश केवल शून्य को कहते हैं। उसमें शून्यता के अलावा कुछ नहीं है।

पूर्ण जाग्रत एवं चैतन्य है। परन्तु वह संसार की विषय-वासनाओं एवं शब्दजाल में पड़कर जड़बुद्धि का हो गया है। संसार में भटकने का कारण यही है।

चौबीसवीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं जीव के रंग का प्रश्न उठाया और उस पर विवेक करने की बात कही। इस साखी में उन्होंने जीव को जाग्रतरूप बताया है। इस साखी में पूर्ण जोर जीव की चैतन्यता पर है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि हे मनुष्य जीव! तू पूर्ण जाग्रतस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं चैतन्य है। तेरे स्वरूप में किंचित भी जड़ता नहीं है। तेरे में जड़ता का केवल बाहर से आरोपण है। तू भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर जड़ बन गया है। तू शब्दों का जाल तोड़ दे और जड़ता-बुद्धि की चादर उतारकर फेंक दे। जैसे तेरा मौलिकस्वरूप जाग्रत एवं चैतन्य है, वैसे तू रहनी में पूर्ण जाग्रत हो जा। "संतो जागत नींद न कीजै। काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहि छीजै।"[१]

पाँच तत्त्व ले या तन कीन्हा, सो तन ले काहि ले दीन्हा।
कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महिं को जिव दीन्हा॥२६॥

शब्दार्थ—वश = अधीन, बन्धन में।

भावार्थ—पांच तत्वों को लेकर इस उत्तम मानव-शरीर की रचना हुई; परन्तु हे जीव! तूने इसे किस कर्म-प्रपंच में झोंक दिया! सभी महापुरुष तथा शास्त्र यही कहते हैं कि जीव कर्मों के बन्धनों में पड़कर ही भटकता है। आश्चर्य होता है कि उन्हीं कर्म-बन्धनों में बंधने का उपदेश पंडितजन पुनः करते हैं॥२६॥

व्याख्या—माटी, पानी, आग, हवा—इन चार तत्वों से शरीर बनता है और पांचवां आकाश तत्त्व शरीर के भीतर स्वयं हो जाता है। द्रव्य माटी, पानी, आग, हवा ही हैं। इसीलिए इन्हीं में क्रिया भी है। आकाश न कोई द्रव्य है और न उसमें क्रिया संभव है। आकाश तो शून्य को कहते हैं। बीजकभर में सद्गुरु ने जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं वहां पांच कहे हैं।

कुछ लोग नयी खोज की बात सुनकर बहुत हायतोबा करने लगते हैं। अपने आप को परम्परावादी सिद्ध करने वाले लोग जब सुनते हैं "आकाश कोई द्रव्य नहीं है, वह शून्य है; इसलिए उसमें क्रिया नहीं, कोई गुण-धर्म नहीं।" तब वे जमीन को सर पर उठा लेते हैं। वे ऐसा कहने वालों को नास्तिक कहना शुरू करते हैं। चूंकि नास्तिक दुर्बल सिद्धांत वालों की भाषा है। उन शूर-वीरों ने दूसरों को गाली देने के लिए 'नास्तिक' शब्द का चुनाव कर रखा है। जिनसे उनका किसी बात में विमत होता है, वे उनके ऊपर झट से 'नास्तिक' की मोहर मार देते हैं। परन्तु उन भोलों को यह पता नहीं है कि उनसे भिन्न मत रखने वाले अनेक मतावलंबियों के ख्याल से वे भी स्वयं नास्तिक हैं।

जो नयी खोज का तिरस्कार करता है, वह अपने अनजाने में कबीर साहेब का ही तिरस्कार करता है। कबीर साहेब के कई विचार उनकी खोज हैं। जो नयी खोज में निष्ठा रखता है, वह अपने अनुयायियों की नयी खोज न पसन्द करे, यह कैसे हो सकता है!

---

१. बीजक, शब्द २।

अपने आप को परम्परावादी कहलाने वाले लोग भी यह कहते हैं कि आकाश में या नहीं है। बुद्धि का थोड़ा भी प्रयोग करने से सहज समझा जा सकता है कि कोई भी ऽ द्रव्य बिना क्रिया के नहीं रह सकता है। जब आकाश द्रव्य है, तब उसमें क्रिया क्यों ों? और जब आकाश में क्रिया नहीं, तब वह द्रव्य कैसे है? जब आकाश द्रव्य नहीं र उसमें कोई क्रिया नहीं तब उसमें किसी प्रकार के गुण-धर्म कैसे सिद्ध होंगे?

परम्परावादी होने का स्वाभिमान रखने वाले लोग कहते हैं कि शास्त्रों में शब्द-गुण काश का बताया गया है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध विद्वान डॉ० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं—

"शब्द का अर्थ स्वन—उस प्रकार का संवित्, जो दो क्षैत वस्तुओं के टकराने पर ता है—माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, न्तु स्वन का क्षेत्र तो बहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि यदि किसी ार के आघात के कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ५ या तरल माध्यम हो जो हमारे कान तक पहुंचता हो तो उस माध्यम में एक प्रकार लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-संवित् होता है। हमारे नाड़ि-थान की बनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कंपन लगभग सोलह बार प्रति सेकेंड से ा या लगभग पचास हजार प्रति सेकेंड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहां ई ठोस या तरल माध्यम नहीं है, वहां कंपन भले ही हो परन्तु स्वन नहीं आ सकता। ।, चन्द्र, नक्षत्र आदि से हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। **किन्तु पोथियों के आधार पंडित-संप्रदाय शब्द का संबंध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता**"[1]

सद्‌गुरु ने भी जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं निश्चित ही पांच कहे हैं। परन्तु ोंने जहां तत्त्वों की क्रिया बतायी है, वहां चार तत्त्वों का वर्णन किया है; इसे हम वीं रमैनी में पढ़ सकते हैं।[2]

गीताकार लिखते हैं "इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती न पानी गीला कर सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है।"[3] शस्त्र पृथ्वी तत्त्व से ा है और अन्य अग्नि, जल तथा वायु के नाम लेकर गीताकार कहते हैं कि ये चारों व जीवात्मा पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते; क्योंकि वह अजर-अमर है। आकाश ई द्रव्य न होने से न उसमें क्रिया है और न उसका किसी पर कुछ प्रभाव पड़ता है। लिए उसका यहां नाम ही नहीं लिया गया। स्वामी चिद्‌भावानंद जी गीता पर लिखित ाने इंगलिश अनुवाद में प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—

चिद्विलास, आदि शब्दाधिकरण।

अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ *गीता, २/२३॥*

"पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है। इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया। दूसरे चार तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की क्रियाएं आत्मा पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। अस्त्र द्रव्य से बना हुआ होता है जो पृथ्वी है। आत्मा की अखंड सत्ता है, शस्त्र उसकी क्षति नहीं कर सकता।"[१]

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोई पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥२७॥

शब्दार्थ—गुप्त वस्तु = अदृश्य चेतन जीव। मर्म = रहस्य, भेद।

भावार्थ—पांच तत्वों से बने इस शरीर के भीतर-स्थान में एक अदृश्य ज्ञानस्वरूप चेतन जीव निवास करता है। परन्तु सद्गुरु के निर्णय वचनों के प्रमाणों से कोई विरला उसका भेद ठीक से जान सकता है॥२७॥

व्याख्या—सामान्य लोग यही समझते हैं कि यह जड़ तत्त्वों से निर्मित शरीर ही सब कुछ है। परन्तु विचार करने पर साधारण आदमी भी इस बात को समझ सकता है कि इस जड़काया को चलाने वाला इससे भिन्न चेतन जीव है जो इस शरीर में रहकर इसे उसी प्रकार चलाता है जैसे गाड़ी में बैठकर गाड़ी का चालक गाड़ी को चलाता है। यद्यपि वह आंख से नहीं दिखता, तथापि वह अखण्ड ज्ञानस्वरूप पदार्थ है। जैसे वायु पदार्थ होते हुए भी आंखों से नहीं दिखता, वैसे जीव स्वतन्त्र पदार्थ होते हुए भी नहीं दिखता। जैसे त्वचा में लगने से और वृक्षादि हिलने से वायु का ज्ञान होता है, वैसे देहों में सुख-दुख का ज्ञान करने वाला होने से जीव का ज्ञान होता है। उसके निकल जाने पर शरीर में कोई ज्ञान नहीं होता। शरीर नाशवान है, चेतन जीव अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष विवेक का विषय है। इस तत्त्वज्ञान का समस्त भारतीय वाङ्मय समर्थन करता है। इसलाम भी इस बात पर हस्ताक्षर करता है। प्राचीन दार्शनिक जनाब गजाली कहते हैं—"शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है; इसलिए इसका नष्ट होना तेरा अपना नष्ट होना नहीं है।"[२]

मिट्टी, पानी, आग, हवादि कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें जो कुछ कारण तथा कार्य पदार्थों के रूप में जड़ तत्त्व फैले हैं, सब केवल जड़ हैं। परन्तु हर आदमी यह अनुभव कर सकता है कि मैं जड़ नहीं, चेतन हूं। अपने आप का अनुभव सब समय सबको होता है। 'मैं हूं' यह सबको पता है। परन्तु बिना सद्गुरु के उपदेश के इसका ठीक से बोध सहजतया नहीं होता। कैसा आश्चर्य है! जानते हुए जीव अनजान बना रहता है। स्वयं होते हुए स्वयं का ज्ञान तत्त्वतः नहीं रहता।

---

१. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. The actions of the other four elements do not affect the Ataman. Weapons are made of the stuff which the earth is. Ataman being indivisible weapons cannot hurt it.

(Shri Ramkrishna Tapovanam. Tirupparaitturai)

२. व लैस' लू-बद्नो मिन् क़वामे जातेका।
फ़ इन्हदाम' लू-बद्ने ला यअ्दमो-का॥ *राहुल कृत दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१॥*

"पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है। इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया। दूसरे चार तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की क्रियाएं आत्मा पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। अस्त्र द्रव्य से बना हुआ होता है जो पृथ्वी है। आत्मा की अखंड सत्ता है, शस्त्र उसकी क्षति नहीं कर सकता।"[१]

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोई पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥२७॥

शब्दार्थ—गुप्त वस्तु = अदृश्य चेतन जीव। मर्म = रहस्य, भेद।

भावार्थ—पांच तत्वों से बने इस शरीर के भीतर-स्थान में एक अदृश्य ज्ञानस्वरूप चेतन जीव निवास करता है। परन्तु सद्गुरु के निर्णय वचनों के प्रमाणों से कोई विरला उसका भेद ठीक से जान सकता है॥२७॥

व्याख्या—सामान्य लोग यही समझते हैं कि यह जड़ तत्त्वों से निर्मित शरीर ही सब कुछ है। परन्तु विचार करने पर साधारण आदमी भी इस बात को समझ सकता है कि इस जड़काया को चलाने वाला इससे भिन्न चेतन जीव है जो इस शरीर में रहकर इसे उसी प्रकार चलाता है जैसे गाड़ी में बैठकर गाड़ी का चालक गाड़ी को चलाता है। यद्यपि वह आंख से नहीं दिखता, तथापि वह अखण्ड ज्ञानस्वरूप पदार्थ है। जैसे वायु पदार्थ होते हुए भी आंखों से नहीं दिखता, वैसे जीव स्वतन्त्र पदार्थ होते हुए भी नहीं दिखता। जैसे त्वचा में लगने से और वृक्षादि हिलने से वायु का ज्ञान होता है, वैसे देहों में सुख-दुख का ज्ञान करने वाला होने से जीव का ज्ञान होता है। उसके निकल जाने पर शरीर में कोई ज्ञान नहीं होता। शरीर नाशवान है, चेतन जीव अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष विवेक का विषय है। इस तत्त्वज्ञान का समस्त भारतीय वाङमय समर्थन करता है। इसलाम भी इस बात पर हस्ताक्षर करता है। प्राचीन दार्शनिक जनाब गजाली कहते हैं—"शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है; इसलिए इसका नष्ट होना तेरा अपना नष्ट होना नहीं है।"[२]

मिट्टी, पानी, आग, हवादि कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें जो कुछ कारण तथा कार्य पदार्थों के रूप में जड़ तत्त्व फैले हैं, सब केवल जड़ हैं। परन्तु हर आदमी यह अनुभव कर सकता है कि मैं जड़ नहीं, चेतन हूं। अपने आप का अनुभव सब समय सबको होता है। 'मैं हूं' यह सबको पता है। परन्तु बिना सद्गुरु के उपदेश के इसका ठीक से बोध सहजतया नहीं होता। कैसा आश्चर्य है! जानते हुए जीव अनजान बना रहता है। स्वयं होते हुए स्वयं का ज्ञान तत्त्वतः नहीं रहता।

---

१. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. The actions of the other four elements do not affect the Ataman. Weapons are made of the stuff which the earth is. Ataman being indivisible weapons cannot hurt it.

(Shri Ramkrishna Tapovanam. Tirupparaitturai)

२. व लैस' लू-बद्नो मिन् क़वामे जातेका।
फ़ इन्हदाम' लू-बद्ने ला यअ्दमो-का॥ *राहुल कृत दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१ ॥*

इसलिए सत्य इच्छुक को चाहिए कि वह किसी बोधवान सद्गुरु के पास जाकर विनम्रतापूर्वक सेवा करते हुए उनके सत्संग द्वारा स्व-स्वरूप के रहस्य को समझने की चेष्टा करे। सब कुछ जाना, किन्तु अपने को नहीं जाना, सब कुछ पाया, किन्तु अपने आप को नहीं पाया तो उसका सब जानना और पाना निरर्थक है। स्वरूपज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है तथा स्वरूपस्थिति सर्वोच्च उपलब्धि है।

असुन्न तखत अड़ि आसना, पिण्ड झरोखे नूर।
जाके दिल में हौं बसा, सैना लिये हजूर॥२८॥

शब्दार्थ—असुन्न = शून्य-रहित, सत्य पदार्थ, चेतन। तखत = सिंहासन, पद। अड़ि = अडिग। पिण्ड = शरीर। झरोखे = इन्द्रियां। नूर = प्रकाश, चैतन्यता। हौं = मैं, चेतन। सैना = ज्ञान-प्रकाशरूप फौज। हजूर = हुजूर, सामने आना, उपस्थिति।

भावार्थ—हे जीव! जिसने शरीर के इन्द्रिय-झरोखों से अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है, वह सत्य चेतनस्वरूप ही तुम्हारी अविचल स्थिति-दशा है। ज्ञान-प्रकाश की सेना लेकर 'मैं' के रूप में सभी दिलों में वही उपस्थित है॥२८॥

व्याख्या—असुन्न का अर्थ ही है जो शून्य न हो, जो सत्य हो, पदार्थ हो, गुण-धर्मयुत सत्तावान हो। तखत तख्त है जिसका अर्थ सिंहासन होता है। अड़ि आसना का अर्थ है अडिग आसन, अविचल निवास। इस प्रकार अर्थ हुआ कि जीव की अविचल स्थिति सत्य पदार्थ में है। वह चेतन है। उसी चेतन का प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों से बाहर फैल रहा है। वही आंख से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूंघता है, जीभ से चखता है, त्वचा से छूता है और मन से सोचता है। जैसे किसी मकान में प्रकाश जलता है, तो मकान के झरोखों से प्रकाश की किरणें बाहर भी फैलती हैं, वैसे इस शरीर में चेतन निवास करता है, तो उसका ज्ञान-प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों-द्वारा बाहर भी फैलता है।

"जाके दिल में हौं बसा" यहां जाके दिल से तात्पर्य सभी दिलों से है। अर्थात जीव सभी के भीतर हौं के रूप में, मैं के रूप में बसता है। जितने मैं-तू कहने वाले या अपनी चेतना का संकेत करने वाले हैं, वे ही चेतन जीव हैं। वही मैं हूं, वही आप हैं। सब चेतन जीवों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी, सबके स्वरूप एक समान ज्ञानरूप हैं। यह चेतन ही सर्वोपरि है। यह चेतन जब तक शरीर में रहता है, तब तक इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं। उसके निकल जाने पर सब सूना हो जाता है।

जीव का अपना चेतनस्वरूप ही अपना निधान है, आश्रयस्थल, विश्रामस्थल तथा स्थितिस्थल है। जैसे बाहर गया हुआ थका-मांदा आदमी लौटकर अपने घर में विश्राम पाता है, वैसे संसार से थका जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होकर ही विश्राम पाता है। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने स्वरूप में अविचल भाव से स्थित हों। यही जीवन का चरमोत्कर्ष है।

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय॥२९॥

शब्दार्थ—आरसी = आइना, दर्पण, विवेक। दुबिधा = द्विधा, दो भागों में बंटे रहना, संशय।

भावार्थ—हर मनुष्य के हृदय में विवेक का दर्पण है, परन्तु वह उसमें अपना वास्तविक चेहरा नहीं देख पाता। वह अपने आपा को उसमें तभी देखेगा जब उसके मन का दो-तरफापन मिट जायेगा ॥२९॥

व्याख्या—मनुष्य की मुख्य शक्ति है उसका विवेक। हर मनुष्य के दिल में विवेक-दर्पण विद्यमान है। जैसे दर्पण में मनुष्य अपना चेहरा देखता है, वैसे हर मनुष्य विवेक-बल से अपने स्वरूप को ठीक से समझ सकता है। प्रश्न होता है कि हर मनुष्य को आत्मज्ञान क्यों नहीं हो जाता! कारण है कि इधर वह ध्यान नहीं देता। दूसरी बात है कि उसके दिल में अनेक भ्रांतियां, विषयासक्ति एवं देहाभिमान का आवरण है। अच्छे दर्पण में भी मैल जम जाने से उसमें मुख नहीं दिखता। प्राप्त शक्ति का कोई सदुपयोग न करे तो उससे लाभ नहीं मिल सकता। घर में गड़े धन को कोई निकालकर उसका उपयोग न करे तो वह कंगाल सरीखा ही बना रहेगा। देहाभिमान और विषयासक्ति के कारण हर आदमी अपने आप की वास्तविकता से बेभान रहता है। जो लोग बहुत-कुछ शुद्ध चित्त के होते हैं, उनमें भी अधिकतर लोग भ्रांति में जीते हैं।

मन का दुविधा में होना किसी भी दिशा में सफलता का बहुत बड़ा अवरोध है। दुविधा का अर्थ है दो-विधा, अर्थात एक बात में दो विरोधी दिशाओं में सोचना। विरोधी धारा के चिंतन में पड़ा मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि बाहर हमारा कुछ नहीं है। बाहर तो केवल जड़-दृश्य है। मेरी अपनी चेतना ही मेरा आश्रयस्थल है। मनुष्य की अपनी आत्मा के अलावा देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा केवल शब्द हैं। देवता का देवता, ईश्वर का ईश्वर तथा परमात्मा का परमात्मा व्यक्ति की अपनी आत्मा है। ईश्वर तथा परमात्मा के दर्शन केवल शब्दजाल हैं। दर्शन तो जड़दृश्य के होते हैं। अपना स्वरूप तो द्रष्टा है। अतएव साधक को चाहिए कि वह सारे दर्शनों का मोह छोड़कर विवेक-द्वारा अपने आप को समझे तथा अपने आप में स्थित हो।

आंख सबको देखती है, परन्तु अपने आप को नहीं देखती। किन्तु रूप का ज्ञान होने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी आंखें हैं। बिना आंख के रूप दिखेगा ही नहीं। इसी प्रकार चेतन सबको जानता है, परन्तु अपने आप को ठीक से नहीं जानता। किन्तु सबको जानते रहने से उसका अपना रहना सिद्ध हो जाता है। यदि वह न हो तो सबको जाने कौन! इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए हृदय-दर्पण को मांजते रहना चाहिए।

जब दर्शन को दिल चहिए, तब दर्पण माँजत रहिए।
जब दर्पण लागी काई, तब दर्श कहां से पाई॥

श्री निर्मल साहेब कहते हैं—

आदर्श मति में मैल से भरा है। निजरूप तिनको नहीं दिख पड़ा है॥
यदि तुम कहो जीव कैसा कहां है? नहीं देख पड़ता स्वयं कह रहा है॥

अपना नयन देखना जो तू चाहै। आदर्श निर्मल में करले निगाहै॥
बुद्धी निर्मल स्वच्छ अपनी बनाओ। अपने स्वतः रूप को देख पाओ॥
(न्याय नामा)

सद्गुरु विशाल साहेब कहते हैं—

संस्कार ह्वै शुद्ध जब, हटै दृश्य से भाव।
सत्य शोध तब जीव करि, प्रिये धर्म गुरु राव॥
अंतस थिर ज्वाला रहित, अभय न चिंता जब्ब।
फिक्र रहित मन निरस जहँ, शोध यथारथ तब्ब॥
(मुक्तिद्वार, स्वतन्त्र जीव शतक ७०, ७२)

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति की उच्चता

गाँव ऊँचे पहाड़ पर, औ मोटा की बाँह।
कबीर अस ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छाँह॥३०॥

शब्दार्थ—गाँव = स्थिति। मोटा = श्रेष्ठ, बड़ा। ठाकुर = स्वामी, संत, सद्गुरु। छाँह = छाया, आश्रय।

भावार्थ—जीव की स्थिति उच्च चैतन्य शिखर पर है। हे मनुष्य! तुम उन श्रेष्ठ संत एवं सद्गुरु का सहारा लो और उनकी सेवा करो जिनकी शरण से तुम्हारा संसार-सागर से उद्धार हो॥३०॥

व्याख्या—अपना गांव यदि ऊंचे पहाड़ पर हो तो कितना ही बाढ़-बूड़ा आवे कोई परवाह नहीं है। जीव का गांव, जीव की स्थिति-दशा उच्च चैतन्य-शिखर पर है। जो अपने चैतन्य-शिखर पर स्थित हो जाता है उसे संसारी-चिंताएं छू नहीं सकतीं। जैसे उच्च पर्वत पर चढ़ा हुआ आदमी जब वहां से जमीन की तरफ देखता है तब उसे गांव बच्चों के खिलौने सरीखे तथा मनुष्य कीड़ों के रेंगने जैसे लगते हैं, उसी प्रकार जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है उसे सारा संसार बौना लगता है। उसकी दृष्टि में धन, परिवार, समाज, मान-बड़ाई, प्रभुता आदि बहुत तुच्छ लगते हैं। स्वरूपस्थिति की गरिमा ऐसी है कि उसको पा जाने के बाद सब कुछ फीका हो जाता है।

प्रश्न होता है कि ऐसी उच्च स्थिति कैसे मिलेगी? स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा, परन्तु इसके लिए सच्चे सद्गुरु एवं संतों का आधार अति आवश्यक है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि 'मोटा की बांह' पकड़ो। मोटा, गुजराती में बड़े को कहते हैं। अर्थ है जो उस उच्च स्थिति को प्राप्त है उसकी शरण लो, उसकी सेवा करो। ठाकुर बंगला भाषा में संत एवं सद्गुरु को कहते हैं। समन्वयवादी एवं बहुश्रुत कबीर इस साखी की पहली पंक्ति में 'मोटा' गुजराती भाषा से लेते हैं तथा दूसरी पंक्ति में 'ठाकुर' बंगला भाषा से। वे कहते हैं कि जो ज्ञान, आचरण तथा रहनीसंपन्न संत-सद्गुरु हैं उनकी शरण लेकर, उनकी सेवा कर और उनके आश्रय में रहकर तुम साधना करोगे तो विषयों के कीचड़ से उठकर स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर पहुंच जाओगे।

वकीलों की संगत से वकालत, डॉक्टरों की संगत से डॉक्टरी तथा विद्वानों की संगत से विद्वता आती है, इसी प्रकार विवेक-वैराग्यसंपन्न संत एवं सद्गुरु की संगत से ही स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर चढ़ा जा सकता है। ऊंचे काम के लिए सामने ऊंचे आदर्श का बल चाहिए।

जेहि मारग गये पंडिता, तेई गई बहीर।
ऊँची घाटी राम की, तेहि चढ़ि रहे कबीर॥३१॥
ये कबीर तैं उतरि रहु, तेरो सम्मल परोहन साथ।
सम्मल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ॥३२॥

शब्दार्थ—पंडिता = पुरोहित। घाटी = दो पर्वतों के बीच की ढलान की जमीन, तात्पर्य में ऊंची जगह। सम्मल = शंबल, यात्रा के लिए भोज्य पदार्थ, पाथेय। परोहन = घोड़ा, गाड़ी आदि सवारी या बोझा ढोने वाले पशु।

भावार्थ—जिस रास्ते से पुरोहित एवं पंडित लोग जाते हैं, उसी रास्ते से भीड़ भी जाती है, किन्तु कबीर तो सबसे अलग एवं स्वतंत्र होकर स्वरूपस्थिति रूपी राम की ऊंची घाटी पर चढ़ जाता है॥३१॥ परन्तु हे कबीर, संसार के जीव अविवेकवश दूसरों के हाथों में पड़े हुए भटक रहे हैं। अतएव तुम उनके उद्धार के लिए राम की ऊंची घाटी एवं समाधि-सुख छोड़कर लोगों के बीच में उतर आओ। क्योंकि तुम्हारे पास विवेकज्ञान का शंबल है, पाथेय है और स्वावलंबन तथा स्व-श्रम का परोहन है। वे तुम्हारे पास से घटने वाले नहीं हैं। अतएव ऐसा करने से तुम्हारा कुछ बिगड़ेगा नहीं, किन्तु भूले जीवों का उद्धार होगा॥३२॥

व्याख्या—पंडितों एवं पुरोहितों ने रोचक-भयानक शब्दों के ऐसे जाल बिछा रखे हैं कि आम जनता उनमें फंस-सी गयी है। इसलिए जिधर पंडित तथा पुरोहित चलते हैं उधर ही भीड़ के लोग भी चलते हैं। पंडित और भीड़ ये दोनों शब्दों का चयन अद्भुत है। पंडित का अर्थ केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित नहीं होता, किन्तु संसार के नाना मतों में जो भी पुरोहित हैं वे कर्मकांड के जाल में अपने आस-पास के समाज को फंसाते हैं। हिन्दुओं में पुरोहितों के ही समान इसाइयों के पोप-पादरी, मुसलमानों के मुल्ला तथा अन्य अनेक मतों के पुरोहितों ने ऐसा जाल बुन रखा है कि उसमें से मनुष्यों का निकलना कठिन हो गया है।

हर समूह एवं परंपरा में पुरोहितों की कुछ आवश्यकता है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु-संस्कार कराने के लिए पुरोहितों का काम लगता है। इन तीनों में विवाह-संस्कार मुख्य है, क्योंकि इसमें वर तथा कन्या के मन को एक दूसरे से बांधने के लिए कुछ संस्कार डालने की आवश्यकता पड़ती है। शेष जन्म-संस्कार तथा मृत्यु-संस्कार तो केवल औपचारिक हैं। पैदा हुआ शिशु, कुछ नहीं जानता कि तुम उसके लिए कौन-से मन्त्र पढ़ रहे हो और क्या कर रहे हो। मर चुके हुए मनुष्य के लिए तो कुछ भी करना व्यर्थ है। हां, शोकित परिवार के लिए ज्ञान के ग्रन्थों का पाठ तथा ज्ञानचर्चा कल्याणकारी है।

परन्तु इन संस्कारों में पुरोहितों ने बहुत बड़ा जाल रच रखा है और इससे हटकर अन्य क्रियाओं में भी समाज को उलझा दिया है। देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, मुहूर्त आदि के नाना भय देकर सबको अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। ईश्वर और मोक्ष भी अपनी आत्मा से अलग बताकर उसके लिए लोगों को नाना कर्म-उपासनाओं में दौड़ा रखा है। इन नाना मत के पुरोहितों के पीछे ही भीड़ चलती है। भीड़ का अर्थ ही है भोले-भाले लोगों का समूह। कबीर साहेब ने यहां जानबूझकर भीड़ अर्थ वाला बहीर शब्द प्रयोग किया है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं न पंडित एवं पुरोहितों के पीछे चल सकता हूं और न भीड़ के साथ। मेरा रास्ता इन सबसे अलग है। यह तो राम की ऊंची घाटी है। यही मेरा रास्ता है। घाटी दो पर्वतों के बीच के दर्रे को कहते हैं जहां पहाड़ों की ढाल हो, दो पहाड़ों के बीच की नीची एवं समतल जमीन घाटी कहलाती है। परन्तु इस घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर सद्गुरु ने इसे सामान्य रास्ते से श्रेष्ठ होने की व्यंजना की है। यहां घाटी का अर्थ पर्वत के पास नीची जमीन का शाब्दिक अर्थ न लेकर व्यंजना अर्थ लेना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं "ऊंची घाटी राम की"। घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर राम के ऊंचे रास्ते की व्यंजना है। राम का रास्ता ऊंचा है। उस रास्ते पर चलने वाले के लिए पुरोहितों के जंजाल से छुटकारा है। राम की ऊंची घाटी है स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति। यह जीव, यह आत्मा ही राम है और उसमें स्थित हो जाना ही राम की ऊंची घाटी में पहुंच जाना है। सहज-समाधि ही ऊंची घाटी है।

अगली ३२वीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं को संबोधित करके कहा है—हे कबीर! तुम देखो इस संसार को। संसार के लोग नाना पुरोहितों-द्वारा धर्म के नाम पर दीन बना दिये गये हैं। संसार के लोग चाहे वे अनपढ़ हों या पढ़े-लिखे; भेड़ की भीड़ बन गये हैं और उन्हें पुरोहित लोग रोचक-भयानक कथन के डंडे से हांक रहे हैं। समझदारों का समूह समाज कहलाता है और पशुओं तथा मूर्खों का समूह समज। संसार में समाज कम दिखता है, समज ज्यादा। यह समज ही भीड़ है। संसार के लोग भीड़ बन गये हैं। अतएव तुम राम की घाटी से, समाधि के सुख से उतरकर संसार के बीच में आ जाओ और इस भीड़ का उद्धार करो। इस भीड़ को बताओ कि तुम भीड़ मत बनो। इस प्रवृत्ति में तुम्हारी कोई हानि न होगी; क्योंकि तुम्हारे पास शंबल और परोहन है। तुम विवेक-बल तथा पुरुषार्थ-परिश्रम से युक्त हो। जीवनभर तुम्हारा शंबल घटने वाला नहीं है और न तुम्हारे श्रम के पैर थकने वाले हैं। तुम केवल समाधिलीन होकर न बैठो, किन्तु जन-कल्याण करते हुए सदैव सहज-समाधि में रहने का विचार रखो।

यहां समाधि में लीन होने का खण्डन नहीं है, किन्तु संसार पर अधिक करुणा का प्रकाश है। सद्गुरु ने बीजकभर में ध्यान, समाधि तथा स्वरूपस्थिति की लीनता पर अत्यन्त प्रकाश डाला है। साधक को स्वरूपस्थिति का काम पहले करना चाहिए, धर्म प्रचार पीछे।

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल॥३३॥

शब्दार्थ—शिखर = सर्वोच्च चेतन तत्त्व। सिलहली = रपटीला, फिसलनयुक्त
पपीलका = पिपीलिका, चींटी। खलकन = संसारी लोग।

भावार्थ—जीव की चिरन्तन स्थिति उसके अपने सर्वोच्च स्वस्वरूप चेतन में है। उ
तक पहुंचने का रास्ता फिसलन से भरा है। जहां चींटी के पैर नहीं टिकते, वहां संसार
लोग बैल पर सामान लादकर व्यापार करना चाहते हैं॥३३॥

व्याख्या—यहां कबीर का अर्थ केवल ग्रन्थकार कबीर साहेब नहीं है, किन्
जीववाची है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव की अपनी नित्य स्थिति उसके अपने चेतनस्वरू
में है। जीव का अपना चेतनस्वरूप ही तो सर्वोच्च है। सारी वासनाओं को छोड़कर अप
चेतना में ही सदैव स्थित रहना जीवन का सर्वोच्च शिखर है। इस स्थिति में जो पहुं
जाता है, वह सदैव के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि इसका रास्ता रपटीला है, फिसलन से भरा है
पहली बात तो यह है कि लोग नाना मान्यताओं, कल्पनाओं एवं भ्रांतियों में पड़े हैं,
उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। वे परमात्मा और मोक्ष को भी अपने से अलग
देखते रहते हैं। अतएव स्वस्वरूप का सच्चा बोध होना ही दुर्लभ हो जाता है। दूसरी ब
है विषय-वासनाओं का त्याग। अच्छी संगत और दृढ़ पुरुषार्थ के बिना मन एकद
निर्विषय नहीं होता। साधना में निरंतरता और सावधानी की महती आवश्यकता है
वस्तुतः सावधानी ही साधना है। थोड़ा-सा असावधान हुए कि विषयों का चिंतन
सकता है और विषयों का चिंतन करने वाला मन स्व-स्वरूप चेतन में नहीं स्थित
सकता। अतएव स्वरूपस्थिति का मार्ग फिसलन से भरा है। परन्तु इन बातों को प
सुनकर घबराने की बात नहीं है। खतरों को न बताया जाय तो सावधानी आयेगी कैसे!

वस्तुतः स्वरूपस्थिति का रास्ता तो स्वच्छ है। उसमें फिसलन तो है ही नही
फिसलन तो विषय-वासनाओं का रास्ता है। जिसने मन, वाणी तथा कर्मों से विष
वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में स्वरूपस्थिति का मधु है, अमृत है। य
व्यक्ति ठीक से समझकर विषयों से सावधान हो जाय और स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थि
के मार्ग पर चलने लगे, तो कृतार्थ हो जाय। राजा होकर कोई घूर पर तथा कचड़े में दा
क्यों बीनेगा! स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाकर विषयों के कीचड़ की ओर नजर भी क
उठायेगा! जिसको निर्विषय स्वरूपस्थिति का सिंहासन मिल गया, वह आनन्दकन्द
जाता है।

"पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल।" संसार के लोग समझदार न
हैं। जिस रास्ते में चींटी के पैर न जमते हों, वहां बैल ले जाकर व्यापार करने की बात
नहीं सोची जा सकती है। अभिप्राय यह है कि स्वरूपस्थिति एवं मुक्ति होती है स
विषयों का त्याग करके, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए लोग नदी-स्नान, मूर्ति-दर्शन, व्र
उपवास, हवन-तर्पण, नामसंकीर्तन आदि करते हैं। यह ठीक है कि ये सब साधार
मनुष्यों के लिए सात्विक उत्साह उत्पन्न करते हैं। परन्तु इतने ही में रुक जाना अविवे
है। अलग से मोक्ष पाने का भ्रम तथा ईश्वर-दर्शन की सनक, यह वहां बैल पर सामा

लादकर व्यापार करने-जैसी ही बात है जहां चींटी के पैर न टिकते हों। मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कहीं बाहर से मिले। ईश्वर कुछ ऐसा नहीं जिसके दर्शन होते हों। दर्शन रूप विषय के होते हैं जो जड़ माया है। वस्तुतः सब वासनाओं को छोड़कर चेतन का अपने आप शांत हो जाना ही मोक्ष है, यही ईश्वर की प्राप्ति है या और जो कुछ कहना चाहो इसे कह लो। इसके अलावा परमार्थ की कोई परिनिष्ठित परिभाषा नहीं है।

बिन देखे वह देश की, बात कहै सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर ॥३४॥

शब्दार्थ—वह देश = मोक्ष, स्वरूपस्थिति। कूर = कायर, मूर्ख। खारी = नमक, विषय भोग। कपूर = दारचीनी की जाति के पेड़ों से निकला हुआ एक सुगन्धित सफेद द्रव्य, तात्पर्य में श्रेष्ठ ज्ञान।

भावार्थ—जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थिति का अनुभव किये बिना जो उसका अधिकारपूर्वक व्याख्यान करते हैं, वे कायर एवं मूर्ख हैं। वे स्वयं तो विषय-भोगरूपी नमक खाते हैं और दूसरे को श्रेष्ठ ज्ञानरूपी कपूर बांटते फिरते हैं॥३४॥

व्याख्या—ज्योति-दर्शन, अमृतवल्लरी-पान, प्राणायाम, आसन, मुद्रा, अनाहतनाद-शब्द-श्रवण आदि करके हठयोगी लोग इन्द्रियजन्य विषयों एवं जड़भासों के भीतर ही अपना अनुभव रखते हैं। दूसरी तरफ शास्त्र-ज्ञानी एवं वाचिक-ज्ञानी लोग भी विषय-वासनाओं एवं राग-द्वेष में ही रात-दिन उलझे रहते हैं, परन्तु ये लोग अपने व्याख्यान में जीवन्मुक्तिस्थिति, मोक्ष एवं परमपद की बात निचोड़कर कह देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब कायरता एवं मूर्खता के लक्षण हैं। स्वयं उस तत्त्व को ठीक से समझो और साधना-द्वारा उस दशा में स्थित होओ, तब उसे साधिकार दूसरों के सामने कहने के अधिकारी बन सकते हो। "आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर।" वाचिकज्ञानियों के लिए व्यंग्य है।

शब्द-शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह ॥३५॥

शब्दार्थ—शब्द विदेह = शब्दरूपी देह से रहित, जो शब्द से पृथक हो, शुद्ध चेतन। निरखि परखि = यथार्थ विवेक, पूर्ण पारख।

भावार्थ—सभी मतवादी शब्द-ही-शब्द को अपना उपास्य एवं लक्ष्य कहते हैं, परन्तु व्यक्ति का जो उपासनीय एवं लक्ष्य है वह तो शब्दों के जालों से सर्वथा रहित शुद्ध चेतन है। वह जीभ पर आने की वस्तु नहीं है। उसकी केवल निरख-परख करो॥३५॥

व्याख्या—लोग ईश्वर, ब्रह्म, राम, ॐ, प्रणव, वोहं, सोहं, खुदा, गॉड आदि शब्दों की झड़ी लगाते रहते हैं, परन्तु क्या परम तत्त्व शब्द है? सारे शब्द हवा के झोंके हैं। उसमें तथ्य नहीं मिलेगा। वह तो शब्द-विदेह है। वह शब्द-काया से रहित है। अर्थात वह शब्दस्वरूप नहीं है। वह जीभ पर आने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु उसी की सत्ता से शब्द बोले जाते हैं, शब्द सुने जाते हैं, दृश्य देखे जाते हैं, गंध सूंघे जाते हैं, स्पर्श ग्रहण किये

जाते हैं तथा स्वाद चखे जाते हैं। वह शब्द नहीं, शब्दों का ज्ञाता है और स्पर्श, रस, गंध, रूप एवं संकल्प-विकल्पों का भी ज्ञाता है।

यहां सद्गुरु ने स्वस्वरूप को समझने के लिए निरख-परख का रास्ता बताया है। 'निरख' का अर्थ है देखना, 'परख' का अर्थ है परीक्षा करना। निरख शब्द का प्रयोगकर यहां आंख से देखने की बात नहीं है। यहां अभिधा अर्थ नहीं किन्तु लक्षणा अर्थ है। यहां 'निरख-परख' का संयुक्त अर्थ है गहराई से समझना।

मैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांचों विषयों को जानता हूं, परन्तु मैं कौन हूं? पांचों विषय जड़ हैं और इन पांचों विषयों को जानने वाला मैं इनका द्रष्टा, मंता, ज्ञाता एवं बोद्धा हूं। द्रष्टा एवं बोद्धा चेतन होता है; अतएव मैं चेतन हूं। विषयों एवं बाहर से लौटकर जब व्यक्ति अंतर्मुख होता है, तब वह अपनी निरख-परख कर पाता है।

संकल्पों का आवरण जड़दृश्यों को उपस्थित करता है। जब साधक संकल्पों का त्याग कर देता है, तब उसे अपने स्वरूप का पूर्ण अनुभव होता है। "सोने के बरतन से सत्य का मुख ढका है।"[१] रमणीय प्रतीत होने वाले विषयों के स्मरणों से स्वरूपज्ञान आच्छादित रहता है। उसके हटने पर साधक स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाता है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति केवल कहने की नहीं, रहने की बात है।

जो अपने स्वरूप को न समझकर केवल शब्दों के पीछे भागते हैं, उनके लिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

पर्वत ऊपर हर बहै, घोड़ा चढ़ि बसै गाँव।
बिना फूल भौंरा रस चाहै, कहु बिरवा को नाँव॥३६॥

शब्दार्थ—बहै = चलना। बिरवा = पेड़।

भावार्थ—अपनी आत्मा को परम तत्व न समझकर शब्द-जालों में पड़े हुए जो अलग परमात्मा या मोक्ष खोजते हैं, वे मानो पत्थर पर हल चलाना चाहते हैं, घोड़े पर चढ़कर उस पर गांव बसाना चाहते हैं और उनका मन-भौंरा बिना फूल के ही रस चाहता है। कहो भला, कल्पना को छोड़कर उस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है! ॥३६॥

व्याख्या—पत्थर के ऊपर हल नहीं चलता। चंचल घोड़े पर गांव नहीं बसता। बिना फूल के भौंरे को रस नहीं मिलता। जैसे उक्त बातों का होना असम्भव है, वैसे अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान तथा स्थिति छोड़कर एवं स्वात्माराम में रमण से हटकर कहीं भी बाहर सुख-शांति नहीं मिल सकती।

लोग पुराणों, महाकाव्यों एवं धर्मशास्त्रों की बातें पढ़ते और सुनते हैं और उनमें वर्णित स्वर्गों के काल्पनिक एवं मनोरम दृश्यों में खो जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि सभी परम्परा वालों ने अपने मन को बहलाने के लिए स्वर्ग का सुन्दर-से-सुन्दर रूप खींचा है। सभी मतवालों ने ऐसे ईश्वर का भी रूप गढ़ा है जो अपने भक्तों-द्वारा अपनी

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। *(ईश उपनिषद् १५)*

थोड़ी खुशामद करने पर उन्हें सारी सुख-सुविधा देने के लिए तैयार बैठा है। आदमी की भोगों की इच्छाएं इस जीवन में पूरी नहीं होतीं। वे पूरी हो भी नहीं सकतीं। किसी की पूरी नहीं हुई हैं। तो यहां की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि के रूप में उसने आकाश में स्वर्ग-लोक की कल्पना की है। वहां भगवान हैं, देवता हैं, दिव्य भोग हैं। परंतु स्वर्गलोक, वहां के भगवान तथा देवता तो झूठे हैं ही, वहां के दिव्य भोग वही हैं जो मलिन इन्द्रियों की क्रियाएं हैं। अप्सराएं, हूरें, गिल्में तथा इनसे मिलने वाले भोग वही हैं जो यहां शूकर-कूकर और बन्दर भोगते हैं। इतनी घृणित वस्तुओं में जिसका मन रमता हो उसने अध्यात्म की छाया भी नहीं छुई है।

इस बीसवीं शताब्दी में भी कितने मुल्ला, पादरी और पंडित सभाओं में ताल ठोककर तथा मुट्ठी भींजकर श्रोताओं से कहते हैं कि तुम जब स्वर्ग में पहुंचोगे, तब तुम्हारी आंखों की रोशनी इतनी बढ़ जायेगी कि तुम ईश्वर को देख सकोगे। दिव्य भोगों को भोगोगे वह तो घलुए में। ऐसे लोगों की बुद्धि कितनी दीन है यह सहज समझा जा सकता है।

यह ठीक से समझ लो कि तुम्हारे चित्त की निर्मलता के समान कहीं स्वर्ग नहीं है, शांति के समान कोई भोग नहीं है, संत-सज्जनों के समान कोई देवता नहीं है, जीव के समान कोई शिव नहीं है अर्थात आत्मा के समान कोई परमात्मा नहीं है। मन की कल्पनाओं को छोड़ो, अपने स्वरूप को समझो और अपने आप में रमो।

वासना-त्याग मोक्ष है

चन्दन बास निवारहू, तुझ कारण बन काटिया।
जियत जीव जनि मारहू, मुये सबै निपातिया ॥३७॥

शब्दार्थ—चन्दन = एक सुगंधित लकड़ी या उसका वृक्ष, तात्पर्य में चेतन जीव। बास = गंध, वासना। निवारहू = त्याग करो। बन = जंगल, भ्रम-मान्यताएं। निपातिया = नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे चेतन मनुष्य! तू वासनाओं का त्याग कर। तेरे कल्याण के लिए मैंने भ्रांतियों का जंगल काट दिया है। तपस्या के नाम पर जीते जी अपने को मत पीड़ित करो या उपवास करके आत्महत्या मत करो। यदि शरीर को पीड़ित करने एवं आत्महत्या करने से मोक्ष होना माने, तो शरीरांत में सब नष्ट हो जाते हैं, फिर तो सबका मोक्ष होना सुकर हो जाना चाहिए ॥३७॥

व्याख्या—मनुष्य दुखों से पीड़ित है। वह उससे छूटना चाहता है। दुखों से छूट जाना ही मोक्ष है। परन्तु मोक्ष के विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी भ्रांतियां हैं। नाना धार्मिक ग्रंथों में मोक्ष के बड़े तर्कहीन नुस्खे दिये गये हैं। अमुक मंत्र या नाम जपने मात्र से मोक्ष, अमुक नदी में नहाने से मोक्ष, अमुक नगर में बसने से मोक्ष, घोर तपस्या-द्वारा शरीर को सुखाने से मोक्ष, किसी तथाकथित तीर्थ में आत्महत्या करने से मोक्ष, अन्न-जल छोड़कर निरन्तर उपवास करते-करते शरीर त्याग देने से मोक्ष, किसी मजहब, किताब एवं कल्पित ईश्वर में विश्वास करने से मोक्ष, यहां तक कि वैयाकरणों ने शब्द रटने से मोक्ष मान

लिया, संगीत वालों ने स्वर-साधना ही से, कामियों ने संभोग से ही मोक्ष मान लिया है और अवतारवादियों ने तथाकथित अवतारों द्वारा जिनकी हत्या कर दी गयी उनका भी मोक्ष मान लिया है।

सद्गुरु ने यहां चेतन मनुष्य को चन्दन शब्द से सम्बोधित करके कहा है कि हे मानव! तू वासना का त्याग कर। वासना का त्याग ही मोक्ष है। सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तेरे कल्याण के लिए भ्रांतियों का जंगल काट डाला है। मोक्ष के सस्ते तथा तर्कहीन नुस्खों का परदाफ़ाश कर दिया है। अब तेरा काम है कि तू स्वयं सत्यासत्य को समझ और अपना कल्याण कर!

मोक्ष न तो किसी बाहरी क्रिया का फल है और न किसी में मिलना या कहीं अन्यत्र पहुंचना मोक्ष है। मोक्ष है सारी वासनाओं का त्याग। वासनाएं ही जीव के लिए बन्धन हैं। उनके सर्वथा नष्ट हो जाने पर बन्धन समाप्त हो जाते हैं। बस यही मोक्ष है।

काम-भोग, राग-रंग, विषय-विलास की वासना तथा क्रिया का त्याग तो करना ही चाहिए, जीवन-निर्वाह के लिए जो आवश्यक हैं जैसे भोजन, वस्त्रादि इनकी भी वासना नहीं होना चाहिए। हमें जीवन-निर्वाह के लिए खाना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं, शरीर ढकने के लिए पहनना चाहिए, प्रदर्शन के लिए नहीं। जब मन चारों तरफ से अनासक्त एवं वासना-विहीन हो जाता है, तब हमारे लिए सर्वत्र मानो अमृत-ही-अमृत उपलब्ध हो जाता है; क्योंकि तब हमारा हृदय परम शांत हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं कि मोक्ष के लिए "जियत जीव जनि मारहू" जीते जी अपने आप को पीड़ा मत दो। अन्न-वस्त्र त्यागने से मोक्ष नहीं मिलता। शरीर को पीड़ा देकर मोक्ष की कल्पना गंवारूपन है। यदि शरीर को संताप देकर तथा इसकी हत्या करके मोक्ष होता तो मरने पर सबका मोक्ष मानना चाहिए। परन्तु यह बात सच नहीं है।

जीवन-निर्वाह में मध्यवर्ती व्यवहार होना चाहिए। विषय-विलास गलत है, परन्तु शरीर को संताप देना भी गलत है। ठूंसकर खाना गलत है, परन्तु अधिक उपवास भी गलत है। फैशनेबुल होना गलत है, परन्तु दिखाने के लिए फटा, मैला एवं टाट लपेटना भी गलत है। बहु-व्यवहार गलत है, परन्तु एकदम निष्क्रिय रहना भी गलत है। निरन्तर भीड़ में रहना गलत है, परन्तु साधु-संगत छोड़कर सब समय अलग-थलग रहना भी गलत है।

मोक्ष के लिए तपस्या का स्थान गौण है, साधना की प्रधानता है। तपस्या दिखाऊ, उत्तेजक और प्रचारक होती है, किन्तु साधना गम्भीर और अन्तर्मुख होती है। गीता में महाराज श्रीकृष्ण के मुख से भी यही कहलवाया गया—"आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, सोना तथा जागना मध्यवर्ती रखने से ही योग दुख का नाशक होता है।"[१] गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा—"देह सुखाने तथा केवल ध्यान करने से वासना नहीं मिटती,

---

१. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ *गीता ६/१७॥*

उसके लिए ज्ञान पर विचार करना आवश्यक है।"[1] उन्होंने और भी कहा है—

माधो मोह पास किमि टूटै।

बाहर कोटि उपाय करिय, अभिअन्तर ग्रन्थि न टूटै॥
घृत पूरण कटाह अन्तर्गत, ससि प्रतिबिम्ब लखावै।
इंधन अनल लगाय कल्प शर्त, औटत नास न पावै॥
तरु कोटर महँ रह बिहंग, तरु काटै मरै न जैसे।
साधन करिय विचारहीन मन, सुद्ध होय नहिं तैसे॥
अन्तर मलिन विषयवस मन, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन, बल्मीक विविध विधि मारे॥
तुलसी दास हरि गुरु करुना बिन, विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई॥

गोस्वामी जी के उक्त वचनों से उनके व्यर्थ महिमापरक वचन अपने आप कट जाते हैं, जैसे—"चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा।" रामेश्वर के लिए—"जो गंगा जल आनि चढ़ावहिं। सो सायुज्य मुक्ति पद पावहिं।" आदि। मोक्ष न छूमन्तर की चीज है और न शरीर-संताप देने से वह मिलता है। वासना का त्याग ही मोक्ष है। अपनी आत्मा से अलग जो कुछ है सबकी वासना का त्याग मोक्ष है।

चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय।
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहाँ समाय॥३८॥

शब्दार्थ—चंदन = चेतन-मनुष्य। सर्प = अहंकार। विष = विषयासक्ति। अमृत = स्वरूपविचार, आत्मविचार, वासनाहीन दशा, शांति।

भावार्थ—जीव को अहंकार सर्प ने लपेट रखा है, अतः जीव बेचारा क्या करे! उसके रोम-रोम में तो विषयासक्ति भीनी हुई है, फिर उसमें स्वरूप-विचार एवं शांतिरूपी अमृत कहां समाये?[2] ॥३८॥

व्याख्या—जीव का मौलिक स्वरूप निर्विकार है। परन्तु वह सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं देहादि के अहंकार में पड़कर विषयासक्तिरूपी विष से लिप्त हो गया है। सर्प लपेटिया, विष भीनिया तथा अमृत कहां समाय—ये तीनों वाक्य-खण्ड बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। जीव

---

१. देह सुखाय पिंजर करे, धरे रैन दिन ध्यान।
तुलसी मिटै न वासना, बिना विचारे ज्ञान॥

२. इस साखी को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं—शीतल चंदन में सर्प के लिपटे रहने पर भी, सर्प के रोम-रोम में विष रहने से, उसमें चन्दन की शीतलता इस प्रकार प्रविष्ट नहीं होती जिससे उसका विष दूर हो जाय, इसी प्रकार दुष्टजन सत्संग में रहकर भी दुर्गुणरूपी विष से दूर नहीं हो पाते।

को अहंकार-सर्प ने लपेट रखा है। अहंकार-सर्प कोई स्वतन्त्र प्राणी नहीं है जो दौड़कर जीव को लिपट जाय। तात्पर्य यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूलकर देह-गेहादि विजाति भौतिक वस्तुओं में अहंता-ममता कर लिया है। यह अहंता-ममता ही उसके लिए सर्प बन गयी। हमने स्वयं अपने आप की भूल से अहंकार-सर्प को जन्म दिया है जो हमारे लिए दुख का कारण बना है।

"रोम रोम विष भीनिया" में विषयासक्ति की प्रबलता के लिए व्यंजना है। 'भीनिया' शब्द जानबूझकर प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ होता है ओतप्रोत होना। मनुष्य का मन विषयों से ओतप्रोत है। उसमें विषयों के अध्यास अत्यन्त प्रबलता से जम गये हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि फिर उसमें अमृत कहां समायेगा! स्वरूपविचार, आत्मविचार, पारखविचार एवं आत्मचिन्तन विषयी मन में कैसे हो!

उक्त बातें पढ़-सुनकर मनुष्य को घबराने की आवश्यकता नहीं है। जो सर्वसामान्य की बातें हैं वे यहां बतायी गयी हैं। विषयासक्ति प्रबल होते हुए भी अन्धकार मात्र है, जो ज्ञानप्रकाश के उदय होते ही टिक नहीं सकती। घोर अन्धकार में आदमी को कुछ नहीं सूझता। वह लाठी, डंडा, तलवार, बंदूक के प्रयोग से समाप्त भी नहीं होता। किन्तु घोर-से-घोर अन्धकार प्रकाश जलाते ही गायब हो जाता है। तब प्रतीत होता है कि मानो अन्धकार कभी था ही नहीं। इसी प्रकार देहाभिमान एवं विषयासक्ति अत्यन्त प्रबल दिखते हुए भी स्वरूपज्ञान उदय होते ही गायब हो जाते हैं। फिर पता नहीं चलता ये कभी थे भी। विवेकज्ञान एवं पारख की दिव्य दृष्टि का तेज अत्यन्त जाज्वल्यमान है। उसमें मन के किसी प्रकार का अन्धकार टिक नहीं सकता।

सिद्धांततः जीव अमृत है। अमृत का अर्थ ही अ-मर, अ-मृत है। व्यवहारतः वासना का त्याग अमृत है। वासना ही विष है। उसका त्याग अमृत। व्यवहार के बिना सिद्धांत काम नहीं करता। जीव स्वरूपतः अमृत होते हुए भी दुखी है; क्योंकि वह व्यवहारतः अमृतत्त्व से दूर है। वह निर्वासनिक नहीं है।

वासना विष है, फोड़ा है, पीड़ा है, दर्द है। जिसने वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह अमृत हो गया है, वह नीरोग है, सुखी है और महा शांत है।

ज्यों मोदाद समसान शिल, सबै रूप समसान।
कहहिं कबीर वह सावज की गति, तबकी देखि भुकान ॥३९॥

शब्दार्थ—मोदाद = स्फटिक पत्थर। समसान शिल = प्राप्त रंग के समान हो जाने वाला पत्थर। सावज = साउज, पशु, साउज उस पशु को कहते हैं जिसका शिकार किया जाय; यहां का अभिप्राय है कुत्ता।

भावार्थ—जैसे स्वच्छ कांच के समान स्फटिक पत्थर होता है जिसे प्राप्त रंग के अनुसार प्रतीत होने के नाते समसान शिला भी कहते हैं, वह सभी रूपों एवं रंगों को ग्रहण करता है, वैसे मनुष्य का मन है। यह प्राप्त वृत्तियों के रंग में रंगकर उस-उस के अनुसार बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि जैसे कुत्ता शीशमहल में अपने प्रतिबिंब देखकर और उन्हें अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर उन्हें परास्त करने के लिए भूंक-भूंककर मरता

है, वैसे मनुष्य भ्रमवश अपनी ही भावनाओं को सबमें प्रतिबिंबित करके राग-द्वेष में भूंक-भूंककर मरता है॥३९॥

व्याख्या—सद्‌गुरु ने इस साखी में मनुष्य के मन को स्फटिक पत्थर तथा कुत्ते के सुन्दर उदाहरण देकर जिस प्रकार से समझाया है, वह अत्यन्त तलस्पर्शी है। स्फटिक पत्थर स्वच्छ कांच के समान होता है। उसके सामने जितने रंग या रूप आते हैं, वह उन्हें ग्रहण करता रहता है। यदि उसके सामने लाल रंग आया तो उसमें लाल रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। पीला रंग आया तो पीला रंग प्रतिबिंबित हो जाता है। मन की यही दशा है। उसके सामने काम आया तो वह काममय लगता है, क्रोध आया तो क्रोधमय। यदि मन के सामने दुख की वृत्ति आयी तो मन दुखमय बन जाता है और यदि उसके सामने सुख आया तो वह सुखमय बन जाता है। मन में वासनाएं आयीं तो वह वासनामय एवं बन्धनरूप बन जाता है और यदि मन में वासनाहीन भावना आयी तो वह मुक्त तथा शांतिमय हो जाता है। यह सब कहने का अर्थ यह है कि मन अपने आप में न सुखरूप है न दुखरूप, न बन्धनरूप है न मुक्तरूप, न पापरूप है न पुण्यरूप। वस्तुतः जैसी-जैसी वृत्तियां उसके सामने आती हैं वह वैसे-वैसे बनता रहता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह मन को न कोसकर अपनी वृत्तियों को सुधारे। वृत्तियों के सुधर जाने पर मन अपने आप सुधर जाता है।

स्फटिक पत्थर स्वच्छ है, उसमें पड़े हुए प्रतिबिंब तो अन्य वस्तुओं के हैं, अतएव प्रतिबिंब कोई सत्यवस्तु नहीं है, जो व्यक्ति ऐसा समझता है वह प्रतिबिंबों से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार जो विवेकवान यह समझता है कि सुख-दुख विकारादि सारी वृत्तियां मन में पड़े हुए प्रतिबिंब के समान हैं, न मन मेरा स्वरूप है और न मन में पड़े हुए विकारों के प्रतिबिंब ही मेरे स्वरूप हैं; मैं तो इन सबसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, वह सुख-दुख द्वन्द्वों से रहित निर्विकार होता है। विवेकवान साधक मन और मन के द्वन्द्वों का द्रष्टा बन जाता है। अपने आप को मन तथा उसके विकारों से अलग कर लेना ही तो मोक्ष है, कल्याण है और परमपद की प्राप्ति है।

दूसरा उदाहरण कुत्ते का है। कुत्ता ऐसे मकान में घुस गया जहां सब तरफ दीवारों पर दर्पण लगे थे। उसने उसमें अपने प्रतिबिम्ब देखे। उसने समझा कि ये मेरे विरोधी कुत्ते हैं। वह भूंकने लगा और भूंकते-भूंकते मर गया। संसारी लोगों की यही दशा है। वे अपने मन में अपनी वृत्तियों की ही परिछाईं देखते हैं। जैसे उनके मन के ख्याल होते हैं उन्हें संसार के लोग वैसे लगते हैं।

जब हम किसी से द्वेष कर लेते हैं चाहे वह कितना ही अच्छा हो, तब वह हमें बुरा लगता है; और जब हम किसी से मोह कर लेते हैं चाहे वह भले ही बहुत बुरे आचरण का हो, वह हमें अच्छा लगता है। हमारे ख्याल बुरे हैं तो संसार बुरा लगता है, यदि अच्छे हैं तो अच्छा लगता है। जैसे कुत्ता शीशे में प्रतिबिम्ब देखकर तथा भूंक-भूंककर मरता है वैसे हम अपने मन के राग-द्वेष के वश होकर उन्हीं भावनाओं के चश्मे से संसार को देख-देखकर तथा उलझ-उलझकर मरते हैं।

स्फटिक पत्थर तथा कुत्ता—दोनों के उदाहरणों में सार यही है कि हमें मन की वृत्तियों को ही सुधारना है।

हठ और दृढ़ संकल्प-शक्ति का भेद

गही टेक छोड़े नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
ऐसो तप्त अंगार है, ताहि चकोर चबाय ॥४०॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगलै तप्त अंगार।
कहैं कबीर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥४१॥

शब्दार्थ—टेक = संकल्प, हठ, पक्ष, आश्रय। लगार = लगाव, प्रेम।

भावार्थ—चकोर पक्षी चन्द्रमा का प्रेमी होता है वह उसके प्रेमपक्ष को कभी नहीं छोड़ता। वह तप्त अंगार को भी चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है चाहे उसकी जीभ एवं चोंच भले जल जायं। लगाव ऐसी वस्तु है कि वह जलता भी नहीं ॥४०-४१॥

व्याख्या—यह प्रसिद्धि है कि चकोर पक्षी रात में चन्द्रमा के उगते ही उसकी ओर टकटकी लगाकर देखता है; क्योंकि चकोर चन्द्रमा का अत्यन्त प्रेमी होता है। उसके सामने यदि प्रज्वलित अंगार डाल दिया जाय तो उसे भी वह चन्द्रमा का अंश मानकर निगल जाता है। वह जलने की बात को लेकर डरता नहीं।

चन्द्र-चकोर का उदाहरण एकनिष्ठ समर्पित भाव के लिए है। यदि यह गलत की ओर है तो बन्धनप्रद है और यदि सत्य की ओर है तो कल्याणप्रद है। सद्गुरु ने चौबीसवीं रमैनी के शुरू ही में कहा है "चन्द्र चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई।" अर्थात गुरुओं ने उपासकों को ऐसा उपदेश किया है कि जैसे चकोर चन्द्रमा में हठपूर्वक प्रेम करता है वैसे तुम हठपूर्वक ईश्वर में प्रेम करो। अपनी आत्मा से अलग ईश्वर एक कल्पित अवधारणा है और उसमें हठ एवं पक्षपूर्वक प्रेम करने का मतलब है स्वतन्त्र विवेकसंपन्न मानवीयबुद्धि का परित्याग कर देना। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि गुरुओं ने लोगों को चन्द्र-चकोर की बात बताकर तथा मानवीयबुद्धि को पलटकर उसे पशुबुद्धि का बना दिया। हाथ से बनायी हुई मूर्ति को तथा मन से बनायी अवधारणा को जो ईश्वर-परमात्मा मानकर उसी में पक्ष एवं हठ करके पड़ा रहेगा, उसे आत्मज्ञान एवं स्वरूपज्ञान कब होगा! अतएव मनुष्य को हठी एवं पक्षपाती न होकर विनम्र तथा उदार होना चाहिए और हर बात जांच-परखकर मानना चाहिए। यदि परख करने पर पूर्व की मानी हुई बात गलत ठहरती हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। गलत एवं असत्य का पक्ष पकड़ने से किसी का कल्याण तो हो नहीं सकता, उलटे अकल्याण एवं बन्धन है।

परन्तु, यदि कोई सत्यज्ञान, सत्य रहनी एवं सत्य आचरण में अविचल भाव से दृढ़ है तो उसके इस टेक का अर्थ पक्ष तथा हठ न होकर आश्रय, आधार एवं अवलंब होगा। कहा जाता है "ठांव गुण कारी, ठांव गुण काजर।" अर्थात वही चीज गालों में लग जाय तो कालिख कहलाती है और आंखों में लग जाय तो काजल कहलाती है। मन की दृढ़ता

असत्य में हो जाय तो वह पक्ष एवं हठ के नाम से जानी जायेगी, परन्तु वही दृढ़ता सत्य में हो जाय तो सत्य संकल्प के नाम से जानी जायेगी।

कोई व्यक्ति जब किसी डाकू, हत्यारे एवं आततायी को मारकर किसी सज्जन की रक्षा करता है तब उसे साहसी तथा शूर-वीर कहकर उसका सम्मान किया जाता है; और जब कोई व्यक्ति स्वयं डाकू एवं हत्यारा बनकर किसी की हत्या करता है तब उसे क्रूर एवं आततायी कहा जाता है। दोनों घटनाओं में उन दोनों व्यक्तियों-द्वारा हत्या की एक-जैसी ही क्रिया हुई है, परन्तु दोनों के मानसिक स्तर में महान अन्तर रहा है। इसी प्रकार हठ तथा दृढ़ संकल्प—दोनों में एक-जैसी मजबूत पकड़ की क्रिया है, परन्तु दोनों के भावों एवं परिणामों में महान अन्तर है। असत्य के प्रति मजबूत पकड़ हठ है तथा सत्य के प्रति मजबूत पकड़ दृढ़ संकल्प है।

इस मंथन से यह सिद्ध हुआ कि हम मेहनत एक-जैसी ही करते हैं, परन्तु सही दिशा में चलने से अपने गंतव्य तक पहुंचते हैं और गलत दिशा में चलने से अपने गंतव्य से बहुत दूर हो जाते हैं। अतएव मन तथा शरीर की क्रिया का अपना महत्त्व होते हुए भी विवेक का सर्वोपरि महत्त्व है। मनुष्य को भावनाओं के जोश में बहना नहीं चाहिए, किंतु विनम्रता एवं निष्पक्षता पूर्वक सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

संसार में अधिकतम लोग ऐसे हैं जो भावनाओं में बहते हैं। वे जो हठ पकड़ लेते हैं, छोड़ते नहीं।

एक बदमाश था। वह राज्य-कर्मचारियों-द्वारा पकड़ा गया। राजा ने दण्डस्वरूप उसकी नाक कटवा ली और उसे छोड़ दिया। वह अपना देश छोड़कर दूर चला गया। उसने साधु का वेष बना लिया और लोगों से कहने लगा कि यह नाक ईश्वर-दर्शन में रुकावट करती थी, इसलिए मैंने इसको काटकर फेंक दिया है। अब हर समय ईश्वर के खुले दर्शन होते हैं। ऐसी बातें कहकर वह लोगों के सामने ताली बजाकर नाचता था कि हम धन्य हैं। हमें हर समय ईश्वर के दर्शन हो रहे हैं।

आप जानते हैं कि संसार में ईश्वर-दर्शन के प्रेमी बहुत हैं। लोग उसके पास आने लगे और उससे निवेदन करने लगे कि हे गुरुदेव! हमारी भी नाक काटकर आप हमें विधिवत दीक्षा दें जिससे हम भी ईश्वर के दर्शन कर सकें। वह लोगों की नाक काटकर उन्हें अपना चेला बनाने लगा। नाक काटने के बाद वह उनके कानों में मन्त्र देने के नाम पर यही बतलाता था कि देखो, अब तो तुम्हारी नाक कट ही गयी है। अब समाज को यही बतलाओ कि हमारी नाक कट जाने से अब हमें ईश्वर के साक्षात दर्शन होते हैं। चेले उस धूर्त गुरु के पक्षपाती होते गये और उसकी बातें दोहराते गये। लोग नाक कट जाने पर नाचने लगते थे और कहने लगते थे कि हम धन्य हैं। हमें गुरुकृपा से ईश्वर-दर्शन हो रहे हैं। इस ईश्वर-दर्शन के मोह में सैकड़ों ने अपनी नाकें कटवायीं और कटवा लेने के बाद उस धूर्त-गुरु के पक्षपात में पड़कर उसी का राग अलापने लगे।

एक राजा ने ईश्वर-दर्शन की इच्छा अपने मन्त्री से बतायी और अपनी नाक कटवाने की बात कही। मन्त्री समझदार था। उसने कहा—हुजूर, पहले किसी विश्वासपात्र नौकर

की नाक कटवाकर देख लिया जाय कि उसे ईश्वर-दर्शन होते हैं या यह सब जालसाजी है। यदि यह ईश्वर-दर्शन सच है तो नाक कटवाना कोई बड़ी बात नहीं है। मैं भी अपनी नाक कटवा सकता हूं। एक नौकर को उस धूर्त गुरु के पास भेजकर उसकी नाक कटवायी गयी। ईश्वर-दर्शन तो वैसे ही फर्जी है, नाक कटाकर करने की बात तो और ही बेवकूफी है। नौकर ने राजा तथा मन्त्री को वास्तविकता बतायी कि ईश्वर-दर्शन नहीं हो रहे हैं। यह धूर्त है। वह पकड़ लिया गया और कारागार में डाल दिया गया।

यह कहानी चाहे काल्पनिक हो; परन्तु इसका सार सत्य है। संसार में अनेक धूर्तगुरु लोगों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर अपने जाल में फंसाते हैं और लोग जब फंस जाते हैं तब वे चन्द्र-चकोर के उदाहरण के अनुसार उसके पक्षपाती हो जाते हैं। इससे उनका पतन होता है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह निर्मान तथा निष्पक्ष विवेकी हो। वह सदैव असत्य के त्याग एवं सत्य के ग्रहण के लिए तत्पर रहे। असत्य का पक्ष मनुष्य के लिए अहितकर है, सत्य ही मनुष्य का अपना हितकर है। हां, वह सत्य में अविचल भाव से दृढ़ हो।

दृश्य-ज्योति का द्रष्टा चेतन श्रेष्ठ है

झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु।
गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु ॥४२॥

शब्दार्थ—झिलमिल = हिलता हुआ ज्योति-प्रकाश। अटके = फंसे, बंधन में पड़े। कालपुर = कल्पना का नगर। साहु = साधु, विवेकी।

भावार्थ—प्राणायाम करते हुए त्राटकादि मुद्रा द्वारा झिलमिल ज्योति देखने के झगड़े में पड़कर सभी योगी इस भ्रम-झूले में झूलते हैं। इनमें से इससे कोई नहीं बचा। गोरखनाथ-जैसे महापुरुष भी इस कल्पना के नगर में फंस गये, फिर दूसरा कौन विवेकी कहलायेगा!॥४२॥

व्याख्या—कुछ साधक अपने हृदय में एक बिन्दुरूप ज्योति की कल्पना करते हैं और उसमें अपने मन को रोकते अर्थात उस ज्योति-बिन्दु का ध्यान करते हैं। फिर यह कल्पना करते हैं कि वह ज्योति फैलती जा रही है। वह पूरे हृदय में फैल गयी है, पूरे शरीर में फैल गयी है, फिर वह मीलों की गोलाई में फैल गयी है, अंततः अनंत विश्व-ब्रह्मांड में फैल गयी है।

कुछ साधक उस बिन्दु को उतने ही रूप में नित्य देखते हुए ध्यान करते हैं। उसके फैलने की कल्पना नहीं करते। कुछ साधक उस बिन्दु को नाभि में, तो कोई त्रिकुटी में, कोई ब्रह्मरंध्र में देखते हुए उसका ध्यान करते हैं।

कुछ साधक शरीर के बाहर उस ज्योति को देखते हैं। इसके लिए त्राटक मुद्रा करना पड़ता है। दोनों भौंहों के बीच में खुले नेत्रों से एकटक देखने से या सामने किसी दीवार

में एक गोल बिन्दु बनाकर उसे अनिमेष देखने से आंखों में गरमी आ जाने पर ज्योति दिखती है। "जब तक नेत्रों से अश्रुपात न हो तब तक अनिमेष (बिना पलक गिराये) किसी सूक्ष्म पदार्थ की ओर देखते रहने को बुधजन त्राटक योग कहते हैं।"[1]

कुछ साधक आंखों को भींचने पर जो उसमें गरमी होती है उसे ही देखते हैं और वे आंखें बन्दकर देर तक उसी ज्योति के ध्यान में मग्न रहते हैं। आंखें बन्द करने से अन्धकार, प्रकाश तथा प्रकाश के कई रंग दिखते हैं। उन्हीं में वे अपने मन को केन्द्रित करते हैं। कुछ साधक बन्द आंखों पर उंगली लगाकर हलका-सा दबाते हैं इससे उसमें गरमी होने से ज्योति दिखने लगती है। इस प्रकार ज्योति-दर्शन के अनेक तरीके हैं।

इस प्रकार ज्योति को ही आत्मा या परमात्मा मान लेने की बात और उस ज्योति को देखकर यह मान लेना कि परमात्मा के दर्शन हो गये तथा परमात्मा मिल गया एक महा भ्रम है। ज्योति तो आंख की गरमी है। ज्योति जड़-दृश्य है। उसके द्रष्टा तुम चेतन हो। दृश्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता, किन्तु द्रष्टा ही श्रेष्ठ होता है। ज्योति, नाद आदि में मन रोकने का प्रयास एक क्रियायोग है। ये कुछ समय के लिए मन रोकने के आधार हैं। ये व्यक्ति के आत्मस्वरूप नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनमें अटक जाना कल्पना में फंस जाना है। अपने स्वरूप से अलग किसी वस्तु एवं अवधारणा को अपना लक्ष्य एवं विश्रामस्थल मान लेना कालपुर में फंस जाना है।

योगी तथा संत का शरीर भी नाशवान है

गोरख रसिया योग के, मुये न जारी देह।
माँस गली माटी मिली, कोरो माँजी देह॥४३॥

शब्दार्थ—रसिया = रसिक, प्रेमी। कोरो = शरीर की हड्डियां। माँजी = साधना से चमकने लगीं।

भावार्थ—श्री गोरखनाथ जी योगाभ्यास के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने अपने शरीर को योगाभ्यास में इसलिए तपाया कि यह अमर हो जाय। फलतः उनके शरीर का मांस गलकर मिट्टी में मिल गया। अभिप्राय है कि उन्होंने योगाभ्यास से मांस को गला डाला और उनकी देह की हड्डियां मंजे हुए बरतन के समान चमकने लगीं॥४३॥

व्याख्या—योगाभ्यास से या काया-कल्प से शरीर को अजर-अमर बनाया जा सकता है—यह भ्रम बहुत पुराना है। कहा जाता है योगिराज गोरखनाथ जी ने अपने शरीर को योगबल से अमर कर लिया था। आज भी बहुत लोगों को भ्रम है कि गोरखनाथ जी आज भी अपने शरीर से विद्यमान हैं और हिमालय की कंदराओं में निवास करते हैं। परन्तु ये सारी बातें फर्जी हैं। कबीर साहेब ने ऐसी भ्रांतियों को काटने के लिए ही कहा है—"नाथ मछन्दर बाँचे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास। कहहिं कबीर पुकारि के, ई सब परे

---

१. निमेषोन्मेषकौ त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावद्श्रूणि मुञ्चन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः॥ *हठयोग संहिता ४/४३॥*

काल के फाँस॥''[१] अर्थात मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वेदव्यास आदि किसी का शरीर नहीं बचा। सभी देहधारी काल के गाल में जाते हैं। यहां तक ''गये राम और गये लछमना।''[२] सृष्टि का नियम है जो शरीर धारण करता है, वह मरता है। चेतन अजर-अमर है, परन्तु शरीर तो किसी का भी अमर नहीं है। अनेक कणों के संयोग से जो शरीर एक दिन बना है, वह बिखरकर नष्ट होगा ही। ''जो ऊगे सो आथवै, फूले सो कुम्हिलाय। जो चूने सो ढहि परे, जन्मे सो मरि जाय॥''[३] इस परम सत्य को कोई झुठला नहीं सकता।

योगाभ्यास से आयु बहुत लम्बी हो जाती है, यह भी एक भ्रम है। अच्छे-अच्छे योगी भी अल्पायु होते हैं और विषयी-पामर भी दीर्घायु होते हैं। किसका शरीर कितने दिनों तक रहता है इसका महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व है कि कौन आदमी अपनी सीमित जिन्दगी में कितना आत्मकल्याण तथा लोककल्याण करता है।

कितने योगी एवं साधु-संन्यासी हैं जो अपनी उम्र बहुत लम्बी बताते हैं। कहावत है ''योगी अपनी उम्र लम्बी बताता है और वेश्या अपनी उम्र कम!'' एक गुरु बताते हैं कि मेरे गुरु आठ सौ वर्ष की उम्र के हैं। वे हिमालय में रहते हैं। वायव्यरूप में कहीं भी पहुंचकर पुनः वे स्थूल शरीर वाले हो जाते हैं। एक तपस्वी महात्मा जो बहुत दिनों से जगह-जगह नदियों के किनारे मचान पर नंगे रहा करते हैं, उनके पीछे अनेक चमत्कार जोड़े जाते हैं। उन्हें सैकड़ों वर्षों का बताया जाता है। जबकि वे अभी सौ वर्ष की उम्र से भी कुछ कम ही होंगे।[४]

कहा जाता है कि बिना दो नम्बर का व्यापार किये धन नहीं बढ़ता है, इसी प्रकार बिना दो नम्बर का प्रचार किये धर्म नहीं बढ़ता। झुठाई और जालसाजी के आधार पर चमत्कारी बात करने वालों का धर्म है धन और जन का अधिक संग्रह। उनके धर्म की परिभाषा सत्य नहीं है, किन्तु धन-जन का विस्तार है। एक ने कहा कि मेरे गुरुजी की उम्र इस समय तीन सौ वर्ष है। अगले आदमी ने पूछा कि आप इस बात को कैसे जानते हैं? उसने कहा कि दो सौ वर्षों से तो मैं ही उनकी सेवा कर रहा हूं। एक विवेकी सन्त से एक साधु मिलने आये। उस समय उस साधु की उम्र साठ वर्ष की रही होगी। उन्होंने सन्त जी से कहा—'साहेब, आप को मैं साठ वर्ष का लगता हूंगा, परंतु इस समय मेरी उम्र नब्बे वर्ष की है।' उन संत की उम्र उस समय असी की रही होगी। उन्होंने उनसे व्यंग्य में कहा—'हां, ऐसा होता है। आपही को मैं असी वर्ष का लगता हूंगा, परन्तु मैं दो सौ वर्षों का हूं।'

वे वेषधारी साधु लज्जित हो गये और समझ गये कि सन्त जी ने मुझे उत्तर दिया है। झूठ बोलना वैसे ही पाप है, फिर अपनी उम्र ज्यादा बताने से क्या फायदा है! आज

---

१. रमैनी ५४।

२. रमैनी ५५।

३. कबीर अमृतवाणी।

४. सन् १९८७ ई० में।

भी उत्तरी भारत के योगी टाइप के कुछ साधु अपने आप को एक सौ बीस वर्षों तथा एक सौ चालीस वर्षों का बताते रहते हैं जो उनके मन का केवल व्यामोह है।

श्रीपूरण साहेब, श्री निर्मल साहेब, आदि शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा ईसा आदि संसार की ये बड़ी-बड़ी विभूतियां अपनी-अपनी थोड़ी आयु में जो काम करके जगत का कल्याण किये वह अत्यंत प्रशंसनीय है। महापुरुष यदि धरती पर ज्यादा दिन रहें, तो संसार का ज्यादा कल्याण है, यह बात सच है। परन्तु किसी को अपनी या दूसरे की उम्र बढ़ाकर बताने से किसी का कल्याण नहीं।

वस्तुतः मध्ययुग के धर्मग्रंथों, पुराणों, महाकाव्यों में जो अनेक व्यक्तियों के नामों के साथ उनकी उम्र के विषय में बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है उसका प्रभाव पीछे की पीढ़ी पर कुछ-न-कुछ आना ही था। "राजा प्रियव्रत ग्यारह अरब वर्ष राज्य करते हैं,[१] राजा दशरथ की जब साठ हजार वर्ष की उम्र होती है तब वे श्री राम को युवराज बनाने की बातें सोचते हैं,[२] श्री राम ग्यारह हजार वर्ष राज्य करते हैं,[३] शिव जी सतासी हजार वर्ष तक समाधि ही में बैठे रहते हैं,[४] पार्वती जी चार हजार वर्षों से अधिक तपस्या करती हैं,[५] कांकभुशुंड जी एक ही आश्रम पर सत्ताइस कल्प (एक खरब, सोलह अरब, चौसठ करोड़ वर्ष) तक निवास करते हैं।[६] कहां तक गिनाया जाय यह सूची बहुत लम्बी बनायी जा सकती है। वेदों के ऋषि ही बेचारे चतुर नहीं थे। उन्होंने केवल सौ वर्ष जीने की कल्पना की है।[७] छांदोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि इतरा के पुत्र महीदास ने एक सौ सोलह वर्ष की लम्बी आयु पायी थी।[८] यह तथ्यपूर्ण है। वेद, शास्त्र और उपनिषदों के ऋषि ईमानदार थे। ये पुराणों तथा महाकाव्यों के लेखक बड़े चालाक हो गये थे। इन्हें कुछ भी

---

१. श्री मद्भागवत, स्कंध ५, अध्याय १, श्लोक २९। आगे ३१ वें श्लोक में कहा गया है कि राजा प्रियव्रत के रथ के पहिये की लीकों से सात समुद्र बने जिससे पृथ्वी सात द्वीपों वाली हो गयी।

२. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग २, श्लोक ८।. मूल श्लोक में है कई हजार वर्ष, टीका में साठ हजार वर्ष—गीता प्रेस।

३. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग १२८, श्लोक १०६, गीता प्रेस।

४. बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनाशी।

(मानस, बालकांड, दोहा ५९ के आगे)

५. संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरस गवांए।।
कुछ दिन भोजन बारि बतासा। फिर कठिन कुछ दिन उपवासा।।
बेल पाती महि परइ सुखाई। तीन सहस संबत सोइ खाई।।

(मानस, बालकांड, दोहा ७३ के आगे)

६. इहां बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात औ बीसा।।

(मानस, उत्तरकांड, दोहा ११३ के बाद)

७. जीवेम शरदः शतम्। *(यजुर्वेद ३६/२४)*

८. छांदोग्य उपनिषद्, प्रपाठक ३, खंड १६, मन्त्र ७।

लिखने और कहने में संकोच नहीं था। वस्तुतः प्राचीन ऋषियों ने सौ वर्षों की पूरी आयु मानकर ही पचीस-पचीस वर्ष के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

अधिकतम मनुष्य तो सौ वर्ष के भीतर ही मर जाते हैं। कोई-कोई सौ के ऊपर जाता है। इस समय कबीरपंथ के महान संत षटशास्त्री श्री हनुमान साहेब जी[१] काशीवास कर रहे हैं एक सौ सात-आठ वर्षों के हैं। श्री कबीर साहेब की कुल लगभग एक सौ बीस वर्ष की आयु थी। इससे थोड़ी अधिक कहीं किसी की हो सकती है। किन्तु कोई भी व्यक्ति सैकड़ों वर्ष नहीं जीता।

साधु के बंधन

बन ते भागि बेहड़े परा, करहा अपनी बान।
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान॥४४॥

शब्दार्थ—बेहड़े = बीहड़, ऊबड़-खाबड़, भयंकर स्थान। करहा = खरहा, शशा, खरगोश। बान = स्वभाव। बेदन = वेदना, कष्ट।

भावार्थ—खरगोश अन्य हिंसक जंतुओं के डर से अपने दौड़ने के स्वभाववश भागकर एक उलझे हुए भयंकर स्थान में जा गिरा। अब वह अपनी पीड़ा किससे कहे! उसके दर्द को अन्य कौन समझेगा! अभिप्राय है कि मनुष्य गृहस्थी के बंधनों से भागकर साधु का वेष धारण किया और किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया। परंतु अपने फंसने के स्वभाववश वहां भी प्रपंच बनाकर उसमें बंध गया। अब वह अपने दुख को किससे कहे, उसके कष्ट को कौन दूर करे! ॥४४॥

व्याख्या—खरगोश का तेज दौड़ने का स्वभाव होता है। वह अपने इस स्वभाव से हिंसक जंतुओं के हमले से भागकर बचता है, परन्तु यदि कहीं तेज दौड़कर उलझी हुई जगह में गिर पड़ता है, तो फंसकर दुख ही भोगता है।

मनुष्य ने इन्द्रिय-भोगों के लोभवश तथा सम्मान के मोहवश अपने आप को जगह-जगह बंधनों में बांधने का स्वभाव बना लिया है। कुछ सात्विक संस्कार के मनुष्य इन बंधनों से बचने के लिए घर-गृहस्थी से भागते हैं और जाकर किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं। यदि उनमें विवेक की क्षमता नहीं है और अनासक्तिपूर्वक पवित्र रहनी में नहीं रह पाते तो वे वहां भी अपने लिए अनेक बंधन बना लेते हैं।

जो लोग साधु-वेष में आते ही हैं धन, अधिकार तथा मान-महंती के लिए, उनका हाल तो पहले से ही खस्ता है। वे साधु माने ही नहीं जा सकते। जो पहले पवित्र भाव से आते हैं, परन्तु पीछे साधु-वेष धारणकर बन्धनों में उलझ जाते हैं उनके लिए इस प्रसंग में चेतावनी है।

इस प्रसंग में गृहस्थों की बात नहीं, किन्तु विरक्त एवं साधुओं की चर्चा है। कौन

---

१. श्रद्धेय श्री हनुमान साहेब षटशास्त्री का १८-४-८८ ई० को काशी में शरीरांत हो गया।

साधु निर्बंध है तथा कौन बंधमान है, यह कह पाना एक कठिन काम है। जिनमें विवेक की कमी है उनमें एक दूसरे को बंधमान मानते हैं। मठाधीश-साधु भ्रमणशील-साधु को इच्छावश भटकने वाला मानता है और भ्रमणशील-साधु मठाधीश-साधु को बंधनों में बंधा हुआ मानता है। कितने साधु मठों में कमाते-खाते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं तथा कितने भ्रमणशील-साधु भी घूमते-विचरते हुए साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ साधु वेषधारी मठों में रहकर विषयासक्ति तथा लड़ाई-झगड़े में समय गंवाते हैं और कुछ भ्रमणशील मन के गुलाम बने चक्रवात की तरह जहां-तहां भटकते रहते हैं। आश्रम एवं मठों में तथा आश्रम-विहीन भ्रमण—दोनों में विवेकवान सन्त भी होते हैं।

कितने मठों एवं आश्रमों में साधुओं की आध्यात्मिक पढ़ाई-लिखाई होती है। वे साधना करते हैं, जन-सेवा भी करते हैं। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तो हर जगह होते हैं। यदि वे निष्ठापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं तो प्रशंसनीय हैं। साधुओं का आरम्भिक प्रशिक्षण, उनकी विधिवत शिक्षा-दीक्षा तथा धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन, यह सब आश्रम में ही सम्भव है। आश्रमधारियों को केवल आश्रम में ही नहीं बैठ जाना चाहिए। उन्हें समय-समय से जनता में निकलकर पवित्र विचारों का प्रचार करना चाहिए और स्वयं साधना में रहते हुए जीवनलक्ष्य शांति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान रहना चाहिए। आश्रमविहीन साधुओं को विवेकपूर्वक विचरण करते हुए अपने और दूसरे के कल्याण के यत्न करना चाहिए।

अपने में त्याग की ऊंचाई और दूसरे में बंधनों की उपस्थिति देखने का पचड़ा बहुत-से साधुओं के दिमाग में होता है। मामूली ही नहीं, बड़े-बड़े कहलाने वालों में भी यह मानसिक रोग होता है।

एक बार एक सन्त अपने त्याग की बड़ी महिमा गाने लगे। वे पैसे नहीं छूते थे। कपड़े सीमित रखते थे। और भी उनमें कई बाहरी दिखावा के त्याग थे। उनसे कहा गया कि महाराज, त्याग तो बहुत बड़ी चीज है। आपके ही सम्प्रदाय की दूसरी शाखा में दिगंबर साधु होते हैं। वे कपड़ा तक नहीं पहनते। उनका त्याग धन्य है।

उन्होंने छूटते हुए कहा कि वे नरक में जाते हैं। क्योंकि ठण्डी में उनके शिष्य जमीन में गड्ढा खोदकर तथा उसमें इंधन डालकर जलाते हैं। जब गड्ढा गरम हो जाता है तब वे दिगम्बर साधु उसमें रहते हैं।

त्याग-तपस्या में प्रवीण साधु भी इस प्रकार दूसरों को बंधमान और अपने आप को निर्बंध होने की डींग हांकते रहते हैं। सच्चा साधक एवं सन्त दूसरे के बंधनों को देखने और कहने के चक्कर में नहीं रहता। वह तो अपने मन के बन्धनों को देखता है और उनसे अपने आप को बचाता है। आदमी अपने मन के बन्धनों को जान सकता है, परन्तु उसकी उधर दृष्टि नहीं रहती और दूसरे के बन्धनों को वह कैसे जान सकता है, परन्तु उसको जानने की कोशिश में रहता है और मन की कल्पना के अनुसार दूसरे के बन्धनों को कहता फिरता है।

साधक साधु को चाहिए कि वह दूसरों के बन्धनों का पता लगाने तथा कहने के चक्कर में न पड़े, किन्तु अपने बन्धनों को देखे तथा उन्हें निकाले। राग-द्वेष बन्धन हैं। उनका फल दुखी होना है। जिसके मन में खीज, दुख एवं संताप है, वह राग-द्वेष वाला है

और वही बंधमान है। इस कसौटी से सदैव अपने को कसे। साधक को चाहिए कि वह देखे कि मैं दुखी तो नहीं होता हूं यदि दुखी होता हूं तो दोषी हूं।

लोग घर छोड़कर साधु-वेष में आते हैं और यहां आकर यदि वे राग-द्वेष, झगड़ा-लड़ाई, चिंता, शोक, मोह, विकलता, अशांति, दुख आदि में ही पड़े हैं तो उनका साधु-वेष में आना बेकार है। मनुष्य भोग-मान के आसक्तिवश बन्धन बनाने का स्वभाव वाला हो गया है। साधक को चाहिए कि वह बन्धनों से बचे।

साधक को चाहिए कि वह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति तथा बन्धन एवं निर्बंधता को स्थूल दृष्टि से न देखे। निवृत्ति में प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति में निवृत्ति होती है। सब काम विवेकपूर्वक ही होना चाहिए।

राग-द्वेष तो बन्धन हैं ही, बन्धनों का एक दूसरा भी आयाम है, वह है अबोधवश अपने लक्ष्य को बाहर खोजना। कितने विरक्त साधु देवी-देवताओं के चक्कर में पड़े भटकते हैं और अपने लक्ष्य को किसी बाहरी ईश्वर में खोजते हैं। ऐसे लोग अपने संप्रदाय की मर्यादा के मोह में पड़े रहते हैं और उसे जान जाने पर भी तोड़ नहीं पाते। वे ऐसा करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते हैं। परन्तु आत्मकल्याण के लिए तो भोग और मान—सबका त्याग करना पड़ता है। ठीक ही कहा है—

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरि के, खरी भया नहिं तेल॥ बीजक, साखी २८०॥
जेहि त्यागन पहिले किह्यो, कियो न तेहि को ख़्याल।
परलोभन के फन्द पड़ि, तलफि रह्यो जिमि बाल॥ विशालवचनामृत॥
घर में रहु तो भक्ति करु, नातरु करु वैराग।
वैरागी बन्धन करै, ताको बड़ो अभाग॥

बहुत दिवस ते हींड़िया, शून्य समाधि लगाय।
करहा पड़ा गाड़ में, दूरि परा पछिताय॥४५॥

शब्दार्थ—हींड़िया = खोज किया, भटकता रहा। करहा = खरगोश। गाड़ = गड्ढा।

भावार्थ—हठयोगी आदि अनेक साधक शून्य में समाधि लगाकर बहुत दिनों तक ब्रह्म को खोजते रहे, परन्तु वह न मिला। इनकी दशा वैसे हुई जैसे खरगोश अपने निवास स्थान से दूर किसी कटीले तथा झाड़दार गहरे गड्ढे में पड़ा पश्चाताप कर रहा हो॥४५॥

व्याख्या—आध्यात्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ा भ्रम है कि परमात्मा एवं ब्रह्म व्यक्ति की अपनी आत्मा से कोई अलग वस्तु है और खोज करने पर मिलता है। कोई कर्मकांड के द्वारा हवन-तर्पण आदि कर उसे खोजता है, कोई शास्त्र-अध्ययन-द्वारा खोजता है, कोई तीर्थों में खोजता है, कोई मूर्ति आदि की पूजा-द्वारा खोजता है, कोई ध्यान-समाधि द्वारा खोजता है। हठयोगी आदि शून्य में समाधि लगाकर खोजते हैं।

पहली बात तो यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति की अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा कहीं कोई परमात्मा नहीं है जो मिल सके। दूसरी बात है शून्य में समाधि लगाकर ब्रह्म को खोजने की बात। इसे थोड़ा समझ लें तो बात सीधी हो जाय। समाधि लगाकर शून्य में खोजना नहीं है, किन्तु समाधि द्वारा संकल्पों को शून्य कर देना है। संकल्पों के शून्य हो जाने पर व्यक्ति की अपनी चेतना मात्र रह जाती है, वही परम तत्त्व है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक जड़दृश्य प्रपंच रहता है और जब संकल्प समाप्त हो गये अर्थात संकल्पों का शून्यत्व हो गया, तब दृश्य समाप्त हो गया। फिर तब अपने चेतनस्वरूप का बोध मात्र रह जाता है।

इस प्रकार खोजकर कुछ पाना नहीं है, किन्तु आज तक जो कुछ अपने स्वरूप से भिन्न वस्तुओं एवं अवधारणाओं को अपनी मान रखा है उन्हें केवल छोड़ना है। बाहरी सब कुछ छूट जाने पर स्वस्वरूप अपने आप रह जाता है।

बाहरी शून्य, ज्योति, नाद आदि में लीन होना एक भास-अध्यास में लीन होना है जो विजाति एवं नाशवान है। अपने सत्य चेतनस्वरूप की स्थिति ही नित्य है, क्योंकि उसका अपने आप से कभी वियोग नहीं।

कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष।
साँई के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष ॥४६॥

शब्दार्थ—साँई = ब्रह्म। परचावते = परिचय करते-कराते। अन्तर = मन में। रेष = हानि, क्षति, रेख, लकीर, अध्यास, वासना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि लोग नाना सम्प्रदायों में भक्त तथा साधुओं के नाना वेष धारण कर लेते हैं और उनके कर्मकांड तथा वाणी-जाल में उलझ जाते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं मिटती। गुरु और शिष्य परस्पर ब्रह्म का परिचय करते-कराते हुए घोटाले में रह जाते हैं और उनके मन में किसी-न-किसी रूप में संसार की वासना शेष रह जाती है ॥४६॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर के वचन अत्यन्त मार्मिक होते हैं। वे कहते हैं कि लोग भक्त तथा साधु के वेष तो धारण कर लेते हैं और अपने-अपने वेष एवं सम्प्रदाय के अनुसार टंट-घंट करते हैं, धर्मशास्त्र पढ़ते हैं, जप-कीर्तन करते हैं, रोजा-हज्ज-नमाज एवं तीर्थ करते हैं, तपस्या, ध्यान और भी जिनसे जो बन पड़ता है वह सब करते हैं, परन्तु उनके मन की भ्रांति नहीं जाती। वे जीवनभर भगवान और मुक्ति को बाहर टटोलते रहते हैं।

कितने दिल के सच्चे साधक होते हैं, परन्तु सच्चे पारखी गुरु के अभाव में वे साधना-तपस्या करते हुए भी निर्भ्रांत नहीं हो पाते। उन्हें सृष्टि के विषय में कारण-कार्य-व्यवस्था का भी ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे सदैव चमत्कारों के चक्कर में पड़े रहते हैं। धर्मग्रन्थों में लिखी अतिशयोक्तियों, साधु-महात्माओं एवं तथाकथित अवतारों, पैगम्बरों के नाम में जुड़े हुए चमत्कारों को वे सत्य मानते हैं; क्योंकि न उनमें निर्भयता एवं

निष्पक्षतापूर्वक स्वतन्त्र चिंतन करने का ख्याल है और न उन्हें सच्चे पारखी गुरु मिले हैं कि उनकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें सत्य दिखा सकें। अतएव न उन्हें जड़-चेतन का भिन्न विवेक है, न जगत के पदार्थों के गुण-स्वभावों का ध्यान है और न वे विश्व के शाश्वत नियमों पर ध्यान देना चाहते हैं। क्योंकि विश्व की वास्तविकता जान लेने पर उनके मन में पले हुए देवी-देवता तथा चमत्कार-पोषित सारे संस्कार छटने लगते हैं। इसलिए वे सत्य ज्ञान से घबराते हैं। ऐतिहासिक अध्ययन करते ही देवी-देवताओं एवं अवतारवाद की बालू-भित्ति भहराने लगती है, स्व-स्वरूपज्ञान में आत्म-भिन्न ईश्वर के ख्वाब मिटने लगते हैं। इसलिए ये नाना संप्रदाय के भक्त-साधु सत्संग एवं निर्णय से दूर भागते हैं। प्रकाश में आने से उन्हें यह भय है कि उनका युगों का प्यारा अन्धकार गायब हो जायगा। अतएव सद्‌गुरु का यह हृदय को झकझोर देने वाला वचन याद आता है "कबीर भरम न भाजिया, बहुबिधि धरिया भेष।"

कितने गुरु और शिष्य ब्रह्म को समझाने और समझने का प्रयास करते हैं, परस्पर अन्वय-व्यतिरेक अर्थात नियम एवं अपवाद, संगति और असंगति पर चर्चा करते हैं और वे अपने आप को ब्रह्मज्ञानी भी मान लेते हैं, परन्तु उनके मन में संसार की लकीर बनी रह जाती है। वे कभी कहते हैं कि ब्रह्म और जगत अलग-अलग है और कभी कहते हैं दोनों एक ही है। कभी कहते हैं संसार प्रभु की लीला है और कभी कहते हैं कि यह संसार प्रभु से अलग कहां है! कभी कहते हैं कि प्रभु अपने भीतर ही है और कभी वे व्याकुल होकर प्रभु को बाहर खोजने लगते हैं। कभी कहते हैं विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं का पूर्ण त्याग हुए बिना कल्याण नहीं और कभी कहते हैं कि भोग और त्याग दोनों बराबर हैं। वे कहते हैं कि विषयों में तो आनन्द है नहीं, यदि विषयों के भोग में आनन्द आ रहा है तो वह ब्रह्मानन्द ही है। इसलिए 'भोगानन्द, विषयानन्द, ब्रह्मानन्द जहां देखो तहां आनन्द ही आनन्द छाया है।' इस प्रकार पारख बिना सब भटक रहे हैं। सद्‌गुरु का यह वचन अत्यन्त तलस्पर्शी है "साईं के परचावते, अन्तर रहि गइ रेष।" रेष कहते हैं हानि एवं क्षति को। यदि स्वरूपज्ञान का सच्चा बोध नहीं हुआ, विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग होकर स्वरूपस्थिति नहीं हुई तो यही तो भारी हानि है। रेष को यदि रेख में पढ़ें तो अर्थ होता है लकीर, अध्यास एवं वासना। अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर और विषय-वासनाओं का सर्वथा त्याग कर जब तक स्वरूपस्थिति नहीं होती, तब तक किसी न किसी प्रकार जगत का अध्यास मन में रहता ही है और तब तक जीव को भटकना ही पड़ेगा।

श्री रामरहस साहेब ने सच कहा है—

आप अपन पौ भेद बिनु, उलटि पलटि अरुझाय।
गुरु बिन मिटै न दुगदुगी, अनबनि यतन नशाय॥ पंचग्रन्थी, रमैनी २५॥

जीवन-जुआ में हार से बचो

बिनु डाँड़े जग डाँड़िया, सोरठ परिया डाँड़।
बाटनिहारे लोभिया, गुर ते मीठी खाँड़॥४७॥

शब्दार्थ—बिनु डाँड़े = बिना दंड किये। डाँड़िया = दंडित हुआ। सोरठ = जुआ (सोर = सोलह, ठ = ठौर—सोलह जगह—जुआ खेलने के सोलह कोष्ठक)। डाँड़ = व्यर्थ। बाटनि = जुआ में पड़ने वाली चिट्ठी, दावं, बाजी। गुर = गुड़। खांड़ = शकर।

भावार्थ—संसार के लोगों को किसी ने दण्डित नहीं किया, किन्तु ये अपने अज्ञानवश स्वयं दण्डित हुए। इनका मानव-जीवनरूपी जुआ व्यर्थ गया। ये सुख के लोभी अपने कल्याण की इच्छा का दावं हार गये। गुड़ से शकर मीठा होता है, परन्तु ये गुड़ को शकर न बना सके अर्थात जीवन को तपाकर आध्यात्मिक लाभ न ले सके॥४७॥

व्याख्या—मानव जीवन एक जुआ है। मनुष्य इसमें अपने कल्याण की इच्छा का दावं लगाता है, अपनी समझ के अनुसार श्रम भी करता है; परन्तु समझ ठीक न होने से वह जीवन-जुआ में कल्याण की बाजी हार जाता है। वह गुड़ को शकर नहीं बना पाता अर्थात अपने कच्चे माल को पक्का नहीं बना पाता, जीवन को तपाकर इसे उच्च नहीं बना पाता। यही जीवन की सबसे बड़ी हार है।

किसी हारे हुए जुआड़ी को देखो, उसकी कितनी दयनीय दशा होती है। ऋग्वेद के ऋषि कवष ने जुआड़ी की दुर्दशा का चित्र खींचा है जो ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौंतीसवें सूक्त में सुसज्जित है। उसमें से केवल दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ यहां देखें—"जुआड़ी की स्त्री दीन-हीन वेष में यातना भोगती रहती है। पुत्र कहां-कहां घूमा करता है—ऐसा सोचकर जुआड़ी की माता व्याकुल रहा करती है। जो जुआड़ी को उधार देता है, वह इस सन्देह में रहता है कि मेरा धन फिर मिलेगा या नहीं। जुआड़ी बेचारा दूसरे के घर में रात काटा करता है॥१०॥ अपनी स्त्री की दशा देखकर जुआड़ी का हृदय फटा करता है। अन्यान्य स्त्रियों का सौभाग्य और सुन्दर अट्टालिका देखकर जुआड़ी को सन्ताप होता है। जो जुआड़ी प्रातःकाल घोड़े की सवारी पर आता है, वही संध्या-समय दरिद्र के समान जाड़े से बचने के लिए आग तापता है—शरीर पर वस्त्र भी नहीं रहता॥११॥"[1]

संसार में देखो तो लगेगा कि अधिकतम लोग अपने जीवन जुआ को हार गये हैं। जीवन जितना बीतता जाय, जीवन में सुख, शांति, प्रसन्नता बढ़ते जायं, तो यह जीवन-जुआ में जीत हुई; परन्तु देखो संसार को। निर्धन दुखी हैं, धनी दुखी हैं। पुत्रहीन दुखी हैं, पुत्रवान दुखी हैं। मूढ़ दुखी हैं, चतुर दुखी हैं। अशिक्षित दुखी हैं, विद्वान दुखी हैं। अकिंचन दुखी हैं, सम्पन्न दुखी हैं। तिरस्कृत दुखी हैं, सम्मानित दुखी हैं। इन बाहरी प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा से भला स्थायी प्रसन्नता कैसे मिल सकती है! बिना सच्ची समझ और पवित्र आचरण के ये बाहरी भवन एवं उद्यान से भीतर का नन्दन-वन कैसे खिल सकता है!

सद्गुरु कहते हैं "बिनु डाँड़े जग डाँड़िया" बिना दण्डित किये संसार के लोग दण्डित हुए। इन मनुष्यों को न कोई भगवान दण्ड दे रहा है और न कोई शैतान! ये अपने

---

१. ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ३४, मन्त्र १०, ११।

अज्ञान और मन, वाणी तथा इन्द्रियों के दुष्कर्मवश दंडित हो रहे हैं। "बाटनि हारे लोभिया" संसार की चीजों में लोभ-मोह करने से जीवन में हार होगी ही।

राम को वनवास का दण्ड कौन दिया? उन्हीं की भूल। देखिए वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या कांड का चौथा सर्ग। दशरथ-द्वारा राम को युवराज बनाने की बात कहने पर राम उसका प्रतिवाद नहीं करते कि भरत तथा शत्रुघ्न को भी उनके ननिहाल से बुला लें। राम गद्दी के लिए तैयार हो जाते हैं। थोड़े समय में दशरथ पुनः राम को बुलाते हैं कि कल ही तुम्हारा तिलक हो जाना चाहिए। जब तक भरत अयोध्या से दूर हैं तब तक हो जाना चाहिए। यद्यपि वे सज्जन हैं, तुम्हारे प्रेमी हैं, परन्तु सज्जन का भी समय से मन बदल जाता है।[1] इस पर राम एक वचन भी नहीं कहते हैं और प्रस्ताव स्वीकार कर उसके लिए अनुष्ठान में लग जाते हैं। वन जाकर भी उनके दुख क्यों बढ़ते हैं! कथानुसार वे शूर्पणखा का धैर्यपूर्वक दूसरे तरीके से निवारण न कर उसके नाक-कान कटवा देते हैं। उन्होंने विश्वामित्र के यज्ञस्थल से जैसे मारीच को बिना फल के बाण से शत योजन दूर फेंक दिया था, वैसे शूर्पणखा को भी लंका फेंक देते, उसके नाक-कान न कटवाते तो कितना सुन्दर था! इतना ही नहीं, राम और सीता—दोनों ही सुन्दर मृग के लोभ में पड़कर लक्ष्मण की चेतावनी की भी अवहेलना कर देते हैं और चमकते हुए मृग के पीछे दौड़ते हैं। यहीं से उनके जीवन में दुख गहराता है। आगे चलकर इस अपनी नैतिकता के प्रघटनन में वाली को भी छिपकर मारते हैं। उनके जीवन में दुख निरन्तर बढ़ता जाता है।

कौरवों तथा पांडवों को किसने दुखी किया था! आपस के राग-द्वेष तथा जुआ जैसे अधम काम ने। उसमें भी राज्य को, स्वयं को, भाई को, यहां तक कि पत्नी-द्रौपदी तक को जुआ के दावं पर लगा देना, छीः! इससे अधिक दुख को निमंत्रित करने का और क्या साधन हो सकता है!

यादवों में विनाश का दुख क्यों आया! क्या किसी दूसरे ने उनको दुख दिया! उनके अपने स्वयं के राग-द्वेष तथा मनोमालिन्यता ने उन्हें तोड़कर तथा उनका सर्वनाश करके रख दिया।

कोई दूसरा हमें दुख नहीं दे सकता। हमारे मन के लोभ-मोह से हमारी बुद्धि में भ्रम पड़ता है और बुद्धि भ्रमित होने से हम गलत काम करते हैं। ऊपर राम, कृष्ण, पांडव आदि के उदाहरण इसलिए दिये गये कि हम यह समझ लें कि बड़े-बड़े लोग भी लोभ-मोह में फंसकर जीवन की बाजी हारते हैं और जीवन में दुख उठाते हैं, फिर हम किस खेत की मूली हैं!

"बाटनि हारे लोभिया" यहां लोभिया शब्द में जीवन की सारी कमजोरियों की व्यंजना है। लोभी व्यक्ति सर्वाधिक कमजोर आदमी होता है। सांसारिक प्राणी-पदार्थों के

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ४, श्लोक २५ से २९। गीताप्रेस गोरखपुर।

लोभ-मोह में पड़कर ही हम प्रपंच में फंसते हैं और अपने कल्याण की बाजी हार जाते हैं। इस जीवन में त्यागी ही सुखी हो सकता है, लोभी एवं भोगी नहीं। जीवन में सुख का रहस्य अनासक्ति ही है। सब तरफ से पूर्ण अनासक्त व्यक्ति ही पूर्ण सुखी हो सकता है।

"गुर ते मीठी खाँड़" गुड़ से शकर मीठा होता है; परन्तु गुड़ से शकर बनाने में परिश्रम है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न भौतिक जीवन से आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचा हुआ जीवन सच्चे अर्थ में सुखी होता है; परन्तु इसके लिए मनुष्य को त्याग और तप करना पड़ता है। गुड़ कच्चा माल है और उसको शकर बना देने पर पक्का माल बन जाता है। भौतिक जीवन एक कच्चा माल है। परन्तु जब यह आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है तब पक्का माल बन जाता है। किन्तु इसके लिए श्रम करना पड़ता है। मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कमाते-खाते हुए साधारण जीवन ही न जीये, किन्तु अपनी आत्मा को, अपने आपा को एवं अपने स्वरूप को पहचाने, इन्द्रियों के मलिन भोगों का त्याग करे, मन के राग-द्वेष का त्याग करे, चित्त को निर्मल करे, अपने स्वरूप में स्थित होवे। जीवन की सर्वोच्च दशा को प्राप्त करे।

जीव देह से सर्वथा भिन्न है

मलयागिर की बास में, वृक्ष रहा सब गोय।
कहबे को चन्दन भया, मलयागिर ना होय ॥४८॥

शब्दार्थ—मलयागिर = मलयगिरि, दक्षिण भारत का एक पर्वत जिसमें चन्दन-वृक्षों की बहुलता है; चन्दन, तात्पर्य में चेतन। बास = सुगंधी, चैतन्यता। गोय = लीन, छिपा हुआ।

भावार्थ—मलयगिरि की सुगंधी में उसके आस-पास के सारे वृक्ष ओतप्रोत हो जाते हैं। वे कहने मात्र के लिए चन्दन बन जाते हैं, परन्तु मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार चेतन की चैतन्यता में पूर्ण शरीर चैतन्यवत प्रतीत होता है, परन्तु शरीर मूलतः चेतन नहीं हो सकता ॥४८॥

व्याख्या—उक्त साखी अन्योक्ति अलंकार में कही गयी है। पूरी साखी में ऊपरी तौर से मलयगिरि, उसकी वास, अन्य वृक्ष आदि का वर्णन है, परन्तु उसकी व्यंजना चेतन और जड़ देह की तरफ है।

मलयगिरि की सुगंधी से अन्य वृक्षों में सुगंधी आ सकती है, परन्तु वे सारे वृक्ष मलयगिरि नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीव के संसर्ग से यह जड़ काया चेतनवत भासती है, परन्तु यह शुद्ध चेतन नहीं हो सकती। जीव अलग है और शरीर अलग है। जैसे गाड़ी में चालक बैठकर गाड़ी चलाता है, वैसे शरीर में स्थित होकर जीव शरीर को चलाता है। जैसे मकान में रहने वाला मकान-मालिक मकान से अलग है, वैसे शरीर में रहने वाला जीव शरीर से अलग है।

जीव शरीर को अपना स्वरूप मान लेता है, यही सारे दुखों का कारण है। शरीर को अपना स्वरूप मान लेने पर उसका अहंकार होता है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सारे विकार उत्पन्न होते हैं। शरीर में अहंता-ममता करके ही तो सारे दुख उत्पन्न होते हैं। यदि हम एकांत में बैठकर या लेटे हुए ही मन में विचार करें कि शरीर मिट गया है, जला दिया गया है, राख होकर उड़ गया है, मेरे पास शरीर, नहीं है। मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, तो ऐसी स्थिति में फिर क्या दुख रहेगा! सारे दुख शरीर के अहंकार से पैदा होते हैं। शरीर तो केवल कल्याण-साधन है। जैसे पतरी भोजन करने के लिए मिलती है, भोजन करने के बाद वह निरर्थक हो जाती है, वैसे शरीर केवल आत्मकल्याण एवं पर-सेवा का साधन मात्र है, अंत में यह एक दिन निरर्थक हो जाता है।

साधक को चाहिए कि वह अपने मन को देहाभिमान के ज्वर से मुक्त करे। देहाभिमान फोड़ा है, पीड़ा है, क्लेश है। मैं केवल शुद्ध चेतन हूं, इस वास्तविक भाव में निमग्न रहने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि कहता है "जिस व्यक्ति ने जान लिया कि 'अयमस्मि' मैं यह (चेतन पुरुष) हूं, वह किस इच्छा एवं किस कामना से शरीर के पीछे चलकर जन्म-मरण के बुखार को चढ़ाये रखेगा।" यथा—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।।

(बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१२)

विनयावनत ही सत्संग से लाभ ले सकता है

मलयागिर की बास में, बेधा ढाँक पलास।
बेना कबहुँ न बेधिया, जुग-जुग रहिया पास।।४९।।

शब्दार्थ—बेना = बांस।

भावार्थ—ढांक-पलाश जैसे साधारण पेड़-पौधे भी सरस होने से मलयगिरि की सुगंध में सुवासित होकर चंदन बन जाते हैं। परन्तु बांस-जैसे बड़े वृक्ष भी गांठदार, पोले तथा नीरस होने से मलयगिरि की सुगंधी को नहीं ग्रहण कर पाते, भले ही वे मलयगिरि के पास बहुत काल से रहते हों। इसी प्रकार साधारण मनुष्य अपनी विनम्रता के कारण सत्संग से लाभ लेकर महान हो जाते हैं, परन्तु बड़प्पन के अहंकारी लोग चाहे नित्य साधुजनों के पास ही रहें, उनसे कोई लाभ नहीं ले पाते।।४९।।

व्याख्या—सब जानते हैं कि ढांक-पलाश के पेड़ बहुत साधारण होते हैं। परन्तु उनमें बांस-जैसी गांठ नहीं होती, बांस-जैसा पोलापन नहीं होता और बांस-जैसी नीरसता नहीं होती। वे निर्ग्रंथ, ठोस तथा सरस होते हैं, इसलिए छोटे-छोटे होने पर भी मलयगिरि के निकट होने से उनकी सुगंध में सुवासित होकर चन्दन बन जाते हैं। किन्तु बांस बड़े ऊंचे होने पर भी वे कठोर गांठ वाले, पोले तथा नीरस होते हैं। इसलिए उनमें मलयगिरि की सुगंधी नहीं बिंधती।

इस अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग सत्संग से लाभ ले पाने और न ले पाने के विषय में है। उदाहरण में ऐसा होता है कि नहीं, अर्थात मलयगिरि की सुगंध से अन्य वृक्ष चन्दन बनते हैं कि नहीं, इन पंक्तियों का लेखक नहीं जानता। ऐसा न होता हो, तो भी कोई हानि नहीं। कितने उदाहरण सिद्धांत को समझाने के लिए दिये जाते हैं। सिद्धांत में यह सच है कि विनम्र जीव सत्संग से लाभ ले पाते हैं, अहंकारी नहीं।

बांस में पोलापन, गांठ तथा नीरसता है। जो मनुष्य अहंकाररूपी गांठ, कपटरूपी पोलापन तथा श्रद्धाहीनतारूपी नीरसता रखेगा वह चाहे कितना बड़ा विद्वान, तथाकथित उच्च कुलोत्पन्न, धनवान एवं प्रतिष्ठित हो, सत्संग से कोई लाभ नहीं ले सकेगा। परन्तु कोई अशिक्षित हो, तथाकथित निम्न कुल में उत्पन्न हो, धन तथा प्रतिष्ठा से हीन हो, परन्तु विनम्र, निष्कपट तथा श्रद्धालु है, तो निश्चित ही वह सत्संग से महान बन जायेगा।

अहंकार, कपट तथा भावनाहीनता मनुष्य की बहुत बड़ी कुरूपता है। इस कुरूपता को रखकर आदमी प्रायः हर तरफ असफल रहता है। आध्यात्मिक-मार्ग में तो इस कुरूपता को रखकर कोई प्रवेश ही नहीं पा सकता। निर्मानता, निष्कपटता एवं भावना मनुष्य का उच्चतम सौंदर्य है। इससे कौन नहीं मोहित होता! इसके बिना चमड़ी का सौंदर्य दो कौड़ी का है।

उच्च कुल, विद्या, धन और प्रतिष्ठा इन्हीं सब का अहंकार होता है। पूरी मानवजाति उच्च कुल है। इसमें ऊंच-नीच कुल कौन है! अतएव मानव के भीतर ऊंच-नीच कुल मानना केवल मिथ्या अहंकार तथा हीनभावना की ग्रंथि है। सारी विद्याएं वस्तु को जानने तथा जनाने के लिए हैं। यदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता होकर भी मनुष्य मानवीय गुणों से रहित रहा, तो उसकी विद्या किस काम की! धन तो शरीर-निर्वाह की वस्तु है। धन लोगों के पास कम-वेश होता ही है। अरबपति भी केवल पेट की अग्नि शांत करता है और दरिद्र भी। इसलिए कुछ कंकर-पत्थररूपी धन से युक्त होने से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संसार में प्रतिष्ठा तो दुराचारी को भी मिल जाती है; क्योंकि लोगों-द्वारा प्रतिष्ठा पाने के बहुत कारण होते हैं।

वस्तुतः सच्चा मानव वही है जो विनम्र, निष्कपट तथा भावना-प्रधान है और जो सत्पुरुषों की संगत से सद्गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्तकर अपना कल्याण करता है और दूसरों के कल्याण में सहयोग करता है।

भक्ति-द्वारा आदमी ऊपर उठता है। अहंकारी आदमी भक्त नहीं हो सकता। इतिहाससिद्ध बात है कि कितने ही उच्च कहलाने वाले लोग अपने अहंकारवश पतित हो गये और लोकदृष्टि में निम्न कहलाने वाले लोग सत्संग-भक्ति के प्रताप से महान हो गये। किसी ने कैसा सुन्दर कहा है—"बैठी पड़ाइनि बैठी सुकुलाइन, आइगै विमान गंधकिनिया कै, मोका भावैल भक्ती भिलिनिया कै।" गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

तुलसी भगत शपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊंचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥

अति ऊंचे भूधरिन पर, भुजगन को अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ईख अन्न अरु पान॥ वैराग्य संदीपनी॥

नीच नीच सब तरि गये, संत चरन लौलीन।
तुलसी जातिहि के मदे, बूड़े बहुत कुलीन॥

सद्गुरु कबीर और भी कहते हैं—

बड़े गये बड़ापने, रोम रोम हंकार।
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥

सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावैं सब कोय॥ साखी १३९/३२३॥

जीव की स्वरूपस्थिति नौ कोस की दूरी पर

चलते चलते पगु थका, नग्र रहा नौ कोस।
बीचहि में डेरा परा, कहहु कौन को दोष॥५०॥

शब्दार्थ—नग्र = नगर, गंतव्य, अपनी स्थिति। नौ कोश = मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध या नौ कोश—अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनन्दमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, आकाशमय तथा विज्ञानमय[१]। डेरा = पड़ाव।

भावार्थ—मानो कोई यात्री हो। वह सुबह से चल रहा हो। चलते-चलते उसके पैर थक गये हों, अभी उसका मूल निवास स्थान नौ कोस की दूरी पर हो, इतने में शाम आ गयी हो। इसलिए बीच में ही उसका पड़ाव पड़ गया हो, तो कहो, इसमें किसका दोष है! वस्तुतः चलने वाले का दोष है जो सही रास्ते से न चलकर भटक गया है। भटकने वाले का रास्ता लंबा हो ही जाता है।

इसी प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान सभी मार्गों में चलते-चलते मनुष्य का जीवन थक जाता है और वह बूढ़ा हो जाता है, परन्तु आत्मस्थिति एवं स्वरूपस्थिति, चतुष्टय अंतःकरण में संस्कारित पांचों विषयों की आसक्तिरूपी नौ कोस की दूरी पर ही रह जाती है और मौत का समय आ जाता है। इसमें कहो भला किसका दोष है! दोष चलने वाले का ही है, जो कल्याण का सही रास्ता न पकड़कर भूले पथ में भटक गया है॥५०॥

---

१. स्थूल शरीर—अन्नमय कोश; शब्द समूह—शब्दमय कोश; पंचप्राणादि का समुच्चय—प्राणमय कोश; दृश्यविषयों का अहंकार—आनंदमय कोश; वासना का समुच्चय—मनोमय कोश; दृश्य-भास—प्रकाशमय कोश; दृश्य ज्ञान—ज्ञानमय कोश; आकाश को आत्मरूप मानना—आकाशमय कोश तथा जड़-चेतन अभिन्न एक मानना—विज्ञानमय कोश है। ये स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर रखने वाले हैं।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने इस साखी में "नग्र रहा नौ कोस" कहा है। इस ग्रंथ में अन्यत्र भी "नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझे"[१] "नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश।"[२] आदि कहा है। कहावत भी है "न नौ मन तेल जुरेगा, न राधा नाचेगी।"

वस्तुतः संख्या के अंक १ से ९ तक ही होते हैं। आगे शून्य (०) होता है। इसलिए भारतीय परंपरा में संख्या की व्यंजना के लिए "नौ" का प्रयोग किया जाता है।

कल्याण के प्रेमी संसार में बहुत हैं। गुरुजन उन्हें ज्ञान तथा साधना के नाम पर जो कुछ बता देते हैं वे उसको लेकर चलते हैं। परन्तु उनकी जिन्दगी बीत जाने पर भी उनका गंतव्य, उनका स्वरूपस्थितिरूपी निवासस्थल नौ कोस अर्थात बहुत दूरी पर रह जाता है। नौ कोस हैं मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। शब्दादि पांचों विषय का मन से मनन कर, चित्त से अनुसंधान कर, बुद्धि से उनमें सुख निश्चय कर तथा अहंकार से उनकी करतूति करके जो उनकी आसक्ति बना ली गयी है, स्वरूपस्थिति तक पहुंचने में यही मानो नौ कोस का अन्तर रह जाना है। कर्म, उपासना, ज्ञान, जप, योग, तप आदि के नाम पर मनुष्य जीवनभर बहुत कुछ करता रहा, किन्तु यदि उसके अंतःकरण से विषयासक्ति की रेखा सर्वथा नहीं मिटी है तो स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। सद्गुरु पूछते हैं कि बताओ, इसमें दोष किसका है?

दोष दूसरों का तो नहीं बताया जा सकता। दोष उस असावधान व्यक्ति का ही है जो "जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन। अंधे को अंधा मिला, राह बतावै कौन॥"[३]

स्व-स्वरूप का यथार्थ बोध न होने से विषयासक्ति सर्वथा नहीं मिटती। लोग काम-भोग तथा देह का अहंकार छोड़ देते हैं, परन्तु यदि उन्होंने यह मान रखा है कि मेरा लक्ष्य कहीं बाहर है, मेरा गंतव्यरूपी नगर मेरी आत्मा से अलग है तो यह पंच विषय तथा चतुष्टय अंतःकरण से अलग नहीं है। यदि साधक ने यह मान लिया कि मैं ही यह विश्व-ब्रह्मांड हूं, जैसे जल और उसकी तरंग एक है, जैसे मिट्टी और उससे बने घट एक है, जैसे स्वर्ण तथा उससे बने आभूषण एक है, उसी प्रकार मैं और यह संसार एक है, तो इस महाभ्रांति में पड़ने से साधक चतुष्टय अंतःकरण एवं पांचों विषयों से अलग कहां हुआ! इस भ्रांत मान्यता में पड़ने से अपना चेतनस्वरूप जड़ की मान्यता से अलग हो ही नहीं सकता है। लोग कर्मकांड का व्यवहार तो सांसारिक भोगों के लिए करते ही हैं, उपासना में भी अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानकर पांचों विषयों से परे नहीं जाते और यदि ज्ञान भी उपर्युक्त प्रकार से जड़-चेतन को एक में मिला देता है तो साधक विषयों से निवृत्त कैसे हो सकता है! अतएव परख न होने से मनुष्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान के नाम पर नवधा प्रकृति एवं नौ कोशों के भीतर ही उलझ जाता है।

---

१. बीजक, शब्द ८५।

२. बीजक, साखी १९७।

३. बीजक, साखी १५३।

पांचों विषयों एवं चतुष्टय अंतःकरण तथा समस्त दृश्य-भासों का मैं साक्षी उनसे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, इस तत्त्व का बोध एवं इस बोध में स्थिति होने पर ही मानो जीव का अपना नगर, अपना आश्रयस्थल एवं अपना निधान मिला।

जीव को कहीं से चलकर कहीं अन्यत्र पहुंचना नहीं है। जीव तथा जीव की स्वरूपस्थिति में नौ कोसों की दूरी का अर्थ यह नहीं है कि जीव को अपनी स्थिति के लिए एक जगह से चलकर दूसरी जगह जाना पड़ेगा। वस्तुतः जीव ही जीव की स्थिति-भूमिका है। हर मौलिक वस्तु का आश्रयस्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। इसी प्रकार जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन ही उसका अपना आश्रयस्थल एवं स्थिति दशा है। वस्तुतः जीव अपने स्वरूप की मौलिकता न समझकर चतुष्टय अन्तःकरण एवं पांचों विषयों में भटक गया है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर पर ही हो, परन्तु नशा कर लेने के कारण उसे भ्रम हो गया हो कि मैं अपने घर से दूर कहीं विदेश में हूं और जब उसका नशा दूर हो जाय तब वह समझे कि मैंने अपने घर को पा लिया, वैसे ही जीव अपने स्वरूप के अज्ञानवश, अविद्या के नशा से दृश्यों को ही अपना स्वरूप मानकर अपने आपा से दूर पड़ा हुआ-सा है। अतएव अविद्या दूर होने पर जहां अपने आप को जड़ दृश्यों से अलग समझकर अपने आप में आ गया, बस कृतार्थ हो जायगा।

जीवन की असावधानी

झालि परे दिन आथये, अन्तर पर गइ साँझ।
बहुत रसिक के लागते, बिस्वा रहि गइ बाँझ॥५१॥

शब्दार्थ—झालि परे = झोला पड़ना, शाम का धुंधलापन, तात्पर्य में इन्द्रियों की निर्बलता। दिन आथये = रात होना, बुढ़ापा। अन्तर = भीतर। रसिक = विषयी।

भावार्थ—जैसे किसी पथिक के अपने गंतव्य पर पहुंचने के पहले ही संध्या हो जाय, दिन डूब जाय और रात का झोला पड़ने लगे, वैसे व्यक्ति अपनी स्वरूपस्थिति के पाने के पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो जाती हैं, उसके मन में अंधियारा हो जाता है और मौत का समय आ जाता है। जैसे वेश्या से बहुत विषयी पुरुषों के लगने के कारण वह वंध्या रह जाय, वैसे जीव अनेक विषयों एवं कल्पित देवी-देवताओं में लगने के कारण स्वरूपस्थिति से दूर रह जाता है॥५१॥

व्याख्या—मनुष्य की असावधानी पर सद्गुरु दो सटीक उदाहरण देते हैं, एक रास्ते की अंधियारी का तथा दूसरा वेश्या का। आदमी चलते-चलते अपने गंतव्य पर न पहुंचे और बीच ही में रात हो जाय तो यह उसके लिए दुखद है। इसी प्रकार यदि मनुष्य ने अपनी स्वरूपस्थिति, आत्मस्थिति, परम संतोष एवं अविचल शांति नहीं पायी है और बीच ही में वह बूढ़ा हो गया, उसकी इन्द्रियां निर्बल हो गयीं, मन भी भ्रांत हो गया और सब कुछ ढीलाढाला हो गया तो वह दावं चूक गया। जिसने स्वस्थ रहते हुए जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य परम शांति की प्राप्ति नहीं कर ली, उसका जीवन भौतिक क्षेत्र में सफल होते हुए भी वस्तुतः सर्वथा असफल है। बाहर का सब कुछ पाकर क्या किया यदि उसने

अपने आप को खो दिया! जैसे बालक खिलौने खेलने में समय बिता देता है, वैसे आदमी विषय-भोग, राग-द्वेष, चिन्ता-फिक्र में सारे समय गंवा देता है।

वेश्याएं बहुत पुरुषों के संग में फंसकर अंततः कहीं की नहीं रह जातीं, इसी प्रकार जीव नाना विषय-वासनाओं, देवी-देवताओं की मान्यताओं में फंसकर अंततः कहीं का नहीं रह जता।

इन्द्रियों के सारे विषय केवल मोह एवं भ्रम पैदा करने वाले हैं। इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप से अलग कहीं भी देवी-देवादि माने जाते हैं, सब मेरी ही कल्पनाएं हैं। अपनी मानसिक कल्पनाओं में फंसकर अपना पतन करना है। जहां तक जीव अपने चेतनस्वरूप को छोड़कर अलग मन लगायेगा, वहां तक वह केवल भटकेगा। अतएव साधक को चाहिए कि वह बाहर भटकना छोड़कर अपने आपा को पहचाने और अपने स्वरूप में स्थित हो।

लक्ष्य अत्यंत निकट है

मन कहै कब जाइये, चित्त कहै कब जाव।
छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव॥५२॥

शब्दार्थ—छौ मास = छह महीने, तात्पर्य में छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत या छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और व्याकरण; इनका विवरण पीछे २८वें शब्द की व्याख्या में देखें। हींड़ते = खोजते, भटकते। आध कोस = एक मील, तात्पर्य में बहुत निकट, केवल मन का परदा—माया।

भावार्थ—स्वर्ग, मोक्ष एवं ब्रह्म-धाम की प्रशंसा सुनकर मनुष्यों का मन कहने लगा कि हे भगवान, वहां कब पहुंचेंगे और चित्त कहने लगा कि वहां कब जायेंगे! परन्तु इन मुमुक्षुओं की दशा वैसे हुई जैसे कुछ लोग छह महीने से भटकते हुए अपना गांव खोज रहे हों, जबकि वह पास में, आध ही कोस पर हो, किन्तु भ्रमवश न पाते हों॥५२॥

व्याख्या—धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों, पुराणों तथा धर्मग्रन्थों में स्वर्ग, मोक्ष, ब्रह्मधाम, साकेतलोक, बैकुण्ठलोक, गोलोक, शिवलोक, सतलोक, जन्नत एवं परमात्मा के धाम का बड़ा रोचक वर्णन है। उन्हें पढ़ तथा सुनकर भावुक-भक्तों के मन और चित्त वहां पहुंचने के लिए व्याकुल होने लगते हैं। अतएव वहां पहुंचने के लिए वे यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, योग-तपस्या, तीर्थ-व्रत करते हैं और नाना धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वहां पहुंचने के लिए लोग वेदों को पढ़ते हैं और छह वेदांगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, ज्योतिष तथा व्याकरण को पढ़ते हैं; सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत को पढ़ते हैं। इन ग्रन्थों, इन कर्मकांडों में मोक्ष, स्वर्ग एवं ब्रह्मधाम को खूब खोजते हैं। परन्तु स्वरूपज्ञान बिना कोरे-के-कोरे रह जाते हैं।

कुछ गंजेड़ी लोग थे। वे अपने गांव का रास्ता भूल गये थे। वे अपने गांव की तलाश छह महीने से कर रहे थे। उनका गांव तो उनसे आध कोस पर ही था; परन्तु सब

तो थे गंजेड़ी। सब गांजा का दम लगाते थे, गप्पे मारते थे और जंगल में चक्कर लगाया करते थे।

"छौ मास के हींड़ते, आध कोस पर गाँव" सद्गुरु का यह विद्वानों पर करारा व्यंग्य है। यदि आदमी एक दिन में केवल पांच कोस चले तो छह महीने में नौ सौ कोस जाया जा सकता है। परन्तु यहां तो गांव केवल आध कोस पर है और उसे छह महीने से खोज रहे हैं। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है! विद्वान लोग छहों शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं, छहों वेदांगों को पढ़ रहे हैं, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि गांव तो केवल आध कोस पर है। बहुत निकट है ब्रह्मधाम, स्वर्ग तथा मोक्षधाम!

वह आध कोस केवल मन की माया है। आध कोस का यहां बहुत बारीक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। "आध कोस" में उसके लिए अत्यंत निकटता की व्यंजना है। केवल आध कोस पर गांव और तुम वहां पहुंचने के लिए छह महीने से भटक रहे हो! छह महीने से उसे खोज रहे हो! कितना आश्चर्य!

वस्तुतः अपने चेतनस्वरूप की स्थिति ही ब्रह्मधाम, स्वर्ग, मोक्षधाम, साकेतलोक, गोलोक एवं सतलोक है। इसे खोजना नहीं है, समझना है और समझकर तथा बाहरी जगत से लौटकर अपने आत्मस्वरूप में आ जाना है। व्यक्ति से उसके मोक्षधाम का अन्तर केवल आध कोस है। वह है मन-माया का परदा। भ्रांति कट जाने पर व्यक्ति को पता लगता है कि हम जिस ब्रह्म को, राम को, परमात्मा को खोज रहे हैं वह तो मेरा अपना आत्मस्वरूप ही है। यह स्वरूपस्थिति ही ब्रह्मधाम एवं सतलोक में पहुंचना है। जो अपने चेतन स्वरूप में, पारखस्वरूप में स्थित हो गया वह ब्रह्मधाम पा गया, सतलोक पा गया। स्व-स्वरूप की स्थिति हो जाने पर कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता।

भजन के लिए भोजन जरूरी है

गृह तजि के भये उदासी, बन खण्ड तप को जाय।
चोली थाकी मारिया, बेरई चुनि-चुनि खाय॥५३॥

शब्दार्थ—उदासी = वैरागी। चोली = शरीर। बेरई = बेर फल।

भावार्थ—कितने लोग भावुकता में पड़कर और घर छोड़कर वैरागी हो जाते हैं तथा जंगलों में तपस्या करने चले जाते हैं। जब उनकी भावना का जोश उतरता है, भूख लगती है, काया निर्बल होती है, तब वे बेर-जैसे साधारण फल भी चुन-चुन कर खाते हैं और अपना पेट भरते हैं॥५३॥

व्याख्या—क्षणिक वैराग्य एवं भावुकता से काम नहीं चलता। जो क्षणिक वैराग्य से घर छोड़कर बाहर निकलता है, यदि थोड़ी-सी कठिनाई उसके सामने आती है तो उसके कच्चे ढीले हो जाते हैं। वह घर-गृहस्थी में रहकर चाहे जितनी कठिनाई सह ले, परन्तु

साधुमार्ग की कठिनाई तब तक नहीं सह पायेगा जब तक उसे साधुत्व एवं वैराग्य में लाभ निश्चय न हो। मनुष्य खेती, व्यापार, नौकरी में बहुत कठिनाई सहकर उन्हें हर्षपूर्वक करता है। वह माता-पिता का तो सहता ही है, पत्नी, बच्चे और नये-नये लोगों का उसे सहना पड़ता है। इस संसार में बिना सहन किये कहीं भी नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी दिशा में कुछ करना चाहता है तो उसे सहना पड़ेगा। बिना विवेक के, केवल भावुकता में घर छोड़कर वैरागी बनने वाले की दशा दयनीय होती है। वह न इधर का होता है और न उधर का!

एक सच्ची घटना है। शहर में रहने वाले एक संपन्न आदमी, जिनकी उम्र साठ वर्ष के करीब होगी, अपने बच्चों से घबराकर निकट के एक साधु आश्रम में चले गये। उनके बच्चों में कोई डॉक्टर, कोई वकील तथा कोई इंजीनियर था। सबने समझाया। उन्होंने नहीं माना। वे जब गुरु-स्थान पर जाते थे, उनके खाने-पीने की थोड़ी अलग व्यवस्था हो जाती थी। वे मानो समझते थे कि मेरे लिए साधु समाज की ओर से अलग व्यवस्था होती रहेगी। नहीं भी होगी, तो भी सर्वसामान्य साधु की तरह हम अपना जीवन बिता लेंगे।

जब वे सज्जन साधु-समाज में स्थायी रूप से रहने लगे, तब कुछ दिनों में उनके लिए अलग व्यवस्था जो होती थी, बन्द हो गयी। वह बन्द होना ही था। एक समाज दो भांति नहीं चल सकता। चलना भी नहीं चाहिए। सुबह उबले चने आदि का जलपान जो सब साधुओं को मिलता वही उन्हें भी मिल जाता। दोपहर एवं शाम को दाल, भात, रोटी और सब्जी। और यह सब बहुत सादे, फीके और साधारण स्तर के। जमीन पर चटाई पर सोना।

कुछ दिनों के बाद उन्हें अपने घर की याद जोरों से आने लगी। उनको ख्याल होता "भले, घर में बच्चों से मनमुटाव चलता था, पत्नी उखड़ी-उखड़ी रहती थी, परन्तु सुबह की चाय तथा उसके साथ कभी चिल्ला, कभी पावरोटी, कभी मिठाई, कभी समोसे, कभी जलेबी मिल जाते थे। दोपहर एवं शाम को महीन चावल का भात, गाढ़ी दाल, मसालेदार तरकारियां, घी से चुपड़ी चपातियां मिलती थीं। पलंग पर डनलप के गद्दे पर सोते थे। रात में सोते वक्त एक पाव दूध भी मिल जाता था। गाड़ी पर बैठकर घूमने का अवसर भी मिल जाता था। अपना घर था। क्या परिवार वालों से मनमुटाव होने से कोई घर छोड़ देता है!"

उनके गुरुजी भी उनके मन को कुछ-कुछ समझने लगे थे, परन्तु इस विषय पर दोनों ने आपस में अभी कोई बात नहीं की थी।

एक दिन वे सज्जन स्नान करके धूप में खड़े थे और अपने एक हाथ से दूसरे हाथ की कलाई पकड़कर नाप रहे थे और देख रहे थे कि घर की अपेक्षा यहां साधु-समाज में आने पर कितने दुबले हो गये हैं। पीछे से गुरुजी आ गये। उन्होंने कहा "क्या भैया, दुबले गये?" वे बेचारे बहुत लज्जित हो गये। उन्होंने अपने मन की व्यथा कह सुनायी कि महाराज मैं साधु-समाज में रह नहीं पाऊंगा। किन्तु जिस जोश-खरोश से मैं घर

छोड़कर यहां रहने आया हूं, उसको देखते हुए यदि मैं घर लौटूंगा, तो परिवार की दृष्टि में दो कौड़ी का हो जाऊंगा। महाराज, कोई उपाय लगाइए जिससे सांप मर जाय, किन्तु लाठी न टूटे।

महात्मा भी चलते-पुर्जे आदमी थे, बहुत व्यावहारिक थे। उन्होंने एकांत में बैठाकर उन्हें सारी सावधानी बता दी कि तुम किस प्रकार गम्भीर बीमार तथा बेहोश बनो और आगे घर जाने पर क्या-क्या तुम्हें कहना है, सब समझा दिया।

वे सज्जन बीमार होकर बेहोश हो गये। महात्मा ने उनके घर सन्देश भेजा। लड़के कार लेकर आश्रम पर पहुंचे। उन्होंने देखा कि पिताजी एकदम बेहोश हैं। उन्होंने महात्मा से आज्ञा मांगी कि महाराज, इन्हें घर ले जाने की अनुमति दें। महात्मा ने अनुमति दे दी। साथ में स्वयं गाड़ी में बैठकर उनके घर चले गये।

डॉक्टर बुलाये गये। उन्हें कुछ पता नहीं चल रहा था कि कौन बीमारी है। कुछ दवा दी गयी। वे आधे घंटे में होश में आये। उन्होंने पूरे होश में आने पर पूछा "मैं कहां हूं?"

महात्मा ने कहा "तुम अपने घर अपने बच्चों के बीच में हो।" वे तुरंत रो पड़े, और बड़े जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे कि महाराज, यहां मुझे कौन ले आया? मैं यहां नहीं रह सकता। मैंने तो सन्तों के चरणों में ही रहकर इस देह का अन्त करने को सोचा है। मुझे शीघ्र संताश्रम ले चलें। मैं एक घंटा भी घर-परिवार में नहीं रह सकता।

बच्चों ने उन्हें मनाना शुरू किया। बच्चों को अपना अपमान लग रहा था कि हम सब संपन्न होकर पिता की सेवा न कर सकें तो लोग क्या कहेंगे! बच्चों ने महात्मा से भी उन्हें समझाने के लिए कहा।

महात्मा ने उन्हें समझाया—"तुम हठ छोड़ दो। मुझे गुरु मानते हो, तो मेरी कड़ी आज्ञा है कि तुम घर में रहो। मेरी आज्ञा मानो। तुम्हारे बच्चे तुम्हारी सेवा करना चाहते हैं।"

उन्होंने बड़ी रोनी सूरत बनाकर स्वीकार किया और कहा कि जब आप ही की ऐसी कड़ी आज्ञा है, तो मैं विवश हूं।

ऐसे चालाक महात्मा एवं गुरु सबको तो नहीं मिलते कि ऐसे लोगों की मर्यादा बनाए रखते हुए उन्हें घर वापस कर सकें। इसलिए बहुत समझ-बूझकर घर छोड़ना चाहिए। भावुकता में पड़ना ठीक नहीं।

जंगल में तप करने की पिनक का समय अब तो और नहीं रहा। क्योंकि अब पहले सरीखा न वन में फल है न कंद। यहां तक कि वन का ही अधिकतम सफाया हो गया है। शरीर को संतुलित आहार देकर ही इससे भजन बन सकता है। कबीर साहेब ने कहा है—

कबीर भूख कुतिया अहै, करे भजन में भंग।
याको टुकड़ा डारि के, करो भजन निस्संग।। कबीर अमृतवाणी।।

स्वरूपराम में स्थित पुरुष की उच्चता

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदरी, अंग न जामें माँसु।।५४।।

शब्दार्थ—चीन्हिया = पहचाना, परख की। झीना = दुर्बल। पिंजर = शरीर। जामें = बढ़ना।

भावार्थ—जिसका नाम राम है उस आत्मतत्व की जिन्होंने परख की, उसका शरीर दुर्बल होता है, उसके नेत्रों में नींद नहीं आती तथा उसके अंगों में मांस नहीं बढ़ता।।५४।।

व्याख्या—लोग केवल राम-नाम जपते हैं। केवल जपने से कोई बड़ी घटना जीवन में घट जायेगी यह मात्र सुनी-सुनायी महिमा की बात है। परन्तु जिसने राम-नाम की परख की है कि वस्तुतः राम-नाम है क्या! राम तो एक नाम है, संज्ञा है एवं पद है; परन्तु इसका पदार्थ क्या है! पदार्थ तो चेतन है जो निजस्वरूप है। सद्गुरु ने कहा है "हृदया बसै तेहि राम न जाना"। राम तो हृदय में बसने वाली चेतन सत्ता है, वही मेरा स्वरूप है, अर्थात वही मैं हूं।

जब ऐसी पक्की परख हो जाती है तब यही निजस्वरूप का बोध कहलाता है। निजस्वरूप का बोध हो जाने पर शरीर निस्सार हो जाता है। तब शरीर केवल साधन की वस्तु लगता है, भोग की नहीं। यहां सद्गुरु ने शरीर के लिए 'झीना पिंजर' शब्दों का प्रयोग किया है जिसका शब्दार्थ होता है दुर्बल काया। परन्तु शब्दार्थ लेने से काम नहीं चलता। बोधवान का शरीर दुर्बल ही हो, ऐसी बात नहीं है। वे बलवान शरीर के भी हो सकते हैं। वस्तुतः झीना पिंजर, नैन न आवै नींदरी तथा अंग न जामे माँसु, इन तीनों संयुक्त शब्दों के अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक होने चाहिए। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार किये जा सकते हैं, जैसे कि बोधवान पुरुष शरीर से अनासक्त होते हैं, उन्हें देहबन्धन से मुक्त होने के लिए बेचैनी रहती है और वे इन्द्रियों के भोग से उपरत होते हैं।

वस्तुतः "झीना पिंजर" और "अंग न जामें माँसु" का अर्थ एक ही है, जिसका सार अभिप्राय है शरीराभिमान से मुक्त हो जाना। निज चेतनस्वरूप राम को पहचानने का अर्थ ही है देहाभिमान का विलय हो जाना।

ऐसे पुरुष को नेत्रों में नींद नहीं आती, यदि इसका यही स्थूल अर्थ लिया जाय तो अनर्थ है। हर ज्ञानी पुरुष नींद के समय जमकर सोता है। काम भर सोना ही चाहिए। यहां "नैन न आवै नींदरी" का अर्थ है देहबन्धन से छूटकर मुक्त होने की उत्कट

अभिलाषा। इस संसार के मोह में न फंसना मानो नींद न लेना है। इसी भाव को लेकर सद्गुरु ने दूसरे शब्द में कहा है "संतो जागत नींद न कीजै" हे संतो! जागते रहो, नींद न करो। यहां सद्गुरु ने मुमुक्षुओं को यह आज्ञा नहीं दी है कि वे देह-विश्राम के लिए जो सोते हैं वह बन्द कर दें, किन्तु उन्होंने बताया है कि तुम इस माया नगरी में कहीं भूल न जाओ।

रामतत्त्व एवं निजस्वरूप की पूर्ण पहिचान का अभिप्राय ही यही है कि उसे संसार से उचाट हो जाय। वह देह के अभिमान को छोड़ दे और इन्द्रियों के भोगों से एकदम विरत हो जाय।

जो जन भीजै रामरस, बिगसित कबहुँ न रूख।
अनुभव भाव न दरसे, ते नर सुख न दूख॥५५॥

शब्दार्थ—भीजै = भींगना, लीन होना, ओतप्रोत होना। रामरस = स्वरूपप्रेम, आत्मचिंतन। बिगसित = विकसित, प्रफुल्लित, आनंदित। रूख = उदास, कष्टित।

भावार्थ—जो साधक आत्मचिंतन में सदैव डूबे रहते हैं, वे न सांसारिक उपलब्धियों में हर्षित होते हैं और न उसके चले जाने से शोकित होते हैं। सदैव स्वरूपस्थिति के अनुभव में लीन होने से उन्हें सांसारिक भाव-तरंगें नहीं प्रभावित कर पातीं। अतएव वे सांसारिक वस्तुओं के मिलन-बिछुड़न में न सुखी होते हैं और न दुखी होते हैं॥५५॥

व्याख्या—आत्मचिंतन एवं स्वरूपस्थिति में निमग्न साधक मानो रामरस से ओतप्रोत होता है। अपनी चेतना एवं आपा ही तो राम है और उस भाव में डूबा साधक रामरस में भींगा हुआ है। ऐसे साधक के मन में हर्ष-शोक नहीं रहते। वह सब समय निर्द्वंद्व रहता है।

"अनुभव भाव न दरसे" इस वाक्यांश का इस साखी में एक साथ अर्थ नहीं बैठता। इसमें "अनुभव भाव" का अलग तथा "न दरसे" का अलग अर्थ होगा। अर्थात स्वरूपचिंतन में लीन पुरुष अनुभव-भाव में डूबा रहता है। उसे अन्य भावनाएं नहीं दरसतीं। ऐसा ही विभागपूर्वक अर्थ बैठता है। पूरे वाक्यांश का एक साथ अर्थ करने से हो जायेगा कि उन्हें अनुभव का भाव नहीं दरसता, जो प्रसंग के अनुकूल नहीं है।

हमारा राम हमसे अलग हो नहीं सकता कि खो जाय। बाहर कोई राम नहीं जिससे हमें मिलने की आवश्यकता का आभास हो। बीजक के पाठफल में आया है "अस्ति आत्माराम है" आत्माराम ही परम वास्तविकता है। इसके चिंतन-रस में जो डूबा रहता है, वह किस बात का भय करे, किसका लोभ करे और किसकी चाह करे! जिसे अपने स्वरूप की गरिमा का पूर्ण पता लग जाता है, वह सारे जड़-दृश्यों से अतीत शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मतृप्त होता है। आत्मतृप्त व्यक्ति को बाहर से पाने की कुछ वासना नहीं रह जाती।

श्री रामरहस साहेब ने भी अपने चेतनस्वरूप को ही राम कहते हुए कहा है—"धीरज दया तत्त्व संयुक्ता। राम भूमिका बासक युक्ता॥ आनन्द सिन्धु अहन्तातीता। राम

रूपमय परम पुनीता।।'' इस प्रकार अपने अविनाशी स्वरूप राम में रमण करने वा
साधक संसार के शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। वह सदैव एकरस कृतार्थस्वरूप है।

यथार्थ परख से बंधनों का सर्वथा नाश

काटे आम न मौरसी, फाटे जुटै न कान।
गोरख पारस परसे बिना, कौने को नुकसान।।५६।।

शब्दार्थ—मौरसी = बौर लगना, मंजरी लगना। पारस = एक कल्पित पत्थर जिस
लोहा के छू जाने से सोना बन जाने की कल्पना की जाती है।

भावार्थ—आम का पेड़ काट देने पर न वह पुनः विकसित होता है और न उस
बौर लगते हैं। इसी प्रकार कान को फाड़ देने पर वह पुनः नहीं जुटता। ऐसे ही सा
वासनाओं को परख कर छोड़ देने पर जीव पुनः भवबंधनों में नहीं पड़ता। हे योगिरा
गोरखनाथ! यदि लोहा पारस-पत्थर का स्पर्श नहीं करता है तो किसकी हानि है, लोहे
या पारस की? वस्तुतः लोहे की ही हानि है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति पारखी गुरु के पा
जाकर और उनसे प्रेरणा लेकर सारे भवबंधनों को नहीं छोड़ता है तो व्यक्ति की ही हा
है।।५६।।

व्याख्या—कई प्रकार के पेड़ होते हैं उन्हें काट देने पर उनकी जड़ों से दूसरे पे
तैयार होकर वे फलने-फूलने लगते हैं, जैसे केले, फालसा, गन्ना आदि। परन्तु आम
पेड़ के लिए यह बात नहीं है। वह काट देने पर न बढ़ता है और न फूलता-फलता है
इसी प्रकार कान की बात है। कान छेद देने पर यदि उसमें कोई आभूषण न पहना जा
तो वह कुछ दिनों में बंद हो जायेगा। परन्तु यदि उसे फाड़ दिया जाय तो वह न
जुटता।

उक्त दोनों उदाहरण देकर सद्गुरु जो समझाना चाहते हैं उसे वे खोल कर अल
शब्दों में तो नहीं कहते, परन्तु वही बताना उनका मुख्य लक्ष्य है। वह है वासना-निवृ
के बाद जीव का पुनः भवबंधनों में न पड़ना। यह जीव माया-जाल में फंसा हुआ
जिससे उसका मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। गांजा, भांग, शराब, जुआ, जिन व्यसनों
बन्धनों में मनुष्य फंस जाता है उनसे उसका क्या मौलिक सम्बन्ध है! एक लड़की कि
अपरिचित लड़के के साथ, एक लड़का किसी अपरिचित लड़की के साथ अपने आप
जीवनभर के लिए बांध देते हैं; किन्तु विचारकर देखो, उन दोनों का क्या मौलिक सम्ब
था और आगे छूट जाने पर क्या रहेगा! यह ठीक है कि व्यावहारिक जगत का दूस
दृष्टिकोण है। परन्तु परमार्थतः किसी का क्या नाता है!

यह जीव अकेला आया है और अकेला जायेगा। बीच का सारा सम्बन्ध मान्यता म
है और इसी में मनुष्य सारे भव-बंधन बनाता है। अतएव जो ठीक से परखकर इ
सर्वथा छोड़ देता है वह इनके बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सारा दृश्य-संसार जीव से सर्वथा अलग है। अतएव जब जिसको उसके राग
बन्धनरूपता का पता लग जाता है और वह उसे दुखरूप परखकर छोड़ देता है, त

उसका उसमें फंसने का कारण नहीं हो सकता। जो वस्तु स्वाभाविक हमसे अलग है, उसका त्याग सहज है। सारा संसार जीव से अलग है। अतएव उसका राग छोड़ देना उसके लिए सहज है।

पारस-पत्थर सर्वथा काल्पनिक है। लोक-प्रचलित कहानी है कि पारस-पत्थर में यदि लोहा छू जाय तो सोना बन जाता है। यह उदाहरण कवि-जगत में खूब चलता है। वास्तव में बातों को समझाने के लिए ऐसे तरीके अच्छे होते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि लोहा अपने आपको पारस-पत्थर से नहीं छुआता है तो वह सोना नहीं बन सकता। इसलिए न छुआने से उसी का नुकसान है। इसी प्रकार कोई साधक सच्चे पारखी सद्गुरु के पास नहीं जाता, उनसे जड़-चेतन की परख तथा अपने भव-बंधनों की पहचान नहीं करता है, तो उसी का नुकसान है। सद्गुरु का कोई नुकसान नहीं।

अतएव कल्याणार्थी को चाहिए कि वह अपने कल्याण के लिए बोध और रहनीसंपन्न पारखी सद्गुरु की शरण में जाये। उनसे जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष की ठीक से परख प्राप्त करे, और सारे भव-बंधनों को आज ही छोड़कर पूर्णतया कृतार्थ हो जाय। श्री रामरहस साहेब कहते हैं—

हंस प्रथा पद थीर लही, परखाये सब जाल।
सदा सुखारी पारखी, नजरे नजर निहाल।। पंच० गुरु० दो० २२६।।

इस साखी में सद्गुरु ने गोरखनाथ जी का नाम लेकर उनको सम्बोधित किया है। गोरखनाथ कबीर साहेब से करीब चार सौ वर्ष पहले हो चुके हैं। अतएव उनका आमने-सामने होना तो असम्भव है, वस्तुतः गोरख का नाम लेकर सद्गुरु ने गोरखपंथियों की याद की है। उन्हें प्रेरित किया है कि वे केवल हठयोग में न रुके रहकर सत्यासत्य की परख करें।

पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार।
पारस ते पारस भया, परख भया टकसार।।५७।।

शब्दार्थ—परख = गुण-दोष की पहचान एवं सत्यासत्य जानने की शक्ति, परीक्षा। टकसार = टकसाल, सिक्के ढलने का स्थान, निर्दोष वस्तु, चोखा, खरा, सत्संग।

भावार्थ—जीव पारसरूप है तथा संसार लोहरूप है। अर्थात जीव चेतन है और संसार जड़ है। जैसे पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है, वैसे चेतन के सम्बंध से शरीर चेतनवत हो जाता है। पारस के स्पर्श से लोहा केवल सोना होता है, पारस नहीं, परन्तु पारखी सद्गुरु के संसर्ग से मनुष्य पारखी हो जाता है। यही पारस से पारस होना है। और सत्यासत्य की परख सत्संग में होती है।।५७।।

व्याख्या—पारस से छू जाने पर लोहा सोना हो जाता है यह तो केवल कल्पना है। परन्तु यह वास्तविकता है कि चेतन जीव के संसर्ग से जड़ शरीर चेतनवत भासता है।

जब तक चेतन जीव इस शरीर में है तब तक यह सारी क्रियाएं कर रहा है, जैसे ही शरीर में से जीव निकलकर चला जाता है वैसे ही शरीर निरर्थक हो जाता है। "पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार" जड़-चेतन का यह भिन्न विवेक है, जिसे सद्गुरु ने आलंकारिक शब्दों में कहा है।

"पारस ते पारस भया"[1] बहुत महत्त्वपूर्ण भाव है। कहावत के अनुसार पारस तो लोहा को केवल सोना बनाता है, पारस नहीं। किन्तु सद्गुरु अपने शरणागत को सद्गुरु ही बनाता है। कोई गुरु अपने शिष्य को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। गुरु बनाने का अर्थ है श्रेष्ठ, शुद्ध-बुद्ध एवं निर्मल बनाना। सद्गुरु ने स्वयं कहा है "जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।"[2] यहां सद्गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुम संसार की सारी कामनाएं एवं आशाएं छोड़कर मेरे समान बन जाओ, फिर सब सुख तुम्हारे पास होगा।

"परख भया टकसार" सब की परख सत्संग में होती है। टकसाल वह स्थान है जहां सिक्के ढलते हैं। टकसाल प्रामाणिक स्थल है। टकसाल निर्दोष एवं खरी वस्तु को भी कहते हैं। जहां निष्पक्ष खरा-खरा निर्णय होता है उस सत्संग में ही सत्य तथा असत्य की परख होती है। शास्त्र, परम्परा, बड़ा जनसमूह, बड़े पुरुष आदि का पक्ष जहां होगा, वहां सत्यासत्य का निर्णय होना असंभव है। शास्त्र, परम्परा, गुरु सब आदरणीय और मान्य हैं, परन्तु स्वविवेक की बलि चढ़ाकर नहीं। हम शास्त्रों तथा महापुरुषों की बातों को भी अपने विवेक से ही समझते हैं। जहां स्वतन्त्र विवेक का आदर है वहीं सच्चा ज्ञान है, वहीं सत्य है, वहीं मानवता है और वहीं कल्याण है।

"परख भया टकसार" वस्तुतः परख ही टकसार है। परख एवं पारख ही ज्ञान के लिए परम प्रमाण है। 'प्रमा' का अर्थ ज्ञान है और वह जिस साधन से हो उसको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव तथा ऐतिह्य[3] कुल आठ प्रमाण माने गये हैं। परन्तु परख प्रमाण सबके ऊपर है। परख ही टकसार है, परख ही खरा एवं चोखा ज्ञानपथ है। परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। एक चींटी भी बालू में से चीनी-कण परखकर निकाल लेती है। मनुष्य शरीर तो उत्तम भूमिका है। यहां जीव का परख-गुण अत्यन्त विकसित है। शर्त यह है कि व्यक्ति जड़संस्कारों एवं गलत भावनाओं में फंसकर अपने परख-गुण की उपेक्षा न करे। यदि मनुष्य सारे पक्षपात को हटाकर स्वतन्त्र परख एवं पारख का उपयोग करे तो वह सत्य ज्ञान पाकर इसी जीवन में कृतार्थ हो जाय।

---

१. जो लोहा को सोना करे, सो पारस है कच्चा।
जो लोहा को पारस करे, सो पारस है पक्का॥

२. साखी २९८।

३. इनका विवरण कबीर दर्शन, अध्याय ३, सन्दर्भ 'प्रमाण' में देखें।

है, निस्स्वार्थता में सत्य है और जहां सत्य है वहीं प्रेम है। जिसका जीवन प्रेम तथा सत्य से परिपूर्ण है वह इस भवसागर से अपने तथा दूसरे के तरने के लिए जहाज है।

हम अपनी छाया से भयभीत हैं

दर्पण केरी गुफा में, स्वनहा पैठा धाय।
देखि प्रतीमा आपनी, भूँकि-भूँकि मरि जाय ॥५९॥

शब्दार्थ—गुफा = पहाड़ या जमीन में बना हुआ गढ़ा, कमरा, कक्ष। स्वनहा = श्वान, कुत्ता। प्रतीमा = प्रतिमा, छाया, प्रतिबिम्ब।

भावार्थ—मानो एक कुत्ता दौड़कर दर्पणों के किसी कक्ष में घुस गया और उन दर्पणों में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब देखकर तथा उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी एवं वैरी मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मर गया। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन की कलुषित भावनाओं की प्रतिछाया दूसरे लोगों में आरोपित कर, उनसे राग-द्वेष कर और लड़-झगड़कर अपने जीवन को बरबाद करता है ॥५९॥

व्याख्या—५८वीं साखी में प्रेम और सत्य के व्यवहार की चर्चा की गयी थी। उसके विरोधी भाव की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य न तो अपने जीवन में प्रेम को स्थान देता है और न सत्य को; किन्तु वह अपनी मलिन भावनाओं को अपने आस-पास के लोगों में प्रतिबिम्बित करता रहता है। हम जितना असत्य तथा राग-द्वेष में लिप्त होते हैं उतना दूसरों पर संदेह करने वाले होते हैं। जैसे कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वैरी मानकर उससे लड़ता है, वैसे ही हम अपने मलिन मनोभावों के नाते दूसरों में संदेह करते हैं कि वे हमारे विरोधी हैं और फिर हम उनसे मोर्चाबन्दी करने लगते हैं।

हम अपनी मलिन भावनाओं के कारण अपनी छाया से ही भयभीत हैं। हमारी अनैतिकता, हमारे मन की मलिनता, हमारे मन की अपराधी भावनाएं हमें क्षमा नहीं कर सकतीं। कैकेयी राम से वन में मिलकर तथा उनसे सांत्वना पाने के बाद भी अपने दुष्कर्मों के कारण सदैव अनुताप में जलती रहती थी। कहते हैं औरंगजेब मरते समय अपने मन में अपने ऊपर गायों तथा हिन्दुओं-द्वारा हमला होते हुए देखता था, क्योंकि उसने अपने जीवन में गायों तथा हिन्दुओं को खूब सताया था। हम कितना ही पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रोजा-हज्ज करते रहें और गिड़गिड़ाकर किसी ईश्वर से क्षमा मांगते रहें; किन्तु यदि हमारे जीवन में दुष्कर्म हैं तो हमारी अन्तरात्मा हमें कभी क्षमा नहीं कर सकती। पापी आदमी कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, आवास में सुख नहीं पा सकता। आदमी अपने मलिन भाव तथा मलिन आचरणों के कारण अपने आप ही अपना शत्रु है तथा अपने पवित्र भावों तथा पवित्र आचरणों के कारण अपना मित्र है।

कुत्ते के प्रतिबिम्ब कुत्ते के शत्रु नहीं हैं। वह अपनी मूर्खता से उन्हें शत्रु मानकर उनके विरोध में भूंक-भूंककर मरता है। इसी प्रकार इस संसार में हमारा कोई शत्रु नहीं

है। हम अपनी मूर्खता एवं मनोमालिन्य से दूसरों में शत्रुत्व की कल्पना कर राग-द्वेष एवं झगड़े-झंझट में अपने जीवन को नरक बनाते हैं। कोई अपने अज्ञानवश हमसे शत्रुता माने भी, परन्तु यदि हमारा मन पवित्र है, हम उसे शत्रु की निगाह से नहीं देखते तो वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हमारी दुर्भावना एवं हमारे दुष्कर्म के अलावा संसार में न हमारा कोई शत्रु है और न कोई हमारा कुछ बिगाड़ सकता है। मनुष्य अपनी ही अपराधी भावनाओं के छाया-पुरुष अपने चारों तरफ खड़ा करता रहता है और उन्हीं से भयभीत होकर जीवनभर कलह कर-कर मरता है।

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आपु दुहुँनमा सोय।
यह तत्व से वह तत्व है, याही से वह होय॥६०॥

शब्दार्थ—प्रतिबिम्ब = बिम्ब की छाया, परछाईं। आप = स्वयं व्यक्ति।

भावार्थ—जैसे मनुष्य दर्पण में अपने शरीर का प्रतिबिंब देखता है, तो बिम्ब शरीर एवं प्रतिबिम्ब छाया—दोनों में उसी की ही सत्ता रहती है। बिम्ब-तत्व से ही प्रतिबिम्ब-तत्व बनता है, दर्पण में इस शरीर की ही छाया पड़ती है, वैसे जिस प्रकार हमारी मान्यता होती है, उसी प्रकार हमारी भावना बनती है॥६०॥

व्याख्या—बिम्ब की सत्ता न हो तो प्रतिबिम्ब की सत्ता नहीं हो सकती। बिम्ब शरीर है, प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ी हुई शरीर की छाया है। शरीर में व्यक्ति की सत्ता है, तो मानो छाया में भी व्यक्ति की सत्ता है। जैसा बिम्ब होगा वैसा प्रतिबिम्ब होगा। यदि बिम्ब में अर्थात चेहरे में काला धप्पा लगा है तो प्रतिबिम्ब में भी धप्पा लगा होगा और यदि चेहरा साफ है तो छाया भी साफ होगी। हमारी मान्यताएं बिम्ब हैं और भावनाएं प्रतिबिम्ब हैं। जैसी मान्यता, वैसी भावना। यदि हमने किसी को शत्रु मान लिया है वह भले ही बहुत अच्छा आदमी हो, तो उसकी याद में हमारा मन अवश्य खराब होगा। जब हमें वह मिलेगा उसके लिए हमारी गलत भावनाएं सामने उभर आयेंगी। यदि हमने किसी को मित्र मान लिया है तो उसकी याद में, उसके मिलने में, उसकी संगत में हमें आनन्द की अनुभूति होगी। हमारी सारी भावनाएं हमारी अवधारणाओं की छाया मात्र हैं। हम मलिन भावनाओं से तभी ऊपर उठ सकते हैं जब मलिन अवधारणाओं एवं मान्यताओं से ऊपर उठें। हमारी भावनाओं की गंदगी ही हमारा आध्यात्मिक पतन तथा हमारा नरक है और हमारी भावनाओं की पवित्रता ही हमारी आध्यात्मिक उन्नति है, हमारे जीवन का स्वर्ग है।

कीड़ी से कुंजर तक, पेट भरने की चिन्ता सबको है। पेट के लिए तो सब प्रयत्न करते ही हैं। मानव की सबसे बड़ी विशेषता है उसका अपने मन को पवित्र करना। मन की पवित्रता के समान संसार में कोई दूसरा सुख नहीं है। लोग अपने चाम के चेहरे को तो बारम्बार दर्पण में देखकर उसके दाग को दूर करते रहते हैं, परन्तु अपने मन के चेहरे को साफ करने की चिंता बहुत कम लोगों को है। यह मन का चेहरा ही प्रतिबिम्ब बनता है। यदि हमारा मन साफ है तो पूरा जीवन पवित्र, सुखद एवं शांतिमय होगा।

शास्त्रों से मानव श्रेष्ठ है

जोबन सायर मूझते, रसिया लाल कराय।
अब कबीर पाँजी परे, पन्थी आवहिं जाय॥६१॥

शब्दार्थ—जो = जो। बन = जंगल, वाणी का विस्तार। सायर = समुद्र, वेद-शास्त्रादि। मूझते = मुझ मनुष्य जीव ही से। रसिया = वाणी के रसिक। लाल = उत्तम मणि। कराय = किये। पाँजी = मार्ग। पन्थी = जीव।

भावार्थ—संसार में जो वाणी का वन एवं वाणी का समुद्र है वह मुझ-जैसे मनुष्यों से ही पैदा हुआ है। वाणी के रसिक लोग उसे लाल-मणि मानकर बिना विचार किये सांच-झूठ सभी वाणियों को प्रमाण रूप मानने लगते हैं। किसी वाणी के बन जाने के बाद लोगों के लिए वही रास्ता बन जाती है और पथिक लोग उसी के आधार पर जीवन-यात्रा करने लगते हैं, प्रायः विचार नहीं करते॥६१॥

व्याख्या—संसार में वाणियों का विस्तार वन और समुद्र जैसा है। हजारों शास्त्र हैं और असंख्य वाणियां हैं। लिपिबद्ध एवं पुस्तकों के रूप में जो हैं वे तो हैं ही, मौखिक रूप से मनुष्य-समूह में जो गूंजती हैं उन वाणियों की भी कोई गणना नहीं हो सकती। इन वाणियों में कल्याणकारी तो थोड़ी हैं, विनाशकारी अधिक हैं। जिनसे विषय-वासनाओं और काम-क्रोधादि की ज्वाला प्रदीप्त हो ऐसी वाणियों का सर्वत्र बोलबाला है। धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी वाणियां बनी या बनती हैं, उनमें प्रायः विचार करने की छूट नहीं दी जाती। धर्मशास्त्र के नाम पर एक बार जो वाणियां कह या लिख दी गईं, उनमें चाहे जितना अनर्गल, बे-सिर-पैर की, हानिकारी एवं झूठी बातें हों, नकारी नहीं जा सकतीं। यदि उन्हें कोई नकारता है तो उसे नास्तिक, काफिर या अपवित्र करार दिया जाता है। उसको अधर्मी सिद्ध किया जाता है।

धार्मिक नामधारियों ने अपने मन की बेतुकी बातों को अपनी पुस्तकों में किसी काल्पनिक ईश्वर, पैगम्बर तथा अवतारों के द्वारा कहलवा लिया है। अब उन पर कोई विचार करता है तो वह गाली का पात्र बनाया जाता है। इसलिए शिक्षित और अशिक्षित दोनों मूढ़ बने हुए धर्मशास्त्रों के नाम पर अनर्गल बातें ढोते चले जाते हैं। इस दिशा में अशिक्षित से शिक्षित कोई बहुत भिन्न नहीं होते। सांसारिक शिक्षाएं कोई बड़ी बात नहीं हैं। मनुष्य थोड़े दिनों के अभ्यास से चिकित्सा, कानून, यंत्र, व्याकरण आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु उसका सब तरफ से निष्पक्ष होकर तत्त्व-विवेक करना बहुत बड़ी बात है। इसलिए अच्छे-अच्छे जज, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, शास्त्री, आचार्य, आई० ए० एस० गोबरगणेश बने हुए नाना चमत्कारों, अन्धविश्वासों तथा भौतिक उपलब्धि के लिए धूर्त सोखा-ओझाओं, तांत्रिकों, पूजा के बल पर सारी सिद्धि प्रदान करने वाले महात्मा एवं पण्डित नामधारियों के चंगुल में फंसे हुए भटकते रहते हैं।

भूत-प्रेत की बातें, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार और फलितज्योतिष की बातें, ऋद्धि-सिद्धि की बातें, मन्त्र-तन्त्र तथा देवी-देवताओं की बातें, जादू-टोना की बातें, भाग्य-विचार और राशिफल की बातें और इस तरह की सैकड़ों अनर्गल बातें महाकाव्यों, पुराणों,

धर्मशास्त्रों में बड़े नामधारी लोगों की जुबान से एवं लेखनी से कहलवा दी गयी हैं। अब तो बस जनता का इस रास्ते पर चलना ही चारा रह गया है। वह विचार नहीं कर सकती। यदि विचार करती है तो परम्परा-विरोधी है, अपने धर्म तथा संस्कृति का नाशक है। और भी पता नहीं क्या-क्या गाली उसे दी जाती है। धर्मशास्त्र तथा महापुरुष एवं प्रभु के नाम पर हमारे पैर पकड़कर पीछे खींचे जाते हैं। हमें पुनः जंगली युग में ले जाने का प्रयास किया जाता है। वाणी के रसिक लोग धर्म के नाम पर कही गयी एक-एक बात को लाल-मणि के समान मान रहे हैं। परन्तु जो लिखा या छपा हो वह सब सत्य नहीं तथा जो कुछ चमकता हो वह सब सोना नहीं। हर बात पर विचार करना मानव का धर्म है।

क्रांतिद्रष्टा सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि सारे वेद, शास्त्र, बाइबिल, कुरान तथा विश्व की सारी लिखित तथा अलिखित वाणियां मुझ-जैसे मनुष्यों की ही बनायी हैं। इसलिए सब पर विचार करना हमारा अधिकार है। मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई वाणी या ग्रन्थ रचा हो या रच सकता हो। सारी वाणी-रचना मानव की है। इसलिए मानव का कर्तव्य है कि वह हर वाणी पर परख की कसौटी लगाये। सार को ले और अनर्गल बातों को निर्भय होकर छोड़ दे। निष्पक्षता एवं निर्भयता के बिना सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

उपर्युक्त साखी का एक अर्थ और किया जाता है। पहले वाले अर्थ में जोबन को 'जो बन' अलग-अलग करके पढ़ा जाता है। परन्तु दूसरे अर्थ में जोबन एक में पढ़ा जाता है और इसका अर्थ है जवानी। सायर का अर्थ समुद्र है ही। मूझते का अर्थ है मूर्च्छित होना। 'मूझना' मूर्च्छित होने को कहते हैं। घनानन्द ने लिखा है "सोचनि जूझत मूझत ज्यौं।"[१]

अतएव अर्थ हुआ कि जवानी के समुद्र में एवं विषय-वासना की मूर्च्छा में पड़े हुए लोग विषय-भोगों को ही लाल-मणि मानकर उन्हीं की उपलब्धि में अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि पीछे से यह विषय-सेवन ही जीवन का रास्ता बन जाता है। इसी अध्यास-वश जीव बारम्बार जन्म-मरण के फेरे में घूमते हैं।

मनुष्य अपनी किशोर अवस्था में स्वतंत्र रहता है। यदि वह जीवनपर्यंत स्वतंत्र रहना चाहता है तो भी संसार के धुरंधर मायावी लोग उसे नाना भय और लालच दिखाकर विषय-वासना के खूंटे में बांध देते हैं। फिर तो वह संसार का चक्कर काटता रहता है। अतएव साधक को विषय-वासना का जाल स्वयं काटना होगा। इसके लिए अनासक्ति और निर्भयता की परम आवश्यकता है।

स्वरूपस्थ व्यक्ति ही सम्राट है

दोहरा तो नौ तन भया, पदहि न चीन्हैं कोय।
जिन्ह यह शब्द विवेकिया, छत्र धनी है सोय ॥६२॥

---

१. मूझना, बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लि०, कबीर रोड, काशी।

शब्दार्थ—दोहरा = दो परतों का, दूसरा, विजाति, दुगुना, दोहा। नौ = नव, नवीन। पदहि = पद को, स्व स्वरूप चेतन को। छत्रधनी = राजा, स्वतंत्र, सुखी।

भावार्थ—जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर दूसरी एवं विजाते दृश्य-माया में मोह करता है, इसलिए उसे भव-सागर में भटकते हुए नये-नये शरीरों की प्राप्ति होती है। क्योंकि विजाति जड़-दृश्यों से हटकर कोई अपने चेतनस्वरूप को तो पहचानता नहीं। जो व्यक्ति उक्त बातों पर विवेक कर तथा जड़-दृश्यों का राग छोड़कर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होता है, वह स्वरूपस्थिति के उच्चासन पर आरूढ़ होकर स्वतंत्र, सुखी एवं सम्राट हो जाता है।।६२।।

व्याख्या—दोहरा, दुगुना, दूसरा, द्वैत-जड़ दृश्य माया में राग करना ही भवधार में बहने का कारण है। जब हम अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को भूलकर देह-गेह आदि में मोह करते हैं, तभी अपने पद से गिर जाते हैं। 'स्व' और 'पर' दो ही तत्त्व हैं। स्व चेतनस्वरूप है और पर जड़स्वरूप है। जब हम जड़ में लोभ करते हैं तब उसके मूल में अपने स्वरूप का विस्मरण ही है।

"पदहि न चीन्हैं कोय" कोई अपने पद को नहीं पहचानता कि मैं कौन हूं। संसार के अधिकतम लोग देह ही को अपना स्वरूप समझते हैं। मैं अजर, अमर, अखण्ड शुद्ध चेतन हूं यह विवेक न होने से मनुष्य देहाभिमानवश सदैव दुखी बना रहता है। देहाभिमान ही आध्यात्मिक दुर्बलता है। इसे त्यागकर स्वरूपज्ञान में प्रतिष्ठित होना महान बलवान हो जाना है। स्वरूप-विवेक, स्वरूप-स्मरण तथा स्वरूप-स्थिति आध्यात्मिक-उन्नति का उच्चतम शिखर है। इस अवस्था में पहुंच जाना ही सम्राट हो जाना है। स्वरूपस्थ व्यक्ति छत्रधनी है, बादशाहों का भी बादशाह है। जिसकी सारी कामनाएं बुझ गयीं और जो अपने अविनाशी राम में लीन है, वह सर्वोच्च है।

उक्त साखी का थोड़ा पाठान्तर से दूसरा भी अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'नौ तन' की जगह पर 'नूतन' पाठ है। इसका अर्थ है—मेरे दोहे नूतन हैं, नये हैं, परन्तु मेरे पदों को लोग नहीं समझते। जिन्होंने मेरे शब्दों पर विवेक किया है या करते हैं वे सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सम्राट हो जाते हैं।

पवित्रात्मा पुरुष प्रकाश-स्तम्भ है

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार।
बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार।।६३।।

शब्दार्थ—चन्दन की डार = मानवीय सद्‌गुण, चेतनस्वरूप की स्थिति। बाट = रास्ता।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं अपने मानवीय सद्‌गुण एवं आत्मस्वरूप की स्थिति में आरूढ़ होकर संसार के लिए भी सन्मार्ग बताए जा रहा हूं। यदि संसार के लोग बताए हुए सन्मार्ग पर नहीं लगेंगे तो हमारा क्या नुकसान करेंगे, अपना ही अहित करेंगे।।६३।।

व्याख्या—मानवीय सद्गुण तथा स्वरूपस्थिति के समान कोई सुगंधी नहीं है। परन्तु उदाहरण के लिए चन्दन के सिवा और किसका नाम लिया जाय! अतएव सद्गुरु ने यहां चन्दन की डाली का सुन्दर रूपक दिया है। मानवीय सद्गुण एवं स्वरूपस्थिति चन्दन की डाली है जिसमें हर समय सुगंधी है। दया, शील, क्षमा, करुणा, संतोष, सत्य आदि मानवीय सद्गुण हैं और सारी जड़ वासनाओं को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप में स्थित हो जाना स्वरूपस्थिति है। सद्गुरु इस दशा में स्थित हैं और इसी मार्ग पर लाने के लिए वे संसार के लोगों को पुकार रहे हैं। जो व्यक्ति उनके वचनों पर ध्यान देगा, उन्हें सुन-विचारकर उनका आचरण करेगा, वही कृतार्थ हो जायेगा।

सद्गुरु कहते हैं कि जो मेरी बातों पर ध्यान नहीं देगा, वह मेरा क्या बिगाड़ेगा! वह अपना ही नुकसान करेगा।

"बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार" यह मजबूरी संसार के सभी महापुरुषों के सामने थी और आज भी है। हमारे बीच महापुरुष आते हैं, परन्तु हम अपने प्रमादवश उन्हें नहीं समझ पाते। उनके बताये हुए सन्मार्ग पर चलना तो दूर, हम उनके प्रति द्वेष-भाव कर अपने अन्तःकरण को बिगाड़ते हैं। संसार के सभी महापुरुषों की अवहेलना करने वाले लोग उनके सामने ही थे। परन्तु इसको लेकर उन्होंने अपना काम बन्द नहीं किया। वे स्वयं अपने शुभ-मार्ग पर चलते रहे और दूसरों के लिए सत्प्रेरणा देते रहे। जो उनकी ओर ध्यान दिये वे उनसे लाभ लेकर अपना कल्याण करते रहे।

पवित्रात्मा पुरुष मानव-समाज के लिए प्रकाशस्तंभ होते हैं। यदि सच्चे ज्ञान एवं पवित्र रहनी से संपन्न पुरुष हमारे बीच में होते हैं तो वे हमारे लिए एवं मानव-समाज के लिए अमोघ वरदान होते हैं। ज्ञान तथा सद्गुण की बात कहने वाले लोग तो हमें बहुत मिल जाते हैं, परन्तु जो उनके आचरणों से संपन्न हों, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं, यदि ऐसे पुरुष हमारे बीच हों तो वे हमारे लिए प्रेरणास्रोत हैं और हमारा परम सौभाग्य है। अतएव हमें महापुरुषों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को ऊपर उठाना चाहिए।

सत्य सर्वोपरि उपलब्धि एवं सुख है

सब ते साँचा भला, जो साँचा दिल होय।
साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय॥६४॥

शब्दार्थ—नाहिना = नहीं है।

भावार्थ—यदि हम अपने हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा कर सकें तो सत्य के समान संसार में अन्य कोई उपलब्धि नहीं है। चाहे कोई करोड़ों उपाय करे, किन्तु सत्य ज्ञान एवं सत्य आचरण के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता॥६४॥

व्याख्या—लोग कहते हैं कि झूठ के बिना काम नहीं चलता। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि वे झूठ को भी सत्य के आधार पर ही चलाते हैं। वे झूठ बोलकर भी यही कहते हैं कि यह सत्य है। यदि यह कह दिया जाय कि जो मैं बोल रहा हूं वह झूठ है तो उसे कौन मानेगा!

लोग विवाह-शादी में झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। इसमें झूठ बोलना धर्म समझते हैं। व्यापार तो बिना झूठ के चल ही नहीं सकता, यह बात मन में पहले ही पक्की कर ली जाती है। वस्तुतः हम झूठ बोल-बोलकर एक दूसरे के लिए इतने अविश्वासी हो गये हैं कि इसको लेकर हमें और झूठ बोलना पड़ रहा है। हम झूठ बोलकर दूसरों को धोखा देते हैं और दूसरे लोग झूठ बोलकर हमें धोखा देते हैं।

हम झूठ बोलकर रात-दिन चाहे जितना राइट-रांग करते हों, परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति झूठ बोलकर हमें धोखा देना चाहे और हम इस बात को समझ सकें तो हम उसे पसन्द नहीं करेंगे। जो लोग व्यापार में प्रतिदिन हजारों-लाखों का गोलमाल करते हैं, वे ही अपने नौकर-द्वारा दस पैसे की चोरी पर उसे डण्डे से मारते हैं। हमें अपना झूठ भले पसन्द हो, परन्तु हमारे अपने तयीं दूसरों-द्वारा किया गया झूठा व्यवहार कतई पसन्द नहीं होता। जब हम अपने लिए किसी-द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहते, तब यह भी बात समझ में आ सकती है कोई भी अपने लिए दूसरों-द्वारा झूठा व्यवहार नहीं चाहता। मानवता का अर्थ यही है कि हम दूसरों-द्वारा अपने लिए जैसा व्यवहार चाहते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरों के लिए करें। हम अपने लिए दूसरों-द्वारा सत्य और निश्छल व्यवहार चाहते हैं, अतएव हम भी दूसरों के साथ सत्य एवं निश्छल व्यवहार करें।

सद्गुरु इस साखी में कहते हैं कि सत्य सबसे भली वस्तु है। सत्य क्या वस्तु है? वस्तु का सत्य ज्ञान, सत्य भावना, सत्य वचन एवं सत्य आचरण; ये चतुर्विध सत्य की धारणा ही सत्य को ग्रहण करना है। पहली बात वस्तु का सत्य ज्ञान है। जड़ और चेतन के उनके अपने गुण-धर्मों के सहित उन्हें तत्त्वतः समझ लेना सत्य ज्ञान है। पानी कोई देवता बरसाता है यह असत्य ज्ञान है। जड़ प्रकृति की अपनी अनुकूल योग्यता से पानी बरसता है। जब उसकी अनुकूल योग्यता नहीं रहती तब नहीं बरसता। यदि कोई देवता बरसाये तो आवश्यकतानुसार बरसाये। देव चेतन होने से वह अतिवर्षण एवं अवर्षण नहीं कर सकता जिससे प्राणियों को कष्ट हो। परन्तु देखा जाता है कि कहीं अतिवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र बह जाता है और कहीं अवर्षण से क्षेत्र-का-क्षेत्र सूखा और अकाल से कराहता रहता है। वर्षा, शीत, धूप, ओला, पाला, नदी-झरना का बहना, वनस्पतियों का उगना, बढ़ना, उनमें फूल-फल का आना, छह ऋतुओं का परिवर्तन होना, भूचाल आना, ज्वालामुखी का फूटना तथा और सारी जड़ प्रकृति से होने वाली घटनाएं किसी चेतन देव, भूत, प्रेत आदि की अपेक्षा नहीं रखतीं। जड़ तत्त्वों के उनके गुण, धर्म एवं क्रियादि उनमें अंतर्निहित हैं, जिससे जड़ात्मक सृष्टि अबाध गति से चलती है। जड़ से सर्वथा भिन्न चेतन असंख्य हैं जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं। वे जड़-वासनावश देह धारणकर संसार में भटक रहे हैं। मनुष्य शरीर में स्वरूपज्ञान पाकर तथा वासना का त्यागकर वे मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य, पशु, अण्डज तथा उष्मज के अलावा देव, भूत, प्रेत आदि कोई योनि एवं खानि का अस्तित्त्व नहीं है। मनुष्य के अलावा मनुष्य का कोई उद्धारक नहीं है। अपने कर्मों से ही अपना उत्थान या पतन, बंध या मोक्ष है। प्रत्यक्ष सृष्टिक्रम के विरुद्ध संसार में जितनी बातें चमत्कारिक रूप में मान्य हैं वे सब मनुष्य के अज्ञान से फैली हैं। चमत्कारों के मूल

में धूर्तता है या मूर्खता। इस प्रकार जड़-चेतन को उनके अन्तर्निहित गुण-धर्मों के द्वारा ठीक से समझना सत्य ज्ञान है।

दूसरी बात है सत्यभावना। हम जिस वस्तु को जिस तरह समझते हों उसको उसी तरह मानें। झूठी मान्यताओं को मन में कभी स्थान न दें। हमारा मन वस्तुपरक होना चाहिए, कल्पनापरक नहीं। सत्यज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिल जाने पर आगे वचन तथा आचरण में भी सत्य प्रतिष्ठित होता है। मन मूल है। उसके बाद वचन तथा क्रियाएं हैं। अतएव प्राप्त सद्ज्ञान को मन में पूर्णतया स्थान मिलना चाहिए। हमारा मन सत्यज्ञान से ओत-प्रोत होना चाहिए।

तीसरी बात है सत्यवचन। हम जिस वस्तु को जैसे सुने हैं, जैसे जानते हैं, जैसे मानते हैं उसे ठीक उसी प्रकार कहना सत्य-वचन है। लोग थोड़ी-थोड़ी बातों में झूठ बोलते रहते हैं। कितने लोगों का झूठ बोलना उनके जीवन का नियम ही होता है। कितने लोग कभी-कभी अपवादस्वरूप झूठ बोलते हैं। कुछ लोग जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलते। वे सब समय हृदय को सरल एवं निश्छल रखते हैं और हृदय में जैसी बात है वैसी ही कहते हैं। प्रश्न होता है कि किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए झूठ बोलना ठीक है या नहीं! मेरे विचार से ऐसी जगह झूठ बोलना भी यदि पाप हो तो भी यह पाप करके निरपराध प्राणी की जान की रक्षा करनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम सत्य बोलने में श्रद्धा करें।

चौथी बात है सत्य का आचरण। सत्य को जान या कहकर ही न रह जायं, उसका जीवन में आचरण करें। हम यदि समझ लिये हैं कि व्यभिचार, हत्या, चोरी, परनिंदा, द्वेष, काम, क्रोधादि गलत हैं, तो हमें चाहिए कि इनसे दूर रहने के प्रयत्न में लगे रहें और दया, क्षमा, शील, संतोष, परसेवा, ब्रह्मचर्य, व्यसन-निवृत्ति आदि यदि सत्य-पथ हैं ऐसी समझ हो गयी है तो इनका हम अनुसरण करें।

इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि यदि सत्य को हम अपने जीवन में धारण कर सकें तो इसके समान कोई उपलब्धि नहीं है। इसके बिना जीवन में सच्चा सुख मिल भी नहीं सकता। इन्द्रिय-भोग-विलास एवं मिथ्या ममता एवं स्वार्थ में हम जितना चिपके रहते हैं उतना सत्य से दूर रहते हैं और झूठ का आश्रय लेते हैं। जब हम स्वार्थ को जीत लेते हैं तब झूठ से दूर तथा सत्य में लीन हो जाते हैं। सत्यज्ञान, सत्यभावना, सत्यवचन एवं सत्याचरण से संपन्न व्यक्ति भीतर-बाहर स्वस्थ, सदैव प्रसन्न, आनंदित एवं निर्भय होता है। इसके सुख के आगे जगत के सारे सुख तुच्छ हैं। उसकी आत्मा सत्य के व्यावहारिकस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती है। उसके समान न कोई देवता है, न ईश्वर है, अपितु वही सर्वोच्च देवता है, ईश्वर है और गुरु है।

महाभारतकार कहते हैं कि जो वेदों को जानता है वह वेदों के उस भेद को नहीं जानता जो जानने योग्य है। जो सत्य में स्थित है वही वेदों के जानने योग्य भेद को जानता है।[1] वे कहते हैं कि वेदों का रहस्य सत्य है, सत्य का रहस्य आत्म-संयम है,

---

1. यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम्।
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥ *महाभारत, सनत्सुजातीय पर्व॥*

आत्मसंयम का रहस्य मोक्ष है, यही संपूर्ण शास्त्रों का सार है।[1] रामायणकार श्री राम कहलाते हैं कि संसार में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदैव सत्य पर ही टिका रहता है। सब आधार सत्य है। सत्य से पृथक कहीं परमपद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या, वेद—र सत्य पर ही ठहरे हैं। अतएव सबको सत्य में अनुरक्त होना चाहिए।[2]

साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि।
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि॥६५॥

शब्दार्थ—सौदा = खरीद-बेची माल। हीरा = एक बहुमूल्य रत्न जो सफेद चमकवा और अत्यन्त कठोर होता है, तात्पर्य में सत्यज्ञान एवं कल्याण।

भावार्थ—अपने मन में जान-समझकर असली माल खरीदो और बेचो, अथ सत्यज्ञान को लो और दो। सच्चे और निश्छल मन वाले होकर ही सत्यज्ञान एवं कल्य पाओगे। झूठ का आश्रय लेने से तो मूलधन की भी हानि होगी। अर्थात असत्य बातों पड़कर तो साधारण जीवन का सुख भी नष्ट हो जायेगा॥६५॥

व्याख्या—कुछ लोग व्यापार शुरू करते हैं तो वे अपनी दुकान एवं गोदाम में ज्य नकली माल रखते हैं। वे असली माल में भी नकली माल मिला देते हैं। खाने-पीने वस्तुओं एवं दवाओं में भी नकली माल मिला देते हैं। यहां तक की हानिकर चीजें मि देते हैं। ऐसे नराधम एवं पापी लोगों के लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। उनको जीवन शांति तो मिल ही नहीं सकती। उनका व्यापार भी कुछ दिनों में बैठ जाता है और य उनकी धांधलेबाजी ज्यादा दिनों तक चलती रही, तो भी यह पक्का समझ लो कि प्रकृति के क्षेत्र में न्याय में देर भले हो, अन्धेर नहीं है। कारण-कार्य की ऐसी स्वचालि व्यवस्था है जिसमें अपने कर्म के फल-भोग आने ही हैं। लहसुन-प्याज खाने वाले दुर्गंधी की डकार आयेगी ही। जो व्यापारी अधिक मुनाफे के लोभ में पड़कर अ ग्राहकों को कच्चामाल देकर सच्चे माल के पैसे लेगा, तौल-नाप में कम देगा, डांड़ी-प मारेगा या अन्य ढंग से ठगेगा, उसका कुछ दिनों में व्यवहार भी बिगड़ेगा और धर्म उसका बिगड़ा ही है। अतएव व्यापारियों को चाहिए कि वे माल सच्चा रखें। अ ग्राहकों को ईमानदारी से सौदा दें। उनसे उचित मुनाफा लें। ऐसा सच्चा सौदा करने व का व्यापार स्थायी होगा। उसके लोक-परलोक दोनों बनेंगे।

संसार में कुछ गुरु नामधारी भी पक्के धूर्त होते हैं। जैसे दो नम्बर के धंधा के बि व्यापार में धन नहीं बढ़ता, वैसे दो नम्बर के प्रचार के बिना उनका धर्म नहीं बढ़ उनका धर्म है धन और अनुयायियों की भीड़। ऐसे धूर्त गुरु स्वयं या अपने अनुयायि

---

१. वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ *महाभारत, शांतिपर्व २९९/१३॥*

२. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्य प्रतिष्ठा नास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥ *वाल्मीकीय रामायण २/१०९/१३-१४॥*

द्वारा खुद को अवतार घोषित करते या करवाते हैं, अपने सम्बन्ध में चमत्कार का प्रचार करते या करवाते हैं, नाना सनसनीखेज बातें अपने लिए लिखते या लिखवाते तथा कहते या कहलवाते हैं। ऐसे धूर्तों के चक्कर में केवल अनपढ़ मूर्ख ही नहीं पड़ते, किन्तु ज्यादा तो पढ़े-लिखे मूर्ख पड़ते हैं।

सद्गुरु कबीर हमें सावधान करते हुए बताते हैं "साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि" वे कहते हैं कि सत्य का सौदा करो। इसके लिए श्रद्धा-विश्वास रखो, किन्तु हर बात को अपने मन में जानने की भी चेष्टा करो। अपने विवेक से बातों को तौलो, परख की कसौटी लगाओ। चाहे शास्त्रों की बातें हों, चाहे गुरुजनों की और चाहे जनसमूह की, सब को ठोक-बजाकर, जांच-परखकर उनका ग्रहण या त्याग करो।

ध्यान रहे, तुम जितने पाप करोगे, उनका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। नदी-स्नान, मूर्ति-मंदिर-दर्शन, नाम-जप, तीर्थ-सेवन अथवा अन्य कर्मकांडों से पाप कट नहीं सकते। किसी के पूजा कर देने से, आशीर्वाद दे देने से तुम्हें पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिल सकते। इनके लिए तुम्हारे प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ एवं सत्कर्म ही काम देंगे। सत्संग, सत्कर्म, सद्गुण, स्वरूपज्ञान-आत्मज्ञान यह सब सांचा सौदा है। इस सौदे को खरीदो।

"साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि" सच्चे दिल से निष्पक्ष एवं निर्भय होकर सत्य का सौदा करने पर ही सत्यज्ञान तथा शांति मिलेगी। जो झूठ का व्यापार करेगा, किसी दिन उसकी मूल पूंजी भी डूबेगी। इसी प्रकार अन्धविश्वास, चमत्कार एवं धूर्त गुरुओं की वाहवाही में पड़कर जो उनके कच्चे ज्ञान के चक्कर में पड़ेगा, उसका साधारण जीवन भी खराब होगा, आगे स्वरूपस्थिति एवं जीवन्मुक्ति का होना तो बहुत दूर है।

सुकृत बचन माने नहीं, आपु न करे विचार।
कहहिं कबीर पुकारि के, सपनेहु गया संसार॥६६॥

शब्दार्थ—सुकृत = पुण्य, सत्य, संत। आपु = स्वयं।

भावार्थ—लोग संतों के पवित्र एवं सत्य वचनों को मानते नहीं और स्वयं भी विचारकर सत्यज्ञान एवं सत्य आचरण ग्रहण करते नहीं। कबीर साहेब लोगों को बलपूर्वक पुकार कर कहते हैं कि संसार के लोग अपने जीवन को स्वप्न के समान व्यर्थ खोकर चले गये और चले जा रहे हैं॥६६॥

व्याख्या—बृहत् हिन्दी कोष में सुकृत के इतने अर्थ किये गये हैं—पुण्य, सत्कर्म, दान, दया, पारितोषिक तथा सौभाग्य; विशेषण में इसके अर्थ इतने हैं—शुभ, सुविहित, भाग्यवान, ठीक तरह से किया हुआ, सुनिर्मित तथा जिसके साथ सदय व्यवहार किया गया हो। इस साखी की प्रथम पंक्ति का सार इतना ही है कि लोग संतों के पुण्य एवं सच्चे वचन नहीं मानते और स्वयं भी निष्पक्ष होकर विचार नहीं करते। सत्य के बोध के लिए दो ही तरीके हैं, एक तरीका है जिज्ञासु के सौभाग्य से उसे कोई ऐसे संत पुरुष एवं गुरु मिल जायं जो सारे पक्षपातों से रहित परम विवेकी हों और जिज्ञासु उनके वचनों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान दे। अथवा वह स्वयं इतना निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र चिन्तनप्रवीण हो कि हर

बात पर स्वतः तटस्थ होकर विचार करे। वस्तुतः सत्संग एवं स्वतः विवेक आवश्यक दोनों की है। हमें गुरु-संतों के सत्संग-निर्णय का आधार भी चाहिए और अपना निष्प विवेक-बल भी चाहिए।

खेद यह है कि संसार के अधिकतम लोग न अपने विवेक का उपयोग करते हैं अं न संत-पुरुषों का आधार लेते हैं। वे पशु-सदृश कमाते-खाते और विषय-भोगों में जीव व्यतीत करते हैं। शरीर धारण करके जो कल्याण का काम करना चाहिए उसे वे नहीं क पाते हैं और एक दिन जीवन सपने की तरह समाप्त हो जाता है। जीवन में बौद्धिक अ मानसिक संतोष प्राप्त हो तो जीवन सफल है। अन्यथा यह सपने के समान मिला अ गया, हाथ में कुछ भी नहीं आया।

ज्ञान की आग

आगि जो लागि समुद्र में, धुवाँ न परगट होय।
की जाने जो जरि मुवा, की जाकी लाई होय॥६७॥

शब्दार्थ—समुद्र = अंतःकरण। लाई = लायी हुई, लाइ-आग।

भावार्थ—साधक के हृदयरूपी समुद्र में ज्ञान की आग लग गयी। इसमें तो धु प्रकट होता नहीं है कि बाहर से कोई आग का अनुमान कर सके। इस आग को व जानेगा जो इसमें जलकर मर चुका है, अर्थात ज्ञानाग्नि से जिसकी सारी आसत्ति जलकर समाप्त हो गयी हैं और वह जीवन्मुक्त हो चुका है या इसे वह सद्‌गुरु जानं जिसने इस आग को लाकर साधक के हृदय में लगायी हो॥६७॥

व्याख्या—मनुष्य कहीं आग जलते हुए देखता है और उसके साथ यह भी देखता कि उसमें से धुआं निकल रहा है। दूसरे समय में वही आदमी जब दूर से कहीं धु उठता हुआ देखता है, तो पूर्व ज्ञान के आधार पर उसे धुआं देखकर वहां आग जलने अनुमान होता है। फिर आदमी का यह ज्ञान सहज हो जाता है कि जहां-जहां धुआं हं है वहां-वहां आग होती है।

साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगती है। इसमें धुआं नहीं प्रकट होता। इसी इस आग का ज्ञान दूसरों को नहीं हो पाता। इसीलिए अच्छे-अच्छे साधक और संतों भी दूसरे लोग नहीं समझ पाते, अतएव उनके लिए वे गलत धारणा बनाये रखते कितने सज्जन लोग भी संतों एवं साधकों को नहीं समझ पाते। वस्तुतः यह आग स्वसं है। यह जिसके हृदय में लगती है, वही जानता है। जैसे आग लगने पर वहां की स चीजें जल जाती हैं, वैसे जिसके हृदय-सागर में ज्ञान की आग लग जाती है उसके ह के सारे विकार जल जाते हैं। काम, क्रोध, लोभादि विकार ही तो जीव के लिए बंधन और जब यही जल जाते हैं तब बंधन समाप्त हो जाते हैं। जंगल में आग लगती है, स में नहीं, क्योंकि समुद्र पानी की राशि है। कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रवीण हैं। यहां भी उलटवांसी कहते हैं, परन्तु अर्थ तो उनका सदैव सीधा होता है और मन पर च करने वाला।

हृदय में ज्ञान की आग लगी और सारे विकार जलकर समाप्त हो गये। जीव का कल्याण हो गया। इसे कोई बाहर का आदमी जाने या न जाने, क्या अन्तर पड़ता है! बाहर का आदमी जान भी नहीं सकता। उदाहरण साक्षी है। संसार के सिद्ध पुरुषों को कहां संसार के लोगों ने जाना है! यदि वे उन्हें जान गये होते तो उनकी खिल्ली क्यों उड़ाते! महापुरुषों की कम कीमत आंकने वाले संसार में लोग रहे हैं। लोग अपने दिल को तो ठीक से समझ नहीं पाते, दूसरे के दिल को कैसे समझ पायें! इसलिए दूसरे के विषय में अपनी कोई धारणा भी नहीं बनाना चाहिए।

जिसके हृदय में ज्ञान की आग लग चुकी है, और उसके सारे विकार जल चुके हैं, उसे इस बात को बाहर के लोगों को बताने की कोई इच्छा भी नहीं होती। क्योंकि इच्छाएं तो सारी जल चुकी होती हैं। मैं मुक्त हूं, यह कहने की उसे क्या आवश्यकता! इसका रहस्य वह खुद जानता है या जिसने ज्ञानाग्नि लगायी, वह सद्गुरु जानता है। परन्तु सद्गुरु का काम भी समाप्त हो गया रहता है। इस अपने हृदय में लगी ज्ञानाग्नि का पूर्णतया बोध साधक को ही होता है। वह इसका प्रदर्शन नहीं करता। वह सदैव मस्त होता है। उसकी अपनी रस-गागरी से छलके हुए अनुभव-रस से कोई लाभ ले ले तो यह संसार का काम है। वह तो अपने आप में पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं आनन्दकंद होता है। सद्गुरु ने उसके लक्षणों में अन्यत्र कहा है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।।

हीरा पायो गाँठि गँठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूर भया तब क्यों तोले।। १ ।।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।। २ ।।
तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहेब मिलि गये तिल ओले।। ३ ।।

लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरे।
बलिहारी लावनहार की, छप्पर बाँचे घर जरे।।६८।।

शब्दार्थ—लाई = लायी हुई, 'लाइ' आग को भी कहते हैं; तात्पर्य में प्रेम एवं ज्ञान की आग अर्थात लगन। लावनहार = सद्गुरु। पर = पंख, खानी-वाणी अर्थात स्थूल-सूक्ष्म माया तथा राग-द्वेष के पंख। बलिहारी = प्रशंसा। छप्पर = छाजन, तात्पर्य में छप्पर—छह के ऊपर—पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा छठां मन के ऊपर जीव। घर = अहंता-ममता।

भावार्थ—साधक के हृदय में लाकर लगायी हुई ज्ञान की आग सद्गुरु की है, जिसकी आग से साधक के स्थूल-सूक्ष्म माया के आसक्ति रूपी पंख या राग-द्वेष के पंख जल गये और जीव-पक्षी का संसार के विषयों में उड़ना बंद हो गया। ज्ञानाग्नि लाकर लगाने वाले सद्गुरु की प्रशंसा है। इस ज्ञानाग्नि में छप्पर तो बच जाता है और घर जल जाता है अर्थात जीव का उद्धार हो जाता है और सांसारिक अहंता-ममता का घर जल जाता है।।६८।।

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की बात-बात में सुन्दर अलंकार हैं, उलटवांसियां हैं, जो उद्बोधन के साथ हैं और पढ़ने वाले के मन को मोह लेते हैं। इस साखी की पहली पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि सद्गुरु ने आग लगायी और जीव के पंख जल गये। यह संसारी जीव स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्ति के पंख से संसार में उड़ता है। प्राणी-पदार्थों का मोह स्थूल माया की आसक्ति है और मान-सम्मान, ऋद्धि-सिद्धि, परोक्ष देवी-देवादि का मोह सूक्ष्म माया की आसक्ति है। इन्हें ही बीजक की भाषा में खानी-वाणी भी कहते हैं। ये स्थूल-सूक्ष्म माया की आसक्तियां मानो संसारी जीव के वे पंख हैं जिनके सहारे यह संसार के भ्रमजाल में उड़ता रहता है और इससे इसको कभी विश्राम नहीं मिलता। जब सद्गुरु साधक के हृदय में ज्ञान की आग लगा देते हैं तब जीव के वे पंख जल जाते हैं जिनसे वह भटकता था। अतएव उसका भटकना बंद हो जाता है।

यह जीव जमीन, मकान, रुपये-पैसे, परिवार, समाज आदि प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में पड़कर ही तो भटकता है, परन्तु इनमें से क्या उसके हैं! यह ठीक है कि मनुष्य को जीवनभर इनका व्यवहार लेना पड़ता है, परन्तु एक होता है केवल कर्तव्यदृष्टि से एवं विवेकपूर्वक और दूसरा होता है लोभ-मोहपूर्वक। जहां लोभ-मोहपूर्वक होता है वहीं बंधन होता है। यह स्थूल माया की आसक्ति जीव को भटकाती है। दूसरी आसक्ति है मान-सम्मान की या यह व्यामोह कि हमसे अलग कोई देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा है और जब वह मिल जायेगा तब हम कृतार्थ हो जायेंगे। इसके लिए भी जीव भटकता है। जब साधक को सच्चे एवं पारखी सद्गुरु मिलते हैं और उसे यह लखा देते हैं कि तुमसे अलग न तुम्हारा कोई त्राता है, न उद्धारक है, न आश्रय है, न आनन्दधाम है। तुम ही तुम्हारे त्राता, उद्धारक, आश्रयस्थल एवं आनन्दधाम हो, तब साधक का संसार में उड़ना बंद हो जाता है। वह कहां जाय, क्या लेने जाय! बाहर तो उसका कुछ है नहीं। उसका जो कुछ अपना है वह उसका आत्मस्वरूप है। वह स्वयं ही अपना सर्वस्व है। अपने आप को पा जाने के बाद संसार में उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। अतएव सद्गुरुप्रदत्त ज्ञानाग्नि से जीव को भटकाने वाले राग-द्वेष, स्थूल-सूक्ष्म माया के पंख जल जाते हैं।

"छप्पर बाँचे घर जरे" दूसरी पंक्ति का यह महत्त्वपूर्ण कथन है। किसी भी मकान में आग लगने पर पहले छप्पर ही जलता है; क्योंकि वह घास-फूस का होता है। परन्तु यहां तो घर जल गया और छप्पर बच गया। यहां भी शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है। यहां छप्पर का अर्थ है छह के ऊपर। आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठां मन है। इन छहों के ऊपर सातवां चेतन जीव है। यही ३७वीं रमैनी का सातवां सयान है जिसे सद्गुरु ने लोक तथा वेद दोनों से प्रमाणित करने की प्रतिज्ञा की है, और उसके आगे साखी में उसी को बीजक का गुप्त वित्त कहा है।[1] इस प्रकार

---

१. सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउँ देखाई॥
साखी—बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीवको, बूझै बिरला कोय॥ *बीजक, रमैनी ३७॥*

छप्पर—छह (पांच ज्ञानेंद्रियां और मन) के ऊपर जीव है उसका उद्धार हो जाता है, क्योंकि ज्ञान की आग से अहंकार का घर जल जाता है। जीव अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या मान्यताओं का अहंकार कर लेता है। स्वरूपज्ञान उदय होने पर अहंकार का घर जल जाता है। "घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय" सद्गुरु का यह वचन भी इस बात को पुष्ट करता है। जो अहंकार का घर जला देता है उसका स्वरूपस्थिति-घर बच जाता है और जो अहंकार का घर बचाये रखता है उसका स्वरूपस्थिति-घर नष्ट हो जाता है। सारांश यह है कि संसार के देह-गेहादि की अहंता-ममता त्यागे बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु यहां तो सद्गुरु की ज्ञानाग्नि से अहंता-ममता का घर जल गया और जीव कृतार्थ हो गया।

"बलिहारी लावनहार की" इन सब में गुरु की सर्वाधिक प्रशंसा है जिसने ज्ञान की आग लाकर साधक के हृदय में लगायी। अतएव गुरु ही सर्वोपरि वंदनीय है।

जीव की सर्वोच्चता

बुन्द जो परा समुद्र में, सो जानत सब कोय।
समुद्र समाना बुन्द में, सो जाने बिरला कोय॥६९॥

शब्दार्थ—बिरला कोय = थोड़े लोग, कोई-कोई।

भावार्थ—बारिश में जो जल की बूंदे समुद्र में पड़ती हैं, उन्हें सब जानते हैं, परन्तु सूर्य की गरमी और वायु के संपर्क से समुद्र का जल वाष्परूप में उड़कर और बादल बनकर बूंद में समाया है इसे कोई विरला जानता है। जीव ब्रह्म में लीन होता है इसे बहुत लोग कहते हैं, परन्तु ब्रह्म जीव ही में लीन है, अर्थात ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व जीव ही में निहित है, इस तथ्य को कोई विरला जानता है॥६९॥

व्याख्या—लोगों की मानसिकता को ऐसा लकवा मार गया है कि वे घूम-फिरकर जीव को तुच्छ सिद्ध करते हैं और ब्रह्म को बड़ा। जीव स्वयं-प्रत्यक्ष है और ब्रह्म मन की कल्पना। परन्तु मनुष्य की प्रायः आदत है कि वह थाली के लड्डू छोड़कर मनःकल्पना के लड्डू खाना चाहता है। सारे वेद-शास्त्रों, ज्ञान-विज्ञानों तथा ईश्वर-ब्रह्म की भी कल्पना करने वाला जीव ही है। जीव यदि ब्रह्म की कल्पना न करता तो उसकी चर्चा ही कहीं नहीं होती। कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं वे जीव के महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।

उक्त साखी के उदाहरण बूंद-समुद्र की घटना दोनों प्रकार से सत्य है। अर्थात बूंदे समुद्र में गिरती हैं तथा समुद्र भाप बनकर बूंद में समाता है। बूदों का समुद्र में गिरना सब जानते हैं, परन्तु समुद्र का बूंद बनना समझदार लोग जानते हैं। कोई भी उदाहरण एक अंश में लिया जाता है। जीव से अलग ब्रह्म ऐसा कुछ नहीं है कि उसमें जीव लीन हो, परन्तु जीव स्वयं प्रत्यक्ष है जिसके मन में ब्रह्म की कल्पना विद्यमान है। संसार में हल्ला है कि जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है; परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि यह तो कोई समझदार ही समझेगा कि जीव से अलग ब्रह्म का कोई अस्तित्त्व नहीं है, किन्तु जीव ही में ब्रह्मत्त्व लीन है।

'बृहत्त्वात् ब्रह्म' जीव में बृहत् अर्थात महान होने का बीज है। हम जिस ब्रह्मत्त्व की कल्पना करते हैं, जीव को हटा देने पर उसकी कल्पना ही संभव नहीं है। महान होने की सारी संभावनाएं जीव ही में हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जीव थे; जरथुस्त्र, सुकरात, लाओत्जे, मूसा, ईसा, मुहम्मद जीव थे; शंकर, उदयन, धर्मकीर्ति, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द जीव थे; वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी जीव थे; ज्ञान-विज्ञान के सारे अन्वेषक सब तो जीव थे। जीव के अलावा कौन है जिसने धरती पर आकर कोई ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप प्रदर्शित किया हो! सारे शास्त्र, सारी विद्याओं और सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक जीव है। जीव अपने स्वरूप को न समझकर संसार के विषय-भोगों की इच्छा करके भटकता है और जीव ही अपने स्वरूप को समझकर तथा सारी इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कृतकृत्य हो जाता है।

अतएव जीव ब्रह्म में नहीं लीन होता है, किन्तु ब्रह्मत्त्व जीव ही में लीन है। सोचने की शुरुआत ब्रह्म की तरफ से मत करो, किन्तु जीव की तरफ से करो। ब्रह्मत्व, श्रेष्ठत्व, शिवत्व जीव के गुण हैं। इस संसार में जीव सर्वोच्च सत्ता है। सभी व्यक्तियों के भीतर 'मैं हूं' यह आभास करने वाले जीव ही हैं। जीव कृतार्थ एवं मुक्त हो जाने पर किसी ब्रह्म में लीन नहीं होता है, क्योंकि जीव से अलग कहीं कोई ब्रह्म नहीं है; किन्तु जीव में ब्रह्मत्व का, शिवत्व का, श्रेष्ठत्व का, गुरुत्व का अर्थात उसके अपने चेतनस्वरूप का पूर्णतया उद्घाटन होता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है, सब तरफ से मुक्त हो जाता है। इन सबों का अर्थ यही है कि जब जीव जान लेता है कि मैं स्वयं पूर्णकाम हूं, अखंड, शुद्ध-बुद्ध चेतन हूं, स्वभावतः परम तृप्त हूं और इस प्रकार जानकर तदनुरूप स्वरूपस्थ हो जाता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है। इस स्वरूपस्थिति को ही अपनी-अपनी भाषा में कोई कुछ कह ले। जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है, पर-स्वरूप में नहीं। पर-स्वरूप में किसी की भी स्थायी स्थिति नहीं होती।

जहर जिमी दै रोपिया, अमी सींचे सौ बार।
कबीर खलक ना तजै, जामें जौन विचार॥७०॥

शब्दार्थ—जहर = विष, विषय, कल्पना। जिमी = पृथ्वी, अंतःकरण। रोपिया = लगाया। अमी = अमृत, सत्योपदेश। खलक = जीवसमष्टि, लोकसमूह, संसार के लोग।

भावार्थ—यदि जमीन में जहर का पेड़ लगा दिया गया है तो उसे सौ बार भी अमृत से सींचने पर उसका जहर नहीं जा सकता! सद्गुरु कहते हैं कि इसी प्रकार जिसके मन में जो उलटे-सीधे विचार धंस जाते हैं, वे उसे नहीं निकालते, चाहे उन्हें सैकड़ों बार सत्योपदेश दिये जायं॥७०॥

व्याख्या—लगता है कि पूर्व की ६९वीं साखी का भाव मन में लेकर यह साखी कही गयी है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि लोगों के मन में ये विचार धंस गये हैं कि जीव से ब्रह्म अलग है, जीव तुच्छ है, ब्रह्म श्रेष्ठ है आदि। इतना ही क्या, देवी-देवता, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र-यंत्र, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार, दिशाशूल, ग्रहकोप, लग्न-मुहूर्त और भी नामालूम कितने भ्रम मनुष्यों ने अपने-अपने मन में पाल रखे हैं। इन सबके मिथ्यात्व पर

कितना ही समझाओ, किंतु संसार के लोग कहते हैं, क्या पहले के लोग सब भूले थे बड़े-बड़े पण्डित, ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा सब गलत थे जो यह सब सत्य कहते थे। लोग अपनी आंखों से देखना ही नहीं चाहते। "अंधे अंधा पेलिया, दोऊ कूप पराय" की बात चरितार्थ करते हैं।

लोगों के मन अत्यन्त दुर्बल हैं। लोग अपने स्वरूप को पहचानकर तथा अपने आप को शुद्ध कर कृतार्थ होना नहीं चाहते; किन्तु अपने से अलग किसी सर्वसमर्थ की कल्पनाकर, उसके सामने रो-गिड़गिड़ाकर तथा घुटने टेककर कल्याण चाहते हैं, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। मैले कपड़े प्रार्थना करके साफ नहीं होंगे किन्तु धुलकर साफ होंगे। कोई विद्यार्थी प्रार्थना एवं पूजा करके विद्वान, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा आई० ए० एस० नहीं होगा, किन्तु मेहनत से पढ़कर तथा अभ्यास करके होगा। यदि जीव तुच्छ है तो वह किसी की प्रार्थना करके महान नहीं होगा। लोगों के मन में यह बात धंसी है कि जीव तुच्छ है। वह जब ईश्वर की प्रार्थना करेगा, उसकी भक्ति करेगा तब वह उसकी शरण पाकर महान हो जायेगा। यह भलीभांति समझ लो कि कोई किसी की शरण पाने मात्र से महान नहीं होता; किन्तु व्यक्ति में उन्नति की संभावनाएं रहती हैं तभी किसी का सहयोग पाकर उन संभावनाओं का उद्घाटन हो जाता है। जीव में शिवत्व अंतर्निहित न हो तो वह कभी भी शिव अर्थात कृतार्थ नहीं हो सकता। गुरु भी केवल प्रेरणा दे सकता है। जब व्यक्ति में बल होता है तभी वह उस प्रेरणा का भी सदुपयोग कर सकता है। प्रार्थना मन को कोमल बनाने का तरीका मात्र है। ज्यादा रोने-धोने से कुछ होने-जाने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वरूप को पहचाने, अपने आप को निर्मल करे उसका अपना आपा शुद्ध चेतन है। वह केवल अपने आप को न पहचान कर सांसारिक वासनाओं के अधीन बना दुखी है। जब वह अपने आपा को पहचान लेगा और सांसारिक वासनाओं को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा, तब पूर्ण हो जायेगा। वह स्वयं ब्रह्म का ब्रह्म एवं परमात्मा का परमात्मा हो जायेगा। वह वही है ही, केवल पहचानना तथा ठहरना है।

मुमुक्षु की पुकार

धौंकी डाही लाकड़ी, वो भी करे पुकार।
अब जो जाय लोहार घर, डाहै दूजी बार ॥७१॥

शब्दार्थ—धौं = एक प्रकार के पेड़ का नाम, जिसकी लकड़ी धीरे-धीरे जलती है, इसे जलाकर कोयला बनाया जाता है। डाहै = जलाना।

भावार्थ—जली हुई धौं की लकड़ी कोयला बनकर चिल्लाती है कि यदि मैं लोहार के घर गयी तो वह मुझे पुनः जलायेगा। अर्थात जन्म-जन्मान्तरों एवं गर्भवास से पीड़ित मुमुक्षु जीव सद्गुरु की शरण में पुकारता है कि हे सद्गुरु, अब मुझे संसार-सागर से बचा लो, अन्यथा यदि अज्ञानरूपी लोहार के हाथों में पड़ गया तो मैं उसके द्वारा पुनः संसार के तापों में जलाया जाऊंगा ॥७१॥

व्याख्या—धौं नाम के पेड़ की लकड़ी को पहले जलाकर कोयला बनाया जाता है। फिर वह कोयला जब लोहार के घर जाता है तब उसे लोहार पुनः जलाता है। सद्गुरु ने यह सुन्दर एवं सटीक रूपक मुमुक्षु के लिए दिया है। धौं की लकड़ी एक बार जलकर कोयला हो गयी है। अब मानो वह चिल्ला रही हो कि कोई मुझे लोहार के हाथों में जाने से बचा ले। अन्यथा वह मुझे पुनः जलायेगा। कितना द्रावक रूपक है!

यह जीव अनादिकाल से संसार के तापों में जलता आ रहा है। गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु तथा संसार में शरीर धारण करके नाना कष्ट सहते हुए इसने असीम आंसू बहाये हैं। महात्मा बुद्ध ने कहा है—'भिक्षुओ, चारों समुद्रों में उतना पानी नहीं होगा जितना आंसू तूने अनादिकाल से प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग तथा नाना कष्टों में बहाया है।' संसार में तो थोड़ी तरुणाई आते ही सभी लोग विषय-वासनाओं की ओर अभिमुख होने लगते हैं। इस संसार में कोई-कोई सुज्ञ-संस्कारी जीव संसार के तापों एवं दुखों को दृष्टिगत रखते हुए सद्गुरु की शरण में पुकार करते हैं। वे विषयों के ताप से बचकर सत्संग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं आध्यात्मिक साधना की शीतल छाया में विश्रांति चाहते हैं।

जीव अनादिकाल से संसार के दुखों में जलता आया है। अब यदि आज पुनः अज्ञान-लोहार के हाथों में पड़ेगा तो पुनः जलेगा। अज्ञानवश विषयों का बाहरी रूप अत्यन्त आकर्षक लगता है, परन्तु उसके भीतर सांप-बिच्छू, बाघ-सिंह के समान महान दुख भरे हैं। विषय-वासना पीड़ा है, फोड़ा है, दुख है, संताप है। परन्तु इसे ऐसा समझ पाना सबको बड़ा कठिन है। अनेक जन्मों का कोई दिव्य संस्कारी जीव ही विषयों की दुखरूपता को समझकर इनसे बच पायेगा। और जीवनपर्यन्त इनसे अलग रहकर कृतार्थ हो पायेगा। विषयवासना ऐसी मोहक राक्षसी है कि व्यक्ति को मोहकर चूस लेती है और अन्त में निकम्मा बनाकर छोड़ देती है। वे धन्य हैं, वन्दनीय हैं तथा पूजनीय हैं जो इन भ्रामक एवं दुखपूर्ण विषयों से विरत होकर अविनाशी स्वरूप की स्थिति में लवलीन हैं।

बन्दीछोर छोड़ावहिं, मेटि मेटि यम फाँस।
धन्य धन्य सो जीव है, तजहिं महा भव गाँस।।

(पंचग्रन्थी, टकसार, साखी २६६)

सभी वासनाओं का त्याग ही मोक्ष है

बिरह की ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुँधुवाय।
दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय।।७२।।

शब्दार्थ—बिरह = विरह, वियोग, जुदाई, वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ओदी = गीली।. सपचै = धीरे-धीरे सुलगना। धुँधुवाय = धू-धू शब्द करना।

भावार्थ—जैसे पानी से भींगी गीली लकड़ी को जलाने पर वह धू-धू कर सुलगती है, ठीक से जलती नहीं, उसका धू-धू कर सुलगना तभी समाप्त होता है जब वह पूर्णतया जल जाती है, वैसे जो व्यक्ति अपने सुख एवं लक्ष्य को अपने से अलग मानकर उसके

वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है वह मन-ही-मन निरंतर सुलगता और रोता रहता है। इस दुख से वह तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं एवं कल्पनाएं जल जाती हैं॥७२॥

व्याख्या—विरह का अर्थ ही होता है बिछुड़न या बिछुड़ने के अनुभव की पीड़ा। जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से वह समझता है कि मेरा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष मुझसे अलग है। अलग मानकर वह उसको पाने के लिए निरंतर लालायित रहता है। अलग कुछ न होने से उसे बाहर से कुछ नहीं मिलता। परन्तु वह भ्रमजन्य वियोग के अनुभव की पीड़ा से सदैव पीड़ित रहता है। अपने माने हुए बिछुड़े सुख को कोई पांचों विषयों में खोजता है और कोई किसी परमात्मा एवं मुक्ति में। इस प्रकार उधर विषयी मनुष्य विषयों में सुख खोजते-खोजते एवं विषयों को भोगते-भोगते अन्त में दयनीय दशा को प्राप्त होते हैं। उन्हें सुख तो मिलता नहीं, किंतु इच्छा, तृष्णा की वृद्धि एवं क्षीणता, रोग आदि का संताप मिलता है और वे अपने जीवन से निराश हो जाते हैं। इधर धर्म के क्षेत्र में पोथी-पाठ, तीर्थ-सेवन, मूर्ति-पूजन, नाम-जप, काया-तप, योग-याग आदि करते हुए लोग बाहर परमात्मा एवं मोक्ष को खोजते-खोजते सारी आयु गंवा देते हैं। उन्हें बाहर से कहीं कुछ नहीं मिलता और वे अन्त में जीवन से निराश होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार न तो विषयी जीवों को विषयों में स्थायी सुख मिलता है और न धर्मी लोगों को जप-तपादि से बाहर परमात्मा एवं मोक्ष मिलता है। अतः ये दोनों ही जीवनभर सपचते और धुधुवाते रहते हैं और व्यर्थ में पीड़ित होते रहते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "दुख ते तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय" यह जीव सारे दुखों से तभी बचेगा जब इसके मन की सारी वासनाएं-कल्पनाएं ज्ञानाग्नि से जलकर समाप्त हो जायेंगी। पहले तो मनुष्य को यह समझ लेना होगा कि हमारा सच्चा सुख, परमात्मा एवं मोक्ष हमारी अपनी आत्मा से अलग कुछ नहीं है। जब हमारे सुख से, परमात्मा से एवं मोक्ष से हमारा वियोग ही नहीं है तब वियोगजनित पीड़ा होने का प्रसंग ही नहीं है। जब मेरी अपनी आत्मा से अलग मेरा प्राप्तव्य हो तब तो मैं उसकी कल्पना, वासना या इच्छा करूं, और जब अलग मेरा प्राप्तव्य है ही नहीं तो मैं किसकी इच्छा करूं! सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना नहीं है, किन्तु दुखों से बचना है, और जीव दुखों से तभी बचता है जब उसके मन की सारी वासनाएं, इच्छाएं जलकर समाप्त हो जाती हैं "दुख ते तबही बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय।" जब तक कुछ भी पाने की इच्छा एवं वासना है तब तक दुख है और जब वासनाएं समाप्त हो गयीं तब सारे दुख समाप्त हो जाते हैं। यह दुखों का समाप्त हो जाना ही सुख, परमात्मा या मोक्ष पाना है। क्योंकि पाना तो कुछ भी नहीं है। पायी हुई वस्तु मायिक तथा विजाति होती है, इसलिए उनका पुनः छूट जाना निश्चित रहता है। इस मिलने तथा छूटने के झमेले में पड़कर ही तो जीव नाना कष्ट झेल रहा है। मिलने के भ्रम में ही तो विरह-वियोग की आग में जीव जलता है। यह सारा उपद्रव स्वरूपज्ञान के अभाव का फल है। अतः हमें अपने पूर्णकाम चेतनस्वरूप को समझकर सारी वासनाओं से मुक्त हो जाना चाहिए तभी हमारी दुख से सर्वथा निवृत्ति हो सकती है।

विरही जीवों की दीनता

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जिवै, उठे कराहि कराहि ॥७३॥

शब्दार्थ—औषध = स्वरूप-विचार। कराहि = पीड़ित।

भावार्थ—जिसको विरह का बाण लग गया है, अर्थात जो समझता है कि मेरा लक्ष्य मुझसे अलग है, उसको स्वरूप-विचार की औषधि नहीं लगती। वह तो अपने लक्ष्य को पाने के लिए सुबक-सुबककर रोता है, मूर्च्छित होता है, जागता है और अपने प्रियतम के वियोग की याद में बारम्बार कराह उठता है ॥७३॥

व्याख्या—संसार में यह भ्रम पालने वाले अधिकतम लोग हैं कि परमात्मा से हम बिछुड़ गये हैं। इस वियोग का हम जितनी तीव्रता से अनुभव करेंगे परमात्मा उतनी ही जल्दी हमें दर्शन देगा। जो लोग ऐसे गहरे भ्रम में पड़े हैं उनके सामने यदि स्वरूप-विचार की बातें करो कि तुम्हारा परमात्मा तुमसे अलग नहीं है, तुम्हारा आपा तुमसे बिछुड़ ही नहीं सकता, तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है, तुम्हें केवल सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में लौट आना है, तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चेतन हो, तुम वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, इत्यादि। तो यह औषध उनको नहीं लगती। वे तो परमात्मा को पाने के लिए रोने-पीटने में आनन्द मानते हैं।

लोग रोकर, गाकर तथा नाच-कूदकर ईश्वर को रिझाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। आज भी ईश्वर पाने के ऐसे सनकी हैं जो समझते हैं कि यदि हम ईश्वर के दर्शन के लिए हठपूर्वक पर्वत से कूद पड़ेंगे तो वह नीचे से मुझे अपनी गोद में उठा लेगा। और जब वे जोश में कूद पड़ते हैं तब उनके हाथ-पैर टूट जाने के अलावा कुछ नहीं होता।[1]

---

१. एक वैष्णव महात्मा राजस्थान, जिला बारां, तहसील किसनगंज के रामगढ़ पर्वत के बीच माला नाम की जगह में रहते थे। वे विरही भक्त थे, साथ-साथ भागवत-कथा भी कहते थे। वे भागवत में पढ़ते तथा कथा में भी कहते थे कि हृदय में बसने वाला आत्मा ही परमात्मा है, परंतु भागवत वर्णित ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं को भी सत्य मानते थे और उन्हें बड़े रस पूर्वक कहते थे।

उन्होंने एक दिन भक्ति-भावना के जोश में सभा में घोषणा कर दी कि अगली अमुक तिथि को यदि ईश्वर मुझे दर्शन नहीं देगा तो मैं आग में कूद कर जल मरुँगा।

उन्होंने निश्चित तिथि को दोपहर तक अपने श्रोताओं तथा दर्शनार्थियों को आश्रम से बिदा कर दिया। उनके दो भक्त प्रह्लाद तथा श्रवण कुमार जो अधिक प्रेमी थे, हठपूर्वक आश्रम में रह गये।

शाम हुई। महात्मा ने पहले से ही इकट्ठी की हुई सूखी लकड़ियों के ढेर में आग लगा दी। इसके बाद उन्होंने उच्च स्वर में पुकारा कि ईश्वर मुझे दर्शन दे, अन्यथा मैं इस आग में जल मरूंगा। उनके दोनों भक्त हाथ जोड़कर उनसे विनय करते रहे कि महाराज! आप तो रोज यह भी कहते थे कि आत्मा ही परमात्मा है जो हृदय में है, फिर आप किस बाहरी ईश्वर के दर्शन का हठ करते हैं?

ऐसा कोई ईश्वर होता तो कम-से-कम ईश्वर के नाम पर लड़ने वालों तथा खून-खराबा करने वालों को तो वह समझा-बुझाकर अब तक ठीक रास्ते पर ला ही दिया होता। वह सर्वसमर्थ ईश्वर, व्यभिचार, चोरी, डाका, हत्या, आतंकवाद, मिलावटबाजी, कालाबाजारी, घूसखोरी एवं समस्त क्रूर-कर्मों को समाप्त कर संसार में आनन्द का राज्य कायम कर दिया होता। परन्तु ऐसा कुछ नहीं है। संसार में सर्वत्र कारण-कार्य की व्यवस्था व्याप्त है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है वह वैसा फल पाता है। उसके कर्मों के नियम ही उसे फल दे देते हैं। बस, संसार के शाश्वत नियमों को ही ईश्वर कह सकते हैं। इसके अलावा कोई ईश्वर नहीं, जो कहीं बैठा कुछ कर रहा हो या किसी के रोने-गाने से वह उसको आकर दर्शन दे तथा उसका कोई कल्याण कर दे। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे, अपने आत्मस्वरूप को पहचाने और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आत्माराम में स्थित हो।

सत्य-शोधक सब समय रहते हैं

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार।
चित्तहु दै समझै नहीं, मोहिं कहत भैल जुग चार॥७४॥

शब्दार्थ—चित्तहु दै = ध्यान देकर। जुगचार = चारों युग, सब समय।

भावार्थ—कबीर के वचन सत्य के परिचायक हैं, इसलिए हे मानव, तुम उनको हृदय में विचारकर समझो। सद्गुरु कहते हैं कि लोग ध्यान देकर समझते नहीं हैं, मेरे-जैसे उपदेष्टा सभी समय में संसार को समझाते आ रहे हैं॥७४॥

व्याख्या—"साँचा शब्द कबीर का" इसे ऊपरी तौर पर देखने से यह कबीर साहेब की गर्वोक्ति लगती है। परन्तु संसार में कभी-कभी ऐसे पूर्ण पुरुष होते रहते हैं जो अपनी बातों को संसार के सामने अधिकारपूर्वक कह सकते हैं। कबीर साहेब ऐसे ही संतशिरोमणि एवं पूर्ण पुरुष थे जिनकी दृष्टि में सत्य और असत्य अलग-अलग साफ झलकते थे। इसलिए वे कह सकते थे कि मेरे शब्द, मेरे वचन सत्य के परिचायक हैं। परन्तु कबीर साहेब ने ऐसा कहकर यह नहीं कहा है कि मेरी बातें बिना विचार किये मान लो। वे कहते हैं "हृदया देखु विचार" यह उनका चैलेंज है कि मैं सत्य कहता हूं, इसलिए मेरी बातें अपने हृदय में विचारकर देखो। देखो सत्य है कि नहीं। यदि सत्य है तो मानो, अन्यथा छोड़ो। सद्गुरु ने इसी प्रकरण की २४७वीं साखी में कहा है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" सबकी बातें सुनो, परन्तु अपने विवेक से उनका निर्णय करो। असत्य को छोड़ो तथा सत्य को ग्रहण करो।

महात्मा ने भक्तों को ज़ोर से डांटा तुम लोग चुप रहो, और पुनः उन्होंने ईश्वर को दर्शन देने के लिए पुकारा, इसके बाद तीसरी बार पुकारा, और जब कोई ईश्वर आते नहीं दिखा तब महात्मा ने आग में छलांग लगा लिया और मिनटों में छटपटा कर जल मरे। यह घटना लगभग सन् १९७० की है।

विरही जीवों की दीनता

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जिवै, उठे कराहि कराहि॥७३॥

शब्दार्थ—औषध = स्वरूप-विचार। कराहि = पीड़ित।

भावार्थ—जिसको विरह का बाण लग गया है, अर्थात जो समझता है कि मेरा लक्ष्य मुझसे अलग है, उसको स्वरूप-विचार की औषधि नहीं लगती। वह तो अपने लक्ष्य को पाने के लिए सुबक-सुबककर रोता है, मूर्च्छित होता है, जागता है और अपने प्रियतम के वियोग की याद में बारम्बार कराह उठता है॥७३॥

व्याख्या—संसार में यह भ्रम पालने वाले अधिकतम लोग हैं कि परमात्मा से हम बिछुड़ गये हैं। इस वियोग का हम जितनी तीव्रता से अनुभव करेंगे परमात्मा उतनी ही जल्दी हमें दर्शन देगा। जो लोग ऐसे गहरे भ्रम में पड़े हैं उनके सामने यदि स्वरूप-विचार की बातें करो कि तुम्हारा परमात्मा तुमसे अलग नहीं है, तुम्हारा आपा तुमसे बिछुड़ ही नहीं सकता, तुम्हें बाहर से कुछ पाना नहीं है, तुम्हें केवल सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में लौट आना है, तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध अविनाशी चेतन हो, तुम वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, इत्यादि। तो यह औषध उनको नहीं लगती। वे तो परमात्मा को पाने के लिए रोने-पीटने में आनन्द मानते हैं।

लोग रोकर, गाकर तथा नाच-कूदकर ईश्वर को रिझाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। आज भी ईश्वर पाने के ऐसे सनकी हैं जो समझते हैं कि यदि हम ईश्वर के दर्शन के लिए हठपूर्वक पर्वत से कूद पड़ेंगे तो वह नीचे से मुझे अपनी गोद में उठा लेगा। और जब वे जोश में कूद पड़ते हैं तब उनके हाथ-पैर टूट जाने के अलावा कुछ नहीं होता।[1]

---

1. एक वैष्णव महात्मा राजस्थान, जिला बारां, तहसील किसनगंज के रामगढ़ पर्वत के बीच माला नाम की जगह में रहते थे। वे विरही भक्त थे, साथ-साथ भागवत-कथा भी कहते थे। वे भागवत में पढ़ते तथा कथा में भी कहते थे कि हृदय में बसने वाला आत्मा ही परमात्मा है, परंतु भागवत वर्णित ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं को भी सत्य मानते थे और उन्हें बड़े रस पूर्वक कहते थे।

   उन्हों[illegible] एक दिन भक्ति-भावना के जोश में सभा में घोषणा कर दी कि अगली अमुक तिथि को [illegible]दि ईश्वर मुझे दर्शन नहीं देगा तो मैं आग में कूद कर जल मरूंगा।

   उन्हों[illegible] निश्चित तिथि को दोपहर तक अपने श्रोताओं तथा दर्शनार्थियों को आश्रम से बिदा [illegible] दिया। उनके दो भक्त प्रह्लाद तथा श्रवण कुमार जो अधिक प्रेमी थे, हठपूर्वक आश्र[illegible] रह गये।

   [illegible] हुई [illegible] महात्मा ने पहले से ही इकट्ठी की हुई सूखी लकड़ियों के ढेर में आग लगा दी। [illegible] उन्होंने उच्च स्वर में पुकारा कि ईश्वर मुझे दर्शन दे, अन्यथा मैं इस आग में [illegible] रूं[illegible]। उनके दोनों भक्त हाथ जोड़कर उनसे विनय करते रहे कि महाराज! आप तो [illegible] यह भी कहते थे कि आत्मा ही परमात्मा है जो हृदय में है, फिर आप किस बाहरी ई[illegible] द[illegible]न का हठ करते हैं?

जिसका कोई कल्पित ईश्वर नहीं था, जिसका कोई अवतार या पैगम्बर नहीं था, जिसका कोई ईश्वरीय शास्त्र नहीं था तथा जिसका कोई मजहब नहीं था, वह निरपेक्ष कबीर अपनी कौन-सी बात संसार से जोर देकर मनवाना चाहेगा! उसे क्या पड़ी है जोर-जबर्दस्ती करने की! हां, उसने सारी भ्रांतियों को काटकर एवं धर्म और अध्यात्म पर छाये हुए सारे जालों को फाड़कर केवल सार-सत्य ग्रहण किया था और उस सार-सत्य को समाज के सामने साधिकार प्रदर्शित किया था और संसार के लोगों को ललकारा था कि तुम लोग भी मेरे सत्य-परिचायक वचनों का विचार करो, हार्दिक विचार करो, यदि सत्य लगता है तो उन्हें ग्रहणकर तुम लोग भी भ्रांतियों से मुक्त हो जाओ।

सद्गुरु कहते हैं "चित्तहु दै समझै नहीं" लोग चित्त देकर नहीं समझते। खरे निर्णयों पर ध्यान देकर उन्हें समझना नहीं चाहते, प्रत्युत अंधविश्वास की बातों में ही लीन रहते हैं। अन्ध-परम्परा एवं अन्धविश्वास की बातों में समझने की मेहनत नहीं रहती। वहां तो केवल मान लेने की बातें रहती हैं। "अन्धेनैव नियमाना यथान्धाः" उक्ति अनुसार वहां तो अन्धा अन्धे को चलाता है। वहां आंखों से देखकर चलना नहीं रहता, किन्तु अन्धों की भीड़ एक दूसरे को ठेलते हुए या एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चलती है। भावनावादी लोग ध्यान देकर समझने का परिश्रम नहीं करना चाहते। क्योंकि खरी बातों पर ध्यान देने से केवल भावना में मानी गयी बातें उड़ने लगती हैं और यह बात भावनावादियों को असह्य होती हैं। वे प्रकाश नहीं चाहते; क्योंकि प्रकाश में उनका अन्धकार समाप्त होने लगता है। ऐसे मताग्रही, पूर्वग्रही एवं परम्परा में चिपके हुए लोगों को सत्य का मोती नहीं मिल सकता।

"मोहिं कहत भैल जुग चार" सद्गुरु कहते हैं कि मुझे सत्य की बात कहते हुए चारों युग बीत गये। जो कबीर साहेब को अवतार मानते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में क्रमशः सत्सुकृत, मुनीन्द्र, करुणामय और कबीर नाम धराकर संसार में ज्ञान का प्रचार करने आते हैं, और वे जब आवश्यकता प्रतीत होती है तब संसार में आ जाते हैं, उनके लिए यहां अर्थ करना बड़ा सरल है। इस साखी से उन्हें अपनी मान्यता को फैलाने में सरलता मिलती है। परन्तु कबीर जैसे खरे पुरुष जिन्होंने सारे ढकोसलों एवं अवतारवाद का परदाफ़ाश किया है, स्वयं को अवतार बतायें यह संभव ही नहीं है। वस्तुतः "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ है। "मोहिं" केवल कबीर साहेब के व्यक्तित्त्व का वाचक नहीं है, किन्तु समस्त सत्यद्रष्टा गुरुजनों के लिए है और "जुग चार" का अर्थ कल्पित सत्युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का वाचक नहीं है, किन्तु समय की व्यापकता का वाचक है। अतएव "मोहिं कहत भैल जुग चार" का अर्थ होगा कि मेरे-जैसे लोगों ने सब समय सत्य बातें संसार के लोगों के सामने कहीं हैं। सत्य के द्रष्टा समय-समय पर होते आये हैं। परन्तु संसार के लोगों में से कम लोगों ने उनकी बातों पर ध्यान दिया है, अन्धविश्वास की बातों में ज्यादा लोग पड़े रहे।

इस पूरी साखी में सद्गुरु सत्य पर जोर डालते हैं। वे अगली साखी भी इसी क्रम में कहते हैं—

जीवन का सच्चा व्यापार

जो तू साँचा बाणिया, साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइके, कूरा दूरि बहाव ॥७५॥

शब्दार्थ—हाट = बाजार, सत्संग। अन्दर = अन्तःकरण।

भावार्थ—यदि तू सच्चे ज्ञान का व्यापारी है तो सत्संगरूपी सच्चा बाजार लगा। विवेक-विचाररूपी बुहारी से अंतःकरण को बुहारकर भ्रांति एवं विकाररूपी कचड़े को दूर फेंक दे ॥७५॥

व्याख्या—मनुष्य को सच्चा व्यापारी होना चाहिए। व्यापार का अच्छा तरीका यह है कि सुबह पहले दुकान को झाड़ू से बुहारकर सारे कूड़े-कचड़े को दूर फेंक दे। उसके बाद दुकान में सच्चा माल लगाकर उसे उचित दाम पर बेचे। तुम स्वयं किसी से धोखा नहीं खाना चाहते हो, इसलिए तुम भी किसी को धोखा न दो। किसी वस्तु में मिलावट न करो। माल अच्छा रखो। यदि दोयम-माल है तो उसे ग्राहक को बता दो कि दोयम-माल है और उसी प्रकार उसका कम दाम लगाओ। किसी प्रकार से किसी ग्राहक को धोखा न दो। ग्राहकों को देवी-देवता समझो। उन्हें सत्कारपूर्वक उचित दाम पर माल दो। जहां तुम्हें माल खरीदना हो, वहां तुम भी सच्चा माल खरीदो।

तुम्हारा यह जीवन भी एक व्यापार है और कहना चाहिए कि यही सच्चा व्यापार है। यदि कोई दस हजार रुपये लेकर व्यापार शुरू करता है और दो महीने में उसके पास आठ ही हजार रह जायं, चार महीने में छह हजार, आठ महीने में चार हजार, इस प्रकार मुनाफा तो उसे कुछ मिले न, बल्कि जमा धन भी खोता जाय और अन्त में सब रुपये समाप्त हो जायं, तो यह व्यापार सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार मनुष्य जितना प्रसन्न बचपन में रहता है, जवानी में नहीं, जवानी में जितना प्रसन्न रहता है उतना परिपक्वावस्था में नहीं और बुढ़ापा तक तो उसकी प्रसन्नता पर दीवाला पिट जाता है। बाहर के व्यापार में तो बहुत लोग सफल देखे जाते हैं, परन्तु जीवन के व्यापार में अधिकतम लोगों का दीवाला पिटना ही देखा जाता है। व्यापार वह सफल माना जायगा कि जितने रुपये लेकर व्यापार शुरू किया गया है दिन-प्रतिदिन उस धन में बढ़ोत्तरी होती जाय। इसी प्रकार जीवन-व्यापार उसी का सफल है जिसके जीवन में दिन-प्रतिदिन मानसिक प्रसन्नता, खुशी, आनन्द, निर्भयता आदि बढ़ते जायं। यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने जीवन में सच्चे माल की खरीद-बेची करने वाला हो।

सच्चे ज्ञान तथा अच्छे कर्मों का संग्रह ही जीवन का सच्चा व्यापार है। सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, जो तर्कयुत, युक्तियुत और विवेकसम्मत है तथा जिसमें कारण-कार्य-व्यवस्था के हस्ताक्षर हैं। अन्ततः सभी ज्ञानों का पर्यवसान स्व-स्वरूपज्ञान है। जिसने अपने आपा की पहचान नहीं की उसका बाहरी सारा ज्ञान थोथा है। दूसरा है अच्छे कर्मों का संग्रह। अपने इन्द्रिय तथा मन का संयम और दूसरे प्राणियों के साथ सहानुभूति का बरताव, यही अच्छे कर्म हैं। सच्चे ज्ञान से बौद्धिक संतोष मिलता है और अच्छे कर्मों से दिल को संतोष मिलता है। जिसके दिमाग तथा दिल दोनों संतुष्ट हैं उसी का जीवन-व्यापार सच्चा है।

सद्गुरु इसके लिए बताते हैं कि विवेक-विचार के झाड़ू लेकर अन्तःकरण के कूड़े-कचड़े सदैव बुहारते रहो। सुबह आंगन या घर बुहारने के बाद शाम को पुनः बुहारना पड़ता है। तुम जब अपने घर तथा आंगन बुहारते हो तब उनमें कुछ-न-कुछ कचड़ा निकलता है। इसी प्रकार अपने अन्तःकरण पर ध्यान रखो। इसमें कुछ-न-कुछ मनोविकार के कचड़े आते रहने की संभावना रहती है। अतएव जीवन के सच्चे व्यापारी का यह परम कर्तव्य है कि वह विवेक-विचार के झाड़ू लेकर सब समय अपने अन्तःकरण को बुहारता रहे और उसके कचड़े को दूर फेंकता रहे। हवा से तथा रात-दिन के व्यवहार से घर-आंगन में कचड़े आते रहते हैं। इसी प्रकार अपने मन की कमजोरियों से तथा बाहरी प्राणी-पदार्थों के सम्बन्ध से अन्तःकरण में विकार आने की सम्भावना रहती है। अतएव साधक को सतत सावधान रहना चाहिए। अधिक प्राणी-पदार्थों के व्यवहार से बचना चाहिए, और जितने प्राणी-पदार्थों का व्यवहार लेना पड़े उनमें सावधान रहना चाहिए।

जैसे व्यापार में कई गलत माल के व्यापार होते हैं, वैसे धार्मिक क्षेत्र में कितने गुरु-चेले ज्ञान-भक्ति के नाम पर अन्धविश्वास, चमत्कार, मिथ्या महिमा का ही आश्रय पकड़े हुए जीवन बिताते हैं। वे कर्मों का ज्यादा न सुधारकर पूजा-पाठ, जप-स्नान, तीर्थ-व्रतादि तक ही सीमित रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम्हें जीवन में सच्चा सुख, सच्ची शांति चाहिए तो तुम सच्चे अध्यात्म-पथ के व्यापारी बनो, सदैव मन को साफ रखो और सच्चे ज्ञान तथा पवित्र आचरण में निष्ठ रहो।

बुराइयों से बचने के लिए पांडित्य नहीं, सरल हृदय चाहिए

कोठी तो है काठ की, ढिग-ढिग दीन्हीं आग।
पण्डित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग ॥७६॥

शब्दार्थ—कोठी = मकान, शरीर, संसार। काठ = लकड़ी, जड़। आग = विषय-वासना, काम-क्रोध-लोभादि। झोली = राख। साकट = निगुरा, अशिक्षित।

भावार्थ—लकड़ी का मकान हो, उसमें जगह-जगह आग सुलगा दी गयी हो और उसमें जोरों से आग लग गयी हो। उसमें पंडित तथा अशिक्षित दोनों रहते हों। तुम्हें आश्चर्य होगा कि पंडित तो जलकर राख हो गये और अशिक्षित भागकर बच गये। यह शरीर तथा संसार काठ की कोठी है। इसमें विषय-वासना एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी आग जगह-जगह लगी है। पंडित, विद्वान एवं शिक्षित कहलाने वाले लोग अपने ज्ञान के मद में पड़कर इस आग में जलकर मरते हैं और सरल-हृदय अशिक्षित लोग इससे भागकर बच जाते हैं॥७६॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपने सारे विचार प्रायः रूपकों एवं अलंकारों में कहते हैं। यहां शरीर तथा संसार के लिए काठ की कोठी का रूपक है तथा कामादि विकारों के लिए आग का रूपक है। यह साखी की पहली पंक्ति का विषय है। काठ की कोठी में जगह-जगह आग का जलाना खतरे से खाली नहीं है। इस जड़-शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय के साथ विषयों के संस्कार हैं। मन विषय वासनाओं से संस्कारित ही है। कहना चाहिए कि

मनुष्य के रोम-रोम में विषय-वासनाएं भीनी हैं। बाहर भी जगह-जगह विषय-वासनाओं को उत्तेजना देने वाले शब्द, दृश्य आदि का बाजार गरम है। जीव ऐसे शरीर एवं संसार में रह रहा है, जहां सर्वत्र विषयों का बाजार लगा है। लोग काम, क्रोध, मोहादि की आग में जल रहे हैं।

"पंडित जरि झोली भये, साकट उबरे भाग" सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में पण्डित भी हैं और अशिक्षित भी हैं, किन्तु पंडित तथा विद्वान लोग प्रायः अपने वाचिक एवं बौद्धिक ज्ञान की लफ्फ़ड़बाज़ी में पड़कर वासनाओं तथा बुराइयों में जलकर मरते हैं और अशिक्षितों में कई सरल हृदय होने से संतों के विचार सुन तथा धारणकर बुराइयों की आग से भागकर बच जाते हैं।

सभी विद्वान तथा पंडित विपथगामी हों और सभी अशिक्षित सुपथगामी हों यह नियम नहीं है। सद्गुरु ने संसार की बहुतायत ऐसी दशा देखकर यह बात कही है। ज्यादातर पंडित और विद्वान लोग जीवनभर चिकनी-चुपड़ी बातें ही बनाते रह जाते हैं। वे अपने ज्ञान का प्रयोग प्रायः दूसरों को प्रभावित करने के लिए करते हैं या अपने दोषों को ढाकने के लिए। वे मसालची की तरह दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं प्रायः अंधकार में रहते हैं। घोट-छानकर तथा बोतल चढ़ाकर आज-कल विद्वान लोग अच्छी-अच्छी कविताएं लिखते हैं, मंच पर कविता पाठ करते हैं, अच्छे-अच्छे लेख लिखते हैं तथा सभा में स्पीच देते हैं। वे विचार देने में, वक्तव्य देने में बहुत माहिर होते हैं, परन्तु उन्हें सदाचरण से कोई मतलब नहीं होता। परन्तु प्रायः अशिक्षित तथा सीधे-साधे लोग थोड़े ज्ञान को पकड़कर उसका आचरण करने लग जाते हैं और वे अपने जीवन का कल्याण कर लेते हैं।

इस साखी का सार यह है कि इन विषय-वासनाओं एवं बुराइयों की आग से कोई केवल पांडित्य-प्रदर्शन-द्वारा नहीं बच सकता। इसके लिए सरल हृदय होना चाहिए। गुरु-संतों के सामने अपने पांडित्य का प्रदर्शन छोड़कर भोला-भाला बन जाना चाहिए, तभी जीवन में कुछ प्राप्त हो सकता है। केवल बुद्धिमानी दिखाने एवं वाक्यबरबरता से मन और इन्द्रियां स्ववश नहीं होते। इसके लिए भक्त, साधक और सरल हृदय बनकर साधना करना पड़ता है।

यथार्थ सद्गुरु विरले हैं

सावन केरा सेहरा, बुन्द परा असमान।
सारी दुनियाँ वैष्णव भई, गुरु नहिं लागा कान॥७७॥

शब्दार्थ—सेहरा = माला, मेघमाला, वर्षात की झड़ी। वैष्णव = भक्त।

भावार्थ—जैसे सावन महीने में वर्षा की झड़ी लग जाती है और आकाश से मेघमालाओं-द्वारा घनाकौर जलबूंदें पृथ्वी पर गिरती हैं, वैसे संसार में गुरुओं के अपार दल हो गये हैं और उन्होंने वर्षा-बुन्दवत गुरु-मन्त्रों की झड़ी लगा दी है। इसमें संसार के प्रायः

सारे लोग भक्त तो हो गये हैं, परन्तु सच्चे गुरु इनके कानों में सत्योपदेश नहीं दि अर्थात इन्हें सच्चे गुरु नहीं मिले ॥७७॥

व्याख्या—श्रावण की रिमझिम बारिश में सारा भू-क्षेत्र पानी से तरबतर हो जाता है इसी प्रकार विविध गुरुओं के उपदेशों से संसार के लोग दीक्षित हो जाते हैं। किसी गु द्वारा मन्त्र दीक्षा पाकर दीक्षित हो जाना, वैष्णव एवं भक्त हो जाना एक अलग बात किन्तु सच्चे गुरु की शरण पाकर उनके सत्योपदेशों से सारी भ्रांतियों का कट जा बिलकुल अलग बात है। कबीर देव कहते हैं कि सारी दुनिया के लोग भक्त तो हो ग परन्तु क्या उन सबको सच्चे गुरु मिले हैं! "गुरुवा तो सस्ते भये, कौड़ी अर्थ पचा अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आश।"[1] ऐसे गुरुओं से शिष्यों का व कल्याण नहीं होने वाला है। "गुरु तो ऐसा चाहिए, ज्यों सिकलीगर होय। जन्म जन्म मूरचा, गुरु पल में डारे खोय॥"[2]

यथार्थ सद्गुरु वह है जो जड़-चेतन की वास्तविकता का ज्ञाता है, विषय-विकारों मुक्त और स्वरूपज्ञान की स्थिति में रमने वाला है। वह स्वयं निर्बंध है और शिष्यों निर्बंधता का रास्ता बतलाता है। जिसके जीवन से, वाणी से, संगत से, यहां तक कि र से आध्यात्मिकता का प्रकाश मिले, वह सद्गुरु है। सद्गुरु वह व्यक्तित्त्व है जिस आध्यात्मिकता का रस निरन्तर टपकता है। यह भी सच है कि हमारे में भी यह क्षम होना चाहिए कि हम उसे पहचान सकें। किन्तु यह तथ्य है कि यदि ऐसा पूर्ण सद्‌ मिल जाय और शिष्य में पात्रत्व है, उसे आध्यात्मिक भूख है तो यह निश्चित है कि कृतार्थ हो जायेगा। सूरज चकमक में आग उत्पन्न करता है, इसी प्रकार यथार्थ सद्गुरु ज्ञान सत्पात्र में फलित होता है।

उठो जागो

ढिग बूड़ा उतरा नहीं, याहि अँदेशा मोहिं।
सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं॥७८॥

शब्दार्थ—ढिग = पास में। अँदेशा = अंदेशा, सोच, चिंता, शक, खतरा। सलिल पानी।

भावार्थ—कल्याण के अत्यंत सन्निकट नर-शरीर ही में जीव डूब गया, अथवा अप पास अन्तःकरण के ही संशय-समुद्र में डूब गया और पुनः उतराया नहीं। मुझे यही सं है कि मोह की जल-धारा में तुम्हें कैसे नींद आ गयी! ॥७८॥

व्याख्या—इस साखी में 'ढिग' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। कोई मनुष्य दूर-दरा जाकर किसी नदी में डूब जाय तो अलग बात है। परन्तु रहने के निवास के पास में डूब जाय जहां सब प्रकार बचने के साधन हैं तो यह चिंता का विषय हो जाता है।

१. पंचग्रंथी, मानुष विचार, मसला ४।
२. पंचग्रंथी, मानुष विचार, साखी २९।

जीव पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि खानियों में रहकर यदि पशुत्व एवं मूढ़तापूर्ण कर्मों में लीन रहता है तो यह स्वाभाविक लगता है; क्योंकि वहां विवेक नहीं है। परन्तु विवेक-सम्पन्न मानव-शरीर में आकर यदि जीव पशुत्व कर्मों में डूबकर अपने आप को खोता है तो यह विवेकियों के लिए चिंता का विषय है। यह मानव-शरीर कल्याण के निकट है। यहां जीव के उद्धार के लिए सत्संग, सद्ग्रन्थ, सद्विचारादि सब प्रकार के साधन हैं। किन्तु आश्चर्य है कि जीव इतनी योग्यता पाकर भी आत्म-कल्याण का काम न कर भव-बंधनों का काम करता है। जहां से वह तर सकता है, वहीं डूब रहा है।

'ढिग' का अभिप्राय अन्तःकरण भी है। जीव के सर्वाधिक निकट उसका अन्तःकरण है, उसके बाद इन्द्रियां, शरीर, फिर संसार के अन्य क्षेत्र हैं। अतः जीव का सबसे पास उसका अन्तःकरण एवं दिल है। जीव हर समय अपने अन्तःकरण के संशय-समुद्र एवं वासना-सागर में डूबता रहता है। तरने की जगह अन्तःकरण एवं दिल ही है। जब मनुष्य अपने मन के सागर से ऊपर उठ जाता है तभी वह कृतार्थ होता है। परन्तु खेद है कि वह मन के वासना-सागर में ही सदैव डूबा रहता है।

'ढिग बूड़ा'' को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति नदी का बड़ा पाट तैरते-तैरते घाट के पास आ गया हो, और वहीं डूब जाय, वैसे कोई भक्त, साधक या साधु हो, वह लम्बे समय से साधना करते हुए अपनी बहुत-सी कमजोरियों को दूर करता हुआ कल्याण के निकट पहुंच गया हो और इसके बाद वह कुसंग-प्रेमी बनकर अपना पतन कर ले, तो यह सोचनीय स्थिति है।

मान लो कोई डूब गया तो डूब गया, परन्तु समय रहते हुए यदि ''उतरा नहीं'' तो ''याहि अँदेशा मोहिं'' होना स्वाभाविक है। फिसलनभरी नदी में पैर का फिसल जाना कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु उससे निकलने का प्रयास ही नहीं करना गलत है। नदी में तो गिरकर असमर्थता भी हो सकती है कि आदमी न निकल सके। परन्तु जीवन की फिसलन में ऐसी बात नहीं है। माना कि जीवन फिसलन से भरा है; परन्तु मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह अपने आप को सभी फिसलनों से एकदम बचा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि चिंता का एक विषय तो यह है कि कल्याण के निकट आकर पुनः संसार-सागर में डूब जाना, और चिन्ता का दूसरा विषय है कि डूब गये तो डूब गये, परन्तु निकलने के लिए पुनः प्रयास ही न करना। किसी ने कितना अच्छा कहा है—''गिरते हैं शहसवार[१] ही, मैदाने जंग में। वे तिफ्ल[२] क्या गिरेंगे, जो घुटनों के बल चलें।।'' अर्थात युद्ध क्षेत्र में कुशल घुड़सवार ही समय से गिर भी सकता है। वे बालक क्या गिरेंगे जो घुटनों के बल पर चलते हैं। जो चलता है वह गिर भी सकता है और जो बैठा है वह क्या गिरेगा! यदि कहीं कुछ गड़बड़ हो रहा है तो इसका अर्थ है कि वहां कुछ घटना घट रही है, वहां कुछ गतिविधि है, कुछ हलचल है। मुरदा क्या अपराध करेगा, अपराध जिंदा आदमी से ही हो सकता है, और वही कुछ मंगल का काम भी कर सकता है। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते

---

१. 'शहसवार' का अर्थ है कुशल घुड़सवार।

२. 'तिफ्ल' कहते हैं बालक को।

हैं कि सबसे ज्यादा अंदेशा और चिंता तो इस बात की है कि आदमी एक बार डूबकर फिर उतराया नहीं। उससे एक बार या कई बार भी गलती हो गयी तो हो गयी। उसे पुनः अपने आप को गलतियों से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

पानी में डूबा हुआ आदमी पुनः उतराया नहीं, तो कबीर साहेब ने वहां जाकर उससे प्रश्न किया "सलिल मोह की धार में, क्या नींदरि आई तोहिं?" अरे, क्या पानी की धारा में तुझे मोह की नींद आ गयी है? क्या तूने डूबना ही आनन्द मान लिया है? हमारी दशा यही है। हमने मोह की धारा में नींद लेना ही अच्छा मान लिया है। एक बार थोड़ा फिसल गये, तो आदमी सोचता है कि अब तो फिसल ही गये, अब तो जीवनभर कीचड़ में ही पड़े रहना है। अब उठना नहीं है कीचड़ में से।

लोगों की यह दुर्बलता देखकर कबीर साहेब को चिंता है। ऐसी चिंता भी होती है उसे ही जो ज्यादा संवेदनशील हो, सब समझता हो और करुणाशील हो। उन्हें लोगों के पतन पर करुणा है। परन्तु उनकी चिंता का उपयोग हमें करना चाहिए। हमें फिसलकर कीचड़ में पड़े नहीं रहना चाहिए। हमें कीचड़ में ही नींद नहीं लेना चाहिए। हमें जागना चाहिए।

कथनी से अधिक करनी तथा रहनी की आवश्यकता है

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय ॥७९॥

शब्दार्थ—साखी = दोहा छंद, साक्षी चेतन। चाल = आचरण, रहनी। सलिल = पानी, वासना। पाँव = धैर्य।

भावार्थ—लोग साखी-शब्द या ज्ञान के वचन कहते हैं अथवा मैं साक्षी स्वरूप चेतन हूं, यह कहते हैं, परन्तु इनके भाव हृदय में ग्रहण नहीं करते और इन भावों के अनुसार आचरण नहीं करते। नदी में पानी की जोरदार धारा बहती है, फिर वहां पैर कहां ठहरे, अर्थात अन्तःकरण में वासनाओं का जोर है फिर उसमें धैर्य कहां रहे! ॥७९॥

व्याख्या—साखी दोहा छंद है जिसकी दोनों पंक्तियों में शुरू-शुरू में तेरह-तेरह तथा अन्त-अन्त में ग्यारह मात्राएं होती हैं। इसे लोगों ने दोहा कहा है और कबीर साहेब ने साखी कही है। साखी का अर्थ गवाह भी होता है जो किसी विवाद का प्रत्यक्षदर्शी होता है। उसी की कही हुई बातों का प्रमाण मानकर विवाद सुलझाया जाता है। साखी का तीसरा आध्यात्मिक अर्थ है साक्षी चेतन। सबके भीतर मैं के रूप में साक्षी चेतन निवास करता है। मैं साक्षी-देखनेवाला-द्रष्टा हूं।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग साखी, शब्द एवं ज्ञान के वचन तो कहते हैं, परन्तु उनके भाव हृदय में ग्रहण करना बड़ा कठिन मानते हैं फिर उन्हें आचरण में लाना और कठिन मानते हैं। तो ऐसी कमजोरी रखकर कोई ज्ञान की चर्चा मात्र से क्या कल्याण कर सकता है! कबीर साहेब संसार में लम्बे समय तक रहे हैं। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की उम्र में अपना शरीर छोड़ा है। अतः इतनी लम्बी अवधि में उन्होंने अपने अनुयायियों में से

ही अनेकों को देखा होगा कि साखी-शब्द तो खूब रट रहे हैं, परन्तु न उनके भाव को समझना चाहते हैं और न उसके अनुसार रहनी में चलना चाहते हैं। सब समय ऐसे लोग रहे हैं और आज भी हैं जो साखी-शब्दों, दोहा-चौपाइयों, मन्त्र-श्लोकों, इतिहास-पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के वचनों के धनी हैं। वे बहुत जानते हैं, बहुत बोलते हैं और निचोड़कर सार कह देते हैं, परन्तु उन बातों का वे अपने जीवन में आचरण नहीं करते। महात्मा बुद्ध ने ऐसे लोगों को दूसरे की गायें गिनने वाला बताया है, जिनसे उन्हें दूध एक कुल्ला भी नहीं मिलता है। कोई वचनों से लाख-करोड़ रुपये गिनता रहे और हाथ में एक कौड़ी भी न हो तो क्या लाभ!

साखी का आध्यात्मिक अर्थ साक्षी चेतन है। यदि कोई यह कहे कि मैं साक्षी चेतन हूं, परन्तु वह विषय-वासनाओं में बहता हो तो उसका यह प्रदर्शन मात्र हुआ। साक्षी-भाव के ग्रहण का अर्थ होता है तटस्थ एवं उदासीन होकर देखना, बहना नहीं। जैसे कोई नदी के तट पर बैठा हुआ आदमी नदी की धारा को एवं उसकी तरंग-मालाओं को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं, वैसे ज्ञानी-पुरुष साक्षी-भाव से संसार को केवल देखता है, उसमें बहता नहीं। साक्षी एवं गवाह की विशेषता है निष्पक्ष होना। इसी प्रकार साक्षीभाव की विशेषता है अनासक्त होना। जब तक शरीर है तब तक तो यह हो नहीं सकता कि वह कुछ देखे-सुने ही नहीं। देखना, सुनना, जानना देहधारी का स्वभाव है। ज्ञानी जीवनभर साक्षी-भाव वाला होता है। वह देखता और जानता है, परन्तु कहीं पर भी आसक्त नहीं होता। यह साक्षी-भाव जीवन की सर्वोच्च्य रहनी है।

कोई व्यक्ति पुस्तकों एवं संतों के प्रवचनों से जानकर कहने लग जाय कि मैं साक्षी मात्र चेतन हूं परन्तु इसके साथ वह नाना व्यसनों तथा काम, क्रोधादि में बहता हो तो यह वचनमात्र का साक्षी-कथन न उसके हृदय को सन्तोष दे सकेगा और न दूसरे के हृदय को। "साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय" सद्गुरु की यह बहुत बड़ी मार है वाचिक ज्ञानियों पर। ऐसे जबर्दस्त चांटे से भी यदि हम नहीं चेतेंगे तो कब चेतेंगे!

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" नदी में बहुत जोरों की धारा बहती हो तो उसमें पैर कहां ठहर सकते हैं! मनुष्य का हृदय भयंकर नदी है। उसमें इच्छा-वासनाओं एवं भोग-इच्छाओं की प्रबल धारा बहती है। इसलिए आदमी धैर्य नहीं रख पाता और बारम्बार उसमें बह जाता है। फिर तो साखी-शब्द एवं ज्ञान की बातें केवल वचनों में धरी रह जाती हैं। बहुत-सी वाणियों के याद होने तथा उनके अर्थ जान लेने मात्र से कोई मन की धारा से नहीं बच सकता। इसके लिए तो ज्ञान की थोड़ी बात भी हो, उसकी बारंबार मन में भावना करने से तथा उसके अनुसार जीवन में आचरण करने से साधक मन की धारा से बच सकता है। यदि साधक अपनी कमजोरियों के लिए ग्लानि न करे, उन्हें जीतने के लिए प्रतिज्ञा तथा मन में अविचल धारणा न बनाये, कुसंग से दूर रहकर तथा सत्संग का बल लेकर ज्ञान का अभ्यास न करे, तो कंठ की हुई वाणी कुछ नहीं कर सकती।

"सलिल धार नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय।" इस वचन से किसी साधक को साहसहीन नहीं होना चाहिए। आखिर आदमी प्राप्त-ज्ञान के अनुसार आचरण क्यों नहीं

बना पाता? इसमें एक ही कारण है, भोगों की आसक्ति। यह तथ्य है तो इसकी ओर इशारा न करना, खतरे से सावधान न करना ठीक नहीं है। परन्तु यह समझना चाहिए कि मन में विषय-वासनाओं का जोर केवल अज्ञान से है, असावधानी से है। जो प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय में विवेक जाग्रत करेगा, गलत संकल्पों से सावधान रहकर साक्षी-भाव से रहेगा, उसके लिए विषय-वासनाएं कुछ नहीं हैं। विषय-वासनाएं स्मरण मात्र हैं। उनका स्मरण न करने से चित्त शुद्ध एवं ज्ञान-वैराग्य में सबल हो जाता है। अतएव साधक को प्राप्तज्ञान के अनुसार आचरण करना चाहिए। उसे साक्षी-भाव से रहना चाहिए और मन को विषय-चिन्तन से हटाकर रचनात्मक कार्य एवं स्वरूपज्ञान में लगाना चाहिए।

कहन्ता तो बहुते मिला, गहन्ता मिला न कोय।
सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय॥८०॥

शब्दार्थ—कहन्ता = कहने वाला। गहन्ता = ग्रहण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञान का कथन करने वाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसका भाव एवं आचरण ग्रहण करने वाले बहुत कम मिलते हैं। जो ज्ञान का भाव एवं आचरण नहीं ग्रहण करता, उसे भटकने दो, उसके पीछे मत लगो॥८०॥

व्याख्या—ज्ञान की कथा करने वाले, प्रवचन देकर दूसरों को सुनाने वाले तथा अच्छी-अच्छी सीख देकर दूसरों को समझाने वाले लोग बहुत मिलते हैं; परन्तु उन्हीं सब बातों का स्वयं आचरण धारण करने वाले लोग कम मिलते हैं। यहां सद्गुरु ने कहा है "गहन्ता मिला न कोय" इस कथन को ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि आचरण करने वाला उन्हें कोई मिला ही नहीं। परन्तु सार अर्थ यह नहीं है। जैसे किसी ने किसी को चार-छह बार किसी विषय में समझाया और उसने उस सीख पर ध्यान नहीं दिया, तो समझाने वाले ने समय आने पर किसी से कहा कि भैया, उन्हें तो मैंने हजार बार समझाया, परन्तु उन्होंने मेरी बातें नहीं मानीं। वस्तुतः समझाने वाले ने चार-छह बार ही समझाया; परन्तु उसे हजार बार कहकर उसने एक मुहावरे का प्रयोग कर दिया जो व्यंग्य लेकर होता है। उसी प्रकार यहां "गहन्ता मिला न कोय" एक व्यंग्यात्मक मुहावरा बन गया है। इसका सार अर्थ यही है कि आचरण करने वाले कम लोग मिलते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "सो कहन्ता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय" जो आचरण नहीं धारण करता, जो केवल कथक्कड़ी है, ऐसे लोगों को भटकने दो। ऐसे लोगों के पीछे न लगो। जो केवल वचनों का धनी है, यदि उसके प्रलोभन में पड़ोगे कि वह तुम्हारा उद्धार कर देगा, तो समझ लो कि वह तुम्हें डुबायेगा। चाहे व्यवहार का क्षेत्र हो चाहे परमार्थ का, जो आचरणरहित केवल बातूनी है वह धोखा देने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। व्यावहारिक क्षेत्र में जो तुम्हें लंबी-लंबी दिलासाएं देता है, समझ लो कि उसे तुम्हारा कोई सहयोग नहीं करना है। जो सहयोग करना चाहता है वह लंबी दिलासाएं नहीं दे सकता। उसे अपनी बातों को आचरणों में उतारना है इसलिए वह बहुत सम्भालकर बोलेगा और जिसे कुछ नहीं करना है वह वचनों से तुम्हें सब कुछ देने के लिए तैयार हो जायेगा। यही बात परमार्थ क्षेत्र में है। जो रहनी-रहित है वह फट-फट बोलता रहता है और जो

रहनीसंपन्न है वह विचारपूर्वक बोलता है, और जो कुछ बोलता है वह गंभीरतापूर्ण रहता है। इसलिए सद्गुरु ने ७०वीं रमैनी में कहा है "कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा होय विचार ले बोलै॥"

आचरणरहित ज्ञान कागज के फूल के समान हैं जो देखने में सुन्दर हैं, परन्तु उनमें फूल का कोई गुण नहीं है। महाभारत में राजा युधिष्ठिर मानो कबीर साहेब की ही भाषा में बोलते हुए कहते हैं "पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो आचरणसंपन्न है वही पंडित है।" मूल वचन इस प्रकार है—

पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ महाभारत, वनपर्व, ३१३/११०

गुरुजनों से वार्ता कैसे करें

एक-एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय।
दोय मुख का बोलना, घना तमाचा खाय॥८१॥

शब्दार्थ—निरुवारिये = निर्णय कीजिये, सुलझाइए। घना = बहुत कठिन। तमाचा = चपत।

भावार्थ—सत्संग में एक-एक बात का निर्णय करो। जिसका निर्णय हो जाय उसका यथायोग्य ग्रहण या त्याग करो। जो दो-मुखी बातें करता है, वह कठोर चपत खाता है॥८१॥

व्याख्या—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सत्संग में इसलिए पहुंचते हैं कि हम संत-मंडली के मुख्य संत को हरा दें और समाज में अपना वर्चस्व कायम कर दें। वे कोई प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर हो नहीं पायेगा, उसी में एक-दो प्रश्न और कर देंगे। मुख्य विषय के विपरीत बात उठा देंगे। वे कुछ दाहिने चलेंगे तो कुछ बायें। कबीर साहेब को भी ऐसे लोग अनेक बार मिले होंगे। मानो उन्होंने किसी ऐसे ही दो-मुंहे आदमी को लक्ष्य लेकर उक्त साखी कही हो। कोई ऐसा व्यक्ति आया हो जो केवल अपनी विजय के चक्कर में पड़कर प्रश्न-पर-प्रश्न और विरोधी प्रश्न करता गया हो, तो मानो सद्गुरु ने कहा हो, देखो भाई, एक-एक बात को सुलझाओ। दो-मुंही बातें मत करो। दो-मुंही बातें करोगे तो चांटे खाओगे। क्या कबीर साहेब किसी को चांटे मारते थे! वस्तुतः जो ऐसी प्रवृत्ति का आदमी होता है उसे स्वयं में चांटे मिल जाते हैं। कारण-कार्य-व्यवस्था का सर्वत्र जाल फैला है। जो व्यक्ति अपना मन इतना चंचल और खराब रखेगा कि संतों के पास जाकर उनसे विनम्रता, निश्छलता एवं सेवापूर्वक कुछ प्राप्त करने की जगह पर उनको हराने के चक्कर में रहेगा, उसका व्यक्तित्व अपने आप गिर जायेगा।

जिज्ञासु को चाहिए कि वह किन्हीं संत के पास जाये तो विनम्रतापूर्वक उनका अभिवादन करे। इसके बाद वहां की मर्यादा के अनुसार तथा वहां के लोगों के निर्देशानुसार शिष्टतापूर्वक आसन ग्रहण करे। कहीं जाकर यथासंभव पीछे और नीचे बैठने

का प्रयत्न रखे। संत पुरुष जो कुछ उपदेश दें उन्हें श्रवणकर जो काम की वस्तु हो उसे ग्रहण करे। यदि उनसे प्रश्न करना है तो उनकी आज्ञा लेकर विनय-भाव से निश्छलतापूर्वक प्रश्न करे। एक प्रश्न के सुलझ जाने पर यदि अवसर हो तो अन्य प्रश्न करे। प्रश्नोत्तर में हठ, पक्षपात, वाक्यप्रदर्शन एवं विवाद न कर सभ्यतापूर्वक बातों को समझे और समझाये। जितनी बातें समझ में आ जावें उनमें से जो ग्रहण करने योग्य हों उन्हें ग्रहण करे और जो त्यागने योग्य हो उनका त्याग करे। जहां परस्पर मतभेद हो ऐसी बातों को न छेड़े। यदि परस्पर में प्रेम एवं विश्वसनीयता हो तो मतभेद की बातों पर भी चर्चा की जा सकती है। परन्तु यदि उस विषय में दोनों व्यक्ति अपने-अपने विचारों में दृढ़ हैं तो उन पर बात करने का कोई फल नहीं है। जो सिद्धांततः मतभेद हैं उन पर चर्चा करने से कभी कोई हल नहीं होता। यदि सावधान न रहे तो केवल कटुता बढ़ती है। सैद्धांतिक मतभेद को लेकर जब कहीं दो पक्ष के लोग बातें करते हैं, तब प्रायः यही होता है कि दूसरे की बातों पर ध्यान न देकर केवल अपनी बातें कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में श्रम दोनों तरफ से होता है और लाभ किसी का नहीं होता। इसलिए दार्शनिक सिद्धांतों के मतभेद को लेकर बात उठाने की आवश्यकता ही नहीं है। यह तो जब एक गुरुस्थानीय हो और दूसरा जिज्ञासु तब दार्शनिक बातों को समझने-समझाने की बात उठती है। दो परिपक्व विचारों वाले लोगों को इस दिशा में मौन रहना ही परस्पर मैत्री के बने रहने का कारण हो सकता है। दो व्यक्तियों के मिलन का फल होना चाहिए कि दोनों दोनों से कुछ सत्प्रेरणा लें। यदि वे परस्पर सत्प्रेरणा न ले सकें तो मिलना निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो जाता है।

वाणी पर संयम करो

जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।
पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार॥८२॥

शब्दार्थ—बन्द दे = संयम करो। निरुवार = त्याग करो। पारखी = सत्य-असत्य के परीक्षक, निष्पक्ष द्रष्टा। गुरुमुख = निर्णय वचन।

भावार्थ—अनावश्यक बोलना छोड़कर वाणी पर संयम करो, सारासार के निष्पक्ष पारखी संतों की संगत करो और निर्णय वचनों पर विचार करो॥८२॥

व्याख्या—इस साखी में मुख्य तीन बातें बतायी गयी हैं, (१) बहुत बोलना त्यागकर वाणी का संयम करना, (२) पारखी की संगत करना तथा (३) गुरुमुख वचनों पर विचार करना।

(१) "जिभ्या केरे बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।" इसकी महती आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं कि वाणी को बन्द कर दो और बहुत बोलना छोड़ दो। जो व्यक्ति बहुत बोलता है उसका व्यक्तित्व हलका हो जाता है। बहुत बोलने वाले पर लोग विश्वास नहीं करते। जो ज्यादा बोलेगा उसे झूठ बोलना ही पड़ेगा। ज्यादा बोले और झूठ न बोले यह संभव ही नहीं है। ज्यादा बोलने वाला झूठ ही नहीं बोलता, किन्तु निरर्थक, अश्लील,

कटु, मजाक, मर्मांतक व्यंग्य एवं दूसरों को पीड़ा देने वाले अन्य प्रकार के भी वचन बोलता है। ज्यादा बोलने से कुछ ऐसी बातें समय से निकल आती हैं जिससे बेवजह झगड़ा खड़ा हो जाता है। बहुत बोलने वालों से लोग न मित्रता करना चाहते हैं और न व्यवहार रखना चाहते हैं। कितने लोगों का मुंह इतना चरचराया रहता है कि वे किसी से मिलते ही बोलना शुरू करते हैं और कहां बन्द करना चाहिए यह नहीं जानते। ऐसे लोग अगले आदमी का दिमाग चाट लेते हैं। ऐसे लोग संतों से मिलने पर भी अपनी ही हांकते जाते हैं। वे जब तक उनके पास बैठे रहेंगे बे-सिर-पैर की बातें करते रहेंगे और जब उठकर चलेंगे तब संत जी से कहेंगे कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया। वास्तव में उन्हें कोई श्रोता न मिला होगा, इसलिए वे संत को ही बैठे-ठाले देखकर वहीं झख मारने आ गये, और झख मार लिये, दिल का गुब्बार कुछ समय के लिए निकल गया तो उन्हें आनन्द आ गया।

कान दो तथा आंखें दो हैं, परन्तु मुख एक ही है, अतः उनसे चार बातें सुन तथा देखकर एक बात बोलना उचित है। कम बोलने से बहुत-से उपद्रव अपने आप समाप्त हो जाते हैं। वाक्य-संयम बिना किये मन में शांति आ ही नहीं सकती। कम बोलने से भीतर शांति आती है और बाहर से व्यक्तित्त्व गंभीर हो जाता है। उसकी बातों का वजन होता है। अतएव व्यवहार तथा परमार्थ दोनों दिशाओं में प्रगति के लिए वाक्य-संयम की महती आवश्यकता है।

(२) "पारखी से संग करु" महत्त्वपूर्ण विषय है। जो गुण और दोषों की परीक्षा कर सके वह पारखी है। इसी प्रकार जो जड़ और चेतन, बंध और मोक्ष, शुभ और अशुभ की परीक्षा कर सके वह पारखी है। पारखी वही हो सकता है जो शास्त्र, परम्परा, गुरु, अपनी अवधारणा, किसी का भी पक्षपात न रखता हो। सब तरफ से निष्पक्ष व्यक्ति ही सच्चा पारखी हो सकता है। पूर्वग्रह, दुराग्रह, हठ, पक्षपात करने वाला कभी पारखी नहीं हो सकता। भौतिक क्षेत्र में जैसे वैज्ञानिक उदार होता है और उसके प्रयोग में जो आता है उसे स्वीकारता है, वैसे पारखी उदार होता है, अतएव जो उसकी स्वतन्त्र परीक्षा में आता है उसे वह स्वीकार करता है। विनयभावपूर्वक सब जगह सार लेने वाला पारखी होता है।

ऊपर पारखी का बौद्धिकरूप बताया गया। पारखी का साधनात्मक रूप भी बड़ा उच्च होता है। पारखी ज्ञान ही से सबकी परख करता है, अतएव उसका अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाना ही पारख-समाधि है। जो सबको परख-परखकर छोड़ता रहता है और अपने आप शांत रहता है वह पारखी है। विषयों का त्याग, व्यवहार में दया, शील, सत्य, क्षमा, धैर्य, विवेकादि का आचरण करते हुए जो स्व-स्वरूप में रमता है, वह पारखी है। सारी वासनाओं को छोड़कर अपने आपा, अपने चेतनस्वरूप—पारखस्वरूप में स्थित होना पारखी का लक्षण है। ऐसे पारखी की संगत करना चाहिए, तभी हमारे भीतर में रहा हुआ पारख-गुण उद्‌घाटित होगा।

(३) "गुरुमुख शब्द विचार" केवल किसी गुरु-नामधारी के मुख से निकलने से कोई बात गुरुमुख नहीं हो जाती। निर्णयवचन ही गुरुमुख है। शास्त्रों में पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष

एवं रोचक, भयानक और यथार्थ वचन होते हैं। इसी प्रकार बीजक में जीवमुख, मायामुख, ब्रह्ममुख तथा गुरुमुख अथवा काल, संधि, झाईं और सार के वचन हैं। उत्तरपक्ष, यथार्थ, गुरुमुख तथा सार सब एक बात है। जो तर्कयुक्त, विवेकसम्मत तथा विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल है, वही निर्णय गुरुमुख वचन है। पूर्णपारखी गुरु जो कह दे, वह गुरुमुख वचन हो सकता है; परन्तु उसकी कसौटी भी अंततः निर्णय, विवेक एवं परख ही है। सद्गुरु कहते हैं कि गुरुमुख शब्दों का विचार करो। जो निर्णय के वचन हैं, तर्कयुक्त एवं विवेकसम्मत वचन हैं उन्हीं का चिन्तन-मनन करने से कल्याण है, शेष वचन तो परखकर त्याग करने के लिए हैं।

इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु ने बताया कि बहुत बोलना छोड़कर वाक्य-संयम करो, पारखी की संगत करो, तथा गुरुमुख वचनों का चिन्तन करो।

जाके जिभ्या बन्द नहिं, हृदया नाहीं साँच।
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ ॥८३॥

शब्दार्थ—घाले = छोड़े। बटिया = मार्ग। माँझ = में।

भावार्थ—जिसकी वाणी में संयम नहीं है और हृदय में सचाई नहीं है, उसका साथ मत करो। वह बीच रास्ते में ही तुम्हें छोड़ देगा। अर्थात तुम्हें लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता॥८३॥

व्याख्या—इस साखी में उसकी संगत करने से रोका गया है जिसकी वाणी में संयम तथा हृदय में सचाई नहीं है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें इसकी कोई खबर नहीं होती कि कब क्या बोलना चाहिए! उनका मुंह बिना विचार किये सब समय चलता रहता है। वे कब क्या बोल दें इसका कोई भरोसा नहीं है। ऐसे लोग स्वयं तो उलझे होते ही हैं दूसरों को भी उलझन में डालते हैं। वस्तुतः हृदय में सचाई न होने से ही वाणी में असंयम आता है। वाणी और इन्द्रियों में जहां तक अव्यवस्था है उसका मूल है मन की अव्यवस्था। ऐसे कितने लोग होते हैं जिन्हें सांच-झूठ से कोई फरक नहीं पड़ता, केवल उनका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। उन्हें जिसमें अपने माने हुए स्वार्थ की सिद्धि दिखती है वह काम करते हैं चाहे उसमें उन्हें झूठ बोलना पड़े चाहे सांच। ऐसे लोग अपने माता पिता, गुरु तथा पूज्यों को भी धोखा दे सकते हैं, दूसरों के लिए तो कहना ही क्या! जिसे झूठ बोलने में संकोच नहीं है, वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता। इसलिए सद्गुरु ने इस प्रकरण में ३३४वीं साखी में कहा है "साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।" जिसका मन एक बार भी सत्य से फिसलकर नीचे आ जाता है और झूठ का आश्रय ले लेता है उसे धीरे-धीरे झूठ बोलने में निर्भयता हो जाती है। झूठ बोलकर आदमी अपने आपको धोखा देता है और दूसरों को भी धोखा देता है। झूठ बोलने वालों से लोगों का विश्वास उठ जाता है। जंगल में गाय चराते हुए एक ग्वाले ने हल्ला किया कि दौड़ो-दौड़ो मेरी गाय को सिंह ले जा रहा है। आस-पास के किसान दौड़ते हुए आये। ग्वाला हंसने लगा और कहा कि मैं अंदाज रहा था कि आप लोग समय पड़ने पर आयेंगे कि नहीं। वैसे यहां कोई सिंह नहीं आया है। किसान लोग अपने-अपने खेतों में लौट गये। उस ग्वाले ने

दूसरे दिन पुनः सिंह आने का हल्ला किया। फिर किसान लोग आये और फिर उसने हंसकर अंदाजने की बात कही। तीसरे दिन सचमुच सिंह आ गया और एक गाय को लेकर जाने लगा। ग्वाले ने पुनः हल्ला किया। परन्तु उसके असत्य भाषण की आदत समझकर कोई उसकी सहायता के लिए नहीं आया। अतः आदमी यदि असत्य बोलने का आदती हो जाता है तो लोग उसकी बातों का विश्वास करना छोड़ देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जिसके हृदय में सचाई नहीं है तथा वाणी में संयम नहीं है उसका साथ मत करो।

जगत के कितने तरन-तारन गुरुनामधारी होते हैं जिनके हृदय में झुठाई का ही साम्राज्य होता है। एक प्रसिद्ध गुरुनामधारी कुछ दिनों में सभाओं तथा समाचार-पत्रों के माध्यम से अपने विषय में किसी एक या दो चमत्कारों का प्रचार करवाते थे और चमत्कार का मतलब ही है शुद्ध झूठ। आज बीसवीं शताब्दी के आखिर में भारत में कई दर्जन गुरुनामधारी तथाकथित ईश्वर के अवतार बने बैठे हैं। वे स्वयं अपनी लेखनी और वाणी से तथा अपने शिष्यों से अपने विषय में चमत्कारी पुरुष, अवतार सिद्ध करने तथा करवाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। वे अपने विषय में सृष्टि-क्रम के विरुद्ध, विश्व के शाश्वत नियमों एवं प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्था के विरुद्ध बातें करते और करवाते हैं। धूर्त लोग इसका प्रचार करते हैं कि चमत्कार अध्यात्म की शक्ति है और मूर्ख लोग इसे स्वीकार करते हैं। जनता के दिमाग पर चमत्कार का परदा डालकर उससे कुछ भी मनवाया जा सकता है। धार्मिक कहे जाने वाले ग्रन्थों में चमत्कार के वर्णनों की भरमार होने से जनता धर्म के नाम पर और मूढ़ बना दी गयी है। सारे चमत्कार धूर्तों और मूर्खों के बीच की बातें हैं।

इस प्रकार जिन गुरुनामधारियों के हृदय में चमत्कार तथा मिथ्या महिमा के नाम पर झुठाई भरी हुई है और जिनकी वाणी, लेखनी तथा अनुयायियों द्वारा उन्हीं मिथ्या बातों का प्रचार किया जा रहा है, जिज्ञासु को चाहिए कि ऐसे लोगों से सावधान रहे, दूर रहे। ऐसे लोग अपनी आत्मा को ही छल चुके हैं। वे दूसरे का क्या कल्याण करेंगे!

जिसके हृदय में धर्म और ईश्वर के नाम पर नाना मिथ्या भ्रांतियां पलती हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, जो अपने जीवन के लक्ष्य, मोक्ष एवं परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग बतलाता है, जो वासना त्याग से मोक्ष न मानकर नाना टंट-घंट से ही कृतार्थ होने की बात करता है; सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों से सावधान रहो। वाक्यसंयमी, सत्यवादी, सत्यबोधनिष्ठ मित्र एवं संत-गुरु की संगत करो। वहीं कल्याण है।

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ बीजक, साखी ३०९॥

प्राणी तो जिभ्या डिगा, छिन-छिन बोल कुबोल।
मन के घाले भरमत फिरे, कालहिं देत हिंडोल॥८४॥

शब्दार्थ—डिगा = विचलित। कालहिं = कल्पनाएं। हिंडोल = झूला, चक्कर।

भावार्थ—मनुष्य ने तो अपनी वाणी को चंचल कर रखा है और वह क्षण-क्षण गलत बातें बोलता है। वह मन के चक्कर में भटकता फिरता है। उसे कल्पनाएं नाना भ्रांतियों एवं राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि के झूले में झुला रही हैं।।८४।।

व्याख्या—सद्गुरु इस साखी में पुनः वाणी और मन की चंचलता पर प्रकाश डालते हुए उसके परिणाम की ओर इशारा करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य ने अपने आपको इतना गिरा लिया है कि उसकी वाणी हर समय विचलित रहती है। वह क्षण-क्षण में कुबोल बोलता है। असत्य, कटु, गाली, भद्दे, अश्लील, असभ्य तथा अमंगल बोली को कुबोल कहा जाता है। कितने लोग बात-बात में गाली देते हैं। परिवार वालों को, नौकरों को, पशु-पक्षियों को, यहां तक कि हवा-बयार, पेड़-पौधों, थाली-लोटा एवं समस्त जड़-चेतन को गालियां सुनाते रहते हैं। गाली तो कोई स्वीकारता नहीं। गाली तो गाली देने वाले को ही पड़ती है। परन्तु प्रमादी आदमी को इसका कहां ख्याल है! कितने लोगों को तो सुबह से शाम तक अर्थात वे जब तक जागते रहते हैं टट्टी-पेशाब त्यागने की इन्द्रियों के नाम ही याद रहते हैं। वे उन्हीं नामों से अपनी वाणियों को हर समय सुशोभित करते रहते हैं। कितने लोग हर समय अश्लील शब्दों से मजाक करते रहने में ही अपनी शूर-वीरता समझते हैं। कितने लोग ऐसा जोर-जोर से चिल्लाते हैं कि बैठा हुआ कौआ भी भयभीत होकर भाग जाय। कितने घरों की बातचीत बराबर दूसरों के घरों में सुनाई पड़ती है। ये सब कुबोल हैं। ऐसा व्यवहार करने वाले का व्यक्तित्व गिर जाता है।

मनुष्य का मन चंचल है। वह क्षण-क्षण कहां भटक जाता है कोई ठिकाना नहीं। इसी मन की चंचलता में पड़ा व्यक्ति भटकता रहता है। यह मन का भटकाव ही वाणी के भटकाव में कारण है। मन की चंचलता से आदमी निरन्तर चक्कर काट रहा है। "मन के घाले भरमत फिरै" बड़ा मार्मिक वचन है। संसार के सारे मनुष्य मन के भ्रम में पड़े हुए भटक रहे हैं। "कालहिं देत हिंडोल" मन काल के झूले में मनुष्य को झुलाता है। काल है कल्पनाएं। हर्ष-शोक, राग-द्वेष कल्पनाएं हैं। इन कल्पनाओं के हिंडोले हैं जिनमें व्यक्ति रात-दिन झूलता है। मन की मानी हुई अनुकूलता को पाकर हर्ष, प्रतिकूलता को पाकर शोक, अपना मानकर राग तथा विरोधी मानकर द्वेष—यह सब मन का ही तो प्रपंच है। इन्हीं हिंडोले में पड़ा जीव निरन्तर झूला झूलता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को संयत करे और वाणी को वश में करे। सत्य, मिष्ट, संयत एवं कम बोलने से व्यक्तित्व उभरता है। उसकी बातों का समाज में वजन होता है। वह लोकप्रिय होता है। घर में, परिवार में, अपने लोगों में उतने ही स्वर में बातें करना चाहिए कि जिससे वे लोग आराम से सुन लें जिन्हें हम सुनाना चाहते हैं। बातों में कटुता, अश्लील एवं नोंक-झोंक न हों। व्यवहार में परस्पर ऊंच-नीच हो जाने पर उन बातों को मन में बनाये न रखें, अन्यथा उन भावनाओं को लेकर बातें भी इस तरह निकलेंगी जिससे व्यवहार खराब हो जायेगा। एक साथ रहने से व्यवहार में कभी ऊंचा-नीचा हो जाना सहज है। परन्तु इन बातों को लेकर परस्पर कसक, ताना एवं नोंक-झोंक की बातें नहीं होना चाहिए। मनुष्य केवल वाणी का सुधार कर ले तो उसका बहुत व्यवहार सुधर जाय। वाणी सुधार के लिए मन को वश में करना ही पड़ेगा।

मन से गलत बातों को निकाल दो

हिलगी भाल शरीर में, तीर रहा है टूट।
चुम्बक बिना न नीकरे, कोटि पाहन गये छूट॥८५॥

शब्दार्थ—हिलगी = घुस गयी। भाल = तीर का फल, नोक। चुम्बक = एक पत्थर जो लोहा को अपनी ओर खींचता है।

भावार्थ—शरीर में तीर घुसकर और उसका नोक टूटकर शरीर के अन्दर रह गया। वह चुम्बक-पत्थर के बिना नहीं निकल सकता। अन्य करोड़ों पत्थर उसे नहीं निकाल सकते। इसी प्रकार मनुष्य के मन में वचन के बाण घुसकर उसमें जम गये हैं। बिना विवेक-ज्ञान के वे नहीं निकल सकते। करोड़ों थोथे ज्ञान उनके लिए बेकार हैं॥८५॥

व्याख्या—तीर के फल एवं नोक टूटकर जब शरीर में रह जाते हैं तब चुम्बक-पत्थर उसके निकट ले जाने से वे उसकी तरफ खिंचकर निकल आते हैं। अन्य पत्थरों में यह सामर्थ्य नहीं है। इस साखी में बाण तथा चुम्बक के दो सटीक उदाहरण देकर मुख्य दो बातों पर प्रकाश डाला गया है। एक तो मनुष्य के मन में वचन-बाण जब धंस जाते हैं तब उनका निकलना मुश्किल हो जाता है। दूसरा यदि वे निकलते हैं तो साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से। हम वचन-बाणों को दो हिस्सों में बांटते हैं, एक नित्य के व्यवहार में लगे वचन-बाण तथा दूसरा आध्यात्मिक और धार्मिक भ्रांतियों के वचन-बाण।

हर मनुष्य को प्राणियों और पदार्थों का व्यवहार करना पड़ता है। पदार्थ निर्जीव होते हैं, इसलिए उनका व्यवहार करने में अधिक विघ्न नहीं होता। प्राणियों का व्यवहार कठिन है। यहां प्राणियों का अर्थ मनुष्य-प्राणियों से है। हम पशु-पक्षियों को पालते हैं। उनके भोजन, पानी तथा निवास का ठीक प्रबन्ध कर दें तो उनके संबंध में अन्य कोई खास झमेला नहीं है। किन्तु मनुष्यों का व्यवहार बहुत कठिन है। एक छोटा बच्चा होता है। यदि उसका मन असंतुष्ट हो गया तो वह रोता रहेगा। उसको समझाना थोड़े समय के लिए एक समस्या हो जाती है। फिर सयानों की बातें ही न्यारी हैं। इस प्रकरण के आरम्भ की साखियों में बताया गया है कि मनुष्य के पास दो महान शक्तियां हैं मन और वाणी। ये दोनों बड़े संवेदनशील हैं, बड़े उपयोगी हैं। ये मनुष्य की उन्नति के आधारस्तंभ हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग हुआ तो ये दोनों ही खतरनाक बन जाते हैं। इसलिए संतों ने बारंबार मन और वाणी को वश में करने पर जोर डाला है। मनुष्य का मन थोड़े-थोड़े में बदलता है और जैसे मन बदलता है वैसे उसकी वाणी बदलती है। जहां चार बरतन रहते हैं वहां उनमें टकराकर आवाज हो जाना स्वाभाविक है। समझदार का काम है उन्हें सहेजकर रखना। परिवार तथा समाज में जहां अनेक लोग हैं परस्पर के व्यवहार में कभी-न-कभी ऊंच-नीच हो सकता है। अच्छी समझ न होने से व्यवहार के थोड़ा व्यतिक्रम होने से उनके मन में भी अन्तर आ जाता है, और मन में अन्तर आने से उनकी वाणी में भी अन्तर आ सकता है। जब व्यक्ति किसी की मार्मिक वाणी सुनता है तो गहरा विवेक न होने से वह उसके मन की गहराई में बैठ जाती है। वह उसे समय-समय पर याद करता है और कहने वाले के लिए अपने मन में द्वेष बनाये रखता है। तीर के नोक टूटकर शरीर

में रह जाने के समान उसके मन में वे मार्मिक वचन रुक जाते हैं। जैसे शरीर में रहे हुए बाण के नोक शरीर में कसक एवं पीड़ा उत्पन्न करते हैं वैसे उस आदमी के मन में मार्मिक वचन रह-रहकर पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। इसलिए कबीर साहेब ने इसी प्रकरण की ३०१ वीं साखी में कहा है "मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर। श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर।।" किसी अन्य ने कहा है "बचन बाण मत मारिये, बरु सिर लेहु उतार। सज्जन दुख अपने सहैं, औरों को उपकार।।" हर मनुष्य किसी-न-किसी के वचन-बाण से बिंधता रहता है और उसके कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें उसे वाक्-बाणों से काफी पीड़ित होना पड़ता है। वे वाक्-बाण उसे बहुत दिनों तक याद हो-होकर पीड़ित करते रहते हैं। मनुष्यों को जितना वाणियों से आहत एवं घायल देखा जाता है उतना तीर-तलवार से नहीं।

सद्गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से निकलने वाले नहीं हैं। इसके लिए चुम्बकीय ज्ञान चाहिए। देखा जाता है कि अच्छे-अच्छे लोग वाक्-बाण से पीड़ित होकर अस्त-व्यस्त रहते हैं। वे वर्षों पुरानी किसी की कही हुई मार्मिक बातें याद कर असंतुष्ट हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये साधारण ज्ञान से नहीं, चुम्बकीय ज्ञान से निकलेंगी। वस्तुतः गहरा विवेक ही चुम्बकीय ज्ञान है। जब हमारी परख-शक्ति प्रबल होती है, तब हम अपने ऊपर घटने वाली सारी बातों का समाधान कर लेते हैं। हम यहां इसके विषय में थोड़ा समाधान सोचें।

पहली बात, जिसे हमने अपने लिए बहुत मार्मिक वचन मान लिया है, हो सकता है उसे कहने वाले ने इतनी गहराई से न लिया हो और इसके मूल में उसका मन इतना खराब न हो जितना हम उसके लिए सोचते हैं। दूसरी बात, हो सकता है उसने इसे कहने के बाद अपनी भूल का अनुभव किया हो, इसके लिए उसके मन में काफी ग्लानि हो और अब उसका मन शुद्ध हो तथा उसके मन में हमारे प्रति अच्छी धारणा हो गयी हो। तीसरी बात, किसी की उत्तेजना में कही हुई बात को यदि हम अपने मन में स्थान देते हैं तो इससे हमारी ही नासमझी सिद्ध होती है। चौथी बात, हमें अपने आप को इतना बड़ा नहीं मान लेना चाहिए कि हमें कोई कुछ कहे ही नहीं। पांचवीं बात, हमें अपने पुत्र, शिष्य एवं पद में अन्य छोटे लोगों से भी अपने लिए लम्बी आशा नहीं रखना चाहिए। वे अपने कर्तव्य जानें, हमें केवल अपने कर्तव्यों पर ध्यान देना चाहिए। छठीं बात, सारे शब्द हवा के झोंकें हैं। हमें दूसरों की बातों पर न ध्यान देकर अपने आप का निरीक्षण करना चाहिए। सातवीं बात, हमें हर हालत में अपने मन को शांत रखना है। इन स्वप्नवत बातों में उलझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इन-जैसी अन्य युक्तियों को सोचकर मन में गहरा विवेक पैदा करना चाहिए और अपने मन से सभी ऐसी बातों को निकाल देना चाहिए जिनसे दुख हो। चुम्बकीय-ज्ञान विवेकज्ञान है, रहनी का ज्ञान है। अनेक प्रकार की बातें ही तो मन में धंसकर उलझनों का कारण बनती हैं। उनको मन से निकालने के लिए केवल विवेकज्ञान एवं चित्त की निरख-परख ही है।

दूसरी बातें होती हैं आध्यात्मिक एवं धार्मिक भ्रांतियों की। भूत-प्रेत, जादू-मंत्र, तंत्र, देवी-देवता, परोक्ष, कर्ता-धर्ता, चमत्कार एवं नाना अंधविश्वासों की; जो धर्मग्रन्थों एवं

नाना मतों के गुरुओं-द्वारा युग-युगों से फैलायी गयी हैं। ये सारी बातें मनुष्य के दिलों में धंसकर बैठ गयी हैं। ये साधारण ज्ञान से निकलने वाली नहीं हैं। इनको निकालने के लिए चुम्बकीय-ज्ञान चाहिए। पारखज्ञान के बिना इनका निकलना असंभव है। अतएव हमें पारखी संतों-भक्तों का सत्संग करते हुए हर बात में नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए।

आरामतलबी साधना-पथ का नाशक

आगे सीढ़ी साँकरी, पाछे चकनाचूर।
परदा तर की सुन्दरी, रही धका से दूर॥८६॥

शब्दार्थ—परदा = अविद्यारूपी आवरण। सुन्दरी = विषयासक्त। धका = किनारा, तट, कल्याणपथ।

भावार्थ—कोई बहुत ऊंची जगह पर चढ़ गया हो, परंतु वहां से और भी ऊंची जगह पर चढ़ना हो और ऊंचे पर जाने के लिए आगे सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी हो। नीचे जितना पार कर आया हो वह भी बहुत गहरा हो। ऐसी अवस्था में धैर्यहीन यात्री की स्थिति बड़ी कायरतापूर्ण हो जाती है। वह ऊपर देखता है तो सीढ़ी बहुत संकरी तथा खड़ी है, उस पर चढ़ने की हिम्मत नहीं हो रही है और पीछे देखता है तो बहुत गहरा है, उसे देखकर मन चकनाचूर हो जाता है। अतः वह कायरतापूर्वक बैठ जाता है। इसी प्रकार कोई परदे के भीतर रहने वाली सुकुमारी सुन्दरी नारी हो, वह नावका पर समुद्र की यात्रा कर रही हो, बीच में झंझावात आने से उसे धूप और हवा सहन न होती हो, इसीलिए वह बीच ही में से अपनी यात्रा स्थगित कर किनारे से दूर मझधार में ही लंगर डालकर बैठ गयी हो, तो उसकी दशा भी दयनीय हो जाती है।

विषयासक्त, सुखाध्यासी एवं आरामतलब लोगों की यही दशा है। कुछ शुद्ध संस्कार होने से मनुष्य कल्याण-पथ में चल पड़ा। परन्तु उसे कुछ चलकर आगे का मार्ग कठिन दिखा और पीछे संसार में विषयासक्तिजनित दुख देखता है, तो उसका मन चकनाचूर हो जाता है। इस प्रकार वह परदातर की सुन्दरी बनकर अर्थात आसक्ति को जीवन-प्राण मानकर बीच धारा में ही पड़ा रह गया, कल्याण-तट पर नहीं लगा॥८६॥

व्याख्या—ऐसे कुछ लोग होते हैं जिनके मन में कुछ शुद्ध संस्कार होते हैं और अध्यात्म की ऊंची चोटी पर चढ़ने का उत्साह होता है। वे कुछ चल पड़ते हैं। चलने के बाद उन्हें कठिन लगता है। ऊपर चढ़ना उन्हें संकरी सीढ़ी पर चढ़ने से भी दुर्गम लगता है और जब वे संसार की तरफ देखते हैं तब उसके दुख से भी उनका मन पीड़ित होता है। वे अपने आप को ऊपर चढ़ने में असमर्थ पाते हैं, परन्तु सांसारिकता के भावी परिणाम को देखते हुए विषयासक्तिजनित दुख से भी उनका मन भयाक्रांत होता है। किन्तु ऐसे कायर-कुपूत लोग क्या कर सकते हैं! परदातर की सुन्दरी बनकर कोई क्या करेगा! तथाकथित बड़े घराने की नारियां परदे के भीतर रहती हैं। यदि उनको प्यास लगी हो और कोई पानी लाकर देने वाला न हो तो वे परदे से निकलकर स्वयं पानी लेने नहीं जातीं। प्यासी घर में बैठी रहेंगी, परन्तु परदे से निकलकर पानी नहीं लेना चाहेंगी। इस

प्रकार परदा-प्रथा के कुप्रचलन के घेरे में पड़ी जहां नारियां निष्क्रिय बनी हैं, वहां मानो समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है। अतएव नारियों को भी चाहिए कि वे परदे से निकलकर अपने विकास के हर क्षेत्र में हाथ बटाएं।

जो साधक परदातर की सुन्दरी बनते हैं वे व्यवहार की उन्नति भी नहीं कर सकते, परमार्थ की तो बात ही दूर है। कितने लोग देखादेखी घर छोड़कर साधु बनने चलते हैं; परन्तु संतों में जाकर वे सेवा का काम करने से कतराते हैं। हर जगह कर्मों से ही जीवन सुन्दर बनता है। यदि कोई झाड़ू न लगाये तो घर-द्वार गंदा रहेगा। दातौन तथा मंजन करने से दांत साफ रहते हैं। शरीर और कपड़े धोने से उनमें स्वच्छता रहती है। लीपने-पोतने, धोने-मांजने से घर तथा बरतन साफ रहते हैं। काम करने से रोटी पेट में जाती है। कर्मठ व्यक्ति ही भव का भूषण है। निकम्मा आदमी परिवार एवं समाज का कोढ़ है। परन्तु कुछ लोग निकम्मापन को मोक्ष-साधना समझते हैं। निकम्मे लोग खाने-पीने, वस्त्र-आसन, पूजा-सम्मान लेने में आगे रहते हैं, परंतु सेवा करने में सदैव पीछे। जो व्यक्ति स्वादासक्त है, जीभ का चटोर है, स्वार्थ में चंट, अभिमानी तथा आलसी है, वह साधना क्या खाक करेगा! वह तो गृहस्थी में रहकर भी उन्नतिहीन रहेगा।

साधक के अंग सेवा करने के लिए फड़कते रहना चाहिए। भोजन, वस्त्र, आसन, आवास आदि स्वार्थ की बातों में पीछे रहना चाहिए। इन्हें प्रलोभनरहित केवल गुजर के लिए लेना चाहिए। भोगों का कड़ाई से त्याग करना चाहिए और जीवन में कठिनाई सहने का अभ्यास करना चाहिए। जो एक सैनिक की तरह सतर्क, श्रमशील, स्वावलंबी नहीं होगा वह साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। साधक को अत्यन्त निर्मान होना चाहिए। जो संतों की चरण-रज नहीं बन सकता वह साधक नहीं बन सकता। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में साधकों के लिए कहा है "अब तो ऐसा होय रहे, पांव तले की धूलि।" तथा "नन्हा होय के पीव" कोई नन्हा शिशु होकर ही माता का दूध पी सकता है, जवान होकर नहीं। यदि जीवन में कुछ पाना है तो दासातन तथा सेवा करने की महती आवश्यकता है।

इस साखी का सार यही है कि कुछ साधक भले सांसारिकता में अपना पतन देखते हैं, परन्तु वे आगे साधना में बढ़ने की हिम्मत भी नहीं रखते; क्योंकि वे इन्द्रिय-सुख के कीड़े तथा आरामतलब हैं। साधक को इन कमजोरियों से हटकर त्याग, वैराग्य, सेवा, श्रम, भक्ति एवं साधना में जुट जाना चाहिए।

हम अपने आप में, भूलवश पराये बने हैं

संसारी समय बिचारी, कोइ ग्रेही कोइ जोग।
औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग॥८७॥

शब्दार्थ—संसारी = दुनियादारी में डूबे लोग। मारे = व्यर्थ। बिराने लोग = पराये लोग, जिसका अपना आपा भूलवश पराया-सा हो गया हो।

भावार्थ—संसार के लोगों पर जब समय की मार पड़ती है अर्थात जब उन्हें कोई ज्यादा कष्ट होता है, तब वे विचार में पड़ जाते हैं, और सोचने लगते हैं कि हम चाहते हैं सुख, परंतु मिलता है दुख। तो निश्चित ही हमें सुख और दुख देने वाला कोई दूसरा है। अतएव ऐसा सोचकर उनमें से कोई तो गृहस्थी में रहकर ही कीर्तन-भजन, अर्चन-वन्दन एवं नवधा-भक्ति आदि करने लगता है, और कोई घर छोड़कर योगी-संन्यासी होकर तप-ध्यान आदि द्वारा उसे खोजने लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि तेरे सुनहले अवसर व्यर्थ समाप्त हो रहे हैं, तू अपने घर में रहते हुए भी पराये बने हुए के समान अपने उच्चतम चेतनस्वरूप से बे-भान बना है। हे मानव! सावधान हो जा!॥८७॥

व्याख्या—आदमी अपनी विवशताओं के मूल में अपने कर्मों के फल तथा विश्वसत्ता के नियमों को नहीं देखता, किन्तु भावुकतापूर्वक कोप और दया के गुणों से बने हुए किसी सर्वसमर्थ देव को देखता है, जो उसके ख्याल से सबसे ऊपर बैठा उसे झांक रहा है। वह अपने कर्मों एवं प्रकृति के नियमों को न समझकर अपने सुख-दुख दाता के रूप में एक व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना कर लेता है। तब फिर वह यह सोचता है कि उसे पूजा, प्रार्थना तथा ध्यान-आराधना से खुश किया जा सके तो वह मेरे ऊपर कोप करना छोड़ देगा और मुझे राहत देने लगेगा; और जब मेरी भक्ति से पूर्ण संतुष्ट हो जायेगा तब मुझे मोक्ष दे देगा, अपने आनन्दधाम में बुला लेगा आदि।

कहना न होगा कि ऐसा कोई देव नहीं है जिसकी पूजा-प्रार्थना करके हम उसके द्वारा निर्विघ्न सुख-शांति की गारंटी पा सकें। हमें दुखों से मुक्त होने के लिए तात्त्विक विवेक प्राप्त करना चाहिए। सच्ची समझ से ही दुख मिट सकते हैं। इसके लिए दो बातों को समझ लेना चाहिए। पहली बात अपने कर्मों के परिणाम तथा दूसरी बात प्रकृति के नियम। हम पहली बात को लें। हमने जो कुछ कर्म किये हैं वे चाहे पहले जन्म के हों या इस जन्म के, उनके फल भोगने पड़ेंगे। वे टल नहीं सकते। हजार ईश्वर मिलकर कर्म-फल-भोग मिटा नहीं सकते। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण सबको अपने कर्म-फल-भोग भोगने पड़े। भावुक लोग कहते हैं कि ईश्वर राम तथा कृष्ण बनकर धरती पर आया था; परन्तु आप रामायण पढ़कर जानते हैं कि अपने कर्म-फल-भोग के चक्कर में राम बेचारे जीवनभर रोते रहे। कृष्ण को रोने की आदत नहीं थी, परन्तु अपने कर्म-फल-भोग उनको भी भोगने पड़े। पहले उन्नति तथा अन्त में अवनति के दिन उन्हें भी देखने पड़े। जो कुछ जीव ने कर रखा है उसे उसके फल पाने हैं। अतः उसे अपने कर्मों का सुधार करना चाहिए।

दूसरी बात है विश्व के एवं प्रकृति के शाश्वत नियम, उन्हें कोई टाल नहीं सकता। शरीर जड़ तत्त्वों के कणों के जोड़ से बना है, तो उसमें परिवर्तन एवं बिखराव होगा ही। जब शरीर एक दिन जन्मा है तो एक दिन मरेगा ही। परिवार तथा समाज के लोग एवं मित्रजन एक-एक दिन मिले हैं तो उनका एक-एक दिन बिछुड़ जाना स्वाभाविक है। प्रकृति का नियम ही है परिवर्तन, तो उसे रोककर स्थायी कौन कर सकता है! तथाकथित ईश्वर भी नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में संसार के प्राणी-पदार्थों पर अपनी स्ववशता बनाये रखने का व्यामोह छोड़ देना चाहिए। चाहे आदमी गृहस्थी में रहे और चाहे साधु-

के अधीन तो नहीं होता जा रहा है! बुढ़ापा में हमारी सेवा करेगा भी कि नहीं! लड़के माता-पिता के प्रति सन्देह करने लगते हैं कि इन्होंने अपना धन मुझसे छिपाकर तो नहीं रखा है! भाई पर सन्देह होने लगता है कि यह हमें बेवकूफ बनाता होगा। मित्र पर, पड़ोसी पर सन्देह होता है। दुकानदार पर हमें सन्देह होता ही है कि यह हमें ठग रहा होगा। आदमी मिथ्या स्वार्थ की पूर्ति के लिए इतना चालाक हो गया है कि उसका अपना ही छली मन हर जगह प्रतिबिम्बित होता रहता है। ऐसा भी अवसर आता है कि हमें लोग छलते हैं, परन्तु अधिक तो हमारे मन की कमजोरी होती है और हम कौए की तरह सबसे सन्देह करते रहते हैं। जिसका मन जितना ही अनैतिक होता है उसका मन उतना ही सब पर सन्देह करने वाला होता है। यह सन्देह ऐसा घुन है कि अन्दर-अन्दर चालकर व्यवहार को खराब कर देता है। कितने ही परिवार तथा समाज आपसी सन्देह एवं संशय के कारण एक-दूसरे पर अविश्वास करके अपना पतन कर लेते हैं। परस्पर विश्वास उन्नति का कारण है और अविश्वास पतन का। हेनरी फोर्ड ने लिखा है "साथ-साथ मिलना आरंभ है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है और साथ-साथ काम करना सफलता है।" परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब एक दूसरे के प्रति विश्वास हो। विवेकवान संशय दूर करके अपने मन को स्वस्थ रखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपरिचितों से भी सावधान नहीं होता। वह सावधानी की जगह पर सावधान रहता है; परन्तु उसके मन में सन्देह के घुन नहीं होते। इसलिए उसके परिवार या समाज का आपसी व्यवहार विश्वसनीय, मधुर एवं दृढ़ होता है। विवेकी मनुष्य आपसी व्यवहार में कभी थोड़ा ऊंचा-नीचा हो जाने पर एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, किन्तु वे समझते हैं कि यह मनुष्य की स्वभावजनित भूल है। विवेकी मनुष्य आपस में प्रेम एवं विश्वास को दृढ़ रखते हैं।

कई बार मनुष्य संशय करता है कि अमुक लोग हमें गिराना चाहते हैं; परन्तु जांच करने पर ऐसी बात नहीं रहती। कई बार आदमी सोचता है कि मैं अमुक जगह जाऊंगा तो अमुक-अमुक लोग मेरा विरोध करेंगे। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे उसका आदर करते हैं। परिवार में, समाज में, पड़ोस में या जहां तक संशय एवं सन्देह का रोग है, सब इसी प्रकार ज्यादातर भ्रमजनित है। यदि लोगों को थोड़ा-मोड़ा विरोध होता भी है तो मिलने पर वह समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इसलिए विवेकवान का कर्तव्य है कि वह अपने मन को सन्देहरहित स्वस्थ रखे।

दूसरा आधिदैविक संशय होता है। पृथ्वी, चांद, सूरज, नक्षत्र आदि को किसने बनाया होगा; वर्षा, शीत, गरमी, छह ऋतुओं का परिवर्तन कैसे होता है; यह सृष्टि कौन चलाता है, इत्यादि संशय एवं अनिश्चय हैं। विवेकवान समझता है कि पृथ्वी, सूरज, चन्द्रमा तथा असंख्य तारे जड़-प्रकृति के खेल हैं। ये सब जड़-प्रकृति की स्वाभाविक रचना है। जड़तत्त्वों में अपने अन्तर्निहित गुण, धर्म, क्रियादि हैं। उन्हीं से जड़ात्मक सृष्टि स्वयमेव चलती है। वर्षा, गरमी, शीत, भूचाल, ज्वालामुखी, वनस्पति आदि सब का होना-जाना जड़-प्रकृति के गुण-धर्मों से अपने आप है। इधर असंख्य जीव अपने कर्म-संस्कारों के अधीन शरीर धरते-छोड़ते तथा कर्म-फल-भोग भोगते हैं। मनुष्य वासनाओं का त्यागकर इसी जीवन में कृतार्थ भी हो जाता है। मनुष्य के ऊपर कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, कर्ता-

संन्यासी बन जाय, उसे केवल पूजा-प्रार्थना एवं ध्यान में किसी ईश्वर को खोजने से ज्यादा लाभ मिलने वाला नहीं है। इन सबसे एक सात्विक मनोरंजन एवं प्रसन्नता मिल सकती है; किन्तु स्थायी दुखों का अन्त नहीं हो सकता।

सद्गुरु ने इस साखी की दूसरी पंक्ति में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं "औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग।" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के सुनहले अवसर कल्पित देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना एवं कर्मकांड के पचड़े में ही बीतते जा रहे हैं। मनुष्य अपनी अवधारणा से बनाये हुए किसी बाहरी ईश्वर की खोज में अपने रत्न समय को खो रहा है। इसके आगे कबीर देव इस साखी की सर्वाधिक मार्मिक बातें कहते हैं "तैं चेत बिराने लोग" बिराने लोग का अर्थ है पराये लोग, बेगाना आदमी। जैसे कोई अपने घर में रहते हुए भी अपनी गलती से पराये की तरह रहता हो, और परिवार वाले उसका स्वागत न करते हों; वैसे यह जीव अपने आप में मूलतः अजर, अमर, अखंड, पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं कल्याणस्वरूप है, परन्तु अपने स्वरूप की भूल से पराया बना है। अपना आपा ही अपने लिए पराया बन गया। जैसे कोई बादशाह अपने शत्रु-द्वारा अपने ही राजभवन में कैद कर दिया गया हो, वैसे यह जीव अपने आप दुखरहित एवं परम शांत होते हुए भूलवश अत्यन्त दुखी बन गया है। अथवा यह अपने साधन-धाम मानव शरीर में रहते हुए भी भूलवश बंधनों में उलझ गया है। शरीर, मन, प्राणी, पदार्थ आदि जो हमारे कल्याण के साधन बन सकते थे, वे ही हमारे भूलवश हमारे लिए बंधन के कारण बन गये हैं। हम भूलवश स्वयं अपने आप के शत्रु बन गये। सद्गुरु कहते हैं कि हे बेगाना जीव! चेत, हे अपने आपा के महत्त्व को न समझने वाला जीव! सावधान हो जा! तू अपने आप के कल्याण का कर्ता और विधाता है! तू स्वयं पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है!

संशय-सागर से पार होओ

संशय सब जग खण्डिया, संशय खण्डे न कोय।
संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥८८॥

शब्दार्थ—संशय = अनिश्चय, संदेह। खण्डिया = नष्ट किया।

भावार्थ—संदेह और अनिश्चय ने संसार के सारे मनुष्यों के मन को उलझा दिया है; किन्तु संदेह एवं अनिश्चय का नाश किसी ने नहीं किया। इनका नाश वही करता है, जो शब्दों का विवेकी होता है॥८८॥

व्याख्या—संशय, सन्देह, अनिश्चय मनुष्य के मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। व्यावहारिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में मनुष्य संशयग्रसित रहता है। हम पहले व्यावहारिक क्षेत्र की बातें लें। पत्नी यदि किसी दूसरे पुरुष से हंसकर बातें कर ले तो पति के मन में संशय होने लगता है कि इसका मन पर-पुरुष में तो नहीं विचलित है! यदि पति थोड़ी देर रात में घर लौटा और कारणवश यह घटना कई दिनों तक हुई तो पत्नी का मन अपने पति के लिए शंकालु हो जाता है कि यह कहीं परायी-स्त्री में तो नहीं लग रहा है! माता-पिता अपने युवक लड़के पर सन्देह करने लगते हैं कि यह अपनी पत्नी

ाधीन तो नहीं होता जा रहा है! बुढ़ापा में हमारी सेवा करेगा भी कि नहीं! लड़के -पिता के प्रति सन्देह करने लगते हैं कि इन्होंने अपना धन मुझसे छिपाकर तो नहीं है! भाई पर सन्देह होने लगता है कि यह हमें बेवकूफ बनाता होगा। मित्र पर, ी पर सन्देह होता है। दुकानदार पर हमें सन्देह होता ही है कि यह हमें ठग रहा । आदमी मिथ्या स्वार्थ की पूर्ति के लिए इतना चालाक हो गया है कि उसका अपना ली मन हर जगह प्रतिबिम्बित होता रहता है। ऐसा भी अवसर आता है कि हमें लोग हैं, परन्तु अधिक तो हमारे मन की कमजोरी होती है और हम कौए की तरह सबसे करते रहते हैं। जिसका मन जितना ही अनैतिक होता है उसका मन उतना ही सब न्देह करने वाला होता है। यह सन्देह ऐसा घुन है कि अन्दर-अन्दर चालकर व्यवहार खराब कर देता है। कितने ही परिवार तथा समाज आपसी सन्देह एवं संशय के एक-दूसरे पर अविश्वास करके अपना पतन कर लेते हैं। परस्पर विश्वास उन्नति कारण है और अविश्वास पतन का। हेनरी फोर्ड ने लिखा है "साथ-साथ मिलना है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है और साथ-साथ काम करना सफलता है।" परन्तु सब तभी सम्भव है जब एक दूसरे के प्रति विश्वास हो। विवेकवान संशय दूर करके मन को स्वस्थ रखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपरिचितों से भी ान नहीं होता। वह सावधानी की जगह पर सावधान रहता है; परन्तु उसके मन में के घुन नहीं होते। इसलिए उसके परिवार या समाज का आपसी व्यवहार सनीय, मधुर एवं दृढ़ होता है। विवेकी मनुष्य आपसी व्यवहार में कभी थोड़ा ऊंचा- हो जाने पर एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, किन्तु वे समझते हैं कि यह मनुष्य की वजनित भूल है। विवेकी मनुष्य आपस में प्रेम एवं विश्वास को दृढ़ रखते हैं।

कई बार मनुष्य संशय करता है कि अमुक लोग हमें गिराना चाहते हैं; परन्तु जांच पर ऐसी बात नहीं रहती। कई बार आदमी सोचता है कि मैं अमुक जगह जाऊंगा मुक-अमुक लोग मेरा विरोध करेंगे। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे उसका करते हैं। परिवार में, समाज में, पड़ोस में या जहां तक संशय एवं सन्देह का रोग ब इसी प्रकार ज्यादातर भ्रमजनित है। यदि लोगों को थोड़ा-मोड़ा विरोध होता भी है लने पर वह समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इसलिए विवेकवान का कर्तव्य वह अपने मन को सन्देहरहित स्वस्थ रखे।

दूसरा आधिदैविक संशय होता है। पृथ्वी, चांद, सूरज, नक्षत्र आदि को किसने ा होगा; वर्षा, शीत, गरमी, छह ऋतुओं का परिवर्तन कैसे होता है; यह सृष्टि कौन ा है, इत्यादि संशय एवं अनिश्चय हैं। विवेकवान समझता है कि पृथ्वी, सूरज, ा तथा असंख्य तारे जड़-प्रकृति के खेल हैं। ये सब जड़-प्रकृति की स्वाभाविक रचना ड़तत्त्वों में अपने अन्तर्निहित गुण, धर्म, क्रियादि हैं। उन्हीं से जड़ात्मक सृष्टि स्वयमेव है। वर्षा, गरमी, शीत, भूचाल, ज्वालामुखी, वनस्पति आदि सब का होना-जाना कृति के गुण-धर्मों से अपने आप है। इधर असंख्य जीव अपने कर्म-संस्कारों के शरीर धरते-छोड़ते तथा कर्म-फल-भोग भोगते हैं। मनुष्य वासनाओं का त्यागकर जीवन में कृतार्थ भी हो जाता है। मनुष्य के ऊपर कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, कर्ता-

संन्यासी बन जाय, उसे केवल पूजा-प्रार्थना एवं ध्यान में किसी ईश्वर को खोजने से ज्यादा लाभ मिलने वाला नहीं है। इन सबसे एक सात्विक मनोरंजन एवं प्रसन्नता मिल सकती है; किन्तु स्थायी दुखों का अन्त नहीं हो सकता।

सद्गुरु ने इस साखी की दूसरी पंक्ति में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं "औसर मारे जात है, तैं चेत बिराने लोग।" सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के सुनहले अवसर कल्पित देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना एवं कर्मकांड के पचड़े में ही बीतते जा रहे हैं। मनुष्य अपनी अवधारणा से बनाये हुए किसी बाहरी ईश्वर की खोज में अपने रत्न समय को खो रहा है। इसके आगे कबीर देव इस साखी की सर्वाधिक मार्मिक बातें कहते हैं "तैं चेत बिराने लोग" बिराने लोग का अर्थ है पराये लोग, बेगाना आदमी। जैसे कोई अपने घर में रहते हुए भी अपनी गलती से पराये की तरह रहता हो, और परिवार वाले उसका स्वागत न करते हों; वैसे यह जीव अपने आप में मूलतः अजर, अमर, अखंड, पूर्णकाम, पूर्णतृप्त एवं कल्याणस्वरूप है, परन्तु अपने स्वरूप की भूल से पराया बना है। अपना आपा ही अपने लिए पराया बन गया। जैसे कोई बादशाह अपने शत्रु-द्वारा अपने ही राजभवन में कैद कर दिया गया हो, वैसे यह जीव अपने आप दुखरहित एवं परम शांत होते हुए भूलवश अत्यन्त दुखी बन गया है। अथवा यह अपने साधन-धाम मानव शरीर में रहते हुए भी भूलवश बंधनों में उलझ गया है। शरीर, मन, प्राणी, पदार्थ आदि जो हमारे कल्याण के साधन बन सकते थे, वे ही हमारे भूलवश हमारे लिए बंधन के कारण बन गये हैं। हम भूलवश स्वयं अपने आप के शत्रु बन गये। सद्गुरु कहते हैं कि हे बेगाना जीव! चेत, हे अपने आपा के महत्त्व को न समझने वाला जीव! सावधान हो जा! तू अपने आप के कल्याण का कर्ता और विधाता है! तू स्वयं पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है!

संशय-सागर से पार होओ

संशय सब जग खण्डिया, संशय खण्डे न कोय।
संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥८८॥

शब्दार्थ—संशय = अनिश्चय, संदेह। खण्डिया = नष्ट किया।

भावार्थ—संदेह और अनिश्चय ने संसार के सारे मनुष्यों के मन को उलझा दिया है; किन्तु संदेह एवं अनिश्चय का नाश किसी ने नहीं किया। इनका नाश वही करता है, जो शब्दों का विवेकी होता है॥८८॥

व्याख्या—संशय, सन्देह, अनिश्चय मनुष्य के मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। व्यावहारिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में मनुष्य संशयग्रसित रहता है। हम पहले व्यावहारिक क्षेत्र की बातें लें। पत्नी यदि किसी दूसरे पुरुष से हंसकर बातें कर ले तो पति के मन में संशय होने लगता है कि इसका मन पर-पुरुष में तो नहीं विचलित है! यदि पति थोड़ी देर रात में घर लौटा और कारणवश यह घटना कई दिनों तक हुई तो पत्नी का मन अपने पति के लिए शंकालु हो जाता है कि यह कहीं परायी-स्त्री में तो नहीं लग रहा है! माता-पिता अपने युवक लड़के पर सन्देह करने लगते हैं कि यह अपनी पत्नी

के अधीन तो नहीं होता जा रहा है! बुढ़ापा में हमारी सेवा करेगा भी कि नहीं! लड़के माता-पिता के प्रति सन्देह करने लगते हैं कि इन्होंने अपना धन मुझसे छिपाकर तो नहीं रखा है! भाई पर सन्देह होने लगता है कि यह हमें बेवकूफ बनाता होगा। मित्र पर, पड़ोसी पर सन्देह होता है। दुकानदार पर हमें सन्देह होता ही है कि यह हमें ठग रहा होगा। आदमी मिथ्या स्वार्थ की पूर्ति के लिए इतना चालाक हो गया है कि उसका अपना ही छली मन हर जगह प्रतिबिम्बित होता रहता है। ऐसा भी अवसर आता है कि हमें लोग छलते हैं, परन्तु अधिक तो हमारे मन की कमजोरी होती है और हम कौए की तरह सबसे सन्देह करते रहते हैं। जिसका मन जितना ही अनैतिक होता है उसका मन उतना ही सब पर सन्देह करने वाला होता है। यह सन्देह ऐसा घुन है कि अन्दर-अन्दर चालकर व्यवहार को खराब कर देता है। कितने ही परिवार तथा समाज आपसी सन्देह एवं संशय के कारण एक-दूसरे पर अविश्वास करके अपना पतन कर लेते हैं। परस्पर विश्वास उन्नति का कारण है और अविश्वास पतन का। हेनरी फोर्ड ने लिखा है "साथ-साथ मिलना प्रारंभ है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है और साथ-साथ काम करना सफलता है।" परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब एक दूसरे के प्रति विश्वास हो। विवेकवान संशय दूर करके अपने मन को स्वस्थ रखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपरिचितों से भी सावधान नहीं होता। वह सावधानी की जगह पर सावधान रहता है; परन्तु उसके मन में सन्देह के घुन नहीं होते। इसलिए उसके परिवार या समाज का आपसी व्यवहार विश्वसनीय, मधुर एवं दृढ़ होता है। विवेकी मनुष्य आपसी व्यवहार में कभी थोड़ा ऊंचा-नीचा हो जाने पर एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, किन्तु वे समझते हैं कि यह मनुष्य की स्वभावजनित भूल है। विवेकी मनुष्य आपस में प्रेम एवं विश्वास को दृढ़ रखते हैं।

कई बार मनुष्य संशय करता है कि अमुक लोग हमें गिराना चाहते हैं; परन्तु जांच करने पर ऐसी बात नहीं रहती। कई बार आदमी सोचता है कि मैं अमुक जगह जाऊंगा तो अमुक-अमुक लोग मेरा विरोध करेंगे। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे उसका आदर करते हैं। परिवार में, समाज में, पड़ोस में या जहां तक संशय एवं सन्देह का रोग है, सब इसी प्रकार ज्यादातर भ्रमजनित है। यदि लोगों को थोड़ा-मोड़ा विरोध होता भी है तो मिलने पर वह समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इसलिए विवेकवान का कर्तव्य है कि वह अपने मन को सन्देहरहित स्वस्थ रखे।

दूसरा आधिदैविक संशय होता है। पृथ्वी, चांद, सूरज, नक्षत्र आदि को किसने बनाया होगा; वर्षा, शीत, गरमी, छह ऋतुओं का परिवर्तन कैसे होता है; यह सृष्टि कौन चलाता है, इत्यादि संशय एवं अनिश्चय हैं। विवेकवान समझता है कि पृथ्वी, सूरज, चन्द्रमा तथा असंख्य तारे जड़-प्रकृति के खेल हैं। ये सब जड़-प्रकृति की स्वाभाविक रचना है। जड़तत्त्वों में अपने अन्तर्निहित गुण, धर्म, क्रियादि हैं। उन्हीं से जड़ात्मक सृष्टि स्वयमेव चलती है। वर्षा, गरमी, शीत, भूचाल, ज्वालामुखी, वनस्पति आदि सब का होना-जाना जड़-प्रकृति के गुण-धर्मों से अपने आप है। इधर असंख्य जीव अपने कर्म-संस्कारों के अधीन शरीर धरते-छोड़ते तथा कर्म-फल-भोग भोगते हैं। मनुष्य वासनाओं का त्यागकर इसी जीवन में कृतार्थ भी हो जाता है। मनुष्य के ऊपर कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, कर्ता-

धर्ता नहीं है जो उसका किसी प्रकार हानि-लाभ कर सके। इस प्रकार विवेकवान इन सबके विषयों में निस्सन्देह होता है।

तीसरा आध्यात्मिक संशय होता है। मनुष्य सोचता है कि मैं किसी का अंश हूं या स्वतः अविनाशी हूं! मुझे कोई भगवान या शैतान लाभ-हानि पहुंचाने वाला है कि हमारे अपने शुभाशुभकर्म ही हैं! हम भक्ति, वैराग्य, ज्ञान के पथ पर चलकर इसी जीवन में कल्याण प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं! ऐसे-ऐसे अनेक अनिश्चय, संशय एवं सन्देह होते हैं। विवेकवान समझता है कि हमारी अपनी आत्मा न किसी का अंश है न अंशी, न व्याप्य है न व्यापक, किन्तु सबका साक्षी शुद्ध स्वरूप अविनाशी चेतन है। हमारे अपने अज्ञान तथा ज्ञान ही बंधन-मोक्ष के कारण हैं। हम इसी जीवन में अपने आप का कल्याण कर सकते हैं। इस प्रकार विवेकवान अपने कल्याण के लिए स्वयं को किसी देवी-देवता पर निर्भर नहीं करता। वह समझता है कि हमारा कल्याण हमारे सन्मार्ग का फल है। उसमें सहयोगी विवेकवान संत-सद्गुरु हैं। सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि जो शब्दों का विवेकी होता है, वह निस्सन्देह बोधवान होता है। लोग शब्दों के जाल में उलझे हैं। जिसने शब्दों की परीक्षा कर ली है और जो जड़-चेतन की वास्तविकता के अनुसार ही शब्दों को मान्यता या अमान्यता देता है, वह शब्दों के जाल में नहीं भटकता। "आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते कि कोई आप्त या योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनों को स्वीकार करते हैं जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[१] भामतीकार वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं "हजारों वेद-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[२]

"संशय खण्डे सो जना, जो शब्द विवेकी होय।" जो शब्दों का विवेकी होता है वह संशय का खण्डन करता है। विवेकी पुरुष कहे हुए शब्दों से सत्ता को नहीं तौलता है, किन्तु सत्ता से शब्दों को तौलता है। कहीं किसी ने शब्द कहे हैं या लिखे हैं इसलिए संसार उसके अनुसार नहीं होता, किन्तु संसार जैसा है उसके अनुसार ही कहे हुए या लिखे हुए शब्द मान्य हो सकते हैं। राजा सगर की पत्नी को एक साथ साठ हजार बच्चे पैदा हो गये ऐसा पुराणों में लिखा है इसलिए ऐसा हुआ होगा, ऐसा विवेकी नहीं मानता, किन्तु संसार में ऐसा नहीं होता, इसलिए यह पुराण का शब्द ही गलत है। भरत चित्रकूट के तीर्थों के दर्शन में नंगे पैर चलते हैं, इसलिए पृथ्वी ने अपने आप को कोमल बना लिया, ऐसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है इसलिए यह बात सत्य नहीं हो सकती, बल्कि संसार में ऐसा नहीं होता चाहे जितना बड़ा ज्ञानी या भक्त पैदल चलता हो, जहां की पृथ्वी जैसी है वैसी ही रहती है, इसलिए गोस्वामी जी का यह कथन उनकी केवल भावुकता है। किसी के लिख या कह देने से जड़-चेतनात्मक सत्ता वैसी हो नहीं जाती है; किन्तु जड़-चेतन की जैसी सत्ता है, जैसे उनके गुण-धर्म हैं वैसे लिखने तथा कहने से वे

---

१. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा।
युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधै॥ अनिरुद्धवृत्ति, १/२६॥

२. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ भामती॥

शब्द प्रामाणिक माने जाते हैं। यदि विश्वसत्ता तथा उनके नियमों के विरुद्ध शब्द हैं तो वे चाहे किसी शास्त्र के हों या महापुरुष के, विवेकियों के लिए मान्य नहीं हो सकते।

बातें समझने के बाद मानो

बोलन है बहु भाँति का, तेरे नैनन किछउ न सूझ।
कहहिं कबीर बिचारि के, तैं घट-घट बानी बूझ॥८९॥

शब्दार्थ—बोलन = वाणी, बातें, शब्द। घट-घट = हर दिल, प्रत्येक अन्तःकरण।

भावार्थ—संसार में बातें बहुत प्रकार की होती हैं। तेरे भीतर के नेत्रों से तो कुछ सूझता नहीं है, तू सभी बातों को आंख मूंदकर मान लेता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू सबकी जुबानों से निकली हुई बातों को परख कर समझने का प्रयत्न कर॥८९॥

व्याख्या—कबीर साहेब वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले सन्त पुरुष हैं। वे शास्त्र-प्रमाण एवं आप्त-वचन के नाम पर शब्दों को आंख मूंदकर मानने को अस्वीकार करते हैं। पुराकाल में महर्षि कपिल ने शब्दों की छान-बीन करके मानने तथा न मानने की राय दी थी। आंख मूंदकर शब्द मान लेना चाहिए इसके वे घोर विरोधी थे। महर्षि कणाद तथा महात्मा बुद्ध ने शब्द को प्रमाण कोटि में रखा ही नहीं। इसलिए शब्द प्रमाण से अपने सिद्धांत को जिलाने वाले वेदांती इनसे नाखुश थे। बीच-बीच में तो जाने-अनजाने में सबके मुख तथा लेखनी से यह बात निकल जाती है कि नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए। कबीर तो मानो क्रांति के सुगठित व्यक्तित्त्व ही थे। वे उक्त साखी में बहुत बड़ी क्रांति की बात कह देते हैं।

वे कहते हैं ''बोलन है बहु भाँति का'' अर्थात संसार में बोलना, बात, वाणी शब्द, लेख बहुत प्रकार के हैं। अच्छे-अच्छे प्रसिद्ध ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं, कवि-लेखकों एवं पीर-पैगम्बरों के नाम पर ऐसी-ऐसी बातें लिखी मिलती हैं जिनका विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु उन बातों को धार्मिकों-द्वारा आप्त-वचन एवं शास्त्र-वचन के नाम पर जनता के गले उतारने का प्रयत्न किया जाता है और जो उन पर विचार करना चाहता है उन्हें नास्तिक, काफिर एवं अपवित्र होने का करार दिया जाता है। किन्तु कोई बात इसलिए सत नहीं हो सकती है कि वह किसी बड़े नाम के पुरुष या बड़े नाम के शास्त्र से जुड़ी है। वह तब सत हो सकती है जब वह विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुकूल हो। किसी शास्त्र में लिखे होने के नाते उन शब्दों के अनुसार विश्वसत्ता एवं प्रकृति के नियम नहीं हो जाते, किन्तु विश्वसत्ता एवं प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुसार यदि शब्द हैं तो प्रामाणिक होते हैं, अन्यथा वे मनगढ़ंत हैं। कहीं लिखा है कि हनुमान जी सूरज को निगल गये तो इस लेख के नाते यह प्रकृति में घटना नहीं बन सकती। सूरज पृथ्वी से तेरह लाख गुना बड़ा दहकता हुआ आग का पिंड है। उसे किसी व्यक्ति द्वारा निगल जाने की बात बाल-विनोद के अलावा कुछ नहीं है। हनुमान जी शत योजन अर्थात करीब बारह सौ

किलोमीटर समुद्र का पाट कूद गये और उसके बाद केवल पांच दिनों में समुद्र पर सौ योजन लम्बा तथा दस योजन चौड़ा अर्थात लगभग बारह सौ किलोमीटर लम्बा तथा एक सौ बीस किलोमीटर चौड़ा पत्थर का पुल बन गया।[१] यह सब काव्य के अद्भुत-रस के अलावा कुछ नहीं है। कबीर साहेब ने मुरदे को जिला दिया, जगन्नाथ में समुद्र को रोक दिया, टूटी चौकी तथा पत्थर के जांत को अपनी आज्ञा मात्र से चला दिया, भैंसे से वेद-मंत्र का पाठ करवा दिया, आदि-जैसी बातें सोलहों आने झूठी हैं और कबीर साहेब के खरे ज्ञान के विपरीत हैं। आज राम, कृष्ण, हनुमान, कबीर, ईसा आदि महापुरुष आ जायं तो वे अपने-अपने अनुयायियों को उनके झूठे प्रचार पर उन्हें खूब फटकारेंगे। अधिकतम धर्म वाले महिमा के नाम पर झूठ बोलने में डरते ही नहीं। वे एक तरफ कहते हैं कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है और दूसरी तरफ वे गला फाड़-फाड़कर झूठ बोलते तथा लिखते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं "तेरे नैनन किछउ न सूझ" हे मानव! तेरे नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं देता। क्योंकि तू तथाकथित धार्मिकों-द्वारा अंधश्रद्धा का उपदेश देकर अंधा बना दिया गया है। धर्मगुरुओं ने तेरी आंखों में अज्ञान की पट्टी बांध दी है। उन्होंने तुझे पशु बनाकर मूक होकर चलने की आज्ञा दी है और अब तू चूं भी नहीं कर सकता है। परन्तु तू समझ ले कि इस तरह विवेकहीन होकर न तुम्हें बौद्धिक संतोष मिलेगा न आत्मिक।

"कहहिं कबीर विचारि के, तैं घट-घट बानी बूझ।" सद्गुरु विचारकर कहते हैं कि तुम लोग सबकी बातों को समझने की चेष्टा करो, आंख मूंदकर मानने की नहीं। हे सत्य के इच्छुको, तुम लोग सबकी बातों पर परख की कसौटी लगाओ। तर्कपूर्ण, युक्तियुत एवं विश्वसत्ता तथा प्रकृति के शाश्वत नियमों से मेल खाने वाले वचनों को ही मानो। बिना सिर-पैर की तथा अनर्गल बातों को दूर से ही त्याग दो।

सद्गुरु यह नहीं कहते कि तुम किसी की बातें न मानो या सबकी बातों की अवहेलना कर दो। वे तो कहते हैं "तैं घट-घट बानी बूझ" अर्थात सबके घटों से निकली वाणियों को बूझने की चेष्टा करो। उन्हें अच्छी तरह समझ लो कि उनकी वास्तविकता क्या है! इसके बाद जो त्यागने योग्य है त्याग दो और जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करो।

हम इस साखी का भाव सामान्य व्यवहार के अर्थों में भी ले सकते हैं। "बोलन है बहु भाँति का" संसार के लोगों की बातें अनेक प्रकार से कही जाती हैं। जब तुमसे कोई आदमी मिले और वह अपनी बातें कहे, तब तुम उसकी बातों को समझने की चेष्टा करो। किसी सही आदमी को धोखेबाज समझकर तुम कहीं उसकी अवहेलना न कर दो, और कहीं किसी धोखेबाज आदमी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपने आप को ठगा न दो। ऐसा कई बार होता है कि हम असली आदमी पर भी शंका कर लेते हैं, उसके साथ

---

१. वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड, सर्ग २२, श्लोक ६८ से ७६।

न्याय नहीं कर पाते और कई बार एकदम धोखेबाज की मोहक बातों में फंसकर अपने आप को ठगा देते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम घट-घट से निकली बातों को समझने की चेष्टा करना। सावधान रहना। कहीं ठगाना नहीं।

मन से ऊपर उठकर, स्व-स्वरूप में स्थित होओ

मूल गहे ते काम है, तैं मत भरम भुलाव।
मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव॥९०॥

शब्दार्थ—मूल = वस्तुतत्त्व, निजस्वरूप। सायर = समुद्र। मनसा = इच्छा। लहरि = तरंग।

भावार्थ—निजस्वरूप का बोध एवं स्थिति ग्रहण करने से ही कल्याण है। हे मानव! तू नाना वाणियों एवं मान्यताओं के भ्रम में पड़कर अपने स्वरूप को मत भूल। मन समुद्र है और उसकी इच्छाएं तरंगें हैं, उनमें बहकर कहीं मत जा!॥९०॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में सम्पूर्ण अध्यात्म का सार कह दिया है। किसी भी विषय में एक सिद्धांत होता है और दूसरा व्यवहार, जिसको आज की भाषा में क्रमशः थ्योरी एवं प्रैक्टिकल कहा जाता है। इस साखी के "मूल" शब्द में सिद्धांत की व्यंजना है और "मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" में व्यवहार की व्यंजना है। कबीर देव कहते हैं "मूल गहे ते काम है" मूल है मनुष्य का अपना "आपा" निजस्वरूप। मनुष्य का निजस्वरूप है चेतन। 'मैं हूं' ऐसा स्वीकार करने वाला जड़ नहीं होता, किन्तु चेतन होता है। मैं का लक्षण है ज्ञान। मैं ज्ञानस्वरूप हूं; बस, इस स्थिति में रहना ही अपने मूल स्वरूप में रहना है। किन्तु संसार में भ्रामक शब्दों का जोर है और स्वरूपज्ञान के शब्दों की अत्यन्त कमी, इसलिए मनुष्य भ्रांतियों की धारा में निरन्तर बहता रहता है। सद्गुरु कहते हैं "तैं मत भरम भुलाव" जीव भ्रमित होकर ही अपने आप को भूलता है अथवा स्वयं स्वरूप की भूल के कारण ही बाहरी बातों में भ्रमित होता है। संसार में तो ऐसी वाणियों का अधिकतम जोर है कि जीव तुच्छ है, अंश है, प्रतिबिम्ब है एवं आभास है, जीव कर ही क्या सकता है, वह तो प्रभु के अधीन है, जीव तो कठपुतली है, प्रभु सूत्रधार है, वह जैसा नचावे वैसा जीव नाचे। धर्म के अधिकतम ग्रंथों में मनुष्य के आपा को इतना कुचल दिया गया है कि उसके मन में यह भ्रम बैठ गया है कि हम स्वभावतः तुच्छ हैं। मनुष्य ने यह भ्रम कर लिया है कि हमें डुबाने तथा तारने वाला हमसे अलग कोई बैठा है। इस भ्रांति में पड़कर मनुष्य के मन में बर्फ का गोला जम गया है कि हम अपने आप का उद्धार करने में समर्थ नहीं हैं। सद्गुरु कहते हैं "तैं मत भरम भुलाव" तू वाणी-जाल की भ्रांतियों में पड़कर अपने महत्त्व को मत भूल। तू महान समर्थ है। तू ईश्वर का ईश्वर है, परमात्मा का परमात्मा है और ब्रह्म का ब्रह्म है। ईश्वर, परमात्मा और ब्रह्म शब्द का उच्चारण तूने ही किया है। तूने अपने स्वरूप को भूलकर अपना मालिक अलग मान रखा है। तू अपने आप को तुच्छ मानने का भ्रम न कर। तू अपने आप को, अपने सत्य स्वरूप को, अपनी आत्मा को समझने का प्रयत्न कर। तू ज्ञानस्वरूप, अपने

आप के उद्धार करने में पूर्ण समर्थ तथा स्वतः परमतृप्त स्वरूप है। तेरे लिए तू काफी है तू अपनी सत्ता और महत्ता को समझ!

"मन सायर मनसा लहरि, बहै कतहुँ मत जाव।" मन समुद्र है, इच्छाएं तरंगें हैं। इनमें बहकर कहीं मत जाओ। बस, यही तो साधना है। आप जानते हैं कि समुद्र कितना विशाल होता है और उसमें कैसी असंख्य उत्ताल तरंगें होती हैं! किन्तु लाखों साधारण-से-साधारण आदमी भी उसको जहाज-द्वारा पार करते हैं। परन्तु इच्छा-तरंगों से भरे हुए मन-समुद्र को पार करने वाले कम लोग होते हैं। बाहर का समुद्र सब देखते हैं। उसकी उठती हुई तरंगें एवं ज्वार-भाटे सब देखते हैं, परतु मन का समुद्र बाहरी आंखों से देखने की चीज नहीं है। सबका अपना-अपना मन स्व-संवेद्य है। अर्थात हर व्यक्ति अपना मन स्वयं ही जान सकता है। इस मनरूपी समुद्र में न कोई गहराई है, न चौड़ाई है, न पानी है, न तरंगें हैं; परन्तु दूसरी दृष्टि से देखिए तो इसकी गहराई, चौड़ाई एवं विस्तार, इसका वासनारूपी पानी तथा इच्छारूपी ज्वार-भाटे इतने प्रबल हैं कि हर आदमी इन्हीं में रात-दिन बहकर भटक रहा है। सद्गुरु कहते हैं कि मन-समुद्र तथा इच्छा-तरंगों में बहकर कहीं मत जाना। भजन तथा साधना की यही कसौटी है कि साधक मन की तरंगों में न बहे।

जो संसार के भ्रम तथा भुलावे में नहीं पड़ेगा, जो अपने मूल स्वरूप को ग्रहण कर लेगा, अर्थात जो अपने चेतन-स्वरूप की सत्ता और महत्ता को समझकर अपने आप ही में निमग्न हो जायेगा, वह निश्चित ही मन-मनसा से पार हो जायेगा। श्री भर्तृहरि जी ने भी बहुत सुन्दर ढंग से कहा है—"आशा नाम की एक नदी है, जिसमें अनेक मनोरथों का जल भरा हुआ है, इसमें तृष्णा की तरंगें हैं, राग के ग्राह तथा द्वेष के विषैले पक्षी हैं। यह नदी धैर्यरूपी पेड़ को निरन्तर उखाड़ती है। इसमें मोह के भंवर हैं और चिंता के तट हैं। इसको पवित्र मन वाले योगी पुरुष पार कर जाते हैं।"[1]

विषयी जीवन का अंत निराशा है

भँवर बिलम्बे बाग में, बहु फूलन की बास।
ऐसे जीव बिलम्बे विषय में, अन्तहु चले निरास॥९१॥

शब्दार्थ—भँवर = भ्रमर, जीव। बिलम्बे = बिलमे, भूले, आसक्त हुए।

भावार्थ—जैसे भौंरे बाग में बहुत फूलों की सुगंधी में भूल जाते हैं, वैसे जीव संसार के विषयों में आसक्त होकर अपने आप को भूल जाते हैं और अंत में उन्हें निराश होकर इस संसार से चले जाना पड़ता है॥९१॥

---

१. आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नंदन्ति योगीश्वराः॥ *वैराग्य शतक ४२॥*

व्याख्या—बागों में बहुत प्रकार के फूल होते हैं। भौंरे उनमें आकर उनका रस लेते हैं। वे उनमें इतना लीन हो जाते हैं कि कितने उनमें अपने प्राण भी गंवा बैठते हैं। इसी प्रकार मनुष्य संसार के विविध विषयों में आसक्त होकर उनमें उलझ जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। इनमें ये जीव निरन्तर लीन रहते हैं। इनकी आसक्ति के कारण इन्हें अपने स्वरूप का स्मरण तक नहीं होता कि मैं कौन हूं, कहां आया हूं, कहां डूब गया हूं।

जवानी की चटक-चांदनी चार दिनों के लिए आती है। संसार के नर तथा नारी इसी क्षणिक चमक-दमक में भूल जाते हैं। आदमी बन्दर के समान अत्यन्त चंचल और विषयी हो जाता है। कितने युवक-युवती तो काम-भोग को इतना जीवन-प्राण मान लेते हैं कि थोड़े दिनों में वे अपने आप को परास्त कर देते हैं, और अनेक रोगों से ग्रसित होकर अल्पायु में ही काल के गाल में चले जाते हैं। कितने लोग इतने उन्मादी नहीं होते, परन्तु तो भी वे विषय-सेवन ही जीवन-लाभ मानते हैं। अज्ञानवश उन्हें जवानी, परिवार, धन, प्रभुत्व सब चिरंतन और सत्य दिखते हैं। वे रात-दिन इन्हीं में आसक्त रहते हैं। इनसे एक क्षण भी अपने मन को हटाकर अपने अविनाशी स्वरूप के शोध-बोध एवं साधु-संगत में नहीं लगाते। निरन्तर विषयों में क्षीण होते-होते उनके दिन बीत जाते हैं। थोड़े दिनों में जवानी की चमक चली जाती है। शरीर के ओज एवं गरमी क्षीण हो जाते हैं। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। जिन बच्चों के लिए मनोरम स्वप्न देखते थे, जिनसे लम्बी-लम्बी आशाएं करते थे, वे जवान हो-होकर तथा अपने बीबी-बच्चों, काम-धंधों एवं स्वार्थ में फंसकर नीरस हो जाते हैं। उनसे अपने मन की उम्मीदें क्षीण होने लगती हैं। जिन प्राणी-पदार्थों से महा आनन्द-रस की आशा थी, वे सब धोखा लगने लगते हैं। आदमी "अन्तहु चले निराश" अन्त में संसार से निराश होकर चल देता है।

यह मानव जीवन शूकर-कूकर, बन्दर तथा गोबरौले-कीड़े के समान मलिन भोगों में उलझे रहने के लिए नहीं है। यह विवेकसंपन्न भूमिका है। यहां जीव को अपने अविनाशी स्वरूप का शोधन करना चाहिए। इसे क्षणिक भोगों में नहीं उलझाना चाहिए जिसका फल अन्त में निराशा है। हमें अविनाशी स्वरूपबोध में स्थित होना चाहिए जिसका परिणाम अनंत सुख एवं शांति है।

भंवरजाल तथा बगुजाल से सावधान

भँवरजाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक ॥९२॥

शब्दार्थ—भँवरजाल = सांसारिक झंझट, खानी जाल, मोटी माया। बगुजाल = वाणी जाल, भ्रममान्यताओं का जाल, झीनी माया। अचेत = असावधान, विवेकहीन।

भावार्थ—मोटी माया तथा झीनी माया के दो बहुत बड़े जाल हैं, इनमें बहुत-से लोग फंस जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा ॥९२॥

व्याख्या—नदी के गहरे पानी में कहीं-कहीं भंवर होता है। भंवर का अर्थ है पानी का गोलाई में चक्कर काटना। इस चक्कर में जो प्राणी पड़ जाते हैं, वे उससे शीघ्र निकल नहीं पाते, अधिक तो डूब जाते हैं। काम-भोग तथा इसके लिए घर-गृहस्थी का श्रृंगार एवं सांसारिक झंझट और इनका मोह भंवरजाल है। यही मोटी माया है। यही खानीजाल है। जैसे पानी के भंवर में पड़ा हुआ मनुष्य घूम-घूमकर उसी में डूबता है, वैसे सांसारिक मोह-माया के भंवर में पड़ा हुआ जीव घूम-घूमकर उसी में डूबता है। कितने गृहस्थ लोग प्राय: कहते हैं कि क्या करें साहेब, संसार के भंवरजाल में ऐसा पड़ा हूं कि उसमें से निकल नहीं पाता हूं। प्राणी-पदार्थों का मोह ही भंवरजाल है। पानी के भंवर से बहुत लोग निकल जाते हैं, परन्तु मोह के भंवर से कोई बिरला ही निकलता है।

दूसरा बगुजाल है। बगला सफेद होता है। वह जलाशय के पास अर्धखुले नेत्र करके बैठता है, और कभी-कभी एक पैर उठाकर केवल एक पैर के बल पर ही बैठता है। मालूम होता है कि कोई बहुत बड़े सिद्धयोगी हैं और एक पैर के बल पर खड़े होकर ध्यान में मग्न हैं। परन्तु उसकी यह सारी गतिविधियां मछली पकड़ने के लिए होती हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में बहुत ऐसे गुरुनामधारी हैं जो अपना अनेक चमत्कारी रूप दिखाकर एवं नाना प्रकार ढोंग-ढकोसले करके भावना-प्रधान जनता को अपने जाल में फंसाते हैं और उनमें शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्ग के लोग फंसते हैं। इसको कहते हैं वाणीजाल एवं झीनीमाया। कोई ईश्वर के दर्शन करा रहा है, कोई चुटकी बजाते मोक्ष दे रहा है, कोई किसी की तथाकथित कुण्डलिनी जाग्रत करा रहा है, कोई ऋद्धि-सिद्धि दे रहा है, कोई पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि दे रहा है। कोई तांत्रिक बना है, कोई सिद्धयोगी, कोई अवतार, कोई पैगंबर। संसार के लोग लोभी हैं। इसलिए ठग लोग उन्हें लाभ का झांसा देकर ठग रहे हैं। वे अपना बगुजाल नये-नये प्रकार से तैयारकर तथा संसार में फैलाकर लोगों को फंसाते रहते हैं।

उपर्युक्त भंवरजाल तथा बगुजाल में वे लोग फंसते हैं जो अचेत हैं और संसार में ज्यादा अचेत ही हैं। कितने लोग हैं जो माया-मोह तथा भ्रामक गुरुओं के फंदे से अपने आप को बचा सकते हैं! सद्गुरु ने इन भवजालों से बचने का रास्ता बताया है—विवेक। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक" विवेक मन की वह शक्ति है जिससे चेतन-जड़, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति, स्व-पर के भेद का पता लगता है और उनकी पहचान होती है। विवेक से ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, हित-अहित की परख होती है। विवेक हृदय का प्रकाश है जिससे जहां जो कुछ जैसा है वैसा समझ में आने लगता है। फिर माया के सारे जाल टूटने लगते हैं।

सद्गुरु माया-जाल से बचने के लिए अपनी आत्मा से अलग किसी अदृश्य-शक्ति की प्रार्थना-वन्दना करना नहीं बताते। वे जीव को परमुखापेक्षी बनने की राय न देकर उसे स्वावलंबी होने का निर्देश करते हैं। हे मानव! तू विवेकवान संत-गुरुजनों की संगत कर! अपने हृदय में विवेक का प्रकाश जला और सारे भव-बन्धनों से मुक्ति ले! भंवरजाल तथा बगुजाल से बचकर सदैव अपने विवेक में जागता रह! कभी अचेत न होना! सावधानी ही साधना है!

हरि के लिए मन का भटकाव

तीन लोक टीड़ी भया, उड़ा जो मन के साथ।
हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ॥९३॥

शब्दार्थ—तीन लोक = सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी मनुष्य। टीड़ी = टिड्डी, पंखवाले लाल रंग के कीड़े जो फसल को हानि पहुंचाते हैं। हरिजन = हरि-भक्त। काल = मनःकल्पना।

भावार्थ—जैसे टिड्डी कीड़े हवा के साथ उड़कर यत्र-तत्र नष्ट हो जाते हैं, वैसे त्रिगुणी मनुष्य मन की कल्पनाओं के साथ उड़कर जहां-तहां पतित हो जाते हैं। हरि-भक्त हरि का रहस्य न समझकर मन की कल्पनाओं के फंदे में फंस गये॥९३॥

व्याख्या—टिड्डी पंखवाले लाल रंग के कीड़े होते हैं। ये प्रायः पर्वतों में होते हैं। ये कभी-कभार वहां से उड़कर हवा के रुख के अनुसार किसी दिशा में बह चलते हैं। ये एक साथ लाखों-करोड़ों की तादाद में चलते हैं जिससे दूर से आकाश लाल-लाल दिखने लगता है। ये जहां पेड़-पौधे एवं फसलों पर गिरते हैं उन्हें चरकर साफ कर देते हैं। इसलिए ये जिधर चलते हैं उधर की जनता सावधान हो जाती है और बाजा बजाकर उन्हें खदेड़ती है और फसल आदि में इनके आ गिरने पर डंडे, झाड़ू एवं झांखर से इन्हें मारकर समाप्त करती है।

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे टिड्डी कीड़े हवा के झोंके में उड़कर नष्ट होते हैं, वैसे संसार के लोग अपने मन की कल्पनाओं के झोंके में उड़कर यत्र-तत्र नष्ट होते हैं। इस साखी में टिड्डी का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि मनुष्य अपने मन की कल्पनाओं में बहता है। मनुष्य अनेक इच्छाएं करके अभावग्रस्त रहता है। क्योंकि आदमी के मन में जितनी इच्छाएं उठ खड़ी होती हैं उन सबकी पूर्ति होना असंभव है। ऐसी दशा में निरंतर अभाव एवं असंतोष का अनुभव करने के अलावा कोई चारा ही नहीं। इन्हीं अभावों की पूर्ति के लिए आदमी अपनी आत्मा के अलावा किसी दैवी शक्ति की कल्पना करता है। अपनी आत्मा एवं अपने स्वरूप की पहचान न करना, जगत की परिवर्तनशीलता को न समझना, अपने लिए कर्म-भोग की अनिवार्यता न जानना—इन सब कारणों से आदमी का मन इतना कमजोर होता है कि वह पदे-पदे देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा मानता रहता है। इसी बीच प्रारब्धवशात उसे कोई सांसारिक लाभ हो जाता है तो वह समझता है कि यह अमुक देवी तथा देवता की कृपा का फल है या ईश्वर ने हमारे ऊपर कृपा कर दी है। कुछ लोग कहते हैं कि भाई, विरक्तों की बात छोड़ दीजिए, गृहस्थों को ऐसी धारणा रखनी ही पड़ती है। परन्तु चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, यह धारणा किसी के लिए कल्याणप्रद नहीं है। यह धारणा तो मनुष्य के मन को केवल कमजोर बनाती है। इससे किसी का वास्तविक लाभ नहीं है। इससे तो केवल हानि है।

मनुष्य का अपना आपा अर्थात जीव अमर है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। शरीर नाशवान है। इसको मरने से कोई बचा नहीं सकता। जब तक जीवन की अवधि है तब तक शरीर कोई छीन नहीं सकता और अवधि समाप्त होने पर इसे कोई मरने से रोक

व्याख्या—नदी के गहरे पानी में कहीं-कहीं भंवर होता है। भंवर का अर्थ है पानी का गोलाई में चक्कर काटना। इस चक्कर में जो प्राणी पड़ जाते हैं, वे उससे शीघ्र निकल नहीं पाते, अधिक तो डूब जाते हैं। काम-भोग तथा इसके लिए घर-गृहस्थी का शृंगार एवं सांसारिक झंझट और इनका मोह भंवरजाल है। यही मोटी माया है। यही खानीजाल है। जैसे पानी के भंवर में पड़ा हुआ मनुष्य घूम-घूमकर उसी में डूबता है, वैसे सांसारिक मोह-माया के भंवर में पड़ा हुआ जीव घूम-घूमकर उसी में डूबता है। कितने गृहस्थ लोग प्रायः कहते हैं कि क्या करें साहेब, संसार के भंवरजाल में ऐसा पड़ा हूं कि उसमें से निकल नहीं पाता हूं। प्राणी-पदार्थों का मोह ही भंवरजाल है। पानी के भंवर से बहुत लोग निकल जाते हैं, परन्तु मोह के भंवर से कोई बिरला ही निकलता है।

दूसरा बगुजाल है। बगला सफेद होता है। वह जलाशय के पास अर्धखुले नेत्र करके बैठता है, और कभी-कभी एक पैर उठाकर केवल एक पैर के बल पर ही बैठता है। मालूम होता है कि कोई बहुत बड़े सिद्धयोगी हैं और एक पैर के बल पर खड़े होकर ध्यान में मग्न हैं। परन्तु उसकी यह सारी गतिविधियां मछली पकड़ने के लिए होती हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में बहुत ऐसे गुरुनामधारी हैं जो अपना अनेक चमत्कारी रूप दिखाकर एवं नाना प्रकार ढोंग-ढकोसले करके भावना-प्रधान जनता को अपने जाल में फंसाते हैं और उनमें शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्ग के लोग फंसते हैं। इसको कहते हैं वाणीजाल एवं झीनीमाया। कोई ईश्वर के दर्शन करा रहा है, कोई चुटकी बजाते मोक्ष दे रहा है, कोई किसी की तथाकथित कुण्डलिनी जाग्रत करा रहा है, कोई ऋद्धि-सिद्धि दे रहा है, कोई पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि दे रहा है। कोई तांत्रिक बना है, कोई सिद्धयोगी, कोई अवतार, कोई पैगंबर। संसार के लोग लोभी हैं। इसलिए ठग लोग उन्हें लाभ का झांसा देकर ठग रहे हैं। वे अपना बगुजाल नये-नये प्रकार से तैयारकर तथा संसार में फैलाकर लोगों को फंसाते रहते हैं।

उपर्युक्त भंवरजाल तथा बगुजाल में वे लोग फंसते हैं जो अचेत हैं और संसार में ज्यादा अचेत ही हैं। कितने लोग हैं जो माया-मोह तथा भ्रामक गुरुओं के फंदे से अपने आप को बचा सकते हैं! सद्गुरु ने इन भवजालों से बचने का रास्ता बताया है—विवेक। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक" विवेक मन की वह शक्ति है जिससे चेतन-जड़, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति, स्व-पर के भेद का पता लगता है और उनकी पहचान होती है। विवेक से ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, हित-अहित की परख होती है। विवेक हृदय का प्रकाश है जिससे जहां जो कुछ जैसा है वैसा समझ में आने लगता है। फिर माया के सारे जाल टूटने लगते हैं।

सद्गुरु माया-जाल से बचने के लिए अपनी आत्मा से अलग किसी अदृश्य-शक्ति की प्रार्थना-वन्दना करना नहीं बताते। वे जीव को परमुखापेक्षी बनने की राय न देकर उसे स्वावलंबी होने का निर्देश करते हैं। हे मानव! तू विवेकवान संत-गुरुजनों की संगत कर! अपने हृदय में विवेक का प्रकाश जला और सारे भव-बन्धनों से मुक्ति ले! भंवरजाल तथा बगुजाल से बचकर सदैव अपने विवेक में जागता रह! कभी अचेत न होना! सावधानी ही साधना है!

हरि के लिए मन का भटकाव

तीन लोक टीड़ी भया, उड़ा जो मन के साथ।
हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ॥९३॥

शब्दार्थ—तीन लोक = सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी मनुष्य। टीड़ी = टिड्डी, पंखवाले लाल रंग के कीड़े जो फसल को हानि पहुंचाते हैं। हरिजन = हरि-भक्त। काल = मनःकल्पना।

भावार्थ—जैसे टिड्डी कीड़े हवा के साथ उड़कर यत्र-तत्र नष्ट हो जाते हैं, वैसे त्रिगुणी मनुष्य मन की कल्पनाओं के साथ उड़कर जहां-तहां पतित हो जाते हैं। हरि-भक्त हरि का रहस्य न समझकर मन की कल्पनाओं के फंदे में फंस गये॥९३॥

व्याख्या—टिड्डी पंखवाले लाल रंग के कीड़े होते हैं। ये प्रायः पर्वतों में होते हैं। ये कभी-कभार वहां से उड़कर हवा के रुख के अनुसार किसी दिशा में बह चलते हैं। ये एक साथ लाखों-करोड़ों की तादाद में चलते हैं जिससे दूर से आकाश लाल-लाल दिखने लगता है। ये जहां पेड़-पौधे एवं फसलों पर गिरते हैं उन्हें चरकर साफ कर देते हैं। इसलिए ये जिधर चलते हैं उधर की जनता सावधान हो जाती है और बाजा बजाकर उन्हें खदेड़ती है और फसल आदि में इनके आ गिरने पर डंडे, झाड़ू एवं झांखर से इन्हें मारकर समाप्त करती है।

सद्गुरु कहते हैं कि जैसे टिड्डी कीड़े हवा के झोंके में उड़कर नष्ट होते हैं, वैसे संसार के लोग अपने मन की कल्पनाओं के झोंके में उड़कर यत्र-तत्र नष्ट होते हैं। इस साखी में टिड्डी का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि मनुष्य अपने मन की कल्पनाओं में बहता है। मनुष्य अनेक इच्छाएं करके अभावग्रस्त रहता है। क्योंकि आदमी के मन में जितनी इच्छाएं उठ खड़ी होती हैं उन सबकी पूर्ति होना असंभव है। ऐसी दशा में निरंतर अभाव एवं असंतोष का अनुभव करने के अलावा कोई चारा ही नहीं। इन्हीं अभावों की पूर्ति के लिए आदमी अपनी आत्मा के अलावा किसी दैवी शक्ति की कल्पना करता है। अपनी आत्मा एवं अपने स्वरूप की पहचान न करना, जगत की परिवर्तनशीलता को न समझना, अपने लिए कर्म-भोग की अनिवार्यता न जानना—इन सब कारणों से आदमी का मन इतना कमजोर होता है कि वह पदे-पदे देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा मानता रहता है। इसी बीच प्रारब्धवशात उसे कोई सांसारिक लाभ हो जाता है तो वह समझता है कि यह अमुक देवी तथा देवता की कृपा का फल है या ईश्वर ने हमारे ऊपर कृपा कर दी है। कुछ लोग कहते हैं कि भाई, विरक्तों की बात छोड़ दीजिए, गृहस्थों को ऐसी धारणा रखनी ही पड़ती है। परन्तु चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, यह धारणा किसी के लिए कल्याणप्रद नहीं है। यह धारणा तो मनुष्य के मन को केवल कमजोर बनाती है। इससे किसी का वास्तविक लाभ नहीं है। इससे तो केवल हानि है।

मनुष्य का अपना आपा अर्थात जीव अमर है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। शरीर नाशवान है। इसको मरने से कोई बचा नहीं सकता। जब तक जीवन की अवधि है तब तक शरीर कोई छीन नहीं सकता और अवधि समाप्त होने पर इसे कोई मरने से रोक

नहीं सकता। जीव ने पहले या आज जो कुछ कर्म किये हैं उनके फल-भोग उसे भोगने हैं। उनसे भी उसे कोई बचा नहीं सकता। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्णादि सब ने अपने कर्म-फल-भोग भोगे हैं। फिर कायर होकर देवी-देवता पुकारने से केवल अपने समय और शक्ति को बरबाद करने के अलावा क्या है!

जड़ और चेतन की सत्ता का वास्तविक बोध न होने से कमजोर मन वालों ने अपनी आत्मा से अलग हरि एवं ईश्वर की कल्पना की और उसकी महिमा में धीरे-धीरे अपार वाणियां बन गयीं। इन वाणियों को सुन-सुनकर मनुष्यों का मन आकाश में उड़ने लगा। धर्मग्रन्थों में हरि के ऐसे आकर्षक रूप निरूपित किये गये कि भक्ति-द्वारा उस तक पहुंचने पर परमानन्द प्राप्त होने के सपने दिखने लगे। स्वर्ग की कल्पना, स्वर्ग में दिव्य भोगों की कल्पना, वहां बैठे व्यक्ति-ईश्वर से मिलकर अनन्तकाल तक के लिए अनन्त आनन्द प्राप्ति की कल्पना, इन सारी कल्पनाओं ने हरिजनों को टिड्डी-दल की तरह उड़ाया और ये अपने मन की कल्पना में उड़ने लगे। परन्तु "हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।" हरिजन लोग यह नहीं समझ सके कि यह मन की कल्पना दिवास्वप्न है। मनुष्य की आत्मा से अलग ऐसा कोई हरि नहीं है जिसका कहीं धाम या लोक हो और वह मिलता हो। यह सब तो केवल मन की कल्पना है। जब तक जीव इन कल्पनाओं के हाथों में पड़ा रहेगा तब तक वह भटकता रहेगा। ये कल्पनाएं ही काल हैं, पीड़ा देने वाली हैं। जब जीव सारी कल्पनाएं छोड़ देता है तब वह स्वयं में पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, वह जितनी कल्पनाएं एवं संसार की इच्छाएं छोड़ता जायेगा उतना संतुष्ट होता जायेगा। मनुष्य की अपनी आत्मा ही हरि है, परमात्मा है, परब्रह्म है। अपने चेतनस्वरूप का विस्मरण कर, अपने आपा की स्थिति छोड़कर तो हम केवल मन की कल्पनाओं में ही उड़ने लगते हैं। अतएव अपने स्वरूप से अलग हरि खोजने वालों के लिए सद्गुरु कबीर का यह करारा व्यंग्य है—"हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ।"

मन की लहरें विवेक से शांत होती हैं

नाना रंग तरंग है, मन मकरन्द असूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ॥९४॥

शब्दार्थ—रंग तरंग = भावनाओं की लहरें। मकरन्द = फूलों का रस, मधु, फूलों का केसर, भ्रमर-कीड़ा। असूझ = अंधा। अकिल कला = अक्ल का गुण, विवेक बुद्धि, परख।

भावार्थ—कल्पनाओं एवं भावनाओं की नाना लहरें हैं। मन भंवरा उनमें पड़कर अंधा बना रहता है। कबीर साहेब मनुष्यों की भीड़ में सबको उच्चस्वर में सुनाकर कह रहे हैं—हे मनुष्यो! तुम इनसे पार होने के लिए विवेकी गुरु के पास विवेकज्ञान एवं परखरूपी साधन जानने का प्रयास करो॥९४॥

व्याख्या—"नाना रंग-तरंग है" मन की अनेक भावनाओं की लहरें हैं। जीभ से स्वाद चखने की लहरें, आंखों से अनुकूल रूप देखने की लहरें, नाक से गंध सूंघने की

लहरें, कानों से अनुकूल शब्द सुनने की लहरें, त्वचा से कोमल तथा अनुकूल स्पर्श करने की लहरें, मन से संकल्प-विकल्प की लहरें, पत्नी, संतान, धन, ऐश्वर्य, सम्मान, प्रतिष्ठादि प्राप्त करके उनमें विलसने की लहरें। मनुष्य के मन में हर क्षण अनगिनत लहरें उठती रहती हैं। इन सबके मूल में है मन और इन्द्रियों के संपर्क में आने वाले विषयों के संयोग में उत्पन्न सुख-भ्रम। विषय-सुख-भ्रम की भावनाओं की लहरें-पर-लहरें आती हैं और मनुष्य का मन-भंवरा सदैव इन्हीं में अंधा बना रहता है "मन मकरन्द असूझ"। मकरन्द के अर्थ पुष्परस, मधु तथा पुष्प-केसर होते हैं और मकरन्द का अर्थ भ्रमर एवं भौंरा-कीड़ा भी होता है। इसलिए मन विषय-रस में अंधा बना रहता है या मन-भंवरा विषय-रस में अंधा बना रहता है, दोनों तरह से अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। सार अर्थ यही है कि मन विषयों की भावनाओं में डूबकर मूढ़ हो जाता है।

केवल स्थूल विषयों में मन मूढ़ बना रहता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु लोक-लोकान्तर, देवी-देवता तथा कमलों के समान हाथ, पैर, मुख, आंख, छाती, गाल वाले ईश्वर को भी देखने एवं पाने के लिए मनुष्य का मन मतवाला बना रहता है। इस प्रकार मनुष्य का मन सांसारिक विषयों तथा धार्मिक काल्पनिक भावनाओं की लहरों में भी मतवाला बना रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तैं अकिल कला ले बूझ" कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि तुम अक्ल का गुण प्राप्त करो। निष्पक्ष गुरु-संतों के बीच में जाकर यह समझो कि अकिल-कला क्या है! अकिल-कला से ही इन तरंगों में बहने से बच पाओगे। अकिल-कला, सद्बुद्धि, विवेकज्ञान एवं परख ये सब करीब-करीब एकार्थबोधक हैं। मनुष्य विवेकज्ञान-द्वारा ही मन की तरंगों से अपने आप को बचा पायेगा।

मनुष्य के निज स्वरूप चेतन से अलग जो कुछ है या तो दृश्य जड़ तत्त्वों का पसारा है या मनःकल्पनाओं का पसारा, और ये दोनों मन-द्वारा ही जीव के सामने होते हैं। अतएव जीव का जगत से संबंध जोड़ने वाला केवल मन ही है। यही मन तरंगवान बनकर लहरों-पर-लहर लाकर जीव के सामने संसार उपस्थित करता है। जब मनुष्य को विवेक-ज्ञान उदय होता है कि मैं शुद्ध चेतन हूं और मन तथा मन से प्रतीतमान सारा संसार मुझसे सर्वथा पृथक है, तब वह मन सहित सारे दृश्यों को छोड़कर मात्र अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है। मन की तरंग शांत हो जाने पर उसके लिए संसार शांत हो जाता है। मन से ही विषयों की कल्पना होती है तथा मन से ही देवी-देवादि की। अकिल-कला—विवेक-ज्ञान-द्वारा जब मन शांत हो जाता है, तब नाना रंग-तरंगें समाप्त हो जाती हैं और जीव असंग स्वरूपस्थ हो जाता है।

मन की चंचलता को जीतो

बाजीगर का बाँदरा, ऐसा जीव मन के साथ।
नाना नाच नचाय के, ले राखे अपने हाथ॥९५॥

शब्दार्थ—बाजीगर = जादू का खेल दिखाने वाला।

भावार्थ—जैसे बाजीगर बन्दर को नचाता है और उससे नाना खेल कराकर उसे अपने हाथों में रखता है, वैसे ही मन जीव को नाना नाचों में नचाता है और सदैव अपने वश में रखता है।।९५।।

व्याख्या—जीव स्वतंत्र चेतन है और मन एक आभास मात्र है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि सत्य चेतन जीव असत्य मन के हाथों बिक गया है। बाजीगर बन्दर को डोरी में बांधकर रखता है और उसे अपनी इच्छा के अनुसार नचाता है। खेद है कि वैसे ही मन जीव को आसक्ति की डोरी में बांधकर उसे अपने वश में रखता है और अपने इच्छानुसार नचाता है। आप देखते नहीं, अच्छे-अच्छे सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोग बीड़ी-सिगरेट, चरस-तम्बाकू आदि खाने-पीने की आदत बना लेते हैं और उनकी आसक्ति में बंधकर सदैव अपने मन की गुलामी करते हैं! वे समझते भी हैं कि ये सब गलत हैं, स्वास्थ्य और शांति के शत्रु हैं; परन्तु अपने मन को नहीं रोक पाते। इसी प्रकार शराब, मांस, काम-भोग तथा नाना प्रकार के विषयों में आदत बनाकर उनकी आसक्ति में बंधा जीव मन के हाथ बिका रहता है और जीवनभर नाचता रहता है।

जैसे एक सम्राट नशा कर लेने से अपने आप को भिखारी मानकर दुखी हो, वैसे जीव स्वरूपतः सम्राट होकर भी अपने स्वरूप के अज्ञान से मन के वश दुखी है। ये विषय की इच्छाएं ही तो जीव को संसार में नाना नाच नचाती हैं। यदि जीव विषयों की इच्छा छोड़ दे, तो उसे कौन विवश कर सकता है! जीव का शुद्ध स्वरूप विषयों से रहित है। उसे अपने आप को पहचानना चाहिए। जो तंबाकू नहीं खाता, बीड़ी-सिगरेट नहीं पीता, वह इनके लिए कहां नाचता है! इसलिए मन के वश में पड़कर नाचने का अर्थ है विषयों की आसक्ति के वश होकर नाचना। बंधन है विषयासक्ति और मोक्ष है सभी आसक्तियों से मुक्त हो जाना।

मन नचाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मन कोई सबल जानवर है और वह हमें पकड़कर नचाता है। मन तो एक काम-काज का साधन है। परन्तु जब मन में संसार के नाना विषयों की आसक्ति बनी रहती है और हम उन-उन विषयों में खिंच-खिंचकर भटकते हैं, तो कहा जाता है कि मन हमें नचाता है। यदि हम विवेकपूर्वक जीवन जीयें और विषयों की आसक्ति छोड़ दें, अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह लेते हुए शेष अन्य विषयों के उपभोग भी छोड़ दें, तो इस प्रकार विषयों के भोग तथा आसक्ति छोड़ देने पर हमारा मन अनासक्त, शुद्ध एवं संयत हो जाता है। फिर तो वही मन हमारे लिए शांति का कारण बन जाता है। विषयों में आसक्त मन जीव को भटकाता है और अनासक्त मन शांति का अनुभव कराता है।

ई मन चंचल ई मन चोर, ई मन शुद्ध ठगहार।
मन-मन करते सुर-नर मुनि जहँड़े, मन के लक्ष दुवार।।९६।।

शब्दार्थ—शुद्ध = केवल, खालिस। जहँड़े = नष्ट हुए। लक्ष = लाख की संख्या, लक्ष्य-स्मरण। दुवार = दरवाजा।

भावार्थ—जैसे बाजीगर बन्दर को नचाता है और उससे नाना खेल कराकर उसे अपने हाथों में रखता है, वैसे ही मन जीव को नाना नाचों में नचाता है और सदैव अपने वश में रखता है।।९५।।

व्याख्या—जीव स्वतंत्र चेतन है और मन एक आभास मात्र है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि सत्य चेतन जीव असत्य मन के हाथों बिक गया है। बाजीगर बन्दर को डोरी में बांधकर रखता है और उसे अपनी इच्छा के अनुसार नचाता है। खेद है कि वैसे ही मन जीव को आसक्ति की डोरी में बांधकर उसे अपने वश में रखता है और अपने इच्छानुसार नचाता है। आप देखते नहीं, अच्छे-अच्छे सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोग बीड़ी-सिगरेट, चरस-तम्बाकू आदि खाने-पीने की आदत बना लेते हैं और उनकी आसक्ति में बंधकर सदैव अपने मन की गुलामी करते हैं! वे समझते भी हैं कि ये सब गलत हैं, स्वास्थ्य और शांति के शत्रु हैं; परन्तु अपने मन को नहीं रोक पाते। इसी प्रकार शराब, मांस, काम-भोग तथा नाना प्रकार के विषयों में आदत बनाकर उनकी आसक्ति में बंधा जीव मन के हाथ बिका रहता है और जीवनभर नाचता रहता है।

जैसे एक सम्राट नशा कर लेने से अपने आप को भिखारी मानकर दुखी हो, वैसे जीव स्वरूपतः सम्राट होकर भी अपने स्वरूप के अज्ञान से मन के वश दुखी है। ये विषय की इच्छाएं ही तो जीव को संसार में नाना नाच नचाती हैं। यदि जीव विषयों की इच्छा छोड़ दे, तो उसे कौन विवश कर सकता है! जीव का शुद्ध स्वरूप विषयों से रहित है। उसे अपने आप को पहचानना चाहिए। जो तंबाकू नहीं खाता, बीड़ी-सिगरेट नहीं पीता, वह इनके लिए कहां नाचता है! इसलिए मन के वश में पड़कर नाचने का अर्थ है विषयों की आसक्ति के वश होकर नाचना। बंधन है विषयासक्ति और मोक्ष है सभी आसक्तियों से मुक्त हो जाना।

मन नचाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मन कोई सबल जानवर है और वह हमें पकड़कर नचाता है। मन तो एक काम-काज का साधन है। परन्तु जब मन में संसार के नाना विषयों की आसक्ति बनी रहती है और हम उन-उन विषयों में खिंच-खिंचकर भटकते हैं, तो कहा जाता है कि मन हमें नचाता है। यदि हम विवेकपूर्वक जीवन जीयें और विषयों की आसक्ति छोड़ दें, अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह लेते हुए शेष अन्य विषयों के उपभोग भी छोड़ दें, तो इस प्रकार विषयों के भोग तथा आसक्ति छोड़ देने पर हमारा मन अनासक्त, शुद्ध एवं संयत हो जाता है। फिर तो वही मन हमारे लिए शांति का कारण बन जाता है। विषयों में आसक्त मन जीव को भटकाता है और अनासक्त मन शांति का अनुभव कराता है।

ई मन चंचल ई मन चोर, ई मन शुद्ध ठगहार।
मन-मन करते सुर-नर मुनि जहँड़े, मन के लक्ष दुवार।।९६।।

शब्दार्थ—शुद्ध = केवल, खालिस। जहँड़े = नष्ट हुए। लक्ष = लाख की संख्या, लक्ष्य-स्मरण। दुवार = दरवाजा।

भावार्थ—यह मन चंचल है, यह मन चोर है और यह मन केवल ठगहार है। मन पर विचार और चर्चा करते-करते देवता, मनुष्य और मुनि लोग भी मन ही की धारा में बह गये; क्योंकि मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं॥९६॥

व्याख्या—मन की चंचलता सर्वविदित है। संसार के सभी लोग तो मन से परेशान हैं। जहां जाओ, जितने लोग मिलते हैं सब यही कहते हैं कि मन अशांत है, मन वश में नहीं हो रहा है। संसार की वे सारी चीजें हैं जो जीवन के लिए चाहिए; परन्तु मन ही नहीं शांत होता। मनुष्य को नींद क्यों नहीं आती है, क्योंकि मन परेशान है। पूजा में बैठे हैं, ध्यान में बैठे हैं, कथा-कीर्तन में बैठे हैं, परन्तु मन कहां-कहां घूम रहा है, यह अन्दर वाला ही जान सकता है, ऊपर वाला नहीं जान सकता। पवित्र स्थान में बैठे-बैठे मन क्षण ही में कितनी गंदी-गंदी जगहों में जा सकता है यह सर्वसामान्य का अपना-अपना अनुभव है। यह मन पल मात्र में कश्मीर से कन्याकुमारी तथा भारत से अमेरिका ही नहीं, किन्तु जहां तक उसकी कल्पना में आ जाय आकाश-पाताल नाप लेता है। मन का भटकाव ही तो जीव का भवजाल में पड़ा रहना है।

यह मन चोर है। जिन-जिन विषयों में आसक्ति बनी है, उन-उन में मन चुपके से चल देता है। मन अपना दावं खेलने में चतुर है। सबसे छिपाकर मन चाहे हुए भोगों में पहुंच जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि इतना ही नहीं, मन शुद्ध ठगहार है। यहां शुद्ध शब्द ठगहार का विशेषण है। अर्थात यह मनं खालिस ठगहार है। ठगहार आदमी लोगों को अच्छे माल का झांसा देकर बुरा माल बेच देता है। ठगहार सोना का कड़ा दिखाकर ग्राहक से भरपूर दाम ले लेता है, परन्तु जब ग्राहक कड़ा लेकर घर जाता है और सुनार से उसकी परख कराता है तब वह पीतल ठहरता है। यह मन भी जीव के साथ यही करता है। धर्म का लोभ दिखाकर अधर्म में लगाता है। जीव कहता है विषय-मार्ग में नहीं चलूंगा, मैं तो ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के मार्ग में चलूंगा। मन कहता है कोई बात नहीं, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही चलूंगा। इस प्रकार मन ऊपर-ऊपर जीव को धर्म का झांसा देकर ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के स्मरण करते-करते विषय के चिन्तन में ले जाकर पहुंचा देता है। मन जीव को ठगना खूब जानता है। वह जीव के परमार्थ-मार्ग में मिल-मिलकर स्वार्थ में उसे घसीटता रहता है। देखते नहीं हो, कितने धर्म, भक्ति और ज्ञान-वैराग्य का जामा पहने हुए लोग थोड़े दिनों में अपने मार्ग से भटककर कहां-कहां विचरने लगते हैं!

"मन-मन करते सुर-नर मुनि जहँड़े" बड़ा मार्मिक वचन है। सुर देवता हैं, नर मनुष्य हैं और मुनि मननशील तपस्वी हैं। देवताओं की दशा तो सदैव दयनीय रही है। पुराकाल में देवता भारत के उत्तराखण्ड में बसने वाली एक जाति थी जो धन-सम्पन्न थी। उनमें नर तथा नारी वैवाहिक बंधन में नहीं रहते थे। वे यौनाचार में अत्यंत उच्छृंखल थे। देवपति इन्द्र का चरित्र जगजाहिर है जिसने पुलोम नाम के दानव तथा उसके संभावित दामाद की हत्याकर उसकी पुत्री शची को छीन लिया और उसे अपनी पत्नी बना लिया तथा जगह-जगह अपने आचरण की शिथिलता का व्यवहार करता रहा। देवता के बाद मनुष्यों की दशा तो सामने है जो विषयों के कीट बने घिनौने-से-घिनौने काम करने पर उतारू हो जाते हैं। तीसरे हैं मुनिजन, जिनमें अनेक लोग मन के चक्कर में पड़कर अपने तप,

ध्यान को तिलांजलि देकर काम, क्रोध तथा लोभ की धारा में बहते रहे। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि मन पर विचार और चर्चा करते-करते ये देवता, मनुष्य तथा मुनिजन भी मन की धारा में ही बहते रहे।

"मन के लक्ष दुवार" मन को निकल भागने के लिए लाखों दरवाजे हैं। किस रास्ते से मन कब भाग जाता है साधारण मनुष्य इसका पता भी नहीं पाता है। यह शुभ रास्ते में होते हुए भी अशुभ में चला जाता है। मन का चक्कर बहुत घुमावदार है।

इस साखी में 'शुद्ध ठगहार' तथा 'लक्ष दुवार' के दूसरे अर्थ भी किये जा सकते हैं। 'ठगहार' का 'शुद्ध' शब्द विशेषण न मानकर यदि उसका अलग से अर्थ किया जाय तो अभिप्राय होगा कि मन शुद्ध भी है और ठगहार भी है। मन के दो पहलू हैं एक शुद्ध तथा दूसरा अशुद्ध। अशुद्ध मन ठगहार है और वही बन्धन का कारण है। शुद्ध मन सरल है तथा मोक्ष का कारण है।

'मन के लक्ष दुवार' में दूसरा अर्थ होगा कि मन के निकल भागने का दरवाजा लक्ष्य एवं स्मरण ही है। अर्थात मन के निकल भागने का केवल एक दरवाजा है और वह लक्ष्य, स्मरण एवं ख्याल है। इसलिए यदि साधक अपने स्मरण पर सावधान रहे तो मन गलत रास्ते में जाने की गुंजाइश ही नहीं पायेगा। जैसे किसी के दरवाजे पर डाकू आ गये हों, किन्तु घर का मालिक घर के भीतर दरवाजे पर तलवार लेकर बैठा है। घर में घुसने का मात्र वही एक दरवाजा है। अतः जो डाकू दरवाजे में सिर डालता है, घर का मालिक उसका सिर काट देता है। दूसरा दरवाजा ही नहीं है कि डाकू घुस जायं, वैसे मन को भागने का एक ही दरवाजा है स्मरण; और साधक सावधान होकर यदि स्मरण पर निरन्तर बैठा है तो मन कहां जा सकता है! जो साधक हर क्षण अपने स्मरणों का साक्षी बना रहता है, वह मन के प्रपंच से मुक्त हो जाता है।

यह तो पिछली साखी की व्याख्या में ही निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है कि वह जीव को विवश कर सके। वस्तुतः जीव ही अपने स्वरूप को भूलकर नाना विषयों में आसक्त हो जाता है, इसलिए उन सब में मन भटकता है। जिसको स्व-स्वरूप का ज्ञान हुआ और विषयों की आसक्ति समाप्त हुई, वह बड़ी सरलता से मन का साक्षी होकर शांति को प्राप्त होता है। भूल दशा में जो मन क्षण मात्र के लिए स्थिर नहीं होता, वही ज्ञान-दशा में इतना शांत हो जाता है कि उससे देह-व्यवहार का काम लेने के लिए उसे जगाना पड़ता है, तब वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

राम-वियोगी को खरा सत्य कहकर दुखाओ मत

बिरह भुवंगम तन डँसो, मन्त्र न माने कोय।
राम बियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय॥९७॥

राम बियोगी बिकल तन, इन्ह दुखवो मति कोय।
छूवत ही मरि जायँगे, तालाबेली होय॥९८॥

बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव।
साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥९९॥

शब्दार्थ—बिरह = वियोग, जुदाई, बिछुड़न में अनुभूत होने वाला अनुराग। भुवंगम = सर्प। बाउर = पागल। तालाबेली = व्याकुलता, तिलमिलाहट। पैठि के = घुसकर।

भावार्थ—जिसको राम-वियोग के सांप ने डस लिया है, उसे किसी प्रकार के उपदेशरूप मंत्र नहीं लगते। राम-वियोगी जीवित नहीं रह सकता, यदि कदाचित जीवित रह जाय, तो पागल हो जाता है॥९७॥ जो लोग राम को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से पीड़ित रहते हैं, उन्हें यह कहकर मत दुखाओ कि तुम्हारी आत्मा से अलग कहीं कोई राम नहीं है। क्योंकि वे इतनी बातें सुनते ही तिलमिलाकर अत्यंत पीड़ित हो जायेंगे॥९८॥ ईश्वर-वियोगजनित सर्प ने उनके हृदय में घुसकर घाव बना दिया है। परन्तु वे साधक विरह-सर्प से अपने अंग नहीं बचाते, वह जैसा चाहे उन्हें खा ले॥९९॥

व्याख्या—वैसे ईश्वर-ईश्वर कहने वाले अधिकतम लोग हैं, उनकी बात छोड़िये। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे ईश्वर-वियोग से अत्यन्त बेचैन होते हैं। उन्होंने यह मान रखा है कि मेरी आत्मा से अलग ईश्वर है, मैं उससे बिछुड़ गया हूं, वह अलग है तथा मैं अलग हूं। इस भ्रमजनित अलगाव की अनुभूति उन्हें तीव्रतम रूप से होती है। मानो विरह के सांप ने उन्हें काट खाया हो। विरह का अर्थ ही होता है वियोग में अनुभूत होने वाला अनुराग। ऐसे लोगों को कोई मन्त्र नहीं लगता है। ऐसे लोगों को यदि आप यह समझाओ कि नहीं, आपसे अलग ईश्वर नहीं है, आपकी आत्मा ही सर्वोच्च है, आपका चेतनस्वरूप ही परम सत्ता है, तो यह सब बातें उनके गले उतरने की नहीं होंगी। वे इस बात को समझ ही नहीं सकते। ऐसे राम-वियोगी लोग जीते रहना भी पसंद नहीं करते। वे सोचते हैं कि जिस शरीर से प्रभु के दर्शन नहीं हुए, वह शरीर रखकर क्या होगा! अतएव वे अपना शरीर तक त्याग देते हैं। यदि वे जीवित भी रहते हैं, तो पागल होकर जीते हैं। उन्मत्त की तरह चेष्टा करते हैं। वे सदैव वनों एवं बादलों की श्यामता में, समुद्र की लहरों में, आकाश की अनंतता में तथा प्रकृति की क्रियाओं में उसे खोजते हैं। यद्यपि उनका यह सब केवल पागलपन ही रहता है; तथापि वे अपने इस पागलपन को सच्ची ईश्वर-निष्ठा मानते हैं। संसार के लोग भी उनको उच्चकोटि के भक्त एवं संत मानते हैं। उनके इस उन्माद से उनके सांसारिक विषय छूट जाते हैं। इसलिए उनका जीवन स्वच्छ हो जाता है। इसमें दो राय नहीं हैं। परन्तु ईश्वर को अलग खोजने का अज्ञान उनको जीवनभर केवल भटकाता है।

इस प्रकार विरह-व्यथा में व्याकुल भावुक साधकों से किसी को सीधे यह नहीं कहना चाहिए कि तुम जिसे खोज रहे हो वह केवल तुम्हारे मन की सनक है, वह कोई वस्तु नहीं है, कोई सत्ता नहीं है, वह केवल भावुकों का किया हुआ प्रलाप है इत्यादि; क्योंकि ऐसी खरी बातें सुनकर वे तिलमिला उठेंगे। ऐसे शब्द कह देना मानो उनको मृत्युदण्ड दे देना है। इसलिए विवेकियों को चाहिए कि वे उन्हें सत्य कहकर दुख न दें। "इन्ह दुखवो मति

कोय'' यह गुरुदेव का उनसे करुणापूर्वक आग्रह है जो सत्य के उपदेष्टा हैं। जो वि भावना को लेकर अपने जीवन को सदाचारपूर्ण तथा दैवीसंपदायुक्त बिता रहा है, सन्मार्ग में तो लगा ही है। आचरण तो उसके पवित्र ही हैं। भले ही वह बहुत बड़े भ्रम है। सबके सामने सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। सारा सत्य एक साथ देने से ऐसे लोग समझ तो पाते नहीं, उलटे खिन्न हो जाते हैं। इसलिए ''जेहि कर बँधावा होई। ताहि सराहि मिलै पुनि सोई।।''[१] अर्थात जिसका मन जिसमें बंधा उसकी थोड़ी प्रशंसा कर उनसे व्यवहार करना चाहिए। जब धीरे-धीरे उनका प्रेम हो ज तब पात्रता देखकर उन्हें सत्य बताना चाहिए। वह भी उतना ही, जितना वे प्रसन्नता सहन कर सकें।

संभवतः सन १९६६ ई० की बात है। श्री विशाल साहेब बाराबंकी जिले ब्राह्मणपुरवा ग्राम में निवास कर रहे थे। इन पंक्तियों का लेखक उनके दर्शनार्थ गया एक शाम एक अनपढ़ गंवई बुड्ढा श्री विशाल साहेब से मिलने आया। वह विशाल का पूर्व परिचित था। वह विशालदेव से कहने लगा—''साहेब, मैं कई दिनों से आ दर्शनार्थ आना चाहता था, परन्तु मैं जैसे तैयार होकर आपके पास आने के लिए च था, वैसे 'वह' मेरे पैर पकड़ लेता था।'' यहां उसका 'वह' प्रेत था। वह मानता था प्रेत मुझे आने नहीं देता था।

श्री विशाल साहेब ने उससे कहा—''यदि तुम बिलकुल आने के लिए ठान ही तो 'वह' तुम्हारे पैर छोड़ देता।''

जब बुड्ढा अपने घर चला गया, तब मैंने गुरुवर विशालदेव से पूछा—''सा आपने उसे यह क्यों नहीं बताया कि 'वह' अर्थात भूत-प्रेत कुछ नहीं है। वह तुम्हारा भ्रम है।'' विशालदेव ने कहा—''यदि मैं साफ-साफ भूत-प्रेत का खंडन कर तो वह दुखी तथा नाराज हो जाता और तुरन्त चला जाता और फिर वह कभी लौ नहीं मिलता। क्योंकि मैंने उसकी मानसिकता का अन्दाज लगा लिया था। यदि बराबर आयेगा और उसकी कुछ पात्रता कभी देखूंगा तो उसे समझाऊंगा। अन्यथा जैसा है वैसा रहेगा, संतों का प्रेम तो नहीं छोड़ेगा!'' भूत-प्रेत मानने वालों के मन क इतना संभाल विशालदेव करते थे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य बातें कहने में हिचकना चाहिए। बिना सत्य लोगों को बोध कैसे होगा! एकदम झकझोरकर भी सत्य बातें कहना पड़ता है। व्यक्तिगत किसी अत्यन्त भावुक एवं अपात्र व्यक्ति को सीधे उसकी भावना के विरो कहना, न अपने लिए कल्याणकर है और न उसके लिए। हम इसलिए तो सत्य व चाहते हैं कि अगला आदमी समझ जाय। परन्तु वह समझने के बदले दुखी हो गया उपदेष्टा के लिए ही द्वेष बना लिया, तो सत्य कहकर किसी का भी क्या फायदा हुआ

व्यक्तिगत किसी आगंतुक जिज्ञासु से चर्चा का विषय अलग होता है, सभा में का विषय कुछ अलग होता है। कितनी बातें ऐसी हैं जो सभा में तो कही जा सकत

---

१. श्री रामरहस साहेब, पंचग्रंथी, गुरुबोध।

परन्तु वह सब ज्यों-का-त्यों पुस्तकों में नहीं लिखी जा सकतीं और कितनी ऐसी बातें हैं जो पुस्तकों में लिखी जा सकती हैं, परन्तु वैसी-की-वैसी ही सभा में नहीं कही जा सकतीं।

किसी सत्पात्र जिज्ञासु को व्यक्तिगत रूप में खूब खरा उपदेश किया जा सकता है, परन्तु उतना ही खरा सार्वजनिक सभा में कहना हितकर नहीं होता। कहीं किसी भावुक आगंतुक को व्यक्तिगत रूप में ज्यादा खरा निर्णय नहीं सुनाया जा सकता है, परन्तु सभा में सार्वजनिक होने से तथा उसमें अधिक सत्पात्र हैं तो खरी बातें कही जा सकती हैं। ज्यादातर सभा में हर प्रकार की मानसिकता वाले व्यक्ति होने से वहां ऐसी ही बातें कहना उचित रहता है जिससे वहां के सभी श्रोताओं को कुछ-न-कुछ लाभ मिल सके। कहीं-कहीं सभा में बहुत कुछ मीठा बनाकर कहा जा सकता है जबकि पुस्तकों में वैसा नहीं लिखा जा सकता। पुस्तकों में खरी एवं स्पष्ट बातें इसलिए लिखा जाना आवश्यक रहता है जिससे दूर-निकट तथा देश-विदेश के लोग पढ़कर निर्भ्रांत ज्ञान प्राप्त कर सकें।

वक्ता वही सफल होता है जो देश, काल तथा पात्रता का ज्ञान रखकर अपना वक्तव्य देता है। वक्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि जिसके कल्याण के लिए हम कुछ कह रहे हैं उसे कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य हो। हमारे सत्य के जोश में अगले आदमी को यदि लाभ न होकर दुख हो तो हमारा परिश्रम बेकार हुआ। यह भी सत्य है कि कभी-कभी खरी तथा सत्य बातें सुनकर हमारे दिल को ठेस लगती है और हम अपनी धारणा एवं भावना के प्रति शंकालु हो जाते हैं और सत्य की खोज के लिए मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं पहले ऐसा हुआ था जब सुना कि "खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई। हरणाकुश नख वोद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।"[1] अर्थात नृसिंह का खम्भा फोड़कर निकलने-जैसी बहुत-सी कथाएं काल्पनिक हैं तब दिल को ठेस लगी और यह हुआ कि क्या पुराने सब ऋषि-मुनि-पंडित बेवकूफ थे जिन्होंने यह सब माने और लिखे हैं! क्या केवल कबीर साहेब तथा कबीरपंथी ही सत्य समझते हैं! भगवान के विषय में ऐसी शंका करने वाले नास्तिक हैं!

परन्तु कबीर साहेब एवं पारखी संतों की बातें पढ़ते-सुनते मन में ऐसा लगने लगा कि इनकी बातें बुद्धिपूर्वक हैं। मैं ही तो नहीं भ्रम में हूं! अपनी मान्यता के प्रति संदेह होने लगा। सत्य की खोज शुरू हुई और दो ही महीने में रास्ता साफ हो गया।

यह सब लिखने का अर्थ यह है कि बिना साफ निर्णय किये जिज्ञासु को सत्य का बोध नहीं होगा, परन्तु देश, काल, पात्रता देखकर ही उपदेश किया जा सकता है तथा किसी को राय दी जा सकती है। उपदेश, चर्चा, राय, बात बहुत संवेदनशील विषय है। यह सब बहुत सावधानी से ही प्रयोग करने योग्य है।

"बिरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव" उनके मन में इस भावना का मानो घाव बना हुआ है कि परमात्मा मुझसे अलग है। वे इस भावना से अपना उबार भी नहीं चाहते हैं; क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। अतएव ऐसे लोगों का बिना दिल दुखाये,

---

१. बीजक, शब्द ८।

इनसे व्यवहार करो। इनके मनोनुकूल बातें कहकर पहले इनमें प्रेम उत्पन्न करो। जब इनमें सत्य खोजने के लिए प्रेम जग जाय, तब इन्हें धीरे-धीरे सत्य समझाने की चेष्टा करो। यदि इनके मन में सत्य-खोज की चेष्टा न जगे, तो केवल प्रेम का व्यवहार ही काफी है।

"साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावै त्यों खाव॥" वे विरही साधु ईश्वर-वियोग जनित पीड़ा को ही सुख समझते हैं। विरह-वेदना में चाहे जितना दुख हो वे उसमें दृढ़ रहते हैं।

धर्म-भक्ति के नाम पर पशु मत बनो

करक करेजे गड़ि रही, बचन बृक्ष की फाँस।
निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस॥१००॥

शब्दार्थ—करक = रुक-रुककर होने वाली पीड़ा, कांटे। फाँस = पाश, फंदा; बांस आदि का कड़ा रेशा या पतली तीली जो कांटे की तरह चुभ जाय, किरिच, मन में चुभने एवं खटकने वाली बात। काहू = कोई, भावुक, विवेकरहित। गाँस = तीर का फल, रुकावट, गांठ, फंदा।

भावार्थ—वाणीरूपी पेड़ के कांटे मनुष्यों के कलेजे में चुभ गये हैं। वे रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। वे किसी के निकालने पर भी नहीं निकलते। वे भावुकों के दिलों में चुभकर रुके हुए हैं॥१००॥

व्याख्या—बांस आदि पेड़ों के नुकीले रेशे जब मनुष्य के किसी अंग में गड़कर अन्दर-ही-अन्दर टूट जाते हैं तब उनका निकलना कठिन हो जाता है। वे अंदर रहकर घाव बनाते हैं तथा रुक-रुककर पीड़ा करते हैं। इन चुभने वाले रेशों को फांस कहते हैं तथा उनसे होने वाली पीड़ा को करक कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि वचनों के भी पेड़ होते हैं जिनके कटीले रेशे मनुष्य के हृदय के भीतर चुभ गये हैं और ऐसे चुभे हैं कि टूटकर अन्दर ही रह गये हैं। वे अन्दर ही घाव बना दिये हैं। उनका निकलना सरल नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "रही सो काहू गाँस" काहू में भावुकों एवं विवेकरहितों के लिए व्यंजना है। जो केवल भावुक है तथा विवेक को अलग रखकर बातें करता है उसी के मन में जैसी-तैसी वाणियों के कांटे धंसे रहते हैं और नहीं निकलते। विवेकवान उन्हें निकाल फेंकता है।

यहां वचनों के कांटे के अर्थ आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों में लगते हैं। प्रसंगानुसार मुख्य अर्थ आध्यात्मिक वचनों के विषय में ही है। भूत, प्रेत, देवी, देवतादि समस्त चमत्कारिक अवधारणाओं के विषय में मनुष्यों ने धर्मग्रंथों से जितने वचन पढ़ तथा सुन रखे हैं वे उनके हृदयों में पूर्णतया चुभ गये हैं। मनुष्य धर्म के नाम पर तथ्यपूर्ण वचनों के साथ-साथ सैकड़ों बे-सिर-पैर की बातों को भी परम प्रमाण मानकर उन्हें छाती-पेटे लगाये रखता है। सबसे ज्यादा व्यामोह प्रभु-वचन एवं आप्त-वचनों का है। आदमी धर्म और भक्ति के नाम पर इतना अंधा बन जाता है कि इनके नाम पर धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उन पर विचार करना ही नहीं चाहता। मालूम होता है कि धर्मभक्ति और सचाई से कोई रिश्ता ही नहीं है। चमत्कार, अंधविश्वास एवं पोंगापंथी बातों पर

कसौटी लगायी जाय, उन्हें परखने की बात की जाय, तो लोग "पाप होय गौ घात समाना" कहकर कानों में उंगली लगा लेते हैं और भाग खड़े होते हैं या लड़ने लगते हैं। तब यह बात चरितार्थ होती है "निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गाँस।"

दूसरे व्यावहारिक क्षेत्र के वचन हैं। किसी ने किसी को कुछ कह दिया है और उसके मन में वह बात चुभ गयी है तो निकालने पर भी नहीं निकलती है। यह सब अविवेक का फल है। जिसके मन में विवेक है, परख है, उसके ऊपर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। न वह धर्म और भक्ति के नाम पर अपनी बुद्धि को बेच देता है और न किसी के वचन-बाण से व्यथित होता है। किसी के भला-बुरा कह देने से हम क्यों पीड़ित हों! किसी की बातों से यदि हम क्षुब्ध होते रहें तो इसका अर्थ है कि हम पशु हैं और हमें कोई जिधर चाहे हांकता रहे और हम दूसरों-द्वारा हांके जाते रहें। हम पशु हैं कि मनुष्य इसकी परख केवल मानव-शरीर से नहीं होती है, किन्तु इसके लिए विवेक कसौटी है। यदि हम हर बात पर विवेककर स्वतः दृष्टि से सार तथा असार का निर्णय करते हैं तो हम मनुष्य हैं और यदि हम केवल दूसरों-द्वारा हांके जा रहे हैं तो पशु हैं।

काल का स्वरूप

काला सर्प शरीर में, खाइनि सब जग झारि।
बिरले ते जन बाँचि हैं, जो रामहि भजे बिचारि॥१०१॥

शब्दार्थ—काला सर्प=काम, अहंकार, कल्पना। झारि=बिलकुल, निपट, समूह, सब। भजै=सेवा करना, स्मरण करना, स्वत्व, विभाजन।

भावार्थ—कामरूपी काला सर्प सबके हृदय में बसता है। उसने संसार के सभी लोगों को निपट खा लिया है। उससे वही विरला बचता है, जो विचारपूर्वक राम का भजन करता है॥१०१॥

व्याख्या—एक तरफ काम है और दूसरी तरफ राम है। सद्गुरु उक्त साखी की पहली पंक्ति में काला सर्प का वर्णन करते हैं जिसने सबको डस रखा है और दूसरी पंक्ति में उस जहर से बचने का तरीका बताते हैं राम का भजन। निचली पंक्ति में उन्होंने राम का नाम साफ कहा है, परन्तु पहली पंक्ति में काम आदि न कहकर केवल काला सर्प कहा है। काला सर्प की उन्होंने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। परन्तु संसार के सभी लोगों को खा जाने वाला और मनुष्य के शरीर में ही रहने वाला वह कौन-सा काला सर्प हो सकता है! वह काला सर्प काम, कल्पना और अहंकार ही है। काम सारे भव-बंधनों की धुरी है। काम का अर्थ स्थूल संभोग की वासना तो है ही, किन्तु समस्त सांसारिक इच्छाएं काम हैं। किसी तरफ जब काम सफल होता है एवं इच्छाएं पूरी होती हैं तब लोभ बढ़ता है और जब कामनाओं में भंग पड़ता है तब क्रोध होता है। इस प्रकार काम मूल में रहता है और इसके आस-पास लोभ और क्रोध रहते हैं। ये तीनों भयंकर सर्प हैं जो मनुष्य के भीतर रहकर उसे निरंतर खोखला बनाते हैं।

देह में अहंकार उदय होने से काम उत्पन्न होता है। इसलिए देहाभिमान को काला सर्प कह सकते हैं। जब तक देहाभिमान रहता है, मनुष्य विकारों से मुक्त नहीं हो सकता।

कामना तथा अहंकार से मन में नाना कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। अतएव ये कल्पनाएं काला सर्प हैं। यह सब का सार यह हुआ कि निजस्वरूप से हटकर विषयों की तरफ रुझान ही काला सर्प है। इसलिए काला सर्प का मूल अर्थ काम ही है। काम काला सर्प है। यह मनुष्य के शरीर में रहता है और भीतर-भीतर उसे संसारासक्त बनाकर स्वरूपस्थिति से दूर रखता है। हर आदमी हर समय प्रायः किसी-न-किसी विषय में आसक्त रहता है। सभी विषयों में स्पर्श विषय प्रचंड है जिसे काम-भोग भी कहते हैं। काम-भोग सहित समस्त विषयों की आसक्ति से बचने का केवल एक ही तरीका है— विचारपूर्वक राम का भजन।

संसार में जितने प्रकार के राम-भजन चलते हैं कि वे चाहे सगुण मानकर हों या निर्गुण, अल्लाह कहकर हो या गॉड कहकर, ब्रह्म कहकर हो या ईश्वर; और भजन की विधि चाहे जैसी हो जप, कीर्तन, नमाज, पूजा, उपासना, प्रार्थना—सब में साधक के मन की शुद्धि की दिशा में कुछ-न-कुछ काम होता है। सभी रूपों और विधियों में मनुष्य के मन का वातावरण कुछ-न-कुछ पवित्र बनता है। राम और ईश्वर मानकर उसके भजन में चाहे आदमी कल्पनालोक में ही विचरता हो, परन्तु उस समय उसका मन कुछ-न-कुछ निर्विषय एवं पवित्र होता है। परन्तु यहां सद्गुरु विचारपूर्वक राम-भजन की बात कहते हैं।

यह सर्वविदित है कि कबीर का राम व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही है अर्थात अपनी अंतरात्मा है। सबके भीतर 'मैं हूं' यह आत्म-अस्तित्त्व का भान है। जब सद्गुरु तथा संतों की कृपा से यह बोध के रूप में हो जाता है, तब जीवन बदल जाता है। "हृदया बसे तेहि राम न जाना।"[१] सद्गुरु कबीर जीव ही को राम मानते हैं। जीव ही मूल है। चेतन, आत्मा, राम आदि सब उसी के नाम हैं। ३७वीं रमैनी की साखी में जहां उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम बीजक रखने का संकेत किया है तथा बीजक का महत्त्व बताया है, वहां बीजक निर्देशित मूल धन एवं अपना सिद्धांत 'जीव' ही बताया है।[२] अतएव बीजक का प्रतिपाद्य सिद्धांत जीव है। क्योंकि जीव ही तो समस्त ज्ञान-विज्ञान का निधान है। सद्गुरु ने इस जीव अर्थात शुद्ध मूल चेतन को ही राम कहा है जो 'मैं' के रूप में सभी शरीरों में विद्यमान है। यह गुण में एक तथा व्यक्तित्त्व में अनेक है अर्थात सभी जीव अलग-अलग हैं, परन्तु सबका गुण एक ज्ञान है। अतएव यह हृदय-निवासी चेतन ही राम है।

भजन का मूल अर्थ है सेवा करना, दूसरा अर्थ है स्मरण करना, हिन्दी भाषा के अनुसार भजन के अर्थ स्वत्व तथा विभाजन भी होते हैं। राम-भजन है राम की सेवा करना। राम की सेवा का अर्थ है अपनी आत्मा को सारे भवबंधनों से छुड़ा लेना। मेरा चेतनस्वरूप सारे जड़-दृश्यों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध है। यह स्वरूप-स्मरण ही राम भजन है।

---

१. बीजक, रमैनी ४१।

२. बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय।। *रमैनी, साखी ३७।।*

जैसा कि ऊपर कहा गया कि भजन का अर्थ 'स्वत्व' भी होता है। इसलिए अपने 'स्वत्व' में प्रतिष्ठित रहना भजन है। अपना स्वत्व, अपना आपा है, चेतनस्वरूप है। भजन का अर्थ विभाजन भी बताया गया। इसलिए जड़ से अपना विभाग कर लेना, यह पूर्ण समझ लेना कि मैं जड़ से अलग हूं और इस भाव को एकरस बनाना भजन है। सब मिलाकर सार यह हुआ कि अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा अलग समझकर बस निरन्तर चेतनाकार वृत्ति में ही रमण करना राम-भजन है। स्व-स्वरूप चेतन ही राम है और उसमें निरन्तर स्थित होना ही विचारपूर्वक रामभजन है।

अपने आप को देह मानना काम की स्थिति है तथा अपने आप को चेतन मानना राम की स्थिति है। देहाभिमान एवं काम-कल्पनाएं काले सर्प हैं। इससे बचाव तब होता है जब हम अपने चेतन राम में सदैव रमते हैं। काम-कीचड़ छोड़ने पर ही राम-भजन संभव है तथा राम-भजन करने पर काम-कीचड़ से अपने आप मुक्ति होती है। काम छोड़ने पर राम-भजन संभव होता है तथा राम-भजन बढ़ने पर काम समाप्त होता है।

काला सर्प का अर्थ काल एवं समय भी किया जा सकता है जो शरीर के साथ लगा रहता है और धीरे-धीरे शरीर को जीर्ण बनाता है। इससे वही बचता है जो राम-भजन करता है। इसका अर्थ यही है कि अविनाशी चेतन राम में रमने वाला अपने आप को नश्वर देह से अलग समझ लेता है। इसलिए शरीर का जीर्ण होना या नाश होना वह अपना जीर्ण होना या अपनी मृत्यु होना नहीं समझता। अविनाशी-राम का भजन करने वाला व्यक्ति विनाशी शरीर की आसक्ति से मुक्त होता है।

काल खड़ा शिर ऊपरे, तैं जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो कस सोवे निश्चिन्त ॥१०२॥

शब्दार्थ—काल = काम, कल्पना, मृत्यु। बिराने मीत = पराये का मित्र, माया का मोही। गैल = मार्ग।

भावार्थ—हे माया का मोही मानव! तू सावधान हो जा! तेरे सिर पर काल खड़ा है। जिसका निवास-स्थल काल के मार्ग में है, वह निश्चिंत होकर क्यों सो रहा है! ॥१०२॥

व्याख्या—काम, अहंकार, मन की नाना कल्पनाएं ही काल हैं जो मनुष्य के सिर पर सदैव मंडराते रहते हैं। मनुष्य सदैव इन्हीं में तो डूबा रहता है। हमारी हर समय आध्यात्मिक मृत्यु इन काम तथा कल्पनाओं के द्वारा ही होती रहती है। हमारा घर काम तथा कल्पनाओं के रास्ते में है। यह शरीर काम-वासनाओं से वासित है। इसमें वासनाओं तथा कल्पनाओं के उठने की संभावना रहती है। इसलिए हम जब तक इस शरीर में हैं सतत सावधान रहें। हम मन तथा वासनाओं पर विजयी हो गये यह मानकर कभी असावधान न हों। सावधानी हटी, कि दुर्घटना घटी। मन पर पूर्ण विजयी हो जाने पर भी जब तक शरीर है तब तक निरन्तर सावधानी की आवश्यकता है। जो साधक अन्दर की वासनाओं को उठने नहीं देगा और बाहर के कुसंग से सदैव दूर रहेगा उसे ही जीवन में परम शांति की प्राप्ति होगी। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जो जिव परख विलास में, लहै सदा सुख चैन।

तिन्ह के त्रास न काल के, और कहे को बैन।। पंचग्रन्थी, टकसार २२४।।

काल का प्रसिद्ध अर्थ समय एवं मृत्यु तो है ही। सद्गुरु कहते हैं कि हे माया-मोह में डूबा हुआ आदमी, सावधान हो जा। तेरे सिर पर काल मडरा रहा है। जो काल के रास्ते में हो उसे लापरवाह नहीं होना चाहिए। "बिराने मीत" का अर्थ दो ढंग से समझा जा सकता है। एक ढंग से अर्थ किया जा चुका है कि बिराने का मीत, पराये का प्रेमी। पराया है माया, जीव उसका मोही हो गया है। दूसरे ढंग से मीत शब्द संबोधन है। अर्थात हे मित्र! तू अपने आप में पराया हो गया है। जैसे कोई अपने गलत आचरण के कारण अपने घर में रहकर भी सबसे उपेक्षित रहने के कारण पराया-सा बना रहे, वैसे हम अपने आप में पूर्ण होते हुए भी अपने अज्ञान एवं विषय-वासनावश स्वयं से ही उपेक्षित होकर पराये हो गये हैं।

हमें अपने आप में जागना चाहिए। सब समय सब कुछ काल के गाल में जा रहा है। यहां सब कुछ नश्वर है। इन नश्वर प्राणी-पदार्थों में हमें अपना मन आबद्ध नहीं करना चाहिए। हमें शरीर की नश्वरता, काम-वासनाओं एवं कल्पनाओं की बन्धनरूपता दृष्टिगत रखते हुए अपने उद्धार के लिए सतत सावधान रहना चाहिए।

कल काठी कालू घुना, जतन जतन घुन खाय।

काया मध्ये काल बसत है, मर्म न काहू पाय।।१०३।।

शब्दार्थ—कल = कोमल, कमजोर। काठी = काठ का बना हुआ, जड़ देह, देह की गठन। कालू = काल, समय, काम, कल्पना। घुना = घुन, काठ को खाने वाला एक कीड़ा। जतन-जतन = धीरे-धीरे।

भावार्थ—जड़ तत्वों से बना यह शरीर एवं शरीर की गठन बहुत कमजोर है। इसमें काल का घुन लगा है और वह धीरे-धीरे इसे खाकर निकम्मा बना रहा है। कोई यह रहस्य नहीं जानता कि शरीर के अन्दर ही काल रहता है।।१०३।।

व्याख्या—काठ की चीजों में जब घुन-कीड़े लग जाते हैं तब उन्हें वे भीतर-ही-भीतर चालकर निकम्मा बना देते हैं। काठ तो ऊपर चिकना तथा ठोस दिखता है, परन्तु भीतर-भीतर खोखला एवं कमजोर हो जाता है। हमारे शरीर की यही दशा है। यह तो स्वभाव ही से 'कल' है। अर्थात कोमल एवं कमजोर है। एक लकड़ी तथा पत्थर की बनी चीज की तो वैज्ञानिकों-द्वारा आयु निर्धारित की जा सकती है और यह विश्वास किया जा सकता है कि यह इतने वर्षों तक रहेगी; परन्तु इस शरीर के लिए ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। यह तो हाड़, मांस, नस, चाम जैसे कमजोर चीजों से हजारों जोड़ों के द्वारा बना है। इसके टिके रहने में ही आश्चर्य होता है, मिटने में क्या आश्चर्य है! इतना कमजोर शरीर पचास-पचास तथा सौ-सौ वर्षों तक टिका रहता है यही अचंभा लगता है। इसके तो 'रहबे को अचरज है, जात अचम्भौ कौन!"

शरीर का साज वैसे ही कमजोर है। दूसरे इसके भीतर काल का घुन लगा हुआ है। हर आदमी का शरीर हर समय बदलता है। यह निरन्तर धीरे-धीरे काल के मुख में जा

रहा है। काल तो काया के बीच में ही रहता है, परन्तु इसका रहस्य बिरला ही समझता है। स्थूल बुद्धि वाले समझते हैं कि हमारी आयु बड़ी हो रही है, परन्तु वस्तुतः आयु निरन्तर घट रही है। पानी से भरी हुई टंकी जैसे मोरी-द्वारा पानी के धीरे-धीरे निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाती है, वैसे यह शरीर श्वास निकलते-निकलते एक दिन खाली हो जाता है।

काल के दूसरे अर्थ में काम तथा कल्पनाएं हैं, जो मनुष्य के दुर्बल शरीर में घुन के समान लगकर उसको निस्तेज बनाते हैं। आदमी ऊपर-ऊपर चिकना-चुपड़ा लगता है, परन्तु भीतर वह मलिन वासनाओं का गुलाम होता है। वासनाएं एवं कल्पनाएं मनुष्य के भीतर ही बसती हैं। यदि मनुष्य चाहे तो विवेक-द्वारा उसका संहार कर सकता है। परन्तु वह इस रहस्य को नहीं समझ पाता। काम, कल्पना एवं वासना पर विजय ही काल को जीत लेना है। मृत्यु काल नहीं है जो केवल शरीर को मारती है। कामनाएं एवं वासनाएं काल हैं जो जीव को अंधकार में भटकाती हैं। अतएव हमें कामनाओं को जीतना चाहिए।

माया का स्वरूप

मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट।
विषहर मन्त्र माने नहीं, काल सर्प की चोट ॥१०४॥

शब्दार्थ—माया = धोखा, अध्यास, वासना, आसक्ति। संशय = दुविधा, अनिश्चय, संदेह, भ्रम। कोट = किला, गढ़, दुर्ग। काल सर्प = काम, अहंकार, अज्ञान, कल्पना। विषहर मंत्र = अज्ञान-विष को दूर करने वाला सत्योपदेश।

भावार्थ—यह मन माया की कोठरी है और शरीर संदेहों एवं भ्रांतियों का किला है। अज्ञानरूपी सांप ने मनुष्य को डसकर उसके अंग में ऐसा घाव बना दिया है कि उस पर सत्योपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिससे उसका विष दूर हो ॥१०४॥

व्याख्या—जैसे कपड़ों से भरी कोठरी, बरतनों से भरी कोठरी या किसी वस्तु से भरी कोठरी होती है, वैसे माया से भरी एक कोठरी है और वह मन है। मन माया की कोठरी है। साधारण मनुष्यों के मन में माया-ही-माया भरी होती है। माया है धोखा। रात में पेड़ का ठूंठ देखकर चोर का धोखा होता है। रस्सी में सांप का धोखा होता है। इसी प्रकार सांसारिक विषयों में स्थायी सुख-प्राप्ति का धोखा होता है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अध्यास, कुसंस्कार, कुवासनाएं एवं आसक्तियां भरी हैं। ये ही माया हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि माया की कोई स्वतन्त्र सत्ता है या किसी प्रभु के द्वारा प्रेरित है और जीव के न चाहने पर भी वह उस पर कूदकर चढ़ लेती है और उसे परेशान करती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसी कोई माया नहीं है जो मनुष्य के मन से कहीं बाहर अपनी सत्ता रखती हो और जीव के अलावा किसी दूसरे द्वारा प्रेरित होती हो। बस, मन के अन्दर पांचों विषयों का मोह बना रहता है, वही माया है। इसलिए यह मानना कि हमें कोई अन्य माया में बांध देता है, निपट अज्ञान है, यह हमारा मन ही माया की

कोठरी है। इसी में से माया निकलती है और हमें परेशान करती है। और यह भी समझ लो कि यह माया हमारी ही बनायी है। हमने ही इसको सृजा है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य-विषय है उसमें अहंता-ममता एवं राग कर लेना यही माया है। और यह हम ही तो करते हैं! हमें अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं रहता, इसलिए हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसमें राग करते हैं या द्वेष करते हैं। यह हमारे बनाये राग-द्वेष ही हमें बांधने के लिए माया बन जाते हैं।

मान लो, किसी कोठरी में गायें हैं तो कोठरी खुलने पर उसमें से गायें निकलती हैं, किसी कोठरी में बकरियां हैं तो उसके खुलने पर उसमें से बकरियां निकलती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की जैसे नींद खुलती है तुरन्त ही मन की कोठरी खुल जाती है और उसमें से माया निकलने लगती है। कहीं किसी के लिए ममता-मोह की याद होती है तो किसी के प्रति द्वेष और घृणा की, कभी मन से काम-संकल्प उठते हैं तो कभी क्रोध, कभी लोभ तो कभी ईर्ष्या, कभी चिन्ता तो कभी ग्लानि के संकल्प। अर्थ यह कि आदमी जब तक जागता है तब तक उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार की मलिनता ही आती रहती है, यही माया है। और जाग्रत-अवस्था ही क्या, सोते समय में भी जब तक आदमी गाढ़ी नींद में नहीं रहता तब तक तो अर्ध सुषुप्ति ही रहती है, यही स्वप्न की अवस्था है। स्वप्न में भी जीव माया के द्वंद्व में पड़ा रहता है। उसे स्वप्न में आभास होता है कि हमें मानो हाथी खदेड़ रहा है, सांप पीछा कर रहा है, शत्रु से हम घिर गये हैं, नदी में डूब रहे हैं, काम-भोग में प्रवृत्त हो रहे हैं, क्रोध तथा ईर्ष्या में जल रहे हैं। जीव स्वप्न में भी चैन से नहीं रह रहा है। गाढ़ी नींद एवं प्रगाढ़ सुषुप्ति में तो कुछ भान नहीं रहता, परन्तु जागृति तथा स्वप्न के ही बीज सुषुप्ति में भी रहते हैं। इसलिए अज्ञानी मनुष्य के मन में सुषुप्ति में भी माया बीजरूप में बनी रहती है। इसलिए जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में मनुष्य के मन में माया ही व्याप्त रहती है।

"तन संशय का कोट" शरीर संदेहों, दुविधाओं एवं भ्रांतियों का मानो किला है। मनुष्य के जीवन में संशयों का अंबार है। व्यापार रुक न जाय, नौकरी छूट न जाय, खेती डूब न जाय, प्रियजन बिछुड़ न जायं या विमुख न हो जायं, शरीर रोगी न हो जाय, शरीर छूट न जाय, जीवन लक्ष्य क्या है, परमात्मा आत्मा ही है या कहीं बाहर है, मोक्ष जीवन रहते ही मिलता है कि मरने के बाद, साधना क्षेत्र में मैं सफल हो सकता हूं कि नहीं, यदि साधु बन जाऊं तो गुजर होगा कि नहीं, ऐसे-ऐसे अनेक संशय मनुष्य के चित्त को चालते रहते हैं। जो आदमी संशयग्रसित होता है, वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता। संशय अनिश्चय और भ्रम है जो मनुष्य को सदैव चंचल रखता है।

"विषहर मंत्र माने नहीं, काल सर्प की चोट" काल रूपी सर्प ने मनुष्य के मन में ऐसी चोट कर दी है, उसने ऐसा घाव बना दिया है, इस तरह डस लिया है कि मनुष्य विषहर-मंत्र नहीं मानता। जो विष का हरण कर ले वह विषहर-मंत्र है। विषहर-मंत्र स्वरूपज्ञान है, सत्योपदेश है। मनुष्य उसे नहीं मानता; क्योंकि काल-सर्प ने उसे अपने विष से अत्यन्त प्रभावित कर दिया है। काल-सर्प अज्ञान है, काम-वासना है, अहंता-ममता है और नाना मानसिक कल्पनाएं हैं। खानी-जाल का मुख्य अध्यास है काम-वासना तथा

वाणी-जाल का मुख्य अध्यास है अपने चेतनस्वरूप से अलग अपना लक्ष्य खोजना, और दोनों का समवेत रूप है अज्ञान। इस अज्ञान से ही विषयों के लिए नाना कल्पनाएं उठती हैं तथा बाहर से देवी-देवता और ईश्वर-ब्रह्म पाने की कल्पनाएं उठती हैं। इन सारी कल्पनाओं में जो अत्यन्त जकड़ा है, उसे स्वरूपज्ञान की बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह भी कथन का एक प्रकार ही है। सद्गुरु ने २९वीं रमैनी में कहा है "गारुड़ सो जो मरत जियावै" औषधि तो वही है जो विष से प्रभावित मरते हुए आदमी को जिला दे। बातें दोनों हैं। अधिक तो यही है कि अज्ञान में अत्यन्त जकड़े आदमियों को उपदेश नहीं लगता; परन्तु कहीं-कहीं देखा जाता है कि अत्यन्त व्यामोहित आदमी भी सत्योपदेश पाकर एकदम जग जाते हैं। इसलिए गुरुजन सदैव यही प्रयत्न करते हैं कि लोग माया-मोह से जगकर अपना कल्याण करें।

मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥१०५॥

शब्दार्थ—तीन लोक = पृथ्वी, पृथ्वी से नीचे तथा पृथ्वी से ऊपर, समस्त संसार; त्रिगुणी जीवजगत।

भावार्थ—जल-तरंग न्याय मन और माया एक ही है। माया मन में ही लीन है। परंतु संसार के लोगों के हृदय में यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग एक निरपेक्ष तत्व है जो किसी ईश्वर या ब्रह्म से चालित है और उसके द्वारा वह जीवों पर दौड़ा दी जाती है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि ऐसी बातें नहीं हैं, किन्तु माया मनुष्य के मन की कल्पना ही है॥१०५॥

व्याख्या—"मन माया तो एक है, माया मनहिं समाय" जैसे पानी और उसमें उठने वाली तरंगें दो होते हुए भी अन्ततः एक है, वैसे मन तथा उसमें उठती हुई कल्पनाएं दो होते हुए अन्ततः एक है। पानी को हटा देने पर तरंगों का अस्तित्त्व नहीं हो सकता, इसी प्रकार मन के लीन हो जाने पर कल्पनाओं एवं संकल्पों का अस्तित्त्व नहीं हो सकता।

"मन माया तो एक है" इस बात को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। यदि मन और माया एक है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानी पुरुष का भी जब तक शरीर रहता है तब तक मन रहता ही है और तब तक फिर उसके पास माया भी रहेगी ही, क्योंकि मन-माया एक है। इसलिए ज्ञानी पुरुष भी जीवनभर माया से मुक्त नहीं हो सकता। फिर उसका ज्ञानी होना कहना निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः शुद्ध मन भी माया ही है, क्योंकि मन अपना चेतनस्वरूप तो नहीं है, किन्तु शुद्ध मन बन्धन नहीं, मोक्ष में सहायक है। जो माया बंधन करती है वह है अज्ञान, काम, क्रोधादि एवं कल्पनाएं, जिनकी चर्चा पिछली साखी में विस्तारपूर्वक हो चुकी है। वह माया भी मन ही में लीन है। मन से अलग उसका अस्तित्त्व नहीं है। जैसे पानी में लहर तथा हवा में आंधी उठती है, परन्तु लहर और आंधी के न रहने पर भी पानी और हवा रहते हैं, वैसे मन में ही कामादि विकाररूपी माया उठती है, परन्तु कामादि विकाररूपी माया के न रहने पर भी मन रहता है। विकारों का न रहना ही माया से मुक्ति है। मन तो जीवनपर्यन्त रहता ही है। शुद्ध मन

मोक्ष का कारण बनता है, बंधन का नहीं। माया मन में रहती है यह कहने का अर्थ यही है कि मनुष्य के मन को छोड़कर माया की कहीं अलग सत्ता नहीं है। यदि साधक विकारहीन मन वाला हो गया, तो वह माया से मुक्त है।

"तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" संसार के प्रायः सभी लोगों को यह भ्रम है कि माया मनुष्य के मन से अलग कोई बलवान सत्ता है। ईश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी दोनों ने माया की विचित्र व्याख्या कर डाली है। हिन्दू-ईश्वरवादियों ने मान रखा है कि माया तो ईश्वर की शक्ति है। उसी ने जगत-जीवों को फंसा रखा है। ईश्वर ने अपने माया-जाल में सबको फंसाया है। "हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय बिहंगेश" तथा "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।"[1] लोगों की जुबान पर रहती है "प्रभु माया बलीयसी"। कुछ लोगों के मतानुसार सत्पुरुष तथा ईश्वर से भी बलवान कालनिरंजन है जो ईश्वर के राज्य में गड़बड़ी मचाता है और जीवों को भटकाकर ईश्वर से विमुख करता रहता है। सामी[2] मजहब वाले प्रायः एक ऐसा शैतान मानते हैं, जो जीवों को भ्रम में डालकर अल्लाह से विमुख कर देता है। अद्वैत ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अघटित घटना पटीयसी, दुरत्यया तथा अनिर्वचनीया है। स्वामी शंकर कहते हैं "माया को सत कहूं तो ठीक नहीं, असत कहूं तो ठीक नहीं तथा उभयात्मक कहूं तो ठीक नहीं, इसी प्रकार माया को ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न तथा उभयात्मक और अंग-सहित, अंगरहित एवं उभयात्मक कहते नहीं बनता। वस्तुतः माया महान अद्भुत और अनिर्वचनीया—कहने में न आने वाली है।"[3] ब्रह्मवादी लोग प्रत्यक्ष जगत को, जो जड़तत्वों के स्वभावसिद्ध क्रियावान कणों का फल है किसी अकथनीय माय का फल होने की कल्पना करते हैं, इसलिए माया की व्याख्या और उलझ जाती है। इस प्रकार ईश्वरवादियों तथा ब्रह्मवादियों ने माया की परिभाषा ऐसी उलझा रखी है जो मनुष्य के समझने में न आवे। बल्कि उससे यही भ्रम हो कि माया ईश्वर की एक ऐसी शक्ति है, या ऐसी स्वतन्त्र सत्ता है जो जीव को जैसा चाहे नचाती रहे और जीव का उसमें कोई वश न चले। ऐसी अवस्था में मनुष्य माया के सामने केवल लाचार बनकर रह जाता है। वह केवल ईश्वर का नाम लेकर रात-दिन विनती किया करे, गिड़गिड़ाया करे, जब ईश्वर की मर्जी हो तो जीव को माया से मुक्त कर दे और जब चाहे उसे माया में पुनः डाल दे।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं किसको-किसको समझाकर कहूं कि मनुष्य के मन में रहे हुए मोह के अलावा कहीं कोई माया नहीं है और मोह बनता है व्यक्ति के अपने स्वरूप के अज्ञान से। अतएव माया के निर्माण में जीव की अपनी भूल ही कारण है। वह यदि अपनी भूल छोड़ दे तो माया अपने आप मर जाय। मनुष्य जब तक बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता तब तक उसके सम्बन्ध में कोई माया नहीं है और जब वह उनका

---

१. रामचरित मानस।

२. अरब, असीरिया, बेबिलोन आदि के क्षेत्र के निवासियों को सामी कहते हैं।

३. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥ *विवेकचूड़ामणि. श्लोक १११॥*

सेवन करने लगता है और उनकी आदत बन जाती है, उनमें मोह हो जाता है, तब बस, माया उपस्थित हो जाती है; और जब वह उन्हें दुखरूप जानकर छोड़ देता है, तब कुछ दिनों में माया समाप्त हो जाती है। उसे बीड़ी-तम्बाकू के लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता। कोई युवक-युवती परस्पर मिलते हैं, किन्तु कोई माया नहीं। जब वे एक-दूसरे से मोह कर लेते हैं तब एक दूसरे के बिना रह नहीं पाते, बस यहीं माया आ गयी। इस प्रकार जीव स्वयं अपने भूलवश माया बनाता है और विवेक कर वही उसे मिटा भी सकता है। जो माया मुझे भटका रही है, वह मेरी ही भूल का परिणाम है और मेरे ही ज्ञान तथा साधना से उसका नाश होगा। उसमें किसी ईश्वर या ब्रह्म से कोई मतलब नहीं है। यह मनुष्य की अपनी जिम्मेदारी है। वह चाहे अपने मन में माया को बनाये रखकर उसके फल में दुख भोगता रहे और चाहे तो उसे मिटाकर निर्बंध हो जाय। जो भेद नहीं समझ पाते वे बीजक की वाणियों में भी ऐसे अर्थों की कल्पना कर लेते हैं जिससे माया का रूप जीव के मन से अलग तथा उसके अधिकार के बाहर किसी दूसरे के हाथों में हो; जैसे "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।"[1] इत्यादि। परन्तु यहां राम एवं रघुनाथ का अर्थ जीव ही है। जीव ही की बनायी माया है जो द्वन्द्व मचाती है और जीव का ही शिकार करती है। क्या बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट, शराब तथा काम-भोग की आदत बना लेने के बाद लोग अपनी आदतों के शिकार नहीं होते! हम अपनी बनाई माया में स्वयं फंसते हैं। "मन माया की कोठरी, मन माया तो एक है, माया मनहि समाय" आदि की कसौटी से "राम तेरी माया दुन्द मचावै" तथा "ई माया रघुनाथ की बौरी" आदि को कसना चाहिए।

कबीर साहेब हर जगह साफ, सीधी और सपाट बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि माया किसी ईश्वर तथा ब्रह्म-द्वारा प्रेरित नहीं है जो तुम्हारे ऊपर जबर्दस्ती कूद पड़े और तुम्हें विवश कर दे। माया तुम्हारी बनायी है इसलिए तुम उसे मिटाकर मुक्त होने में स्वतन्त्र हो।

सुख का मोह दुखदायी है

बेहा दीन्हों खेत को, बेहा खेतहिं खाय।
तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय॥१०६॥

शब्दार्थ—बेहा = बाड़, फसल की रक्षा के लिए कांटे, बांस आदि का बनाया घेरा; तात्पर्य में माया। तीन लोक = सभी मनुष्य।

भावार्थ—बाड़ फसल की रक्षा के लिए लगायी जाती है, परन्तु दुख की बात है कि यहां बाड़ ही फसल को खा रही है, अर्थात मनुष्य माया का फैलाव अपने सुख के लिए करता है, परन्तु उसकी फैलायी हुई माया ही उसे दुख देती है। मैं किसको-किसको समझाऊं, सारे संसार में यह भ्रम है कि माया जीव को सुख देती है॥१०६॥

---

१. शब्द १३ तथा कहरा १२।

व्याख्या—किसान लोग कोई फसल लगाते हैं ज्यादातर सब्जी आदि की, तब वे उसके चारों ओर कांटे, बांस या अन्य लकड़ियों की बाड़ लगाते हैं जिससे फसल की रक्षा हो सके। यदि बाड़ न लगायें तो पशुओं से चर जाने का भय रहता है। परन्तु यदि बाड़ ही फसल को चर ले तो दूसरा क्या उपाय! इसी प्रकार मनुष्य अपने सुख के लिए माया का विस्तार करता है, परन्तु वह माया का फैलाव ही जीव को संताप देता है। एक स्वच्छन्द नवयुवक होता है। वह यदि माता-पितादि की सेवा करे और साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक उंन्नति करे तो उसका जीवन कल्याण की तरफ अग्रसर हो। परन्तु वह अपने सुख की कल्पना करके मन में एक मोह उत्पन्न करता है। यह मोह ही माया है, और इस माया के विस्तार में वह अपनी शादी करता है, बच्चे पैदा करता है, धन-संग्रह एवं परिवार बढ़ाता है। उसके बाद जीवनभर उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। युवक का पहला व्यामोह होता है इन्द्रिय-सुख का। इसी व्यामोह में वह अपने आप को वैवाहिक बन्धनों में बांधता है। उसे दूसरा व्यामोह होता है बुढ़ापा की विवशता का। हर पति-पत्नी अपने बुढ़ापा को लेकर काफी भयभीत रहते हैं कि उस समय हमारी सेवा कौन करेगा। परन्तु यह एक व्यामोह मात्र है। संसार में देखा जाता है कि बाल-बच्चों वाले मनुष्यों की अपेक्षा वे ज्यादा सुखी होते हैं जिनके बाल-बच्चे नहीं होते, बशर्ते वे अपने मन में बाल-बच्चों की कमी न महसूस करें। अधिकतम बाल-बच्चे वाले दुखी ही देखे जाते हैं। बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा, यह भय बेकार है। सबको सेवा की जरूरत नहीं पड़ती। यदि जरूरत पड़ जाती है तो कोई-न-कोई सेवा करने वाला मिल जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी स्वस्थ अवस्था में दूसरों की सेवा करने के लिए तत्पर रहे।

आदमी बैठा-बैठा घबराता है, बोर होता है, तो वह अपने चैन के लिए ताश खेलने लगता है। पीछे उसकी आदत हो जाने पर उसे बिना ताश खेले नहीं रहा जाता। यदि उसे कोई ताश खेलने वाला न मिला तो वह बेचैन होता है। शराब, बीड़ी-सिगरेट, पान, तम्बाकू, मांस, मैथुन आदि का सेवन आदमी अपने मन-इन्द्रियों के सुख के लिए करता है, परन्तु ये सब इसको दुख देने वाले हो जाते हैं। उलटी बुद्धि में हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए दुख का साधन बनता है।

जीवन-रक्षा के लिए उपाय करना ठीक है, आवश्यक है। मनुष्य को भोजन, वस्त्र, औषध, आवास तथा अन्य जीवनधारणोपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता है। उसके लिए मनुष्य को श्रम करना चाहिए। परन्तु इसमें भी संतुलन का ध्यान रखना चाहिए। अज्ञानवश जीवन-निर्वाह में संतोषवृत्ति न रखने से लोग तृष्णा की धारा में पड़ जाते हैं। जितना कम-से-कम तथा साधारण-से-साधारण चीजों से गुजर किया जा सके, अच्छा है। अन्यथा यदि आदमी बहुत उत्तम-उत्तम एवं अच्छे-अच्छे के चक्कर में पड़ेगा तो मानो बेड़ा खेत खाने लगेगा। शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद भोजन की सामग्री सन्तुलित मात्रा में पेट में डाल देना चाहिए जिससे शरीर आराम से चल सके। अब कोई भोजन में अधिक कीमती और स्वाद के चक्कर में पड़ेगा, तो वह एक तो यह सब प्राप्त करने के लिए परेशान होगा, नीति-अनीति की परवाह भी छोड़ सकता है; और दूसरी बात यह है कि वह स्वाद के चक्कर में असंतुलित भोजन करके पेट को खराब करेगा और रोगी बनेगा। भोजन खाना

जाना चाहिए तृप्ति के लिए, तो वह हो जायेगा रोग और दुख के लिए। यह बेढ़ा के खेत खाने की बात हुई।

हमारे जीवन में पदार्थों का संग्रह एवं प्राणियों का सम्बन्ध विवेकपूर्वक होना चाहिए। यह सब अपने तथा दूसरे के कल्याण के लिए होना चाहिए। ऐसा न हो कि यह सब अपने तथा दूसरे के लिए राग-द्वेषजनित भव-बंधनों का निर्माण करने लगे। सारी प्रवृत्तियों का फल निवृत्ति होना चाहिए। सारे सम्बन्धों का फल सम्बन्धजनित बंधनों को तोड़ने के लिए होना चाहिए। हमारे शरीरधारण का फल ही होना चाहिए सारी विषयासक्तियों को नष्टकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होने के लिए। हमारे जीवन के हर सम्बन्ध, प्रवृत्ति एवं क्रिया का फल स्थायी सुख, शांति, निर्बंधता, स्वच्छन्दता एवं मोक्ष होना चाहिए।

यदि हम जो कुछ करते हैं वह सब हमारे लिए फूल न बनकर कांटे बनते हैं तो इसके अन्तराल में हमारा कोई व्यामोह है, बेसमझी है। दूसरे में सामर्थ्य नहीं है कि हमें वह दुख दे सके। हम स्वयं अपने अविवेकवश दुख बनाते हैं। यदि हमारा चित्त शुद्ध है तो दूसरे के द्वारा घटायी गयी अप्रिय घटना भी हम पर प्रभाव नहीं डाल सकती। हमारे लिए बंधन एवं दुख तो केवल हमारी बेसमझी है। हम व्यामोहित होकर, माया में उलझकर जो कुछ करते हैं वह करते तो हैं अपने सुख के लिए, परन्तु वे हमारे लिए दुख एवं बंधनों के कारण बनते हैं, बाड़ खेत खाती है।

परन्तु सबको तो यही भ्रम है कि माया सुखदायी है "तीन लोक संशय परी, मैं काहि कहौं समुझाय" सारा संसार तो मोह की धारा में डूबा है, किसको-किसको समझाया जाय! हर मनुष्य के मन में माया की मूर्च्छा है। केवल प्रतिशत का अन्तर है। किसी के मन में शत-प्रतिशत मूर्च्छा है, किसी के मन में नब्बे, असी या इससे कम। जिसके मन में जितनी मूर्च्छा की मात्रा कम है वह उतना ही सुलझा होता है, सुखी होता है। जो माया की मूर्च्छा से एकदम निकल गया है, वह धन्य है। वही जीवन्मुक्त है। यही जीवन की सार्थकता है।

विवेक से मन की लहरों पर विजय

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जा‹ हृदय विवेक ॥१०७॥

शब्दार्थ—सायर = समुद्र। मनसा = मन से उत्पन्न इच्छाएं-कल्पनाएं। लहरि = तरंग। विवेक = सत्य-असत्य परख करने की शक्ति।

भावार्थ—मन समुद्र है और उससे उत्पन्न नाना इच्छाएं एवं कल्पनाएं लहरें हैं। इनमें बहुत-से असावधान लोग डूब गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि इनसे वही बचेगा जिसके हृदय में सत्य तथा असत्य एवं स्व और पर को परखने की शक्ति होगी ॥१०७॥

व्याख्या—आप कभी समुद्र के तट पर गये हों तो देखे होंगे वह कितना विशाल होता है। हम जब समुद्र की तरफ मुख कर उसके तट पर खड़े होते हैं, तब हमारी दृष्टि में केवल समुद्र का पानी होता है। आगे चलकर हमें लगता है कि सफेद-श्याम पानी तथा

सफेद-श्याम आकाश मिलकर एक हो गये हैं। समुद्र की विशालता मनोहर भी लगती है और भयावह भी। समुद्र में समय-समय पर बड़े जोरों से ज्वार आते हैं। समुद्र के पानी का ऊपर उठना ज्वार कहलाता है और गिर जाना भाटा कहलाता है। जब ज्वार-भाटे नहीं रहते, तब भी समुद्र में हर समय 'हहा-हहा' की आवाजें करते हुए ऊंची-ऊंची लहरें आती रहती हैं। समुद्र का पानी कभी शांत नहीं रहता। उसमें हर समय लहर-पर-लहर उठती रहती है।

सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य का मन भी एक विशाल समुद्र है जिसमें इच्छाओं, संकल्पों, कल्पनाओं एवं स्मरणों की लहरें निरन्तर उठती रहती हैं। जैसे समुद्र में बीच-बीच में ज्वार-भाटे आते हैं, बाकी समय में लहरें तो निरंतर उठती हैं; वैसे मनुष्य के मन में बीच-बीच में काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, भय आदि के बड़े-बड़े ज्वार-भाटे आते हैं, परन्तु सामान्य विषयासक्ति एवं राग-द्वेष तथा सुख-दुख के द्वन्द्वात्मक स्मरण प्रायः सब समय उठते रहते हैं। जहाज पर बैठकर साधारण-से-साधारण लोग भी विशाल समुद्र को पार कर जाते हैं और भीड़-की-भीड़ पार होती रहती है। परन्तु इस मन के समुद्र से कोई बिरला पार होता है।

जैसे समुद्र से ही लहरें उठती हैं, वैसे मन से संकल्प-विकल्प की लहरें उठती हैं। "मन सायर मनसा लहरि" कहने का तरीका कितना चोटदार है! 'मनसा' का अर्थ ही है जो मन से पैदा हो। इच्छा, वासना तथा कल्पनाओं की लहरें मन से ही उठती हैं। ऐसे कम लोग होते हैं जो जीवन-गुजर की चीजों के कम होने से परेशान हों। देखा जाता है कि मनुष्य खाते-पीते, सुविधा प्राप्त हैं, परन्तु उनके मन की इच्छाएं, संकल्प-विकल्प एवं कल्पनाएं उन्हें चैन से नहीं रहने देतीं। मनसा मन के विकार हैं। मन के विकार ही लहरें बनकर जीव को निरन्तर थपेड़े देते रहते हैं। इन मन की तरंगों में डूबते रहने के मूल में है अपनी असावधानी। सद्गुरु कहते हैं "बूड़े बहुत अचेत"। अचेत, असावधान एवं बेहवास लोग ही मन के सागर में डूबते हैं। जो बिलकुल बेहवास हैं वे तो हर समय मन की तरंगों में ही डूबे रहते हैं, परन्तु जो साधक है, वह भी जिस समय अचेत हो जायेगा, सावधानी छोड़ देगा, उस समय मन की तरंगों में डूबने लगेगा। साधक ध्यान में बैठता है, परन्तु यदि असावधान है तो वह संकल्पों में बहता रहेगा। उसके ध्यान का समय बीत जायेगा और ध्यान नहीं लगेगा। सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। अतएव सावधानी ही साधना है।

इन मन की तरंगों से वही बचता है जिसके हृदय में विवेक है। विवेक परख शक्ति का नाम है। सत्य-असत्य, सार-असार, चेतन-जड़ तथा स्व और पर की जिसे परख है उसकी दिव्यदृष्टि होती है। 'विवेक' बड़ा वजनदार है। बुद्धि भ्रम में पड़ सकती है, किन्तु विवेक भ्रम में नहीं पड़ता। जब तक मन में भ्रम है, तब तक विवेक नहीं है। विवेक एक्स-रे मशीन है, जिसके द्वारा अन्दर की वास्तविकता देख ली जाती है। आप जानते हैं कि डॉक्टर लोग एक्स-रे मशीन से शरीर के भीतर की हड्डियों के चित्र ले लेते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय में विवेक है वह देखता है कि रमणीय माने गये शरीर, जवानी, पत्नी, बच्चे, धन, मकान, प्रतिष्ठा, पूज्यता में क्या सार है! नर-नारियों के सारे शरीर हाड़-चाम

ऽ ढांचे हैं। उनमें मल-मूत्र भरे हैं। सारे देहधारी इच्छा-कामना की आग में जल रहे हैं। नके संयोग एवं मोह में कहां सुख तथा कहां शांति है! सारे संयोग क्षणिक हैं। इसलिए iयोगजनित सुख भी क्षणिक हैं। इन क्षणिक तथा भ्रमजनित विषय-सुखों में आसक्त iकर नाना इच्छाएं बन जाती हैं और जीव इसी भवजाल में भटकता रहता है। मेरा ापना स्वरूप शुद्ध चेतन है। मनस्तरंगों के नाते ही सारा संसार मेरे सामने उपस्थित होता ः। मनस्तरंगों को हटा देने पर मैं असंग, निराधार, कैवल्यस्वरूप शुद्ध चेतन मात्र रह ााता हूं। ऐसा विवेक, ऐसी परख जिसके हृदय में विद्यमान है, वह "मन सायर" तथा 'मनसा लहरि" से बाहर स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के उच्चतम शिखर पर विराजमान ोता है।

विवेक के प्रदीप्त होने पर ही वैराग्य उत्पन्न होता है जो मन की अनासक्ति अवस्था ं। अनासक्त मन वाला संसार-सागर से तर जाता है। जिसे कहीं आसक्ति नहीं, वह कहीं ी नहीं बंध सकता। विवेकवान व्यक्ति व्यवहार में भी सुलझा हुआ होता है। सारी लझन का कारण आसक्ति है। आसक्ति के कारण ही आदमी दोषजनक व्यवहार करता ः। जब आसक्ति ही नहीं तब दोषजनक व्यवहार होने का प्रश्न ही नहीं। जिसका व्यवहार ोषजनक नहीं होगा, वह सुलझा होगा। अतएव अचेत आदमी ही मन की धारा में बहता ;, विवेकवान जाग्रत होता है। वह मन-मनसा की धारा से पार होता है।

सद्गुरु ने समुद्र तथा उसकी लहरों का उदाहरण देकर मन तथा मन के विकारों को मझाया है। समुद्र एवं उसकी लहरों में जड़-प्रकृति कारण है जो स्वाभाविक है। अर्थात ाब तक समुद्र है तब तक उसमें लहरें उठेंगी ही। वे बंद नहीं हो सकतीं। परन्तु मनुष्य ऽ मन की लहरों का कारण है उसकी असावधानी तथा अविवेक। उनके मिट जाने पर न की लहरें शांत हो जाती हैं। समुद्र जड़ होने से उसकी स्वभावसिद्ध क्रिया है; इसलिए सका रुकना असंभव है। उसकी क्रिया तभी रुक सकती है जब जड़ प्रकृति में ही कोई ़सा परिवर्तन हो। परन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपने अज्ञान से मन में लहर उठाता है ौर ज्ञान होने पर मन को शांत कर देता है।

एकांत-शांत प्रदेश में स्थिर आसन से बैठना चाहिए। फिर विवेक-वैराग्यपूर्वक मन ी तरंगों को छोड़-छोड़कर शांत होना चाहिए। विवेक-साधना से जब अन्तःकरण में राग्य का अधिक प्रकाश हो जाय, तब स्मरणों का केवल द्रष्टा बने रहना चाहिए। अर्थात ढ़तापूर्वक यही ध्यान रखे कि सब स्मरण शांत हो जायं। जब कोई स्मरण उठे, तो सका तुरन्त द्रष्टा बन जाय, उसमें मिले नहीं। फिर वह स्मरण अपने आप लुप्त हो ायेगा।

उपर्युक्त प्रकार से निरन्तर अभ्यास करते-करते कुछ दिनों में ऐसी अवस्था प्राप्त होगी, ाब स्मरणों का द्रष्टा बनने में सरलता हो जायगी; और फिर स्मरण शांत होकर निश्चलता ा जायगी। इस अवस्था में द्रष्टापन भी नहीं रहेगा। क्योंकि स्मरण सम्मुख रहने पर ही ीव द्रष्टा है, अन्यथा चेतन मात्र एवं ज्ञान मात्र है। परन्तु ध्यान यह होना चाहिए कि इस मय में निद्रा-तन्द्रा या मूढ़ता न आने पावे। इसी को स्थिति अवस्था कहते हैं, जो ाधना का फल एवं सर्वोच्च पद है।

इसके अनन्तर उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर विवेक अवस्था में जाग्रत रहना— यह साधना का अन्तिम फल है। क्योंकि यदि कोई एक काल में तो समाधिस्थ हो जाय, परन्तु अन्य काल में मन-माया से सावधान न रहे या अधिक प्रपंचाकार रहे, तो यह साधना का कोई फल नहीं। जो हर क्षण मन-माया से सावधान रहता है, वही समाधिस्थ एवं विवेकवान पुरुष है।

इस कार्य के लिए व्यवहार-प्रपंच की कमी, ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन, वैराग्य-भावना, सदाचार, मनःकल्पित भोगों का सर्वथा त्याग, निर्वाह में सादगी और सन्तोष, वैराग्यवानों का सत्संग, वैराग्य-बोधपूर्ण सद्‌ग्रन्थों का अध्ययन तथा एकांत-सेवन की महान आवश्यकता है।

इस प्रकार विवेक या द्रष्टा-अभ्यास के लिए सद्‌गुरु ने उपदेश दिये हैं। इसी को श्री रामरहस साहेब भी पुष्ट करते हैं—

मैं मेरी संकल्प यह, सोई दुख की खान।
ताहि त्यागि गुरु परख लहै, द्रष्टा सोई सुजान॥ २१९ ॥
जग सुख अनित बिचार बुधि, ब्रह्म सुखहिं लौ लीन।
द्रष्टा दोऊ सुखन को, मिथ्या जानहु लीन॥ २३३ ॥
अपनी दृष्टि प्रताप बल, गुरु उपदेश विशेष।
सत्संगति सुख नित्यप्रति, द्रष्टा पारखी देख॥ २३४ ॥
सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।
सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ २३५ ॥

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध)

श्री पूरण साहेब कहते हैं—

पारख ऊपर थिर ह्वै रहना। सकल परखना नहिं कछु गहना॥ निर्णयसार॥

हंस समाधी एक ही, सदा निरन्तर होय।
इनते जो विचलै नहीं, लेहु परख पद सोय॥ २५ ॥
पारख भूमिका भिन्न है, मिलै न काहु को भाय।
परखत परखत हंस को, ता भूमिका को पाय॥ २७ ॥
जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झाँई भ्रम कूप॥ २८ ॥ त्रिज्या॥

श्री विशाल साहेब कहते हैं—

स्मरणों को मेटे बिना, कौन मनुष अस आज।
नित नित आपति न सहै, साधु स्ववश तेहि काज॥ १०२ ॥
क्रिया जहाँ तक जड़ सबै, एक लेय एक ठेल।
भिन्न आप लखि ताहि से, पारख स्वबल अकेल॥ १०५ ॥

जैसी रुकती वृत्ति लखि, तैसहिं शान्ती आय।
चिंतन होवै और जब, तबहीं न ठहराय॥ १०६ ॥
मन देखत मन लीन नहिं, निज शक्ती लौटारि।
शक्ती जब पावै नहीं, तबसो क्षीण निहारि॥ ११३ ॥
सबै काम को छोड़ि के, रहे आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥ ११९ ॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक)

श्री गुरुदयाल साहेब कहते हैं—

चितवन करन जगत की, जौं लौं नहिं अति अन्त।
कहहिं कबीर पुकारि के, तौं लौं होय न सन्त॥

(कबीर परिचय, २०८॥)

श्री काशी साहेब कहते हैं—

वैराग्य को आसन विवेक की माला। शांति हिये दृढ़ धरना जी॥ १ ॥
परख करु मणका सुरत को धागा। नास्ति माया को फेरना जी॥ २ ॥
'परख प्रकाशी हंस सत्य है'। जाप सो हरदम जपना जी॥ ३ ॥
कायाबीर तब कबीर कहावै। बीजक का यही कहना जी॥ ४ ॥

(जड़-चेतन भेद प्रकाश)

बुद्धि के सागर धूर्तों से सावधान

सायर बुद्धि बनाय के, बाँयें बिचक्षण चोर।
सारी दुनियाँ जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर॥१०८॥

शब्दार्थ—सायर = समुद्र। बाँये = विपरीत, बाममार्ग, कुपथ, उलटा पथ। बिचक्षण = वेद्वान, दूरदर्शी, चतुर, पारगत, दक्ष। जहँड़े = नष्ट। ठौर = स्थिति, शांति।

भावार्थ—जीवों के ज्ञानधन एवं मानवता की चोरी करने वाले कुपथगामी विद्वानों ने अपनी बुद्धि को समुद्रवत विशाल बनाकर एवं नाना भ्रमपूर्ण ग्रन्थों को रचकर समाज का तन किया है। इसी में पड़कर संसार के सारे लोगों के विवेक-विचार नष्ट हो गये हैं। कोई अपनी स्थिति को नहीं प्राप्त हुआ॥१०८॥

व्याख्या—हर समय में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बुद्धि के सागर, प्रतिभा के धनी, वेद्वान, चतुर, ज्ञान में पारगत एवं समाज को समझने में दक्ष होते हैं। परन्तु वे स्वयं कुपथगामी होते हैं। वे विद्या-बुद्धि, धर्म एवं परमार्थ की आड़ में सांसारिक भोगों एवं ऐश्वर्यों को भोगने की इच्छा वाले होते हैं। इसलिए वे दूसरे के साथ छल करते हैं। वे मानो जनता के ज्ञानधन एवं मानवीय गुणों की चोरी करते हैं। वे समाज को गलत देशानिर्देश करते हैं। वे अपने आप के विषय में प्रचारित करते हैं कि वे भगवान या

भगवान के अवतार या पूर्व महापुरुषों के अवतार या ईश्वर के पैगंबर हैं। वे अपने आप को समाज में चमत्कारिक रूप में प्रचारित करते या करवाते हैं। चमत्कार, जो केवल एक छलावा है, इसके वे बड़े प्रेमी होते हैं। वे झूठे चमत्कारों से अपने आप को मंडित करते और करवाते हैं। वे मानव की बुद्धि का शोषण करते हैं। वे मानव के विवेक को चुराते हैं। जो विश्व के शाश्वत नियम हैं, कारण-कार्य-व्यवस्था है, प्रकृति के गुण-धर्म हैं, उनको वे झुठलाते हैं और भ्रमजनित बातें संसार में फैलाकर, समाज को सदैव बेवकूफ बनाये रखना चाहते हैं।

वे प्रचारित करते हैं कि उनके प्रताप से मुरदा जी जाता है, सूखे काठ हरे हो जाते हैं, पत्थर की सिल्ली बढ़ जाती है, पानी घी हो जाता है, नदी सूख जाती है, बांझ को पुत्र हो जाता है, अंधे को आंखें तथा कोढ़ी को सुन्दर काया मिल जाती है, एक दो खुराक भोजन में हजारों लोग पेट भर खा लेते हैं, सारी ऋद्धि-सिद्धि अचानक मिनटों में प्रकट हो जाती हैं। चूंकि वंचकों ने ऐसी-ऐसी बातों का प्रचार प्राचीनतम काल से किया है, इसलिए उन्हें ऐसी झूठी बातों को अपने जीवन से जोड़ने में सरलता रहती है। धर्म, भगवान तथा महात्मा के नाम पर जितना अधिक झूठ बोला जा सके उतना अधिक जनता को मूर्ख बनाया जा सकता है। धूर्त चमत्कारों की बात फैलाते हैं और मूर्ख उनमें फंसते हैं। ऐसे लोगों का त्याग दिखावा मात्र एवं पाखण्डपूर्ण होता है। ऐसे लोगों को परमार्थ की आड़ में भोगों की लालसा होती है। इसलिए वे भोग और योग को एक मानते हैं। वे अपने अनुगामियों को काफी छूट देते हैं जिससे उनका दल बढ़ता जाय।

"सारी दुनिया जहँड़े गई, कोई न लागा ठौर" उक्त-जैसे धोखे में पड़कर प्रायः सारा संसार भटक गया है। गुरुओं ने कोई-न-कोई अंधविश्वास अनुगामियों को पकड़ा दिया है और वे उसमें चिपककर अपनी विवेक-बुद्धि खो बैठे हैं। भटके हुए मनुष्यों को कहां ठौर लग सकता है!

स्वार्थी पूंजीपति जनता का आर्थिक शोषण करते हैं और धोखेबाज धार्मिक गुरु जनता का बौद्धिक शोषण करते हैं। जब कोई धार्मिक गुरु बतलाता है कि महात्मा या गुरु या भगवान की कृपा से पानी बरसता है, तब वह मनुष्य की बुद्धि का शोषण करता है। क्योंकि पानी बरसने के जितने कारण हैं, वे जड़प्रकृति के अपने नियम हैं। प्रकृति में जब उन नियमों का संयोग हो जाता है तब पानी बरसता है, अन्यथा नहीं बरसता। उसमें किसी देवी, देवता, भगवान, गुरु और महात्मा का कुछ भी वश नहीं है, अन्यथा अवर्षण तथा अतिवर्षण होते ही नहीं। परन्तु पानी बरसने के कारण में भगवान, गुरु और महात्माओं को जोड़कर मनुष्य की बुद्धि को दिग्भ्रमित कर दिया जाता है। एक बार मनुष्य के मन में जब अंधविश्वास बैठा दिया जाता है, तब वह सोचने-विचारने की शक्ति से सदैव के लिए पंगु हो जाता है। फिर तो उससे सारी मूर्खतापूर्ण बातें मनवायी जा सकती हैं। अतएव ये जनता की विवेक-बुद्धि एवं मानवीय गुणों को चुराने वाले विपथगामी बुद्धि के सागर लोगों ने जनता का बड़ा अहित किया है। ये समाज के कीड़े हैं। ये मानव-समाज को खोखला बनाते हैं। इनके चक्कर में पड़कर संसार के लोग भटक गये हैं। अतएव इनसे सावधान होने की आवश्यकता है।

सच्चा मानव कौन ?

मानुष ह्वै के ना मुवा, मुवा सो डाँगर ढोर।
एकौ जीव ठौर नहिं लागा, भया सो हाथी घोर॥१०९॥

शब्दार्थ—डाँगर ढोर = डंगर-ढोर, गाय, भैंस आदि चौपाया पशु। ठौर = स्थिति, स्वरूपस्थिति, शांति। घोर = घोड़ा।

भावार्थ—मनुष्य ने मानवीय-बुद्धि एवं मानवता के आचरण धारण करके जीवन नहीं बिताया, किन्तु पशु-बुद्धि एवं पशु-आचरण करके मरा। इसलिए ऐसे में से एक जीव भी अपनी आत्मस्थिति एवं निजस्वरूप की स्थिति न पा सका, बल्कि हाथी-घोड़े आदि पशु-स्वभाव का बनकर चला गया। अथवा मरकर हाथी-घोड़े आदि पशु खानियों में गया।

अथवा "मानुष ह्वै के ना मुवा" जो व्यक्ति मानवीय बुद्धि एवं मानवीय आचरण धारण किया, वह मरा नहीं, किन्तु अमरत्व को पा गया। मरता तो वह है जो पशुबुद्धि वाला देहाभिमानी है! ऐसे जीव स्वरूपस्थिति न पाकर हाथी-घोड़े आदि पशु होते हैं॥१०९॥

व्याख्या—विवेकी होना ही मनुष्य होना है। बौद्धिक संतोष, चारित्रिक सन्तोष और आत्मिक संतोष ही जीवन की ऊंचाई है। विवेक के पूर्ण उदय होने पर बौद्धिक सन्तोष होता है; मन, वाणी तथा इन्द्रियों से सारी बुराइयों के दूर हो जाने पर चारित्रिक सन्तोष होता है और वासनाओं की पूर्ण निवृत्ति होने पर आत्मिक संतोष होता है। जड़ और चेतन में उनके अपने गुण-धर्म अन्तर्निहित हैं जिनसे संसार की गतिविधि चलती है। संसार में सब कुछ नियमबद्ध है। यहां कुछ भी अजूबा या चमत्कार नहीं होता है। हर घटना के पीछे कारण है। पांचों विषयों एवं जड़-दृश्यों का द्रष्टा चेतन स्वयं ज्ञानरूप है, वही व्यक्ति का निजस्वरूप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, देहाभिमान आदि का त्याग कर दया, क्षमा, सत्य, शील, विचार, सन्तोषादि धारणकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य होना है। जो ऐसा मनुष्य हो जाता है वह मरता नहीं "मानुष ह्वै के ना मुवा" जो इस प्रकार सच्चा मनुष्य हुआ, वह अमर हो गया। मरता तो वह है जो डंगर-ढोर है। जो यह मानता है कि मैं देह हूं, खाना-पीना तथा विषय-भोगना जीवन का लाभ है, ऐसा देहाभिमानी मनुष्य मरता है। देह ही तो मरती है और जो अपने आप को देह मानता है वही मरता है। वही समझता है कि मैं मर रहा हूं। परन्तु जो यह जानता है कि मैं अमर चेतन हूं, वह मरने का भ्रम क्यों करेगा! जिसे विवेकज्ञान है, वह अपने आप को अमर जीव एवं आत्मा मानता है। उसे अपने आप के विषय में मरने का भय नहीं हो सकता। वह निर्भय, स्वच्छंद एवं निर्बंध हो जाता है।

खेद है कि संसार में इस ढंग के मनुष्य बिरले-बिरले हैं। शेष तो पशुबुद्धि वाले हैं। वे अपने आप को देह समझते हैं। सदैव पेट भरने, इंद्रिय-भोगों में उलझे रहने तथा इन सबके लिए धन्धा करने में ही वे अपने आप को कृतार्थ मानते हैं। इसलिए वे सदैव मृत्युभय से भीत रहते हैं। वे आज पशु-स्वभाव के हैं और मरने पर भी पशु ही रहेंगे।

परन्तु जो आज मुक्त है, अपने चेतनस्वरूप में स्थित है, निर्भय है, वह आगे भी अमर स्थिति में ही रहेगा।

सद्गुरु कबीर की भाषा में जीवन्मुक्त पुरुष ही पूर्ण मनुष्य है। जो शरीर में रहते हुए सारी भ्रांतियों, भयों एवं मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त है, वही जीवन्मुक्त है। वही पूर्ण मनुष्य है। स्वरूपस्थ होना ही न मरना एवं अमर होना है। और देहाभिमानी तथा भोगासक्त होना ही मर जाना है।

मानुष मानुष सबै कहावै। मानुष बुद्धि कोई बिरला पावै॥
मानुष बुद्धि बिरला संसारा। कोई जाने जाननहारा॥
(पंचग्रंथी, मानुष विचार)

सत्योपदेश न मानना अपराध है

मानुष तैं बड़ पापिया, अक्षर गुरुहि न मान।
बार बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान॥११०॥

शब्दार्थ—मानुष = मनुष्य। अक्षर = अविनाशी, अक्षय, चेतन जीव। बन कूकुही = बनकुकुही, बनमुरगी।

भावार्थ—हे भूला मानव! तू बड़ा पापी है जो गुरु के दिये हुए अविनाशी स्वरूप के उपदेश को नहीं मानता और नाशवान देहादि में पचता है। जैसे बनमुरगी बारम्बार गर्भ धारणकर अंडे देती है और उन्हीं के सेने में ध्यान रखती है, वैसे तू भी देह, गेह, परिवार आदि का अहंकार कर उन्हीं की सुरक्षा में सदैव ध्यान रखता है और अविनाशी निर्भय स्थिति से दूर रहता है॥११०॥

व्याख्या—यह मनुष्य का सबसे बड़ा पाप है जो वह सच्चे गुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं देता। गुरु का उपदेश है कि मनुष्य का अपना आपा अमर है। अक्षर का अर्थ अविनाशी होता है तथा उपदेश भी। गुरु के उपदेश, गुरु के बताये हुए अविनाशी तत्त्वबोध का तिरस्कार करना मनुष्य का बहुत बड़ा अपराध है। इस पाप का फल होता है कि मनुष्य अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के परिचय से वंचित रह जाता है। उसकी कभी आत्मबुद्धि बन ही नहीं पाती, उसकी सदैव देहबुद्धि रहती है। वह देह के खान-पान, शृंगार एवं इन्द्रिय-भोगों में ही सदैव लीन रहता है। पेट, भोग और धन्धा इससे अधिक उसका कुछ उद्देश्य नहीं रहता। इसलिए वह संसारासक्त होता है। संसारासक्त आदमी सदैव संसार के विषयों का ध्यान करता है; क्योंकि उसका उन्हीं में अहंभाव होता है। जो व्यक्ति जिसमें अपनापन जोड़ता है, वह उसी का ध्यान करता है। सद्गुरु ने इसके लिए इस साखी की दूसरी पंक्ति में बड़ा मार्मिक व्यंग्य किया है "बार बार बन कूकुही, गर्भ धरे और ध्यान" कुकुही[1] का अर्थ ही होता है बनमुरगी। बनमुरगी बारम्बार गर्भ

१. बृहत् हिन्दी कोश।

धारण करती है और अंडे देकर उनको सेती है। अंडे के सेने में उसे अंडे का ही ध्यान धारण करना पड़ता है।

संसारी मनुष्यों का सांसारिक प्राणी-पदार्थों को अपना होने का अहंकार करना, मानो उनका गर्भ धारण करना है। यह गर्भ वह बारम्बार धारण करता है। मनुष्य सदैव सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार ही में डूबा रहता है। इसलिए वह उन्हीं का सदैव ध्यान भी करता है। संसारी मनुष्य सदैव विषयों के चिन्तन में डूबा रहता है। उसका मन सदैव विनशने वाले विकारी प्राणी-पदार्थों का जप करता है। वह सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, संताप आदि मानसिक विकारों में जलता है।

सत्ता में मुख्य दो तत्व हैं क्षर तथा अक्षर।[1] क्षर का अर्थ है नाशवान। जो चीज सदैव बदलती रहे वही क्षर है। देह, गेह, धन, सम्मान और संसार के सारे जड़ पदार्थों की यही दशा है। वे सदैव बदलते रहते हैं। उनका एकरस रहना असम्भव है। इसलिए उनमें अहंता-ममता करने वालों का चित्त भी दुखी रहता है। जो आज है और कल नहीं है, उसमें अहंता-ममता करना कष्टकारक होगा ही। दूसरा अक्षर तत्व है। अक्षर का अर्थ है अविनाशी, एकरस। वह व्यक्ति का अपना आपा है। अपना चेतनस्वरूप, अपनी आत्मा अविनाशी है। अपने आपा की अनुपस्थिति का आभास कभी किसी को नहीं होता है। परन्तु मनुष्य इस अविनाशी स्वरूपबोध से जीवनभर वंचित रहता है। इसलिए उसकी बुद्धि सदैव क्षर वस्तु में लगी रहती है। वह सदैव नाशवान विषयों का चिंतन करता है और भय से पूर्ण रहता है। आदमी बनमुरगी बना सदैव अण्डे-बच्चे देता रहता है और उन्हीं के मोह में लिपटा हुआ सदैव पीड़ा-पर-पीड़ा भोगता रहता है। सद्गुरु अक्षर का बोध देते हैं। वे बताते हैं कि हे मनुष्य! तेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी है, तू अक्षर है, अक्षय है। तू अपने अक्षय स्वरूप का ज्ञान एवं स्मरण छोड़कर क्षयशील नाशवान चीजों में क्यों रमता है! अतएव विषयों का त्याग कर और अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित हो।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके कहै न खुलै कपाट।
स्वनहा चौक बैठाय के, फिर फिर ऐपन चाट॥१११॥

शब्दार्थ—मानुष = विवेकवान, शिक्षक। विचारा = बेचारा, विवश। कपाट = किंवाड़, अज्ञान का परदा। स्वनहा = कुत्ता। चौक = चौका, वेदी। ऐपन = चावल और हल्दी एक साथ पीसकर बनाया हुआ लेप जो मांगलिक कार्यों एवं पूजन में काम आता है।

भावार्थ—बेचारे विवेकवान सत्योपदेश देकर क्या करें जब उनके कहने पर भी संसारियों का हृदय-कपाट नहीं खुलता। जैसे किसी ने पूजा के समय वेदी पर कुत्ता को

---

१. कुछ लोग क्षर तथा अक्षर से परे एक निःअक्षर तत्त्व की कल्पना करते हैं, जो एक भ्रांति है। लक्षण ही केवल दो हैं एक क्षर तथा दूसरा अक्षर, एक नाशवान तथा दूसरा अविनाशी। अविनाशी के ऊपर दूसरे अविनाशी की कल्पना निरर्थक है। क्षर तथा अक्षर दो लक्षण हो जाने पर निःअक्षर केवल एक कल्पना ही है।

बैठा दिया और वह अपने स्वभाववश बारम्बार मांगलिक पदार्थों को चाटकर उसे अशुद्ध करता रहा, वैसे मनुष्य का लोलुप मन बारम्बार विषयों में डूबकर गुरु के सत्योपदेश पर पानी फेरता रहता है।।१११।।

व्याख्या—इस साखी के पूर्व की ११०वीं साखी में 'मानुष' शब्द संबोधन में कहकर उन लोगों को निर्देशित किया गया जो गुरु के अविनाशी तत्त्वबोध के उपदेश को नहीं समझते और नहीं मानते; परंतु इस साखी में 'मानुष' शब्द का प्रयोग विवेकवान एवं गुरु-सन्तों के लिए किया गया है जो उपदेष्टा हैं। इस साखी में उपदेष्टाओं की विवशता तथा श्रोताओं की लोलुपता पर प्रकाश डाला गया है, और उनके लोलुप मन के लिए कुत्ते का उदाहरण दिया गया है।

गुरुजनों का काम है कि वे स्वयं आचरण से रहें तथा दूसरों को अपने वचनों से उस तरफ प्रेरित करें। इसके बाद उनका काम पूरा है। कोई उपदेष्टा या गुरु किसी के दिल में घुसकर उसे बदल नहीं सकता। यदि कोई उपदेष्टा या गुरु स्वयं आचरण में नहीं चलता है, केवल दूसरों को उपदेश देता है, तो यह कहा जा सकता है कि श्रोता एवं जिज्ञासु क्या करें, जब उन्हें केवल मौखिक उपदेश मिलता है, गुरुजनों के दिव्य आचरणों के आदर्श नहीं, तब वे कैसे सुधरें! परन्तु यदि उपदेष्टा एवं गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलते हैं, उनके आदर्श दिव्य हैं और अपनी वाणी से भी वे लोगों को प्रेरित करते हैं तो इसके आगे वे क्या कर सकते हैं! बड़े-से-बड़े गुरु में यह शक्ति नहीं है कि वे किसी को जबरदस्ती बदल दें। कुछ लोग कहते हैं कि महान गुरु एवं पहुंचा हुआ पुरुष श्रोता एवं शिष्य को बलपूर्वक बदल सकता है। 'शक्तिपात' का व्यामोह संसार में बहुत लोगों को है। ऐसे लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु अपनी शक्ति शिष्य में बलपूर्वक डाल देता है और शिष्य तुरंत बदल जाता है। परन्तु यह सब भ्रांति के अलावा कुछ नहीं है। हां, यह बात ठीक है कि योग्य शिष्य को जब समर्थ गुरु मिल जाता है तब वह बहुत शीघ्र यथार्थ ज्ञान एवं साधना में आगे बढ़ जाता है। यदि श्रोता एवं शिष्य अपना हृदय-कपाट भीतर से नहीं खोलता है तो गुरु मात्र बाहर से खोलकर क्या करेगा! मान लो, एक आदमी एक कोठरी में बन्द है। कोठरी के फाटक में बाहर से ताला लगा है और भीतर से भी। बाहर रहे हुए आदमी ने बाहर का ताला खोल दिया, सांकल भी हटा दिया। अब फाटक तभी खुलेगा जब भीतर का बन्द आदमी भीतर से ताला खोलकर सांकल हटा दे। बाहर का आदमी भीतर से कैसे खोल सकता है! इसी प्रकार गुरुजन स्वयं पवित्र आचरण में चलकर दूसरे को उसका उपदेश दें, बस उनका यही कर्तव्य है। इसके आगे श्रोता एवं शिष्य का काम है कि वह अपने अन्दर की मलिनता को मन में दृढ़ निर्वेद करके मिटाये।

यदि आदमी कुत्ते की तरह लोलुप है तो वह आध्यात्मिक साधना में कोई प्रगति नहीं कर सकता। वैसे मनुष्य के समान कुत्ते लोलुप नहीं होते। उनके सामने रोटी, भात, दाल, सब्जी, चटनी आदि रख दीजिए, तो वे रोटी-भात खा सकते हैं, उनका मन हुआ तो थोड़ी दाल भी खा सकते हैं; परन्तु सब्जी, चटनी नहीं खायेंगे। सब्जी में यदि मसाला है तो उसे छूयेंगे भी नहीं। कुत्ते केवल कार्तिक में कामांध होते हैं, और विवेकहीन आदमी तो बारहों महीने कामांध होता है। इस साखी में 'स्वनहा..........ऐपन चाट' का उदाहरण

केवल एक अंश में है। कुत्ते आदि पशुओं एवं मानवेतर देहधारियों में जितने संयम हैं, सब उनके स्वभाववश तथा जितनी लोलुपता है वह भी स्वभाववश है। वेदी में बैठे हुए कुत्ते के मांगलिक पदार्थों को बारम्बार चाट लेने के समान यदि हम विषयों में लोलुप होकर सदैव उन्हीं में लीन रहते हैं तो सत्योपदेश का क्या प्रभाव होगा! मनुष्य गुरु के उपदेश क्यों नहीं धारण कर पाता! केवल एक ही बात है विषयासक्ति। गलत आदतें, विषयासक्ति एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि छोड़ना ही तो गुरु के उपदेश को मानना तथा उसका आचरण करना है। इसलिए केवल ज्ञान की हजार बातें करने से कुछ नहीं हो सकता। जब तक हम विषयों की आसक्ति छोड़कर गलत आदतों से मुक्त नहीं होते हैं तब तक हमारे सारे ज्ञान केवल भूसी पछोरना है।

मानुष बिचारा क्या करे, जाके शून्य शरीर।
जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर॥११२॥

शब्दार्थ—शून्य शरीर = श्रद्धाभाव से रहित हृदय। झाँकि = झांकी, देखने की क्रिया, दर्शन, दृश्य, प्रेम-उत्साह।

भावार्थ—विवेकवान उपदेशक बेचारे उपदेश देकर उसे क्या लाभ पहुंचा सकते हैं जिसका हृदय श्रद्धाभाव से रहित है। सद्गुरु कहते हैं कि उसे पुकारकर क्या बुलाया जाय जिसे साथ में आने का उत्साह नहीं है! अर्थात जिसके दिल में स्वरूप-साक्षात्कार एवं आत्मकल्याण का प्रेम नहीं जगता, उसको उपदेश देकर क्या लाभ! ॥११२॥

व्याख्या—स्वरूपज्ञान, स्वरूपसाक्षात्कार एवं स्वरूपस्थिति की पिपासा बहुत कम लोगों को हुआ करती है। कहा जाता है कि जब महात्मा बुद्ध को समाधिलाभ हुआ और वे पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त हो गये, तब उन्होंने सोचा कि मेरा क्या कर्तव्य है! उन्होंने एक बार विचार किया कि जिस आत्मशांति का लाभ मुझे हुआ है उसे दूसरों को भी बांटू। इसके बाद उन्होंने सोचा कि इसे लेने वाला कौन मिलेगा! सारा संसार तो घोर अंधकार में डूबा है। परमार्थ की बातें कौन सुनने वाला है! अतएव जिस शांति की उपलब्धि हुई है उसी में नित्य रमण करो और छोड़ो संसार को चेताने का चक्कर! परन्तु कुछ क्षण के बाद उन्होंने पुनः विचार किया कि जैसे मेरे मन में इस परमार्थतत्त्व की पिपासा जगी और इसके लिए मैंने अपने आप को समर्पित कर दिया, वैसे दूसरे भी लोग हो सकते हैं। अतः उन्होंने दूसरे जिज्ञासुओं को अपना उपलब्ध ज्ञान देना शुरू कर दिया।

यहां इस साखी में सद्गुरु कबीर भी आत्मकल्याण के जिज्ञासुओं की दुर्बलता बतलाते हैं। वे इसमें यह नहीं कहते कि संसार में पात्रत्व वाले हैं ही नहीं, किन्तु यह कहते हैं कि जो पात्र नहीं हो, उसके पीछे पड़ने से कोई लाभ नहीं। ज्ञान की बात उसी से कहना ठीक है जिसके मन में कम-से-कम ज्ञान की बातों को सुनने की जिज्ञासा एवं उत्साह हो। 'भैंस के आगे बेन बजावे, भैंस ठाढ़ पगुराय' अर्थात कोई भैंस के आगे बाजा बजावे, परन्तु भैंस को उससे कोई आनन्द नहीं आता। वह उसके महत्त्व को कुछ नहीं समझती। वह खड़ी होकर जुगाली करती है। इसी प्रकार जिसे ज्ञान एवं अध्यात्म की बातों को सुनने की बिलकुल ही श्रद्धा नहीं है उसके सामने कुछ कहना अपना समय

बरबाद करना है। सद्गुरु कहते हैं कि उपदेष्टा बेचारे उसे क्या उपदेश करेंगे जिसका शरीर शून्य है! शरीर शून्य होने का अर्थ है भावनाहीन होना।

"जो जिव झाँकि न ऊपजे, तो कहा पुकार कबीर" झांकी कहते हैं दृश्य, दर्शन एवं प्रेम को। यहां अभिप्राय प्रेम है। हम किसी को पुकारकर अपने पास बुलाते हैं, परन्तु वह हमारे पास आना नहीं चाहता, तो हमारा पुकारना निरर्थक है। इसी प्रकार हम किसी को उपदेश देकर उसे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यमार्ग पर लाना चाहते हैं, परन्तु उसे इस तरफ थोड़ी भी रुचि नहीं है, तो उसे उपदेश देकर अपना और उसका समय बरबाद करना है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

जो न सुनिय तेहि का कहिय, कहा सुनाइय ताहि।
तुलसी तेहि उपदेशिबो, तासु सरिस मति जाहि॥ तुलसी सतसई॥

जीवन में चूक मत करो

मानुष जन्म नर पायके, चूके अबकी घात।
जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात॥११३॥

शब्दार्थ—घात = दावं, अवसर। भवचक्र = जन्म-मरण चक्कर, संसार में भटकाव। घनेरी = बहुत।

भावार्थ—जीव ने विवेक-प्रधान मानव-जन्म को पाकर भी यदि ऐसे सुनहले अवसर में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम नहीं किया और इस महत्वपूर्ण अवसर को व्यर्थ खो दिया तो वह जाकर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर असीमित दुख भोगता रहेगा॥११३॥

व्याख्या—आदमी वही रहता है, परन्तु जब वह बैलगाड़ी की सवारी पर चलता है, तब उसकी गति बहुत मंद होती है, पर रेलगाड़ी एवं कार की सवारी पर वह तेज चलता है; परन्तु यदि उसने वायुयान की सवारी की तो वह बहुत तेज गति से चलता है। सामान्य आंखों से हम चीजों के सामान्य रूप ही देख पाते हैं; परन्तु सूक्ष्मदर्शक एवं दूरदर्शक से हम सूक्ष्म वस्तुओं एवं दूर की वस्तुओं को भी देख लेते हैं। इसी प्रकार जीव तो वही है, परन्तु जब वह मनुष्येतर खानियों में रहता है तब केवल पेट तथा भोग तक सीमित रहता है, परन्तु जब वह मानव-शरीर में आता है तब विवेक-ज्ञान की भूमिका में पहुंच जाता है। अन्य खानियां अंधकारपूर्ण हैं, मानव शरीर प्रकाशस्थल है। जीव का मानव शरीर में आना उसका एक सुनहला अवसर है। मानव-शरीर में विवेक जग सकता है। यहीं सत्संग प्राप्त होता है। यहीं जीव अपने स्वरूप को समझ सकता है। यहीं साधना करके सारी जड़ वासनाओं का क्षय कर सकता है।

ऐसा उत्तम मानव चोला पाकर भी जो इसे पशु-सदृश कामों में लगाये रखता है, वह मानो अपने सुनहले दावं को चूक रहा है। अवसर ऐसा देवता है जिसके सिर के अगले

भाग में तो चोटी है और पिछले भाग में केवल सफाचट है। अतः यदि उसके आते ही उसकी चोटी पकड़ ली गयी तो वह अपने हाथों में आ जायेगा। अन्यथा जब वह लौट पड़ता है तब उसे पकड़ा नहीं जा सकता। जो लोग अपनी जवानी को काम-भोग, लड़ाई-झगड़े एवं राग-द्वेष में क्षीण करते हैं, वे बुढ़ापा में पहुंचकर केवल पश्चाताप करते हैं।

मनुष्य जीवन का अवसर सर्वाधिक मूल्यवान है। हम अपने जीवन के अवसर में धन कमा सकते हैं, किन्तु धन देकर जीवन के बीते अवसर को लौटा नहीं सकते। इसी प्रकार हम जीवन के अवसर में परिवार, विद्या, प्रतिष्ठा, शासन, अधिकारादि संसार के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु उन सबसे जीवन के बीते अवसर को पुनः लौटा नहीं सकते। हम जीवन में जो कुछ पाते हैं वे सब अंततः छूट जाते हैं। परन्तु यदि हमने अपने जीवन में आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति की, तो यह कभी छूटने वाली वस्तु नहीं है और इसी में हमें परम सुख एवं परमशांति मिलती है। विवेकप्रधान एवं मोक्ष साधन करने योग्य मानव शरीर को पाकर यदि हमने यह काम नहीं किया और इस सुनहले अवसर में यदि हम जीवनभर ईंट-पत्थर और संसार के अन्य सारे क्षणभंगुर पदार्थ बटोरते रहे तो हमने क्या समझदारी का काम किया! जिस जीवन में हमें अनंत मोक्ष, अनंत शांति एवं अनंत सुख की प्राप्ति हो सकती है, यदि उसे हमने मलिन भोगों में बिताया, तो हम-जैसा मूर्ख कौन होगा! हम स्वप्नवत सांसारिक प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझकर अपने कल्याण-साधना करने योग्य दावं को चूक जाते हैं और उसका फल होता है जीवन की हार!

यदि जीव ने आज अपना कल्याण नहीं कर लिया, तो वह आज और आगे के लिए दुख का पात्र बन गया। "जाय परे भवचक्र में, सहे घनेरी लात" जीव ने यदि आज भवबन्धनों से मुक्ति नहीं ले ली तो वह पुनः नाना योनियों में भटक-भटककर असीम दुख भोगता रहेगा। आप देखते हैं कि जीव कीड़े-मकोड़ों के नाना शरीर धारणकर मनुष्यों एवं पशुओं के पैरों से रात-दिन रगड़े जाते हैं। बारम्बार जन्मना और मरना, यह महान दुख है। शरीर यात्रा एवं संसार के भ्रमण में गर्भवास, जन्म, बाल्य, युवा, जरा, रोग, विपत्ति तथा मरण के नाना दुखों को भोगना, यही जीव का व्यवसाय है। जीव जब तक जन्म धारण करता रहेगा, तब तक वह क्षणभंगुरता के प्रवाह में ही निरन्तर बहता रहेगा और तब तक उसे शांति कहां है!

रतन का जतन करु, माँड़ी का सिंगार।
आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार॥११४॥

शब्दार्थ—रतन = रत्न, मानव शरीर, जीव एवं चेतन-आत्मा। जतन = यत्न, उद्योग, उपाय, सार-सम्हाल। माँड़ी = कपड़े के सूत पर चढ़ाया जाने वाला चावल का पसेव, दिखाऊ, मंडी, बाजार।

भावार्थ—मानव-शरीररूपी रत्न को अच्छे उपाय से रखो, अथवा महान-रत्न अपने जीव को, अपनी चेतन-आत्मा को सम्हालकर रखो। जिस माया के शृंगार एवं चटक-मटक में तुम भूलते हो, वह पसेव चढ़े हुए चिकने कपड़े या सजे हुए बाजार के समान दिखाऊ

एवं क्षणभंगुर है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव संसार में आते हैं और फिर थोड़े दिनों में लौट जाते हैं, इसलिए यहां का अहंकार मिथ्या है ।।११४।।

व्याख्या—इस साखी में आये हुए रत्न शब्द का अभिधा अर्थ नहीं, किंतु लक्षणा अर्थ है। रत्न के लक्षणा अर्थ में मानव-शरीर भी हो सकता है तथा जीव भी। मानव-शरीर एक ऐसा रत्न है जो बहुत थोड़े समय के लिए मिला है। इसको यत्नपूर्वक रखना मनुष्य की बुद्धिमानी है। अधिकतम लोग इस शरीर को पाकर जवानी आते ही इतरा जाते हैं। वे अपनी जवानी की उष्मा में प्रमत्त होकर भोगों पर टूट पड़ते हैं और अपने इस रत्न को मलिन भोगों में खो देते हैं। सद्गुरु कहते हैं "रतन का जतन करु" इस रत्न को यत्न से रखो। यत्न का अर्थ है उपाय, साधना एवं सार-सम्हाल। मन के विकारी वेगों में बहो मत। जवानी की बाढ़ थोड़े दिनों की है। इस बाढ़ में बह जाने वाला आदमी पीछे पछताता है। शक्ति खो जाने के बाद यदि होश आये तो किस काम का! तुम्हारी जवानी पर बाहरी प्राणियों के हमले होते हैं, भीतरी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के हमले होते हैं। तुम इन सबसे सावधान रहो। जवानी के क्षणिक भ्रमसुख की गुदगुदाहट में जो अपने आप को खो देता है, वह शेष जीवन में रोता रहता है। ऐसे लोग ही संसार में अधिकतम होते हैं जो जोश में होश खोकर बेवकूफ बने शेष जीवन में पश्चाताप करते रहते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष और संसार के प्रपंचों में उलझने का फल है मलिनता, उद्वेग, इच्छा की वृद्धि, क्षीणता, अशांति एवं जन्म-जन्मान्तरों तक भटकाव, परन्तु इस शरीर को यत्न से रखकर एवं साधना-संयम से रखकर निवृत्ति का फल है आज और आगे सदा के लिए परम शांति। जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को यत्न एवं संयम से रखता है वही मानो जीवरूपी रत्न को सम्हाल कर रखता है। मनुष्य का अपना मूल आपा जीव, चेतन एवं आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्तरूप ही है। उसे सम्हालना नहीं है, बल्कि मन-इन्द्रियों को सम्हाल लेने के बाद, सब ठीक है।

मनुष्य अपने आप को क्यों नहीं सम्हाल पाता! वह मन-इन्द्रियों के उद्वेगों में क्यों बह जाता है! क्योंकि वह संसार के शृंगार एवं चटक-मटक में भूल जाता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है "चटक मटक में दुनिया रीझे, राग-रंग में नारी। भाव भक्ति में साधू रीझे, तीनों निपट अनारी।।" संसार के सारे राग-रंग एवं चटक-मटक क्षणिक होते हैं। कपड़े पर माड़ी चढ़ी होने से वह चिकना दिखता है, परन्तु धुल जाने के बाद उसका खुरदरापन प्रकट हो जाता है। माड़ी, मंडी एवं बाजार की भी यही दशा है। जिस समय बाजार सजता है उस समय उसकी रौनक देखते ही बनती है। परन्तु कुछ ही समय के बाद बाजार उजड़ जाने पर सब कुछ अनसुहाता हो जाता है। जवानी की चमक-दमक, मित्रों का मिलना, पद, अधिकार, शासन, स्वामित्व सब कुछ "माँड़ी का सिंगार" है, क्षणिक दिखावा है और हम इन्हीं सब में भूलकर अपने आप को खो देते हैं।

"आया कबीरा फिर गया, झूठा है हंकार" इस संसार में जीव मुफलिस बनकर आता है और तवंगर बनकर आता है, गरीब बनकर आता है और धनी बनकर आता है, बलवान बनकर आता है और निर्बल बनकर आता है, विद्वान बनकर आता है और निरक्षर बनकर आता है, शासक बनकर आता है और शासित बनकर आता है, परन्तु

आकर सब थोड़े दिनों में लौट जाते हैं। बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली एवं घमंडी भी यहां रहने नहीं पाते। इसलिए कबीर देव कहते हैं कि यहां का अहंकार करना झूठा है। शिवि, मांधाता, नहुष आदि महाराजे तथा उनके ऐश्वर्य कहां गये! सूर्यवंश, चंद्रवंश, राम, कृष्ण, कौरव-पांडव और उनके ऐश्वर्य का कहीं पता भी नहीं लगता। मौर्यवंश, गुप्तवंश, पृथ्वीराज, जयचन्द, चंगेज खां, नादिरशाह, बाबर, अकबर, औरंगजेब, फिरंगी तथा अभी कल के हिटलर, नेपोलियन, मुसोलिनी आदि के केवल नाम शेष हैं। केवल उनके किये हुए कर्तव्यों के "उत्तम मध्यम बाजन बाजा" के अनुसार भली-बुरी चर्चा रह गयी है, वह भी कुछ लोगों की। शेष को तो कोई जानता भी नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव "झूठा है हंकार" यहां का अहंकार करना व्यर्थ है। इसलिए यहां के सारे अहंकारों को छोड़! यहां के क्षणिक चटक-मटक में मत फंस! अपने जीवन का उद्धार कर! रतन का जतन कर! अन्यथा तेरा कोई साथी नहीं होगा।

काहे गरब करे नर मूरख, यह सब दुनिया फानी है।
बिनसि जाय सपने की माया, जिमि अँजुली का पानी है॥

मानुष जन्म दुर्लभ है, बहुरि न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार॥११५॥

शब्दार्थ—दुर्लभ = कठिनता से मिलने वाला। बहुरि = पुनः, दोबारा।

भावार्थ—मनुष्य का जन्म पुनः मिलना बड़ा कठिन है। पके फल जब डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः लौटकर उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जीव जब देह छोड़कर चला जाता है तब पुनः उसमें नहीं लौटता॥११५॥

व्याख्या—पुनर्जन्म सिद्धांतानुसार यह विश्वास किया जाता है कि जीव संसार के चौरासी लाख योनियों में या असंख्यात योनियों में कर्मवासनावश भटकता है। वह अपने किसी अच्छे कर्म के बल पर सौभाग्य से कभी-कभी मानव-शरीर पाता है। अन्य खानि की देहें तो केवल भोगभूमिका हैं। वहां कल्याण-सुधार का कोई अवसर नहीं है। केवल मानव-शरीर कर्मभूमिका है। यहीं कल्याण-सुधार की साधना की जा सकती है। परन्तु जीव अपनी असावधानी से इस मानव-शरीर के सुनहले अवसर को पशुवत खाने-भोगने में बिता देता है और यहां से बिना आत्मकल्याण किये चला जाता है।

इसके लिए एक सुन्दर एवं प्रचलित उदाहरण दिया जाता है। एक शहर था। उसके चारों ओर एक परकोटा खिंचा था। उस परकोटे में केवल एक दरवाजा था। उस शहर में एक अंधा रहता था। एक बार उसका मन हुआ कि इस परकोटे से मैं बाहर चला जाऊं। उसने लोगों से उससे निकलने का रास्ता पूछा। लोगों ने कहा कि तुम इस परकोटे की दीवार को पकड़े-पकड़े चले जाओ, तो तुम्हें एक जगह दरवाजा मिल जायेगा। फिर तुम वहीं से बाहर निकल जाना। उसने वैसा ही किया। परन्तु उसके शरीर में खाज का रोग था। वह बीच-बीच में दीवार को छोड़कर खुजलाने का काम करने लगता था और चलता भी रहता था और पुनः दीवार पकड़ लेता था। ऐसा संयोग कि जब वह दरवाजे के निकट आता था, उसे खुजली लग जाती थी और वह दीवार छोड़कर चलते-चलते

खुजलाने लगता था। फलतः दरवाजा छूट जाता था और उसके हाथ में पुनः दीवार आ जाती थी। वह जब-जब दरवाजे के पास आता था, तब-तब यही दशा होती थी।

इसका तात्पर्य यह है कि असंख्य योनियों एवं खानियों का एक विशाल परकोटा है। उससे निकलने का एक ही दरवाजा है—मानव-शरीर। परन्तु जब जीव मानव-शरीर में आता है तब उसे विषय-वासनाओं एवं संसार के राग-द्वेष की खुजली लग जाती है। इसलिए वह इससे निकलने की अपेक्षा खुजली खुजलाने लगता है और इसी में यह मानव-शरीररूपी दरवाजा छूट जाता है और जीव पुनः नाना योनियों का चक्कर काटने लगता है। मान्यता चौरासी लाख योनियों की है। परन्तु पारखी सन्त इस संख्या पर विश्वास नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि शायद आज तक कोई देहधारियों की योनियों एवं खानियों की सम्पूर्ण गणना नहीं कर सका है। कहा जाता है कि आजकल के जीवविज्ञानियों ने दस लाख योनियों तक की गणना कर ली है। उसके आगे अभी प्रयास जारी है। संख्या जो हो, यह निश्चित है कि देहधारियों की योनियां बहुत हैं और असंख्य कहना ही ठीक है। पारखी सन्त चौरासी का अर्थ करते हैं चार राशियां, अर्थात चार ढेरियां। वे हैं मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीड़े। पारखी सन्त वृक्ष-वनस्पतियों में चेतन जीव का होना नहीं मानते। इसलिए वनस्पति को वे सचेतन खानि नहीं मानते। इसलिए वे चार राशियों में उसे नहीं लेते।

सद्गुरु इस साखी में इस बात पर जोर देते हैं कि मानव-शरीर ही कल्याण-साधना करने की भूमिका है और साथ-साथ क्षणिक भी है तथा छूटकर शीघ्र मिलने वाला भी नहीं है। इसलिए इस मानव-जीवन के सुनहले अवसर को असावधानी में, विषय-वासनाओं में एवं राग-द्वेष के झगड़े में न बिताओ। बल्कि इस जीवन में एक-एक क्षण का सद्साधना में दोहन करो। ऐसा अवसर मिलना सहज नहीं है। ऐसे अवसर को जो व्यर्थ खोता है वह कितना भोला है!

मानव-शरीर की दुर्लभता में सद्गुरु डाली से टूटे हुए फल का उदाहरण देते हैं। जब पके फल डाली से टूटकर गिर पड़ते हैं तब वे पुनः उसमें नहीं लगते। इसी प्रकार जब जीव शरीर को छोड़ देता है तब पुनः वह उसी शरीर में प्रवेश नहीं करता, और दूसरा मानव-शरीर मिलना भी सहज नहीं रहता। वह तो पुनः जब उसके अच्छे कर्म फलोन्मुख होंगे तभी मानव-शरीर पायेगा।

"पक्का फल जो गिर पड़ा, बहुरि न लागै डार" इस पंक्ति का यह अर्थ लगाना इसका दुरुपयोग है कि जैसे फल डाली से टूटकर पुनः उसमें नहीं लगते, वैसे आदमी मरकर पुनः दूसरी देह नहीं धरता। कबीर साहेब की अपनी मान्यता है कि जीव चेतन हैं, अविनाशी हैं और कर्म संस्कारों के अधीन नाना योनियों में भटकते हैं। वे वासनावश बंधे हैं और मानव-शरीर में सत्संग, विवेक एवं स्वस्वरूप का ज्ञान पाकर भव-बंधनों एवं जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त हो सकते हैं। "कहहिं कबीर सत सुकृत मिले, तो बहुरि न झूलै आन।"[1]

---

१. हिंडोला १।

यहां पके फल के डाली से टूटकर उसमें न लगने की बात का उदाहरण केवल मानव-शरीर की दुर्लभता पर दिया गया है जिसमें उदाहरण का केवल एक अंश लिया गया है, कि जीव शरीर छोड़कर फिर उस शरीर में नहीं आता। इस साखी का सार कथन यह है कि हम इस दुर्लभ मानव-जीवन को विषय-प्रपंच में न खोयें। इससे हम अपने जीवन का कल्याण करें।

भक्ति से स्वरूपस्थिति की ओर बढ़ो

बाँह मरोरे जात हो, मोहि सोवत लिये जगाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥११६॥

शब्दार्थ—बाँह मरोरे = हाथ छुड़ाकर। ई पिण्डे = इस मानव-शरीर में।

भावार्थ—शिष्य कहता है कि हे सद्गुरु! आपने मुझे सोये हुए से जगा लिया है और मैंने आपकी बांह पकड़ ली है। परन्तु आप मुझसे अपनी बांह छुड़ाकर और मुझसे विरत होकर अपनी असंग स्थिति में जा रहे हैं, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा? सद्गुरु ने मानो शिष्य से दूर जाते हुए पुकारकर उसे बता दिया हो कि हे शिष्य! तू इसी शरीर में रहते हुए अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो, अन्यथा भ्रम में तेरा समय बीत जायेगा॥११६॥

व्याख्या—इस साखी का भाव बड़ा मनोहर तथा मार्मिक है। सद्गुरु ने बारम्बार दोहराया कि अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसे सुनकर जिसमें स्वरूपस्थिति की परिपक्वता नहीं है वह शिष्य घबरा गया। उसने देखा कि गुरु ने हमें मोह-नींद से तो जगा लिया है, परन्तु अब वे कहते हैं कि तुम अपने स्वरूप में स्थित होओ। इसके आगे वे मुझसे असंग होकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहते हैं। अब आगे वे मुझे कोई सहारा नहीं दे रहे हैं। यह सब सोचकर शिष्य व्याकुल हो गया और उसने गुरु से कहा कि हे सद्गुरु! मैं तो माता-पिता, भाई, पत्नी, बच्चे आदि के मोह तथा पांचों विषयों के भोग की आसक्ति में डूबा था। मैं संसार की मोह-नींद में ऐसा प्रगाढ़ सोया था कि मुझे कुछ होशहवास नहीं था। आपने मेरे ऊपर कृपा की और मुझे बताया कि तुम देह नहीं हो, शुद्ध चेतन हो, असंग हो, अकेला हो, तुम्हारा कोई नहीं है और तुम किसी के नहीं हो। भोग-भोगना तुम्हारा जीवन-लाभ नहीं है, क्निन्तु इसमें तुम्हारा पतन है। तुम सारे विषयों की आसक्ति छोड़कर अपने स्वरूप को पहचानो। हे सद्गुरो! यह आपका भव-नाशक बाण लगते ही मेरी मोह-नींद खुल गयी, और मैंने संसार से पीठ देकर आपके हाथ पकड़ लिये। मैंने सारे सहारे छोड़ दिये, केवल आप की बाँह पकड़ी, क्योंकि आपने "मोटा की बाँह"[1] पकड़ने की आज्ञा दी है। हे सद्गुरो! अब आप मुझसे अपने हाथ छुड़ाकर भाग रहे हैं। आप मुझसे निराश, उदास एवं असंग होकर अपने भजन में लीन रहते हैं। परन्तु मैं तो आपका सहारा छोड़कर, आपकी भक्ति-सेवा को छोड़कर कहीं का नहीं रह जाऊंगा। मैं नहीं जानता कि अपने स्वरूप में कैसे स्थित हुआ जाता है। मैं तो आपकी भक्ति करना

१. साखी ३०।

जानता हूं, स्वरूपस्थिति नहीं। मैं तो आपके ध्यान में ही सदैव लीन रहना चाहता हूं। आपका सहारा, आपकी सेवा-भक्ति, आपका ध्यान, आपके प्रति प्रेम, यही सब मेरे शंबल हैं। इसके आगे मैं कुछ नहीं जानता। इसलिए हे सद्गुरु! आप मेरे हाथ मरोड़िए मत। मेरे हाथों से अपने हाथ छुड़ाइए मत। मुझसे अपना पल्ला मत झाड़िए!

निश्चित है कि कुछ साधक उक्त भाव-दशा में ही जीवनभर बने रह जायं तो उनका बड़ा कल्याण है; क्योंकि कुछ साधक ऐसे होते हैं कि उनकी योग्यता उक्त भाव-दशा से आगे बढ़ने की तत्काल नहीं होती। परन्तु यह तो समझना ही होगा कि मंजिल इससे आगे है। जहां हमें पहुंचना है, जो हमारा गंतव्य है, उद्देश्य है, वह इस भक्ति-भावना से आगे है। हम रात में कहीं जा रहे हैं। जहां जा रहे हैं, लोगों से उसका पता पूछते हैं। किसी ने दिखाया कि देखो, वह आगे चार फर्लांग पर बत्ती जल रही है। वही वह जगह है जहां तुम जाना चाहते हो। हम उस बत्ती के प्रकाश को देखते हुए आगे बढ़ते हैं। जब प्रकाश के पास पहुंच जाते हैं तब प्रकाश को नहीं देखते, किन्तु प्रकाश में देखते हैं। अर्थात तब प्रकाश में उस जगह को, उस जगह में रहे हुए प्राणी-पदार्थों को देखते हैं और देखते हैं उन्हें जिनसे हम मिलने गये हैं। यदि प्रकाश के पास जाकर प्रकाश में न देखें किन्तु प्रकाश को ही देखते रहें और वहां बैठकर या खड़े रहकर बत्ती को ही निहारते रहें तो लोग हमें देखकर यही कहेंगे कि यह पागल आदमी है। कल्पना करो कि कोई व्यक्ति अपने मित्र से मिलने जाय और वहां पहुंचकर अपने मित्र पर नजर ही न ले जाय, वह केवल वहां की जलती हुई बत्ती को ही देखता रहे तो उसे लोग पागल न मानेंगे तो क्या मानेंगे! जब तक वह प्रकाश से दूर था तब प्रकाश को देखकर उसकी तरफ बढ़ रहा था यह तो ठीक था; परन्तु जब प्रकाश के पास पहुंच गया, तब तो उसे प्रकाश को न देखकर प्रकाश में ही देखना चाहिए। यही प्रकाश के पास पहुंचने की सार्थकता है।

बोधदाता, प्रेरक तथा रक्षक सद्गुरु का सहारा, सेवा-भक्ति, ध्यान, प्रेम सब ठीक है। इसके बिना मुमुक्षु अपने गंतव्य पर पहुंच ही नहीं पायेगा। परन्तु अंततः स्वरूपध्यान ही गुरुध्यान है। यदि साधक गुरु के शरीर के ही ध्यान में जीवनभर लगा रहा तो वह अपने गंतव्य से अभी दूर ही पड़ा है। गुरु का शरीर भी तो भौतिक ही है। जीव को किसी अन्य गुरु, कबीर या ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होना है, किन्तु उसे अपने आप ही में लीन होना है। हमारी अविचल स्थिति हमारे अपने स्वरूप में ही हो सकती है। हम पहले गुरुज्ञान-प्रकाश को देखें। उसके बाद उस प्रकाश में अपने आप को देखें। गुरु ने बताया है "जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।।"[1]

अतएव शिष्य की विरह-व्यथा देखकर गुरु ने उसे पुकारकर कह दिया कि हे प्रिय शिष्य! तू क्यों कायर बन रहा है! तू संसार के मोह को छोड़कर कहीं मेरे शरीर का ही मोही न बन जाय! अरे, तू सारे मोह को छोड़ दे। तेरी स्थिति न किसी बाहरी गुरु में है, न कबीर में, न किसी ईश्वर-ब्रह्म में। तेरी स्थिति तो तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। अतएव

---

१. साखी २९८।

इसी पिंड में, इसी शरीर में रहते हुए तू अपने स्वरूप में स्थित हो, नहीं तो तू भ्रम में चला जायेगा। यह मोह भी मत कर कि इस जीवन में भक्ति करेंगे और अगले जीवन एवं अगले जन्म में स्वरूपस्थिति करेंगे। अगले जीवन का भी मोह छोड़ दे। तू इसी शरीर में रहते हुए स्वरूपस्थिति कर!

सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने उक्त साखी की दूसरी पंक्ति की टीका करते हुए लिखा है—"हे विचारवान जीव! तू यथार्थ पारख करके देखो कि जाको तुम कबीर कहते हो और गुरु कहते हो, सो कहां है? हक नाहक मिथ्या धोखे में पड़ो मत, इस पिंड में पारख पर स्थित होओ। जासे तुमने सब परखा, सोई पारख और गुरुपद, ताके ऊपर और कुछ नहीं। यह जान के तुम हू पारख होहु कि भ्रम में चले जाओ मत। "हम तो कहीं आयं न जायं। सदा एकरस नहीं नशायं।" सो तू कहीं घबराय के पारख छोड़ के मत जाना।"[1] श्री पूरण साहेब ने और भी कहा है—

पारख में हम तुम हैं एका। देह भाव से भिन्न विवेका॥
पारख में समता होय जाई। शिष्य भाव न रहे गुरुवाई॥
देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥ निर्णयसार॥

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

लोग वाक्यजाल एवं अंधविश्वास में उलझ गये हैं

साखी पुरन्दर ढहि परे, बिबि अक्षर युग चार।
कबीर रसनारम्भन होत है, कोइ कै न सकै निरुवार॥११७॥

शब्दार्थ—साखी = साक्षी, गवाह, प्रमाणित करने वाला। पुरन्दर = इंद्र, कर्मकांडी। ढहि परे = फिसलकर गिर पड़े। बिबि अक्षर = दो अक्षर—सो-हं, वो-हं, रा-म आदि। युग चार = चारों युग। रसनारम्भन = वाणी का रसास्वादन, वाक्यजाल का विस्तार। निरुवार = निर्णय।

भावार्थ—चारों युगों से अर्थात बहुत काल से दो अक्षरों के जप से मोक्ष मानने वाले उपासक तथा कर्मकांड से स्वर्ग मानने वाले और उसे प्रमाणित करने वाले इन्द्र अपनी वास्तविक स्थिति से फिसलकर नीचे गिर गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हर जगह प्रायः वाक्यजाल का विस्तार हो रहा है। कोई सत्यासत्य निर्णय कर बंधनों को नहीं छुड़ाता॥११७॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तकें वेदों तथा ब्राह्मणों आदि को देखने से पता चलता है कि उस समय कर्मकांड का बड़ा जोर था। उन लोगों को यह विश्वास था कि आग में आहुति डालकर उसकी सुगंध से हम देवताओं को खुश कर सकते हैं। इसके

बदले में आकाश में बैठे देवता लोग प्रसन्न होकर वर्षा करेंगे और हमारी पृथ्वी धन-धान्य एवं पशुओं से सम्पन्न होगी; और मरने के बाद हमें स्वर्ग मिलेगा। वस्तुतः यह कर्मकांड पुरोहितों का पेटधन्धा था। इसलिए उन्होंने इसके पीछे यह सब अंधविश्वास लगा रखा था। आर्यों की गद्दी पर जो बैठता था, वह इन्द्र कहलाता था। इन्द्र का यह काम होता था कि जनता में अधिक-से-अधिक यज्ञ-हवन का प्रचार कराये, क्योंकि उसको यज्ञ से अधिक लाभ होता था। इसलिए इन्द्र यज्ञ का गवाह होता था। वह जनता में प्रमाणित करता था कि तुम्हें यज्ञ से इस लोक में धन, परिवार, पशु आदि मिलेंगे तथा परलोक में स्वर्ग मिलेगा। सद्गुरु कहते हैं कि इन्द्र यज्ञ के विषय में गवाह बनकर कर्मकांड में फिसल गया है। यहां पुरन्दर कहकर सभी कर्मकांडियों को इंगित किया गया है। कर्मकांडी लोग स्वरूपज्ञान एवं आत्मविवेक छोड़कर 'स्वाहा-स्वाहा' में लगे रहते हैं और अपने पूरे जीवन को मानो भूसी कूटने में ही बिता देते हैं। प्राणियों के अलावा न कोई देवता है जो हमारे हवन-कर्म से खुश होगा और कुछ दे सकेगा और न इस जीवन को छोड़कर कहीं स्वर्ग-नरक है। हवन करने से वर्षा होने की बात तो एकदम भोलापन है। पहले जमाने में ज्यादा पानी इसलिए नहीं बरसता था कि उस समय हवन होता था; किन्तु इसलिए बरसता था कि उस समय वन-वनस्पतियां ज्यादा थीं। फिर सूखे तथा अकाल पहले भी पड़ते थे। हवन करना तो धन को आग में डालकर उसे बरबाद करना है। इसके पीछे अंधविश्वास और पुरोहितों के पेटधंधे के अलावा कुछ नहीं है। वर्षा और वातावरण की शुद्धि के लिए तो अधिक-से-अधिक पेड़-पौधे लगाना ही विज्ञान तथा विवेकसम्मत है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं—"यह स्पष्ट है कि यज्ञ मध्यकालीन ब्राह्मणों की पेटपूजा का ढकोसला मात्र था। ऋषि दयानन्द इस ढकोसले को अस्वीकार करते हैं। वे यह कहते हैं कि यज्ञ करने से हवा शुद्ध रहती है अतएव यज्ञ करना आवश्यक है। लेकिन विचारकर देखा जाय तो यह यज्ञ केवल वायु शुद्धि के लिए ही नहीं, अपितु यह अंधविश्वास एवं अंधपरम्परा का द्योतक भी है जो कि मध्ययुग के वैदिक पुरुषों में था। सत्यार्थ प्रकाश के आरम्भ में इन तमाम देवताओं का अर्थ ईश्वर करने पर भी इन देवताओं से छुटकारा नहीं मिलता है।"[१]........."वायु की शुद्धि के लिए तो अग्निहोत्र होता ही नहीं है, वह तो विविध कारणों से होता है, क्योंकि आग जलाने से सदा वायु अशुद्ध होता है।"[२]

पुराकाल से ही यह भ्रम है कि अमुक नाम के जप से जीव के सारे बंधन कट जाते हैं। इसको लेकर "बिबि अक्षर का कीन्ह बँधाना"[३] वो-हं, सो-हं, रा-म आदि दो अक्षरों के नामों की कल्पना की गयी। इन-जैसों तथा अन्य नाम और मंत्रों का जप केवल मन को एकाग्र करने के लिए आरम्भिक साधना है न कि ये कोई पाप काटते हैं या तुरत-

---

१. धर्म के नाम पर, पृष्ठ १४७-१४८।

२. वही, पृष्ठ १४९-१५०।

फुरत में मोक्ष देते हैं। जिसका जितना मूल्य हो उतना ही मानना ठीक है, अन्यथा मिथ्या महिमा में मनुष्य केवल भ्रम में पड़ता है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार में ज्यादातर तो धर्म के नाम पर रसनारंभन होता है। आदमी वाक्यजाल के विस्तार में उलझ गया है। वाक्यजाल का इतना व्यामोह हो गया है कि आदमी सही निर्णय करने की हिम्मत नहीं रखता। "कबीर रसनारम्भन होत है, कोई कै न सके निरुवार" यह बड़ा मार्मिक वचन है। धर्म के नाम पर लंबी-चौड़ी बातें हांकी जा रही हैं। पहली बात तो यह है कि अंधविश्वास के कारण उनकी वास्तविकता को समझने की चेष्टा ही नहीं की जाती। यदि कुछ समझने में भी आती है, तो उसे समाज में स्वीकारने, घोषित करने तथा उसके अनुसार जीवन बनाने का साहस नहीं होता है। ऐसे मुरदा लोग अपने जीवन में यथार्थ ज्ञान की तरफ क्या प्रगति कर सकते हैं!

'साखी' का अर्थ साक्षी है। साक्षी चेतन है। यही सबको जानता है। यह सबसे अनासक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहे इसका यही साक्षित्व है। परन्तु यदि पहले अपने आप को समस्त जड़-दृश्यों का साक्षी मानकर भी, पीछे यह मान लिया जाय कि मैं ही यह सब जड़ दृश्य जगत हूं, मैं ही अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, तो यह साक्षी का साक्ष्य एवं जड़दृश्य में ढह पड़ना है, फिसल जाना है। पहले अपने आप को साक्षी मानकर पीछे सर्व जगत को अपना स्वरूप मान लेने से अपना जड़ में पतन हो जाता है। इस प्रकार साक्षी-ज्ञानी, पुरंदर-कर्मी तथा बिबिअक्षर-उपासक यथार्थ स्वरूपज्ञान के अभाव में अपनी वास्तविक स्थिति से फिसल जाते हैं। ये सब रसनारंभन करते हैं। ये कोई जड़-चेतन का, स्व-पर का ठीक से निर्णय नहीं करते। पारख के अभाव में सब भटक रहे हैं।

उक्त बातों से शंका उठ सकती है कि क्या कर्म-उपासनादि सब बिलकुल बेकार हैं। इसके समाधान में सद्गुरु ने अगली साखी कही है—

क्रमशः आगे बढ़ो

बेड़ा बाँधिन सर्प का, भवसागर के माँहिं।
जो छोड़े तो बूड़े, गहै तो डँसे बाँहिं ॥११८॥

शब्दार्थ—बेड़ा = बड़े-बड़े लट्ठों या तख्तों आदि से बनाया हुआ ढांचा, जिस पर बैठकर नदी आदि पार करते हैं।

भावार्थ—कई लोगों ने कई सापों को एक में बांधकर उसका बेड़ा बनाया और उसी को पकड़कर समुद्र पार करने लगे। अब यदि उस बेड़े को छोड़ते हैं तो समुद्र में डूबते हैं और यदि उसे पकड़े रखते हैं तो वे बेड़े के सांप उनके हाथ काटते हैं और उन्हें विष से बेभान करते हैं। ये अबोधमिश्रित ज्ञान, कर्मकांड एवं देवी-देवादि की उपासनाएं सांपों के बेड़े हैं। मनुष्य इन्हीं-द्वारा संसार-सागर से पार होना चाहता है। यदि बिना स्वरूपज्ञान के इन्हें छोड़ता है, तो भोगवादी होकर संसार-सागर में एकदम डूब जाता है और यदि जीवनपर्यंत इन्हीं में पड़ा रहता है, तो इनके विष से आक्रांत होता है। अतएव पारखी-विवेकी का सत्संग करते हुए स्वरूपज्ञान पाकर इन्हें छोड़ना चाहिए ॥११८॥

व्याख्या—कबीर साहेब कितने दूरदर्शी हैं यह उनकी सारी वाणियों से जाहिर है; परन्तु इस साखी से तो उनकी कोमलता का ज्वलंत रूप सामने आता है। वे यह नहीं चाहते कि धर्म के नाम पर साधारण जनता जो कुछ आम-घास कर रही है उसे वह तुरन्त छोड़ दे। हवन के नाम पर हजारों-हज़ारों की सम्पत्ति आग में फूंक देना तो मानवता के साथ अन्याय है; परन्तु हल्का-फुल्का हवन-तर्पण, जप-कीर्तन, रोजा, नमाज, प्रार्थना-पूजा आदि मनुष्य का सात्विक मनोरंजन करते हैं। इससे मनुष्य का चित्त कुछ-न-कुछ शुद्ध होता है। परन्तु यदि यह मान लिया गया कि इन्हीं सबसे जीव को परमपद मिल जायेगा, तो यह भ्रम है। यदि इन्हीं में मनुष्य को यह भ्रम हो जाय कि ये ही कल्याण कर देंगे, तो इनका विष मनुष्य को आक्रांत कर देगा। आदमी कर्मकांड, देवी-देवताओं की उपासना तथा मिथ्या ज्ञान का अहंकारी होकर सत्य-शोधन की तरफ ध्यान भी नहीं देता। ज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान, कर्मकांड के नाम पर उसका ईश्वरीय-आज्ञा होने का अहंकार तथा उपासना के नाम पर मिथ्या मान्यताओं का घमंड यह सब सांप का विष ही है। इन सारी मान्यताओं के जाल को काटकर तथा इनसे आगे बढ़कर स्वस्वरूप का शोधन होता है।

परन्तु यदि सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं जो सबकी परख कराकर स्वरूपबोध दे सकें, तो मनुष्य को पिनक में आकर अपने कर्म-उपासनादि मार्ग नहीं छोड़ देना चाहिए। उसे चाहिए कि वह जो कुछ समझता हो और उसे जिसमें विश्वास हो, करता चले। उसके साथ अपने चित्त को उदार रखते हुए सत्य को भी समझने का प्रयास करता चले। उसे जब पारखी गुरु मिलेंगे तब वह उनके सत्संग से जैसे-जैसे सारासार समझता जायेगा, वैसे-वैसे असार से हटकर सार को ग्रहण करता जायेगा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

जस जस परखत फीका होई। व्यापै न कालकला पुनि सोई।। पंचग्रन्थी।।

सत्पात्र बनो

हाथ कटोरा खोवा भरा, मग जोवत दिन जाय।
कबीर उतरा चित्त से, छाँछ दियो नहिं जाय।।११९।।

शब्दार्थ—खोवा = खोया, मावा। मग जोवत = रास्ता देखते। छाँछ = मट्ठा।

भावार्थ—जिस प्रकार खोया (मावा) से भरा कटोरा लेकर प्रिय का मार्ग देखते-देखते किसी के दिन जायं कि प्रिय आये तो उसे प्रेमपूर्वक खिला दूं, परन्तु प्रिय के दुराचरण के कारण यदि वह प्रेमी के चित्त से उतर जाय तो प्रेमी को उसे मट्ठा देने की भी इच्छा नहीं होगी; उसी प्रकार अन्तःकरणरूपी हाथ के प्रेमरूपी पात्र में बोधरूपी खोया भरकर जिज्ञासुओं का मार्ग देखते ही सद्गुरु के दिन जाते हैं; परन्तु व्यक्ति जब अपने दुराचरण के कारण गुरु के चित्त से उतर जाता है, तब बोधरूपी खोया कौन कहे, उसे मट्ठारूपी व्यावहारिक सीख देने का भी मन नहीं होता।।११९।।

व्याख्या—यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह प्रेमवश जिसे अपना सर्वस्व देना चाहता है वही व्यक्ति जब चित्त से उतर जाता है तब उसे फूटी आंखों से भी देखना नहीं

चाहता। परन्तु यह उदाहरण उस पर नहीं लगता जो निष्काम है, राग-द्वेष से रहित है। सद्‌गुरु, संत और सज्जन सद्‌शिक्षा देकर सबका कल्याण करना चाहते हैं।

इस साखी की पहली पंक्ति में गुरु की उदारता का वर्णन है। वर्णन सब बड़े रोचक ढंग से है। गुरु सच्चे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं का रास्ता देखते हैं कि कोई सत्पात्र आवे तो उसे मैं सत्बोध देकर उसके उद्धार में सहयोगी बनूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि गुरु शिष्य के लिए बेताब होता है। सच्चा गुरु वही है जो संसार से निष्काम है। परन्तु वह निष्काम होकर भी संसार का हित करना चाहता है और सत्पात्र को सत्प्रेरणा देने के लिए उत्सुक रहता है। परंतु कोई जानबूझकर यदि सन्मार्ग से विचलित होकर विपथ में जा रहा है, तो उसके सुधारने का गुरु का क्या चारा है! चित्त से उतरे हुए को छांछ भी देने का मन नहीं कहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी का दुर्व्यवहार देखकर गुरु उससे द्वेष कर लेता है। जो द्वेष करता है वह गुरु हो ही नहीं सकता। गुरु तो वह है जो राग और द्वेष दोनों से मुक्त है। परन्तु उसे भी अपात्र तथा अयोग्य से उदास होना ही पड़ता है। अतएव जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्पात्र बनने का प्रयत्न करे। सत्पात्र के लिए कुछ दुर्लभ नहीं है।

जगत-सत्ता और आत्म-सत्ता का बोध

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि॥१२०॥

शब्दार्थ—गारि = गाली, अनुचित बात।

भावार्थ—यदि मैं कहूं कि तत्व एक है तो वैसा है ही नहीं, परन्तु यदि कहूं कि जीव का आश्रय-स्थल कोई दूसरा है तो यह भी अनुचित बात है। इसलिए कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि जैसी वास्तविकता है वैसी दशा में ही स्थित होना चाहिए॥१२०॥

व्याख्या—कुछ लोगों का ख्याल है कि समस्त सत्ता केवल एक ही तत्त्व है। ऐसे लोग कहते हैं कि सत्ता एक ही है जो सर्वगत, सर्वव्याप्त और अखण्ड है। उसमें सजाति, विजाति और स्वगत का कोई भेद नहीं है। वह एक सत्ता केवल चेतन है। परन्तु यह सिद्धांत केवल धारणा है, तथ्य नहीं। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। न जड़ चेतन हो सकता है और न चेतन जड़ हो सकता है। फिर जड़ में भी अनेक तत्त्व हैं जो एक दूसरे में नहीं बदल सकते। मिट्टी, पानी, आग, हवा ये चारों जड़ तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हैं। वैज्ञानिकों ने शताधिक तत्त्वों का निर्धारण किया है। आक्सीजन हाइड्रोजन में नहीं बदल सकता। ऐसे अनेक मौलिक तत्त्व दूसरे में नहीं बदल सकते। इधर एक जीव दूसरे जीव से अलग हैं, इसलिए एक जीव के सुख-दुख एवं बंध-मोक्ष दूसरे के नहीं हो सकते। इस प्रकार जड़-चेतन की भिन्नता एवं जीव-जीव की भिन्नता इतना ज्वलंत है कि इन सबको एक ही तत्त्व मान लेने की बात संभव ही नहीं है। इसलिए सद्‌गुरु कहते हैं "एक कहौं तो है नहीं" यदि यह कहा जाय कि एक ही तत्त्व है तो ऐसी वास्तविकता ही नहीं है।

व्यापक शब्द महिमापरक है। संसार में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो एक अखंड एवं व्याप्त हो। यदि एक अखंड व्याप्त सत्ता हो तो दूसरे का अस्तित्त्व ही नहीं हो सकता। इसके अलावा एक अखंड, व्याप्त सत्ता होने से गति एवं सृष्टि असंभव है। अतः निरन्तर परिवर्तनशील संसार में एक अखंड व्याप्त सत्ता कहना हद दर्जे का व्यामोह है। इसलिए अनेक जड़तत्त्वों की सत्ता अलग-अलग है और अनेक जीवों की सत्ता अलग-अलग है। यह ठीक है कि सबका सत्तापन एक है, अर्थात सबकी सत्ता है। किन्तु वे सब एक दूसरे से अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्त्व रखते हैं। इसलिए केवल एक ही तत्त्व है यह नहीं कहा जा सकता। यह आनुभविक जगत का वर्णन हुआ। जगत का व्यवहार ही द्वैत में चल रहा है। सबको एक कैसे कहा जा सकता है!

अब परमार्थ क्षेत्र में आइए। परमार्थ—परम+अर्थ=श्रेष्ठ प्रयोजन—स्वरूपस्थिति में आइए, इसमें "दोय कहौं तो गारि" होगी ही। जब सारे संकल्प छूट जाते हैं, तब समाधि होती है। यही स्वरूपस्थिति है। इसमें दो की गुंजाइश ही नहीं है। जब तक दो है तब तक समाधि नहीं, स्वरूपस्थिति नहीं। संकल्पों एवं स्मरणों के कारण ही संसार जीव के सामने होता है। यदि स्मरण एवं संकल्प ही समाप्त हो गये तो जीव के सामने संसार आ ही नहीं सकता। वहां न जड़तत्त्वों का सम्बन्ध संभव है और न दूसरे जीवों का। यदि मेरे संकल्प समाप्त हुए तो मेरे लिए द्वैत समाप्त हुआ। फिर रह गया शेष शुद्ध स्वरूपस्थ चेतन। फिर वहां दो कहना जीव को गाली देना है। उसकी तौहीनी करना है। जीव का आश्रय-स्थल दूसरा नहीं है। वह अपने शुद्ध स्वरूप से अलग किसी ईश्वर-ब्रह्म में नहीं लीन होता है। कोई भी मौलिक तत्त्द किसी दूसरे के स्वरूप में स्थायी आश्रय नहीं पा सकता। यदि कोई कहता है कि जीव का आश्रय उससे अलग कोई ईश्वर या ब्रह्म है तो वह मानो जीव को गाली देता है। और ऐसी गाली नाना मत वालों ने दी है। उन्होंने कहा है कि जीव अंश है, प्रतिबिम्ब है, आभास एवं परिच्छिन्न है, जीव तो तुच्छ है, श्रेष्ठ ब्रह्म है, जो उससे अलग है। यह सब जीव को गोली देने वाली बात है। कबीर देव कहते हैं कि यदि जीव तुच्छ है तो श्रेष्ठ कौन है! जीव को हटा देने पर शिवत्व कहां फलित होगा? जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना केवल कल्पना ही है, केवल अवधारणा ही है। जीव स्वयं प्रत्यक्ष है। वह खुद अपना आश्रय है। वह स्वतः अपना निधान है। जीव की स्व-स्वरूप में ही स्थिति होती है, पर-स्वरूप में नहीं। इसलिए स्वरूपस्थिति में कोई द्वैत नहीं होता। स्वरूपस्थिति में चेतन अकेला रहता है। यदि तथ्यपूर्ण अद्वैत है तो यही है।

जो महापुरुष जड़-चेतन को मिलाकर अद्वैत की कल्पना करते हैं, वे केवल कल्पना करते हैं। वैसी तो सत्ता है ही नहीं। उन्हें जगत का डर लगा रहता है कि जगत यदि ब्रह्म से अलग सिद्ध हो जायेगा तो ब्रह्म का घाटा हो जायेगा। परन्तु जगत तो है ही। पृथ्वी, चांद, सूरज तथा असंख्य तारों से भरे इस जड़-जगत को कोई अद्वैत की फूंक से कहां उड़ा सकता है! अद्वैत सिद्ध करने का मतलब है द्वैत की सिद्धि। भोले लोगों ने अद्वैत सिद्धि में ही पुस्तकें नहीं बनायी हैं, किन्तु 'अद्वैत-सिद्धि' नाम की भी पुस्तक लिखी है। अद्वैत में विश्वास हो जाने पर वह किसके सामने अद्वैत सिद्ध करेगा? अद्वैत में विश्वास हो जाने पर कम-से-कम वह मौन तो हो ही जायेगा। इसलिए सद्गुरु ने कहा है अद्वैत तो

हो ही नहीं सकता। समस्त सत्ता अद्वैत नहीं है। सत्ता के नाना भेद हैं। अद्वैत है स्वरूपस्थिति में। स्वरूपस्थिति में दो नहीं हो सकते। स्वरूपस्थिति असंग-दशा है।

अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि मैं विश्व-सत्ता और स्वरूपस्थिति—दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचारकर कहता हूं कि जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। अद्वैत तथा जगत को मिथ्या कहने से न सब सत्ता एक में मिलकर अद्वैत हो जायेगा और न जगत मिथ्या हो जायेगा और स्वरूपस्थिति में न दूसरे की सत्ता होना संभव हो जायेगा। पुराकाल से अनेक अद्वैतवादी इस विविधतापूर्ण विश्वसत्ता को अद्वैत कहते-कहते चले गये, परन्तु यह सब समय जैसा है वैसा ही विद्यमान है और आगे भी यह ऐसा ही रहेगा। इसके विपरीत जब जिस साधक ने स्वरूपस्थिति की है तब वह असंग हो गया है। कभी किसी जीव की स्वरूपस्थिति में किसी दूसरे की गुंजाइश नहीं हो सकी है और न आगे हो सकेगी। जो जीव स्वरूपस्थ होगा, वह केवल होगा, असंग होगा, निराधार होगा, अद्वैत होगा, अकेला होगा। वहां दो कहना ही गलत बात है। अतएव "है जैसा रहै तैसा, कहहिं कबीर बिचारि" परमसत्य है।

अमृत की पुड़िया

अम्मृत केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्हा छोरि।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पियावहु घोरि॥१२१॥

शब्दार्थ—अम्मृत = अमृत, न मरा हुआ, न मरने वाला, अमर जीव। अम्मृत केरी पूरिया = स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के उपदेश।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे विवेकियो! मैंने अविनाशी जीव के स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की रहनी के उपदेश की गठरी खोलकर रख दी है। अब तुम्हारे सरीखा सत्पात्र कोई मिले तो तुम भी उसको उसे घोलकर पिला देना॥१२१॥

व्याख्या—'अ' उपसर्ग है जिसका अर्थ निषेधात्मक है और 'मृत' मरे हुए को कहते हैं। अतएव जब 'मृत' में 'अ' मिला कर अ-मृत शब्द बनता है तब उसका अर्थ होता है जो न मरा हो अमर, चेतन। वह जीव ही है। जीव ही अमृत है। जीव के स्वरूप के परिचय का विवरण तथा जीव की स्वरूपस्थिति के साधन-स्वरूप रहनी का विवरण अमृत की पुड़िया है। पूरिया छोटी गठरी को कहते हैं। यहां छोटी से मतलब नहीं है। यहां अर्थ है गठरी। मानो कोई शकर की गठरी खोलकर उसमें से शकर निकाल तथा शर्बत बनाकर किसी प्यासे आदमी को पिला दे और उससे कहे कि देखो, जो प्यासा मिले उसे इसमें से शकर निकालकर तथा उसका शर्बत घोलकर उसे पिला देना। इसी प्रकार सद्गुरु ने सत्पात्रों को स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की सीख दी है और उन्हें उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें कोई तुम्हारे सरीखा सत्पात्र मिले तो तुम भी उसे स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के उपदेश देने का प्रयास करो।

अमृत बड़ा प्यारा शब्द है। अमृत शब्द सुनते ही मन में मीठी वस्तु का आकार खिंच जाता है। जब कोई बहुत मीठा फल खाता है, तब वह उसकी प्रशंसा में कहता है कि यह तो ऐसा मीठा है जैसे अमृत। स्वादिष्ट भोजन खाकर लोग कहते हैं कि भाई भोजन क्या

था अमृत था। किसी के मधुर स्वभाव की लोग प्रशंसा कर कहते हैं कि उसका स्वभाव तो अमृत है। मीठे वचन को भी लोग अमृत कहते हैं 'उनकी बात तो अमृत के समान होती है।' वस्तुतः भौतिक क्षेत्र में अन्न और मीठे वचन अमृत हैं। अन्न से अर्थ आहार है। आहार ग्रहण करने से ही मनुष्य जीवित रह सकता है, इसलिए आहार अमृत है और मीठे वचन सुनकर मनुष्य का मन संतुष्ट होता है, इसलिए वह भी अमृत है। परन्तु यह ध्यान रहे कि हर जगह मीठी वस्तु ही अमृत नहीं है। रोग में मीठा विष का काम करता है और कड़वी दवाई अमृत बन जाती है। इसी प्रकार झूठी मीठी बातें अन्ततः मनुष्य का अहित करती हैं; परन्तु सत्य कड़वे वचन कल्याणकारी होते हैं। यह आवश्यक है कि सत्य को जितना मीठा बनाया जा सके, अच्छा है।

संसार में विष होता है जिसको खाकर प्राणी मर सकता है, परन्तु अमृत कहीं नहीं होता जिसे खाकर मृत व्यक्ति जी जाय, या कोई जीवित प्राणी उसे खाकर सदा के लिए देहसहित अमर हो जाय। वस्तुतः जीव का अपना मौलिक चेतनस्वरूप ही अमृत है, जो अजर-अमर है। निजस्वरूप में स्थित होने के लिए दया, शील, सत्य, धैर्य, क्षमा, विचार, विवेक-वैराग्य, सत्पुरुषों के प्रति भक्ति, शम, दम, संयम आदि रहनी की आवश्यकता है। यह दिव्य रहनी अमृत है। इस दिव्य रहनी का सार है इच्छात्याग। सिद्धांत में जीव अमृत है तथा व्यवहार में इच्छात्याग अमृत है। दसवीं रमैनी की साखी में सद्गुरु ने इस बात पर प्रकाश डाला है "अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय।।" कामना का त्याग और जीव की अमरता यही अमृत है। जीव स्वभावतः अमर है। उसकी अमरता के लिए कुछ करना नहीं है। करना है कामना का त्याग। कामना का त्याग कर देने के बाद व्यक्ति का व्यक्तित्त्व अमृत हो जाता है। गुरु-संतों के सारे उपदेश मानो इसी एक ही बात के लिए हैं कि कामनाओं का त्याग करो। स्वरूपस्थिति की रहनी इसी एक ही बात में समायी है कि मनुष्य इच्छाओं से मुक्त हो। जिसने संसार के भोगों की इच्छाएं छोड़ दी हैं उसे क्या बंधन है! विशाल देव ने कहा है "जो इच्छा छोड़े फिरे, तेहिको को गहि लीन" जो इच्छाओं को त्यागकर विचरण करता एवं संसार में रहता है, उसको बंधनों में बांधने की क्षमता किसे है! हमारी इच्छाएं ही हमें बांधती हैं। धन की इच्छा दरिद्रता का बोध कराती है, सम्मान की इच्छा अपमान का बोध कराती है, सुख की इच्छा दुख का बोध कराती है। तात्पर्य यह है कि हमारे मन की इच्छाएं ही हमारे मन में अभाव, असन्तोष एवं कमी का अनुभव कराती हैं। जब हमारे मन से सारी इच्छाएं निकल जाती हैं, तब अपने अमृतस्वरूप का हमें अनुभव होता है। अतएव इच्छा ही विष है और इच्छात्याग ही अमृत है। सारे आध्यात्मिक उपदेशों का यही निष्कर्ष है कि इच्छाओं का त्याग करो। जो इच्छाओं का त्यागी होता है, वह सबको प्यारा होता है। इच्छाओं का त्याग करने वाला किसी से विवाद कर ही नहीं सकता। जब कुछ चाहिए ही नहीं, तो किसी से झगड़ा कैसा! इच्छाओं का त्याग कर देने से भीतर का झगड़ा समाप्त हो जाता है और बाहर का भी झगड़ा समाप्त हो जाता है। इच्छात्यागी का मन शांत होता है। उसे बाहर किसी आदमी से वैर-विरोध नहीं रहता। सद्गुरु ने हमारे लिए अमृत की पुड़िया खोल दी है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ साखी २९८॥

अम्मृत केरी मोटरी, शिर से धरी उतार।
जाहि कहौं मैं एक है, सो मोहिं कहै दुइ चार॥१२२॥

शब्दार्थ—अमृत केरी मोटरी = स्वरूपज्ञान और इच्छात्याग की रहनी।

भावार्थ—लोगों ने अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। अर्थात लोगों ने स्वरूपविचार और इच्छात्याग की रहनी को तिलांजलि दे दी है। मैं जिससे कहता हूं कि एक जीव ही सत है, अतः सारी इच्छाएं त्यागकर निजस्वरूप में स्थित होओ, वह मुझे दो-चार टेढ़ी-सीधी बातें सुनाने लगता है, अथवा वह जीव के ऊपर दो-चार देवी-देवताओं की बातें करने लगता है॥१२२॥

व्याख्या—संसार में अध्यात्म और धर्म के नाम पर जो नाना मत-मतांतरों के मनुष्यों की भीड़ है, उसने मानो अमृत की गठरी अपने सिर से उतारकर अलग रख दी है। धार्मिक भीड़ के मनुष्य न तो निजस्वरूप का विचार करते हैं और न इच्छाओं के त्याग पर ध्यान देते हैं। वे तो किसी कल्पित भगवान-भवानी तथा देवी-देवताओं को पूजा-प्रार्थना के द्वारा खुश करके उनसे सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहते हैं। परन्तु यह सब मन के भ्रम के अलावा कुछ नहीं है। जीव के अलावा न कोई भगवान है और न कोई देवी-देवता। भगवान, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, देवी, देवतादि सब जीव के ही विशेषण हैं। जीव यदि अपने अस्तित्त्व से अलग इन सबकी कल्पना करता है, तो वह केवल अपने आप को भटकाव के रास्ते में ले जाता है। अतएव यह जीव ही भगवान है, ईश्वर है, ब्रह्म है, परमात्मा है, देवी-देवता है, अर्थात यही सर्वोच्च सत्ता है। जब तक बाहरी सारी कल्पनाओं का त्याग नहीं किया जायेगा, तब तक कोई निजस्वरूप का ज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं पा सकता।

लोग देवी-देवताओं की भ्रांतियों में इतने डूबे हैं कि उनसे स्वरूपज्ञान की बातें कहो तो वे नाखुश होकर बड़बड़ाने लगते हैं। वे जीव को तुच्छ कहते हैं। निजस्वरूप क्या है उन्हें इसका सपने में भी भास नहीं है। जब उनसे कहा जाता है कि तुम अपने आप को पहचानो, तो वे कहते हैं कि हम तो कुछ नहीं हैं। उन भोलों को यह सूझ नहीं है कि यदि वे कुछ नहीं हैं तो उनके लिए देवी-देवता तथा ईश्वर-ब्रह्म किस काम के! पहले वे कुछ हैं तब उनके लिए किसी अन्य की आवश्यकता है। यदि वे ही कुछ नहीं हैं, तो "नहीं-नहीं फिर कौन कहा!" लोग बैसाखी के सहारे चलने के आदी हैं, इसलिए स्वतन्त्र होकर चलने में डरते हैं। किन्तु सारी कल्पनाओं एवं इच्छाओं को छोड़े बिना कोई निजस्वरूप की न ठीक से पहचान कर सकता है और न निजस्वरूप की स्थिति पा सकता है।

ऋषि-मुनि तथा वेदों के सारतत्त्व का समर्थन

जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।
सोई देउँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय॥१२३॥

शब्दार्थ—जाके = जिसके लिए, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष के लिए। सिखापना = शिक्षा। पतियाय = विश्वास।

भावार्थ—जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ मुनिजनों ने तप किया है, तथा जिसके अनंत गुण गाने में वेद असमर्थ हो जाते हैं, मैं उसी की शिक्षा देता हूं, परन्तु कोई विश्वास नहीं करता॥१२३॥

व्याख्या—यह ठीक है कि कबीर साहेब ऋषि-मुनियों एवं वेद-शास्त्रों की अन्धपरम्परा एवं उनकी अहितकारी मिथ्या महिमाओं की कटु आलोचना करते हैं जिसे हम इस बीजक में जगह-जगह देख सकते हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि वे अपने आप को उनका अनुगामी मानते हैं। इस बात को भी हम बीजक में सर्वत्र देख सकते हैं। इस साखी में उसका ज्वलंत रूप है। प्रश्न हो सकता है कि अनुगामी तो आलोचना कैसी और आलोचना तो अनुगामी कैसा? मनुष्यों में या कहना चाहिए धार्मिक कहलाने वाले लोगों में यही जड़ता है कि वे जिसके अनुगामी बन जाते हैं उसकी सड़ी-गली बातों को भी स्वीकारते रहते हैं। यदि उनका हृदय उन बातों को न स्वीकारे तो भी वे ऊपर-ऊपर उनका समर्थन करते रहते हैं, और वे जिनके अनुगामी नहीं हैं, उनकी अच्छी-से-अच्छी बातों पर भी ध्यान नहीं देते; या जिनकी कुछ बातें खटकने वाली हो गयीं, तो उनकी अच्छी बातों को भी वे नकारते हैं।

कबीर साहेब उक्त धारणा से बिलकुल अलग पुरुष हैं। वे ऋषि-मुनियों तथा वेद-शास्त्रों को आदर देते हैं। अपने आप को उनका अनुगामी बतलाते हैं, परन्तु उनके विषय में लगाये गये अन्धविश्वासों को वे निर्भय होकर अस्वीकार देते हैं। दूसरे लोग भी अपनी पुरानी परम्परा की अत्यन्त युग-बाह्य एवं हानिकारी बातें कुछ-न-कुछ छोड़ देते हैं। प्रत्यक्ष है वैदिक युग में प्रचलित अश्वमेध, गोमेध, यहां तक ऐतरेय ब्राह्मण[१] में वर्णित नरमेध यज्ञ आज कोई वैदिक कहलाने वाला नहीं करता। अतिथि के रूप में राजा, ऋषि एवं किसी बड़े ब्राह्मण के घर में पधारने पर उनके मधुपर्क[२] (जलपान) के लिए बड़ा बैल,

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण (३३/३)।

२. तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वार्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः। (ऐतरेय ब्राह्मण ३/४), वसिष्ठ धर्मसूत्र ४/८; पाणिनि अष्टाध्यायी ३/४/७३ में भी देखें। सिद्धांतकौमुदी में कहा गया "गोघ्नन्ति अस्मैगोघ्नोऽतिथिः—अर्थात जिसके सत्कार में गाय मारी जाय वह अतिथि है। देखें वेद प्रवचन, पृष्ठ ३५९, लेखक पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय। कहा गया राजा या ब्राह्मण के अतिथि रूप में आने पर एक बैल या बकरा पकाया गया (शतपथ ब्राह्मण ३/४/१/२; याज्ञवल्क्य १/१०९।) कहा गया कि यहां यद्यपि श्रोत्रिय (विद्वान ब्राह्मण) यदि अतिथि रूप में घर पर आया हो, तो उसकी तृप्ति के लिए गाय मारना चाहिए, किन्तु यह धर्म कलियुग में नहीं चलता, किन्तु अन्य युग में चलता है। यथा—अत्र यद्यपि गृहागतश्रोत्रियतृप्त्यर्थं गोवधः कर्तव्य इति श्रूतते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे। (आह्निक प्रकाश, पृष्ठ ४५१), धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४०८।

बछड़ा एवं बकरा काटने की बात आज सोची भी नहीं जा सकती। पुराने समय में कमजोर वर्ग के मनुष्यों को गुलाम बनाकर उन्हें बेचा-खरीदा जाता था। आज यह काम नहीं किया जाता। अतएव हर परम्परा के लोग अपनी पूर्वपरम्परा की बहुत बेकार बातें छोड़ते हैं। कबीर साहेब की स्थिति सभी परम्परा वालों से बिलकुल अलग है। वे किसी परम्परा के जड़ एवं रूढ़ अनुगामी नहीं हैं; परन्तु वे इतने विनम्र हैं कि किसी की भी अच्छाइयों को बेहिचक स्वीकारते हैं। वे किसी भी परम्परा को अपना मानकर उसका थोड़ा भी कूड़ाकचड़ा नहीं स्वीकारते, परंतु सत्य बालक भी कहे तो वे उसे गुरुवचन मानकर सिर से स्वीकार लेते हैं।

अब हम साखी के मूल विचार पर आवें। सद्गुरु कहते हैं कि जिस स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष की प्रशंसा वेद-शास्त्र करते हैं और उसे पाने के लिए ऋषि-मुनिजन तपस्या करते हैं, मैं उसी का उपदेश कर रहा हूं। प्राचीनकाल में जब ऋषिगण हवन-तर्पण एवं यज्ञ-याग का परित्याग कर अध्यात्म की तरफ लगे थे तब उन्होंने देवी-देवताओं की कल्पनाएं छोड़ दी थीं। उनमें से ज्यादा ऋषियों का विचार ईश्वरपरक नहीं, किंतु आत्मपरक था। वेद के आध्यात्मिक ऋषि कहते हैं "फैले हुए ऋत के तंतुओं को भेद डालने वाला व्यक्ति उसको देख लेता है, वही हो जाता है, वह वही है ही।"[१] तथा "जो वाणी, मन, आंख, कान, प्राणादि से नहीं जाना जाता है, किन्तु जो वाणी, मन, आंख, कान, प्राणादि से जानता है वही ब्रह्म है।[२] मैं ब्रह्म हूं,[३] वह तू ही है,[४] यह आत्मा ब्रह्म है,[५] ज्ञान ही ब्रह्म है।[६] भारतीय दर्शनों के पितामह परम ऋषि कपिल के अनुगामी ईश्वरकृष्ण कपिल के विचार कहते हैं "इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से जब ज्ञानी को निश्चय हो जाता है कि मेरे में क्रिया नहीं, मेरे में शरीरादि नहीं तथा मैं कर्ता नहीं, तब कुछ बन्धन शेष नहीं रहता। अतः तब भ्रम के दूर हो जाने से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है।"[७] कठ उपनिषद् के ऋषि कहते हैं "जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन सहित बुद्धि की हलचल शांत हो जाती है तब इसे ही परम गति कहते हैं।"[८]

वेदों के अन्तभाग उपनिषदें ज्यादातर आत्मपरक विचार व्यक्त करती हैं। वैदिक छहों शास्त्रों में मीमांसा को छोड़कर अन्य पांच शास्त्र अधिकतम आत्मपरक विचार ही रखते

---

१. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। *(यजुर्वेद अ० ३२, मंत्र १२)*

२. केन उपनिषद् १/४-८।

३. अहंब्रह्मास्मि—यजुर्वेद, बृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१०।

४. तत्त्वमसि—सामवेद, छांदोग्य उपनिषद् ६/८/७।

५. अयमात्मा ब्रह्म—अथर्ववेद, मांडूक्य उपनिषद् २।

६. प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद, ऐतरेय उपनिषद् ३/१/३।

७. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका ६४॥

८. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ कठोपनिषद् २/३/१०॥

हैं। मीमांसा कर्मकांड में व्यस्त अवश्य है, परन्तु वह जहां आध्यात्मिक चर्चा करती है वहां आत्मपरक ही करती है, ईश्वरपरक नहीं। जैन-विचार आत्मपरक है ही, बौद्ध-विचार भी अपने ढंग से आत्मपरक ही है—'अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति।'

यह सच है कि उपनिषदों तथा वैदिक धर्मशास्त्रों में आत्मा के विषय में जगह-जगह साफ बात कहने के साथ-साथ अनेक जगह उनके विचारों में गड्ड-बड्ड कर दिया गया है। अनेक जगह आत्मा को व्यापक, अंश, जड़ से अभिन्न आदि कहकर स्वरूपविचार एवं आत्मविवेक को उलझा दिया गया है। जैन-विचार भी आत्मा को संकोच-विकासवान मानकर तथा बौद्धविचार क्षणिक मानकर आत्मविचार में परिनिष्ठित मत नहीं रखते। इसलिए सद्गुरु कबीर के परखदृष्टिपरक विचार मनन करना अत्यन्त आवश्यक है।

"जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।" यहां मुनि से वैदिक मुनि, जैन मुनि, बौद्ध मुनि एवं महात्मा सब आ जाते हैं। और इतना ही क्या ऋषि, मुनि, पीर, औलिया सबकी आलोचना करने वाले तथा इन सबको आदर देने वाले निराले संत कबीर विश्व के सभी महापुरुषों के सार-विचार को स्वीकारते हैं। परन्तु वे सब पर अपनी परख कसौटी लगाकर "सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय" का सिद्धांत रखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के सभी महापुरुषों तथा वेद-शास्त्रों का यही सार विचार है कि विषय-वासनाओं एवं सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर अपने स्वरूप एवं स्व-आत्मतत्त्व में स्थित होओ। यही शिक्षा मैं भी दे रहा हूं, परन्तु लोग विश्वास नहीं करते। विश्वास न करने का कारण है कबीर का परंपरा के प्रति विद्रोही स्वर। लोग जब अपनी परंपरा के प्रति कबीर के विरोधी स्वर सुनते हैं, तब उन्हें यह भ्रम हो जाता है कि कबीर तो हमारे विरोधी हैं। परंतु वस्तुतथ्य यह नहीं है। कबीर हर परंपरा में पल रहे कूड़ेकचड़े के विरोधी हैं, परन्तु उनके सत्य के समर्थक हैं।

"कोई नहीं पतियाय" कथन भी सापेक्ष है। कबीर साहेब के काल में ही उनके पैंतीस-चालीस वर्ष की उम्र में उनके साथ में हजारों लोग हो गये थे। उनकी परिपक्व तथा वृद्धावस्था तक तो वे पूरे भारत में तथा आस-पास के देशों तक में गूंज गये थे और उनके पीछे लाखों अनुगामी एवं समर्थक हो गये थे। फिर तो दिन बीतते गये और कबीर-विचारों की प्रखर चमक बढ़ती गयी। मनुष्य जितना-जितना उदार होता गया कबीर के निकट होता गया। आज संसार के हर संप्रदाय के बहुसंख्यक तथा आमजनता, विद्वान एवं चिंतक कबीर-विचार के समर्थक होते जा रहे हैं। आज ईसा की बीसवीं शताब्दी के आखिर में तो उन पर देश-विदेश में सर्वाधिक लिखा और सोचा जा रहा है। जैसा कि काशी के एक विद्वान ने सन् १९६९ ई० में कहा था कि आज तो कबीर-युग है। जो कबीर चाहते थे, जीवनभर कहे तथा किये थे, उन सबका समर्थन आज प्रबुद्ध-समाज तथा आम-समाज भी कर रहा है और यह उन विद्वान का ही मत नहीं था, सर्वाधिक लोगों का मत है। इतना ही नहीं, आज सरकारें भी वही मानव-समानता के कानून बना रही हैं जिन्हें कबीर साहेब चाहते थे।

मानव शरीर एवं जीव की विशेषता

एक ते अनन्त भौ, अनन्त एक है आय।
परिचय भई जब एकते, तब अनन्तो एकै माहि समाय ।।१२४।।

शब्दार्थ—एक ते = मनुष्य शरीर से। अनंत = असंख्य कर्म एवं योनियां। परिचय = परख। समाय = नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—एक मनुष्य शरीर ही कर्मभूमि है। इसी में जीव असंख्य कर्म करता है जिनके फलस्वरूप वह असंख्य योनियों में भटकता है। परन्तु असंख्य योनियों में से भटककर जीव पुनः मनुष्य शरीर में आता है "भूलि भटक नर फिर घट आया।"[1] जब उसे इस एक मनुष्य शरीर में स्व-स्वरूप की परख हो जाती है तब असंख्य कर्मसंस्कार तथा नाना योनियों के अध्यास यहां नष्ट हो जाते हैं और जीव मुक्त हो जाता है। अथवा एक जीव से ही सारे ज्ञान-विज्ञान पैदा होते हैं। अतः जब निज स्वरूप से परिचय हो जाता है तब सारे ज्ञान-विज्ञान अपने में समाये हुए लगते हैं।।१२४।।

व्याख्या—मनुष्य शरीर कर्मभूमिका है, अतएव कर्म यहीं बनते हैं। इसी एक मानव शरीर में रहकर जीव इतने कर्म कर लेता है कि वह असंख्य खानियों में असंख्य सुख-दुख भोगता रहता है। मनुष्य-शरीर कर्म-भूमि तथा फलभोग-भूमि दोनों हैं, किन्तु मानवेतर खानियां केवल भोग-भूमि हैं, वे कर्म-भूमि नहीं हैं। कर्मों का बन्धन बनता मानव-शरीर में है तथा कटता भी मानव-शरीर में ही है। चारों खानियों के बन्धन केवल विषयासक्ति है। विषय केवल पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इनकी आसक्ति मिट जाने पर सभी बन्धन कट जाते हैं। अतएव यदि जीव ने मानव-शरीर में रहकर पाचों विषयों की आसक्ति मिटा दी है तो उसके लिए किसी खानि का कोई बन्धन नहीं बचता है। श्री विशाल साहेब ने मुक्तिद्वार के निवृत्ति साहस शतक में इसको विवरणपूर्वक बताया है।[2]

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि एक जीव से ही अनन्त कर्म, कल्पनाएं, वासनाएं एवं ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है। अनंत तो दोनों अर्थों में ही उपलक्षण मात्र है; क्योंकि अनंत किसी से पैदा नहीं होता, अनंत की तो केवल सत्ता होती

---

१. रमैनी २५।

२. मनुष्य देह से जो प्रगट, वहँ ही से सो छूट।
करि पुरुषारथ ध्वंस करि, राग मनोमय लूट।।९५।।
मनुष्य देह सद्बोध जो, पाय आपनो धाम।
क्षय मानन्दी जीव करि, संचित बचै न काम।।९६।।
शुद्ध स्वरूप चैतन्य है, आप आप निश्चेष्ट।
स्वरूपज्ञान में जो ठहर, तहां न कोई एष्ट।।१०१।।
नात छूट सब देह से, कौन मिले तेहि हेर।
जड़ कर्मन की गति कहाँ, जहाँ भूल निरबेर।।१०२।।

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक)

है और जो किसी से पैदा होता है, वह अनंत हो ही नहीं सकता। वह असंख्य हो सकता है। जैसे हम यह कह सकते हैं कि शरीर में बाल असंख्य हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि वे अनंत हैं। इसी प्रकार पैदा होने वाला पदार्थ अनंत नहीं हो सकता। अतएव यहां साखी में प्रयुक्त अनन्त शब्द असंख्य का उपलक्षण मात्र है। तो बात चल रही थी कि एक जीव से ही असंख्य कल्पनाएं तथा ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता है, परंतु समस्त ज्ञान-विज्ञान का पर्यवसान एक जीव ही में होता है। जीव को छोड़कर ज्ञान-विज्ञान का कोई निधान ही नहीं है। अतएव जब एक अपने जीव से, निजस्वरूप से एवं अपने आपा से परिचय हो जाता है, तब असंख्य ज्ञान-विज्ञान एक जीव ही में समाये हुए लगते हैं। जीव को छोड़कर ज्ञान का कहीं कोई आधार नहीं है। ज्ञान-स्वरूप केवल जीव है, चेतन है, व्यक्ति का स्वस्वरूप एवं आत्मा है।

अथवा एक मनुष्य ही तो असंख्य बन्धन बनाता है। वह पहले अकेला रहता है। पीछे एक-एक बन्धन एवं प्राणी-पदार्थों से ममता बनाता जाता है और कुछ दिनों में वह असंख्य बन्धनों में बंध जाता है। परन्तु जब उसे अपने आपका परिचय हो जाता है कि मैं ही तो सभी बन्धनों का बनाने वाला हूं, इसलिए मैं इन बन्धनों को छोड़ भी सकता हूं, तो वह सारे बन्धनों को छोड़कर असंग हो जाता है।

एक ब्रह्म से अनंत जगत पैदा हो गया और अंततः अनंत जगत एक ब्रह्म ही है। जिसे जब एक ब्रह्म से परिचय हो जाता है तब उसे अनंत जगत एक ब्रह्म में ही लीन प्रतीत होता है। यह अर्थ भी किया जा सकता है, परंतु इस भाव का बीजकभर में खंडन है।[1] कोई भी विचारक स्व-सिद्धांत का एक शब्द में भी खंडन नहीं करता। सद्गुरु ने जड़-चेतन अभिन्नवाद का बारम्बार खंडन किया है। इसलिए यह उनका सिद्धांत नहीं हो सकता। फिर यह विवेक के विरुद्ध तो है ही। ब्रह्म जब चेतन है तब उससे जड़-जगत कैसे पैदा होगा। "कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः।"[2] अर्थात जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में होते हैं। फिर चेतन ब्रह्म से जड़-जगत कैसे बन जायेगा! और जब ब्रह्म और जगत एक है तो ऐसे ब्रह्म से क्या कल्याण हो सकता है जो स्वयं विकारी है! अतएव जड़-जगत तथा जगतस्वरूप ब्रह्म से हटकर दोनों का द्रष्टा अपना चेतन स्वरूप ही अपना निधान है।

सबका लक्ष्य मोक्ष है

एक शब्द गुरुदेव का, ताका अनन्त विचार।
थाके मुनिजन पण्डिता, बेद न पावैं पार॥१२५॥

शब्दार्थ—एक शब्द = मोक्ष। अनन्त = असंख्य, यहां भी अनंत शब्द असंख्य का ही भाव प्रकट करता है। पार = अन्त, सीमा, तथ्य।

---

१. रमैनी ८, शब्द ५२, ६७, ११२, ११५, साखी ३४६-३५० इत्यादि।
२. वैशेषिक दर्शन, २/१/२४;

भावार्थ—'मोक्ष'—गुरुदेव के इस एक शब्द पर मनीषियों ने असंख्य विचार किये हैं। मुनिजन तथा विद्वानजन विचार करके थक गये हैं। वेदों ने इसका पार नहीं पाया है।।१२५।।

व्याख्या—इस अनादिकालीन जगतीतल पर समस्त धार्मिक गुरुजनों ने जीवों के मोक्ष की मान्यता एक स्वर से की है, क्योंकि यही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। दुखों से सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है और यही सभी जीवों का मुख्य लक्ष्य है। परन्तु इस पर विचार असंख्य प्रकार से किये गये हैं। सारे धार्मिक संप्रदायों तथा आध्यात्मिक चिन्तकों का एकमात्र लक्ष्य है जीव का दुखों से मुक्त होना। इसी दुखनिवृत्ति के लिए देवी, देवता, ईश्वर, ब्रह्म आदि सबकी कल्पना की गयी है। सद्गुरु जीव है, मुनिजन, पण्डितजन, पीर-पादरीजन जीव हैं, वेद-शास्त्र तथा किताब-कुरानादि समस्त ग्रन्थों के रचयिता भी जीव हैं। यहां तक कि सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल जीव है। अतः जीव अपने दुखों से मुक्त होने के लिए ही सारे विचार करता है। वह केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक दिशा में ही नहीं, किन्तु किसी भी दिशा में जो कुछ सोचता और करता है, उसके मूल में उसका अपना दुख-छुटकारा ही उद्देश्य रहता है। यह बात अलग है कि समझ गलत होने से जीव अपने विचार और कर्मों से दुख पाता है, परन्तु वह सदैव यही चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायं, और दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

समझ सही न होने से कोई समझता है कि जीव से अलग देवी-देवता हैं, उनकी प्रार्थना करने, पूजा करने तथा उन्हें मनाने से वे हमारे दुख दूर कर देंगे। कोई समझता है कि देवी-देवता तो झूठे हैं, परन्तु एक ईश्वर या ब्रह्म है। यदि हम उसकी प्रार्थना, पूजा एवं वंदना करेंगे, तो वह हमारा दुख दूर कर देगा। इसी प्रकार असंख्य कल्पनाएं की गयीं और आदमी मोक्ष के लिए भटकता गया। ऋषि, मुनि, पंडित, पोप, पीर, औलिया भी मोक्ष के लिए नाना कर्मों में भटकते गये। वेद-शास्त्रों में इतने विविध विचार कहे गये जो केवल एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, किन्तु कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी हैं।

चाहे कोई देवी-देवतादि की कल्पित अवधारणा हो और चाहे कोई व्यक्ति रूप में महापुरुष की अवधारणा हो, उसकी प्रार्थना-पूजादि करने से मन में थोड़ी कोमलता आ सकती है और व्यक्ति का थोड़ा सात्विक मनोरंजन हो सकता है। भक्ति-भावना के लिए यह सब ठीक है। परन्तु दुखों की निवृत्ति तो दुर्गुणों की जड़ों को खोदकर फेंकने से ही होगी। दुखों की जड़ें हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, परसंताप, विषयासक्ति; और इन सबके मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जब तक जीव को अपने स्वरूप की परख नहीं होगी और विषयासक्ति तथा उनसे उत्पन्न दोषों को नहीं छोड़ेगा, तब तक उसका दुख दूर कभी नहीं हो सकता। सारे दुखों का दूर हो जाना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति अर्थात दुखों से छुटकारा के साधनों को लेकर संसार में असंख्य विचार हैं। कोई देवी-देवादि की पूजा-प्रार्थना, कोई तीर्थाटन, कोई भूत-प्रेत-आराधना, कोई प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन, कोई हठयोग, कोई पूर्ण विश्व को अपना स्वरूप मान लेने की बात, कोई शब्द और कोई तो मांस, मदिरा, मीन, मुद्रा, मैथुन का सेवन ही मोक्ष-साधन मान लेता है। कोई गांजा, भांग तथा शराब के नशा में धुत्त रहने में ही मोक्ष माने बैठा

है। यह ठीक है कि अपनी मान्य-भावनाओं तथा आदतों में मनुष्य को क्षणिक संतोष मिलता है, परन्तु यह सब अज्ञान का पसारा है। वस्तुतः विषयासक्ति तथा सारे दोषों की सर्वथा निवृत्ति एवं स्वरूपस्थिति प्राप्त होने पर ही सारे दुखों की निवृत्ति होती है और यही मोक्ष है।

स्वरूपज्ञान भ्रांतियों से ढका है

राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥१२६॥

शब्दार्थ—राउर = अंतःपुर, श्रेष्ठ। पिछवारे = पीछे भाग में, धुंधलके में। चारिउ = चार वेद। सैन = संकेत, इशारा। लूट = छीनाझपटी।

भावार्थ—चारों वेद श्रेष्ठतत्व के विषय में धुंधलके में संकेत करते हैं। जीव बहुत छीनाझपटी में पड़ा है। मूलतः विचार किया जाय तो जीव को संसार से कुछ प्रयोजन नहीं है॥१२६॥

व्याख्या—सद्गुरु ने पिछली साखी में कहा था "वेद न पावैं पार" वेद भी तथ्य कहने में असमर्थ हो गये हैं। यद्यपि वेदों में भी जगह-जगह तथ्य की बातें कह दी गयी हैं; परन्तु उनके विपरीत उनमें बहुत बातें कही गयी हैं। इसलिए उनका ज्ञान गोलमाल हो गया है। उनमें से छानकर सार ले लेना सबके लिए सहज नहीं है। इन्हीं सब बातों को लेकर सद्गुरु इस साखी में कहते हैं "राउर के पिछवारे, गावैं चारिउ सैन" चारों वेद श्रेष्ठतत्त्व के पीछे-भाग में खड़े होकर केवल उसका संकेत करते हैं। राउर के दो मुख्य अर्थ होते हैं अंतःपुर और श्रेष्ठ। यहां का अर्थ श्रेष्ठ है। वेदों के सर्वाधिक सूक्तों में प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मानकर उन्हीं की वंदना एवं प्रशंसा की गयी है। कहीं इन सारे देवी-देवताओं का समवेत रूप "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"[1] कहकर एक परोक्ष ईश्वर की कल्पना की गयी है। आत्मपरक विचार बहुत कम मिलते हैं। इसलिए वैदिकजन आत्मपरक विचारों वाले मंत्रों का भी अर्थ देवी-देवताओं में लगा देते हैं।

वस्तुतः 'राउर' श्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ जीव है, व्यक्ति की अपनी आत्मा है, चेतन है। परन्तु निर्भ्रांतरूप से धर्मशास्त्रों में ऐसा सब जगह नहीं कहा जाता। वेदों में तो ऐसी बातें कहीं नाम मात्र हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चारों वेद श्रेष्ठ तत्त्व के विषय में केवल धुंधलके में संकेत करते हैं। श्रीमद्भागवतकार भी कहते हैं "लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है क्योंकि वेदवाक्य भी विशेषतः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष-रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं है।"[2]

---

१. ऋग्वेद १/१६४/४६।

२. तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥
(श्री मद्भागवत ५/११/२, टीका गीताप्रेस)

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "जीव परा बहु लूट में" जीव बहुत छीनाझपटी में पड़ा है। गुरुओं तथा धर्मशास्त्रों का जाल इतना विशाल है और इन सब में स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर करने वाली इतनी बातें भरी हैं कि जीव उनमें भटक गया है। जीव के अपने आप के विचार इतने नुच गये हैं कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। नाना मत के गुरुओं ने जीव को तुच्छ कहने की गहरी भूल की है। इसलिए उसे यह भ्रम हो गया है कि मैं तुच्छ हूं। खानी-बानी की सारी मान्यताएं जीव ही अपने मन में बनाता है और स्वयं ही उन मान्यताओं में पड़कर लुट जाता है। जीव ने अपने आपा के विचार को अपनी जड़-मान्यताओं में खो दिया है। उसने अपने आपा से अपनी मान्यताओं को ही श्रेष्ठ मान लिया है। खानी जाल के प्राणी-पदार्थों में तथा बानी जाल के नाना देवी-देवताओं की मान्यताओं में जकड़कर जीव लुट गया है। सद्गुरु कहते हैं "ना कछु लेन न देन" इनसे जीव का कुछ लेना-देना नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं। जीव से जो कुछ पृथक है, वह उसका नहीं है। जीव का केवल जीव है। आत्मा से भिन्न आत्मा का क्या है! जीव आज जिनमें उलझकर अपने स्वरूप को भूल रहा है, वे उसके नहीं हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह सारी मान्यताओं से लौटकर अपने स्वरूप को पहचाने और उसमें स्थित हो।

अनासक्ति से अमरता की प्राप्ति

चौगोड़ा के देखते, ब्याधा भागा जाय।
अचरज एक देखो हो सन्तो, मूवा कालहिं खाय ॥१२७॥

शब्दार्थ—चौगोड़ा = खरगोश, शशा; तात्पर्य में जीव, यहां अर्थ है ज्ञानी जीव। ब्याधा = बधिक, शिकारी-काम-क्रोधादि। मूवा = मुरदा, ज्ञानद्वारा मरा हुआ मन, अनासक्त मन। काल = समय, मौत, क्षणभंगुरता, भवबंधन।

भावार्थ—शशा को देखकर शिकारी भयवश भाग खड़ा हुआ। हे संतो! एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा ने काल को खा लिया है। अर्थात आज तक शिकार बना हुआ जीव ज्ञानवान हो जाने से उसे देखकर कामादि शिकारी भाग खड़े हुए और ज्ञानबल से मरे हुए मन ने भव-बंधनों को नष्ट कर दिया ॥१२७॥

व्याख्या—कबीर साहेब उलटवांसी कहने में प्रसिद्ध हैं ही। जगत जानता है कि शिकारी को देखकर शिकार भागता है। परन्तु यहां शिकार को देखकर शिकारी ही भाग खड़ा हुआ। क्योंकि समय बदल गया है। अनादिकाल से जीवरूपी शशा काम-क्रोधादि शिकारियों का शिकार बना रहा। जीव क्षण-क्षण तो काम-क्रोधादि का शिकार होता है, परन्तु जब जीव को ज्ञान हो जाता है, सद्गुरु तथा सन्तों की संगत हो जाती है और उनकी संगत से जब वह अपने ऊपर शिकार करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि की परख कर लेता है, तब वह उनसे सावधान हो जाता है। सत्संग तथा विवेक-द्वारा जीव के अन्दर छिपा हुआ ज्ञान उद्घाटित हो जाता है। अतएव तब जीव के ज्ञानतेज से भयभीत होकर कामादि शिकारी-शत्रु भाग खड़े होते हैं। ये सब आलंकारिक

भाषा के कथन हैं। इसका अर्थ यही है कि ज्ञानोदय होने पर कामादि का अन्त हो जाता है।

कबीर देव कहते हैं कि हे सन्तो! मैं एक आश्चर्य और देखता हूं कि मुरदा काल को खाता है। आप जानते हैं कि काल सब को खाकर उन्हें मुरदा बनाता है, परन्तु यहां उलटा हुआ कि मुरदा ही ने काल को खा लिया। मुरदा का अर्थ साफ है। जब प्राणी मर जाता है, जीव चला जाता है, तब देह को मुरदा कहते हैं। परन्तु काल किसे कहते हैं यह थोड़ा समझने-जैसी बात है। काल का पहला अर्थ समय है, जो वैसे तो अनादि तथा अनन्त है, परन्तु उसे क्षण, पल, सेकेंड, मिनट, घंटा, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी आदि में विभाजित कर समझने की चेष्टा की जाती है। जब किसी प्राणी के जीवन का समय पूरा हो जाता है तब हम कहते हैं कि उसका काल आ गया। काल आ गया का अर्थ समय आ गया, समय पूरा हो गया। और इसी को कहा जाता है मौत आ गयी।

काल का अर्थ क्षणभंगुरता भी है; क्योंकि संसार की सारी चीजें देश तथा काल के आयाम में गति करती हैं। मानो पर्वत से एक पत्थर टूटकर लुढ़कता है, तो उसके लुढ़कने में कुछ समय लगता है और कुछ देश; क्योंकि पत्थर चक्कर काटते हुए एक जगह से दूसरी जगह खिसकता है, तो इसमें देश और काल दोनों लगते हैं। हमारी नाक से सांस निकलती है और फिर लौटती है। इसमें भी देश तथा काल का उपयोग होता है। क्रिया मात्र में देश तथा काल का उपयोग होता है। कहा जाता है कि सारी वस्तुएं कालग्रसित हैं। काल सबको खाता है। हम देखते हैं कि समय आने पर आदमी बूढ़ा हो जाता है, मकान जीर्ण होकर गिर जाता है, पेड़ पुराना होकर गिर जाता है, परन्तु ये सब एक काल में जीर्ण नहीं होते, किन्तु क्षण-क्षण जीर्ण होते हैं। इसलिए पदार्थों की गतिविधि में काल व्याप्त रहता है। काल तो कोई वस्तु नहीं। वह तो केवल समय है और हर समय है। परन्तु उसके आयाम में वस्तुएं बदलती हैं तो हम वस्तु की क्षणभंगुरता को काल पर आरोपित कर लेते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि काल क्षणभंगुर है। वस्तुतः वस्तुओं में निर्माण क्षणभंगुर है। या सीधे कहें तो जगत की निर्मित वस्तुएं क्षणभंगुर हैं। काल का अर्थ भवबंधन भी है। भवबंधन हैं काम, क्रोध, लोभादि की मन में कल्पनाएं उठते रहना। वस्तुतः जीव के लिए यही काल है।

सद्गुरु कहते हैं "मूवा कालहिं खाय" मुरदा ने काल को खा लिया। यहां मुवा का अर्थ है मरा हुआ मन। जब मन विषयासक्ति एवं जड़ देह-गेहादि के अहंकार से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब उसे मरा हुआ कहा जाता है। यह मरा हुआ मन, अर्थात अनासक्त मन काल को खा लेता है। अनासक्त मन क्षणभंगुर पदार्थों में नहीं रमता। वह क्षणभंगुर को छोड़कर शांत हो जाता है और अविनाशी स्व-स्वरूप चेतन राम में स्थित हो जाता है। ऐसे मन ने मानो काल को खा लिया। वह मानो देश-काल से मुक्त हो गया। जिस जीव का मन अनासक्त है, संसार के राग-रंग से मर चुका है, वह अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित है। इसलिए उसके समय का चक्कर, काल की गतिशीलता, पदार्थों की गतिशीलता, शरीर की मौत, आसक्ति तथा अहंकाररूपी भवबंधन—सब-के-सब समाप्त हो

गये। अनासक्त मन काल का काल हो जाता है। जिसका मन मर गया, मानो उसक संसार ठंडा हो गया। अर्थात अनासक्त मन वाले के लिए न शरीर की मौत का भय है संसार के क्षणभंगुर पदार्थों के छूटने का भय है और न काम-क्रोधादि शत्रुओं का भय है भय का कारण आसक्ति है। आसक्ति मिट जाने पर भय मात्र का अन्त हो गया। निर्भयत ही अमरता है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "मूवा कालहिं खाय" अनासक्त मन ने सा पीड़ाओं को समाप्त कर दिया और जीव अमरता के राज्य में विराजमान हो गया।

मन, बिना मूड़ का चोर है

तीन लोक चोरी भई, सबका सरबस लीन्ह।
बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥१२८॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सत, रज, तम इन तीनों गुणों में आसक्त जीवजगत। चोरवा =मन।

भावार्थ—तीनों गुणों में आसक्त जीवों के हृदयों में चोरी हो गयी, और मन रूपी चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया। वह चोर बिना सिर का है, इसलिए उसे कोई पहचान नहीं पाया ॥१२८॥

व्याख्या—दो जगत हैं—भौतिक तथा मानसिक। दोनों सत, रज तथा तम गुणों से व्याप्त हैं। भौतिक जगत में रचना रज है, पुष्टि सत है तथा क्षय तम है। मानसिक-जगत में इच्छा तथा क्रिया रज है, ज्ञान एवं प्रसन्नता सत है और आलस्य-निद्रादि तम है। यह मानसिक-जगत से तात्पर्य है। तीन लोक का अर्थ है त्रिगुणी जीव। त्रिगुणी जीवों के हृदय में चोरी हो गयी। तीन लोक का अर्थ विश्व की समग्रता से भी है। पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे के लोक तथा पृथ्वी के ऊपर के लोक, अर्थात समस्त विश्व-ब्रह्मांड में जहां तक जीव हैं सबके भीतर चोरी हो गयी। चोर ने सबका सब कुछ चुरा लिया। यह मन चोर है। इसने जीव का सब कुछ चुरा लिया है। "सबका सरबस लीन्ह" बड़ा मार्मिक वचन है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप, मन ने उसी की याद को चुर लिया है। कबीर साहेब तो अपनी प्रायः सारी बातें अलंकारों में कहते हैं। अलंकारों में कथन से मनोहरता एवं बोधप्रदता आती है; परन्तु अंततः अलंकारों के जाल को हटाकर ही बात ठीक से समझने में आती है। चोर स्वतन्त्र मनुष्य होता है। उसकी स्वतन्त्र इच्छ एवं क्रिया होती है। परन्तु मन-चोर ऐसा स्वतन्त्र कुछ नहीं है। वह ऐसा स्वतन्त्र चोर नहीं है कि जीव के न चाहने पर भी उसके दिल में चोरी करता रहे। मन तो एक आभ्यासिक वृत्ति है। किसी ने तम्बाकू खाने की आदत बना ली। अब उसके हृदय में बारम्बार तम्बाकू खाने की ललक होती है। आदमी समझता है कि तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग शराब, ये सारी चीजें धन, स्वास्थ्य और शांति के लिए हानिकारक हैं, परन्तु इनकी आसक्ति में बंधा हुआ इनकी तरफ खिंचा रहता है। मन ने मानो उसके हृदय के विवेक को चुरा लिया है। जीव चाहे तो मन को मार सकता है। उसे अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह स्वयं प्रलोभन में पड़ा हुआ, अपने स्वरूपज्ञान से बेभान उन्हीं आदतों में पिसता रहता है।

मन चोर ने सबका सर्वस्व चुरा लिया है। जीव का सर्वस्व है उसका अपना आपा, उसका अपना स्वरूप। जीव ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर रखा है और वह विषयों में भटका है। विषयों की आसक्ति होने से उसकी उसी में आभ्यासिक-वृत्ति बन गयी है, वही वृत्ति मन कहलाती है। वही हर समय मानो जीव को छलती रहती है। काम-भोग की आभ्यासिक-वृत्ति हृदय में आयी और उसने हृदय का निष्काम-धन मानो चुरा लिया। क्रोध-वृत्ति आयी और क्षमा-धन चुरा गया। लोभ-वृत्ति आयी और संतोष-धन लुट गया। राग-द्वेष-वृत्ति आयी और निष्प्रपंच-धन लुट गया। देहाभिमान-वृत्ति आयी और स्वरूपज्ञान-धन चुरा गया। सबके दिल-घर में सब समय चोरी होती रहती है। हर क्षण हमारी बुरी आदतें हमें छलती रहती हैं। हम हर क्षण अपनी बनायी दुर्वृत्तियों से अपने आप को ठगाते रहते हैं। मन चोर ने हमारा सर्वस्व हर लिया है। कहना चाहिए कि हम अपनी भूल से अपने सर्वस्व को खो चुके हैं। हमारा सर्वस्व हमारी आत्म-चेतना, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति है और स्वरूपस्थिति के सहायक सत्य, शील, दया, क्षमा, विचार, संतोष आदि सद्‌गुण हैं। हम इनका परिचय तथा याद भूल जाते हैं। इसलिए मानो हमारा सारा धन लुट जाता है और हम दरिद्र बनकर भटकते हैं। जिसके पास अच्छे संस्कार न रह जायं, जो अपने आपा में न जीता हो, उसके समान दुखी तथा दरिद्र कौन होगा!

"बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह" यदि चोर के धड़ पर सिर ही न हो तो उसे कैसे पहचाना जा सकता है! मुंह से ही किसी को पहचाना जा सकता है। सिर न होने से मुंह होने की बात ही नहीं उठती। यह मन ऐसा ही चोर है जिसके पास कोई एक मुंह नहीं है। इसके अनेक मुखौटे हैं। यह क्षण-क्षण नकली चेहरा बनाना जानता है। यह मन काम-भावना का सीधा रूप लेकर भी जीव को ठगता है और निष्काम का चेहरा बनाकर भी पीछे से उसमें सकाम-भावना को मिलाकर ठगता है। तुम मन से कहोगे कि शुभ का स्मरण करो। मन कहेगा बड़ी अच्छी बात है, मैं शुभ का ही स्मरण करूंगा। मन शुभ का ही स्मरण शुरू करेगा और धीरे-से ले जाकर जीव को अशुभ में पटक देगा। साधक प्रायः शिकायत करते हैं कि हम ध्यान करने बैठते हैं, भजन करने बैठते हैं, मन पहले ध्यान-भजन में लग भी जाता है; परन्तु पता नहीं चलता कि यह चांडाल कब हमें विषय-प्रपंचों में पहुंचा देता है। यह मन की चालाकी है। मन अपनी ओर मोड़ने में माहिर है। यह केवल काम, क्रोधादि के अशुभ चेहरे ही नहीं, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के शुभ चेहरे बनाकर भी सावधान न रहने पर ठग लेता है। अतएव मन के नाना नकली चेहरे हैं। यह एक चेहरे में नहीं रहता। इसलिए सहज लोग इसे नहीं पहचान पाते। यह सब कहने का अर्थ यही है कि हमारे मन की विषयासक्ति हमें बलात विषयों में खींच ले जाती है। किन्तु जब हम अपने स्वरूप को तथा अपने मन के स्वरूप को ठीक से परख लेते हैं तब मन हमारे अधीन हो जाता है। मेरी भूल तथा असावधानी के अलावा मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो मुझे विवश कर सके। जब साधक अपने अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है और सबसे अनासक्त होकर स्वरूपविचार में ही रमने लगता है तब मन उसका अनुगामी हो जाता है। तब उसका कहीं भटकने का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

संसार की दुखद चक्की

चक्की चलती देख के, मेरे नैनन आया रोय।
दुइ पाट भीतर आय के, साबुत गया न कोय॥१२९॥

शब्दार्थ—दुइ पाट = द्रव्य-गति, तन-मन, जन्म-मरण, खानी-वाणी, मोटीमाया-झीनीमाया, राग-द्वेष। साबुत = साबित, अखंड, समूचा, बेदाग।

भावार्थ—संसार की चक्की चलती देखकर मेरे नेत्रों से रुलाई आ गयी। दो पाटों के बीच आकर कोई बेदाग नहीं गया॥१२९॥

व्याख्या—कबीर देव की यह साखी बहुत प्रसिद्ध है। चक्की दो पाटों की होती है। उसमें अन्न के दाने पिसते हैं। यह संसार मानो विशाल चक्की है। यह निरन्तर चलती है। जहां तक दृश्यमान संसार है निरन्तर गतिशील है। इसमें रहने वाले प्राणियों के शरीर तथा सारे पदार्थ अनवरत पिसते रहते हैं। द्रव्य और गति मानो ये दो पाट हैं। इनमें सारा संसार पीसा जा रहा है। जितने भौतिक द्रव्य हैं सबमें गति है और गति जहां तक है भौतिक द्रव्य है। द्रव्य और गति यही संसार-चक्की के दो पाट हैं जिसमें अनंत विश्व निरन्तर पीसा जा रहा है। यहां सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं तथा सारे प्राणी मौत के सामने दीन हैं। विश्व के बड़े-से-बड़े समर्थ नर-नारी भी मौत के आते ही क्षण-मात्र में इस दुनिया से उठ जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, व्यास, वसिष्ठ, ईसा, मूसा, मुहम्मद, गोरख, कबीर, दयानन्द, विवेकानन्द बड़ी-बड़ी हस्तियां चली गयीं। फरक इतना ही है कि ये सब अपनी यश-काया से अमर हैं। जिन्होंने अपने मन, वाणी तथा काया को जीतकर संसार से अनासक्ति प्राप्त कर ली वे अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थिर होकर अमर हो गये। अन्यथा बड़े-बड़े राजे-महाराजे कीड़े-मकोड़े के समान आते-जाते रहते हैं।

अथवा तन और मन दो पाटों की चक्की है। इसमें संसार के सारे जीव पिसते हैं। शरीर के निर्वाह-धन्धों, रोग-व्याधि तथा नाना दैहिक उपद्रव एवं मन के राग-द्वेष, चिंता-विकलता, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में सभी जीव पीसे जा रहे हैं। अथवा जन्म-मरण के दो पाटों की चक्की में सब जीव पीसे जा रहे हैं। ये जीव जन्म-मरण के चक्कर में, गर्भवास, बाल्यकालिक,. जवानी के प्रमादजनित, बुढ़ापा के विवशताजनित तथा जीवन के नाना उपद्रवों में निरन्तर पिसते हैं। अथवा खानी तथा वाणी इन दो पाटों की चक्की में सब जीव निरंतर पीसे जा रहें हैं। खानी है मोटी माया और वाणी है झीनी माया। प्राणी-पदार्थों के लोभ-मोह में जीवन का उलझे रहना खानी जाल के बंधन हैं तथा अपने चेतनस्वरूप से अलग देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म, गति-मुक्ति, स्वर्ग तथा लोक-लोकांतरों की कल्पना करना वाणी जाल के बंधन हैं। इस प्रकार खानी और वाणी जाल के इन दो पाटों में संसार के सारे लोग पीसे जा रहे हैं। सद्गुरु ने प्रथम हिंडोले में कहा है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोई न रहाय" अर्थात खोज करके देखो जो खानी और वाणी के जाल में पड़े हैं उनमें से कोई भी जीव शांति-स्थिति को नहीं पाता।

सबका सार अर्थ यह है कि राग और द्वेष इन दो पाटों की चक्की में सारे जीव निरन्तर पिस रहे हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जीवों की यह दुखद दशा देखकर मेरे नेत्रों में आंसू आ गये, मेरा दिल रो दिया। संसारी आदमी अपने पत्नी-बच्चे के दुखों को देखकर रोते हैं, या वे जिसे अपना माने रखते हैं उन्हीं के दुखों से रोते हैं, परन्तु जो कहीं किसी में ममता नहीं करता, वह सब में समता रखता है। ऐसे पुरुष का हृदय अत्यन्त शुद्ध होता है, और वही संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोता है। कबीर साहेब का दिल विशाल था। वे संसार के सारे लोगों के दुखों को देखकर रोते हैं।

जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। शरीर निर्मित हुआ है तो नष्ट होगा ही। सारे भौतिक पदार्थों का निर्माण विनाश के मुख में है। इन्हें रोके रखना एवं स्थिर रखना किसी के वश की बात नहीं है। इन्हें रोके रखने की कल्पना कोई फायदेमंद भी नहीं है। जो जीव के लिए कल्याणकर है और जिसे वह कर सकता है वह है राग-द्वेष का त्याग। जिसके मन के राग-द्वेष की चक्की बन्द हो जाती है उसके मन का पिसना बन्द हो जाता है। राग-द्वेष से मुक्त हुआ मनुष्य परम शांति का सागर हो जाता है। जिसे किसी से राग नहीं है और किसी से द्वेष नहीं है उसके सारे द्वन्द्व, सारे झगड़े, सारे उपद्रव समाप्त हो जाते हैं। उसकी दृष्टि में मित्र तो मित्र है ही, शत्रु भी मित्र ही है। कोई अपने अज्ञानवश उससे शत्रुता भले कर ले, परन्तु वह उससे भी शत्रुभाव नहीं रख सकता। वह तो मलिन मन वालों पर दया करता है। वह समझता है कि ये अपने अज्ञानवश दीन हैं। ये अपने मनोमालिन्यतावश अपना ही अहित कर रहे हैं। ये दया-क्षमा के पात्र हैं। जिनकी राग-द्वेष की चक्की बन्द हो गयी, उनका संसार-सागर मानो सूख गया। वे सब समय निर्भय, निर्द्वंद्व, स्वच्छन्द, मुक्त एवं कृतकृत्य रूप होते हैं।

साधु के वेष में चोर

चार चोर चोरी चले, पगु पनहीं उतार।
चारिउ दर थूनी हनी, पण्डित करहु विचार॥१३०॥

शब्दार्थ—पनहीं = जूती। दर = छिद्र, स्थल। थूनी = खंभा। हनी = गाड़ दी।

भावार्थ—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार चोर चुपचाप जीव के ज्ञान-धन की चोरी करने के लिए चले और विषयों के मनन, चिंतन, निश्चय एवं करतूति रूप चार दरों में भास-अध्यास की थूनियां गाड़ दीं। हे पण्डितो, इन पर विचार करो और इनके फंदों से बचो॥१३०॥

व्याख्या—जूते पहनकर चलने में आवाज होती है, इसलिए सावधान चोर पैर से जूते निकालकर नंगे पैर चोरी करने के लिए चलते हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार मानो ये चार चोर हैं। ये बड़ी कोमलता एवं सावधानी से जीव के भाव में मिलकर उसके ज्ञान-धन को चुराते हैं। मन चुपके-चुपके विषयों का मनन करता रहता है; बुद्धि भीतर-ही-भीतर विषयों में सुख का निश्चय करती रहती है; चित्त विषयों के अनुसंधान में लगा रहता है, और अहंकार विषयों की स्वीकृति तथा करतूति में लगा रहता है। इस प्रकार

"चौपर खेल होत घट भीतर, जन्म का पासा डारा। दमदम की कोइ खबरि न जाने, कोइ कै न सकै निरुवारा।"[1] हर आदमी के दिल में ये चौपर-खेल ये चार चोरों-द्वारा चोरी होती रहती है। इन चारों चोरों ने चारों दरों में अध्यास-वासना की जबर्दस्त थूनियां गाड़ दी हैं। कबीर साहेब पण्डितों को राय देते हैं कि वे इस पर विचार करें। पण्डित प्रज्ञावान को कहते हैं। जिसकी बुद्धि सूक्ष्म है, सत्यासत्य विवेकिनी है, उसकी बुद्धि पंडा है, और जिसकी बुद्धि पंडा है वह पंडित है। ऐसा पंडित ही इस विषय पर विचार कर सकता है। पण्डित कोई काल्पनिक वर्ण एवं जाति से संबंध नहीं रखता। उसका संबंध केवल सत्यासत्य विवेकिनी बुद्धि से है। विवेकी पुरुष ही विषयों की ओर उन्मुख मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को उनसे लौटाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर ला सकता है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि चतुर्वर्णव्यवस्था की चारों भावनाएं मानो चार चोर हैं और ये अपने पैर से जूते निकालकर, बड़ी कोमलता एवं धार्मिकता का मुलम्मा चढ़ाकर मनुष्यों के दिलों में चोरी करने चले और चारों वर्णों की दरों में अपनी कल्पना एवं भेदभावना की थूनी गाड़ दी। हे पण्डितो, इस पर विचार करो।

चतुर्वर्णव्यवस्था एकदम आरंभ में चाहे केवल कर्मों का बंटवारा रही हो और शुद्ध भावना से यह व्यवस्था की गयी हो तथा इसके पीछे किसी को नीच-ऊंच बताने एवं थापने की बात बिलकुल न रही हो, परन्तु हम लोगों के सामने जो धर्मशास्त्रों में इसका रूप है वह भेदभाव से भरा हुआ, अज्ञानपूर्ण, घृणित एवं क्रूर है। तथाकथित वर्णव्यवस्था के विधान में एक वर्ण जन्म से ही अत्यन्त ऊंच मान लिया गया है, दूसरा निम्न, तीसरा निम्नतर तथा चौथा निम्नतम। वर्णव्यवस्था की क्रूरता ने एक विशाल वर्ग को शूद्र कहकर उस पर ऐसा क्रूरतम पंजा कसा कि उसे आज तक उससे मुक्त होने की पूरी सुविधा नहीं मिली। इस वर्णव्यवस्था की गर्हित भावना ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को पाप-योनि कहा। यह भेदभावना का विष बोने वाली वर्णव्यवस्था धर्म के नाम पर चलायी गयी। इसने "पगु पनहीं उतार" कर ऊपर से बड़ी कोमल भावना दिखायी। कहा गया कि शूद्र तो सवर्णों की सेवा करते-करते तथा उनके जूते-लात खाते-खाते ही मुक्त हो जायेगा। इसने राम-द्वारा शंबूक शूद्र की हत्या तथा बलराम-द्वारा सूत की हत्या का काल्पनिक चित्रण करके उन्हें मुक्ति देने की बात बतायी।

कबीर साहेब कहते हैं "पण्डित करहु विचार" हे पण्डितो, हे समझदारो, विचार करो कि मनुष्य जन्म से सब एक समान हैं। सबके शरीर एक समान हाड़-मास के हैं और सबके अन्दर एक ही प्रकार के जीव निवास करते हैं, फिर इसमें मूलतः कौन बड़ा है और कौन छोटा है! केवल अपने गुण-कर्मों से ही आदमी छोटा-बड़ा होता है। मानव मात्र मूलतः एक समान है।

---

१. शब्द ८६।

सत्य ही चारों वेदों का सार है

बलिहारी वह दूध की, जामें निकरे घीव।
आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव ॥१३१॥

शब्दार्थ—बलिहारी = निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा। जीव = चेतन, सारतत्त्व।

भावार्थ—उस दूध की प्रशंसा की जाती है जिसमें अधिक मात्रा में घी निकलता है। इसी प्रकार उस वाणी की प्रशंसा की जाती है जिसमें जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वरूपज्ञान-परिचायक कबीर की आधी साखी भी चारों वेदों का सारतत्व है ॥१३१॥

व्याख्या—जब लोग दुधार गाय और भैंस बेचते हैं, तब वे ग्राहकों से कहते हैं कि भैया, हमारी गाय और भैंस के दूध में घी-ही-घी है। भैंस के विषय में यह बात ज्यादा कही जाती है। कई भैंस घियार होती हैं। अर्थात उनके दूध में ज्यादा घी होता है। अतएव दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक है। इसी प्रकार वाणी वही प्रशंसनीय है जिसमें जड़-चेतन, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य, गुण-दोष, ग्राह्य-त्याज्य, बंध-मोक्ष आदि का तात्त्विक विवेचन हो। उन्हीं वाणियों, ग्रन्थों एवं शास्त्रों की बड़ाई है जिसमें तर्कयुक्त कारण-कार्य-व्यवस्था-संबलित तथा विश्व के नियमों के अनुकूल कथन है; और अंततः सारे जड़ दृश्यों को हटाकर अपने स्वरूप का यथार्थ-बोध वर्णन है। जैसे "जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।"[1] अथवा "जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर"[2] या "जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं"[3] इत्यादि आधी साखी भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व है।

"आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" इसे कबीर की गर्वोक्ति मानी जा सकती है। वे अपनी आधी साखी को भी मानो चारों वेदों का सारतत्त्व मानते हैं। इस पंक्ति में पहली बात तो यह है कि उनकी वेदों की प्रति श्रद्धा की ध्वनि है। दूसरी बात यह है कि उनकी वाणियों में सचमुच केवल तथ्य भरा है। जैसे इस साखी की पहली पंक्ति में कहा गया कि दूध वही प्रशंसनीय है जिसमें घी की मात्रा अधिक हो, तो सचमुच ही कबीर की वाणीरूपी दूध में घी-ही-घी है, सार-ही-सार है। कबीर की वाणी इतनी सारगर्भित है कि उसका भाव पूर्वक मनन करने से तथ्य सामने आ जाता है। अतएव "आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव" उनकी गर्वोक्ति नहीं, किन्तु चांद-सूरज के समान सत्य है। वे समर्थ पुरुष थे; ऐसा कह सकते थे। वे धर्म और श्रद्धा के नाम पर ऊचर बातें नहीं करते, किन्तु खरी एवं तथ्यपूर्ण करते हैं। कबीर देव धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में रहते हुए भी वैज्ञानिक हैं। उनका दृष्टिकोण इतना तार्किक, युक्तियुक्त, विश्व-सत्ता के नियमों के अनुकूल तथा तथ्यपूर्ण है कि आश्चर्य होता है कि उस अंधे युग में

---

1. साखी १०।
2. साखी २८२।
3. साखी २९६।

कबीर इतना सारा सत्य डंके की चोट पर कैसे कह गये! जिस देश तथा काल में धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर सर्वत्र पोंगापंथीपन, कट्टरपन एवं हठधर्मिता थी, उस देश और काल में कबीर केवल खरा-खरा कहते रहे, यह उनकी सत्य में अविचल प्रतिष्ठा का बल एवं अदम्य साहस था। जो अपना कोई स्वार्थ नहीं रखता, वही खरा सत्य कह सकता है। कबीर ऐसे थे। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए कभी कुछ नहीं सोचा, इसलिए वे एकबारगी सत्य कह सके। अतः वे यदि अपनी वाणियों में से आधी साखी को भी चार वेद का जीव कहें तो आश्चर्य नहीं।

पारखी प्रशंसनीय है

बलिहारी तेहि पुरुष की, जो परचित परखन हार।
साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार॥१३२॥

शब्दार्थ—साई = बयाना, पेशगी, अग्रिम। खाँड़ = खांड़, चीनी, शकर। खारी = नमक। बूझे = समझता है, मांगता है, अथवा बोझे = लादता है। गँवार = नादान।

भावार्थ—मैं उस मानव की प्रशंसा करता हूं और उस पर अपने आप को न्योछावर करता हूं जो सार-असार से परिचित है या उनका परखने वाला है। परंतु मैं उस नादान की क्या प्रशंसा करूं जिसने शकर लादने के लिए बयाना दिया और जब माल तौलाना हुआ तब नमक तौलने तथा लादने लगा। अर्थात सत्यज्ञान पाने के लिए गुरुओं की सेवा की, परन्तु उनसे ज्ञान के नाम पर भ्रांति का बोझा लादने लगा॥१३२॥

व्याख्या—कबीर देव की हर वाणी में क्रांति है। वे उसकी प्रशंसा करते हैं जो परिचित तथा परखनहार है। परिचित तथा परखनहार ये दोनों शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। परिचित वह है जिसने सार-असार, स्व-पर, चेतन-जड़, मोक्ष-बंध आदि को परख लिया है; और परखनहार वह है जिसका परखना चालू है, जो वर्तमान में छानबीन कर रहा है कि क्या सार है, क्या असार है, तथा क्या स्व है, क्या पर है आदि।

अपने स्वरूप का परिचय पा लेना, अपनी आत्मा को पहचान लेना एवं अपने आपा को परख लेना जीवन में सर्वोच्च ज्ञान है। अपने चेतनस्वरूप के अलावा जो कुछ दृश्य जड़वर्ग है उसकी भी परख कर लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि उसी में बराबर भ्रम होता है। चेतन की तरह ही जड़-दृश्य भी अनादि-अनन्त है और अपने अनादिनिहित गुण, धर्म, क्रियादि से स्वतः स्वचालित है। उसमें किसी प्रकार की दैवीशक्ति की कल्पना करना अज्ञान का फल है। जड़प्रकृति के अपने अनादिसिद्ध स्वभाव एवं गुण-क्रियाओं से जगत की व्यवस्था अबाधगति से निरन्तर चल रही है और आगे चलती जायेगी। जड़दृश्यों से भिन्न चेतन सत्ता है जो संख्या में अनेक एवं असंख्य हैं और उनके गुण-धर्म एक ज्ञान है। सारी जड़वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही जीवन का सार है। यह बोध जड़-चेतन का परिचित स्वरूप है। दूसरे लोग हैं जो इनकी परख करने में लगे हैं। अथवा जो व्यक्ति जड़-चेतन से पूर्ण परिचित हो गया, उसे भी जीवनभर परखनहार बने रहना तो पड़ता ही है। क्योंकि जीवनपर्यन्त संसार सामने है। संसार में

नयी-नयी बातें, नये-नये-बन्धन एवं नयी-नयी उलझनें आने की संभावना रहती है। इसलिए विवेकवान नर-नारी परिचित होते हुए भी जीवनपर्यन्त परखनहार हैं। "सदा विचार करहु तुम भाई। जब लग देह बिखरि नहिं जाई॥ पारख ऊपर थिर होय रहना। सकल परखना ना कछु गहना॥"[१] सद्गुरु ऐसे लोगों की प्रशंसा करते हैं और उन पर अपने आप को न्योछावर कर देते हैं। जो धर्म के नाम पर कही गयी बातों को आंख मूंदकर मानता नहीं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर उन्हें देखता है, परखता है, तब मानता है, सद्गुरु उसकी प्रशंसा करते हैं। कबीर देव अन्धा अनुगामी नहीं चाहते, तर्कशील साथी चाहते हैं। उस सत्यपरायण साथी को वे अपना दास न बनाकर उसके प्रशंसक हो जाते हैं। और इतना ही क्या, वे तो ऐसे व्यक्ति को कह बैठते हैं "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

परन्तु कबीर देव ऐसे लोगों से बहुत उदास और दुखी होते हैं जो विवेक का प्रयोग नहीं करना चाहते। "वी वाक बाई फ़ेथ, नॉट बाई साइट" के वे घोर विरोधी हैं। अर्थात जो लोग कहते हैं कि हम विश्वास से चलते हैं, देखकर नहीं, कबीर साहेब उनको पसंद नहीं करते। वे कहते हैं कि बिना देखे-भाले एवं बिना जांचे-परखे विश्वास पर विश्वास कैसे कर लें! यह ठीक है कि अध्यापक के कहे हुए क माने कबूतर तथा ख माने खरगोश पर बच्चा विश्वास कर ले, परन्तु अध्यापक उसे कब तक बच्चा बनाये रखना चाहेगा! धार्मिक लोग प्रायः जनता को हर समय बच्चा ही बनाये रखना चाहते हैं। यह भी ठीक है कि जिज्ञासु का हृदय बच्चे के समान सरल होना चाहिए, परन्तु इसके साथ उसे पारखी भी होना चाहिए।

सद्गुरु ने उन भक्तों पर इस साखी की दूसरी पंक्ति में करारा व्यंग्य किया है जो "साई दीन्हों खाँड़ को, खारी बूझे गँवार" बयाना देते हैं शकर लेने के लिए, परन्तु भोले नमक लेते हैं। गुरुओं की सेवा की सत्यज्ञान पाने के लिए, परन्तु धर्म के नाम पर भावुकों ने नाना भ्रांतियों को लाद लिया। धर्म और भक्ति के नाम पर ज्यादातर चमत्कार, अन्धविश्वास तथा बे-सिर-पैर की बातें ही हांकी जाती हैं। अधिकतम गुरु इन्हीं का प्रचार करते हैं और भक्तों के पल्ले यही पड़ता है। गुरुओं को इन्हीं सब बातों में अधिक धन और जन मिलते हैं। इसलिए वे अपने भक्तों को विवेक नहीं देना चाहते। अधिकतम गुरुजन धर्म और भक्ति की ऐसी ही घुट्टी पिलाते हैं जिससे भक्तजनों के चिन्तन और विवेक की शक्ति खो जाती है। इसलिए धार्मिक क्षेत्र में घोर अन्धविश्वास व्याप्त है। यद्यपि धर्म के अर्थ विश्व के नियम, कारण-कार्य-व्यवस्था, मनुष्य के कर्तव्य एवं नैतिकता है, तथापि अन्धविश्वासियों एवं स्वार्थियों ने उसका अर्थ पोंगापंथीपन बना दिया है। आदमी श्रद्धा के नाम पर आंखें मीच लेता है। वस्तुतः श्रद्धा का अर्थ है सत्य को धारण करने वाला, श्रत = सत + धा = धारण करना। परन्तु लोगों ने मान रखा है धर्म तथा श्रद्धा के नाम पर बुद्धि-विवेक में ताला लगा देना और केवल गुरुओं के बताए पथ पर आंख मूंदकर चलना। निश्चित है यह खतरनाक रास्ता है। कबीर देव कहते हैं कि सत्यासत्य

---

१. सद्गुरु पूरण साहेब, निर्णयसार।

परखो। सदैव सार-असार पर विचार करो। बिना विचार किये कुछ भी मत मानो। वही प्रशंसनीय है जो परिचित तथा परखनहार है।

काल कला सब परखि ले, जेते हैं सब फाँस।
बिन पारख सोइ बीज है, जन्म मरण के गाँस॥ पंचग्रन्थी, टकसार॥

भय के कारण विषयासक्ति और अहंकार

विष के बिरवे घर किया, रहा सर्प लपटाय।
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय॥१३३॥

शब्दार्थ—बिरवे = वृक्ष। जागत = दिन। रैनि = रात। बिहाय = बीतना।

भावार्थ—किसी ने जहर के पेड़ पर अपना निवास स्थान बनाया, जिसमें सांप लिपटे हैं। इसलिए उसके जी में भय समाया है और वह भय में ही रात और दिन बिता रहा है। अर्थात अहंकार-सर्प से लिपटे हुए विषयों में जीव आसक्त है। इसलिए उसके रात-दिन भय में बीत रहे हैं॥१३३॥

व्याख्या—विष का पेड़ हो और उसमें जहरीले तथा भयंकर सांप लिपटे हों यदि उस पर कोई अपना निवासस्थान बनाये, तो वह भय का कारण बनेगा ही। ऐसे पेड़ पर रहने वाले के रात-दिन भय में बीतेंगे। वीतराग कबीर देव उक्त चुभता हुआ उदाहरण देकर विषयासक्तों तथा देहाभिमानियों की आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाते हैं। मनुष्य विषयासक्तिरूपी विष-वृक्ष में चिपका है जिसमें अहंकार के भयंकर सांप लिपटे हैं। अलंकार के जंजाल को हटाकर अर्थ होगा कि जीव विषयासक्ति तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थों के अहंकार में डूबा है। इस विषयासक्ति तथा अहंकार के कारण ही वह सदैव भयभीत रहता है। उसके दिन और रात भय में ही बीतते हैं।

सुख तथा सम्मान न मिलने या उनके छूट जाने का भय, रोग लगने, बुढ़ापा आने तथा प्रियजनों के बिछुड़ने का भय, अन्ततः मृत्यु का भय क्यों होता है! इन सारे भयों के मूल में है देह-गेहादि तथा प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता का होना। विषयासक्ति जहर है तथा देह-गेहादि सांसारिक ऐश्वर्यों का अहंकार सांप है। इन दोनों को पालकर कोई सुख से सो नहीं सकता। विषयासक्ति एवं देहाभिमान में चिपककर कोई निर्भयता का सुख पा ही नहीं सकता। आदमी की नींद खुलती है और वह भय को छाती से लगाये हुए उठता है। पहला भय होता है घर में चोरी न हो गयी हो। दूसरा भय होता कि खाट के नीचे पैर रखते ही सांप न डस ले। फिर तो भय का सिलसिला शुरू हो जाता है। कहीं चले तो एक्सीडेंट का भय सवार हो जाता है। बच्चा स्कूल गया तो उसके लौटने तक मन में खतरा का भय बना रहता है। व्यापार रुकने, नौकरी छूट जाने, खेती डूब जाने का भय बना ही रहता है। भय की संख्या करना बेकार है। देहाभिमानी जीव के रात-दिन केवल भय में बीतते हैं। इन सबों का मतलब यह नहीं है कि आदमी कहीं सावधान न रहे। सावधान तो हर जगह रहना चाहिए, परन्तु भय पालना एक मानसिक बीमारी है। जो कुछ भवितव्य है, रुक नहीं सकता। उसके लिए भय पालना अपने आप को विक्षिप्त

बनाना है। भय करने से लाभ तो रत्तीभर नहीं होता, केवल हानि होती है। निर्भय रहने से हानि बिलकुल नहीं, किन्तु केवल लाभ-ही-लाभ है।

हम निर्भय कैसे हों जब विषय-भोगों एवं उनकी वासनाओं में रात-दिन डूबे हैं और रत्ती-रत्ती चीजों में अहंता-ममता बना रखे हैं। जो विषयों की गुदगुदाहट को प्राणों के समान प्रिय मानते हैं उन्हें रात-दिन दुखों की भट्ठी में जलना ही है। राग भय का कारण होता है और वैराग्य निर्भयता का। भर्तृहरि का यह वाक्य अत्यन्त तलस्पर्शी है "वैराग्यमेवाभयम्"—वैराग्यम्-एव-अभयम्—वैराग्य ही निर्भयता है। इसीलिए कबीर देव कहते हैं—"चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह। जिनको कुछ नहिं चाहिए, सोई शाहंशाह ॥"

आदमी स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, देह-गेहादि में निरन्तर आसक्त है। इसलिए वह रात-दिन उनकी चिन्ता में डूबा हुआ पीड़ित रहता है। उसके भय और चिन्ता ही में रात-दिन जाते हैं। "जागत रैनि बिहाय" का अर्थ इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि दिन तो दिन ही, उसकी रात भी चिन्ता एवं भय में जागते-जागते बीत जाती है। अधिकतम धनवानों को रात में नींद कहां पड़ती है! बिरले धनी अपनी स्वाभाविक नींद में सोते हैं। वे नींद की गोली खाते हैं तब उन्हें मुर्च्छा-जैसी नींद आती है। संसार में करोड़ों रुपयों की लागत में नींद की गोलियां बनती हैं और उनकी खपत प्रायः धनवानों में ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गरीब लोग विषयासक्ति तथा अहंकार से छूटे होते हैं। वे भी आसक्ति एवं अहंकार में डूबे हैं; परन्तु उनके पास आसक्ति तथा अहंकार करने के साधन थोड़े हैं, इसलिए वे उतने चिंतित एवं भयभीत नहीं हैं जितने धनी कहलाने वाले। अंततः तो अबोधग्रसित सारे प्राणी अहंता-ममता में डूबे रात-दिन चिन्ता एवं भय के शिकार हैं।

"जागत रैनि बिहाय" को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, जाग्रत एवं सावधान होकर अज्ञानरूपी रात को समाप्त कर, अर्थात नष्ट कर!

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साध न होय।
सकल सम्पदा ले गये, विष भरि लागा सोय ॥१३४॥

शब्दार्थ—हैगा = है। साध = साधु, महात्मा। सम्पदा = ज्ञान तथा सद्गुण धन, दैवी संपदा। सोय = आसक्ति एवं अहंकार।

भावार्थ—जो सांप का घर है, वह साधु का घर नहीं है। अर्थात विषयासक्ति और देहादि का अहंकार साधना का पथ नहीं है। ये विषयासक्ति और अहंकार तो जीव की सारी आध्यात्मिक शक्ति नष्ट कर देते हैं और सांसारिकता का विष लेकर उसमें चिपक जाते हैं ॥१३४॥

व्याख्या—विषयासक्ति और देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता सर्प है। सांप का घर साधु का घर नहीं हो सकता। जिसके मन में विषयासक्ति तथा अहंकार निवास करते हैं, उसके मन में साधुत्व कैसे रह सकता है! वैसे विषयासक्ति तथा

देहाभिमान सभी जीवों के मन में अनादि अभ्यस्त हैं। इसलिए ये सबके मन में हैं। परन्तु एक होता है जो इन्हें नष्ट करने की साधना करता है और दूसरा है जो इन्हें निरन्तर पालता है। दोनों में बड़ा अन्तर है। जो व्यक्ति अपने मन में विषयासक्ति तथा देहाभिमान-सर्पों को पालेगा वह साधना के पथ में नहीं चल सकता और साधुत्व की स्थिति नहीं पा सकता। साधक तो वह हो सकता है जो विषयों को विष के समान जानकर उनसे दूर रहता है और समस्त अहंकारों का क्षण-क्षण त्याग करता है। जीव भूलवश क्षण-क्षण देह-गेहादि संसार की वस्तुओं में अपने आप को जोड़कर उनका अहंकार करने लगता है। विवेकवान मन में उठी हुई अहंता-ममता को क्षण-क्षण त्यागते रहते हैं।

ये विषयासक्ति तथा अहंकार ऐसे सर्प हैं जो अपने दंसन से जीव की सारी दैवीसंपत्ति को विनष्ट कर देते हैं। जिसके मन में जितनी मात्रा में विषयासक्ति तथा अहंकार होगा उसका मन उतनी मात्रा में सद्गुणों से वंचित होगा। शील, दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, निर्भयता, स्वच्छता, भक्ति, विवेक, वैराग्यादि सद्गुण एवं दैवीसंपदा ही तो मनुष्य के जीवन में सुगंधी भरते हैं, और जो इन्हीं से खाली हो जायेगा, उसके जीवन में सुख-शांति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। "सकल संपदा ले गये" जिसकी सारी संपत्ति चोर उठा ले गये हों, उसकी जो दशा होती है वह तो दूसरों की सहायता से भी तुरन्त सुधर सकती है, परन्तु जिसकी सारी सद्गुण-संपत्ति नष्ट हो गयी हो उसकी क्षतिपूर्ति दूसरा कौन कर सकता है! ये विषयासक्ति तथा अहंकार जीव को दीन बना देते हैं और अंततः "विष भरि लागा सोय" विष भरकर जीव को लग जाते हैं। अर्थात इन दोनों का विकराल विष जीव पर चढ़ जाता है। जिनका उतरना सरल नहीं है। अतएव सद्गुरु चेतावनी देते हैं कि विषयासक्ति तथा अहंकार सांप हैं। इन्हें निर्दय होकर मारो, तभी सुख से सो सकते हो।

शरीर-निर्माण, काल का पड़ाव है

घुँघुँची भर के बोइये, उपजा पसेरी आठ।
डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात॥१३५॥
मन भर के बोइये, घुँघुँची भर नहिं होय।
कहा हमार माने नहीं, अन्तहु चले बिगोय॥१३६॥

शब्दार्थ—घुँघुँची = घुंघची, एक लता का लाल या सफेद रंग का बीज, गुंजा। डेरा = पड़ाव, निवास। बिगोय = नष्ट।

भावार्थ—पुरुष-द्वारा नारी-क्षेत्र में थोड़ी मात्रा में सजीव वीर्य सिंचन से पांच विषय एवं तीन गुण से सम्बन्धित मानो आठ पसेरी एवं मन भर का शरीर पैदा हो जाता है। और शरीर के पैदा होते ही मानो उसमें काल का पड़ाव पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं और शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई पांच विषय एवं तीन गुणयुक्त इस आठ पसेरी के निर्जीव शरीर को गाड़ दे और इससे चाहे कि एक देहधारी का पिंड पैदा हो जाय तो असम्भव है। जीवन-निर्माण का एक प्राकृतिक-क्रम है। सब कुछ या कुछ भी

अचानक नहीं हो जाता है। परन्तु लोग मेरी कारण-कार्य-व्यवस्था के विचारों को नहीं समझते, अतः वे भौतिकवादी दृष्टि अपनाकर अन्त में अपने आप को खोकर चलते हैं।

अथवा सकाम कर्मों के थोड़ा बीज बोने पर भी शरीर का निर्माण हो जाता है, और शरीर का निर्माण होने के बाद मानो उसमें काल का डेरा पड़ जाता है। रात और दिन बीतते हैं तथा शरीर क्षीण होता है। परन्तु यदि कोई बहुत ज्यादा कर्म करे, किन्तु उसमें सकाम-भावना न हो तो वे ज्यादा कर्म भी जन्म के थोड़ा भी कारण नहीं बनते। परन्तु लोग मेरे विचारों पर ध्यान नहीं देते और सकाम कर्मों में डूबकर अपने आप को जन्मादि चक्कर में डाल कर नष्ट करते हैं।।१३५-१३६।।

व्याख्या—ऊपर की दोनों साखियां एक विषय की हैं। इसलिए इन्हें एक साथ रखकर समझने की चेष्टा की गयी है। इन्हें दो तरीके से समझने का प्रयास किया गया है, जो ऊपर द्रष्टव्य है। शरीर धारण करने के दो बीज होते हैं, एक शरीर का बीज (वीर्य) एवं दूसरा मन का बीज (सकाम कर्म); इसलिए इन दोनों को लेकर ऊपर की दोनों साखियों को समझना चाहिए।

जीवन केवल भौतिक पदार्थों से नहीं बनता है; परन्तु इसमें जड़ और चेतन दोनों का योग होता है। जड़ पदार्थों से शरीर बनता है और चेतन जीव उसमें रहकर द्रष्टा, भोक्ता एवं कर्ता के रूप में स्वामित्व करता है। "घुँघुँची भर के बोइये" थोड़ा-सा वीर्य नारी-क्षेत्र में सिंचन करने से यह आठ पसेरी का शरीर पैदा होता है। यहां घुंघची भर से यह मतलब नहीं है कि ठीक घुंघची की तौल में वीर्य से शरीर बनता है। यहां घुंघची का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि थोड़े-से वीर्य से गर्भ ठहरकर शरीर का निर्माण हो जाता है, क्योंकि वह थोड़ा वीर्य भी सजीव है। उसमें जीव का निवास है जो जड़ के लक्षणों से रहित एवं अभौतिक है। कहने का अर्थ यह है कि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन नहीं निर्मित होता है। वहां जीव की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि केवल भौतिक पदार्थों से जीवन धारण हो तब तो मनुष्य के मरने पर उसके मृतक शरीर को ही कहीं गाड़ दिया जाय और उससे कोई देहधारी पैदा हो जाना चाहिए। या यों ही भौतिक पदार्थों को इकट्ठाकर जीवधारी का निर्माण कर लेना चाहिए। अतएव जीवन यों ही नहीं खड़ा हो जाता है। जीवन धारण करने की एक कारण-कार्य-व्यवस्था है, एक अनादि नियम है और वह है सजीव वीर्य का नारी क्षेत्र में पहुंचना। सद्गुरु कहते हैं कि मेरी इन बातों को वें लोग नहीं मानते जो केवल भौतिकवाद के चश्मे से जीवन को देखते हैं। परन्तु इस तथ्य को न मानने का फल होता है उनका विनाश। वे देह ही को सब कुछ मानकर अपनी आत्मा को, अपने अविनाशी चेतनस्वरूप को भूलते हैं। अपने आपा को भूलने वाला पतित ही होगा।

जीवन धारण का दूसरा बीज है कर्मवासना। मनुष्य सारे कर्म विषयासक्तिपूर्वक करता है। इन्हीं कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं। थोड़ा भी सकाम कर्म जीव के लिए पुनः देह धराने में कारण बनता है। इसलिए कोई भवबंधनों से छूटना चाहे तो वह सारे सकाम कर्मों का त्याग करे। यदि उसके मन में थोड़ा भी सकाम कर्म रहा, थोड़ी भी विषयासक्ति

रही, तो उसे भवाब्धि में भटकना पड़ेगा। उसके जन्म-मरण के चक्कर नहीं मिट सकते। परन्तु यदि कोई बहुत कर्म करे, किन्तु उसमें उसका अपना स्वार्थ-भाव न हो, केवल दूसरे के कल्याण का भाव हो, तो वह उसके जन्म-मरण का कारण नहीं बनेगा। सकाम कर्म थोड़ी मात्रा में हो, तो भी वह जीव को बांधता है और निष्काम कर्म अधिक मात्रा में हो तो भी वह नहीं बांध सकता। इस रहस्य को जो नहीं समझते वे या तो सकाम कर्मों में रात-दिन डूबे रहते हैं या सारे कर्मों को छोड़ कर रात-दिन निठल्ले बने बैठे रहते हैं और यह ढोंग करते हैं कि हम त्यागी हैं जबकि वे मन से प्रपंचों का ही स्मरण करते हुए जन्म-मरण के बीज ही बनाते हैं। ऐसे लोग अंततः विनष्ट होते हैं।

कर्म न करने से तो जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता। हमारे जीवन-निर्वाह में अन्य हजारों लोगों का सहयोग है, इसलिए हमें भी कुछ ऐसे कर्म करने चाहिए जो दूसरे लोगों के कल्याण में सहयोगी हों। कर्म से ही जीवन, समाज तथा संसार में रौनक है, नहीं तो संसार श्मशान बन जाय। इसलिए हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए कर्म करे। बस, कर्म करने में इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि वह सकाम न हो। यहां सकाम का अर्थ है विषयासक्ति। हमारे कर्म इंद्रिय और मन के मलिन भोगों के लिए नहीं होने चाहिए, किन्तु अनासक्तिपूर्वक शुद्ध देहनिर्वाह, आत्मकल्याण एवं लोककल्याण के लिए होने चाहिए। उदाहरणार्थ, भोजन, भूख-ज्वाला को शांत करने के लिए हो, जीभ-स्वाद के लिए नहीं। सारा सम्बन्ध, सम्बन्धों से मुक्त होने के लिए हो, बंधनों में बंधने के लिए नहीं। नाना व्यसन, राग-रंग, मैथुन, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सर्वथा त्याग हो। अनासक्त जीव ही स्वरूपस्थिति के राज्य में प्रविष्ट हो सकता है।

"डेरा परा काल का, साँझ सकारे जात" यह पंक्ति बड़ी हृदयस्पर्शी है। माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना शुरू होती है और मानो उसके साथ ही वहां काल का पड़ाव पड़ जाता है। जितने क्षण बीतते हैं जीवन क्षीण होता है। "साँझ सकारे जात"—"सुबह होती है शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है" सबेरा हुआ और शाम हुई, ऐसे देखते-देखते जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह जीव जन्म-मरण में पड़ा हुआ सदैव क्षणभंगुरता की धारा में बहता है। शरीर का निर्माण होना ही मानो काल का डेरा पड़ना है। शरीर काल-कवलित है और जीव कालातीत है। शरीर में आना काल के चक्कर में पड़कर बारम्बार पीड़ित होना है और स्वरूपस्थ होना काल से मुक्त होकर अमर स्थिति में पहुंचना है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह देहाभिमान को छोड़कर अमर आत्मस्वरूप की स्थिति में विराजमान हो। निजस्वरूप की स्थिति ही अमृत है, अविचल पद है और अनन्त जीवन है।

रहनी के पंचामृत

आपा तजै हरि भजै, नख सिख तजै विकार।
सब जीवन से निर्बैर रहै, साधु मता है सार ॥१३७॥

शब्दार्थ—आपा = अहंकार। साधु मता = सुविचारित पथ, उत्तम विचार, शील स्वभाव, त्याग भाव, मानवता।

भावार्थ—अहंकार को छोड़े, हरि का भजन करे, नख से शिखा तक के विकारों का परित्याग करे, सभी जीवों से निर्वैर रहे और उत्तम विचारों के पथ पर चले, यही जीवन में सार है।।१३७।।

व्याख्या—यह साखी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जीवन-कल्याण के लिए पांच उत्तम बातें बतायी गयी हैं, जिनके आचरण से जीवन महान हो जाता है। वे पांच बाते हैं— अहंकार का त्याग, हरिभजन, सर्व दोषों का त्याग, सबसे निर्वैरत्व तथा साधुमत। हम इन पर अलग-अलग विचार करें।

"आपा तजै"—आपा के तीन अर्थ हैं। आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप एवं अपना स्वत्व है, दूसरा अर्थ अहंकार है और तीसरा अर्थ सुध-बुध एवं होश है। जैसा कि ऊपर कहा गया कि आपा का मुख्य अर्थ अपना स्वरूप है। आपा कहते ही हैं अपने आप को, अपनी सत्ता एवं अपने स्वरूप को। परन्तु जब भूलवश जड़ देह को अपना आपा मान लिया जाता है कि मैं शरीर हूं, तब यह अशुद्ध ज्ञान हो जाता है। यहां पर जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया गया। इसलिए यह आपा अहंकार कहलाता है। इसी आपा एवं अहंकार को छोड़ने की बात बतायी गयी है। यद्यपि इस साखी में तीसरी बात है नख से शिखा तक के सारे विकारों को छोड़ना; जिसमें अहंकार एक विकार होने से वह आ ही जाता है। परन्तु अहंकार का सर्वाधिक महत्त्व होने से सद्गुरु ने इसे अलग से और पहलेपहल रखा है। अहंकार सारे बंधनों की जड़ है। देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों में मैं-मेरा मान लेने के बाद ही सारे बंधन बनते हैं और सारे दुखों की उत्पत्ति होती है, और मात्र एक अहंकार के छूट जाने पर सारे बंधन समाप्त हो जाते हैं।

जो अपना नहीं है उसे अपना मानना अनैतिकता है और यही बंधन बनाता है। किन्तु जो अपना हो उसे अपना मानना ठीक है। जैसे कोई मकान मेरा नहीं है, यदि मैं उसे अपना मानता हूं, उसमें घुसकर रहना चाहता हूं तो यह एक अनैतिक काम है। इससे मैं पकड़ा जाकर जेल जाऊंगा। क्योंकि मैं उस पर कब्जा करना चाहता हूं जो अपना नहीं है। परन्तु मैं जमीन खरीदकर अपना मकान बना लूं, तो वह मेरा अपना है। उसमें से मुझे न कोई निकाल सकता है, न जेल भेज सकता है और न कोई परेशान कर सकता है; क्योंकि वह तो मेरा अपना है। उसमें मैं सुखपूर्वक रह सकता हूं। यह तो उदाहरण हुआ। विचार करके देखा जाय तो मेरी अपनी आत्मा के अलावा यहां मेरा कुछ भी नहीं है। और-तो-और, यह अपनी मानी देह भी अपनी नहीं है। अतएव यदि हम देह को अपनी मानते हैं, इसमें अहंता-ममता करते हैं, तो हम तात्विकदृष्टि से अनैतिक व्यवहार करते हैं। क्योंकि जो अपनी नहीं है उस देह को अपनी मानने का अपराध करते हैं। अतएव इसके फल में मेरा जेल होगा ही, मुझे बंधन मिलेगा ही। सद्गुरु ने इस साखी में आपा तजने की बात कही है। इसलिए यहां के आपा का अर्थ न अपना स्वरूप है, न सुध-बुध है। क्योंकि इन्हें त्यागने की बात तो कही ही कैसे जायेगी! बल्कि इन्हें रखना ही जीवन है। अतएव इस साखी के आपा का अर्थ है अहंकार। सद्गुरु कहते हैं कि सारे अहंकारों का

परित्याग करे। देहादि के अहंकार में पड़कर ही सारा संसार जल रहा है। इसे त्यागकर ही शीतलता मिलेगी।

यहां 'हरिभजै'[1] का अर्थ विधिपरक है। मान लो हरि का अर्थ भगवान है। तो भगवान क्या हो सकता है! भगवान के दो भेद माने जाते हैं सगुण और निर्गुण। सगुण भगवान देहधारी होता है। वह देहधारी भगवान मनुष्य है। इसलिए हरि का एक अर्थ कोशकारों ने मनुष्य भी माना है। यदि मनुष्य हरि है तो उसकी सेवा करना हरिभजन है, क्योंकि भजन का मुख्य अर्थ सेवा है। वैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य पवित्रात्मा होते हैं जिन्हें हम सन्त कहते हैं। प्राणिमात्र एवं मानवमात्र की सेवा हरि सेवा है। उनमें सन्तों की सेवा हरि सेवा है ही। यही सगुण भगवान का भजन है। प्राणिजगत ही सगुण भगवान है और उसकी सेवा ही हरिभजन है। जो लोग जीव से अलग हरि की कल्पना करते हैं, वे भी जब कहते हैं कि हरि की सेवा करना चाहिए, तब यही कहते हैं कि जीव की सेवा ही हरिसेवा है। जब जीव से हरि अलग है, तब जीव की सेवा हरिसेवा कैसे है! परन्तु वे जीव से अलग हरि की कल्पना भले करते रहें, किन्तु जीव को हटाकर हरि कुछ हाथ में आ नहीं सकता। अतएव प्राणिसेवा, मनुष्यसेवा, जीवसेवा ही हरिसेवा एवं हरिभजन है।

दूसरा हरि का स्वरूप निर्गुण है जो मानसिक तथा भौतिक आयाम से परे शुद्ध चेतन है। वह मनुष्य का अपना आपा है, अपना चेतनस्वरूप है। उसका भजन है स्मरण। भजन का एक अर्थ स्वत्व तथा एक विभाजन भी है। अतएव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप का प्रकृति से विभाग करके, अलग करके उस स्वत्व में स्थित हो जाना ही निर्गुण हरि का भजन है। मन और भौतिक क्षेत्र से अलग शुद्ध चेतन ही निर्गुण है। वह शुद्ध चेतनस्वरूप ही तो मेरा अपना आपा एवं स्वत्व है। उसमें स्थित हो जाना ही हरिभजन है। इसलिए अन्ततः स्वरूपस्थिति ही हरिभजन है। अतएव यथाशक्ति प्राणियों की सेवा करना, संतपुरुषों की सेवा करना और अपने स्वरूप में स्थित होना, यही हरिभजन है। "कर से काम, मन से राम। कहहिं कबीर सरै दोउ काम।।" हाथ से परसेवा तथा मन से स्वरूपस्मरण एवं स्वरूपस्थिति, यही परिनिष्ठित हरिभजन है।

सगुण क्षेत्र में निर्जीव मूर्तियों, चित्रों एवं कब्रों की आरती उतारना, उनको भोग लगाना भले कोई सगुण हरिसेवा माने; परतु सजीव प्राणियों की सेवा ही असली हरि की सेवा है। इसी प्रकार निर्गुण क्षेत्र में अपनी आत्मा से अलग मन की कल्पनाओं एवं शून्य में भले कोई हरि को देखता फिरे, परन्तु स्वरूपस्थिति ही असली हरिभजन है। कबीर साहेब का हरि मन की कल्पनाओं का नहीं, किन्तु हृदयनिवासी आत्मस्वरूप चेतन है।

"नख सिख तजै विकार"—एड़ी से चोटी तक के सारे दोषों का सर्वथा परित्याग करे। संतजन सारे विकारों को तीन वर्गों में बांटते हैं वे हैं शरीर, वाणी और मन। शरीर के तीन दोष—चोरी, हत्या एवं व्यभिचार; वाणी के तीन दोष—गाली, निंदा और झूठ तथा मन के चार दोष—ईर्ष्या, क्रोध, मान और छल। इन सब का त्याग जीवन की विशेषता है। सद्गुरु-कहते हैं कि नख से शिखा तक के सारे विकारों को त्यागना ही

---

१. 'हरि' का ऐतिहासिक अध्ययन ३४वें शब्द की व्याख्या में देखें।

सच्चा भजन है। भजन की, भक्ति एवं ज्ञान की यह कसौटी है। यदि जीवन निर्दोष है तो यही जीवन की ऊंचाई है। विद्वान, बुद्धिमान, शास्त्रज्ञानी, पूज्य, प्रतिष्ठित व्यक्ति श्रेष्ठ एवं सुखी नहीं होता, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है। किसी भी वाद, किसी भी सिद्धांत, किसी भी सम्प्रदाय का अहंकार एकदम थोथा है, यदि उसने जीवन के दोषों का त्याग नहीं किया है। जीवन की निर्दोषता के समान न कोई भौतिक उपलब्धि है और न कोई सुख। निर्दोष जीवन ही स्वरूपस्थिति के साम्राज्य में प्रवेश करता है। श्रुति वचन है "यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" अर्थात आत्मसाक्षात्कार वही करता है जो धीरे-धीरे यत्नपूर्वक क्षीणदोष हो गया है। जिसने सारे दोषों को नष्ट कर दिया है, वही स्वरूपस्थिति का अधिकारी है।

"सब जीवन से निर्बैर रहै"—जीवन में 'सब' विशेषण लगाकर सद्गुरु ने सार्वभौमिक प्रेम, करुणा एवं दया करने की प्रेरणा दी है। किसी से भी वैर न करे। पर-मत वालों से वैर, पर-जाति एवं पर-वर्ण वालों से वैर, पर-घर, पर-परिवार, पर-समाज, पर-देश वालों से ही नहीं, किन्तु किसी जीव से भी वैर न रखे। सब जीवों से निर्वैरत्व की भावना रखे। इसी में सुख है, शांति है, विजय है और समृद्धि है। आदमी मान्यता का एक घेरा बना लेता है और उस संकीर्णता में अपने मन को बन्द कर लेता है। इसलिए वह किसी से ममता तथा किसी से वैर करने लगता है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी संकीर्णता छोड़ दो। जो व्यक्ति तुमसे वैर करता है उससे भी तुम वैर न करो। "निर्बैरी बरते जग माहीं। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं।।"

"साधुमता"—साधुमत का अर्थ है उत्तम विचार, शील स्वभाव एवं त्यागभाव। सद्गुरु कहते हैं कि सुविचारित पथ पर चलो। अपने मन, वाणी तथा इंद्रियों का ऐसा व्यवहार करो कि दूसरे को यथासम्भव कष्ट न हो, और त्याग-भाव से रहो। साधुमत का अर्थ यह भी है कि जैसे मानवमात्र की एक जाति है, वैसे उन्हें एक जाति का समझो। ऊंच-नीच, छुआछूत आदि का पाखण्ड दूर करो। निर्जीव पदार्थों एवं पुतलों को न पूजो, किसी व्यक्ति को जगतकर्ता मत समझो। अर्थात जातिवाद, वर्णवाद, छुआछूतवाद, मूर्तिपूजावाद, अवतारवाद, देवी-देवतावाद से रहित शुद्ध आत्मज्ञानी एवं सदाचारी बनो।

उक्त पांचों बातों के हो जाने पर सद्गुरु कहते हैं कि तब जीवन का मानो सार प्राप्त हुआ। स्वरूपस्थिति-रहनी के ये पंचामृत है। इन्हें अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करो।

निर्पक्ष होय के हरि भजे

पछापछी के कारने, सब जब रहा भुलान।
निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान।।१३८।।

शब्दार्थ—पछापछी = पक्ष-अपक्ष, लगाव तथा वितृष्णा, रुझान और उदासीनता, राग एवं द्वेष।

भावार्थ—मनुष्य किसी मत में तो पक्षपात एवं मोह करके उसकी सड़ी-गली बातों से भी चिपका रहता है और अन्य मतों से उदासीनता ही नहीं घृणा भी करने लगता है,

इसलिए उनकी सच्ची बातों पर भी ध्यान नहीं देता। इसी राग-द्वेष के कारण सारा संसार भटका हुआ है। सद्गुरु कहते हैं कि वही प्रबुद्ध संत है जो निष्पक्ष होकर हरि-भजन करता है।।१३८।।

व्याख्या—कबीरदेव की एक-एक बात इतनी धारदार एवं शतप्रतिशत तथ्यपूर्ण होती है कि मन मूक होकर उसे सोचता ही रह जाता है। सच तो है, केवल संसारी ही नहीं, धार्मिक लोग भी राग-द्वेष में भटके हुए हैं। मनुष्य मजहब, समाज, पंथ एवं सम्प्रदाय की एक सीमा बना लेता है और उस सीमा के भीतर जो कुछ होता है उसे परम सत्य मान लेता है। चाहे उसमें कुछ बड़ी ही भोड़ी एवं निरर्थक बातें हों, परन्तु वह उन्हें छाती-पेटे लगाये रखता है। किन्तु दूसरे मतों की अच्छी-से-अच्छी बातें भी नहीं स्वीकार पाता, क्योंकि वह उन मतों को तुच्छ समझता है। लोग बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि हमारे मत ईश्वर-प्रदत्त हैं। हमारी किताबें ईश्वर की वाणी हैं तथा हमारे इष्ट एवं पंथाचार्य ईश्वर के अवतार, ईश्वर के पुत्र या ईश्वर के संदेशवाहक हैं। परन्तु वे बहादुर लोग दूसरे अन्य मतों एवं ग्रन्थों को मानवकल्पित मानते हैं। वस्तुतः वेद, बाइबिल, कुरानादि संसार की सारी किताबें मानवों की रचनाएं हैं। सारे मत-मजहब मानव के निर्धारित हैं एवं राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद आदि सारे महापुरुष केवल मानव हैं। इसलिए किसी की किताबें तथा मजहब स्वतः प्रमाण नहीं। सब की बातों पर परख की कसौटी लगाकर ही उनमें सार तथा असार का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। महाभारतकार ठीक कहते हैं "नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" अर्थात केवल एक ऋषि नहीं है, जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। ऋषि बहुत हैं, इसलिए सबकी बातों पर विचार करके ही उनमें से मान्य-अमान्य किया जा सकता है। वेद-ऋचाओं के बहुत ऋषि हैं। उपनिषदों के अनेक ऋषि हैं। वैदिक छह शास्त्रों के ही कपिल, कणाद, जैमिनि, पतंजलि, गौतम, वादरायण छह ऋषि हैं और छहों के विचारों में केवल अन्तर ही नहीं, कहीं-कहीं विरोध भी है। फिर बुद्ध, महावीर, जरथ्रुस्त्र, कनफ्यूसियस, लाओत्जे, ईसा, मोहम्मद कितने नाम लिये जायं! इनमें से किसका सत्कार तथा किसका तिरस्कार किया जाय! इनमें से कौन अपना है, कौन पराया है! इसलिए निष्पक्ष व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह किसी की बातों को आंख मूंदकर न माने और किसी की बातों को बिना विचार किये तिरस्कृत न करे। किन्तु परखकर सार का ग्रहण एवं असार का त्याग करे।

मनुष्य दूसरे मतों की तर्कहीन बातों को बड़ी शीघ्रता से समझ लेता है कि यह तर्कहीन है; परन्तु अपने मत की तर्कहीन बातों में चिपका रहता है। या तो उसकी तर्कहीनता पर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, या जाती भी है तो वह उसे बाहर से स्वीकार नहीं कर पाता। एक उदाहरण लें। उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में गाजीमियां की कब्र है। लोगों को अंधविश्वास है कि उस कब्र के दर्शन तथा उसके धोये हुए जल के स्पर्श से अन्धे को आंख, वंध्या को संतान एवं कोढ़ी को नीरोग्यता मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं "बहराइच में जाकर तथा गाजीमियां के मजार एवं कब्र के दर्शन कर किस अन्धे ने आंखें पायीं, किस वंध्या ने पुत्र पाया तथा किस कोढ़ी ने

नीरोग्यता पायी?"[१] दूसरे के अंधविश्वास पर इतना वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले गोस्वामीजी अयोध्या की महिमा में लिखते हैं "मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमादि चारों खानियों के अपार जीवों में से जितने जीव अयोध्या में शरीर छोड़ते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।"[२] अतः दूसरे मतों में निहित अंधविश्वास को समझना सरल है, किन्तु अपने मत में निहित अंधविश्वास को समझना बड़ा कठिन है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है, केवल पक्षपात कारण है। कितने कबीरपंथी महापुरुष हैं जो एक सांस में राम, कृष्ण, व्यास, वशिष्ठ, हनुमान, ईसा, मुहम्मद सब को गिना देते हैं कि सब मर गये। परन्तु वे ही, जब कबीर पर बात आती है तब भावुक हो जाते हैं और कहते हैं कि कबीर साहेब का शरीर पांचभौतिक नहीं था। वे तो जब चाहें संसार में आते-जाते रह सकते हैं। न वे कभी माता-पिता से पैदा हुए और न मरण को प्राप्त हुए। वे तो पक्की देह के हैं। ये सारी बातें बेवजह का बखेड़ा है। इसमें न किसी की बड़ाई है न छोटाई। ये सब मनुष्य हैं। सब ने माता-पिता से देहधारण किया है और सब की देहें एक दिन छूट गयीं हैं। उन महापुरुषों की विशेषता उनके ज्ञान एवं आचरण से है। मोक्ष किसी नदी, तालाब एवं नगर में मरने से नहीं, किन्तु स्वरूपज्ञान एवं वासना-त्याग से है। बाकी सारी महिमाएं मनुष्यों को पथभ्रष्ट करने वाली हैं।

"निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई सन्त सुजान" सद्गुरु कहते हैं कि वही ज्ञानी सन्त है जो सारे पक्षपातों को छोड़कर हरिभजन करता है। हरिभजन क्या है। इसका समाधान पिछली १३७वीं साखी में किया जा चुका है। राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, हनुमान, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कबीर, नानक, बुद्ध, महावीर, दयानन्द, विवेकानन्द आदि किसी के पक्ष में सटना या इन सब में किसी को भजना-जपना हरिभजन नहीं है। किन्तु निष्पक्ष हरिभजन है प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सेवाभाव एवं यथासाध्य सेवाक्रिया, सन्तसेवा एवं स्वरूपस्थिति। निष्पक्ष हरिभजन है "कर से काम, मन से राम।" प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही "निर्पक्ष होय के हरि भजै" का अभिप्राय है। इसमें किसी के मजहबी क्रियाकलापों, देवी-देवताओं, कल्पित भगवानों का सत्कार-तिरस्कार नहीं है। किन्तु सबका सार, निष्पक्ष, तथ्यपूर्ण स्थिति है।

---

१. लही आंख कब आंधरे, बांझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ॥ दोहावली॥

अयोध्या के पश्चिमोत्तर कोण पर स्थित बहराइच शहर है जो उस क्षेत्र का जिला-कार्यालय है। इस शहर में सैयद सालारगंज मसऊद गाजी (गाजीमियां) की दरगाह है। हर साल जेठ महीने में यहां बहुत विशाल मेला लगता है। यहां कोढ़ी, अंधे, वंध्या आदि अपनी नाना इच्छाओं की पूर्ति के लिए आते हैं और चढ़ावा-बजावा करते हैं। सैयद सालारगंज मसऊद गाजी महमूद गजनवी का भांजा था। वह गाजी (वीर) बनने के लिए अवध की ओर बढ़ आया था। श्रावस्ती के राजा सुहृददेव के हाथों वह मारा गया था। इसी की कब्र बहराइच में बनी है जिसे लोग पूजते हैं।

२. चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजै तन नहिं संसारा॥ मानस॥

चमार और ब्राह्मण कौन?

बड़े गये बड़ापने, रोम-रोम हंकार।
सतगुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार॥१३९॥

शब्दार्थ—चारों बरन = चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

भावार्थ—कितने बड़े कहलाने वाले अपने मिथ्या बड़प्पन के मद में नीचे गिर गये, क्योंकि उनके रोयें-रोयें में अहंकार भरा था। सद्गुरु के द्वारा स्वरूपज्ञान पाये बिना दैहिक बुद्धि रखने वाले चारों वर्ण के लोग चमार हैं, क्योंकि उनकी समझ चाम की देह तक है॥१३९॥

व्याख्या—मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है भौतिक पदार्थों का अहंकार करना। धन, विद्या, पद, काल्पनिक जाति, शरीर, जवानी, सौंदर्य आदि भौतिक पदार्थों में मनुष्य अपना इतना तादात्म्य कर लेता है कि इन क्षणिक वस्तुओं को लेकर इतराता रहता है। सारे अहंकारों की जड़ शरीर है और उसके गलते तथा विनशते देर नहीं लगती। फिर आदमी किस चीज का मद करता है! शरीर विनशते ही सारे प्राणी-पदार्थों से जीव का संबंध कट जाता है। फिर उसका क्या रह जाता है! कुछ ईंट, पत्थर, धातु एवं कागज के टुकड़ों को बटोरकर आदमी अपने आप को धनी मान लेता है। पेट की ज्वाला शांत करने के लिए थोड़ा अन्न, तन ढकने के लिए दो टुकड़े कपड़े तथा सिर ढकने के लिए थोड़ी छत, यही तो जीवन-निर्वाह के लिए चाहिए। इससे अधिक धन का क्या घमण्ड है! मूढ़ मानव कुछ लोहा-लक्कड़ एवं कूड़ा-कबाड़ बटोर कर अपने आप के लिए धनी होने का घमण्ड कर लेता है। किसी ने ठीक कहा है—

नशा दौलत का जिस पर आन चढ़ा।
सर के शैतान पर एक और भी शैतान चढ़ा॥

विद्या का क्या घमण्ड! कुछ काल्पनिक रूढ़ियों की भाषा तथा सांकेतिक चिह्नों को लिपि कहते हैं। इन्हीं को रट-रटाकर विद्वान होने का घमण्ड होता है। सारी तथाकथित विद्याएं वस्तुओं को जानने तथा जनाने के लिए हैं। अनपढ़ उन्हें अपनी भाषा में जानते-जनाते रहते हैं। पशु-पक्षी आदि बिना भाषा का प्रयोग किये अपना शरीर-निर्वाह करते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्या नहीं पढ़ना चाहिए। अर्थ है कि सारी विद्याओं का फल है अपना और समाज का उनके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण करना, न कि उनका घमण्ड करना। घमण्ड करने से तो विद्या अविद्या बन जाती है।

सुन्दरता बहुत जल्दी मिट जाती है। जवानी जाते देर नहीं लगती। पद और अधिकार केवल दो दिन की चांदनी है। पूज्यता-प्रतिष्ठा क्षणिक हैं। इन स्वप्नवत पदार्थों का अहंकार करना भोलापन है, बचपना है। वर्णों एवं संप्रदायों का घोर अहंकार होता है। कितने स्वामी लोग दूसरे त्यागी-से-त्यागी का भी नमस्कार कर ही नहीं सकते। उन्हें कोई नमस्कार करे और वे उसकी ओर ताक दें तो बड़ी बात है। परन्तु उनको पता नहीं है कि उनको तुच्छ समझने वाले दूसरे संप्रदायाभिमानी उनसे बढ़-चढ़कर हैं। यहां तो सब तथाकथित

ईश्वर एवं सत्य के इकलौते पुत्र एवं ठेकेदार हैं। अमुक संप्रदाय का नाम लेना बेकार है, घमण्ड राजा, जिसके अन्दर केवल भूसी एवं भंगार है, सबके ऊपर खड़ा गरजता है।

वर्णव्यवस्था की लाश सड़ गयी है और उसमें से केवल बदबू निकल रही है, परन्तु उसको लेकर अहंकार में कमी नहीं है। तथाकथित ब्राह्मण ही अहंकारी हों ऐसी बात नहीं है। दूसरे वर्ण एवं जाति के कहलाने वाले लोग भी अहंकार के बुखार से पीड़ित हैं। आज भी एक आदमी दूसरे आदमी को जन्मजात अछूत मानने का पाप करता है। जबकि दोनों हाड़-मांस के ढांचे हैं। दोनों के पेट में टट्टी-पेशाब भरी है। जब तक अविनाशी स्वरूप-राम का बोध नहीं है, जब तक यह माना जाता है कि मैं देह हूं, तब तक चारों वर्ण के लोग चमार हैं। कबीर देव तीखे वचन कहते हैं "सद्‌गुरु के परचै बिना, चारों बरन चमार।" सारे अहंकारों का मूल देह है, अतः जब तक आदमी जाति, वर्ण आदि का अहंकार करता है, तब तक वह केवल चमार है। जीव एवं आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, इसाई, जैन, बौद्धादि नहीं है। वह शुद्ध चेतन है। वर्ण, जाति आदि के सारे भेद देह में ही कल्पित किये जाते हैं, इसलिए वर्णादि का अहंकार करने वाले चाम की देह की बुद्धि रखने वाले हैं, इसलिए वे चमार हैं। कबीर साहेब ने एक वर्ण को चमार नहीं कहा। उन्होंने सारे देहाभिमानियों को चमार कहा।

एक मनोरंजक कहानी है। मिथिला में राजा जनक की सभा लगी थी। सभा में ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मजन विद्यमान थे। वहां एकाएक अष्टावक्र मुनि आ गये। उनके आठों अंग टेढ़े थे। वहां सभी ज्ञानी राजा जनक को ब्रह्मज्ञान देने आये थे। अष्टावक्र भी जनक को ज्ञान देने ही गये थे। अष्टावक्र को देखकर पूरी सभा हंस पड़ी। अष्टावक्र ने भी सभा को देखकर हंस दिया। सभा के ज्ञानियों ने अष्टावक्र से पूछा "आपने क्यों हंसा?" अष्टावक्र ने उलटकर ज्ञानियों से पूछ लिया कि आप लोग क्यों हंसे? ज्ञानियों ने कहा—"हम लोग यह सोचकर हंसे कि अष्टावक्र आठों अंगों के टेढ़े हैं और ये राजा जनक को ज्ञान देने आये हैं।" अष्टावक्र ने कहा "मैं यह सोचकर हंसा कि ये चमारों की मण्डली राजा जनक को ज्ञान देने के लिए बैठी है।" सभा के लोग अष्टावक्र पर क्रुद्ध हो गये कि आपने हमें चमार क्यों कहा! अष्टावक्र ने कहा कि जो चाम की बुद्धि रखता हो वह चमार नहीं तो क्या है! आप लोग मेरे चाम की देह ही को तो देखकर हंस दिये हैं कि यह टेढ़ी-मेढ़ी है। गन्ना टेढ़ा होकर भी उसके अन्दर का रस टेढ़ा नहीं होता। नदी टेढ़ी होने पर भी उसका पानी टेढ़ा नहीं होता। महत्त्व देह का नहीं, ज्ञान का है। अष्टावक्र के सटीक उत्तर पाकर ब्रह्मसमाज लज्जित हो गया।

अतएव एक मानव जाति में यदि भेद किया जाय तो केवल दो जातियां बनती हैं एक चमार तथा दूसरा ब्राह्मण। जो अपने आप को देह मानता है वह चमार है और जो अपने आपको चेतन आत्मा मानता है वह ब्राह्मण है।

बिना अहंकार का त्याग किये मोटी माया का त्याग निरर्थक है

माया तजे क्या भया, जो मान तजा नहिं जाय।
जेहि माने मुनिवर ठगे, सो मान सबन को खाय॥१४०॥

शब्दार्थ—माया = मोटी चीजें, घर-परिवार। मान = अपने में बड़प्पन का घमण्ड एवं पूज्य होने का भाव। माने = मान्यता, अहंता-ममता।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र, घर, धन त्याग कर कोई साधुवेष धर लिया तो क्या विशेषता हो गयी, यदि उसने अपने माने हुए बड़प्पन का घमण्ड नहीं छोड़ा। जिस बड़प्पन के अहंकार ने बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों को पथभ्रष्ट कर दिया, वही अहंकार आज भी सबको भ्रष्ट कर रहा है ॥१४०॥

व्याख्या—पिछली साखी में सद्गुरु ने ज्यादातर वर्ण-जाति के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में विरक्त नामधारियों के अहंकार पर चोट है। साधु का वेष ही मृतक का चिह्न है जिसमें पूरी विनम्रता है। जो संसार से मर गया, उसे क्या अहंकार हो सकता है! संसार में जीव देह को छोड़कर चला जाता है तब उसे मरना कहा जाता है, और साधु दशा में मन के सारे अहंकार जब समाप्त हो जाते हैं तब उसे साधुत्व कहा जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि कितने लोग साधु का वेष धारण करने पर अहंकार की महामूर्ति हो जाते हैं। धन का नशा, विद्या का नशा, पद का नशा तो होता ही है, त्याग का भी नशा आ जाता है। सारे नशा जीव को पतित करने वाले हैं। आप पुराण तथा महाकाव्य पढ़िये तो पता चलेगा कि ऋषि-मुनि कैसे थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर एक दूसरे को शाप देते, मारा-मारी करते, एक दूसरे के आश्रम जलाते थे। वसिष्ठ विश्वामित्र का तथा विश्वामित्र वसिष्ठ का विध्वंस करते। जितना त्याग और तप उससे कहीं ज्यादा क्रोध और अहंकार! बाहरी त्याग तब तक निरर्थक है जब तक मन पूर्ण अहंकार का त्यागी नहीं होता।

अहंकारी आदमी भ्रांति में जीता है। कोई अपने मत को पुराना तथा युक्तियुक्त बताता है तो कोई अपने मत को। कोई अपने मत को ईश्वर की नाक की सिधाई में बताता है तो कोई अपने मत को अल्लामियां की आवाज। वे अलग-अलग समझते हैं कि केवल वे ही सत्य को समझ सके हैं। आज तक लोगों ने केवल ईश्वर के विषय में कल्पनाएं की हैं, ईश्वर ने किसी को अपना कोई संदेश नहीं दिया है। परन्तु ऐसा भी मिथ्याभिमान किया गया है कि हमने ईश्वर से मुलाकात की है। उसने हमें ही संसार को तारने की ठेकेदारी दी है। संसार में हजारों मत हैं। उनमें अधिकतम ऐसे हैं जो अपने आप को आस्तिक तथा दूसरे को नास्तिक माने बैठे हैं। ये सारे अहंकार मिथ्या हैं। सभी मनुष्य मूलतः समान हैं। जो जितना ही प्रेम, समता, एकता, निर्मानता, सर्वभूतहित की भावना रखता है वह उतना ही वास्तविकता को समझता है।

माया से वैराग्य

माया के झक जग जरे, कनक कामिनी लाग।
कहहिं कबीर कस बाँचिहो, रुई लपेटी आग ॥१४१॥

शब्दार्थ—झक = सनक, खब्त, धुन, पागलपन, ताप, आंच, आग की लपट। कनक = धन, अर्थ। कामिनी = काम-मद वाली स्त्री, कामवासना। लाग = आसक्ति।

भावार्थ—संसार के लोग अर्थ और काम-भोग में आसक्त होकर माया रूपी आग की लपट में जलते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम उसी प्रकार माया में आसक्त होकर जलने से बच नहीं सकते, जैसे आग में लिपटी हुई रुई नहीं बच सकती ॥१४१॥

व्याख्या—सद्गुरु ने १३९वीं साखी में वर्णाभिमान पर एवं १४०वीं साखी में त्यागियों के अहंकार पर चोट की थी। इस साखी में वे मोटी माया की आसक्ति पर चोट करते हैं। मोटी माया को व्यंजित करने के लिए हिन्दी-जगत में कनक-कामिनी शब्द मानो एक मुहावरा बन गया है। वैसे बृहत् हिन्दी कोश में कनक के अर्थ गेहूं का आटा, सोना, धतूरा, पलाश, कालीय वृक्ष, नाग केशर और चम्पा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कनक का स्थूल अर्थ सोना है। इसी प्रकार कामिनी के अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री, कामनायुक्त स्त्री, सुन्दरी स्त्री, भीरु स्त्री, मदिरा, दारुहल्दी तथा बांदा किये गये हैं। परन्तु इस संदर्भ में कामिनी का अर्थ कामवेग का अनुभव करने वाली स्त्री है। कनक का यहां शाब्दिक अर्थ केवल सोना माना जाय तो विचारकर देखिए कि आज कितने लोग हैं जो सोना में आसक्त हैं! ज्यादातर लोग कागज के रुपये, मकान, जमीन, कपड़े, बरतन, गहने आदि में आसक्त हैं। इसलिए यहां सोना का शाब्दिक अर्थ नहीं, किन्तु लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करना चाहिए, वह है जड़ पदार्थ, जिसे धन के रूप में माना गया है। कामिनी का यहां शाब्दिक अर्थ है स्त्री। परन्तु, आखिर स्त्री भी तो जीव ही है। उसके लिए भी तो माया ही बन्धन है। यदि पुरुष के लिए स्त्री की आसक्ति बन्धन है, तो स्त्री के लिए पुरुष की आसक्ति बंधन है। अतएव यदि पुरुष के लिए स्त्री माया है, तो स्त्री के लिए पुरुष माया है। पुरुष वैराग्य-पथ का पथिक अधिक हुआ। पुरुष के मन में स्त्री-देह की आसक्ति है। इसलिए जब उसके मन में स्त्री-देह के लिए आकर्षण आया, तब उसने अपने मन को उससे विरत करने के लिए स्त्री-देह में दोषदर्शन किया, उसे माया तथा आग कहा। विरक्त पुरुष ही ज्यादातर लेखक हुए। इसलिए उन्होंने कनक के साथ कामिनी शब्द का प्रयोग करके धन और स्त्री से विरक्त होने के लिए कविताएं लिखीं। यहां स्त्री को गलत मानने का अभिप्राय नहीं है; किन्तु कामासक्ति से मुक्त होने का अभिप्राय है। इसलिए कबीर साहेब ने कनक-कामिनी के नाम जहां लिये, वहां उन्होंने उसे माया कहा। परन्तु जब उन्होंने नर-नारी की समानता की बात कही तब उन्होंने कहा "को पुरुषा को नारी"[1] तथा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा।"[2]

इस विचार-मंथन से यहां कनक-कामिनी का लक्षणार्थ है अर्थ और कामभोग। संसार के स्त्री और पुरुष अर्थ और कामभोग में डूबकर माया की आग में जल रहे हैं। प्राणी-पदार्थ माया हैं, यह कथन सापेक्ष है। वस्तुतः जब हमें प्राणी और पदार्थों में मोह हो जाता है तब वे हमारे लिए माया बन जाते हैं। इसलिए हमारे मन का मोह ही माया है। यदि हमें कहीं मोह न हो, तो हमारे लिए कहीं माया नहीं है। आदमी इन्द्रियों के भोग में आसक्त होता है। आसक्तिवश उसे अधिक धन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस

---

१. शब्द ४८, ७५।

२. शब्द ९७।

[प्र]कार विषयासक्त आदमी कामभोग और धन में आसक्त होकर रात-दिन उसकी आग में [ज]लता है। इच्छा, तृष्णा, अपूर्ति, खिन्नता, अभाव, असंतोष, क्षीणता, वियोग आदि ही तो [म]ाया की आग है। जो धन और भोगों में आसक्त होगा वह इन सब की आग में जलेगा [ह]ी। सद्गुरु ने इसके लिए अत्यन्त सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दिया है "रुई लपेटी [आ]ग"। रुई आग में लिपट जाय, तो उसका जलना निश्चित है। इसी प्रकार जो धन और काम-भोग में लिपटा है उसका माया की आग में जलना निश्चित है। 'झक' का अर्थ [स]नक भी है। इससे अर्थ होगा कि माया के पागलपन में पड़कर आदमी जलता है।

विवेकवान कामभोग का एकदम त्याग कर देता है और धन से अनासक्तिपूर्वक [क]ेवल शरीर-निर्वाह लेता है। वह सभी नर-नारियों को सजाति जीव जानकर सबसे [व]िवेकपूर्वक बरताव करता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को त्याग कर जीते जी [म]ुक्त होकर कालक्षेप करता है।

माया जग साँपिनि भई, विष ले पैठि पताल।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काछ॥१४२॥

शब्दार्थ—माया = विषयासक्ति। पताल = हृदय, मन। काछ = त्याग, बचाकर अलग हो जाना।

भावार्थ—संसार में माया भयंकर सर्पिणी हो गयी है जो विषयासक्ति रूपी विष को लेकर मनुष्य के हृदय में पैठ गयी है। संसार के सारे लोग इस बन्धन में बंध गये हैं, परन्तु कबीर इससे अपने आप को बचाकर अलग हो गये॥१४२॥

व्याख्या—कबीर तीव्र विरक्त पुरुष थे। उनको गृहस्थ बताने वाले गहरी भूल में हैं। कबीर की वाणी-वाणी में वैराग्य की तीव्रता है। वे कहते हैं कि संसार के सांप सांप नहीं हैं। उसके काटने से तो केवल शरीर मर सकता है। परन्तु यह माया भयंकर सर्पिणी है। माया है कामभोग, माया है प्राणी-पदार्थों का लोभ-मोह। इस माया सर्पिणी के डसने से जीव अपने कल्याण से दूर हो जाता है। माया आसक्ति का जहर लेकर मनुष्य के हृदय में घुस जाती है। "विष ले पैठि पताल" बड़ा मार्मिक वचन है। किस तरह विषयों का अध्यास मनुष्य के हृदय की गहराई में धंस जाता है, इसे विवेकवान ही समझता है। विषयासक्त मन पूरी जागृति अवस्था में विषयों का चिन्तन करता है, स्वप्न में उसी का विलास करता है तथा सुषुप्ति में उसी के बीज उसमें लीन रहते हैं। विषयसुख जो वस्तुतः सर्प है, विष है, फांसी है और इन सबसे भी भयंकर है, अज्ञानवश जीव ने उसे ही अमृत मान रखा है। इसलिए वह मलिनता से अपने आप को छुड़ा नहीं पाता। तीव्र घृणादृष्टि हुए बिना विषयों के अध्यास नहीं छूट सकते। यह मानसिक नियम है कि जिससे तीव्र घृणा होती है हृदय से उसी का अभाव होता है। विषय-वासना ही माया है। इसका पूर्ण त्याग हुए बिना स्वरूपस्थिति नहीं मिल सकती और विषय-वासनाओं का पूर्ण त्याग तभी होगा जब उनसे घृणा हो, उनमें दोष-दर्शन हो।

सारा संसार विषय-वासना में डूबा है। विरले सुज्ञ जीव इससे मुक्त होने का प्रयास करते हैं। नीम के कीड़े नीम में आनन्द मानते हैं, गोबर के कीड़े गोबर तथा मल में ही

"माहुरहू झारा जाय" का अर्थ यही है कि किसी ने विष खा लिया है तो उसे दवाई खिलाकर, उसे टट्टी एवं उल्टी कराकर उसके शरीर से जहर निकाल दिया जा सकता है। परंतु "विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय" भयंकर स्त्री के चंगुल में फंसे हुए पुरुष का वह कलेजा निकालकर खा जाती है। यहां पहला अभिप्राय है कबीर साहेब का वैरागीपन। वे अखण्ड वैराग्यवान पुरुष थे। जहां काम-भोग का प्रसंग आता है वे स्त्री-देह की तीव्र आलोचना करते हैं। इसमें स्त्रियों के प्रति द्वेष एवं घृणा का अर्थ लगाना वैरागीपन की मानसिकता को न समझना है। स्त्री-देह की प्रशंसा करने वाले ही स्त्रियों को नरक में ढकेलने वाले होते हैं। वे स्त्रियों को भोग की मशीन मानकर उनके साथ अत्याचार करते हैं! परन्तु स्त्री-देह से घृणा करने वाले वैराग्यवान संत स्त्री को मां-स्वरूपा मानते हैं। वे उनको कभी संताप नहीं देते। संत कभी स्त्री जाति के पतन में कारण नहीं होते, बल्कि उनकी उन्नति के कारण होते हैं। इसलिए कबीर साहेब जैसे तीव्र वैरागी संत ने अपने ग्रन्थ-रत्न बीजक में नर-नारी की समानता को मुक्त कंठ से सराहा है। उन्होंने कहा है "को पुरुषा को नारी" अथवा "जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा"[१] आदि।

स्त्री-देह की निंदा वैरागी-पुरुषों की अपनी मानसिक कमजोरी है। कितने वैरागी संत पूर्ण अनासक्त हैं; परन्तु वे दूसरे वैरागी पुरुषों को सजग रहने के लिए स्त्री-देह में घृणा उत्पन्न कराने के लिए ऐसे शब्द कहते हैं। परन्तु यही सब बातें कल्याणार्थी नारियों को पुरुषों के प्रति भी चाहिए। वस्तुतः न नारी के लिए नर दोषी है और न नर के लिए नारी दोषी है। दोष है अपने-अपने मन की आसक्ति का। उसे विवेकपूर्वक ध्वंस करना चाहिए। फिर इस साखी में "बिकट नारि" कहने से कर्कसा नारी का भी अभिप्राय हो सकता है। जिसको कर्कसा स्त्री पत्नी के रूप में मिल जाती है उसका जीवन पीड़ित हो जाता है। एक कवि ने कर्कसा स्त्री का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

सासु के देखे सिंहनी सी जमुहाई लेत,
ससुर के देखे डाकिनी सी डरपावती।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठि,
देवर के देखे बाघिनी सी मुख बावती।
भनत प्रधान मूंछें जारति परोसिन की,
खसम के देखे खाँव-खाँव करि धावती।
कर्कसा कसाइन कुबुद्धिनि कुलक्षिनि ये,
कर्म के फूटे घर ऐसी नारि आवती।

परन्तु उक्त कुलक्षणों से संयुक्त पुरुष भी होते हैं, जो अपनी पत्नी के लिए दुर्भाग्यस्वरूप होते हैं। अच्छे संस्कारों से संयुक्त नर तथा नारी भी होते हैं जो एक दूसरे के लिए सहयोगी एवं मित्र होते हैं। इतना तो तय है कि जो स्त्री या पुरुष मुमुक्षु हैं,

---

१. शब्द ४८, ७५, ९७।

उनके लिए पति या पत्नी की अनुकूलता फांसी एवं विष के तुल्य है। क्योंकि वे एक दूसरे की अनुकूलता के चक्कर में फंसकर विषय-वासना की फांसी से नहीं उतर सकते। इसलिए वैराग्यवान नर तथा नारी को विरोधी आलंबन से सदैव दूर रहना चाहिए।

तीनों गुणों पर विजयी बनो

तामस केरे तीन गुण, भँवर लेइ तहाँ बास।
एकै डारी तीन फल, भाँटा ऊख कपास॥१४४॥

शब्दार्थ—तामस = अंधकार, जड़, तमः प्रधान माया। तीनगुण = सत, रज तथा तम। भँवर = मन, अर्थात मनवशी जीव। वास = गंध, वासना, निवास, आसक्ति। एकै डारी = माया, जड़ प्रकृति। भाँटा = तमोगुण। ऊख = सतोगुण। कपास = रजोगुण।

भावार्थ—तम:प्रधान माया के सत, रज तथा तम तीन गुण हैं। इन्हीं में वासनावशी जीव आसक्त हैं। एक ही डाली में भांटा, ऊख और कपास फले हों तो यह अद्‌भुत घटना होगी। माया एवं प्रकृति में यही घटना घटी है। यहां सत, रज और तम एक ही प्रकृति में विद्यमान हैं॥१४४॥

व्याख्या—तामस कहते हैं अंधकार को, सर्प को एवं माया को। "माया जग साँपिनि भई" यह १४२वीं साखी में देख आये हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि सत, रज तथा तम—तीनों गुण माया के पेट में हैं। अथवा एक माया की डाली में ये तीनों गुणरूपी फल फले हैं जो परस्पर विरोधी हैं। आप किसी एक डाली में भांटा, ऊख और कपास को फले हुए देखें, तो आश्चर्य अवश्य होगा। माया एवं प्रकृति की डाली में यही बात है। इसमें परस्पर विरोधी तीनों गुण एक साथ रहकर जगत का कार्य संपादित करते हैं। आप जानते हैं कि तेल, बत्ती और आग परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, परन्तु ये इकट्ठे होकर प्रकाश बन जाते हैं और लोगों को प्रकाश देते हैं। इसी प्रकार सत, रज एवं तम गुण विरोधी होकर भी जगत के कार्यों का संपादन करते हैं।

सद्‌गुरु कहते हैं कि जीव का मन-भंवरा इसी त्रिगुणात्मक जगत के पदार्थों में गंध लेता रहता है। यह इन्हीं मलिन विषयों में निरन्तर रमता रहता है, और इसके फल में सुख-दुख भोगता रहता है। यह ठीक है कि सत, रज एवं तम गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु हैं सब क्षणिक। गीताकार कहते हैं "सतोगुण उच्च गति को, रजोगुण मध्य गति को तथा तमोगुण निम्न गति को ले जाते हैं।"[1] इसलिए गीताकार तीनों गुणों के कार्यों से अलग होने की राय देते हैं "हे अर्जुन! सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार की ही व्याख्या करने वाले हैं। इसलिए तुम वेदों के उपदेशरूप तीनों गुणों के आयाम से अलग

---

१. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ गीता १४/१८॥

हो जाओ। तुम द्वन्द्वरहित, नित्य सत्य में स्थित और भौतिक पदार्थों के संग्रह तथा उनकी रक्षा से विरत होकर अपने आत्मा में लीन हो जाओ।"[१] श्री रामरहस साहेब कहते हैं "पारख सबकी थीर पद, ठहरि रहे सत्संग। मन माया कृत गुणन को, देखे मिथ्या भंग।।"[२]

प्रश्न होता है कि ज्ञानी-से-ज्ञानी पुरुष भी जब तक शरीर में है तब तक उसे तीनों गुणों के कार्यों में बरताव करना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके शरीर और मन तीनों गुणों के कार्य हैं। केवल समाधि-काल ही गुणातीत-अवस्था है जो थोड़े समय के लिए ही होती है। वस्तुतः विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका बरताव करते हैं। दुरुपयोग करने से अच्छी वस्तु भी बुरा परिणाम देती है और सदुपयोग करने से बुरी वस्तु भी अच्छा परिणाम देती है। अन्न अमृत है, परन्तु उसका दुरुपयोग किया जाय, उसे ज्यादा खा लिया जाय या उसे गलत पकाकर खाया जाय तो वह जहर बन जायेगा और स्वास्थ्य के लिए अहितकर होगा; परन्तु कालकूट भयंकर विष है, उसे शोधकर औषध बना लिये जाने पर वह अमृत का काम देता है।

सतोगुण के कार्य ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता हैं। विवेकवान पुरुष इनका स्वरूपज्ञान, चित्त की स्वच्छता एवं समाधि के लिए प्रयोग करता है। रजोगुण के कार्य इच्छा एवं क्रियाशीलता हैं। विवेकवान इसका अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह तथा दूसरों की सेवा के कार्यों में उपयोग करता है। तमोगुण के कार्य आलस्य, निद्रा तथा निष्क्रियता हैं। विवेकवान इनका उपयोग अनासक्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए निद्रादि में लेकर समाधिरूपी निष्क्रिय होने में लेता है।

इस प्रकार विवेकवान तीनों गुणों को शोधकर उनका अनासक्तिपूर्वक अपने तथा दूसरे के आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण में उपयोग करता है। इसलिए उसके लिए तीनों गुण बन्धन न बनकर कल्याण में सहायक हो जाते हैं।

मन-हाथी पर विवेक-अंकुश चाहिए

मन मतंग गइयर हने, मनसा भई सचान।
जन्त्र-मन्त्र माने नहीं, लागी उड़ि-उड़ि खान।।१४५।।

शब्दार्थ—मतंग = हाथी। गइयर = हाथीवान, महावत। हने = मारता है। मनसा = मन से उत्पन्न, इच्छाएं। सचान = बाज पक्षी। जन्त्र = यंत्र, अंक या अक्षरों से युक्त विशेष आकार का कोष्ठ जिनमें देवताओं का वास मानते हैं, यामल नाम के ग्रन्थ में तन्त्र का वर्णन है। मन्त्र = कुछ वह शब्दसमूह जिसमें किसी देवता की सिद्धि या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति होना मानते हैं।

---

१. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। गीता २/४५ ।।

२. पंचग्रन्थी, गुरुबोध २१७।

भावार्थ—मन उन्मत्त-हाथी के समान है, यह जीवरूपी महावत को मारता रहता है और इच्छाएं बाज-पक्षी के समान हैं, वे उड़-उड़कर मनुष्य को खाती रहती हैं। इन पर यन्त्र-मन्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता॥१४५॥

व्याख्या—जीव अविनाशी चेतन है और मन एक आभ्यासिक वृत्ति मात्र है; किन्तु जीव अपने स्वरूप को भूलकर दीन बन गया है और उसकी बनायी वृत्ति ही उसके ऊपर सवार हो गयी है। महावत हाथी पर सवार होकर गजबाक एवं अंकुश से हाथी को अपने वश में रखता है। परन्तु यदि हाथी उन्मत्त हो जाय तो वह महावत को गिराकर मार देता है। हाथी एक प्राणवान स्वतंत्र देहधारी है, इसलिए वह महावत को मार सकता है। परन्तु मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जो जीव को बलात मार दे। मन तो इसलिए जीव को परेशान करता है क्योंकि जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में ही लीन रहता है। यदि जीव अपने स्वरूप को पहचान ले और अपने आप में स्थिर हो जाय तो मन उसका गुलाम हो जायेगा। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जो इच्छाओं को छोड़ देता है मन उसके अधीन हो जाता है। परन्तु ऐसा न होने से जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता और विषयों में डूबा रहता है। इसलिए उसे मन उद्वेगित करता रहता है और उसकी विषय-इच्छाएं बाजपक्षी की तरह उस पर झपट्टा मारती रहती हैं।

सद्गुरु ने मन और उसकी इच्छाओं के लिए क्रमशः उन्मत्त हाथी और बाजपक्षी के सुन्दर एवं सटीक उदाहरण दिये हैं। मन और इच्छाएं यद्यपि हाथी और बाजपक्षी के समान कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व नहीं रखते; वे केवल जीव के आभास मात्र हैं, तथापि जीव के अपने अज्ञानवश मानो वे स्वतन्त्र बलशाली होकर जीव को गिराने में समर्थ हो गये हैं। बीड़ी और तम्बाकू की आदत कौन-सी स्वतन्त्र शक्तिवान इकाई है, परन्तु जीव उसमें पड़कर उसी से अपने आप को परास्त पाता है। अविवेकी मनुष्य मन और वासनाओं में निरन्तर उलझा हुआ उनका गुलाम बना रहता है।

सद्गुरु कहते हैं "जंत्र-मंत्र माने नहीं, लागी उड़ि-उड़ि खान" जैसे बाजपक्षी उड़-उड़कर कमजोर पक्षियों को मार-मार कर खा रहे हों, वैसे मनुष्य की अपनी ही बनायी इच्छाएं उसे खा रही हैं। इसमें यंत्र-मंत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सिद्धि के रूप में माने गये यंत्र-मंत्र झूठे हैं और केवल मूर्ख मनुष्यों को फंसाने के लिए षड्यंत्र हैं। सद्गुरु कहते हैं कि बड़े-बड़े मंत्र-तंत्रधारी मन एवं वासनाओं के गुलाम होते हैं। मन को जीतने में ऐसे पाखंडपूर्ण मंत्र-तंत्र काम नहीं देते।

सार अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य को विवेकज्ञान न हो तो उसके सारे उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। मन और इच्छाओं पर विजय पाने के लिए विवेकज्ञान की आवश्यकता है। इसका संकेत सद्गुरु अगली साखी में करते हैं।

मन गयन्द माने नहीं, चले सुरति के साथ।
महावत बिचारा क्या करे, जो अंकुश नाहीं हाथ॥१४६॥

शब्दार्थ—गयन्द = गजेन्द्र, बड़ा हाथी। सुरति = सुरत, ध्यान, याद। महावत = हाथीवान, हाथी को हांकने वाला। अंकुश = लोहे का एक प्रकार का भाला जिसे महावत हाथी के सिर पर कोंचकर उसे चलाता तथा अपने वश में रखता है।

भावार्थ—मनरूपी उन्मत्त हाथी नियंत्रण नहीं मानता, वह तो विषयों की याद के साथ चलता है। जीवरूपी महावत बेचारा क्या करे जब उसके हाथ में विवेक का अंकुश नहीं है ॥१४६॥

व्याख्या—उन्मत्त हाथी पर बैठना और हाथों में अंकुश न होना अपनी जान को जोखिम में डालना है। इसी प्रकार विवेक के बिना मन के साथ रहना खतरे से खाली नहीं है। साधारण-से-साधारण आदमी भी सायकिल में, मोटरकार में तथा गाड़ी में ब्रेक लगाते हैं, परन्तु अपनी इच्छाओं एवं मन में ब्रेक लगाना भूल जाते हैं।

मन विषयों की याद के साथ चलता है। वह सहज नियंत्रण नहीं मानता। यह सबका अपना अनुभव है। जीव के मन में अनादिकाल से पांचों विषयों के राग हैं। अतएव विषयों की याद होते ही मन उसके साथ चल देता है और विकारपूर्ण स्मरण कराता रहता है। विषयों का रागात्मक स्मरण ही बंधन है। विषय-स्मरण से आगे चलकर मनोविकार तथा स्थूल इंद्रियों की मलिन क्रियाएं होती हैं। इसलिए मन पर नियंत्रण होना अत्यंत आवश्यक है। मन पर नियंत्रण करने के लिए विवेक का अंकुश चाहिए। विवेक जितना गहरा होता जाता है, उतना ही विषयों के सारे आकर्षण समाप्त होते जाते हैं। विवेक होने पर हर वस्तु की वास्तविकता का बोध होता है। वास्तविकता का बोध हो जाने पर आकर्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। हम सचाई न जानकर ही विषयों में खिंचते हैं। यदि हमें विषयों की वास्तविकता का बोध हो जाय तो उनमें हमें नीरसता एवं व्यर्थता के अलावा कुछ नहीं लगेगा। मन के भटकने का एकमात्र कारण है विषयों के प्रति व्यामोह। उसके हट जाने पर मन न उन्मत्त हाथी रह जाता है न बाजपक्षी। तब मन जीव का अनुगामी बन जाता है। अतएव विवेक के अंकुश से मन को चलाने का अभ्यास करना चाहिए।

विवेक परम प्रकाश है। विवेक दिव्यदृष्टि है। जो साधक निरन्तर विवेक के प्रकाश में रहता है, उसके भटकने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

माया ही भंगिनि है

ई माया है चूहड़ी, औ चूहड़ों की जोय।
बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय ॥१४७॥

शब्दार्थ—माया = अहंता-ममता, विकार। चूहड़ी = भंगिनि। चूहड़ों = भंगियों। जोय = जोरू, पत्नी। बाप पूत = जीव-मन या समस्त मनुष्य।

भावार्थ—टट्टी साफ करने वाले भंगी या भंगिनी नहीं हैं। वे तो पवित्र मानव हैं। भंगिनी तो यह माया है और यह मलिन मनरूपी भंगी की जोरू है। यह जीव और मन को परस्पर उलझाकर किसी के साथ में नहीं होती ॥१४७॥

व्याख्या—टट्टी करके जगह को गंदी कर देने वाले पवित्र मानव कहलाते हैं और टट्टी को हटाकर जगह को साफ कर देने वाले लोग गंदे भंगी कहलाते हैं। यह कैसी

उलटी बुद्धि का फल है! भंगी या निम्न कहे जाने वाले लोग तो इसलिए गंदे दिखते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर है और साथ-साथ उनमें शिक्षा का अभाव होने से उच्च संस्कार नहीं हैं। कोई टट्टी साफ करने से गंदा नहीं होता, किन्तु सफाई न रखने से गंदा होता है। इधर भंगी कहे जाने वाले बंधुओं का भी जीवन-स्तर सुधरा है, तो वे भी साफ-सुथरे दिखने लगे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय नामधारी भी जो अर्थ और शिक्षा से वंचित हैं, उनका जीवन-स्तर स्वच्छ नहीं है।

भंगी नाम यदि गंदगी का वाचक है तो वह भंगी नाम की जाति नहीं है, किन्तु माया है। यह माया ही गंदगी है। माया है मन का विकार। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मलिनता माया है। इसलिए यह मलिनता जिसके सम्पर्क से उत्पन्न होती है उसे भी माया कहा जाता है। माया के पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी भी कहे जाते हैं जो अगली साखी में आयेंगे। ५९ वें शब्द में सद्गुरु ने माया को महाठगिनी बतलाते हुए कहा है कि माया केशव के घर में कमला, शिव के भवन में भवानी, ब्रह्मा के घर में ब्रह्मानी, पंडा के घर में मूर्ति, तीर्थ में पानी, योगी के घर में योगिनि, राजा के घर में रानी, धनी के घर में हीरा, गरीब के घर में कौड़ी कानी तथा भक्तों के घर में भक्तिनि बनकर बैठी है। इन सब का अर्थ यही है कि जीव जिन-जिन माध्यमों से अपने आप को भूलकर विचलित हो जाय, वह सब माया है। मूलतः विचलन ही माया है, भटकाव ही माया है। परन्तु जिनको लेकर तथा जिनमें खिंचकर जीव भटकता है वह सब भी मानो माया ही है। ऐसा विचार आये बिना मन में आकर्षण-प्रधान वस्तुओं से वैराग्य नहीं हो सकता और मन में वैराग्य हुए बिना कोई माया से, विचलन एवं भटकाव से बच नहीं सकता।

सद्गुरु कहते हैं कि माया भंगिनि है, मैली है, गंदगी से भरी है और "चूहड़ों की जोय" है। विषयासक्त मन चूहड़ है, भंगी है, मैला है, गंदा है। माया उसी की जोरू है। वैराग्यप्रवर सन्त कबीर देव माया को कितनी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, इसका स्पष्टीकरण उनकी वाणियों में पदे-पदे होता है और बीच-बीच में इसका विदग्धात्मक रूप सामने आ जाता है।

मैला मन भंगी है और मन की मलिनता भंगिनि है। जब मन में कामवासना आये तब वह भंगी का रूप होता है। जब मन में क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आ जाते हैं, उस समय हमारा मन भंगी बन जाता है। जिस समय मनुष्य का मन भ्रमित हो, वह जानो उस समय माया से पूर्ण है। और यही कबीर देव की भाषा में भंगी होना है। अब जरा हर आदमी अपने भीतर टटोलकर देखे कि उसका मन कब-कब भंगी बनता है। तथाकथित बड़े-बड़े पंक्तिपावन ब्राह्मण, दंडी, महात्मा, जन्मजात वर्णव्यवस्था के पक्षधर लोग अपने मन की परख करेंगे तो लगेगा कि उनका मन कितने समय तक भंगी बना रहता है। इसी प्रकार दूसरे लोग भी देखें और अपने अन्दर के भंगी को निकाल बाहर फेंके। १३९वीं साखी में सद्गुरु ने बताया है कि जिन्हें सद्गुरु से अपने अविनाशी स्वरूप का परिचय नहीं प्राप्त हुआ है वे सब चर्मदेह की बुद्धि रखने वाले मानो चमार ही हैं, भले ही वे तथाकथित चारों वर्णों में से किसी वर्ण के हों। इस प्रकार वैज्ञानिक तथा मानवता

का दृष्टिकोण रखने वाले कबीरदेव की भाषा में देहाभिमानी मन चमार है तथा माया एवं विकारों में लिप्त मन भंगी है। चाम कमाना तथा टट्टी साफ करना तो समाज का रचनात्मक एवं पवित्र काम है। वस्तुतः देहाभिमानी तथा मलिन मन वाला होना चमार और भंगी होना है।

"बाप पूत अरुझाय के, संग न काहु के होय" बाप जीव है और मन जीव-द्वारा निर्मित होने से मानो जीव का पुत्र है। इस प्रकार माया जीव तथा मन को उलझा देती है, और यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। मायावश ही जीव अपने आप के जाल में उलझ जाता है। बाप-पूत का अर्थ समस्त मनुष्य भी किया जा सकता है, क्योंकि बाप-पूत के भीतर ही पूरा मानव-समाज होता है। अतएव यह माया, यह भ्रम, यह मन का विकार मानवमात्र को केवल भटकाने में कारण है। यह किसी का कल्याणकारी नहीं है। अथवा जिन प्राणी-पदार्थों में उलझकर हम अपने कल्याण से वंचित रह जाते हैं, वे अंततः हमारे साथी नहीं होते। अतएव हम माया से सावधान रहें।

कनक-कामिनी से सावधान

कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥१४८॥

शब्दार्थ—सुरंग = उत्तम रंग, ज्ञानस्वरूप। दुहेलरा = दुखदायी। केंचुलि = केंचुली, सर्प के शरीर पर का झिल्लीदार पतला चमड़ा जो प्रत्येक वर्ष जाड़े में सूखकर गिर जाता है। भुवंग = सर्प।

भावार्थ—हे ज्ञानस्वरूप जीव! धन-ऐश्वर्य और स्त्री-पुत्रादि की चमक-दमक देखकर तू मत भूल! सांप के शरीर में केंचुली आने और उसके जाने—दोनों में जैसे उसे कष्ट होता है, वैसे माया के प्राप्त करने तथा उसके बिछुड़ने—दोनों में जीव को कष्ट होता है॥१४८॥

व्याख्या—कबीरदेव की सारी बातें प्रायः उदाहरण सहित तथा सटीक होती हैं। वे कहते हैं कि हर वर्ष सांप के शरीर पर रहा हुआ झिल्लीदार चाम सूखकर जाड़े में उखड़ जाता है और निकल जाता है और भीतर से नया चाम शरीर पर आ जाता है। उसे केंचुली कहते हैं। जब सांप की केंचुली सूख जाती है तब उसे असुविधा होती है। उसे उससे कष्ट मिलता है, और जब केंचुली शरीर से उतर जाती है, तब भीतर का कोमल चाम कांटे-कंकड़ों एवं कठोर घास-फूसों में लगकर कष्ट पहुंचता है। उसके कोमल चाम को चींटियां काटती हैं। इस प्रकार केंचुली के आने पर तथा शरीर पर से उसके उतर जाने पर—दोनों में सांप को कष्ट होता है। इसी तरह संसार की माया के संग्रह में कष्ट होता है। बहुत परेशानी उठाकर ही माया इकट्ठी की जाती है और जब चली जाती है तब भी जीव को बड़ा कष्ट होता है।

सद्‌गुरु ने यहां माया के लिए पारिभाषिक शब्द कंचन-कामिनी का प्रयोग किया है जो बहुत प्रसिद्ध है। कंचन का शाब्दिक अर्थ सोना तथा कामिनी का अर्थ काममद में

मतवाली स्त्री है। परन्तु यहां शाब्दिक अर्थ नहीं है; किन्तु लाक्षणिक अर्थ होने से उसका अभिप्राय व्यापक है। कंचन का अभिप्राय समस्त जगत-पदार्थ है जो धन तथा ऐश्वर्य के रूप में माना जाता है तथा कामिनी से अभिप्राय है काम-वासना का आलंबन, अर्थात जिसके सम्पर्क में आने से काम-वासना के प्रदीप्त होने की सम्भावना हो। प्रायः युवती स्त्री के सम्पर्क से पुरुष के मन में तथा युवक पुरुष के सम्पर्क से स्त्री के मन में काम-वासना का उद्दीपन होने की सम्भावना रहती है। अतएव स्त्री-पुरुष मानो एक दूसरे के लिए कामिनी बन सकते हैं। पुरुष ज्यादा वैराग्य-प्रधान हुआ है, इसलिए उसने कामिनी कहकर स्त्री को ही ज्यादा माया माना है। परन्तु स्त्री कोई निर्जीव पदार्थ तो नहीं है। उसके भीतर भी वही चेतन है। उसके लिए भी कामक्रोधादि बंधन हैं। अतएव मुमुक्षी एवं कल्याणार्थी स्त्रियों के लिए कामवासना उद्दीपक पुरुष ही कामिनी है, माया है। वस्तुतः न स्त्री माया है और न पुरुष। माया तो अपने मन की अविद्या है, विकार है, मोह है। हम मोहग्रस्त होते हैं तो बाहरी स्त्री-पुरुषों को देखकर आकर्षित होते हैं। यदि हमारे मन का मोह मिट जाय तो कंचन-कामिनी क्या है! सारे धन धातु, पत्थर एवं कागज के टुकड़े तथा मिट्टी-गोबर हैं और सारे नर-नारी हाड़-मांस के ढांचे हैं। मन की माया मिट जाने पर संसार में आकर्षण की कोई बात ही नहीं रह जाती।

यह सब सच होने पर भी जीव अनादि अविद्या-वश होने से वह जिन प्राणी-पदार्थों को देख-सुनकर भूलता है उनके संक्षिप्त नाम कंचन-कामिनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू सुरंग है, ज्ञान रंग का है। तेरा स्वरूप दिव्य है। तू अपने आप को भूलकर ही कंचन-कामिनी में मोह करता है या उन्हें देख-सुनकर, उनमें मोहित होकर अपने आप को भूलता है। कबीर देव कहते हैं कि हे मनुष्य, तू कंचन-कामिनी को देखकर विमोहित मत हो। इनको प्राप्त करने में भी परेशानी है, रक्षा करने में भी तथा इनके छूट जाने में भी केवल दुख है। बड़े परिश्रम एवं जुगाड़ के बाद संसार के प्राणी-पदार्थ इकट्ठे होते हैं। इसलिए इनके संग्रह में कष्ट झेलना पड़ता है। फिर इनको बनाये रखने में काफी चिंता एवं परेशानी है और इनके छूट जाने पर तो केवल दुख का अनुभव होता ही है। फिर दुनिया के प्राणी-पदार्थों के व्यामोह में पड़कर हम क्यों दुख उठायें! सद्गुरु हमें सावधान करते हैं कि कनक-कामिनी में एवं प्राणी-पदार्थों में विमोहित नहीं होना, सबसे अनाकृष्ट होकर अपने स्वरूप में स्थित होना।

सब शरीरधारी प्रकृति के अधीन हैं

माया केरी बसि परे, ब्रह्मा विष्णु महेश।
नारद शारद सनक सनन्दन, गौरी पूत गणेश॥१४९॥

शब्दार्थ—शारद = शारदा, सरस्वती।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, सरस्वती, सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार तथा गौरी के पुत्र गणेश—सब मायिक प्रकृति के अधीन हुए॥१४९॥

व्याख्या—क्रांतिकारी तथा सत्यद्रष्टा कबीर देव सारी भ्रांतियों को चोट देकर मानो उन्हें भहरा देना चाहते हैं। धार्मिक ग्रन्थों में ऐसा लिख दिया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु,

महादेवादि नित्य हैं। नारद जब चाहें जहां आयें-जायें। वे भी सदैव हैं और लोक-लोकांतर चलते रहते हैं। इसी प्रकार अन्य काल्पनिक देवी-देवताओं की नित्यता का भ्रम है। गणेश सबके मंगल करने वाले हैं और नित्य विद्यमान हैं आदि।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यह सब भ्रम है। कितने ही देवी-देवता तो मनुष्यों ने समय-समय से मन की कल्पनाओं से गढ़ डाला है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव ये तीनों ही क्रमशः रज, सत एवं तम गुण के प्रतिनिधित्व करने वाले काल्पनिक देवता हैं। गणेश भी काल्पनिक ही हैं। इनका रूप ही एक व्यंग्य चित्र के अनुसार बड़ा पेट, एक दांत, हाथी की सूंड़ और चूहा का वाहन है। सब-का-सब काल्पनिक। नारद, सनकादि व्यक्ति रूप कभी हुए होंगे। परन्तु सबके शरीर मायामय एवं प्रकृति निर्मित रहे हैं। इसलिए सब एक दिन जन्म लेकर अपने जीवन के क्रिया-कलाप करके संसार से चले गये। कोई भी यहां शरीर से अजर-अमर होकर रहने वाला नहीं है। किसी देवी-देवता आदि के नाम की माला फेरकर हम भवबंधनों से मुक्त नहीं हो सकते और न सांसारिक उन्नति ही कर सकते हैं। इन सबके लिए सही दिशा में परिश्रम तथा जीवन-सुधार ही शंबल है।

कोई काल्पनिक देवता हमारा किसी प्रकार का कल्याण नहीं कर सकता। हमारा मंगल काल्पनिक गणेश नहीं कर सकते, किन्तु हमारे मंगल में हमारे अच्छे कर्म ही कारण हैं। इसलिए काल्पनिक देवी-देवताओं की आशा छोड़कर अपने पुरुषार्थ का भरोसा करो।

परमात्मा तुम्हारा स्वरूप है

पीपरि एक जो महा गम्भानि, ताकर मर्म कोइ नहिं जानि।
डार लम्बाय फल कोइ न पाय, खसम अछत बहु पीपरे जाय ॥१५०॥

शब्दार्थ—पीपरि = पीपल, बरगद की जाति का एक पेड़, तात्पर्य में वाणी। गम्भानि = फैला, बढ़ा। मर्म = रहस्य, भेद। लम्बाय = विस्तार, फैला हुआ, झुकाना। खसम = पति, मालिक। अछत = विद्यमान, रहते हुए।

भावार्थ—जैसे एक वृक्ष विशालरूप में फैला हो, परन्तु उसका रहस्य लोग न समझते हों, सब उसकी डाली पकड़कर झुकाते हों कि फल तोड़ें, परन्तु उसमें फल न मिलता हो, वैसे वाणी का एक विशाल वृक्ष संसार भर में फैला है। उस वाणी में परमात्मा या मोक्ष फल मिलने की बात बतायी गयी है, परन्तु उसका रहस्य लोग नहीं जानते। अतः वे उस वाणी-जाल में मोक्ष या परमात्मा खोजते हैं। सब लोग उसकी शाखारूप नाना शास्त्रों का मंथन करते हैं, परन्तु इससे किसी को परमात्मा एवं मोक्षरूपी फल नहीं मिलता। मोक्ष या परमात्मा तो जीव का स्वरूप ही है। जीव ही जीव का मालिक है, खसम है, परन्तु ऐसा न समझकर जीव अपने पति को, अपने से अलग बहुत-से वाणी-जाल एवं देवी-देवताओं में खोजता है ॥१५०॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहां वाणी-जाल के विस्तार को विशाल पीपल एवं बरगद के वृक्ष के उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है। पीपल या बरगद का पेड़ बहुत विशाल

होता है, परन्तु उसमें ऐसा कोई फल नहीं होता है जो मानव को तृप्ति दे सके। वाणी का वृक्ष तो बहुत विशाल है, संसार की एक-एक किताब उसकी एक-एक शाखा है। अब सोचो कि वाणीरूपी वृक्ष की कितनी अगणित शाखाएं हैं। यह वाणी का वृक्ष संसार में इतना विशालरूप में फैला कि इसमें पड़कर सब चकित हो गये। इस वाणी में सर्वाधिक महत्त्व परमात्मा को पाने का फैला। सर्वाधिक धार्मिक ग्रन्थों में इसी बात की महिमा फैली कि परमात्मा को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। अब इस परमात्मा को पाने के लिए कोई वेदों में उसे खोजने लगा, कोई बाइबिल एवं कुरान में, कोई गीता में, कोई रामायण में तथा कोई अन्य-अन्य ग्रन्थों में। कोई इन वाणियों के प्रमाण से अनेक देवी-देवताओं में उस परमात्मा को खोजने लगा, कोई नाद, बिन्दु, ज्योति, त्रिकुटी, हठयोग या काल्पनिक स्वर्गलोक में खोजने लगा। वाणी-वृक्ष की लम्बी-लम्बी डालियों में सब लोग उसे खोज रहे हैं। अथवा जैसे कोई पीपल की डालियों को झुका-झुकाकर उसमें सुस्वादु फल खोजे, परन्तु ऐसा कुछ भी उसमें न मिले, वैसे लोग ग्रन्थों का मंथनकर उसके प्रमाण से बाहर से परमात्मा पाना चाहते हैं। नाना मजहबों के ग्रन्थों में लिखा है कि परमात्मा सांवला है, गोरा है, कमलों के समान उसके हाथ, पैर, मुख, आंख, छाती, कपोल आदि हैं। वह दो हाथ वाला, चार हाथ वाला, आठ हाथ वाला तथा हजार हाथ वाला है। वह सातवें तपक पर रहता है, स्वर्गलोक में रहता है। वह सर्वत्र रहता है और सच्चे दिल से पुकारते ही आकर सामने खड़ा हो जाता है। उसने खम्भा फाड़कर तथा हिरण्यकश्यपु को मारकर प्रहलाद को बचाया है, ध्रुव को दर्शन दिया है। बहुतों को दर्शन दिया है। वह परमात्मा जो चाहे वही कर सकता है। वह चाहे तो सूरज को कमल-फूल बना दे और कमल-फूल को सूरज। सच्चे दिल से पुकारो वह आ जायेगा और तुम्हें अपनी गोद में उठाकर ब्रह्मलोक में ले जायेगा, जहां दिव्य भोग हैं। और भी वाणियों में खुदा, ईश्वर, गॉड, परमात्मा एवं ब्रह्म के लिए जो वर्णन है वह बड़ा रोचक है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान, न्यायी तथा दयालु है। इतने सारे महत्तम गुण केवल परमात्मा की कल्पना में ही हैं। वस्तुतः परमात्मा जैसी सुन्दर कल्पना दूसरी नहीं है। परन्तु खेद यह है कि ऐसा परमात्मा कहीं नहीं है, अन्यथा वह अपने ही नाम पर लड़ने वाले तथा दूसरों का खून बहाने वाले भक्तों को अवश्य समझा देता। नाना मजहब वाले ईश्वर के नाम से लड़ते हैं, परन्तु ईश्वर मौन है। डाकू, हत्यारे, चोर, व्यभिचारी, घूसखोर, कालाबाजारी करने वाले आदि को वह कुछ भी नहीं रोकता है। अन्यथा क्या सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान ईश्वर का वश न चलता इनको सुधारने में। वह चाहता तो अवश्य इनको ठीक कर देता। वस्तुतः कुछ ऐसा है नहीं। तथ्य यह है कि मनुष्य यह चाहता है कि ऐसा सर्वसमर्थ कोई होता तो हमारा कल्याण कर देता। यह केवल भले मनुष्य की चाहना है। धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर के विषय में सनकी ढंग से अत्यन्त भावुकतापूर्वक लिख दिया गया है, इसलिए उसे पढ़-पढ़कर भावुक लोग उसकी तलाश में पड़े हैं।

सद्गुरु कहते हैं "डार लम्बाय फल कोइ न पाय" सब भावुक लोग ईश्वर को खोजते हैं, परन्तु उसे कोई नहीं पाता। वह मिल नहीं सकता। जीव से अलग ईश्वर या परमात्मा कहीं कुछ भी नहीं है तो वह मिलेगा कैसे! मिलने-बिछुड़ने वाली वस्तु तो माया

होती है। "खसम अछत बहु पीपरे जाय" मालिक विद्यमान होते हुए भी उसे बाहर खोजा जा रहा है। परमात्मा मौजूद है और उसे बाहर खोजा जा रहा है। इससे अधिक भटकाव और क्या हो सकता है! यह जीव ही शिव है। यह आत्मा ही परमात्मा है। यह मनुष्य का 'स्व' एवं स्व-स्वरूप चेतन ही उसका अपना आप स्वामी है। परन्तु इसे न समझकर वह "बहु पीपरे जाय"। बहुत-सी वाणियों एवं कल्पनाओं में भटका जीव अलग-अलग अपना पति खोज रहा है। परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से अलग खोजना ही भ्रम है।

कुसंग से बचो

साहू से भौ चोरवा, चोरहु से भौ हीत।
तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ॥१५१॥

शब्दार्थ—साहू = साहु, साधु, सज्जन, भला आदमी, जीव। चोरवा = चोर, कल्पनाएं, मन का संदेह। हीत = हित, रखा हुआ, गृहीत, अनुकूल, मित्र।

भावार्थ—मनुष्यजीव मूलरूप से शुद्ध साधु एवं निर्मल है, परन्तु इसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से इसके मन में संदेह का चोर पैदा हुआ और उसी संदेह को इसने अपना मित्र मान लिया। सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तुम्हें तब पता चलेगा जब इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा॥१५१॥

व्याख्या—मनुष्य का मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त है। परन्तु संसार में धर्मशास्त्रों के नाम से अपार वाणीजाल का विस्तार है, और उनमें रोचक, भयानक के अंश पर्याप्त मात्रा में भरे हैं। मनुष्य उन्हें पढ़-सुनकर दिग्भ्रमित हो जाते हैं। उनके मन में नाना संदेह पैदा हो जाते हैं। संदेह चोर है जो मनुष्य के मन को निरन्तर खोखला बनाता है। मनुष्य ने अपने स्वरूप को भूलकर मन में नाना संदेह पैदा कर लिया और पीछे से उन्हीं संदेहों से उसने मित्रता कर ली। इसने अपने जीवन में "आपुहि बरि आपन गर बन्धा" वाली बात चरितार्थ कर ली। जीव ही तो अपने स्वरूप को भूलकर अपने ऊपर नाना देव-गोसैयां की कल्पना एवं स्थापना करता है। मनुष्य ने ही भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन एवं नाना देवी-देवताओं की कल्पनाकर उन्हें अपने ऊपर मान लिया है।

धर्मशास्त्रों से हटकर कामशास्त्र भी बने जिनमें कामवासना की बड़ाई की गयी। शृंगारिक वाणियों का विस्तार कामशास्त्र ही में नहीं किन्तु अनेक धार्मिक ग्रन्थों में भी हुआ। मनुष्य ने अपने स्वरूप के अज्ञान से नाना कल्पनाओं एवं कल्पनापूर्ण वाणियों का विस्तार किया और अपने ही बनाये हुए कल्पना-जाल में स्वयं अधिकाधिक उलझता गया। परन्तु इन सब का दुखद परिणाम तो जीव पर ही आना है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "तब जानोगे जीयरा, जबरे परेगी तूझ" अपनी कमाई का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। लोकोक्ति भी है "अपनी कमाई आप को, ना माई ना बाप को।"

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि मानो कोई सज्जन स्वभाव का आदमी हो, उसने प्रसंगवशात चोरों से मित्रता कर ली हो और उन चोरों का साथ करने से वह भी चोर बन गया हो, तो सद्गुरु ने उसे समझाया हो कि हे मनुष्य!

सके परिणाम का पता तुम्हें तब होगा जब तुम राजकर्मचारियों-द्वारा पकड़े जाकर पीटे ाओगे।

सज्जन से सज्जन व्यक्ति भी कुसंग में पड़कर पतित होते हैं। चोरी करना, व्यभिचार रना, शराब, मांस, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू, पान आदि का सेवन करना, ाली देना, मस्खरापन करना, जुआ-ताश आदि खेलना, थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर जगह-जगह लड़ाई-झगड़े करना तथा इन-जैसे बहुत-से दोष एवं दुर्गुण मनुष्य कुसंग में ड़कर सीखता और करता है। आदमी जैसी संगत करता है वैसी ही उसे रंगत लगती है। सलिए सद्गुरु हमें सावधान करते हैं कि हे मनुष्य, तू कुसंग और कुकर्मों से अपने आप ो बचा, अन्यथा उसका फल तुझे दुखदायी होगा।

इस साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं कि यदि मनुष्य साधु-सज्जनों से ोर बनता है अर्थात उनसे अपना मुख छिपाता है और चोरों, बदमाशों एवं गलत ाचरण वालों से मित्रता करता है तो इसका परिणाम उसके लिए दुखद होगा। उसे ावधान हो जाना चाहिए और कुसंग से हटकर साधु-संगति करना चाहिए।

सद्गुरु की अनिवार्यता

ताकी पूरी क्यों परे, जाके गुरु न लखाई बाट।
ताके बेड़ा बूड़ि हैं, फिरि-फिरि औघट घाट॥१५२॥

शब्दार्थ—पूरी = पूर्णता, आप्तकामता, सिद्धि, कल्याण। बाट = रास्ता, सत्यज्ञान का थ। बेड़ा = लट्ठों एवं तख्तों से बनायी हुई नाव। औघट घाट = दुर्गम स्थल, पतनपथ।

भावार्थ—उस मनुष्य का कल्याण कैसे होगा जिसको सद्गुरु ने सत्य का रास्ता नहीं बताया है। उसकी नावका तो बारम्बार कुघाट में डूबेगी। वह उत्तरोत्तर पतनपथ में जायेगा॥१५२॥

व्याख्या—कुछ लोग कहते हैं कि किसी गुरु की क्या आवश्यकता! गुरु तो अन्दर बैठा है। सद्ग्रन्थ पढ़ लें और संतों के प्रवचन सुन लें, बस इतने से ज्ञान प्राप्त करके हम अपना कल्याण कर सकते हैं। किसी गुरु से जुड़ने की क्या जरूरत है! यह सब जब पढ़े-लिखे लोग कहते हैं तब और अजीब लगता है। किसी अध्यापकरूपी गुरु से जुड़े बिना कोई किसी भाषा एवं लिपि का ज्ञान नहीं पा सकता। साइकिल का पंचर बनाने का ज्ञान भी हमें तब होता है जब उसे कोई उस्ताद बताता है। हम जिसके ग्रन्थ पढ़कर ज्ञान पाते हैं, वह हमारा गुरु हुआ ही। जिसके प्रवचन से हमें प्रेरणा मिलती है वह भी हमारा गुरु हुआ। यह ठीक है कि हमारे अन्दर विवेकरूपी गुरु बैठा है, परन्तु बाहरी गुरु के बिना विवेक का सर्वथा जग पाना भी बड़ा कठिन है। चकमक में आग है, परन्तु बिना घिसे वह प्रकट नहीं होती। जड़ और चेतन का पृथक ज्ञान तथा स्वरूप का सच्चा बोध प्राप्त करने के लिए सत्संग और विवेक दोनों चाहिए। स्वरूपज्ञान हो जाने के बाद उसमें ठहरने के लिए दिव्य रहनी का बल चाहिए और यह किसी रहनीसंपन्न सद्गुरु-संत की उपासना

से अधिक सुकर होती है। विशाल देव ने सच कहा है "वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं बैराग। संगत हू फल ना मिले, बिन साँचा मन लाग ।।" डॉक्टर के साथ डॉक्टरी का अभ्यास सफल होता है, वकील के साथ वकालत का, विद्वान के साथ विद्वता का। इसी प्रकार अन्य दिशा में भी समझ लें। इसी ढंग से सद्गुरु के द्वारा पथ-प्रदर्शन पाये बिना कोई जीवन में पूर्णता नहीं पा सकता।

पूरी पड़ना एवं जीवन में पूर्णता होना क्या है? वस्तुतः बुद्धि और हृदय को संतोष मिलना ही पूर्णता पाना है। बुद्धि को तब संतोष मिलता है जब अन्धविश्वास, चमत्कार तथा अनर्गल बातों से हटकर कारण-कार्य-व्यवस्था, विश्व के शाश्वत नियमों तथा प्रकृति के गुण-धर्मों का यथार्थ बोध होता है। ऐसी अवस्था आ जाने पर मनुष्य किसी भी बुद्धिविरोधी बात में नहीं उलझता, वह चाहे किसी धर्मशास्त्र की हो या जनश्रुति की हो या कहीं की भी हो। संसार में सब कुछ नियमतः ही होता है। वह समझता है कि कोई प्राणधारी सूरज को नहीं निगल सकता, किसी स्त्री को एक साथ हजारों बच्चे नहीं पैदा हो सकते, कोई साधु-महात्मा नामधारी मुरदे को नहीं जिला सकता। वह वर तथा शाप की झुठाइयों को समझ लेता है। वह समझता है कि मनुष्य के अपने शुभकर्म उसके लिए वर तथा अशुभ कर्म शाप बनते हैं। वह तर्कहीन, युक्तिविरुद्ध तथा विश्व के नियमों के विरुद्ध बातों को नहीं मानता, भले ही वह धर्म, भगवान, देवी-देवता तथा महात्मा से जुड़ी हो। जड़ और चेतन का ठीक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को पूर्ण बौद्धिक संतोष मिल जाता है। जब अपनी आत्मा के अलावा कहीं कोई दिव्यशक्ति खोजने की बात नहीं रहती, तब पूर्ण बौद्धिक संतोष होता है।

दूसरा है हार्दिक संतोष, हृदय को संतोष। यह तब प्राप्त होता है जब जीवन पवित्र एवं दिव्य रहनी से संपन्न हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, छल, कपट तथा मन की सारी मलिनताएं जब समाप्त हो जाती हैं, तब मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। सारतः, स्वरूपज्ञान से बौद्धिक संतोष तथा स्वरूपस्थिति से हार्दिक संतोष होते हैं। परन्तु यह सब रहनी एवं बोधसंपन्न सद्गुरु के पथ-प्रदर्शन में ही संभव है। जिसने सच्चे सद्गुरु-द्वारा अपना पथ-प्रदर्शन नहीं पाया, उसकी नाव कुघाट में डूबती है। कुघाट में या औघट में डूबना क्या है? भूत, प्रेत, देवी, देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह, लगन, जादू, टोना, चमत्कार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, विषय-वासना आदि में उलझ जाना नावका का कुघाट में डूबना है। सच्चे सद्गुरु की भक्ति एवं ज्ञान से वंचित व्यक्ति नाना संदेहों, भ्रमों तथा मानसिक सागर में बारम्बार डूबता रहता है। अबोधी तथा गुरुविमुख व्यक्ति को संसार में डूबना ही है।

"बिना रे खेवइया नइया कैसे लागे पार हो।"

जाना नहीं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन।
अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन ।।१५३।।

शब्दार्थ—गौन = गमन, यात्रा। राह = रास्ता, सत्पथ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गंतव्य का रास्ता स्वयं न जानता हो और दूसरे जानकारों से पूछा भी न हो, इस प्रकार बिना रास्ता को समझे-बूझे उसने अपनी यात्रा आरम्भ कर दी हो, वह आंख का अंधा भी हो और संयोग से उसे रास्ते में अन्धा व्यक्ति मिल जाय, तो उसे सही रास्ता कौन बतायेगा! इसी प्रकार जिसे स्वयं जड़-चेतन का ठीक बोध नहीं है और वह किसी यथार्थ सद्गुरु की शरण में विनम्रतापूर्वक जाकर तथा उनकी सेवा-भक्ति करके उनसे पूछता भी नहीं है। इस प्रकार जो बिना परमार्थ को ठीक से समझे-बूझे चल दिया हो, वह स्वयं तो अबोधी है ही, उसे रास्ते में दूसरे भी अबोधी ही मिलते हैं, फिर उसे कल्याण का रास्ता कौन बतायेगा! ॥१५३॥

व्याख्या—कितने अहंकारी जीव हैं वे किसी गुरु के चरणों में न झुकना चाहते हैं और न उनकी सेवा कर उनके अधीन होकर विनम्रतापूर्वक कुछ सीखना चाहते हैं। बस, वे धर्मग्रन्थों की कुछ उलटी-सीधी सुनी-सुनाई बातों को ले उड़ते हैं और इतने ही में अपने आप को धर्मधुरंधर तथा परमार्थपथ के गहरे अनुभवी समझने लगते हैं। वे अपने सरीखे ही अधूरे लोगों में बैठकर धर्म एवं परमार्थ के नाम पर कुछ अधूरी और छिछली बातें करते हैं और "सब अंधरन में कनवे राजा" की तरह अपने आप को बहुत बड़ा मान लेते हैं।

कुछ परमार्थ-पथ के पथिक विनम्र एवं सच्चे दिल के होते हैं, परन्तु वे धर्म के नाम पर केवल अंधश्रद्धा के पुजारी होते हैं। वे पोथी, परंपरा, गुरुजन, समाज आदि की लकीरों से हटकर स्वतंत्र छानबीन नहीं करना चाहते। वे अपने स्वतंत्र विवेक का आदर नहीं करना चाहते। पोथी, परंपरा, गुरु, सब आदरणीय हैं, परन्तु अपने विवेक का भी तो आदर करना चाहिए। क्यों, कैसे, कौन, कहां, क्या आदि तर्क के बिना कभी भी सत्य का बोध नहीं हो सकता। तर्क उन्मादपूर्वक नहीं, किन्तु विवेकपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा और बुद्धि, दोनों का समन्वय चाहिए। उन गुरुओं तथा संतों से सत्य का बोध नहीं हो सकता जो सदाचारी तथा विद्वान भले हों, परन्तु जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर अपनी आंखों में पट्टी बांध रखी है। जो गुरु शास्त्रों की दोहाई एवं केवल शब्दप्रमाण पर अपनी मान्यताओं को शिष्यों एवं श्रोताओं पर लादना चाहता है उससे सत्य का मोती नहीं मिल सकता। जिन्होंने श्रद्धा के नाम पर स्वयं अपनी आंखें बंद कर रखीं हैं वे दूसरों की आंखों का प्रकाश नहीं बन सकते। अतएव जिज्ञासु को श्रद्धा एवं विवेकपूर्वक सत्य का खोजी होना चाहिए।

जाका गुरु है आँधरा, चेला काह कराय।
अन्धे-अन्धा पेलिया, दोऊ कूप पराय॥१५४॥

शब्दार्थ—आँधरा = जड़-चेतन के विवेक से रहित।

भावार्थ—जिसका गुरु ही जड़-चेतन एवं सार-असार के विवेक से रहित है, वह शिष्य बेचारा क्या करे! अंततः गुरु-शिष्य दोनों विवेकहीन बने अंध-परम्परा में एक दूसरे को ठेलते हुए अज्ञान एवं कल्पना के कुएं में पड़े रहते हैं॥१५४॥

व्याख्या—कबीर साहेब गुरु को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं, परन्तु अंधविश्वासपूर्वक नहीं। कबीर साहेब विवेकहीन गुरु को छोड़ देने की राय देते हैं "झूठे गुरु के पक्ष को,

तजत न कीजै बार। द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार।।" जो गुरु नामधारी विवेकहीन है, स्वार्थ में अंधा और राग-द्वेष में डूबा है उससे शिष्यों का क्या उद्धार होगा! मान लो, वह सदाचारी तथा ईमानदार है, परन्तु उसे जड़ तथा चेतन क्या हैं, दोनों के गुण, धर्म, स्वभावादि क्या हैं; मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, मेरी स्थिति क्या है—इन सब बातों की कोई जानकारी नहीं है, वह अंध परम्परा से हटकर स्वतंत्र सोचना भी नहीं चाहता है, तो ऐसे गुरु से शिष्य का कल्याण कैसे होगा! शिष्य प्रथम अबोध में रहता ही है, तभी वह बोध पाने के लिए गुरु की शरण में जाता है। अब यदि गुरु भी अबोधी है, तो वह शिष्य का कल्याण कैसे करेगा! जैसे दो अन्धे एक दूसरे को ठेलते हुए दोनों कुएं में गिर पड़ें, वैसे विवेकहीन गुरु और चेले दोनों एक दूसरे से अविवेक की बातें करते-करते अज्ञान तथा कल्पना के कुएं में ही पड़े रहते हैं।

शिष्य को सही रास्ता वही गुरु बता सकता है जो सत्य स्वरूप का बोधवान, पवित्र रहनी से संपन्न तथा निष्पक्ष विचारक है। परन्तु जो स्वयं विवेकहीन है वह दूसरे को क्या रास्ता बतायेगा!

महिमा के भेड़ियाधंसान में मत पड़ो

लोगों केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय।
एकै खेत चरत हैं, बाघ गधेहरा गाय।।१५५।।

शब्दार्थ—अथाइया = अथाई, भीड़। बाघ = रजोगुणी। गधेहरा = गधा, तमोगुणी। गाय = सतोगुणी।

भावार्थ—जहां निर्णय नहीं है ऐसी भीड़ में किसी सत्यइच्छुक जिज्ञासु को दौड़ कर नहीं घुसना चाहिए। वहां तो एक ही खेत में बाघ, गधा और गाय एक साथ चरते हैं। अर्थात वहां सब धान साढ़े बाइस पसेरी है।।१५५।।

व्याख्या—सद्गुरु सत्यज्ञान के इच्छुक को सावधान करते हैं कि वह किसी भीड़ को देखकर तथा उसकी महिमा में प्रभावित होकर उनमें न घुसे। हर समय में ऐसे गुरुनामधारी होते हैं जो मनुष्यों की भीड़ जुटाने के लिए अपने व्यक्तित्व में चमत्कार जोड़ते हैं। वे किसी तथाकथित ईश्वर एवं भगवान के अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं, चमत्कार के नाम पर जालसाजी करते हैं, योग के नाम पर भोगों की छूट देते हैं। वे हजार झूठी-झूठी बातें गढ़-गढ़ कर समाज में फैलाते हैं और इस वातावरण में संसार के अन्धे लोग उनके पास इकट्ठे हो जाते हैं। अन्धे केवल गंवई तथा अनपढ़ लोग ही नहीं होते, किन्तु शहरी तथा पढ़े-लिखे लोग भी होते हैं। अनपढ़ लोग तो सरल अंधविश्वासी होते हैं, परन्तु पढ़े-लिखे लोग काइयां तथा चतुर अंधविश्वासी होते हैं। वे नाना षड्यन्त्र रचकर तथा विज्ञान का भी दुरुपयोग करके अन्धविश्वास की सिद्धि करते हैं।

जहां चमत्कार के नाम पर जालसाजी है वहां पर पढ़े तथा अनपढ़ भोले लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। उस भीड़ की प्रशंसा करते हुए वे लोग कहते हैं "हमारे गुरु के बड़े-बड़े चेले हैं। सेठ, धनी, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, जज, प्रोफेसर, कुलपति,

राजनेता, मन्त्री, विद्वान-पण्डित आदि उनके अनुगामी हैं।" परन्तु क्या धनी, पढ़े-लिखे लोग और राजनेता के किसी के शिष्य हो जाने से उनकी महत्ता बढ़ जाती है! धनी, तथाकथित विद्वान तथा नेता कम अन्धविश्वासी नहीं होते। अतएव किसी गुरुनामधारी के पास मनुष्यों की बड़ी भीड़ देखकर उसमें मोहित न होना चाहिए, किन्तु अपने विवेक की आंखें खोलकर सत्यासत्य समझने की चेष्टा करना चाहिए। जहां ज्यादा धोखाधड़ी होती है, वहीं ज्यादा भीड़ होती है। जहां सत्य का सौदा होता है, वहां प्रायः थोड़े लोग होते हैं। इसलिए साधक को क्वांटिटि नहीं, किन्तु क्वालिटि देखना चाहिए। अर्थात संख्या नहीं, गुण देखना चाहिए। प्रायः लोगों को भीड़ का मोह होता है। लोग समझते हैं कि जहां बड़ी भीड़ है वहां सत्य होगा। यह उनको पता नहीं है कि बड़ी भीड़ सदैव प्रायः चमत्कार का झांसा देकर इकट्ठी की जाती है। पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय, प्रतिष्ठा, पद एवं तथाकथित ऋद्धि-सिद्धि पाने के लिए ही अधिक लोग लालायित रहते हैं, और इन सकामियों को धूर्त लोग झूठे चमत्कार का झांसा देकर फंसा लेते हैं। ऐसे लोग सदैव थोड़े होते हैं जिन्हें सत्यज्ञान की इच्छा है, जो रहस्य की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं, जिन्हें जीवन में सद्गुण, सदाचार, स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति प्रिय है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्य के इच्छुक! तुम लोग भीड़ के मोह में न पड़ना, भीड़ में न घुसना। यदि तुम सत्य का बोध चाहते हो, तो विवेकवान गुरु की खोज करना।

धंधेबाज गुरुओं की एक मुख्य पहचान यह भी होती है कि उनके यहां बाघ, गधा और गाय एक साथ एक ही खेत में चरते हैं। अर्थात वहां पर सदाचार-दुराचार, भोग-योग, जड़-चेतन, खाद्य-अखाद्य, कर्तव्य-अकर्तव्य किसी का विवेक नहीं होता। ऐसे समाज में सब समय सब लोग मुक्त ही होते हैं चाहे वे जैसा भी व्यवहार करते हों। ऐसे सस्ते नुस्खे में भीड़ इकट्ठी होती ही है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसी भीड़ से सदैव बचो। पढ़ा-लिखा समाज, धनी समाज, तथाकथित उच्च वर्ण एवं उच्च वर्ग का समाज—सत्यइच्छुक को इन सबका भी मोह नहीं होना चाहिए। जिसे सत्यज्ञान का मोती चाहिए वह सारे मोह को छोड़कर केवल सत्य का खोजी हो। सत्य निर्णय चाहे बड़े समाज से जुड़कर मिले या छोटे समाज से जुड़कर मिले, तथाकथित उच्च वर्ग से जुड़कर या निम्न कहे जाने वाले समाज से जुड़कर, विद्वान कहे जाने वाले समाज से जुड़कर या अपढ़ कहे जाने वाले समाज से जुड़कर, वही उपासनीय है, वही सेवनीय है। वह आंजन किस काम का जिससे आंखें ही फूट जायं। वह समाज, वर्ग एवं भीड़ किस काम के जिसमें सत्यज्ञान न मिलकर भटकाव मिलता है। काम तो आता है कुआं-नदी का पानी, समुद्र लेकर क्या करेंगे!

जड़तापूर्ण मनुष्य को उपदेश नहीं लगता

चारिमास घन बर्षिया, अति अपूर जल नीर।
पहिरे जड़ तन बखतरी, चुभै न एकौ तीर॥१५६॥

शब्दार्थ—घन = बादल। अपूर = भरपूर, प्रचुर। जड़ = अज्ञान, जड़ता। बखतरी = बकतर, लोहे का कवच।

भावार्थ—बादल चारों महीने वर्षा काल में भरपूर पानी बरसाये, किन्तु ऊसर जमीन में जैसे कुछ न पैदा हो, और किसी द्वारा बाणों की भरपूर वर्षा करने पर भी लोहे का कवच पहने होने से उसके अंग में एक भी बाण न चुभे, वैसे जिसने जड़ता का कवच पहन रखा है उसे ज्ञान की एक बात भी नहीं लगती, चाहे उसके सामने कोई ज्ञान-वाणी की अपार वर्षा करता रहे।।१५६।।

व्याख्या—घनघोर वर्षा होने पर भी ऊसर जमीन में कुछ नहीं पैदा होता। जिनका हृदय जड़ता से पूर्ण है उनकी दशा यही है। जैसे वर्षाकाल के चारों महीनों में निरन्तर वर्षा होती रहे, तो भी ऊसर जमीन ऊसर ही रहती है, वैसे चौमासा संतों के उपदेश सुनते-सुनते भी ज्ञान का जीवन पर यदि कोई असर न हो तो यही माना जायेगा कि हृदय अत्यन्त मलिन है। पुराकाल में संतजन कहीं एक आश्रम पर चौमासा वर्षा रहते थे। वहां रोज सत्संग एवं ज्ञान की चर्चा होती थी। कबीर साहेब के समय में भी ऐसी बात थी। मानो सद्गुरु कबीर किसी ऐसे ही व्यक्ति को लक्ष्य कर अपनी यह बात कह रहे हों, जो उन सभी के लिए लागू होती है जो स्वभाव से ही जड़तापूर्ण हैं।

दूसरा उदाहरण बाण-वर्षा का है। कोई किसी के ऊपर बाणों की जोरदार वर्षा कर रहा हो, परन्तु जिस पर वह बाण वर्षा रहा हो उसने लोहे का कवच पहन रखा हो तो उसे एक बाण भी नहीं लगेगा। इसी प्रकार जिसने अपने मन पर जड़ता का कवच डाल रखा है उस पर ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता।

यह प्रायः सभी उपदेष्टाओं का अपना अनुभव रहता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्द्रिय-लंपट व्यक्ति गुरु-उपदेशों से दूर भागता है

गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार।
कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार।।१५७।।

शब्दार्थ—भेली = भये से, होने से, संगत से अथवा भेली (गुड़-पिंड) सदृश मिष्ट उपदेश से। काया सींचनहार = भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाला। लार = कतार, पंक्ति, लालच, आदत, व्यसन।

भावार्थ—भोगों से इन्द्रियों को तृप्त करने वाले देहाभिमानी लोग सच्चे सद्गुरु की शरणाधीनता एवं संगत से अथवा उनके मिष्ट उपदेशों से डरते हैं—दूर भागते हैं। कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन एवं भोग-ऐश्वर्यों में ही उनका मन बसता है। उन्हें जुआ के व्यसन के समान अंट-संट धन कमाकर उसे भोगने की आदत हो जाती है।।१५७।।

व्याख्या—"गुरु की भेली जिव डरे" में आये हुए 'भेली' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'भेली' अर्थात भये से, होने से, गुरु का होने से, गुरु की शरण जाने से, गुरु की संगत से। भेली का अर्थ गुड़ का पिंड भी होता है, जिससे अर्थ होगा कि भेली के समान गुरु के मीठे उपदेशों से जीव डरता है। दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। सार यह हुआ कि मनुष्य गुरु के कल्याणकारी उपदेशों से दूर भागता है। सद्गुरु कबीर इसका कारण

बताते हैं कि मनुष्य 'काया सींचनहार' बन गया है। सींचने का अर्थ है पानी से जमीन को तर करना, अच्छी तरह भिगो देना। जो मनुष्य भोगों से अपनी इन्द्रियों को निरन्तर सींचता है, वह गुरु के मीठे उपदेशों से डरता है। गुरु का उपदेश है कि इन्द्रियों के भोगों का त्याग करो। इसलिए जो भोगों में रात-दिन लीन है वह गुरु के उपदेशों से दूर भागेगा ही। कितने सत्संगी इसलिए संतों के पास आना बंद कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने बीड़ी-तम्बाकू पीना-खाना शुरू कर दिये हैं। उनको डर है कि गुरु-संतों के पास जाने पर हम डांटे जायेंगे। इन्द्रिय-भोग प्रेय-मार्ग है और गुरु-उपदेश श्रेय-मार्ग है। प्रेय-मार्ग पहले बड़ा प्यारा लगता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर पतन है और श्रेय-मार्ग पहले बड़ा कठिन लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत है, स्थायी शांति है। किन्तु अविद्यावश मनुष्य इन्द्रिय-भोगों में उलझ जाता है। जो व्यक्ति जितना ही विषयों में लीन होगा, वह उतना ही गुरु उपदेशों एवं सत्संग से दूर भागेगा।

"कुमति कमाई मन बसे" अधिक भोगपरायण व्यक्ति का मन कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने में बसता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिक भोग चाहता है वह येनकेनप्रकारेण धन कमाता है। घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, चोरी, डाका—भोगी आदमी सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। लोग धन के लिए गुरु का वध करते हैं, माता-पिता को विष देते हैं, भाई की हत्या करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही भोगों को महत्त्व देता है वह उतना ही धन पाने के लिए कुबुद्धिपूर्वक प्रयास करता है। यदि हम नाजायज तरीके से धन कमाते हैं तो इसका मतलब यह है कि हम किसी का हक छीनते हैं। हम स्वयं नहीं चाहते हैं कि कोई हमारा हक छीने। इसलिए हमारी मानवता यही है हम किसी का हक न छीनें। परन्तु भोगी आदमी अपने मिथ्या स्वार्थ में अंधा होता है। वह जो अप्रिय घटना अपने लिए नहीं चाहता, वही दूसरों के लिए करता है। परन्तु दूसरों को कष्ट देकर कोई सुखी नहीं हो सकता। सद्गृहस्थ भोगों में संयम रखता है। वह यथासंभव संयम से चलता है। इसलिए उसे दूसरे के हक को मारने की जरूरत नहीं पड़ती। जब आदमी "काया सींचनहार" बनता है तब उसे "कुमति कमाई मन बसे" की स्थिति प्राप्त होती है। ये दोनों वाक्यांश बड़े मार्मिक हैं। काया को सींचने वाला इन्द्रिय-लंपट होता है, और इन्द्रिय-लंपट क्या-क्या कुकर्म नहीं कर सकता!

इन्द्रिय-लंपटता और कुबुद्धिपूर्वक धन कमाने की बात को सद्गुरु जुए के व्यसन से समझाते हैं। जिसे जुआ खेलने की आदत हो जाती है, वह उससे अपना पतन देखते हुए भी उसी में चिपका रहता है। इसी प्रकार जिसे इन्द्रिय-भोगों में लंपटता तथा उसके लिए अंटसंट धन कमाने की आदत हो जाती है वह उसमें अपना अधःपतन जानते हुए भी उन्हीं में डूबा रहता है।

जो जितना ही भोगी होता है वह उतनी ही हिंसा करता है। हिंसा का मतलब है दूसरों का हक मारना। भोगपरायणता से वैसे ही बुद्धि मलिन होती है, उसके साथ हिंसा करने से मनुष्य का और अधःपतन होता है। अतएव इनसे छूटने के लिए भोगों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। भोगों के त्याग के लिए विवेकवती बुद्धि चाहिए। इसके लिए गुरु-संतों के उपदेश तथा उनकी संगत की महती आवश्यकता है। अतएव गुरु के जिन

उपदेशों से जीव डरता है—दूर भागता है, उन्हीं की उसे अत्यन्त आवश्यकता है, उनके बिना जीव का दुख कभी नहीं छूट सकता।

जीव का कुशल कहां है?

तन-संशय मन-सोनहा, काल-अहेरी नीत।
एकै डाँग बसेरवा, कुशल पूछो का मीत॥१५८॥

शब्दार्थ—सोनहा = कुत्ते की जाति का एक जंगली पशु जो बाघ को भी मार डालता है,[1] कुत्ता। काल = कल्पनाएं, अज्ञान। अहेरी = शिकारी। डाँग = जंगल, स्थान।

भावार्थ—शशा, कुत्ता और शिकारी एक ही जगह पर हों, तो शशा का कुशल कहां! शरीर संशय का घर है, मन कुत्ता है और अज्ञान शिकारी है। ये एक ही जगह पर नित्य रहते हैं, फिर हे मित्र! कुशल क्या पूछते हो! ॥१५८॥

व्याख्या—"तन संशय का कोट"[2] उक्ति अनुसार यह शरीर अनेक संदेहों, संशयों एवं भ्रांतियों का किला है। शरीर का गुजर कैसे होगा, बुढ़ापा एवं व्याधि में सेवा कौन करेगा, नौकरी छूट न जाय, खेती डूब न जाय, व्यापार रुक न जाय, स्वजन तथा मित्र विमुख न हो जायं, शरीर रोगी न हो जाय, चोर, डाकू तथा शत्रु हमारा सब कुछ छीन न लें, हमारी जान के जोखिम न हो जायं, हमारा समाज में अपमान न हो जाय, कहीं चले तो एक्सीडेंट न हो जाय—कहां तक गिनाया जाय, अनेक संशयों से मनुष्य निरन्तर पीड़ित रहता है। अनेक आध्यात्मिक संशय भी लगे रहते हैं, मैं शरीर हूं या मन हूं, या प्राण हूं या इनसे अलग अविनाशी हूं, मरने के बाद मैं रहता हूं या नहीं, मोक्ष कोई दशा है या नहीं आदि संशय मनुष्यों को बने रहते हैं।

"मन सोनहा" मन तीव्र हिंसक पशु है। यद्यपि मन कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। मन केवल मेरे बनाये संस्कारों का स्वरूप है। परन्तु विषयों के आसक्तिवश वह बलवान बन बैठा है। मन क्षण-क्षण मलिन विषयों पर झपट्टा मारता है। कुत्ते के सूखी हड्डी चूसने के समान मन नीरस विषयों में डूबा रहता है। और "काल अहेरी" है। काल है कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, मान, अपमान आदि की कल्पनाएं मन को निरंतर पीड़ित करती रहती हैं। मूल रूप में अज्ञान ही काल है। इसी से तो कल्पनाएं उठती हैं। अज्ञान ही पीड़ा है, दुख है। सद्गुरु कहते हैं ये सब सदैव जीव के साथ बने रहते हैं, तो हे मित्र! तुम क्या कुशल पूछते हो!

जीव का कुशल कब है! जब सारे संशयों का नाश हो जाय। जो कुछ मिला है, वह छूटेगा, क्षण-क्षण छूट रहा है। सबसे निकट माना गया अपना शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन यह पलमात्र में सदैव के लिए लीन हो जायेगा। जब तक जीवन है इसका

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।
२. साखी १०४।

गुजर होगा ही। यदि निर्वाह का एक आधार कारणवश छूट जाय तो दूसरा आधार बन जायेगा। मैं शरीर, प्राण, मनादि समस्त जड़दृश्यों से पृथक शुद्ध अविनाशी चेतन हूं। स्व-स्वरूप ही मेरा अपना निधान है जो स्वभावतः पूर्णकाम है। सारी विषय-इच्छाओं को छोड़ देने के बाद मैं स्वरूपस्थ परमानंदमय हूं। "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।"[1] इस स्थिति को प्राप्त करके मन निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है और सारी कल्पनाएं शांत हो जाती हैं। ऐसी स्थिति पाकर ही जीव का कुशल है। यदि यह स्थिति नहीं पायी गयी तो जीव का कुशल कहां है!

धोखेबाज एवं अधूरे गुरुओं से सावधान

साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन।
पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भीन॥१५९॥

शब्दार्थ—साहु = साधु, सज्जन, सत्यवादी, सद्गुरु। चोर = धूर्त, गुरुआ। पारख = परख, गुण-दोष की पहचान। भीन = भिन्न।

भावार्थ—विवेकहीन अंधा मनुष्य यह नहीं पहचानता कि सच्चा सद्गुरु कौन है तथा भटकाने वाला धूर्त गुरुआ कौन है। सारासार न परखने से ही मनुष्य पतनपथ में जाता है। अतएव हे जिज्ञासु! विचार करके असत्यमार्ग और सारे विजाति तत्वों से अलग हो जाओ॥१५९॥

व्याख्या—जैसी श्रेष्ठी शब्द का अपभ्रंश होकर सेठ शब्द बना है, वैसे साधु से साहु शब्द बना हुआ लगता है। साहु का अर्थ ही है जो सत्य का व्यवहार रखता हो। सज्जन एवं ईमानदार को साहु कहते हैं। जो कहीं दूर-दराज से माल लाकर पब्लिक में बेचता था और पब्लिक से माल खरीदकर दूर-दराज देश में ले जाकर बेचता था, उस व्यापारी को सच्चा, ईमानदार एवं सज्जन मानकर उसके नाम साहु (साधु) एवं महाजन (महान मनुष्य) रखे गये थे। खेद है कि अपनी चोरबाजारी, जमाखोरी, मिलावटबाजी, चोरी एवं बेईमानी के कारण वही वर्ग आज सबसे अधिक धोखेबाज, बेईमान एवं चोर माना जाता है। यह भी सच है कि आज भी कितने व्यापारी अपेक्षया ईमानदार हैं। परन्तु धोखेबाज व्यापारियों के गलत आदर्श के कारण उन्हें भी संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

गुरुदर्जा तो सर्वोच्च है। गुरु वह है जिसका ज्ञान सच्चा हो तथा आचरण सच्चा हो, परन्तु खेद है कि गुरु नाम से धन्धेबाज ही नहीं धोखेबाज भी अधिक हो गये हैं। वे अपने छूमंतर से शिष्यों के सारे पाप काटते रहते हैं, चमत्कार एवं ऋद्धि-सिद्धि का झांसा देकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं। वे अपने आप को तथाकथित ईश्वर के अवतार घोषित करते हैं, प्रसिद्ध संतों के अवतार बनते हैं। वे आनन-फानन में शिष्यों को ईश्वर-दर्शन कराते हैं, उन्हें मोक्ष देते हैं। कितने गुरु धोखेबाज एवं धन्धेबाज नहीं होते, वे हृदय से सच्चे एवं ईमानदार होते हैं, उनके आचरण भी अच्छे होते हैं; परन्तु उनकी दार्शनिक

---

१. साखी ३२२।

भ्रांतियां कटी नहीं रहतीं। उन्हें जड़-चेतन का ठीक से भिन्न विवेक नहीं रहता। वे शिष्यों को किसी कल्पित अवधारणा में लगाकर उन्हें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति से दूर ही रखते हैं। अतएव वे हृदय से ईमानदार होने पर भी पूरे गुरु नहीं हैं। उनके द्वारा शिष्यों के भ्रम नहीं कट सकते।

कबीर साहेब कहते हैं कि विवेकहीन व्यक्ति सच्चे सद्गुरु तथा धन्धेबाज, धोखेबाज एवं ज्ञानहीन गुरुओं की परख नहीं कर पाता। ज्यादा शिक्षित-अशिक्षित तो धन्धेबाज, धोखेबाज गुरुओं के चक्कर में ही फंस जाते हैं। उसके बाद के लोगों में अधिक लोग विवेकरहित गुरुओं के पास अटक जाते हैं। कोई बिरले ही सच्चे गुरु की परखकर उनकी शरण में पहुंच पाते हैं। सद्गुरु कहते हैं "पारख बिना बिनाश है" तुम्हें सांच-झूठ की परख न होने से तुम्हारा पतन है। गुरु शब्द के मोह में पड़ना महा मायाजाल है। जो ईमानदार नहीं, जो तर्कयुक्त बात नहीं करता, जिसके जीवन में विसंगतियां हैं, जो समाज को बेवकूफ बनाने पर तुला है, ऐसे गुरु नामधारियों का दूर से ही नमस्कार कर लेना चाहिए। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में दोनों बातें कहीं हैं "झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार" तथा "साँचे गुरु के पक्ष में, दीजे मन ठहराय।"

"कर बिचार होहु भीन" विचार करके सारी भ्रांतियों से अलग हो जाओ। अथवा जड़-चेतन का भिन्न विवेककर अपने चेतनस्वरूप को जड़ से अलग कर लो। जड़-चेतन को एक मान लेना ज्ञान नहीं है, किन्तु चेतन को जड़ से अलग समझना वास्तविक ज्ञान है। सबको परखकर उन्हें छोड़ देना और अपने स्वरूप में स्थित होना ही पारख-विवेक है। अपने स्वरूप से अलग कुछ अवश्य है जिसका विचार करके उससे अलग होने की बात सद्गुरु बतलाते हैं, वह है जड़-दृश्य। जड़ से अलग होकर ही अपने स्वरूप में स्थिति हो सकती है।

सच्चे गुरु की शरण लो

गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय।
शब्द छोलना छोलिके, चित दर्पण करि लेय।।१६०।।

शब्दार्थ—सिकलीगर = धारदार हथियारों पर सान रखने वाला। मस्कला = मसकला, सिकलीगरों का औजार जिसकी रगड़ से धातुओं में चमक आती है। छोलना = साफ करने का औजार। दर्पण = शीशा, स्वच्छ।

भावार्थ—जिस प्रकार सिकलीगर मसकला देकर धातुओं को उज्ज्वल कर देता है, उसी प्रकार ऐसे सद्गुरु की शरण लो जो तुम्हारे मन पर विवेक का मसकला देकर, निर्णय शब्दरूपी छोलने से छीलकर और मल, विक्षेप तथा आवरणरूपी मूर्चा को झाड़कर तुम्हारे चित्त को दर्पणवत स्वच्छ बना दे।।१६०।।

व्याख्या—लोकोक्ति है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।" भावुकता में पड़कर और आंखें मूंदकर किसी को गुरु नहीं मान लेना चाहिए। कबीर देव हमें आज्ञा देते हैं कि गुरु अवश्य करो; परन्तु वह ऐसा होना चाहिए जैसे सिकलीगर होता है।

सिकलीगर के पास हम चाकू, उस्तुरा या अन्य औजार ले जाते हैं, तो वह उन्हें लेकर मसकला पर चढ़ाता है और उसे मांजकर एकदम उज्ज्वल एवं धारदार कर देता है। इसी प्रकार सच्चा सद्गुरु होता है। वह शिष्य के मन को विवेक के मसकले पर चढ़ाकर उसे माजता है। वह निर्णय शब्दों के छोलने से उसके चित्त को छीलता है। उसके कसर-विकार को निकालता है। साखीग्रन्थ में भी सद्गुरु का यह प्रसिद्ध वचन है "गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट। भीतर हाथ सहार दे, बाहर बाहै चोट॥" कुम्हार मिट्टी के घड़े को सुन्दर, सुडौल एवं विस्तृत बनाने के लिए उसके भीतर एक हाथ का सहारा देकर ऊपर से पीटता है। यदि वह घड़े को बाहर से न पीटे तो घड़ा सुन्दर नहीं बनेगा और यदि पीटते समय भीतर से सहारा न दे तो वह टूट जायेगा। कुशल गुरु शिष्यों को पुत्रवत स्नेह देता है, परन्तु उसे ज्ञान तथा आचरण की कड़ी शिक्षा देकर सुसभ्य बनाता है। वह संकोच एवं मुलाहिजे में पड़कर शिष्यों की गलतियों पर उन्हें छूट नहीं देता। माता अपने बच्चों को जैसे स्नेह देती है, सच्चा सद्गुरु वैसे शिष्यों को स्नेह देता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह उन्हें ढील छोड़ देता है। सच्चा सद्गुरु शिष्यों पर कड़ा अनुशासन रखता है।

गुरु के पास जब तक किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती तब तक वह शिष्यों के मान का मर्दन नहीं कर सकता और शिष्यों का मान मर्दित हुए बिना वे गुरु को सर्वथा समर्पित नहीं हो सकते। शिष्यों की अपेक्षा गुरु में मुख्य बातों की विशेषता होनी चाहिए। गुरु में त्याग, तप, ज्ञान, विद्या, अध्ययन, अनुभव, वक्तृत्व कुछ भी अधिक चाहिए। बिना गुरु में वजनदारी हुए, शिष्य उसके सामने पूर्णतया विनयावनत नहीं होते। गुरु के मुख्य गुण हैं सच्चा ज्ञान, पवित्र रहनी, स्नेहिल हृदय तथा अनुशासन-प्रियता। शिष्यों को निभाना कोई सरल काम नहीं है। उसमें भी समर्पित शिष्यों को, जो जीवनभर के लिए गुरु के साथ हो जाते हैं। स्वयं लचर गुरु शिष्यों को नहीं निभा सकता। गुरु का काम है कि वह स्वयं अपने बोध एवं स्वरूपस्थिति में पूर्ण हो तथा शिष्यों को उनकी कड़ी सीख दे। गुरु को चाहिए कि वह अपनी तरफ से शिष्यों के प्रति उपदेश देने में तथा उन पर कड़ी निगरानी रखने में कोई कसर न रखे।

जो गुरु शिष्यों की संख्या बढ़ाने के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे को बटोरकर एक दल तो बना लेते हैं, परन्तु वह दल केवल सड़न उत्पन्न करता है। शिष्यों की संख्या बढ़ाने की कोई रुचि नहीं होनी चाहिए। पूर्ण परीक्षा करके तथा अच्छी तरह गढ़-तराशकर ही शिष्यों को स्वीकारना चाहिए। जो अपनी सामाजिक स्थिति के सामान्य नियमों का भी उल्लंघन करता है, वैसे शिष्यों को दूर कर देना ही समाज के लिए कल्याणकर है। जिसमें त्याग, भक्ति, विनयभाव, जिज्ञासा एवं मुमुक्षा भावना है वही गुरु के अनुशासन में रुक सकता है और वही गुरु शिष्य का कल्याण कर सकता है जो अपने जीवन-दर्शन एवं वचनों से शिष्यों को ज्ञान, रहनी और अनुशासन की खरी शिक्षा दे सके।

सद्गुरु ने इस साखी में शिष्य के चित्त को शुद्ध करने के लिए मसकला और छोलना इन दो औजारों का उदाहरण दिया है जो परख और विवेक हैं। शिष्य के शुद्ध हुए चित्त

को स्वच्छ दर्पण एवं शीशे से समझाया गया है। गुरु में सिकलीगर का उदाहरण घटाया गया है। इतने सारे आलंकारिक उदाहरणों को देकर सद्गुरु ने अपने कथ्य को सरल और सटीक बनाया है। सबका सार यही है कि जिज्ञासु को ऐसे गुरु की शरण में जाना चाहिए जो शिष्य में आध्यात्मिक चमक लाने के लिए उसे परख एवं विवेक का भरपूर सहारा दे।

मूर्खों को चेताना व्यर्थ है

मूरख के सिखलावते, ज्ञान गाँठि का जाय।
कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय।।१६१।।

शब्दार्थ—गाँठि का = पास का, हृदय का।

भावार्थ—मूर्ख मनुष्य को सीख देने पर उसके द्वारा उसका दुरुपयोग होने के कारण उपदेष्टा के हृदय की शांति भंग होती है। मूर्ख उसी प्रकार हजारों उपदेश देने पर भी शुद्ध नहीं होता, जिस प्रकार सौ मन साबुन लगाकर धोने पर भी कोयला उजला नहीं होता।।१६१।।

व्याख्या—कबीर केवल संतशिरोमणि ही नहीं हैं, किन्तु कवि-कुलभूषण भी हैं। वे पदे-पदे इतने सुन्दर, सटीक और सचोट उदाहरण देते हैं कि विषय-वस्तु समझना अत्यंत सरल हो जाता है। कबीर के काव्य को पढ़ते समय उनके काव्य-कौशल, अलंकार, उदाहरण, सचोट तार्किक कथ्यों पर मन मुग्ध हो जाता है। आलंकारिक काव्य-कौशल प्रदर्शित करने वाले तो दूसरे कवि भी बहुत हैं, परन्तु हर बात में तार्किक चिन्तन देने वाले कबीर हैं।

इस साखी में सद्गुरु ने एक सरल बात पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि यदि मूर्ख मनुष्य को उपदेश दिया जाय तो वह उससे लाभ लेगा नहीं, बल्कि उलटकर उसका दुरुपयोग करेगा। वह अच्छी सीख एवं उपदेश का गुप्त या प्रकट मजाक उड़ायेगा, हंसी करेगा या सीख देते समय उद्दण्डतापूर्वक जवाब देगा, अथवा सीख के उलटे आचरण करके समाज में अपनी वरीयता जाहिर करना चाहेगा। ऐसे लोगों को उपदेश देने से उनके द्वारा उपदेशों की अवहेलना होने के कारण उपदेष्टा में असंतोष आ सकता है और उसकी शांति भंग हो सकती है। यही उपदेष्टा की गांठ का ज्ञान चला जाना है। उपदेष्टा चला मूर्ख को शांति देने, तो उसको कोई लाभ नहीं हुआ, उलटे उपदेष्टा की ही शांति भंग हो गयी।

आप जानते हैं कि कोयला भीतर से बाहर तक स्वरूपतः काला होता है। उसे सौ मन साबुन लगाकर पानी से धोया जाय तो भी वह उजला होने वाला नहीं है। मूर्खों की यही दशा है। वे भीतर से बाहर तक काले-कोयले हैं। वे शुद्ध नहीं हो सकते, चाहे उन्हें लाख उपदेश दिये जायं। यह कहा जा सकता है कि कोयला तो जड़ है, किन्तु मनुष्य चेतन है। वह अपनी दृष्टि बदल दे तो अवश्य सुधर जायेगा। यह तर्क ठीक होने पर भी कहना पड़ता है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हजार सीख देने पर भी सुधर नहीं सकते। यह सभी महामनीषियों का अनुभव है। कबीर साहेब के परवर्ती गोस्वामी तुलसीदास जी

महाराज भी कहते हैं "मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरंचि सम। फूले फलै न बेत, यदपि सुधा बरसै जलद॥" गोस्वामी जी ने तो इस सोरठा में इतना ही बतलाया कि मूर्ख श्रेष्ठ गुरु-द्वारा भी नहीं चेत सकता। कबीर साहेब ने उक्त साखी में कहा कि वह चेत तो सकता ही नहीं, उलटकर चेताने वाले की ही शांति भंग होगी। और यह तथ्य है। अतएव गुरुजनों को चाहिए कि शिक्षा पर क्रोध प्रकट करने या उसकी अवहेलना करने वाले शिष्य का परित्याग करे।

"कोइला होय न ऊजरा, जो सौ मन साबुन लाय।" इस कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि कोयला सौ मन साबुन से उजला नहीं होगा तो क्या सौ मन से ज्यादा साबुन लगाने पर उजला हो जायेगा? उत्तर में समझना चाहिए कि यहां सौ मन वजन साबुन से मतलब नहीं है। यह "सौ मन साबुन" भी एक मुहावरा हो गया है। जिसका अर्थ लाक्षणिक है कि चाहे जितना साबुन लगाने पर भी कोयला उजला नहीं होगा। इसी प्रकार मूर्ख को सौ बार या हजार बार समझाने पर भी वह नहीं चेतेगा। इस कथन में सौ या हजार बार समझाने की बात एक मुहावरा है जिसका लाक्षणिक अर्थ है कि चाहे जितना समझाओ, मूर्ख नहीं चेत सकता।

मूढ़ कर्मिया मानवा, नख शिख पाखर आहि।
बाहनहारा क्या करै, जो बान न लागै ताहि॥१६२॥

शब्दार्थ—पाखर = लोहे की वह झूल जो लड़ाई में हाथी या घोड़े पर उनकी रक्षा के लिए डाली जाती है। बाहनहारा = बाण चलाने वाला, तात्पर्य में उपदेशक।

भावार्थ—मूढ़ता का आचरण करने वाले मनुष्य के तो एड़ी से चोटी तक मूर्खता की झूल पड़ी है, फिर ज्ञानोपदेशरूपी बाण चलाने वाले उपदेशक संत-गुरु क्या करें जबकि मूढ़ श्रोता को एक बाण भी नहीं लगता॥१६२॥

व्याख्या—पुराकाल में जब सैनिक हाथी-घोड़े पर बैठकर और धन्वा-बाण चलाकर लड़ते थे, तब वे स्वयं लोहे का बकतर पहनते थे और हाथी-घोड़े को भी लोहे की झूल पहना देते थे जिससे शत्रुओं के बाण उनके अंगों को न बेध सकें। सद्गुरु कहते हैं कि मूर्ख मनुष्य मानो अपने सर्वांग में मूर्खता एवं हठता की झूल पहन रखा है। उसको चाहे जितना उपदेश करो, उस पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। यहां सद्गुरु उपदेष्टाओं को यह बताना चाहते हैं कि जो मूर्ख, अत्यन्त हठी एवं सर्वथा अपात्र हैं, उनको चेताने के पीछे मत पड़ो। इससे उनका कोई लाभ होने वाला नहीं है और तुम्हारी हानि है। एक तो तुम अपने अमोल समय को व्यर्थ में खोओगे, दूसरे उनके द्वारा अपने उपदेशों की अवहेलना देखकर व्यर्थ कष्ट होगा। अतएव जिस व्यापार में अपना और दूसरे किसी का भी लाभ न हो वह क्यों किया जाय!

संसार सेमल फल के समान असार है

सेमर केरा सूवना, छिवले बैठा जाय।
चोंच सँवारे सिर धुनै, ई उसही को भाय॥१६३॥

शब्दार्थ—छिवले = ढाक-पलास।

भावार्थ—सेमल-वृक्ष पर रहने वाला सुग्गा उड़कर पलास के वृक्ष पर जा बैठा। उसके फल में भी चोंच मारने पर जब उसको सारहींनता प्रतीत हुई तो सिर पटककर पश्चाताप करने लगा और सोचने लगा कि यह भी सेमल का भाई-बिरादर है।।१६३।।

व्याख्या—सुग्गा ने सेमल-फल को खाने की आशा से उनका सेवन किया। सेमल-फल के पकने पर जब उनमें उसने चोंच मारी तो नीरस रुई निकली। अतएव वह वहां से उड़कर पास के पलास के पेड़ पर जा बैठा। उसने उसके फल में चोंच मारी तो वह भी सारहीन तथा कुस्वाद युक्त ठहरा। यह भी उसी के समान है यह विचारकर उसे कष्ट हुआ। मनुष्य की यही दशा है। वह एक भोग से दूसरे भोग के पास जाता है और उसे हर भोग में सेमल के फल के समान सारहीनता का अनुभव होता है। पहले सुग्गा सेमल के फूल एवं फल का सेवन करता है। उनके इर्द-गिर्द मंडराता है। जब फल पकते हैं और उनमें चोंच मारने पर नीरस रुई निकलती है तब उसकी आशा पर पानी फिर जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की दशा है। वह जवानी में काम-भोग के प्रति आकर्षित होता है। परन्तु सारी परतन्त्रता एवं मलिनता का कारण काम-भोग बनता है। फिर उसे पुत्र-धन से सुख की आशा होती है, परन्तु थोड़े दिनों में उनकी सारहीनता का भी परिचय मिल जाता है। आदमी स्त्री, पुत्र, धन, पद, मान, प्रतिष्ठा आदि एक भोग के बाद दूसरे भोगों की ओर दौड़ लगाता है। पहली बात यह है कि उसे इच्छानुसार भोग मिलते ही नहीं और यदि कुछ लूले-लंगड़े मिल भी गये, तो उनमें उन्हें संतोष नहीं मिलता। यदि इच्छित भोग भी मिल जायं तो भी उनमें तृप्ति कहां है! भोगों में लगने पर जीवन में भटकाव के अलावा कुछ नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि संसार के भोगों में इतना ही अन्तर है कि कोई सेमल के फल के समान है और कोई पलास के फल के समान। सेमल के फल में एकदम नीरस रुई है और पलास के फल में भी करीब-करीब वही नीरसता है। मन-इंद्रियों से अनुभव में आने वाले सारे पांचों विषयों के भोगों की दशा यही है। संसार के बड़े-से-बड़े कहे जाने वाले भोग जिनके लिए आदमी सारे पाप करने के लिए तैयार रहता है, एकदम सारहीन हैं।

सेमर सुवना बेगि तजु, तेरी घनी बिगुर्ची पाँख।
ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख।।१६४।।

शब्दार्थ—बेगि = शीघ्र। घनी = बहुत। बिगुर्ची = उलझी।

भावार्थ—हे सुग्गे! सारहीन फल वाले सेमल के पेड़ को शीघ्र छोड़ दे। सेमल की रुई में तेरे पंख बहुत उलझ गये हैं। ऐसे नीरस सेमल-फल का सेवन वही करता है जिसके हृदय में विवेक की आंखें नहीं होतीं।।१६४।।

व्याख्या—वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर की दृष्टि पारदर्शी है। वे संसार के विषयों में डूबे हुए मनुष्यों को सावधान कर रहे हैं कि हे मनुष्य! तू इन नीरस भोगों को शीघ्र छोड़ दे। जिन ज्ञान-वैराग्य के पंखों से तू उड़कर भवचक्र से भाग सकता है वे विषयासक्ति में

उलझ गये हैं। आदमी जितना भोगों तथा संसार की आशा-तृष्णा में डूबता है उतना ही संसार में उलझता है। संसार में उलझकर उसे दुख तथा पश्चाताप के सिवा कुछ नहीं मिलता है। संसार के बड़े-बड़े कहे जाने वाले ऐश्वर्य अन्त में मिट्टी में मिल जाते हैं। उनके मोह तथा अध्यास-वश जीव को केवल दुख एवं भव-बंधन मिलते हैं। जैसे सेमल के फूल तथा फल केवल देखने में मनोहर और आकर्षक लगते हैं, परन्तु उनमें सार कुछ भी नहीं है, वैसे धन, परिवार, मान, बड़ाई तथा संसार के ऐश्वर्य देखने में आकर्षक लगते हैं, परन्तु अन्त में उनमें कुछ भी सार नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे मूढ़ सुग्गे! तू शीघ्र सेमल को छोड़ दे। अर्थात हे मूढ़ मानव! तू जल्दी से इस दिखावे से भरे संसार का मोह छोड़ दे। जिन मायावी प्राणी-पदार्थों के मोह में तू मूढ़ बना है वे अन्ततः कुछ नहीं हैं। सांसारिक माया की निस्सारता के लिए सेमल के फूल-फल के उदाहरण के समान दूसरा क्या हो सकता है! इतने पर भी हमारी आंखें न खुलें तो दूसरा क्या उपाय है! कुत्ते दस बार डंडे खाकर भी हंडी में मुंह डालते हैं, वैसे हम संसार से ठोकर खाकर भी उसके मोह में मूढ़ बनते हैं। चारों तरफ से असंतोष पाकर भी मोह-मूढ़ मन नहीं जागता, मोह तथा विषयासक्ति से उसे घृणा नहीं होती तो उसका उद्धार कैसे होगा! जहां सब कुछ नाशवान है, वहां किससे मोह-ममता की जाय!

सद्गुरु कहते हैं "ऐसा सेमर जो सेवै, जाके हृदया नाहीं आँख।" जिसके हृदय की आंखें—विवेक-विचार—नहीं हैं वही इन सारहीन मायावी वस्तुओं में मोह-मूढ़ बनता है। विचारकर देखा जाय तो संसार में कोई बिरला होगा जिसके हृदय की आंखें खुली हैं, अन्यथा सबकी बन्द हैं। सद्गुरु कहते हैं कि माया-मोह से जागो! हृदय की आंखें खोलो!

सेमर सुवना सेइया, दुइ ढेंढ़ी की आस।
ढेंढ़ी फूटि चनाक दै, सुवना चलै निरास॥१६५॥

शब्दार्थ—दुइ ढेंढ़ी = दो फल, लक्षणा अर्थ में कुछ फल, तात्पर्य में दृष्ट और श्रुत भोग।

भावार्थ—सुग्गों ने कुछ फल की आशा में सेमल के फूल और फल का सेवन किया, परन्तु जब सेमल के फूल पककर चटाक से फूटने लगे और उनमें से नीरस रोयें निकलकर उड़ने लगे, तब सुग्गे निराश होकर उड़ चले। इसी प्रकार मनुष्य देखे और सुने हुए भोगों को भोगने की आशा में सांसारिक माया का सेवन करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता और स्वार्थपरता की कलई खुलने पर निराश होकर संसार से चले जाते हैं॥१६५॥

व्याख्या—मनुष्यों को दृष्ट और श्रुत दो प्रकार के भोगों का लालच है। दृष्ट का अर्थ है संसार के पांचों विषयों के भोग जो इंद्रियों के सामने हैं; और श्रुत का अर्थ है सुने हुए भोग जो काल्पनिक देव, ईश्वर एवं स्वर्ग से प्राप्त माने गये हैं। श्रुत-भोग तो निरी कल्पना ही हैं, परन्तु जो संसार के दृष्ट-भोग हैं वे भी नश्वर हैं और मनुष्यों की स्वार्थपरता में पड़े हुए चारों तरफ से खींचतान के हैं।

शरीर के गुजर के लिए तो सबको श्रम करना पड़ता है और उसके लिए साधन जुटाना पड़ता है। यह आवश्यक है। इसके बिना जीवन नहीं चल सकता। जीवन-निर्वाह का धन्धा करना बंधन नहीं बनता। जीवन-निर्वाह के अलावा है इंद्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थों से मोह-ममता एवं लोभ-लालच। ये सब जीव के लिए फांसी बनते हैं। मनुष्य का देह-निर्वाह तो थोड़ी-सी चीजों में हो सकता है, वह भोगों के लालच में मारा जाता है। विमोहित मानव संसार के प्राणी-पदार्थों में स्थायी सुख ढूंढ़ता है जो आकाशकुसुम के समान असम्भव है। संसार के प्राणी-पदार्थों से केवल शरीर-निर्वाह होता है। मन का स्थायी सुख तो मन की निर्मलता, स्वच्छता एवं एकाग्रता में है। जितना माया-मोह छोड़ो, उतना सुख है। मूढ़ मन समझता है कि जितना मोह-माया करो, उतना सुख मिलेगा। जवानी, धन, काम-भोग, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख पाने का महान भ्रम होता है, परन्तु जब प्राणियों की स्वार्थपरता का व्यवहार सामने आता है और बुढ़ापा आने पर सब कुछ की नश्वरता का अनुभव होता है तब मनुष्य का मन निराश हो जाता है; परन्तु तब तक उसके सुनहले अवसर बीत चुके होते हैं। इस प्रकार परमशांति और परमानन्द के अनुभव करने के स्थान पर मानव-शरीर को जीव गोबर-कीड़े के समान बिताकर संसार से चला जाता है। अतएव उसे अवसर रहते ही चेत जाना चाहिए। 'स्व' तथा 'पर' दो सत्ताएं हैं। 'स्व' का विस्मरण तथा 'पर' का मोह ही पीड़ाप्रद है और 'स्व' का अनुराग तथा 'पर' से विराग सुख-मूल है। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में ठहरने से ही जीव स्थायी सुखी हो सकता है।

दूसरे के भरोसे पर मत रहो

लोग भरोसे कौन के, बैठ रहै अरगाय।
ऐसे जियरहिं जम लूटे, जस मटिया लुटे कसाय॥१६६॥

शब्दार्थ—अरगाय = अलग होकर, चुप्पी साधकर, हाथ पर हाथ धरकर, आलस्यपूर्वक। जम = यम, वासनाएं। मटिया = मांस।

भावार्थ—संसार के लोग किस देव-गोसैयां के भरोसे हाथ-पर-हाथ धरे एवं चुप्पी साधकर बैठे हैं! ऐसे आलसी मनुष्यों को वासनाएं उसी प्रकार लूटती हैं जैसे कसाई मांस को॥१६६॥

व्याख्या—मैं किंचिज्ञ, अल्पज्ञ और तुच्छ हूं, सर्वथा बलहीन हूं, हरि-माया अति बलवती है, प्रभु ही चाहे तारे और चाहे डुबावे, अथवा माया अनिर्वचनीया, अघटित-घटना-पटीयसी और दुरत्यया है—ऐसी कल्पना कर कितने मनुष्य आत्मविश्वास खो बैठते हैं। यह 'देव-देव आलसी पुकारा' के अलावा और कुछ नहीं है। कुछ भावुकों ने आम जनता को यह पाठ पढ़ाया है "जीव तुच्छ है। वह कुछ नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा समझ ले और सब ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दे, तो ईश्वर उसका सब कुछ कर देगा।" यह मानव मन को दुर्बल बनाना है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो बिना कमाई किये खेत में फसल दे दे, बुद्धि में विद्या दे दे तथा मन में मोक्ष दे दे। मनुष्य जब तक स्वयं श्रम

नहीं करता तब तक उसे कुछ मिलने वाला नहीं है। संत-सद्गुरु भी केवल प्रेरणा देने वाले हैं, साधना-क्षेत्र पर स्वयं चलकर ही मोक्ष पाया जा सकता है। हम सपने में नदी में डूब रहे हैं, बाहर चाहे सैकड़ों नौकाएं बंधी हों, परन्तु बिना अपनी नींद खुले हम उससे बच नहीं सकते। मनुष्य का उद्धार करने वाला न कोई देव है और न कोई ईश्वर है। उसे अपना उद्धार स्वयं करना है। यदि कोई देव या ईश्वर उद्धार करने वाले होते तो वे आज तक सारे जीवों का दुखों से उद्धार कर दिये होते। कहते हैं कि जब कोई कातरभाव से उनकी प्रार्थना करता है तब वे उसका उद्धार करते हैं। इतने लापरवाह और खुशामदपसंद देव और ईश्वर जो स्वयं दुर्बलताओं के शिकार हैं, वे दूसरे का क्या उद्धार कर सकते हैं! किसी कल्पित देव और ईश्वर का भरोसा करना अपने मन को क्षणिक सन्तोष देना मात्र है।

मनुष्य अपना कल्याण करने में स्वयं समर्थ है। हमारे पूर्वजों ने भी कहा है "नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः" बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकता। सद्गुरु कहते हैं कि तुम किसके भरोसे आलसी बनकर बैठे हो! कौन दूसरा तुम्हारा उद्धार कर देगा? वासनाएं जो बंधन हैं, वे तुम्हारे मन में हैं। उन्हें तुम्हीं नष्ट कर सकते हो। उन्हें कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। जो व्यक्ति किसी दूसरे देव तथा ईश्वर के भरोसे बैठकर अपना कल्याण चाहता है, उसे यमराज लूटता है। यमराज है वासनाएं। आलसी मनुष्यों को उनके मन की वासनाएं रात-दिन रुलाती हैं। जिसके हृदय में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास तथा अत्मनियंत्रण नहीं है उसका उद्धार करने वाला दूसरा कोई नहीं है।

संसार का काम दूसरों के भरोसे पर छोड़ना भी पड़ता है, परन्तु आत्मकल्याण का काम तो बिलकुल स्वयं को ही करना पड़ता है। यदि हम घर नहीं बना सके तो हमारे परिवार या समाज के दूसरे व्यक्ति उसे बना लेंगे। इसी प्रकार अमुक काम हम नहीं कर सके तो उसे दूसरा साथी कर लेगा; परन्तु हमारा आत्मकल्याण दूसरा नहीं कर सकता। उसे तो हमें ही करना पड़ेगा। अतएव अपनी जिम्मेदारी से कतराकर हम छुट्टी नहीं पा सकते। हमें अपना उद्धार स्वयं के पुरुषार्थ से करना है, यह निश्चय कर उसके लिए डट पड़ना चाहिए।

सर्वोच्च सन्त के लक्षण

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय।।१६७।।

शब्दार्थ—जड़ = मौन, भोलाभाला। बल = अहंकार। पला = पल्ला, आंचल, कपड़े का छोर, दामन, अंगरखे का निचला भाग।

भावार्थ—विवेकवान पुरुष सत्य को भली-भांति समझ-बूझकर भी भोले-भाले बन जाते हैं और सम्पूर्ण अहंकार को छोड़कर निर्मानी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे निर्मल संत का कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता, अर्थात उन्हें कोई प्रपंची नहीं बना सकता।।१६७।।

व्याख्या—शास्त्रज्ञानी, बौद्धिकज्ञानी एवं वाचिकज्ञानी ही अपने अर्जित ज्ञान का जा-बेजा प्रदर्शन करता रहता है। उसकी "बदो तो पंच न बदो तो पंच" वाली दशा रहती है। वह अनधिकारी के सामने भी अपना ज्ञान झाड़ता रहता है। उसे जनता को यह बताना रहता है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूं। वह जानकारी को ही ज्ञान मानता है और उसका हर जगह प्रदर्शन करते रहना ज्ञान की स्थिति मानता है।

सच्चे ज्ञानी की स्थिति इससे भिन्न होती है। सच्चा ज्ञानी वह है जिसने गलत और सही को, जड़ और चेतन को, बंधन और मोक्ष को तथा प्रापंचिकता एवं दिव्य रहनी के भेद को ठीक से जान लिया है और जानकर त्यागने योग्य को जीवन से त्याग दिया है और पवित्र रहनी में रहकर अपने दिव्य चेतनस्वरूप में रमता है। वह अपने अन्तःकरण और वाणी को विशेषतः मौन रखता है। वह केवल पात्र देखकर उसके कल्याण के लिए कुछ कहता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि सच्चे ज्ञानी का अर्थ वाणी को पूर्णतया मौन कर देना है। वस्तुतः उसका मन मौन हो जाता है। मौन हो जाने का तात्पर्य अनासक्त हो जाने से निर्वात हो जाना है। उसके मन में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। उसके सारे तर्क शांत हो जाते हैं। उसके सारे भौतिक नाम-रूप मिथ्या हो जाते हैं, इसलिए वह अपने नाम-रूप की निंदा-प्रशंसा में आंदोलित नहीं होता। उसके चित्त में द्वन्द्व नाम की कोई बात नहीं होती। अतएव वह जानने योग्य को जानकर तथा करने योग्य को करके भी भोलाभाला बन जाता है। उसका चित्त तरंगरहित सागर की तरह प्रशांत होता है। वह अपने आप को समस्त भौतिक सत्ता से सर्वथा अलग कर लेता है। इसलिए उसके मन से समस्त भौतिक पदार्थों, पद एवं प्राणियों की अहंता-ममता का सर्वथा अन्त हो जाता है। अतएव वह सारे बल को छोड़ देता है। वह शरीरबल, बुद्धिबल, विद्याबल, शासनबल, स्वामित्वबल, जनबल, धनबल आदि समस्त बलों को अपनी आत्मा से अलग समझकर उनके अहंकार से सर्वथा अलग हो जाता है। वह सब बलों को छोड़कर निर्बल हो जाता है। ऐसा निर्बल व्यक्ति आत्मिक बल से महान बलवान हो जाता है। जो भौतिक बल का अहंकार छोड़ देता है उसका बल अपार हो जाता है।

जिसने वास्तविकता को समझकर सारे अहंकार को छोड़ दिया और भोलाभाला बन गया वह ज्ञानी पुरुष सबकी पकड़ से बाहर हो जाता है। उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। पल्ला का अर्थ है शरीर में पहने हुए कपड़े का छोर। यदि हमें किसी मनुष्य को पकड़कर उसको वश में करना है तो उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ने से वह शीघ्र वश में हो जाता है। उसके हाथ, कमर या पैर पकड़ने से वह झिड़ककर तथा अपने आप को छुड़ाकर भाग सकता है, परन्तु जब उसके पहने हुए कपड़े को पकड़ लिया जाता है तब वह नहीं छुड़ा सकता।

जो मूर्ख और निर्बल है वह किसी काम लायक नहीं है, परन्तु जो जानने योग्य को जानकर और करने योग्य को करके मूर्ख तथा निर्बल बन जाता है, अर्थात भोलाभाला तथा निर्मानी बन जाता है, वह वस्तुतः महाज्ञानी एवं महा बलवान हो जाता है। उसका

कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। अहंकारी आदमी ही फंसता है। जिसके सारे अहंकार बी चुके हैं उसे कोई फंसा नहीं सकता।

अपने आपको चारों ओर से समेट लेना ही मोक्ष है। ऋषि सनत्कुमार कहते हैं– "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।"[1] अर्थात जहां कुछ अन्य नहं देखता, कुछ अन्य नहीं सुनता एवं कुछ अन्य नहीं जानता, वह भूमा है।

मौलाना रूम कहते हैं—

चश्म बंदौ गोश बंदौ लब बिबंद।
गर न बीनी सर्रेहक़ बरमन बखंद।।

अर्थात आंखें बंद कर लो, कान बंद कर लो और ओठों को बंद कर लो, इतने प भी सत्य के दर्शन न हों तो मेरा मजाक उड़ाना।

पहुंचा हुआ सन्त लड़ता नहीं। वह हार मानता है। वह हारकर जीत जाता है औ अहंकारी आदमी जीतकर हार जाता है। "हारा सो हरि को मिले, जीता जमपुर जाय' निर्मान व्यक्ति शांति पाता है और अहंकारी वासनाओं के द्वन्द्व में उलझता है। शांति ह हरि है और वासनाओं का द्वन्द्व ही यमपुर है। अतएव सच्चा सन्त, पूर्ण सन्त निर्मान ए निर्द्वंद्व होकर विचरता है। किसी ने कितना अच्छा कहा है—

अनुराग सो निजरूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
सन्तोष सम सीतल सदा दम देहवंत न पेखिए।।
निर्मल निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।।

सच्चे सिद्धान्त और मनुष्य की पहचान

हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट।
कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट।।१६८।।

शब्दार्थ—हीरा = एक बहुमूल्य रत्न जो अत्यन्त कठिन और सफेद चमक वाला होत है, सत्य बात, सत्य सिद्धांत, अच्छा आदमी, पूर्ण संत। घनन = घन का बहुवचन, लुहा का भारी हथौड़ा घन कहलाता है। कुरंगी = कुभावनाओं से भरा। खोट = बुराई, दोष खोटा-घटिया, दुरात्मा।

भावार्थ—हीरा वही प्रशंसनीय है जो घनों की चोट सहन कर ले और न टूटे। इसी प्रकार बात, सिद्धांत एवं मनुष्य वे ही प्रशंसनीय हैं जो तर्कों तथा द्वंद्वों में न टूटें। परन्तु कपट और कुभावनाओं से भरे मनुष्यों पर, परख की कसौटी लगाते ही वे खोटे निकलत हैं।।१६८।।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ७/२४/१।

व्याख्या—हीरा एकदम उज्ज्वल और बहुत कठोर होता है। उस पर घन की चोट मारने पर भी वह नहीं टूटता। मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें लड़ाया जाता है तब वे एक दूसरे को काटते हैं। हीरा ही हीरे को काटता है। वह घन से नहीं टूटता। यहां हीरे का उदाहरण केवल इतना ही है कि वह घनों की चोट सहता है। उनसे टूटता नहीं। सद्गुरु इस उदाहरण से यह बताना चाहते हैं कि सत्य बात एवं सत्य सिद्धांत इसी प्रकार ठोस होते हैं। वे तर्कों से कटते नहीं। उन्हें कोई न माने यह अलग बात है, परन्तु वे अटल हैं। सिद्धांत का अर्थ है जो अन्त में सिद्ध हो, सिद्ध+अन्त=सिद्धांत। जो सारे निर्णयों के बाद निष्कर्ष हो वही सिद्धांत है। नाना मतों-द्वारा प्रचलित अवधारणा सिद्धांत नहीं है, किन्तु विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल तथ्य सिद्धांत है। झूठी दैवीकल्पना और धूर्ततापूर्ण चमत्कार सिद्धांत नहीं है, किन्तु वस्तुपरक बुद्धि-द्वारा एवं जड़-चेतन के गुण-धर्मों-द्वारा उनकी ठीक से परख कर लेने के बाद स्थिर तथ्य सिद्धांत है। वह अकाट्य होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—ये पांचों विषय दृश्य और इनके द्रष्टा, विषयी अर्थात विषयों को जानने वाले नाना चेतन हैं, ये परम सत्य हैं। जड़ और चेतन अर्थात प्रकृति और पुरुष दोनों सत्य हैं। जड़ विजाति, विकारी, परिवर्तनशील और मुझ चेतन से सर्वथा अलग है और चेतन निर्विकारी तथा मेरा सहज स्वरूप है। अतएव जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने सहज चेतनस्वरूप में स्थित होना ही मनुष्य का परम उद्देश्य है—यही शाश्वत सिद्धांत है। यह अकाट्य है। शक्ति चले तक किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना, किन्तु जहां तक बन सके दूसरे को सुख-सुविधा देना मानव का धर्म है, यह परम सिद्धांत है। हम दुख नहीं चाहते। इसी प्रकार दूसरे प्राणी भी दुख नहीं चाहते; अतएव किसी को दुख न पहुंचाना हमारी मानवता है और यही अपने लिए भी सुरक्षित पथ है। जो दूसरों को दुख देगा या देना चाहेगा, वह स्वयं दुखों से खाली नहीं रहेगा। इसलिए सबके साथ दया और प्रेम का बरताव ही सुरक्षित पथ है! यह अकाट्य बात एवं अटल सिद्धांत है। यह तर्कों से कट नहीं सकता।

इसी प्रकार वह मनुष्य प्रशंसनीय है जो दुख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि से विचलित न हो। संसार में वे ही ऊंचे उठते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर उनसे विचलित न होकर अपने सत्पथ पर बने रहते हैं। बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी आदि अनेक नाम लिये जा सकते हैं जो प्रतिकूलता आने पर उसे सहते रहे और अपने सत्पथ में अडिग बने रहे। प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने झुक जाने वाला व्यक्ति सत्पथ पर नहीं चल सकता। उपर्युक्त सभी नामों में कबीर अत्यन्त निर्भीक नाम है जिसने सबकी गलतियों पर करारा तर्क किया और उन सबके द्वारा प्रतिकूलता पाकर उन्हें अमृत के समान सहा और सब पर विजयी हुआ। "हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट" यह पंक्ति, इस पंक्ति के कहने वाले पर ही ज्वलंतरूप से घटती है। जो सुख-सम्मान और जीवन-मृत्यु की परवाह छोड़ देता है उसका रास्ता कोई नहीं रोक सकता। मखमली गद्दे में पड़े-पड़े रबड़ी-मलाई चाटते-चाटते मर जाने वाले बहुत हैं जिनका कोई मूल्य नहीं है। आधा पेट सूखी रोटी खाकर जन-सेवा करने वाले, कांटों की टोपी पहनने वाले, विष का प्याला पीने वाले, क्रास तथा सूली-फांसी पर

चढ़ने वाले, खांड़े की धार पर चलने वाले, पिस्तौल की गोली खाने वाले वे धन्य हैं जो जीवनभर किसी भय के सामने अपने सत्पथ से रत्तीभर विचलित नहीं हुए। वे ही संसार में हीरा हैं। जड़ हीरे का उदाहरण तो एक उपलक्षण मात्र है। अविचलित महामानव संसार में सर्वोच्च है।

"कपट कुरंगी मानवा, परखत निकरा खोट" कपट और बुरी भावनाओं से भरा हुआ आदमी परख लगाते ही खोटा निकल जाता है। जैसे असत्य बातें परख की कसौटी पर कसते ही निरर्थक हो जाती हैं, वैसे कच्चा आदमी भी कसौटी में नहीं ठहरता। ऐसे लोग थोड़ी कठिनाई आने पर सत्पथ छोड़ बैठते हैं। अंग्रेजी शासन के विरोध में कांग्रेस-द्वारा चलाये गये सन् बयालिस के आंदोलन में जब कांग्रेसी कार्यकर्ता पकड़-पकड़कर जेल ले जाये जाने लगे तब जहां शूरवीर कार्यकर्ता अंग्रेजी शासन को ललकारते हुए हंस-हंस कर जेल जाते थे, वहां कच्चे कांग्रेसी माफी मांग-मांगकर जेल जाने से अपने आप को बचा लेते थे। ऐसे लोगों की दुनिया में क्या कीमत है! जो कांटों की शय्या से भागता है वह कुछ नहीं कर सकता। 'भुजगशयनम्' होकर भी 'शांताकारम्' रहने वाला ही 'विष्णु' हो सकता है, व्यापक एवं महान हो सकता है। सांप पर सोकर शांत रहना एक आलंकारिक कथन है। इसका मतलब है प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलते हुए भी शांत रहना।

हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट।
जब आवै जन जौहरी, तब हीरों की साट॥१६९॥

शब्दार्थ—हरि = ज्ञान। जन = नाना मत के गुरुजन। हाट = बाजार, सत्संग। जन जौहरी = पारखी। साट = परख।

भावार्थ—सभी मत के गुरुजनों ने अपने ज्ञानरूपी हीरों को सत्संगरूपी बाजार में फैलाकर दुकानें लगा रखी हैं। परन्तु जब कोई ज्ञान-हीरे का सच्चा पारखी आयेगा, तब इनके हीरों की परख करेगा। सच्चा पारखी ही असली तथा नकली हीरे की परख करता है॥१६९॥

व्याख्या—नाना मत के गुरुओं ने जो कुछ अवधारणाएं बना रखी हैं उन्होंने उन्हें सच्चा ज्ञान मान रखा है, परन्तु ज्ञान वही सच्चा है जो तर्कयुक्त एवं विवेकपूर्ण है। नाना स्वर्गलोकों की कल्पनाएं, उनमें कल्पित देवी-देवताओं एवं जोरावर ईश्वर के रहने की अवधारणाएं एवं उनकी खुशामद करने वालों को वहां पहुंचकर दिव्य भोगों की प्राप्ति, उन दिव्य भोगों की चरम परिणति हूरों (अप्सराओं, वेश्याओं) और गिल्मों (सुन्दर युवकों) से सहवास—मल-मूत्र का विलास जो इस दुनिया में सूअर, कुत्ते, बन्दर भी यथेष्ठ करते रहते हैं—दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के लोगों का यही परम ज्ञान है।

बहुत-से लोग अपनी आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना करते हैं और उसे परम सत्यवत सिद्ध करते हैं। इतना ही नहीं, वे उससे मिलकर परमानंद पाने की भी आशा रखते हैं। कितने लोग किसी देहधारी मनुष्य को जो हजारों वर्ष पहले जन्म कर मर चुका है, अनन्त ब्रह्मांडनायक मानकर उससे आज मिलने की आशा ही नहीं परम विश्वास रखते हैं और उससे मिलकर अनन्त सुखी हो जाने की आशा रखते हैं। कितने लोग

कवियों तथा भावुकों-द्वारा गढ़े गये कल्पित देवी-देवताओं को इतना परम सत्य मान रखे हैं कि वे सब अभी अपनी पूरी शक्ति से विद्यमान हैं और जो चाहें वह कर सकते हैं। उनकी प्रार्थना, खुशामद एवं पूजा करने से वे सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि दे सकते हैं। जबकि उनका पोलखाता यह है कि उनकी मूर्तियां ही मन्दिरों से चोर उठा ले जाते हैं और वे उनका कुछ नहीं कर पाते। कितने लोग मंत्र, तंत्र, भूत-प्रेत आदि की जालसाजी को ही परम विद्या एवं ज्ञान मान रखे हैं जो केवल मक्कारी है। कितने लोगों का ज्ञान है धर्म, भगवान और महात्माओं के नाम पर गढ़ा गया चमत्कार, जो एक जालसाजी है। धर्म, भगवान एवं महात्माओं के नाम पर जहां जो कुछ कह या लिख दिया जाता है उस पर कोई तर्क करने की हिम्मत नहीं रखता। इस प्रकार ज्ञान तथा हीरे के नाम पर बहुत कुछ कूड़ा-कबाड़ बिकता रहता है।

जब ज्ञान का पारखी आता है, तब वह अपनी परख की कसौटी लगाकर सबकी परख करता है। वह तर्क, युक्ति एवं विवेक का सहारा लेता है। वह देखता है कि विश्व के नियम क्या हैं और उनके द्वारा वह सारे ज्ञान को कसता है। जिसने ईश्वर, गुरु तथा धर्मशास्त्र के नाम पर अपनी अक्ल को बेच दिया है वह ज्ञान का सच्चा हीरा कभी नहीं पा सकता। गुरु आदरणीय हैं तथा शास्त्र आदरणीय हैं, परन्तु अपनी विवेकबुद्धि कम आदरणीय नहीं है, बल्कि वही मुख्य है। हम अपनी विवेकबुद्धि से ही गुरुओं एवं शास्त्रों की बातों को समझ पायेंगे। बुद्धिहीन आदमी के लिए गुरु तथा शास्त्र निरर्थक हैं। शास्त्रों की दोहाई देते-देते सच्चा ज्ञान लुप्त हो गया है। सच्चे ज्ञान के लिए तर्क तथा निरख-परख की महती आवश्यकता है।

जड़-चेतन का निर्णय, उनमें निहित एवं स्वभावसिद्ध गुण-धर्मों से जगत की स्थिति, जड़ से भिन्न अपने चेतनस्वरूप का बोध, सदाचार एवं नैतिकता से चित्तशुद्धि, वासनाओं का त्याग कर स्वरूपस्थिति—ये सब सच्चे ज्ञान के हीरे हैं। पारखी इन्हें ही लेते हैं, शेष को परखकर छोड़ देते हैं।

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ कुँजरों की हाट।
सहजै गाँठी बाँधि के, लगिये अपनी बाट॥१७०॥

शब्दार्थ—कुँजरों = साग-पात बेचने वाले। हाट = बाजार। बाट = मार्ग, रास्ता।

भावार्थ—हीरे की दुकान वहां नहीं लगाना चाहिए जहां साग-पात बेचने वाले कुंजड़ों का बाजार हो। वहां से तो हीरे को धीरे से गांठ में बांध कर अपना मार्ग पकड़ना चाहिए। अर्थात अपात्रों के सामने ज्ञान की बातें करना निरर्थक है॥१७०॥

व्याख्या—सब्जी मण्डी में यदि कोई जौहरी अपने हीरों की दुकान लगावे तो उसके हीरे बिक नहीं सकते। क्योंकि एक तो साग-पात बेचने तथा खरीदने वाले हीरे की परख नहीं जानते हैं, दूसरी बात उनके पास वहां उतने रुपये होते ही नहीं कि हीरे खरीद सकें। इसी प्रकार जो स्थूल उपासना, स्थूल कर्मकांड एवं मन्त्र-तन्त्र में उलझे हैं वे जड़-चेतन का निर्णय, विश्व के शाश्वत नियम, स्वरूपज्ञान, वासना-त्याग, स्वरूपस्थिति आदि की बातों को समझना ही नहीं चाहते। इसलिए उनके सामने अपनी बातें कहकर अपने समय और

शक्ति को क्यों बरबाद करे, क्योंकि वे उनसे कोई लाभ नहीं ले सकते। वे तर्कपूर्ण एवं तात्त्विक बातें इसलिए भी नहीं समझना चाहते कि उनकी काल्पनिक मान्यताएं धराशायी हो जायेंगी। ऐसे लोग सत्य निर्णय से दूर भागते हैं। इसके अलावा कुछ लोग तो ऐसे मूढ़ होते हैं कि वे निर्णय को समझ ही नहीं सकते।

यहां एक प्रश्न उठता है कि यदि साधारण जनता में सत्य नहीं कहा जायगा तो उनको उसे समझने का अवसर कब मिलेगा? देखा भी जाता है कि जड़-से-जड़ कर्मी-उपासक सत्य को सुनकर जग जाते हैं। पारख सिद्धान्त में आने वाले कितने ही लोग पहले के घोर कर्मी-उपासक होते हैं। यदि जड़ मान्यताओं में उलझे हुए लोगों को खरे निर्णय नहीं सुनाये जायेंगे, तो उनको सत्यज्ञान नहीं हो सकता। अपनी सत्य बात जब जनता में कही जायेगी, तब उसमें से जो पात्र होगा वह ग्रहण कर लेगा। ऐसी बातों का अनुभव भी किया जाता है।

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी कथन प्रायः सापेक्ष होते हैं। अर्थात हर कथन में एक पक्ष होता है, परन्तु उसके साथ दूसरा पक्ष भी होता है। कुंजड़ों की हाट में हीरे नहीं बिक सकते, यह कथन परम सत्य है। इसी प्रकार कहीं-कहीं ऐसा होता है कि वहां सत्य निर्णय करना अपने समय तथा शक्ति का दुरुपयोग करना है। लोकोक्ति है "अंधों के आगे रोना, अपना दीदा खोना" अथवा "भैंस के आगे बेन बजावै, भैंस ठाढ़ि पगुराय"। ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं कि वहां चुप रहना ही ठीक पड़ता है, "सहजै गाँठी बाँधिके, लगिये अपनी बाट।" की बात ही ठीक रहती है, क्योंकि वहां के लोग बिलकुल पात्र नहीं होते। यह भी है कि जो आदमी किसी समय अपात्र होते हैं, दूसरे समय वे पात्र हो जाते हैं। व्यक्तिगत पात्रता देखकर उपदेश करना पड़ता है। समूह तथा सभा में सब प्रकार की बातें कही जा सकतीं हैं। फिर वहां भी यह तो ध्यान रखना ही चाहिए कि सभा के बहुसंख्यक लोगों का मानसिक स्तर क्या है!

इस साखी का सार इतना ही है कि जो व्यक्ति जिस बात का पात्र नहीं है उसके सामने वैसी बात करके अपने तथा उसके समय को बरबाद न करे।

हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय।
केतेहिं मूरख पचि मुये, कोइ पारखि लिया उठाय॥१७१॥

शब्दार्थ—छार = धूल। पारखि = पारखी, परखने वाला, विवेकी।

भावार्थ—हीरा बाजार में पड़ा है और उस पर धूल लिपट गयी है। कितने मूर्ख मनुष्य उसकी खोज में दुखी होकर उसके आस-पास से आते-जाते हैं और उसे नहीं पहचान पाते। परन्तु जो उसका पारखी है, वह उसे पहचानकर उठा लेता है। अर्थात सत्य का हीरा हम लोगों के बीच में ही है, परन्तु उसे सब नहीं परख पाते, कोई पारखी परखकर ग्रहण करता है॥१७१॥

व्याख्या—सत्य ज्ञान, सत्य पदार्थ हीरा है और वह जीव ही है। मनुष्य के लिए उसकी अपनी आत्मा ही परम सत्य और हीरा है। उसका ज्ञान हो जाना मानो हीरे को पा

जाना है। मनुष्य सत्य ज्ञान का हीरा पाना चाहता है। परन्तु उसे हीरे की परख नहीं है जैसे हीरा धूल में लिपटा हो और अनाड़ी आदमी उसे कांच की गोली समझकर छोड़ दे वैसे यह हृदय-निवासी जीव मल, विक्षेप तथा आवरणों से लिपटा है, इसलिए संसार के बहुत-से ज्ञानी कहलाने वाले लोग इसे तुच्छ समझते हैं। लोग कहते हैं "यह जीव तो अंश, प्रतिबिंब, आभास आदि है, यह तो इच्छा-द्वेष में लिपटा अल्पज्ञ है। यह तो केवल सत्-चिद् है, सच्चिदानंद इससे अलग है। जीव अपने आप में कभी पूर्ण नहीं हो सकता यह तो परमात्मा को पाकर ही पूर्ण हो सकता है, इत्यादि।" यह सारी अवधारणाएं जीव के महत्व को न समझने का परिणाम है। यह ठीक है कि जीव अल्पज्ञ है, परन्तु इससे अलग सर्वज्ञ की केवल कल्पना है। अल्पज्ञ और बहुज्ञ देखे जाते हैं, जो जीव हैं। सर्वज्ञ की तो केवल कल्पना है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से दुखी है। परन्तु वह अपने दिव्य स्वरूप को समझकर तथा संसार की इच्छाएं छोड़कर पूर्ण सुखी हो सकता है। हमारे अपने लिए दूसरे से प्राप्त सुख कभी स्थायी नहीं हो सकता। हमारे लिए स्थायी सुख वही होगा जो हमारा अपना है। मनुष्य अपने स्वरूप को न पहचानता है और न संसार की इच्छाएं छोड़ता है, इसलिए वह अलग ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है कि वह आकर हमें सुख देगा। यदि व्यक्ति अपने ज्ञानस्वरूप को समझ ले और संसार की इच्छाएं छोड़ दे, तो वह स्वयं सुख एवं आनन्द का सागर है। उसे किसी ईश्वर तथा ब्रह्म को पुकारने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं "जीव तो असमर्थ है। यह तो चांद-सूरज का एक टुकड़ा भी नहीं बना सकता, ईश्वर समर्थ है जिसने अनन्त ब्रह्मांड बनाया है।" ये सारी बातें अज्ञान की हैं। अनन्त विश्व-ब्रह्मांड अपने गुण-धर्मों से स्वयंसिद्ध पदार्थ है। द्रव्य और गति नित्य हैं। इनसे जगत के पदार्थों के संव्यूहन और विघटन होते रहते हैं। इसे किसी ईश्वर ने बनाया नहीं है। सारा संसार किसी ईश्वर ने बनाया है, यह बच्चों की घोषणा की तरह है। जीव चांद-सूरज का एक टुकड़ा नहीं बना सकता, तो कागज, कलम, किताब, मकान मशीन, ट्रेन, मोटर आदि तो बना ही सकता है। ईश्वर तो सायकल का एक पंचर भी नहीं बना सकता। क्योंकि जीव से अलग ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है। चाहे अल्पज्ञ कहें या बहुज्ञ या सर्वज्ञ, जो कुछ ज्ञाता है यह जीव ही है। जीव से अलग ज्ञाता नाम की कोई चीज नहीं है। सारे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कारक जीव है! जीव से अलग ईश्वर-ब्रह्म तो जीव ही की कल्पना है। जीव अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना इसलिए करता है क्योंकि उसे अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वह अपने से अलग ईश्वर-ब्रह्म को पाने का भटकाव छोड़ देता है।

"केतेहिं मूरख पचि मुये" कितने ही अनाड़ी लोग जीवनभर हीरा खोजते रह जाते हैं और वह नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने हीरा को अपने से अलग मान रखा है। उन्हें धूल में लिपटा हीरा, हीरा नहीं लगता। उन्हें भूख-प्यास, हाड़-मांस में लिपटा जीव, शिव नहीं लगता। इसलिए वे जीवनभर जीव की, अपने स्वरूप की अवहेलना ही करते रह जाते हैं। मृगा अपनी नाभि में स्थित सुगंधि के आधार कस्तूरी को जीवनभर बाहर ही खोजते खोजते अन्त में उसकी अप्राप्ति की अनुभूति ही में मर जाता है। मूर्ख मनुष्य की दशा भी

ऐसी ही है। वह परमानंदमय परमात्मा को जीवनभर अलग ही खोजते-खोजते उसव अप्राप्ति की अनुभूति में ही मर जाता है। यदि वह जान पाता कि परमानन्दमय परमात्म मैं ही हूं तो उसका भटकाव बन्द हो जाता। अपने चेतनस्वरूप को न समझने तथा विषयं की इच्छा करने से ही सारे दुख हैं। स्वरूपज्ञान तथा इच्छानिवृत्ति के बाद व्यक्ति स्व परम कल्याणमय हो जाता है। अतएव "कोइ पारखि लिया उठाय" परम सत्य तथ्य है जो अपने स्वरूप का पारखी है वह अलग नहीं भटकता। पारखी का भटकाव मिट जात है।

इस साखी का अर्थ हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—संत रूप हीरा संसार-बाजार में पड़े हैं। उनके ऊपर धूल लिपटी है अर्थात वे भी जल, भोजन, वस्त्र, औषध आदि का सेवन करते हैं, उनके पास भी भौतिक शरीर तथा उनके व्यवहार हैं। इसलिए साधारण बुद्धि वाले मनुष्य संतों को नहीं परख पाते। वे समझते हैं कि साधु वह है, जो खाता-पीता न हो या अलौकिक रूप से रहता हो। परन्तु कोई संतों का पारखी समझता है कि क्या ज्ञानी तथा क्या अज्ञानी, सब देहधारियों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को लेना ही पड़ता है। संत का संतत्त्व उसके ज्ञान तथा पवित्र रहनी में है। ज्ञानी तथा अज्ञानी का शारीरिक दृष्टि से कोई बड़ा अन्तर नहीं रहता, किन्तु मानसिक दशा में जमीन आसमान का अन्तर रहता है। संतों का पारखी ही संतों का मूल्य समझता है, बे-पारखी संतों की अवहेलना करते हैं।

हीरों की ओबरी नहीं, मलयागिरि नहिं पाँत।
सिंहों के लेहँड़ा नहीं, साधु न चले जमात॥१७२॥

शब्दार्थ—ओबरी = कोठरी। लेहँड़ा = झुंड। जमात = भीड़, समाज।

भावार्थ—उत्तम हीरों से भरी कोठरी नहीं होती, पंक्ति की पंक्ति मलयगिरि नहीं होते, सिंहों के झुंड नहीं होते और पूर्णत्व प्राप्त संतों की भीड़ नहीं होती॥१७२॥

व्याख्या—जौहरियों के यहां उत्तम हीरों से मकान-के-मकान नहीं भरे रहते हैं। उत्तम हीरे तो थोड़ी संख्या में होते हैं। इसी प्रकार मलयगिरि के सही पेड़ पर्वतों में कहीं बिरले होते हैं। उनका कोई बाग नहीं होता। वन में सिंह भी झुंड-के-झुंड नहीं होते। वे कहीं कहीं इक्के-दुक्के होते हैं। पूर्णत्व प्राप्त संतों की बात भी यही है। वे कहीं-कहीं बिरले होते हैं।

कुछ लोग उक्त साखी को लेकर कुतर्क करते हैं "साधु न चले जमात—साधु की जमात नहीं होती अर्थात समाज बांधकर संत नहीं चलते। जहां जमात या समाज है वह संत नहीं, और जहां संत है वहां जमात या समाज नहीं।" ऐसा कुतर्क वही करता है जो अधूरी बुद्धि का होता है। उक्त साखी में संत-समाज का खण्डन नहीं है। यहां "साधु न चले जमात" कहकर सद्गुरु ने साधु शब्द से पूर्णत्व प्राप्त एवं जीवन्मुक्त संतों की ओर इशारा किया है। यह बात सच है कि जीवन्मुक्त संतों की भीड़ नहीं होती। वे बिरले-बिरले होते हैं, परन्तु इससे कोई यह अर्थ लगा ले कि यहां सामान्य साधुओं का तिरस्कार किया गया है, तो गलत है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ बच्चा भी विद्यार्थी है और एम० ए० में

पढ़ता हुआ युवक भी विद्यार्थी है। कक्षा एक में पढ़ता हुआ विद्यार्थी निंदनीय नहीं है। वह भी यदि पढ़ता रहा तो किसी दिन एम० ए० में पहुंच जायेगा। इसी प्रकार साधारण साधना में चलने वाले साधक भी साधु हैं और पूर्णत्त्व को प्राप्त साधक भी साधु हैं। साधारण साधु निंदनीय नहीं हैं। यदि साधना में लगे रहें तो वे भी एक दिन पूर्णत्त्व प्राप्त कर लेंगे। अतएव इस साखी में जीवन्मुक्त एवं पूर्णत्वप्राप्त संत की विरलता बतायी गयी है। साधारण साधु की इसमें निंदा या उपेक्षा नहीं है। श्री रामरहस साहेब ने दोनों का समन्वय करके कहा है—

साधु साधु सबहीं बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर।। पंचग्रन्थी।।

जिस व्यक्ति ने जानने योग्य को जान लिया, करने योग्य को कर लिया तथा पाने योग्य को पा लिया, वह कृतार्थ हुआ पूर्णत्वप्राप्त संत है। जानने योग्य अपना स्वरूप एवं अपनी आत्मा है, उसे जान लिया, करने योग्य वासना का त्याग है, उसे कर लिया तथा पाने योग्य स्वरूपस्थिति है उसे पा लिया, तो ऐसे मनुष्य को अब न कुछ जानना बाकी रहा, न करना तथा न पाना शेष रहा। ऐसा पूर्ण तृप्त मनुष्य ही पूरा संत है और ऐसे संत विरल होते ही हैं।

सत्यज्ञान सम्प्रदायों से ऊपर है

अपने-अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान।
हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान।।१७३।।

शब्दार्थ—शिरों का = आरम्भ का, परम्परा का। हरि = तत्त्व-बोध, यथार्थ ज्ञान। दुरन्तरी = दुर्विज्ञेय, जानने में कठिन, दूर।

भावार्थ—संसार के प्रायः सभी लोग निरख-परख किये बिना अपनी-अपनी परम्परा एवं सम्प्रदाय की बातों को स्वीकार लेते हैं, इसलिए यथार्थ ज्ञान की बातें समझना उनके लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। कोई भी व्यक्ति केवल परम्परावादी बन कर सत्य को नहीं समझ सकता।।१७३।।

व्याख्या—प्रायः हर व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, मजहब एवं परम्परा में जन्म लेता है। जो आदमी जिस परम्परा में जन्म लेता है, वह उसकी रीति तथा नियमों का प्रायः पालन करने लगता है और उसकी निर्धारित बातों को मानने लगता है। यह बात सामान्य लोगों के लिए एक पक्ष में हितकर है, परन्तु आगे चलकर सच्चा ज्ञान पाने के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोधक है। हर परम्परा में जीवन जीने के कुछ अच्छे नियम बताये गये हैं और उनकी कुछ निर्धारित मान्यताएं हैं, जिनमें भले ही बहुत-सी बातें केवल काल्पनिक हों, परन्तु उन बातों से किसी-न-किसी प्रकार मनुष्य को अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए सामान्य मनुष्य अपनी परम्परा के अनुसार कुछ अच्छे नियमों का पालन करते हुए यदि सदाचार से चल रहा है तो यह ठीक है। हां, यदि धर्म, देवी, देवता तथा ईश्वर के नाम पर वध, बलि या कुर्बानी कहकर जीव-हत्या की जाती है तो यह अत्यन्त पाप है,

सबके लिए त्याज्य है। अतएव हत्यादि कलुषित नियम एवं मान्यताएं छोड़कर अन्य नियमों एवं मान्यताओं से मनुष्यों का कुछ लाभ होता है।

इस साखी में सद्गुरु बड़ी ऊंची बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि यदि किसी को सत्यज्ञान का मोती पाना है, तो उसे परम्परा का मोह छोड़ना पड़ेगा। यह ठीक है कि हर जनसमूह की एक परम्परा बन जाती है और हर परम्परा में कुछ औपचारिक नियम भी होते हैं, और उनका पालन करना ठीक होता है। परन्तु वस्तुज्ञान की जगह पर केवल परम्परा का पुछलग्गू बने रहने से काम नहीं चल सकता। यदि सौभाग्य से अपनी ऐसी परम्परा या सम्प्रदाय है जिसमें सारे ज्ञान निर्दोष, तथ्यपूर्ण एवं ठोस हैं तो अति उत्तम है। परन्तु यदि हम जिस परम्परा में हैं, उसकी अनेक या कुछ बातें तर्कपूर्ण एवं विवेकपूर्ण नहीं हैं तो उन पर पुनर्विचार करना चाहिए। कुछ स्वागत तथा शिष्टाचार के नियम, कुछ वेष, चिन्ह तथा कुछ ऐसी ही औपचारिकताएं चलते रहना कोई बात नहीं है; परन्तु यदि वस्तुबोध, आचरण एवं रहनी में ही भ्रांति उत्पन्न करने वाले नियम, मान्यताएं एवं सिद्धांत हैं तो ऐसी परम्परा का मोह पकड़े रहने से जीव का कोई कल्याण नहीं है। हर बात को बेमन से मानते हुए हम इसलिए परम्परा में घसिटते जायं कि उसे हमारे पूर्वजों ने माना है, सत्यज्ञान पाने के पक्ष में महा अवरोधक है।

वैसे परम्परा से हमें बहुत-सी अच्छी तथा सत्य बातें सहज ही मिल जाती हैं। इसलिए न परम्परा का खंडन करने की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा करना चाहिए। परन्तु परम्परा एवं सम्प्रदाय की भक्ति के नाम पर असत्य को पालते रहने से किसी का भी कल्याण नहीं है। यह साखी अत्यन्त मार्मिक है। जरा फिर से पूरी साखी पर ध्यान देते हुए उसका मनन करें "अपने अपने शिरों का, सबन लीन्ह है मान। हरि की बात दुरन्तरी, परी न काहू जान।।" सभी मतवालों ने अपनी-अपनी परम्परा-पोषित अवधारणाओं को बिना न-नु-न-च किये मान लिया, इसलिए इन्हें हरि एवं सत्य को समझना कठिन हो गया है। किसी का ईश्वर चार हाथ वाला है, क्योंकि उसकी परम्परा में वही बताया गया है। किसी का ईश्वर धनुर्धारी है, क्योंकि उसके मत में उसी को ईश्वर कहा गया है। किसी का ईश्वर बंशीधारी है, किसी का जटा तथा अर्धचन्द्रधारी। किसी का ईश्वर ब्रह्मलोकवासी है, किसी का गोलोक, किसी का साकेतलोक, किसी का सत्यलोक, किसी का शिवलोक, किसी का सातवें स्वर्ग पर तथा किसी का ईश्वर सातवें तपक पर रहता है। किसी का ईश्वर रास रचाता है तो किसी का ईश्वर नरक तथा रोजकयामत की आग उद्गारता है। किसी के यहां ईश्वर का दूत आया है, किसी के यहां ईश्वर का पुत्र तथा किसी के यहां ईश्वर के अवतार। जिन-जिन की परंपराओं में जो-जो कल्पनाएं गढ़ ली गयी हैं उनमें उन्हीं की लकीर पीटी जाती है। नाना मत के भोले लोगों ने मान रखा है कि हमारी किताबें ईश्वर ने गिरायी हैं। वे बड़े अहंकारपूर्वक कहते हैं कि केवल उन्हीं के मत ईश्वरप्रदत्त तथा स्वर्ग एवं मोक्ष के रास्ते हैं, शेष के मनगढ़ंत एवं काफिरों तथा नास्तिकों के रास्ते हैं। जिन मतवादियों को ईश्वर की ठेकेदारी का भूत सवार होता है, उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वे अन्य को काफिर तथा नास्तिक कहते नहीं अघाते, यद्यपि वे स्वयं केवल कल्पनालोक की परी के स्वप्न देखते रहते हैं।

ऐसे लोगों को हरि की बात समझ में नहीं आ सकती। हरि, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, खुदा = खुद-आ, स्वयं चेतन ही है। केवल परम्पराओं का पुछलग्गू बनकर स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं हो सकता। सारे संस्कारों को हटाकर ही अपने आप को समझा जा सकता है। जो जड़ पांचों विषयों को जानता है तथा अपनी आत्मा से अलग ईश्वरादि की कल्पना करता है, वह सर्व-कल्पक तथा सर्वज्ञाता चेतन ही सर्वोपरि है। परन्तु इस तथ्य को तभी समझा जा सकता है जब परम्पराओं एवं सांप्रदायिक गतानुगतिका को त्यागकर स्वतन्त्र विचार किया जाय।

राम जीव से बाहर नहीं

हाड़ जरै जस लाकड़ी, बार जरै जस घास।
कबिरा जरे रामरस, जस कोठी जरै कपास॥१७४॥

शब्दार्थ—बार = बाल। कबिरा = परोक्ष उपासक जीव। कोठी = बखारी, डेहरी।

भावार्थ—मृत शरीर का दाह करने पर उसकी हड्डी लकड़ी के समान जलती है और बाल घास के समान जलते हैं, परन्तु परोक्ष में राम मानकर उसकी उपासना एवं विरह-वेदना में जीव उसी प्रकार भीतर-भीतर जलता रहा जैसे कोठी में कपास जल जाय और बाहर पता न चले॥१७४॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में शरीर और भ्रांत लक्ष्य की निस्सारता पर एक साथ प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि इस शरीर की क्या विशेषता है! यह देखते-देखते एक दिन निर्जीव हो जाता है तब इसका कोई मूल्य नहीं रहता। इसे लोग मिट्टी में गाड़ देते हैं या पानी में फेंक देते हैं या लकड़ी पर रखकर जला देते हैं। यदि इसे मिट्टी में गाड़ दिये तो यह कुछ ही दिनों में सड़कर मिट्टी बन जाता है, यदि पानी में फेंक दिये तो मछली, कछुआ का भोजन बन जाता है और यदि लकड़ी में रखकर जला दिये तो इसकी हड्डी लकड़ी के समान जल जाती है और बाल घास के समान जल जाते हैं। अंततः शरीर का कोई अस्तित्त्व नहीं रह जाता।

इधर जीवन का लक्ष्य परमशांति की प्राप्ति रहा, वह सफल नहीं हुआ। क्योंकि मनुष्य को राम का यथार्थ बोध नहीं हुआ। उसे यह ज्ञान ही नहीं हुआ कि राम निज स्वरूप ही है और जड़-वासनाओं को त्याग करके निजस्वरूप में स्थित होना ही राम में रमना या राम को पाना है। जीव तो अपने स्वरूप के भूलवश राम को अपने से अलग मानकर उसके दर्शनार्थ रात-दिन व्याकुल बना भटकता रहा। जैसे कोठी के भीतर रखी हुई रुई में किसी कारणवश आग लग जाय और वह भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो जाय, वैसे मनुष्य के भीतर-ही-भीतर जीवनभर राम-वियोग की अग्नि धधकती रही और वह उसमें जलता रहा; परन्तु जीव से अलग कोई राम हो, तो वह मिले। जो लोग भ्रमवश अपनी आत्मा से अलग राम मानकर उसके वियोग का काल्पनिक अनुभव करते हैं, वे जीवनभर केवल दुख का अनुभव करते हैं और अपने समय और शक्ति की बरबादी करते हैं। अलग जब राम है ही नहीं तब वह मिलेगा क्या! इसलिए मनुष्य को चाहिए

कि वह अलग राम की कल्पना छोड़कर अपने स्वरूप को पहचाने, वही राम है, वही रहीम है।

मनुष्य का भटकाव

घाट भुलाना बाट बिनु, भेष भुलाना कान।
जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान॥१७५॥

शब्दार्थ—घाट = नदी-पार जाने का स्थान, तात्पर्य में मोक्षद्वार। बाट = रास्ता, यथार्थ ज्ञान-पथ। कान = कानि, मर्यादा। माड़ी = धारण करना, सजाना, पूजना, ठानना।

भावार्थ—जैसे रास्ता न मिलने से नदी पार जाने का घाट भूल जाय, वैसे यथार्थ ज्ञान-पथ न मिलने से मोक्ष-द्वार भूल जाता है। मोक्ष-पथगामी तथा मोक्षोपदेशक साधु लोग तो अपने वेष की मर्यादा एवं मान-महंती में भूल जाते हैं और जिस जीव के कर्तव्यों की शोभा संसार में फैली है, मनुष्य को उसकी पहचान नहीं होती॥१७५॥

व्याख्या—किसी नदी को पार जाने के लिए उसके घाट पर जाना होता है। जहां घाट नहीं है वहां से नदी को पार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि घाट का रास्ता ही भूल जाय तो घाट पर नहीं पहुंचा जा सकता। मन की उलझनें एक भयंकर नदी है। इससे पार जाने के लिए विवेक घाट है। परन्तु विवेक तक पहुंचने के लिए सत्संग और श्रद्धासंबलित निष्पक्ष बुद्धि का रास्ता चाहिए। आदमी उन्हें ही भूल गया है। बहुधा आदमी न तो विवेकवान संतों की संगत करता है, न श्रद्धापूर्वक निष्पक्ष बुद्धि का प्रयोग करता है। इसलिए न उसके हृदय में विवेक जगता है और न वह संसार-सागर से अर्थात मन की उलझनों से पार जा पाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, शोक, विकलता आदि मन की उलझनें ही संसार-सागर है। बाहर का स्थूल संसार हमें नहीं बांध सकता यदि हमारे मन का संसार शांत हो जाय।

जिन संतों की संगत से हमें संसार-सागर से पार जाने का रास्ता मिलता है उनमें से अधिक लोग अपने-अपने वेष की मर्यादा में भूल गये हैं। जिन संतों को चाहिए था कि वे समस्त सांसारिक बंधनों को मायामय, स्वप्नवत एवं तुच्छ समझकर उससे पार जाने का अपने जीवन में उच्च आदर्श चरितार्थ करते और संसार के लोगों के सामने प्रमाणस्वरूप बनते, वे स्वयं मान-महंती, मूलगद्दी-शाखागद्दी तथा ऊंच-नीच के चक्कर में पड़कर राग-द्वेष के शिकार बने हुए हैं। जैसे गृहस्थी में लोग जाति-पांति के पाखंड में उलझे हैं, वैसे प्रायः साधु लोग वेष के पाखंड में उलझे हैं। कौन मूलगद्दी का है, कौन शाखागद्दी का है, कौन बड़े महंत, मंडलेश्वर, आचार्य और स्वामी हैं तथा कौन छोटे; किसकी गद्दी तथा पाटला दायें लगते हैं और किसके बायें, किसका पाटला आधा इंच ऊंचा है और किसका आधा इंच नीचा, भोजन में किसकी थाली पहले आयी और किसकी दो सेकेण्ड पीछे, पूजा के समय किसके गले में पहले माला पड़ी तथा किसके पीछे—इन-जैसी बहुत बातों का मानसरोग से ग्रसित वेषधारियों में बहुत बारीकी से विचार किया जाता है। जो महात्मा और स्वामी लोग संसार को मायामय, स्वप्नवत और तुच्छ कहते नहीं अघाते, वे ही थोड़ी-थोड़ी बातों में मान-अपमान का बोध करते हुए मानस-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं। वे

संसार के घर, गृहस्थी, स्त्री, पुत्र, धन आदि को झूठे कहते हैं, परन्तु वे अपने मठ, मन्दिर, लकड़ी और रुई-कपड़े की गद्दी तथा शिष्य-शाखा को सत्य ही माने बैठे रहते हैं। इस प्रकार बहुधा वेषधारी लोग वेष की मर्यादा में अपने कर्तव्य-पथ को भूल गये हैं। मन की उलझनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए जो आदर्श बन सकते हैं वे वेषधारी लोग स्वयं मान-मर्यादा की उलझनों में उलझे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि मर्यादा की कोई आवश्यकता नहीं है या आज कोई सच्चे संत हैं ही नहीं। संसार में कुछ मर्यादाएं हैं, परन्तु वे बोझिल नहीं होनी चाहिए और न उनमें उलझना चाहिए। दूसरे की मर्यादा का पालन कर देना चाहिए और स्वयं को सरल रखना चाहिए। सब समय में पृथ्वी पर सच्चे सन्त रहते हैं और आज भी हैं। जिज्ञासु और मुमुक्षु को उन्हें पहचानना चाहिए तथा उनकी संगत से लाभ लेना चाहिए।

"जाकी माड़ी जगत में, सो न परा पहिचान।" 'माड़ना' शब्द का अर्थ है धारण करना, सजाना, पूजना एवं ठानना। इसलिए माड़ी का अर्थ हो जायेगा सम्पादित एवं सजाया हुआ। जड़ और चेतन दो सत्ताएं हैं। संसार में इन्हीं की माड़ी है। सारी भौतिक वस्तुओं का धारण करना, उन्हें सजाना एवं सम्पादित करना जड़सत्ता का स्वभाव है और ज्ञान-विज्ञान का धारण करना, उन्हें सजाना, पूजा-सत्कार का भाव प्रकट करना तथा किसी काम को ठानना, निश्चय करके करना—यह सब चेतन जीव का काम है। जगत में जहां तक जो कुछ होता है इन्हीं जड़-चेतनों की सत्ता का खेल है। परन्तु आदमी तो घाट का बाट ही भूल गया है। इसलिए वह संसार की सारी गतिविधियों में कल्पित देवी-देवताओं की लीला देखता है। भूलवश आदमी ही आदमी को छल रहा है। वेद, बाइबिल, कुरानादि सारे शास्त्रों को मनुष्य ने रचा है, परन्तु उसने उनकी सारी बातों को जनता से मनवाने के लिए यह कहा कि यह ईश्वर के रचे हैं या ईश्वर के भेजे हैं। इस छलावे ने मुख्य दो नुकसान किये, एक तो सारे शास्त्र रचने का श्रेय जो मनुष्य को था उसे उससे हटाकर कल्पित ईश्वर पर लाद दिया गया; दूसरा नुकसान यह हुआ कि वेद, बाइबिल, कुरान एवं धर्मशास्त्र के नाम पर जितनी किताबें हैं उनकी सारी बातों को मनुष्यों को मानना चाहिए; क्योंकि वे ईश्वरप्रदत्त हैं। शास्त्रों की बातें चाहे जितनी बिना सिर-पैर की तथा युगबाह्य हों; परन्तु उन्हें मानना पड़ेगा। जो नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है। ज्ञान-विज्ञान के धारण करने वाले जीव हैं, परन्तु उन्हें तुच्छ, अल्पज्ञ एवं कठपुतली कहा गया और जो केवल जीव की कल्पनाएं हैं, वे देवी-देवता, ईश्वरादि सर्वज्ञ और सर्वकर्ता बन गये। पानी का बरसना अथवा न बरसना जड़ प्रकृति की योग्यता-अयोग्यता पर निर्भर करता है, परन्तु उन्हें काल्पनिक ईश्वर पर डाल दिया गया। प्रत्यक्ष अनुभूत जड़-चेतन की सारी विभूति को कल्पित देवों की विभूति मानकर मनुष्य ने सत्य के साथ कृतघ्नता और असत्य की वकालत की। पथ-प्रदर्शक महात्मा लोग अपनी शास्त्रीय मर्यादाओं में भूलकर जनता के लिए सत्य की ओर प्रेरक न बन सके।

इस प्रकार घाट का बाट भूल जाने से, तथा प्रेरक के ही दिग्भ्रमित हो जाने से मनुष्य का मूल्य गिर गया। न उसे भ्रमरहित दृष्टि मिली और न वह मन की उलझनों से पार हुआ। उसकी बुद्धि भी उलझी रही तथा मन भी उलझा रहा।

अपात्र को उपदेश देने के पीछे मत पड़ो

मूरख सों क्या बोलिये, शठ सों काह बसाय।
पाहन में क्या मारिये, जो चोखा तीर नसाय॥१७६॥

शब्दार्थ—मूरख = मूर्ख, नासमझ, झूठ का पक्ष लेने वाला। शठ = छली, धूर्त। बसाय = वश चलना, शक्ति चलना।

भावार्थ—मूर्ख से बात करके क्या फल होगा तथा शठ से अपना क्या वश चलेगा! चोखा तीर भी पत्थर में मारने से क्या प्रयोजन हल होगा! पत्थर तो टूटेगा नहीं, तीर ही टूट जायेगा। इसी प्रकार उत्तम उपदेश भी अपात्र का तो कोई लाभ नहीं कर सकेगा, स्वयं व्यर्थ जायेगा॥१७६॥

व्याख्या—जो नासमझ हो उसे मूर्ख कहते हैं और झूठ का पक्ष लेने वाले को भी मूर्ख कहते हैं। धूर्त और छली को शठ कहते हैं। शठ का अर्थ मूढ़ता में चिपके रहना भी है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे लोगों को उपदेश देने के चक्कर में नहीं रहना चाहिए जो मूर्ख तथा शठ हैं। ऐसे लोग पत्थर के समान हैं, जिनमें तीर चुभ नहीं सकते, बल्कि वे स्वयं टूट जाते हैं। कुछ लोग ऐसे मूढ़ होते हैं कि उनको उपदेश देने के पीछे पड़ने से उपदेष्टा के समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है और उनका कोई कल्याण नहीं होता। अतएव अपात्रों को चेताने के पीछे ज्यादा नहीं पड़ना चाहिए।

जैसी गोली गुमज की, नीच परी ढहराय।
तैसा हृदया मूरख का, शब्द नहीं ठहराय॥१७७॥

शब्दार्थ—गुमज = गुंबद, शिवालय आदि की गोल छत।

भावार्थ—मंदिर के गोल गुंबद पर रखी गोली लुढ़ककर नीचे गिर पड़ती हैं। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य का हृदय होता है, उसमें निर्णय शब्द नहीं ठहरता॥१७७॥

व्याख्या—आप गुंबद पर गोली रखकर देख लीजिए, वह वहां टिक नहीं सकती, गुंबद भी गोल तथा गोली भी गोल, अतः उसके वहां टिकने का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान की बातें मूर्खों के मन में ठहर नहीं सकतीं। जो व्यक्ति बात को समझ ही नहीं सकता और समझ भी जाये तो उसे मान नहीं सकता, उसके पीछे अपना समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता! कहा है—

अति खल को शिक्षा नहिं लागत।
दुक्ख परे पर आपुहिं जागत॥ विश्राम सागर॥

ऊपर की दोऊ गईं, हियहु की गईं हेराय।
कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय॥१७८॥

शब्दार्थ—उपाय = युक्ति।

भावार्थ—ऊपर के दोनों चर्मनेत्रों से देखकर जो सत्यज्ञान एवं अच्छे आचरणों से नहीं चलता, और हृदय के विवेक-विचार रूपी नेत्र भी फूट गये हैं, सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार जिसके चारों नेत्र नहीं रह गये, उसके कल्याण का क्या उपाय है! ॥१७८॥

व्याख्या—मनुष्य के चार नेत्र होते हैं, दो बाहरी चर्म के और दो भीतरी विवेक-विचार के। बाहरी नेत्रों से देखकर बहुत कुछ समझा जा सकता है और अपने को सुधारा जा सकता है। हम संसार में देखते हैं कि सब जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं। संसार में जो व्यक्ति बुरे कर्म करते हैं, उन्हें देर या सबेर उनके फल भोगने पड़ते हैं। यह प्रकृति का अटल नियम है कि क्रिया की प्रतिक्रिया, बल का प्रतिबल, ध्वनि की प्रतिध्वनि एवं बिम्ब के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो कुछ करते हैं उनका फल आता ही है, यह संसार में नजरोंनजर देखा जाता है। रावण जैसा बलवान एवं विद्वान व्यक्ति परस्त्रीहरण करने से समूल नष्ट हुआ। युधिष्ठिर जैसे नीति-निपुण धर्मज्ञ पुरुष जुए के व्यसन में लीन होने से पूरे परिवार सहित दर-दर ठोकर खाये। दुर्योधन ने भाई के हक को मार लिया, पांडवों को धोखा देकर उनका राज्य जीत लिया और शर्त के अनुसार पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास रहने पर भी उन्हें राज्य नहीं लौटाया, इसके फल में उसका समूल नाश हुआ। राज्य के लोभ में युधिष्ठिर ने बंधु-कौरवों का विनाश किया तो इसके फल में वे शेष जीवन मानसिक अनुताप में जलते रहे और अन्त दुखद हुआ। हिटलर, मुसोलिनि आदि सबके आततायीपन का अंतिम परिणाम उनके लिए दुखद हुआ। संसार में देखा जाता है कि जो दूसरों को मारता या मरवाता है वह प्रायः मारा जाता है। दूसरों को भय देने वाला स्वयं भय पाता है और जो दूसरों को निर्भयता एवं प्रेम देता है वह दूसरों से निर्भयता एवं प्रेम पाता है।

हम आंखों से देखते हैं कि जवानी के मद में चमकता हुआ मनुष्य एक दिन रोगी और बूढ़ा होकर पके धान के पौधे के समान झुक जाता है। हम जिनका एक दिन घर, परिवार, समाज एवं देश में वर्चस्व देखते हैं उन्हीं का उनमें रहते हुए पतन देखते हैं। हम सभी संग्रहों का विनाश, सभी उन्नतियों का पतन, सभी संयोगों का वियोग तथा सभी जन्में हुए प्राणियों की मृत्यु रोज अपनी आंखों से देखते हैं, फिर भी हम होश में नहीं आते, मोह से नहीं जागते तो क्या उपाय है! बौद्धगया, नालंदा, कुशीनारा, श्रावस्ती, कौशांबी, सारनाथ आदि में बौद्ध भिक्षुओं के तथा आगरा, फतेहपुरसिकरी, दिल्ली आदि में मुसलिम सल्तनत के अवशेष देखिए तो उनके अब केवल नाम शेष रह गये हैं।

हम हृदय के नेत्रों से अर्थात विवेक-विचार से देख सकते हैं कि सारे मायावी दृश्यों का परिवर्तन है और जीवों को अपने कर्मों के फल निश्चित ही भोगने हैं। इन बातों को जान-समझ एवं देख-सुनकर भी जो सत्य को नहीं समझना चाहता, उसके उद्धार का कोई रास्ता नहीं हो सकता। अतएव सद्गुरु की यह साखी अत्यन्त मार्मिक है—"ऊपर की दोऊ गई, हियहु की गई हेराय। कहहिं कबीर जाकी चारिउ गई, ताको काह उपाय॥" ऐसे मनुष्य को समझाकर जगाना बड़ा कठिन काम है जो न देख-सुनकर चेतना चाहता है और न विवेक-विचार करके। उसके चेताने का कोई उपाय नहीं है।

केते दिन ऐसे गये, अनरूचे का नेह।
ऊषर बोय न ऊपजै, जो अति घन बरसे मेह॥१७९॥

शब्दार्थ—अनरूचे = रुचि न रखने वाले अश्रद्धालु। नेह = प्रेम। घन = बादल। मेह = झड़ी, वर्षा।

भावार्थ—उपदेशक के कितने ही दिन अश्रद्धालु व्यक्ति से प्रेम करने तथा उसे उपदेश देने के चक्कर में व्यर्थ चले जाते हैं। बादल चाहे अत्यंत बारिश करके झड़ी कर दें, परन्तु ऊसर जमीन में बीज बोने से उसमें कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥१७९॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक है! यदि ऊसर जमीन में खूब पानी बरसे और उसमें बीज बोये जायं तो क्या आशा की जा सकती है कि उसमें फसल होगी, कदापि नहीं! चाहे जितना पानी बरसे तथा चाहे जितने बीज डालो, परन्तु ऊसर जमीन में कुछ पैदा होने वाला नहीं है। इसी प्रकार जिसके हृदय में प्रेम, उत्साह एवं श्रद्धा नहीं है उसको उपदेश देने का कोई फल नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि ऐसे व्यक्ति को यदि बारम्बार उपदेश देने का प्रयास किया जाय तो वह समझने की अपेक्षा रुष्ट हो जाय। जनसभा में भाषण एवं प्रवचन करना एक अलग बात है, परन्तु व्यक्तिगत उसी को सीख देना चाहिए जिसकी रुचि हो। हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आप का कल्याण करे। यदि व्यक्तिगत किसी को उपदेश देने की बात हो तो उसी को उपदेश दे जो श्रद्धा रखता हो, जिसे सीख सुनने का उत्साह हो। अपने रत्नतुल्य समय को ऐसे लोगों को उपदेश देने में नहीं लगाना चाहिए जो उपदेश के प्रति अरुचि रखने वाला हो।

मैं रोवों यह जगत को, मोको रोवे न कोय।
मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय ॥१८०॥

शब्दार्थ—मैं रोवों = सब के दुखों से दुखी होकर उन्हें कल्याण का रास्ता बताता हूं।

भावार्थ—मैं जगत के जीवों को दुखी देखकर और उनके दुखों से स्वयं दुखी होकर उन्हें सन्मार्ग बताता हूं, परन्तु वे आर्त होकर उत्साहपूर्वक मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है ॥१८०॥

व्याख्या—यदि हम किसी व्यक्ति में ममता करते हैं तो उसके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। अर्थात उसके सुख में हम सुखी होते हैं और दुख में दुखी होते हैं। यह हमारी ममता जितने लोगों में बढ़ती जाती है उतने लोगों के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बनते जाते हैं। यदि हम अपने पूरे परिवार में ममता करते हैं, तो पूरे परिवार के सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। यदि हम पूरे गांव या मोहल्ला में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं, और यदि पूरे एतराफ एवं देश में ममता करते हैं तो उनके सुख-दुख हमारे सुख-दुख बन जाते हैं। कबीर उच्चतम मानव हैं। उनकी ममता पूरे जगत के प्राणियों में हो गयी थी इसलिए वे पूरे जगत के लिए रोते थे। जिसके मन में पूरे जगत के प्राणियों में ममता हो जाती है, उसके मन में वस्तुतः समता हो जाती है। पूरे जगत के प्राणियों के प्रति हुई ममता को ही समता कहते हैं। ममता तब तक मानी जाती है जब तक वह किसी में हो और किसी में न हो, और जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति ममता हो गयी तो यही समता है। उसकी दृष्टि में पराया कोई नहीं रहा। कबीर ऐसे ही उच्चतम संत हैं जो पूरे जगत के लोगों को अपना मानकर उनके दुखों से दुखी होकर रोते हैं।

कैसा अद्भुत है! संसारी लोग अपने पत्नी, बच्चे तथा स्वजनों के लिए रोते हैं, परन्तु जो माया-मोह के त्यागी हैं वे कबीर जैसे महत्तम संत पूरे संसार के लिए रोते हैं। अब सोचो, हितचिंतन का सर्वाधिक आयाम किसका है, संसारी का या संसार-त्यागी का! अतएव जो व्यक्ति संसार से जितना अनासक्त रह सकता है वह उतना ही संसार का हितचिन्तन तथा हित कर सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं संसार को सन्मार्ग पर लाना चाहता हूं, परन्तु संसार के लोग मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते। मेरी बातों पर वही ध्यान देता है जो शब्दों का विवेकी है। "मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय" यह बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर के विचारों को वह नहीं समझ सकता जो केवल परम्परा की पूंछ पकड़कर चलता है। उन्हें तो वही समझ सकता है जिसके हृदय में विवेक है। जो सार-असार, जड़-चेतन का निर्णय करने की क्षमता रखता हो वही कबीर साहेब की वाणी को समझ सकता है। कबीर नीर-क्षीर विवेकी हैं। कबीर की वाणी भावुकों-द्वारा तथाकथित परमात्मा के वचन मानकर पूजने की वस्तु नहीं है, किन्तु अन्वीक्षकी-बुद्धि से समझने की है। कबीर अंधश्रद्धा की चट्टान तोड़कर मानवीय बुद्धि की अजस्रधारा प्रवाहित करते हैं। श्रद्धा के नाम से अंधे लोग कबीर को नहीं समझ सकते, किन्तु जो श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक के पक्षधर हैं वे कबीर की बातें समझ सकते हैं। कबीर की वाणी में हवाई महल नहीं है, किन्तु स्थिर भूमि है। वे हमें तात्त्विक और वस्तुपरक विचार देते हैं और छिछले सतह से हटकर आत्मा की गहराई में पहुंचने की राय देते हैं।

सारा संसार तो विषयों के और धर्म के पाखण्ड-सागर में डूबकर दुखी है। इन दोनों दुखों से जीव का उद्धार करना कबीर साहेब का मंतव्य है।

आत्म-परिचय ही परमात्म-परिचय है

साहेब साहेब सब कहैं, मोहिं अँदेशा और।
साहेब से परिचय नहीं, बैठोगे केहि ठौर॥१८१॥

शब्दार्थ—साहेब = स्वामी, ईश्वर, अल्लाह। अँदेशा = संदेह, चिंता।

भावार्थ—संसार के प्रायः सब लोग साहेब-साहेब कहते रहते हैं, परन्तु मुझे तो और ही चिंता है कि इन लोगों को सच्चे साहेब से तो परिचय नहीं है, फिर ये किस स्थान पर बैठेंगे—इनकी स्थिति कहां होगी! ॥१८१॥

व्याख्या—साहेब का शुद्ध रूप 'साहब' माना जाता है। 'साहब' अरबी भाषा का शब्द है। मुसलमानों के भारत आने पर अरबी भाषा के शब्द भारत में प्रचलित हुए और संत-कवियों ने इस शब्द को अपने काव्यों में लिया। कबीर-जैसे निर्गुण धारा के संत ही नहीं, किन्तु तुलसी-जैसे सगुण-धारा के कवियों ने भी साहेब शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया। साहेब के अर्थ मित्र, साथी, मालिक, स्वामी, हाकिम, सरदार, ईश्वर (संत कवि) आदरणीय[1] आदि किये जाते हैं। यहां साहेब का अर्थ वह स्वामी है जो जीव का

१. बृहत् हिन्दी कोश।

निधान, आश्रय एवं स्थिति-स्थल है। उसी का लक्ष्य रखकर सब लोग साहेब-साहेब अथवा ईश्वर-परमात्मा कहते रहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि लोग साहेब, ईश्वर, मालिक, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, गॉड आदि तो अवश्य कहते हैं, परन्तु उन कहने वालों को असली साहेब से परिचय नहीं है। लोग साहेब-ईश्वर आदि शब्दों की ढेरी लगाते हैं, परन्तु क्या वह शब्दों की ढेरी है "शब्द शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।"[1]

पहली बात यह समझने की है कि जीव का आश्रय-स्थल जीव से अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति का निज स्वरूप चेतन है। वही उसका आश्रय-स्थल है। परन्तु मनुष्य समझता है कि हमारा आश्रय-स्थल कोई अलग से ईश्वर है। यह तो थोड़ी अक्ल का प्रयोग करने से मालूम हो सकता है कि हर मौलिक पदार्थ का आश्रय-स्थल उसका अपना स्वरूप ही होता है। जीव से अलग परमात्मा-ईश्वर तो हम केवल शब्दों में कहते हैं। वह कोई अनुभव का विषय नहीं है। अनुभव का विषय व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप है। जीव आनुभविक तथ्य है और ईश्वर केवल अनुमान का विषय है। जीव आनुभविक तथ्य है—इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वह विषय है, किन्तु वही विषयी, अर्थात अहम पदार्थ है। वही सबका द्रष्टा, साक्षी एवं चेतन है। जीव ही जीव का साहेब है। आत्मा ही आत्मा का निधान है। मेरा साहेब मुझसे अलग नहीं है। "तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले।"

कबीर देव का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि लोग साहेब-साहेब तो कहते हैं; परन्तु इन्हें साहेब का कोई परिचय नहीं है, फिर इनकी स्थिति कहां होगी! लोग ईश्वर-परमात्मा के शब्दों के जोर में पड़े हैं किन्तु "बाँझ हिलावे पालना, तामें कौन सवाद।" ईश्वर-परमात्मा शब्दों से कुछ काम नहीं चल सकता। जीव की स्थिति स्वस्वरूप में ही होगी। अतएव जीव ही परम साहेब है। इसलिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

जीव बिना जिव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार।
जीव दया करि पालिये, पण्डित करो विचार ॥१८२॥

शब्दार्थ—अधार = आधार, सहारा।

भावार्थ—जीव के बिना जीव का कल्याण नहीं होता। जीव ही जीव का सहारा बनता है। इसलिए हे पण्डितो! इस बात पर विचार करो और दया करके जीवों की रक्षा करो ॥१८२॥

व्याख्या—यदि जीव का कोई रक्षक है तो अन्य जीव ही है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो जीव के कल्याण में सहयोग दूसरे जीव ही करते हैं। साधारण मनुष्य जीव हैं और संत-गुरुजन भी जीव ही हैं। साधारण जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जीवों के कल्याण में संत-गुरु ही तो सहयोग करते हैं। देवी-देवादि तो जीव के गढ़े हुए शब्द मात्र हैं। उनकी भावना करके मनुष्य अपने मन को केवल थोड़ा संतोष देता है, उनसे कुछ पाता नहीं है, क्योंकि वे कुछ हैं नहीं। यदि जीव कहीं से सहारा पाता है तो वह दूसरे जीव ही से पाता है। आदमी

---

१. साखी ३५।

ऐसी कृतघ्नता करता है कि जिन मनुष्य जीवों से उसके निर्वाह तथा परमार्थ में सहयोग मिलता है उनकी महत्ता की उसे याद नहीं आती और "दूर के ढोल सुहावन" के अनुसार वह देवी-देवताओं के गीत गाता फिरता है। एक जगह नयी सड़क बनी थी। कहा गया कि अच्छा हुआ, यहां नयी सड़क बन गयी। वहां के लोगों ने कहा "हां, महाराज! ईश्वर की कृपा से यहां अच्छी सड़क बन गयी।" उनसे कहा गया कि जिन मनुष्यों की बनायी योजना तथा अथक श्रम से इस सड़क का निर्माण हुआ, उनका उपकार आप लोगों ने एक वाक्य में भी नहीं व्यक्त किया और एक काल्पनिक आदर्श की दोहाई देने लगे। मनुष्य की दृष्टि यथार्थवादी मानवीय से हटकर काल्पनिक दैवीय हो गयी है। वह मनुष्य को नहीं, देव को श्रेय देता है। मनुष्य सच है, देव झूठे हैं। ज्ञान-विज्ञान की सारी विभूतियां मनुष्य की हैं। अतएव जीव ही जीव का कल्याण करने वाला है। परन्तु खेद है, लोग जीव की प्रशंसा न कर देव की करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हे सत्यासत्य-विवेकिनी बुद्धि वाले पण्डितो! जीवों पर दया करो और उनको निर्भ्रांत ज्ञान देकर उन्हें सारे भ्रमों से मुक्त होने में सहयोग करो। पण्डित और साधु, समाज के पथ-प्रदर्शक हैं। यदि वे ज्ञान एवं धर्म के नाम पर भ्रांति फैलाते हैं तो जनता के कल्याण का कोई सहारा नहीं है, और यदि समाज में सच्चे ज्ञान का प्रकाश करते हैं तो जीवों का परम हित है। साधु और पण्डित समाज में दैववाद को निरस्त कर मानवतावाद का प्रचार करें। कल्पित देव की महिमा को हटाकर मानव की महिमा एवं जीव की महत्ता पर प्रकाश डालें। जीव की ही संसार में सर्वोच्च सत्ता है। जीव को हटा देने पर शिव बेजान है। सारे देव निर्जीव अर्थात मनःकल्पित हैं। जीव सबका कल्पक है।

इस साखी में दूसरा श्लेष अर्थ है कि जीव के बिना जीव की रक्षा नहीं होती। जीव ही जीव का आधार है। इसलिए हे पण्डित! विचारकर जीवों पर दया करो, देवी-देवादि के नाम पर उनकी हत्या न करो, न कराओ। कबीर साहेब ने यहां कहा है "जीव बिना जीव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार" तो मांसाहारियों ने इसे उलटकर एक पंक्ति बना रखी है "बिना जीव जीवै नहीं, जीवहिं जीव आहार।" यह ठीक है कि पशु, पक्षी, कृमादि में कुछ ऐसी जातियां हैं जो एक दूसरे को अपना आहार बना लेती हैं। परन्तु मनुष्य के लिए यह पंक्ति उपयुक्त नहीं है। सच्चा मानव किसी जीव को अपना आहार नहीं बनाता है, किन्तु स्वयं दूसरे जीवों की रक्षा में आधार बनता है। जीयो और जीने दो, यही मानवता है।

कुछ मांसाहारी लोग बड़ी बारीकी से यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी जीव-हत्या एवं मांसाहार से नहीं बच सकता। वे कहते हैं कि यदि हम दूध-दही खाते हैं तो मांसाहार हुआ, क्योंकि पशु के शरीर से दूध आता है। वे यहां तक दावा करना चाहते हैं कि अन्न, फल, कंद सब में जीव हैं। यदि हम इन्हें खाते हैं तो मानो जीवहत्या और मांसाहार करते हैं। परन्तु ये सारी दलीलें निरर्थक हैं। दूधाहार मांसाहार नहीं है। अन्न, फल, कंद एवं समस्त वनस्पति निर्जीव केवल अंकुरज हैं। उन्हें सजीव मानने का केवल भ्रम है। दूध, फल और मांस एक साथ रख दिये जायं, तो सहज समझा जा सकता है कि दूध और फल देखने में ही स्वच्छ लगते हैं और मांस घृणित। अपने ही मुख के दांत या चाम उखड़

या कट जायं तो हम उन्हें मुख में नहीं रख पायेंगे। फिर भी सभ्य कहलाने वाला आदमी निर्दय बनकर दूसरे जीवों की हत्या करता है और उनके घृणित मांस को हिंस्र पशु की तरह खा जाता है। सद्गुरु कहते हैं जीव दया पालन करो और मांसाहार का त्याग करो।

आत्मतृप्ति का सर्वोच्च स्वरूप

हम तो सबकी कही, मोको कोइ न जान।
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन॥१८३॥

शब्दार्थ—तब = भूतपूर्व। अब = वर्तमान। जुग-जुग = युग-युग, भविष्य में। आन = दूसरा, खोटा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैंने सबकी कसर-खोट की परख कराकर सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बतला दिया है, परन्तु मेरे रहस्य को कोई नहीं समझता। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूं तथा आगे भी विकारी होने वाला नहीं। मैं सब समय संतुष्ट रहूंगा॥१८३॥

व्याख्या—कबीर साहेब किसी तथाकथित ईश्वर, पैगंबर, अवतार, ईश्वरीय मजहब, ईश्वरीय पोथी के पक्षधर नहीं थे। वे इन सबके विरोधी, शुद्ध मानवतावादी, मानवीय बुद्धि के प्रशंसक एवं आत्मपरायण थे। इसलिए उन्होंने कहा—"हम तो सबकी कही"। उन्होंने भारत में उस समय प्रचलित दो विशाल समाज हिन्दू और मुसलमानों के अंधविश्वासों, चमत्कारों, दैवीकल्पनाओं, मिथ्या अहंकारों की तीव्र आलोचना की थी। उन्होंने पण्डित, मुल्ला, योगी, अवधूत, वेषधारी तथा कच्चे गुरुओं को खुलकर ललकारा था। उन्होंने सबकी आंखों में उंगली डालकर उन्हें जगाने का प्रयास किया। उन्होंने सबके कान उमेठे, सबको चुटकी काटी, सबको झकझोर कर जगाया। वे किसी की गलती पर उसे क्षमा करना नहीं जानते थे। वे सबकी गलती पर टोकते थे, रोकते थे और उसे मीठे तथा कठोर शब्दों में भी फटकारते थे। उनकी कड़ी डांट-फटकार से पहले लोग क्षुब्ध हुए थे, परन्तु पीछे सब उनके प्रेमी हो गये। क्योंकि आगे चलकर लोगों ने देखा कि उनके मन में किसी के लिए द्वेष नहीं, किन्तु अपार प्रेम था। वे कोई कल्पित ईश्वरीय चमत्कार एवं मजहब बनाकर लोगों को अपना अनुगामी बनाने के लिए कुछ नहीं कह रहे थे। वे किसी को नास्तिक एवं काफिर कहकर कोई तथाकथित खुदाई मजहब नहीं चला रहे थे। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर मनुष्य के साथ छल नहीं कर रहे थे। किन्तु वे मानव को मानवीय बातें बता रहे थे। वे समाज को तथाकथित दैवी तथा ईश्वरीय बवंडर से हटाकर मानवीय-कर्म, मानवीय-बुद्धि, मानवीय-आचरण एवं मानवीय-रहनी की ओर ला रहे थे। मजहब वाले धर्म और ईश्वर के नाम पर मानवता के साथ छल करते हैं। वे उन्हें अतिमानवीय एवं दैवी चमत्कार बतलाकर सर्वोच्च सत्ता के ठेकेदार बनते हैं, दूसरों को नास्तिक तथा काफिर कहते हैं। वे मानव को तुच्छ बताकर उन्हें शून्य तथा पत्थर के सामने घुटने टेकने की राय देते हैं। कबीर साहेब इन सबके विरुद्ध थे। कबीर साहेब चाहते थे कि मानव मानव के महत्त्व को जाने। मानव किसी कल्पित ईश्वर के विराट

स्वरूप को नहीं, किन्तु मानव के विराट स्वरूप को समझे। मानव की चेतना ही सर्वोच्च है। वे इस ज्वलंत सिद्धांत के पक्षधर थे। लोगों ने कबीर के इस वज्रादपि कठोर तथा कुसुमादपि कोमल स्वरूप को देखा। अर्थात लोगों ने समझा कि कबीर अन्याय तथा अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं; परन्तु मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल हैं। बल्कि कहना चाहिए कि मानवता के प्रति अत्यन्त कोमल होने के नाते ही वे अन्याय एवं अंधविश्वास के प्रति कठोर हैं। अतएव कबीर का सर्वोपकारी रूप समाज के सामने आया।

परन्तु फिर भी सद्गुरु कहते हैं "मोको कोइ न जान" इसका अर्थ यही है कि कबीर के मानवतावादी विचारों को तो लोगों ने ऊपरी तौर पर समझा, परन्तु उनके समय में उनके स्वरूपज्ञान के विषय को बहुत थोड़े लोग समझे। सारे दैवी शब्दाडंबरों को हटाकर केवल निजस्वरूप चेतन में स्थित होना एवं आत्मपरायण होना—उनके इस आध्यात्मिक सिद्धांत को कम लोग समझ सके। "मोको कोइ न जान" का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए, किन्तु लाक्षणिक अर्थ लगाना चाहिए। लाक्षणिक अर्थ है कि उनके तत्त्वबोध एवं पारखपद के उपदेश को कम लोग जान सके। कबीर साहेब ने बीजक भर में जीव को सर्वोच्च सत्ता बताया है। जीव के लिए उन्होंने राम शब्द का प्रयोग भी बहुत किया है। उनका कथित सकारात्मक हरि भी जीव ही है। अभी ऊपर १८२वीं साखी में भी जीव की महत्ता पर ही उन्होंने प्रकाश डाला है। जीव, जो सारे ज्ञान-विज्ञान का मूलाधार है, उसे मजहब वाले तुच्छ कह रहे थे। कबीर देव को यह बहुत खटका, इसलिए उन्होंने कल्पित महत्त्व का खण्डन किया, और जीव तथा मानव की महत्ता का मण्डन किया। परन्तु कबीर साहेब के जीववादी एवं स्वरूपज्ञान के सिद्धांत को कम लोग समझ सके।

सद्गुरु कहते हैं कि मेरा काम था सत्य रास्ता बता देना। अब उसे जो समझता है तो उसका कल्याण है और जो नहीं समझना चाहता है तो उसका अकल्याण है। इन बातों को लेकर मेरी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आ सकता। मैं उपदेश देने के पहले पूर्णकाम एवं संतुष्ट था, वर्तमान में संतुष्ट हूं तथा आगे भी संतुष्ट रहूंगा। कबीर साहेब अपने निर्धारित सत्य को फैलाने के लिए भावुक नहीं थे। वे समझते थे कि पूरे संसार को कोई कभी जगा नहीं सका है। हर सत्यद्रष्टा का कर्तव्य है कि वह स्वयं सत्यपरायण हो तथा समाज को उसका उपदेश करे। उसके उपदेश को कितने लोग मानते हैं, और कितने नहीं, इसकी चिंता वह न करे। इसकी चिंता करने से कोई फायदा नहीं है। उपदेष्टा इसीलिए तो उपदेश करता है कि लोग उसकी बातों को समझकर कृतार्थ हो जायं और यदि उपदेष्टा स्वयं कृतार्थ न हो तो उसके उपदेश का फल जब उसे ही नहीं हुआ, तो दूसरे से क्या आशा की जाय कि वह उस उपदेश से कृतार्थ हो जायेगा! अतएव उपदेष्टा की कृतकृत्य एवं पूर्णकाम अवस्था ही उसके उपदेशों की गरिमा है। कबीर इसलिए उच्चतम संत हैं कि वे दूसरों को जगाने के लिए भरपूर श्रम करते हैं, परन्तु स्वयं कभी असंतुष्ट नहीं हैं। वे सब समय पूर्णकाम, अकाम, निष्काम एवं आप्तकाम हैं। यह कबीर की समुद्र के समान गहराई तथा हिमालय के समान ऊंचाई है। आत्मतृप्ति के समान दुनिया में कोई अन्य उपलब्धि नहीं है। यही सर्वोच्च उपलब्धि है। यही चरम गंतव्य है। इसके आगे कहीं नहीं जाना है। आत्मसंतुष्ट मनुष्य सच्चा सम्राट है। अतएव सद्गुरु का

यह महावाक्य हृदय को छूने वाला है "तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन।"

गुरुओं के भयंकर जाल

प्रगट कहौं तो मारिया, परदा लखै न कोय।
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय॥१८४॥

शब्दार्थ—परदा = रहस्य, भेद, आड़ा। सहना = शहना, चौकीदार, कोतवाल, फसल की रखवाली करने वाला सरकारी कर्मचारी (दो मनुष्यों के खेत के झगड़े में न्याय होने के समय तक जो उसकी फसल की रक्षा करता तथा फसल के अन्न को सुरक्षित रखता है उसे यहां शहना कहा गया है), भ्रामक गुरु। पयार = पयाल, पैरा, अन्नरहित डंठल, घास, सारहीन वाणीजाल।

भावार्थ—यदि सत्य और असत्य को खोलकर कहा जाय तो अंधविश्वास के पक्षधर लोग मारने दौड़ते हैं और यदि कोई आड़ लेकर कहा जाय तो लोग भेद नहीं समझ पाते। चौकीदार पुवाल के नीचे छिपकर अन्न चुरा रहा है, अर्थात भ्रामक गुरु सारहीन वाणियों की आड़ लेकर लोगों को भटका रहे हैं—ऐसा कहकर कौन उनका वैरी बने! ॥१८४॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति-पंक्ति में आग है। वे कहते हैं कि सत्य को सत्य और असत्य को असत्य खोलकर कह दिया जाय तो धर्म के नाम पर जालसाजी फैलाकर रोटी कमाने वाले लोग मारने दौड़ते हैं। ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, पुत्र-धन देने वाले, चमत्कार दिखाने वाले, ईश्वर के दर्शन कराने वाले, चुटकी बजाते ही ध्यान में पहुंचा देने वाले, तथाकथित कुंडलिनी जगा देने वाले तथा आनन-फानन में मुक्ति देने वाले धूर्त गुरुओं का सब समय बोलबाला रहा है। किसी भी क्रांतिकारी विचार का विरोध पुरोहित वर्ग तथा कठमुल्ला तबके ने किया है, क्योंकि ये धर्म को धन्धा बनाकर उसके बल पर रोटी कमाने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म का प्रचार करने वाले जनता से रोटी पाने के अधिकारी नहीं हैं! वे रोटी पाने के अधिकारी हैं। यहां कहने का अर्थ है कि जो धर्मगुरु का जामा पहनकर सत्य से दूर हैं और धर्म के नाम पर अंधविश्वास फैलाकर समाज को बेवकूफ बनाते हैं, वे सत्यनिर्णय एवं क्रांतिकारी विचारों से डरते हैं। वे समझते हैं कि समाज में जितना ही सत्य का प्रचार होगा, लोग जितना ही कारण-कार्य-व्यवस्था को समझते जायेंगे, उतना ही अन्धविश्वास पर पले धर्म के नाम पर चलने वाले धन्धे रुकते जायेंगे। इसलिए किसी भी परम्परा का पुरोहित वर्ग सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता, अपितु वह केवल कर्मकांड का प्रचार चाहता है। बेचारा ब्राह्मण-पुरोहित ही नहीं, कबीरपंथ का पुरोहित जो चौका-आरती के बल पर जीव को सतलोक भेजने का दावा करता है, कबीर साहेब के सत्यज्ञान का प्रचार नहीं चाहता। यहां तक कि उनमें से कितने इस बीजक ग्रंथ से कतराते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि साफ कहने से ऐसे लोग रुष्ट होते हैं। परन्तु यदि जनता को कोई आड़ लेकर समझाया जाय तो वे भेद नहीं समझ पाते। इसलिए खुलासा निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। साफ निर्णय के बिना सच्चा बोध नहीं होता।

शहना एवं शह्ना अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ चौकीदार होता है। यह गांवों में उस चौकीदार के लिए विशेष रूढ़ है जो किसी विवादग्रस्त खेत की फसलों की रक्षा करता है और उसकी आमदनी को तब तक सुरक्षित रखता है जब तक वादी-प्रतिवादी के बीच विवाद सुलझ न जाय। जब विवाद सुलझ जाता है तब उस खेत की सारी आमदनी विजयी पक्ष को मिल जाती है। उसमें शहना को केवल अपना पारिश्रमिक मिलता है। परन्तु ज्यादातर शहना खलिहान में फसल के डंठल से ही अन्न झाड़कर चुरा लेता है। जो वादी-प्रतिवादी के बीच में धन की रक्षा की जिम्मेदारी ले, वही धन को हड़प जाय, तो रक्षा का दूसरा क्या आधार हो सकता है! नाना मत के गुरु लोग शहना हैं। वे पुवाल के नीचे छिपकर अन्न को चुरा रहे हैं। कल्पित वाणियां ही मानो पुवाल हैं। पुवाल में अन्न नहीं होता। जब डंठल से अन्न झाड़ लिया जाता है तब उसे पुवाल कहते हैं। इसी प्रकार विशेषतः सत्यज्ञान से रहित अन्धविश्वासपूर्ण वाणियों की आड़ में ही छद्म गुरु लोग अपना भ्रमजाल फैलाते हैं। चतुर लोग अपनी किताबों को ईश्वरप्रदत्त बताकर तथा बड़े नामों के संवादों में लिखे ग्रन्थों का हवाला देकर कि देखो, यह अमुक महापुरुष ने कहा है, अपनी भ्रम मान्यता को जनता से मनवाते हैं। उनकी ऊलजलूल बातें क्यों मान लेना चाहिए, क्योंकि वह प्रभुवचन है, ईश्वर ने कहा है, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर या ईश्वर के पुत्र ने कहा है, या अमुक बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, महात्मा तथा संत ने कहा है।

कबीर साहेब कहते हैं कि यह कहकर कौन बैरी बने कि कोई पुस्तक आकाशीय ईश्वर ने नहीं बनायी है। सारी किताबें मानव-रचित हैं। संसार में कोई भी अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर-पुत्र नहीं है। विश्व के सारे महापुरुष मानव हैं। किसी ग्रन्थ की किसी बात की प्रामाणिकता किसी अमुक बड़े नाम से जोड़ने से नहीं हो जाती, किंतु युक्तियुक्त, तर्कपूर्ण एवं न्याय-संगत होने से होती है। किसी बात को परखने के लिए विश्वनियम, विवेकबुद्धि एवं मानव-अनुभव है।

देश-बिदेशे हौं फिरा, मनहीं भरा सुकाल।
जाको ढूँढ़त हौं फिरा, ताका परा दुकाल॥१८५॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। सुकाल = उत्तम समय। दुकाल = अकाल-पर-अकाल, बुरा समय।

भावार्थ—मैंने देश-विदेश में घूमा तो पाया कि सर्वत्र मन की कल्पनाओं का सुराज है। मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं, उसका अभाव है॥१८५॥

व्याख्या—अविद्वान हो या विद्वान, गंवई हो या शहरी, सब आदमी अन्धविश्वास में डूबे हैं; क्योंकि सदैव से गुरुओं, महंतों एवं पण्डितों-द्वारा उन्हें अन्धविश्वास का पाठ पढ़ाया गया है। सिद्ध महात्मा उड़ सकते हैं, लुप्त होकर कहीं अलग प्रकट हो सकते हैं, पानी पर चल सकते हैं, सबके मन को जान सकते हैं, देवी-देवता सच हैं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं, महात्मा एवं देवता ऋद्धि-सिद्धि प्रकट कर सकते हैं। भगवान कमल फूल पर सूरज एवं सूरज पर कमल फूल उगा सकते हैं। इतना ही क्या, जितनी बिना सिर-पैर की बातें कही जा सकती हैं, पण्डित, महात्मा, महंत, मौलवी, पादरी, ज्ञानी तथा उपदेष्टा

नामधारी व्यास-गद्दियों से बकते रहते हैं और इन सब बातों को सुन-सुनकर निरक्षर तथा साक्षर जनता झूमती रहती है और इन सबको सत्य मानती रहती है। सद्गुरु कहते हैं कि देश-विदेश में घूमकर मैंने देख लिया है सर्वत्र मन का सुकाल है। अर्थात सर्वत्र मन-मानंदी, मनःकल्पनाओं, बे-सिर-पैर की बातों की ही गूंज है। धर्म तथा भगवान के नाम पर सारी मूर्खतापूर्ण बातें चलती रहती हैं।

मैं जिस सत्य के पारखी को खोजता फिरता हूं उसका दुष्काल पड़ा है। मैं चाहता हूं कि मनुष्य आंख मूंदकर किसी की भी बात न माने। गुरु, शास्त्र, तथाकथित प्रभुवचन सब पर विवेक करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। धर्म के धन्धेबाजों ने समाज को जितना बेवकूफ बनाया है वह अक्षम्य है। धर्म के नाम पर चलने वाली बातों को आंख मूंदकर मानने का प्रचलन पुराकाल से है, क्योंकि समाज को बताया गया है कि संत-वचन, गुरु-वचन, शास्त्र-वचन तथा प्रभु-वचन पर तुम विचार करने के अधिकारी नहीं हो। उन्हें तो तुम्हें बिना चीं-पूं किये मान लेना है। कहना न होगा कि इस धूर्ततापूर्ण धारणा ने मनुष्य के मस्तिष्क को निष्क्रिय बना दिया है। उसने सोचने की क्षमता को हर लिया है। कबीर साहेब इस धारणा के बिलकुल विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि तुम सबकी बात पर सोचने के अधिकारी हो। इसलिए श्री रामरहस साहेब ने कहा "शब्द कहे सो कीजिये, गुरुवा बड़े लबार। अपने-अपने स्वार्थ के, ठौर-ठौर बटपार॥" अर्थात निर्णय से जो सत्य हो उसे ही स्वीकार करो, गुरुआ लोग तो बड़े लबार हो गये हैं। ये अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जगह-जगह जनता को लूट रहे हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं जिस पारखी को खोजता हूं वह नहीं मिलता। परखकर बात मानने वालों का अभाव है। धर्म और अध्यात्म के स्वस्थ स्वरूप तब तक नहीं प्रतिष्ठित हो सकते हैं जब तक हर आदमी अपने विवेक का आदर नहीं करने लगता। कबीर साहेब कहते हैं कि आंख मूंदकर मानने वाले मत बनो, किन्तु विवेक-नेत्रों से देखकर मानो। 'कौटिलीय अर्थशास्त्रम्' में, जो ईसापूर्व चौथी शताब्दी में बना है, अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—चार विद्याओं का वर्णन है। सांख्य, योग तथा लोकायत—इन्हें अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर साहेब मानो स्वस्थ अन्वीक्षकी विद्या का प्रचार चाहते हैं। वे अन्वीक्षण[1], परीक्षण के बाद तथ्य को स्वीकारने की राय देते हैं। कबीर धर्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक हैं।

कलि खोटा जग आँधरा, शब्द न माने कोय।
जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय॥१८६॥

---

१. अन्वीक्षकी-विद्या सर्वदा सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का साधन, और सभी धर्मों का आश्रय मानी गयी है। मूल वचन इस प्रकार है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता॥ *कौटिलीय अर्थशास्त्रम् पहला प्रकरण॥*

शब्दार्थ—कलि = कलह, झगड़ा, युद्ध, पाप-बुद्धि, कलियुग[1]। खोटा = बुरा।

भावार्थ—कलह एवं झगड़ा बुरी बात है। जगत के लोग विवेकहीन हैं, वे निर्णय-वचन नहीं मानते। मैं जिसको सजाति मानव-बंधु मानकर उसके ही कल्याण के लिए उसे सही रास्ता बताता हूं, वही उठकर शत्रु बनने का प्रयास करता है ॥१८६॥

व्याख्या—"कलि खोटा" कथन सहज भी हो सकता है कि कलियुग बुरा है, परन्तु इसका उपर्युक्त अर्थ ही तात्त्विक है। सद्गुरु कहते हैं कि कलह करना, झगड़ा करना बुरी बात है। किसी से झगड़ाकर जबर्दस्ती सत्य बात मनवायी भी नहीं जा सकती। संसार के बहुधा लोग विवेकहीन हैं। "शब्द न माने कोय" यहां शब्द से अभिप्राय निर्णय वचन है, क्योंकि आंख मूंदकर किसी शब्द को मानने का खण्डन तो सद्गुरु स्वयं करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि जगत के लोग ऐसे अन्धे हैं कि वे जिस परम्परा की पूंछ पकड़ लिये हैं; उसमें हानि दिखते हुए भी उसको नहीं छोड़ते। वे अन्धविश्वास में गड़े हुए हैं। उन्हें निर्णय के वचन, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के अनुकूल विचार बताये जायं, तो वे उन्हें सुनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। परन्तु यदि उन्हें आकाश-पाताल को मिलाने वाली बातें कही जायं, तो वे उसे बड़ी चाव से सुनते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि मैं मानता हूं कि संसार के सारे मनुष्य मेरे सजाति हैं, अपने बंधु हैं। इसलिए मैं उन्हें अपना मानकर सही रास्ता दिखाना चाहता हूं। परन्तु वे भोले हैं। वे तो सही रास्ते से चिढ़ते हैं। वे अपने हितचिंतक को नहीं पहचानते और उनसे वैर ठान लेते हैं। जो लोग उन्हें मूर्ख बनाकर लूटते हैं, उन्हें वे पसंद करते हैं। क्योंकि वे उन्हें ऋद्धि-सिद्धि देने का झांसा देते हैं, चमत्कारी बातें करते हैं, सिद्ध, अवतार या पैगंबर बनते हैं, अपने में अलौकिकता का पाखण्ड करते हैं तथा भक्तों को केवल पूजा के बल पर भोग और मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। संसारियों को बिना त्याग-तप किये मुक्ति पाने की आशा प्रबल है। उनकी इस कमजोरी का लाभ उठाते हैं धूर्त गुरुआ लोग। भक्त लोगों को अपने जाल में फंसाये रखने के लिए वे चमत्कार, प्रलोभन, भय—सब कुछ दिखाते हैं। धूर्त गुरुओं के शिकंजे में फंसे लोगों को निर्णय वचन अच्छे नहीं लगते और न अच्छे लगते हैं निर्णय-वचन कहने-वाले। "जाहि कहौं हित आपना, सो उठि बैरी होय।" इसी भाव की प्रतिध्वनि है।

मसि कागद छूओं नहीं

मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहों नहिं हाथ।
चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात ॥१८७॥

शब्दार्थ—मसि = स्याही। महातम = माहात्म्य, विशेषता।

---

१. कलि—पु० [सं०] कलह; झगड़ा; युद्ध; चार युगों में से चौथा जिसकी आयु ४ लाख ३२ हजार मानव-वर्ष मानी जाती है; कलियुग का अधिष्ठाता असुर; पाप-बुद्धि;.......आदि।
(बृहत् हिन्दी कोश)

भावार्थ—मैं स्याही और कागज नहीं छूता और न कलम हाथ में पकड़ता हूं। चारों युगों में जिसकी महत्ता है, मैं उसकी बातें मुख से ही बतला देता हूं।।१८७।।

व्याख्या—उक्त साखी को लेकर विद्वानों ने यह भ्रम पाल रखा है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। यद्यपि पढ़ाई-लिखाई कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है तत्त्व-बोध। इस बात की चर्चा पीछे कर आये हैं कि छंदोविद, वेदविद तथा वेद्यविद इन तीनों में वेद्यविद ही श्रेष्ठ है। जो छंदों के रहस्य को जानता है वह छंदोविद है, जो वेदमन्त्रों के अर्थ को जानता है वह वेदविद है और जो जानने योग्य को जानता है वह वेद्यविद है। अतएव पढ़ा-लिखा हो या नहीं, वेद्यविद ही सर्वोपरि है। कबीर साहेब वेद्यविद थे। वे जानने योग्य को जानते थे। अतएव वे पढ़े-लिखे रहे हों या नहीं, उनकी वरीयता में कोई शंका नहीं। विद्वानजन भी इस बात को मानते हैं।

परन्तु उक्त साखी से क्या यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे! उक्त साखी से तो यह बात सिद्ध होती है कि उन्होंने अपनी बातों को बताने के लिए उसे स्वयं कागज पर नहीं लिखा, किन्तु जबान से कहकर बताया। अतएव कबीर साहेब ने अपनी बातें कविता में कही होंगी और शिष्यों ने लिख लिया होगा! उन्हीं का संग्रह बीजक ग्रंथ है। इसकी प्रामाणिकता में आज ताजा उदाहरण श्री विशाल साहेब का दिया जा सकता है। सद्‌गुरु विशाल साहेब जो पारख सिद्धांत के महान मनीषी हैं और जिनका कार्यकाल ईसा की बीसवीं शताब्दी है, अपने हाथों से उन्होंने एक अक्षर भी नहीं लिखा है। उन्होंने पद, साखी आदि बनाकर शिष्यों के सामने कह दिया और शिष्यों ने लिख लिया। इस प्रकार उनकी वाणियों से भयवान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम ये चार महान ग्रंथ निर्मित हुए। विशालदेव के इन चार ग्रन्थों में एक शब्द भी अन्य का जोड़ा हुआ नहीं है, उन्हीं के बनाये सारे पद हैं। उन्हीं के संयोजित प्रसंग तथा प्रकरण हैं और उन्हीं के दिये ग्रन्थों के नाम हैं।

पुराकाल में ऐसे ऋषिगण होते थे, जो केवल बोल देते थे और शिष्यगण लिख लेते थे। कहा जाता है कि पूरा महाभारत वेदव्यास जी ने केवल अपने मुख से बोला है, गणेश जी ने लिखा है। गणेश काल्पनिक व्यंग्यचित्र जैसा होने से यह बात विश्वसनीय न हो तो भी आजकल के सभी बड़े अधिकारी एक चिट्ठी भी बोलकर अपने क्लर्क से लिखवाते हैं, जज बोलकर अपने स्टेनो से जजमेंट लिखवाते हैं तथा अनेक लेखक और कवि बोलकर अपने निबंध और कविता अपने क्लर्क से लिखवाते हैं। परन्तु वे आलेख और रचना लिखने वालों के नहीं, किन्तु बोलकर लिखवाने वालों के माने जाते हैं। अतएव कबीर साहेब अपनी रचना को समय-समय से शिष्यों के बीच में बोलते गये और शिष्यों ने उसे लिख लिया है। कबीर साहेब ने अपने ग्रंथ का नाम स्वयं 'बीजक' रखा है, यह ३७वीं रमैनी की साखी से समझा जा सकता है "बीजक बित्त बतावै, जो बित्त गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय।।" प्रकरणों के नाम भी उन्हीं के रखे हुए हैं, क्योंकि छंदों के अनुसार ही प्रकरणों के नाम हैं। "साखी आँखी ज्ञान की········।" कहकर तो साखी प्रकरण व्यक्त ही किया गया है।

अब प्रश्न होता है कि क्या कबीर साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे? इसका समाधान तो इस पूरे बीजक को पढ़कर ही किया जा सकता है। जो वेदों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों तथा शास्त्रों का मर्म नहीं जानता, वह बीजक के सभी पदों का अर्थ नहीं समझ सकता। कबीर साहेब ने तो उक्त शास्त्रों के विषयों के हवाले दिये हैं। अनुभवी पुरुष केवल अपना अनुभव कह सकता है, शास्त्रों के हवाले नहीं दे सकता। शास्त्रों के हवाले तो तभी दिये जा सकते हैं, जब उनका अध्ययन कर लिया गया हो। कबीर साहेब के इस महान ग्रन्थ बीजक को शुरू से आखिर तक मननपूर्वक पढ़ जाना चाहिए तब यह निर्णय लेना चाहिए कि वे पढ़े-लिखे थे कि नहीं। इन पंक्तियों के लेखक के विचार से वे भले शास्त्री एवं व्याकरणाचार्य नहीं रहे हों, परन्तु इतना अवश्य पढ़े रहे होंगे जिससे शास्त्रों को भलीभांति समझ सकें।

चतुर्दिक सावधान

फहम आगे फहम पाछे, फहम दाहिने डेरि।
फहम पर जो फहम करै, सो फहम है मेरि ॥१८८॥

शब्दार्थ—फहम = फ़ह्म, अक्ल, समझ, सावधानी। डेरि = बायां।

भावार्थ—जो व्यक्ति आगे, पीछे, दाहिने तथा बायें समझ और सावधानी का प्रयोग करता है तथा सावधानी पर सावधानी बरतता है, वह मानो मेरी तरह सावधान रहता है ॥१८८॥

व्याख्या—रघुपति सहाय 'फिराक गोरखपुरी' उर्दू काव्य के महान कवि हो गये हैं, उन्होंने लिखा है कि कबीर के सिर से पैर तक मानो आंखें-ही-आंखें थीं जो कभी झपकती नहीं थीं। सचमुच तो समझ, अक्ल और सावधानी का इतना बड़ा प्रयोग करने वाला व्यक्ति कभी-कभी कोई-कोई होता है। उक्त साखी कितनी मार्मिक है। गुरुदेव कहते हैं कि आगे-पीछे, दायें-बायें—सर्वत्र समझदारी का प्रयोग करो। इतना जागते रहो कि समझ-पर-समझ रखो तथा सावधानी-पर-सावधानी रखो। वस्तुतः सावधानी ही साधना है। सावधानी हटी की दुर्घटना घटी, यह रेलवे-यार्ड का बोर्ड केवल वहीं के लिए सार्थक नहीं है, किन्तु हृदय-यार्ड के लिए ज्यादा सटीक है।

इस साखी में 'फहम' शब्द का प्रयोग छह बार हुआ है। बृहत्-हिन्दी कोश ने फहम का अर्थ अक्ल एवं समझ किया है, परन्तु इस प्रसंग में इस अर्थ के साथ जो महत्त्वपूर्ण अर्थ है वह है सावधानी। समझ और सावधानी सजाति भाव वाले हैं। समझ की सार्थकता सावधानी में है। हम इन दोनों शब्दों पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

समझ का अर्थ ज्ञान एवं बोध है। सारा दुख समझ के अभाव में है। यदि किसी बात को लेकर मन उलझा है तो इसके मूल में समझ की कमी है। श्रद्धा का प्रचलित अर्थ जन-समूह में जो व्याप्त है उसको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि श्रद्धा से समझ वजनदार है। जिसमें समझदारी नहीं है वह यदि श्रद्धा करता है, तो उसकी श्रद्धा के

समाप्त होने में देरी नहीं लगेगी। समझदारीरहित श्रद्धालु केवल भावुक होता है। उसकी श्रद्धा बालू पर पड़े पानी की तरह है जिसके सूखने में देरी नहीं लगती। जो श्रद्धा समझदारी के संयुक्त है वह स्थायी होती है। शब्दशः 'श्रद्धा' का जो अर्थ है वह समझदारी-संबलित ही है। 'श्रद्धा' शब्द 'श्रत्' और 'धा' दो पदों के मिलने पर बनता है। 'श्रत्' का अर्थ होता है 'सत्य' और 'धा' का अर्थ होता है 'धारण करना'। अर्थात सत्य को धारण करना श्रद्धा है और सत्य का धारण समझ होने पर ही सम्भव है। जो समझता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, वही असत्य को छोड़कर सत्य धारण कर सकता है। सच्ची समझदारी होने से श्रद्धा अपने आप हो जाती है। जो सत्य के महत्त्व को समझ लेगा, उसमें सत्य अपने आप धारण हो जायेगा।

प्रकृति के खेल को देखकर उसके पीछे जो दैवी-कल्पना होती है उसमें कारण है प्रकृति के विषय में समझ का अभाव। यदि हम प्रकृति को समझ जायं तो हमें यह ज्ञान हो जायेगा कि प्रकृति एवं जड़तत्त्व नित्य हैं और उनमें गुण-धर्म स्वभावसिद्ध एवं स्वतः निहित हैं। इस अनंत विश्व-ब्रह्मांड को कोई चेतन नहीं चला रहा है, किन्तु इनमें स्वतःसिद्ध गुण, धर्म, क्रियादि हैं जिनसे वे अनादि स्वतः स्वचालित हैं। जीव शरीर छोड़कर दूसरे शरीर धारण करते हैं, इसलिए भूत-प्रेत की कल्पना निरर्थक है। जड़-चेतन की सच्ची समझ हो जाने पर जितना दैवीचमत्कार, भूत-प्रेत तथा सुख-दुख देने वाली अदृश्य शक्ति का बवंडर है अपने आप समाप्त हो जाता है। तब यह बोध हो जाता है कि जीव के कर्म ही उसके सुख-दुख के कारण होते हैं। सही समझ हो जाने पर यह अपने आप साफ हो जाता है कि परमात्मा या मोक्ष अपनी आत्मा से कहीं कुछ अलग नहीं है जो मिलता हो। वस्तुतः सारी कामनाओं का त्याग करके स्वरूपस्थिति ही अध्यात्म की सर्वोच्च दशा है। सच्ची समझ वाला व्यक्ति कहीं व्यवहार में उलझता नहीं है। सच्ची समझ का अर्थ ही है कि वह वस्तुओं, प्राणियों तथा व्यवहारों का उचित ग्रहण और त्याग जानता है। अपने स्वरूप के विषय में, जड़ तत्त्वों के विषय में, व्यवहार के विषय में, साधना एवं शांति के विषय में; अर्थात आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दिशाओं की उन्नति एवं जीवन के लिए विश्रांति के विषय में सच्ची समझ रखना ही आगे-पीछे, दायें-बायें फहम एवं समझ रखना है। फहम-पर-फहम, समझ-पर-समझ रखना भी यही है कि हर बात में समझने का प्रयत्न करना। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दिशाओं में ज्ञान तथा समझ प्राप्त करने की शक्ति हर मनुष्य में है। सारे बंधन, सारे दुख एवं सारी अशांति नासमझी तथा अज्ञान का फल है। हर दिशा में सच्ची समझ एवं सच्चा ज्ञान हो जाने से जीव सदैव सुखी रहता है।

फहम का दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ सावधानी है। जो व्यवहार तथा परमार्थ सभी दिशाओं में सावधान रहता है वह सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक सोता है। जो व्यक्ति आगे-पीछे, दायें-बायें सब तरफ सावधान रहता है, वह न बाहरी व्यवहार में उलझता है और न भीतरी मन के द्वंद्वों में उलझता है। निरंतर सावधान एवं अखंड जाग्रत व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है। सद्‌गुरु कहते हैं "फहम पर जो फहम करे, सो फहम है मेरि।" जो सावधानी-पर-सावधानी रखता है वह मेरी तरह सावधान रहता है। यह कबीर

साहेब की गर्वोक्ति नहीं, किन्तु सहजोक्ति है। वे अधिकृत जाग्रत पुरुष, सहज जाग्रत पुरुष एवं स्वयंसिद्ध जाग्रत पुरुष थे। सावधानी एवं जागृति जिसका सहज स्वरूप बन जाती है, वह साधकों से कह सकता है कि तुम लोग मेरी तरह सावधान रहो। अथवा जो निरंतर जाग्रत है वह मानो मेरा प्रतिरूप है।

गृहस्थ, विरक्त और जीवन्मुक्त

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥१८९॥

शब्दार्थ—हद = गृहस्थीमर्यादा। बेहद = वेषमर्यादा। अगाध = अथाह, अपार, दूसरे के लिए दुर्बोध, सर्वोच्च।

भावार्थ—जो सर्व दुराचरणों को त्यागकर, माता-पितादि सर्व गुरुजनों की सेवा-भक्ति करते हुए सदाचरणपूर्वक गृहस्थी मर्यादानुसार चलता है वह मनुष्य है। जो गृहस्थी से हटकर तथा किसी सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर त्याग-वैराग्यपूर्वक चलता है, वह साधु है। और जो उक्त दोनों से परे होकर स्वरूपस्थिति में रमता है, उसका अनुभव दूसरे के लिए दुर्बोध है, वह सर्वोच्च है॥१८९॥

व्याख्या—मानव के तीन स्तर हैं—गृहस्थ, विरक्त तथा जीवन्मुक्त। इन तीनों के लिए सद्गुरु ने इस साखी में प्रकाश डाला है। सद्गुरु ने इस साखी में मानव, साधु तथा गुणातीत तीन श्रेणियों में सबको विभाजित करके उन्हें इंगित किया है।

पहली बात है "हद चले सो मानवा" हद गृहस्थी मर्यादा है। गृहस्थ किसे कहना चाहिए? जो गृह-स्थ, अर्थात घर में रहता हो वह गृहस्थ है। परन्तु यह परिभाषा निर्दोष नहीं है, क्योंकि घर में विरक्त संत भी रहते हैं, भले वे दूसरों के एवं भक्तों के घर में रहते हों, परंतु रहते तो घर में ही हैं। संतों के आश्रम एवं मठ होते हैं, उसमें रहना भी तो घर में ही रहना हुआ। अतएव जो वैवाहिक-बंधनों में बंधकर रहता है, वह गृहस्थ है। लड़की तथा लड़के का विवाह कब होना चाहिए यह साफ है। लड़के का विवाह तब होना चाहिए जब वह शिक्षा-दीक्षा में उत्तीर्ण होकर धन कमाते हुए आर्थिक दृष्टि से अपने कदमों पर खड़ा हो जाय। इसके लिए कम-से-कम उसकी तीस वर्ष की उम्र हो ही जायेगी। और लड़की की शादी तब होनी चाहिए जब वह भी गृहस्थी की जिम्मेदारी को भलीभांति समझ ले और उसकी उम्र कम-से-कम बीस-बाईस वर्षों की हो जाय। इससे ऊपर हो जाय तो कोई बुरा नहीं। बाल-विवाह बच्चों की हत्या है। एक आदमी अपने बच्चे की थोड़ी उम्र में शादी कर दे तथा दूसरा तलवार से अपने बच्चे का गला काट दे तो दोनों हत्यारे हैं। परन्तु जिसने गला काट दिया उस हत्यारे ने अपने बच्चे को एक ही बार में समाप्त कर दिया, परन्तु बाल-विवाह करने वाला पिता अपने बच्चे को मानो जीवनभर मुरही छूरी से रेत-रेतकर मारता है।

दहेज प्रथा महापाप है। भारत आजाद होने के पहले सोचा जाता था कि जब भारत आजाद होगा तब शिक्षा काफी बढ़ जायेगी। लोग इतने शिक्षित हो जायेंगे कि वे स्वयं

दहेज से घृणा करेंगे और विवाह बिना दहेज लिये करेंगे। परन्तु बात उलटी हुई। आदमी जितना शिक्षित हुआ है उतना लोभी हुआ है। कुछ को अपवाद रूप में छोड़कर शिक्षा से दहेज बढ़ा है। पुत्र वाले अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने में जितने रुपये खर्च किये हैं उन्हें चक्रवृद्धि ब्याज के दर से मानो लड़की वालों से वसूल लेना चाहते हैं। परन्तु जब उन्हें स्वयं अपनी लड़की की शादी में भटकना पड़ता है और दहेज के दुश्चक्र में पड़ना पड़ता है तब उन्हें आकाश के तारे दिखाई देने लगते हैं। दुलहन तो खुद दहेज है। इसके बाद भी दहेज मांगना पाप है। दहेज लेना और देना दोनों पाप है।

बच्चों को अच्छे संस्कार देना माता-पिता के कर्तव्य हैं और यह तभी संभव है जब माता-पिता स्वयं अच्छे संस्कारों से संपन्न हो जायं। जिनके घरों में सुबह से उठकर हल्ला होता है, घर के सभी सदस्य जोर-जोर से चिल्लाकर बोलते हैं, एक दूसरे को कठोर वचन कहते हैं, जिनके घर की सारी वस्तुएं बिखरी तथा अव्यवस्थित जहां-तहां पड़ी रहतीं हैं, घर में जगह-जगह थूक, बच्चे की टट्टी-पेशाब एवं अन्य गंदगी पड़ी रहती है, फर्श, दीवार और पूरा घर गंदा रहता है, कपड़े गंदे, बच्चे गंदे और सब कुछ अस्तव्यस्त रहता है, वहां बच्चों को अच्छे संस्कार कहां मिल सकते हैं! जहां अण्डे, मांस, मछली, शराब-कबाब चलते हैं, जहां गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि गंदे व्यसनों का बोलबाला है, ऐसे घरों में बच्चों को अच्छे संस्कार कैसे मिल सकते हैं! वहां तो बच्चों को बुरे संस्कार मिलेंगे। अतएव घर-द्वार स्वच्छ होने चाहिए। घर की सारी चीजें कायदे से रखी होनी चाहिए। घर के लोगों को एक दूसरे के साथ कोमल तथा धीमी आवाज में बोलना चाहिए। सुबह उठकर बड़ों का नमस्कार, छोटों को प्यार तथा परस्पर स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। मांस, अण्डे, मछली, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू आदि का सर्वथा त्याग होना चाहिए। परिवार के शुद्ध, सात्विक आचार-व्यवहार होने चाहिए। बच्चों की संख्या एक-दो काफी है।

बच्चों के पांच वर्ष की उम्र तक प्यार, उसके बाद उन पर कड़ी दृष्टि। कड़ी दृष्टि का मतलब गाली-मार कदापि नहीं। बस, उन पर यह निगरानी रखी जाय कि वे कोई गलत काम न करें। जब वे सोलह वर्ष के हो जायं, तब उनसे भाईचारे का व्यवहार करें। जवान लड़कों को कभी कोई सीख देनी हो तो एकांत में, अकेले में प्यार एवं सहारे में दो। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सासु-बहू आदि सबका पारस्परिक व्यवहार मधुर होना चाहिए। इसके लिए निम्न सात सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए—

१. अपने कर्तव्यों का पालन तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा।

२. स्वयं सहना परंतु दूसरों को सहाने की चेष्टा न करना।

३. स्वयं दूसरों की उचित बातें मान लेना परंतु अपनी बातें दूसरों को बलात मनवाने का प्रयास न करना।

४. स्वयं अपनी इच्छाओं पर संयम करना और यथासंभव दूसरे की उचित इच्छाओं को पूर्ण होने देना।

५. प्यार के एवं मीठे वचन बोलना।

६. सबसे कोमल व्यवहार करना।

७. मन में सबके प्रति स्नेह का भाव रखना।

हम परिवार तथा समाज के जिन व्यक्तियों की कुण्डली में बैठे हैं, उनमें शुद्ध स्नेह एवं प्रेम का व्यवहार रहने से ही जीवन में स्वर्ग उतर सकता है। यदि साथ रहने वाले लोग आपस में मधुरता के व्यवहारपूर्वक नहीं रह सकते तो उनका जीवन सुखी नहीं हो सकता। कितने घरों के लोग जब शाम को आपस में इकट्ठे होते हैं, तब वे एक-दूसरे से खुलकर बातें नहीं करते, अपने-अपने काम का लेखा-जोखा दूसरों को नहीं देते, कल क्या करना है इस पर सर्वसंमति से विचार नहीं करते। घर में कोई पूजा, पाठ, कथा, कीर्तन, सत्संग आदि का काम नहीं करते; भाई, पिता, पुत्र आदि के साथ बैठकर भोजन करने तक की उदारता नहीं कर पाते; ऐसे घरों में नरक निवास करता है। ऐसे घर बहुत जल्दी नष्ट होते हैं। यादव-वंश का विनाश इसी तरह हुआ था। श्रीकृष्ण महाराज ने अपने बुढ़ापे में नारद जी के पास जाकर उनसे परिवार में समता रखने के उपाय पूछा था। उन्होंने नारद से कहा था कि जो समझदार न हो, समझदार होकर भी मित्र न हो और मित्र होकर भी अपना मन वश में न रख पाता हो उससे अपनी गुप्त बातें न कहे। आप समझदार, मित्र तथा स्ववश मन वाले हैं, इससे मैं अपनी गुप्त बातें आपसे कहता हूं।

श्रीकृष्ण जी कहते हैं "मैं अपनी प्रभुता दिखाकर परिवार वालों को दास नहीं बनाना चाहता। मैं प्राप्त भोग भी आधा परिवार के लिए छोड़ देता हूं। नारद! जैसे कोई अरणीकाष्ठ मथन करके आग पैदा करे, वैसे मेरे कुटुम्बियों के कटु वचन मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। बड़े भाई बलराम बल-मद में चूर हैं, छोटे भाई गद बहुत सुकुमार बनते हैं और कुछ नहीं करना चाहते, रहा बड़ा लड़का प्रद्युम्न, वह अपने शारीरिक रूप-सौंदर्य में मस्त है। इस प्रकार मैं असहाय हूं। मेरे परिवार में बड़े-बड़े बलशाली हैं, परन्तु आहुक और अक्रूर ने आपस में वैमनस्य करके मेरा रास्ता रोक दिया है। मैं उनमें किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। वे दोनों योग्य और मेरे प्रिय हैं। परन्तु मेरी बातें मानकर वे आपस में प्रेम नहीं करते। जैसे किसी माता के दो पुत्र हों। दोनों परस्पर जुआ खेलते हों, तो माता एक की तो जीत चाहे, और दूसरे की हार न चाहे, यही मेरी उन दोनों के लिए दशा है। मैं परिवार वालों के पारस्परिक वैमनस्य से बहुत पीड़ित हूं। इसके समाधान का आप उपाय बतावें।"

नारद ने कहा—महाराज कृष्ण! विपत्ति दो प्रकार की होती है। एक बाहर से आ जाती है तथा दूसरी अपने भीतर पैदा होती है। आपके ऊपर आयी विपत्ति आपकी ही बनायी है। आपने अपने वंशजों को लड़ना सिखाया। वे जीवनभर लड़ाइयां करते रहे। अब बाहरी लड़ाइयां समाप्त हो गयीं हैं, तो वे कहां लड़ें! लड़ाई की आदत होने से वे अब आपस में लड़ रहे हैं। देखिए, मैं सुलझाने की युक्ति बताता हूं। प्रयोग करके देखें। पहली बात परिवार वालों से कष्ट पाकर भी उनसे मीठे वचन बोलें। दूसरी बात, उन्हें उपभोग की वस्तुएं निष्पक्षतापूर्वक एवं उदारता से देते रहें। अर्थात धन का उचित बटवारा करते रहें। और तीसरी बात, साथियों का मन देखकर उनसे काम लें। जिसने अपने मन को वश में नहीं किया है, जो गम्भीर, सहनशील एवं विशाल हृदय का नहीं है,

वह परिवार एवं समाज को नहीं चला सकता। समतल भूमि में कमजोर बैल भी बोझा ढो लेते हैं, परन्तु ऊंची-नीची भूमि में बलवान बैल ही बोझा ढो सकते हैं। "हे केशव! आप इस यादवकुल के मुखिया हैं। यदि इस कुल में फूट पड़ जायगी तो पूरे संघ का विनाश हो जायेगा। आप इस प्रकार व्यवहार करें कि आपके रहते हुए इस यादव-गणतंत्र-राज्य का विनाश न हो।"[1]

जिसके घर के सदस्य शाम को जब इकट्ठे होते हैं, तब एक-दूसरे से हंस-हंसकर बातें करते हैं, सब अपने-अपने काम का एक-दूसरे को लेखाजोखा देते हैं, कल क्या करना है इस पर विचार कर लेते हैं, सब सदस्य एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, भोजन के पहले या पीछे सत्संग, कथा-वार्ता आदि कोई सामूहिक धार्मिक कृत्य करते हैं, उनके घर में स्वर्ग का निवास रहता है। जिस परिवार या समाज में सब काम आपस में मिल-बैठकर विचारकर करते हैं, वह परिवार या समाज दीर्घजीवी तथा सुखी होता है। और कुछ कर पावे या नहीं, परन्तु जिस परिवार में चौबीस घंटे में सब लोग एक बार हंस-बोल लेते हैं, वह परिवार सुलझा होता है। घर के परिवार में एक बार तो हंसी का कहकहा मच ही जाना चाहिए।

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी कमाई का एक हिस्सा दान करे। दान के पात्र सार्वजनिक कल्याण की संस्थाएं हैं, लोकमंगल में विचरने वाले निर्मल सन्त हैं तथा असहाय लोग हैं। हर गृहस्थ को अपने जीवन में किसी सच्चे आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना चाहिए और उनके द्वारा अपने जीवन में दिशानिर्देश लेना चाहिए। सन्तों की सेवा तथा उनके सत्संग में लगकर बोध प्राप्त करना चाहिए। सत्संग इंजन है तथा गृहस्थ डिब्बे हैं। यदि गृहस्थ सत्संग में लगे रहेंगे तो वे अवश्य अपने गंतव्य को पहुंचेंगे। उन्हें सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहना चाहिए, जिससे उनकी सद्बुद्धि बनी रहे।

इस प्रकार जो व्यक्ति सदाचार से चलते हुए गृहस्थी मर्यादा का पालन करता है, वह मानव है।

"बेहद चले सो साध" जिसे गृहस्थी से वैराग्य हो जाता है और जो उससे विरक्त होकर किसी साधु-समाज में दीक्षित हो साधना करता है, वह साधु है। किसी को अधकचरे में घर नहीं छोड़ना चाहिए। पक्का वैराग्य तथा त्याग की सच्ची समझ होने पर घर का त्याग करना चाहिए। घर को छोड़कर किसी सच्चे वैराग्यवान संत की शरण में जाकर उनकी सेवा, सत्संग तथा स्वाध्याय करते हुए साधना से रहना चाहिए। दीर्घकाल तक साधु का वेष न लेकर सेवकभाव से रहकर गुरु के पास सेवा-साधना में बिताने पर वैराग्य की परिपक्वता हो जाती है। विरक्त हो जाने पर पूर्वाश्रम—घर-परिवार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उसे व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष संग्रह नहीं करना

---

१. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा करु।।
(महाभारत, शांति पर्व, अध्याय ८१, श्लोक २५)

चाहिए। उसे स्त्री का पूर्ण त्यागी होना चाहिए। शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सत्संग में निवास करना चाहिए। उसे झाड़-फूंक, फलित ज्योतिष का पाखंड तथा और किसी प्रकार के निरर्थक लोकरंजन के काम नहीं करना चाहिए। साधु जिस सम्प्रदाय में रहे, उसके नियमों का पालन करते हुए उसे पूर्ण विरक्तिभाव में स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थीरूपी हद से निकलकर विरक्त हुआ त्यागी बेहद चलने वाला है और वही साधु है।

"हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध" यह तीसरी श्रेणी का पुरुष सर्वोच्च होता है। जिसने गृहस्थी का त्याग किया और साधुदशा के सम्प्रदाय विशेष एवं वेषमर्यादा के अहंकार का भी त्याग करके शुद्ध स्वरूपस्थिति दशा में ठहर गया, उसका मत अगाध है। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतन है। वह तीनों गुणों से परे ज्ञानमात्र है। स्वरूपस्थिति की दो दशाएं हैं; एक व्यवहारकाल की तथा दूसरी समाधिकाल की। परम स्थिति में पहुंचा हुआ संत व्यवहारकाल में राग-द्वेष और शोक-मोह से मुक्त होता है तथा समाधिकाल में सारे संकल्पों से रहित होता है। वह भौतिक धरातल से उठा हुआ सदैव स्वस्वरूप में ही निमग्न रहता है। वह गृहस्थी से तो मुक्त होता ही है, विरक्ति की सांप्रदायिक संकुचितताओं से भी मुक्त होता है। भले ही उसका शरीर किसी सम्प्रदाय विशेष में हो तथा वह किसी सम्प्रदाय के वेष से संयुक्त हो, परन्तु उसकी अन्तरात्मा सारी सांप्रदायिकताओं से परे होती है। इसलिए वह हद तथा बेहद—दोनों से परे होता है। उसके लिए ही सद्गुरु ने कहा है—

समुझि बूझि जड़ हो रहै, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबीर ता सन्त का, पला न पकरै कोय।। बीजक, साखी १६७।।

बोधवान तथा स्वरूपस्थ पुरुष मतवाद एवं सांप्रदायिकता में नहीं पड़ता। क्योंकि "ताकर मता अगाध" होता है। जो स्वरूपविचार एवं स्वरूपस्थिति की अगाध-दशा में पहुंचा हुआ है, उसके लिए मतवाद का कोई मूल्य नहीं है। तब तक तो मतवाद छिलके की तरह उतर जाता है। स्वरूपस्थिति तक पहुंचे हुए संतों की दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार अवश्य भिन्न होते हैं, परन्तु उनकी दशा एक होती है। इसी क्रम में सद्गुरु अगली साखी कहते हैं।

सभी ज्ञानियों की एक स्थिति

समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर।
कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और।।१९०।।

शब्दार्थ—गति = चाल, आचरण, हरकत, पहुंच, सीमा, दशा, स्थिति, ज्ञान, मोक्ष। ठौर = स्थिति। बीच के = अधकचरे, अधूरे। बलकहिं = उबलते हैं, खौलते हैं, उमगते हैं, बक-बक करते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने जड़-चेतन की समस्त स्थितियों, गुण-धर्मों एवं जड़ से सर्वथा भिन्न अपने चेतन स्वरूप को समझ लिया है और समझकर चिर विश्राम पा लिया है, उन सब

ज्ञानियों के एक ज्ञान, एक आचरण, एक स्थिति एवं एक समान मोक्षावस्था होती है। सद्गुरु कहते हैं कि अधकचरे-अधूरे लोग ही अन्य-का-अन्य बकते हैं।।१९०।।

व्याख्या—"समुझे की गति एक है" बहुत वजनदार वचन है। व्यावहारिक क्षेत्र में भी सभी समझदारों की दशा एक होती है। समझदार लोग किसी बात को लेकर आपस में लड़ते नहीं। वे विचारों की भिन्नता होते हुए भी आपस में निर्विरोध बरताव करते हैं। वे आपस के विरोधी विचारों को अनदेखा कर जिन सिद्धांतों में सबके विचार मिलते हैं, उनको लेकर समन्वयात्मक व्यवहार बरतते हैं। यही सुख का रास्ता भी है। समझदार आदमी जब किसी अन्य से मिलता है, तब वह बात का आरम्भ उन विचारों से नहीं करता जहां मत नहीं मिलते हैं, किन्तु वहां से शुरू करता है जहां से दोनों के मत मिलते हैं। वह अपरिचित विचारों वाले लोगों के सामने सारा सत्य खोलकर कहने की उत्सुकता नहीं प्रकट करता। सब जगह सारे सत्य एक साथ नहीं कहे जा सकते। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह अपने उद्देश्य में असफल होगा। व्यक्ति को स्वयं सोचना चाहिए कि उसके विषय में यदि कोई सारा सत्य कह दे, तो शायद वह नहीं सह पायेगा, तो दूसरे के प्रति वह असमय में बहुत खरा क्यों बनना चाहता है!

मिलने-जुलने वालों में परस्पर प्रेम-व्यवहार बना रहे यह व्यक्ति और समाज के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। परस्पर प्रेम व्यवहार बने रहने पर वे एक दूसरे के भी विचार सुनने की उदारता कर सकते हैं। परस्पर के प्रेम-व्यवहार से ही आदमी एक दूसरे के निकट आते हैं और निकट आने पर एक दूसरे के विचारों को समझते हैं। यदि अपने निर्धारित सत्य के जोश में दूसरों के संस्कारों के विरुद्ध खरा-खोटा कह दिया गया, तो हमारे विचारों के प्रति उनकी सहानुभूति समाप्त हो जायेगी। फिर तो वे हमारे परम सत्यों को समझकर भी नहीं समझना चाहेंगे। ऐसे उत्तम जिज्ञासु संसार में बहुत कम हैं जो केवल खरी बातें सुनकर उनको स्वीकार लें। संसार के लोग नाना संस्कारों में जकड़े हैं, उन्हें प्रेम व्यवहार एवं सहारे से ही सत्य मार्ग में लाया जा सकता है। अंततः तो सत्य खरा रूप में कहना ही पड़ेगा। उसके बिना सत्य का बोध नहीं हो सकता। परन्तु देश, काल, समाज आदि देखकर ही कुछ कहना चाहिए जिससे कथन सार्थक हो। इन सबका मतलब यह है कि समझदार आदमी परस्पर के व्यवहार में तथा किसी को अपने विचार देने के सम्बन्ध में भी नहीं उलझता।

"समुझे की गति एक है, जिन्ह समुझा सब ठौर" इस पंक्ति का भाव ज्यादा गहरे में है। जिन्होंने सब ठौर को समझ लिया है उन समझदारों की दशा एक होती है। जड़ और चेतन का भेद, उनके गुण एवं लक्षण, जगत की स्थिति, स्वरूप का तथ्य, स्वरूप की रहनी तथा उसकी दशा—इन सारी बातों को जो समझकर यथावत ग्रहण और त्याग करता है और अपनी रहनी में रहता है, ऐसे सभी ज्ञानियों की दशा एक होती है। जो समझने योग्य को समझ लेता है उसकी बुद्धि निर्भ्रांत हो जाती है, और जो करने योग्य को कर लेता है उसका मन शांत हो जाता है। अतः निर्भ्रांत बुद्धि और शांत मन वालों की दशा एक होती है।

"सब ठौर" समझना क्या है? क्या यहां संसार की हर कला के ज्ञान की बात कही जा रही है? संसार की हर कला का ज्ञान एक ही व्यक्ति को हो पाना असंभव है। हम जीवनभर अपने शरीर के रोयें की संख्या से ही अनभिज्ञ रहते हैं। यहां हर ठौर से मतलब है जिससे हमारा मन बौद्धिक और मानसिक उलझनों से मुक्त होकर प्रशांत हो सके उसे समझ लेना। अच्छी समझ जीवन का सर्वस्व है। सारे विषयों से निवृत्त होकर अपने आप में स्थित होना यही सबसे बड़ी समझ है। निष्काम हुए बिना कोई स्वरूपस्थ नहीं हो सकता और निष्काम पुरुषों में विवाद होने की बात ही नहीं उठ सकती। संसार के जितने मनुष्य विषयों से निवृत्त होकर आत्माराम हो जाते हैं, उन सबकी दशा एक होती है। उनके देह-व्यवहार में भिन्नता हो सकती है, परन्तु उनकी मानसिक दशा में कोई अन्तर नहीं हो सकता। सभी निष्काम लोग समान प्रशांत होते हैं, जो प्रशांत होते हैं वे विवाद-रहित होते हैं।

"कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और" सद्गुरु कहते हैं, ये जो बीच के लोग हैं, जो रास्ते में हैं, अभी मंजिल में नहीं पहुंचे हैं वे और-का-और बकते हैं। वे ही बटलोई के अदहन की तरह उबलते हैं। वे ही अपनी श्रेष्ठता जाहिर करते हुए दूसरों को तुच्छ कहते हैं। "अधजल गगरी छलकत जाय" या "कहहिं कबीर अर्थ घट डोलै" अधूरा आदमी ही अन्यथा बात करता है। जिसने सब ठौर समझकर जीवन में विश्राम पाया है वह निर्विवाद होता है और ऐसे जितने लोग हैं सबकी दशा एक समान दिव्य होती है।

रास्ते हैं, चलने वाले चाहिए

राह बिचारी क्या करे, जो पन्थि न चले बिचार।
आपन मारग छोड़ि के, फिरे उजार उजार॥१९१॥

शब्दार्थ—बिचारी = बेचारी। उजार = ध्वस्त, उजड़ा हुआ, वीरान, जनशून्य, जंगल, कांटा-खाईं, कुपंथ।

भावार्थ—बेचारी अच्छी राह क्या करे, जब पथिक विचारपूर्वक उस पर नहीं चलता और अपना रास्ता छोड़कर वीरान में भटकता है॥१९१॥

व्याख्या—महापुरुषों ने स्वयं आचरण एवं रहनी में चलकर, मुख से सन्मार्ग बताकर तथा निर्णय के वचन ग्रन्थों में लिखकर जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया है, अब यह जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह स्वयं विचारपूर्वक उस पर चले! यदि वह उस पर नहीं चलता है तो पथ का क्या दोष है!

अच्छा रास्ता सामने है, कोई उसे त्यागकर कांटा-खाईं में कूद-कूदकर चलता है तो उसको रास्ते पर लाने का क्या उपाय है! जो संतों के शुभाचारों, ज्ञान एवं विवेकपूर्ण वचनों का आदरकर उनके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाता है उसे कोई कैसे सुधार पायेगा!

मृत्यु जीवन का परम सत्य है

मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल॥१९२॥

शब्दार्थ—सहिदानी = चिह्न, पहिचान, निशान। बोल = वाणी, चर्चा।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी मर जाओगे। मुये चाम का ही तो ढोल बजता है। संसार के लोग सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के मोही बने हैं। एक दिन यह सपना टूट जाता है। मर जाने के बाद लोगों में उसकी चर्चा ही कुछ दिनों तक पहचान रह जाती है॥१९२॥

व्याख्या—मृत्यु जीवन का परम सत्य है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। परन्तु खेद है कि मनुष्य इसको झुठलाने में जीवनभर लगा रहता है। लोग मृत्यु को याद नहीं रखना चाहते। यदि कोई उसकी याद कराना चाहे तो नाखुश हो जाते हैं। किसी पुत्र-जन्म, विवाह आदि के अवसर पर यदि कोई किसी की मृत्यु का नाम ले ले, तो देखोगे कि लोग डपट लेंगे 'चुप भी रहो भले आदमी! ऐसे मंगल के अवसर पर मुख से अशुभ क्या निकालते हो!' मालूम होता है कि जन्म और विवाह ही केवल शुभ एवं मंगल हैं और मृत्यु अमंगल! परन्तु ध्यान रखो कि किसी के जन्म और विवाह की गहमागहमी में तो हम माया-मोह में भूल जाते हैं और किसी की मृत्यु की चर्चा या मृत्यु की याद में हमारा मन संसार से हटकर शांत होता है और सत्यता के धरातल पर पहुंचता है। किन्तु आदमी तो माया-मोह में ऐसा व्यामोहित है कि वह हर समय अपने आप को छलता है। लोग दुकान बन्द नहीं करते, दीपक नहीं बुझाते, किन्तु दुकान एवं दीपक को बढ़ाते हैं। जब उन्हें दुकान बन्द करना होता और दीपक बुझाना होता है तब वे अपने साथी एवं नौकर से कहते हैं कि दुकान बढ़ा दो तथा दीपक बढ़ा दो। शुतुर्मुर्ग एक ऊंचा जानवर होता है। कहा जाता है कि जब सिंह उसके ऊपर हमला करता है तब वह अपने मुख को बालू या कचड़े में गाड़ देता है और आंखें बंद कर लेता है। वह समझता होगा कि मैं जब सिंह को नहीं देखूंगा तो वह भी मुझे नहीं देखेगा। यही दशा व्यामोहित मनुष्य की है। वह सोचता है कि यदि मैं मौत की याद नहीं करूंगा तो वह मुझे भी भूली रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि हम चाहे मौत को याद रखें या न रखें, वह हमारे सोते-जागते, चौबीसों घंटे प्रतिपल हमारी ओर निरन्तर आ रही है। उसका आना कोई रोक नहीं सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक चाहे जितने बड़े नाम लिये जायं उसे कोई नहीं रोक पाया है। उसने सबके शरीर को छीन लिया है।

इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं और हे विमोहित मानव! तुम भी मर जाओगे। सटीक उदाहरण देने में कुशल कबीर देव कहते हैं कि मुये चाम का ही ढोल बजता है। जिन्दा चाम का ढोल बन ही नहीं सकता। जब पशु मर जाता है, तब उसके चाम को निकालकर ढोल मढ़ा जाता है। इस प्रकार मुये चाम का ही ढोल बजता है। इसी प्रकार जब आदमी मर जाता है तब उसके बाद कुछ लोग उसकी

कुछ दिनों तक चर्चा करते हैं। उसकी अच्छाइयों को लेकर उसकी अच्छी चर्चा चलती है, तथा बुराइयों को लेकर बुरी चर्चा होती है। मनुष्य के मर जाने के बाद कुछ दिनों तक उसकी सहिदानी, उसकी पहचान केवल उसके विषय में चर्चा है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के जीने या मरने की चिन्ता न कर यह चिन्ता करे कि हमसे बुरे कर्म न हों। हमारे बुरे कर्म हमें तुरन्त दुख देने लगते हैं और उसको लेकर हमारे जीवित काल तथा मरने के बाद भी हमारे लिए बुरी चर्चा होती है। वस्तुतः जीवित रहकर भी वही मरा है जिसके लिए सर्वत्र बुरी चर्चा है और मरकर भी मानो वही जीवित है जिसके विषय में सर्वत्र अच्छी चर्चा है।

"सपन सनेही जग भया" संसार के लोग सपने के प्रेमी बने हैं। सपने में मोहक प्राणी और पदार्थ मिलते हैं, बहुत सारी अनुकूलताएं मिलती हैं। उनमें उस समय मोह भी होता है; परन्तु नींद टूटते ही सपना समाप्त हो जाता है। स्वप्न की बुरी घटनाएं भी जागने पर नहीं रह जाती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू मृत्यु का शिकार है। तू इन सपने के प्राणी-पदार्थों के मोह में पड़कर बुरे कर्म मत कर! तू किसका गर्व करता है! पहले के लोग मर चुके हैं। तू भी मर जायेगा। यहां क्या स्थायी है! यहां से सबको एक दिन जाना है। जाने के बाद थोड़े दिनों तक लोग तुम्हारी चर्चा करेंगे। उसके बाद भूल जायेंगे। इसलिए इस सपने से जागकर हमें स्वरूपस्थिति करना चाहिए।

मूवा है मरि जाहुगे, बिन शिर थोथी भाल।
परेहु करायल बृक्ष तर, आज मरहु की काल॥१९३॥

शब्दार्थ—शिर = सिर, खोपड़ी, किसी वस्तु का अग्र-भाग, यहां अर्थ है भाला की नोंक एवं धार। थोथी भाल = भोथरा भाला, धाररहित भाला। करायल वृक्ष = करील का पेड़ जो बिना पत्ते के केवल कांटों का झाड़ीदार होता है, तात्पर्य में नाशवान संसार।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी अविवेकरूपी बिना धार के भोथरे भाले के प्रहारों से एक दिन मर जाओगे। क्षणभंगुर संसार रूपी बिना पत्ते एवं बिना छाया के कटीले झाड़ीदार करील पेड़ के नीचे पड़े हो, आज मरो या कल॥१९३॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पैनी वैराग्य दृष्टि और कहने का तीखे उदाहरण-सहित अद्भुत विदग्धात्मक तरीका हृदय को झकझोर देते हैं। साहेब कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं, तुम्हें भी मर जाना है। बिना धार एवं भोथरे भाले से मार-मारकर यदि किसी की हत्या की जाय तो उसको बड़ी पीड़ा होगी और देरी में मर सकेगा। तेजधार के हथियार से मारने पर आदमी जल्दी मर जाता है, परन्तु भोथरे हथियार से मारने पर बड़े दुखपूर्वक देर में मरता है। जो अविवेक एवं मोह से ग्रसित है, उसका मरना मानो भोथरे हथियार से होता है। जो व्यक्ति जीवनभर राग-द्वेष, शोक-मोह, चिंता-विकलता आदि में पिस-पिसकर मरता है वह मानो भोथरे हथियार से मारा जाकर मरता है। जीवन की सफलता सदैव मन का प्रसन्न रहना है। दुखी रहना या प्रसन्न रहना यह ज्यादा भौतिक स्थितियों पर निर्भर नहीं करता, किन्तु अविवेक तथा विवेक पर निर्भर करता है। इसलिए जब मनुष्य का पूर्ण विवेक उदय हो जाता है तब वह कृतार्थ हो जाता है और हर समय

प्रसन्न रहता है। परन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती, चाहे आदमी कितना धनी एवं सब चीजों से संपन्न हो, दुखी रहता है। संसार के अधिकतम लोग दुखी ही दिखते हैं। कोई बिरला है जो विवेकसंपन्न है और सुखी है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू माया के मोह में आसक्त होकर निरन्तर पीड़ित है और इस संसार में विषय-इच्छा एवं चिन्ता-शोक में तिल-तिलकर पीड़ित होता है, और इसी रफ्तार में तेरा अन्त आ जाता है।

करील के पेड़ में पत्ते नहीं होते। वह कांटायुक्त एवं झाड़ीदार होता है। उसमें न छाया होती है न फल। यह क्षणभंगुर संसार इसी प्रकार है। इसमें न जीव को शीतलता मिलती है न इसमें कोई उत्तम फल है। भौतिक पदार्थों के रागी आदमी को जीवनभर परिवर्तनशीलता एवं क्षणभंगुरता का अनुभव करते हुए अन्त में यहां से चला जाना पड़ता है। भौतिक उपलब्धियों का अन्ततः कोई फल नहीं होता। सब कुछ जहां-का-तहां रह जाता है, जीव अकेला चला जाता है। व्यामोहित मनुष्य को धन, भवन, स्त्री, पति, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख प्राप्ति की बड़ी लम्बी आशा रहती है, परन्तु उसके जीवन के दिन जितने बीतते हैं उसे सबकी असारता का अनभुव हो जाता है। भौतिकता के रागियों को अंततः इस संसार से केवल निराशा ही हाथ लगती है। वह निराशा ही में मरकर चला जाता है। जीवन में शांति तब मिलती है जब समस्त भौतिक पदार्थों से अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो।

हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं

बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय॥१९४॥

शब्दार्थ—बोली = बातें, निर्णय। पूर्व की = ज्ञान दिशा की, ज्ञानपरक। धुर = ध्रुव, दृढ़, पक्का, निश्चय।

भावार्थ—हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं, हमारी बातें वे लोग ठीक से नहीं समझ सकते जो केवल कर्म-उपासनादि में डूबे हैं। हमारे निर्णय तो सम्यक वही समझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञानपरक बुद्धि वाला है॥१९४॥

व्याख्या—बच्चों को पहली कक्षा में ही पढ़ाया जाता है कि बच्चो! जब सूरज उगे तब तुम उसके सामने मुख करके खड़े हो जाओ, और अपने दोनों हाथों को दोनों ओर फैला लो। अब यह समझो कि तुम्हारे मुख के सामने जिधर सूरज उगा है वह पूर्व दिशा है, पीठ की तरफ पश्चिम, दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण तथा बायें हाथ की तरफ उत्तर दिशा है। अतएव जिधर सूरज उगता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व का लाक्षणिक अर्थ है ज्ञान। "बोली हमारी पूर्व की" कहकर सद्गुरु हमें यह बताते हैं कि हमारी बातें ज्ञानपरक हैं। जो लोग भावुकतापूर्वक अनेक काल्पनिक देवी-देवतादि की भक्ति-भावना में एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों में डूबे हैं, उन्हें मेरी सारी बातें समझ में आना बड़ी कठिन बात है। भावुक तथा

कुछ दिनों तक चर्चा करते हैं। उसकी अच्छाइयों को लेकर उसकी अच्छी चर्चा चलती है तथा बुराइयों को लेकर बुरी चर्चा होती है। मनुष्य के मर जाने के बाद कुछ दिनों तक उसकी सहिदानी, उसकी पहचान केवल उसके विषय में चर्चा है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के जीने या मरने की चिन्ता न कर यह चिन्ता करे कि हमसे बुरे कर्म न हों। हमारे बुरे कर्म हमें तुरन्त दुख देने लगते हैं और उसको लेकर हमारे जीवित काल तथा मरने के बाद भी हमारे लिए बुरी चर्चा होती है। वस्तुतः जीवित रहकर भी वही मरा है जिसके लिए सर्वत्र बुरी चर्चा है और मरकर भी मानो वही जीवित है जिसके विषय में सर्वत्र अच्छी चर्चा है।

"सपन सनेही जग भया" संसार के लोग सपने के प्रेमी बने हैं। सपने में मोहक प्राणी और पदार्थ मिलते हैं, बहुत सारी अनुकूलताएं मिलती हैं। उनमें उस समय मोह भी होता है; परन्तु नींद टूटते ही सपना समाप्त हो जाता है। स्वप्न की बुरी घटनाएं भी जागने पर नहीं रह जाती हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू मृत्यु का शिकार है। तू इन सपने के प्राणी-पदार्थों के मोह में पड़कर बुरे कर्म मत कर! तू किसका गर्व करता है! पहले के लोग मर चुके हैं। तू भी मर जायेगा। यहां क्या स्थायी है! यहां से सबको एक दिन जाना है। जाने के बाद थोड़े दिनों तक लोग तुम्हारी चर्चा करेंगे। उसके बाद भूल जायेंगे। इसलिए इस सपने से जागकर हमें स्वरूपस्थिति करना चाहिए।

मूवा है मरि जाहुगे, बिन शिर थोथी भाल।
परेहु करायल बृक्ष तर, आज मरहु की काल ॥१९३॥

शब्दार्थ—शिर = सिर, खोपड़ी, किसी वस्तु का अग्र-भाग, यहां अर्थ है भाला की नोंक एवं धार। थोथी भाल = भोथरा भाला, धाररहित भाला। करायल वृक्ष = करील का पेड़ जो बिना पत्ते के केवल कांटों का झाड़ीदार होता है, तात्पर्य में नाशवान संसार।

भावार्थ—पहले के लोग मर चुके हैं। तुम भी अविवेकरूपी बिना धार के भोथरे भाले के प्रहारों से एक दिन मर जाओगे। क्षणभंगुर संसार रूपी बिना पत्ते एवं बिना छाया के कटीले झाड़ीदार करील पेड़ के नीचे पड़े हो, आज मरो या कल ॥१९३॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पैनी वैराग्य दृष्टि और कहने का तीखे उदाहरण-सहित अद्भुत विदग्धात्मक तरीका हृदय को झकझोर देते हैं। साहेब कहते हैं कि पहले के सभी लोग मर चुके हैं, तुम्हें भी मर जाना है। बिना धार एवं भोथरे भाले से मार-मारकर यदि किसी की हत्या की जाय तो उसको बड़ी पीड़ा होगी और देरी में मर सकेगा। तेजधार के हथियार से मारने पर आदमी जल्दी मर जाता है, परन्तु भोथरे हथियार से मारने पर बड़े दुखपूर्वक देर में मरता है। जो अविवेक एवं मोह से ग्रसित है, उसका मरना मानो भोथरे हथियार से होता है। जो व्यक्ति जीवनभर राग-द्वेष, शोक-मोह, चिंता-विकलता आदि में पिस-पिसकर मरता है वह मानो भोथरे हथियार से मारा जाकर मरता है। जीवन की सफलता सदैव मन का प्रसन्न रहना है। दुखी रहना या प्रसन्न रहना यह ज्यादा भौतिक स्थितियों पर निर्भर नहीं करता, किन्तु अविवेक तथा विवेक पर निर्भर करता है। इसलिए जब मनुष्य का पूर्ण विवेक उदय हो जाता है तब वह कृतार्थ हो जाता है और हर समय

प्रसन्न रहता है। परन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती, चाहे आदमी कितना धनी एवं सब चीजों से संपन्न हो, दुखी रहता है। संसार के अधिकतम लोग दुखी ही दिखते हैं। कोई बिरला है जो विवेकसंपन्न है और सुखी है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू माया के मोह में आसक्त होकर निरन्तर पीड़ित है और इस संसार में विषय-इच्छा एवं चिन्ता-शोक में तिल-तिलकर पीड़ित होता है, और इसी रफ्तार में तेरा अन्त आ जाता है।

करील के पेड़ में पत्ते नहीं होते। वह कांटायुक्त एवं झाड़ीदार होता है। उसमें न छाया होती है न फल। यह क्षणभंगुर संसार इसी प्रकार है। इसमें न जीव को शीतलता मिलती है न इसमें कोई उत्तम फल है। भौतिक पदार्थों के रागी आदमी को जीवनभर परिवर्तनशीलता एवं क्षणभंगुरता का अनुभव करते हुए अन्त में यहां से चला जाना पड़ता है। भौतिक उपलब्धियों का अन्ततः कोई फल नहीं होता। सब कुछ जहां-का-तहां रह जाता है, जीव अकेला चला जाता है। व्यामोहित मनुष्य को धन, भवन, स्त्री, पति, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि से सुख प्राप्ति की बड़ी लम्बी आशा रहती है, परन्तु उसके जीवन के दिन जितने बीतते हैं उसे सबकी असारता का अनभुव हो जाता है। भौतिकता के रागियों को अंततः इस संसार से केवल निराशा ही हाथ लगती है। वह निराशा ही में मरकर चला जाता है। जीवन में शांति तब मिलती है जब समस्त भौतिक पदार्थों से अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिति हो।

हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं

बोली हमारी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय॥१९४॥

शब्दार्थ—बोली = बातें, निर्णय। पूर्व की = ज्ञान दिशा की, ज्ञानपरक। धुर = ध्रुव, दृढ़, पक्का, निश्चय।

भावार्थ—हमारे निर्णय ज्ञानपरक हैं, हमारी बातें वे लोग ठीक से नहीं समझ सकते जो केवल कर्म-उपासनादि में डूबे हैं। हमारे निर्णय तो सम्यक वही समझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञानपरक बुद्धि वाला है॥१९४॥

व्याख्या—बच्चों को पहली कक्षा में ही पढ़ाया जाता है कि बच्चो! जब सूरज उगे तब तुम उसके सामने मुख करके खड़े हो जाओ, और अपने दोनों हाथों को दोनों ओर फैला लो। अब यह समझो कि तुम्हारे मुख के सामने जिधर सूरज उगा है वह पूर्व दिशा है, पीठ की तरफ पश्चिम, दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण तथा बायें हाथ की तरफ उत्तर दिशा है। अतएव जिधर सूरज उगता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं। सूर्य प्रकाशस्वरूप है। प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। अतएव पूर्व का लाक्षणिक अर्थ है ज्ञान। "बोली हमारी पूर्व की" कहकर सद्गुरु हमें यह बताते हैं कि हमारी बातें ज्ञानपरक हैं। जो लोग भावुकतापूर्वक अनेक काल्पनिक देवी-देवतादि की भक्ति-भावना में एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों में डूबे हैं, उन्हें मेरी सारी बातें समझ में आना बड़ी कठिन बात है। भावुक तथा

मोटी बुद्धि वाले लोग ज्ञान की धारदार बातें पहले तो सहन ही नहीं कर पाते, समझना और दूर की बात है।

सद्गुरु कहते हैं कि हमें वही समझ सकता है, अर्थात हमारे निर्णयों को वही बूझ सकता है जो निश्चयपूर्वक ज्ञान दिशा वाला हो। जिसकी बुद्धि केवल कहीं भावुक होकर बंधी नहीं है, किन्तु निष्पक्ष, उदार एवं निर्णयवती है, वही कबीर साहेब की बातों को समझ सकता है। कबीर किसी तथाकथित ईश्वर, ईश्वर के अवतार, पैगम्बर, ईश्वर की किताब, ईश्वरीय संप्रदाय एवं देवी-देवताओं में बंधे नहीं थे। वे मानसिक गुलामी करना जानते ही नहीं थे। वे श्रद्धा-भक्ति के नाम पर आंख मूंदकर चलना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति के नाम पर चलाये गये समस्त अंधविश्वासों एवं अंधरूढ़ियों को झकझोरकर उखाड़ दिया है। वे सत्यज्ञान में निष्ठा रखने को ही श्रद्धा समझते थे। श्रद्धा है भी सत्य को धारण करना। बिना समझे-बूझे आंख मूंदकर बिना सिर-पैर की बातों में मोह कर लेना अंधश्रद्धा है। कबीर साहेब इसके घोर विरोधी हैं। वे केवल सत्य के मोती के व्यापारी हैं। इसलिए कंकड़ और ठीकरे को ही पहचानने वाले लोग कबीर के मोती को कैसे पहचान सकते हैं! उनके हीरे-मोती पारखी ही परखेंगे जो निश्चयपूर्वक, ज्ञानपूर्वक बुद्धि रखते हैं। किसी जड़ संस्कार में बंधकर कबीर की बात समझ पाना बड़ा मुश्किल है। उनकी बातें समझने के लिए उन जैसा खुला दिल होना चाहिए।

इस साखी का अनेक विद्वान स्थूल अर्थ करते हैं। उनके खयाल से कबीर कहते हैं कि हमारी बोली पूर्व की अर्थात बनारस की है। हमारी बातें दूसरे लोग नहीं समझ सकते, केवल वे ही समझ सकते हैं जो निश्चयपूर्वक बनारस के आस-पास के होंगे।

उक्त अर्थ बहुत छिछला है। संत की वाणी सार्वभौमिक होती है और कबीर जैसे सार्वभौमिक चिंतक की वाणी स्वाभाविक ही सार्वभौमिक है। "देश विदेशे हौं फिरा" कहने वाले कबीर अपनी बातों का अधिकारी केवल बनारस के आस-पास वालों को ही मान लें यह कैसे हो सकता है! प्रत्यक्ष ही उनकी वाणी आज पूरा भारत समझ रहा है और पूरा विश्व समझने का प्रयत्न कर रहा है। अतएव यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। फिर बनारस पूर्व कैसे है! राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली आदि के खयाल से बनारस पूर्व है, परन्तु बिहार, बंगाल आदि के खयाल से तो पश्चिम है, नेपाल से दक्षिण तथा मध्य प्रदेश, मद्रास आदि से उत्तर है। दिशाएं देशसापेक्ष होती हैं। दिशाएं अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं। इसलिए बनारस का अर्थ पूर्व होगा तो सापेक्ष ही। फिर बनारस पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भी होगा। अतएव ज्ञान ही पूर्व है। ज्ञानपरक बुद्धि वाले ही कबीर साहेब की वाणी को पूर्णतया समझ सकते हैं। यही उपयुक्त अर्थ है।

संसार का घमण्ड बेकार है

जाके चलते रौंदे परा, धरती होय बेहाल।
सो सावत घामें जरे, पण्डित करहु विचार॥१९५॥

शब्दार्थ—रौंदे परा = मर्दन हो गया, रगड़ गया। सावत = सामंत, पड़ोसी, मांडलिक, राजा, बड़ा जमींदार, नायक, योद्धा।

भावार्थ—हे पंडितो! विचार करो, जिनके चलने के कारण पद-मर्दन से जमीन रगड़ जाती थी और धरती के जीव परेशान हो जाते थे, वे राजे-महाराजे एवं योद्धागण युद्धस्थल में अधमरे पड़े धूप में जलते हैं॥१९५॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने अपने समय में जमींदारों, छोटे तथा बड़े राजें-महाराजें, मांडलिकों, योद्धाओं आदि को देखा था जो दूसरों को लूटते थे, मारते थे, काटते थे और थोड़ी-थोड़ी बातों में युद्ध ठान देते थे। जो बड़े डाकू हो जाते थे, वे ही महाराजाधिराज हो जाते थे। वे ईश्वर बनकर जनता से पुजवाते थे। ये सब अपने फौज-फक्कड़ के सहित जिधर चलते थे उधर की जमीन रौंद जाती थी, फसलें रगड़ जाती थीं, बिना रास्ते के रास्ते बन जाते थे और उस भूखंड के सारे जीव उनके आतंक से परेशान हो जाते थे। इन रजवाड़ों एवं लड़ाकुओं के आतंक से जनता सदैव आतंकित रहती थी। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे राजाओं और लड़ाकुओं की भी अन्तिम दशा क्या होती थी यह जगजाहिर है। ये रात-दिन दूसरों को मारने वाले स्वयं युद्ध में मारे जाते थे, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो अधमरे पड़े धूप में जलते थे, और इन्हें जल्दी कोई पानी देने वाला नहीं मिलता था।

राज्य की तृष्णा में पड़े हुए अहंकारी एवं क्रूर रजवाड़ों की यही दशा होती थी। अपने अहंकार का निरन्तर पोषण करने वाले इन स्वार्थी और घमण्डी राजाओं का पूरा जीवन दुख में बीतते हुए अन्त घोर दुख और निराशा में जाता था। बहुत कुछ अच्छे आदर्श रखने वाले राम, कृष्ण, पांडवों तथा कौरवों के जीवन भी विशेषतः युद्ध में बीतते हुए अन्त में घोर निराशा, आत्महत्या एवं युद्ध में ही समाप्त हुए। फिर हिटलर, मुसोलिनि आदि की दशा ही खतरनाक है। जीवनभर गौवों और हिन्दुओं को सताने वाला औरंगजेब लगभग अपने पैंसठ से नब्बे वर्ष की उम्र तक दिल्ली से दूर महाराष्ट्र के पर्वतीय क्षेत्रों में तम्बू में रहता था तथा घोड़े पर बैठकर युद्ध के लिए भटकता हुआ दुख में अपने जीवन का अन्त किया। मरते समय उसने कहा "जिंदगी तो बेशकीमती थी, लेकिन वह बेकार चली गयी।" अविवेकपूर्ण स्वार्थ, भोगपरायणता, घमण्ड, सबको अपने वश में करके सब पर शासन करने की लालसा आदि प्रवृत्ति रखने वाले लोगों का जीवन अशांत होता ही है और अंत में भयंकर पतन होता है।

पायन पुहुमी नापते, दरिया करते फाल।
हाथन पर्वत तौलते, तेहि धरि खायो काल॥१९६॥

शब्दार्थ—पुहुमी = पृथ्वी। दरिया = नदी, समुद्र। फाल = डग (एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर रखना), फलांग, छलांग, एक बार में ही कूद जाना। धरि = पकड़कर। काल = मृत्यु।

भावार्थ—जो अपने पैरों से पूरी पृथ्वी नाप लेते थे, समुद्र को एक ही छलांग में कूद जाते थे और अपने हाथों से पर्वत उठा लेते थे, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा॥१९६॥

व्याख्या—"पायन पुहुमी नापते" का अर्थ है कि जो लोग पृथ्वी की एक ओर से दूसरी ओर तक यात्रा करते थे, पूरी पृथ्वी को अपने वश में करने ने लिए उसमें हमले करते रहते थे जैसे सिकन्दर, चंगेजखां आदि और जो लोग "दरिया करते फाल" समुद्र

की बड़ी-बड़ी यात्राएं करते रहते थे जैसे अगस्त्य, कोलम्बस, वास्कोडिगामा आदि औ "हाथन पर्वत तौलते" अर्थात बड़े-बड़ काम करते रहते थे, जैसे मिश्र के पिरामिड, ची की दीवार आदि का निर्माण, उन्हें भी मौत ने धर दबोचा।

पुराणों के अनुसार माना जाता है कि वामन[1] ने अपने तीन डग से पूरी पृथ्वी क नापकर राजा बलि को छल लिया था और पूरी पृथ्वी को अपने वश में कर लिया था रामायण के अनुसार हनुमान जी सौ योजन समुद्र एक ही छलांग में कूद गये थे औ रावण ने अपने हाथों से कैलाश पर्वत को, हनुमान ने हिमालय के खंड पर्वत को बूट लाने के लिए और श्रीकृष्ण ने गोबर्धन पर्वत को हाथों पर उठा लिया था, परन्तु ये स भी कालबली से न बचे। लोग वामन को भगवान, हनुमान को देवता तथा कृष्ण क परब्रह्म मानकर उनका सब समय रहना मानते हैं कि वे जब चाहें तब सबके बीच अ सकते हैं, जो चाहें कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। कबीर साहेब मिथ्या महिमा व विरोधी एवं तथ्य के द्रष्टा हैं; अतः वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि ये सब समर मौजूद हैं तथा जब चाहें आ सकते हैं तथा जो चाहें कर सकते हैं। वस्तुतः ये सब अन्य मनुष्य की तरह ही अपने-अपने समय में मर चुके हैं।

यह भी अतिशयोक्ति है कि वामन ने पूरी पृथ्वी को तीन डग से नाप लिया, हनुमान सौ योजन समुद्र कूद गये तथा रावण, हनुमान और कृष्ण ने पर्वत को हाथ पर उठा लिया।

अज्ञान सारी योग्यताओं का नाशक है

नौ मन दूध बटोरि के, टिपके किया बिनाश।
दूध फाटि काँजी भया, हुवा घृत का नाश॥१९७॥

---

1. ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाइसवें सूक्त के १६, १७ और १८ वां मन्त्र इस विषय में हैं। इनमें सत्रहवां मन्त्र है "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूहलमस्य पांसुरे (ऋग्वेद १/२२/१७) इसके अनुवाद में प्रसिद्ध वेद-विद्वान श्री रामगोविंद त्रिवेदी ने लिखा है "विष्णु ने इस जगत की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलियुत पैर से जगत छिप-सा गया।" यह एक रूपक लगता है जिसके द्वारा ऋषि जगत में अन्तर्निहित शक्ति को समझाना चाहता है, परन्तु पौराणिकों ने इसको लेकर कहानी बना डाली कि विष्णु नाम के देवता ने वामन रूप धारणकर बलि को छल लिया और उनके समस्त विश्व का राज्य या पूरा भूमंडल अपने तीन पगों में नाप लिया।

   इसका अर्थ हो सकता है कि विष्णु विश्व में अन्तर्निहित शक्ति है जिसे ऋत भी कहते हैं। वह मानो सत, रज एवं तम इन तीन पदों की गतिवाला है और उसी की धूल एवं गतिविधि से जगत ढका है। जगत को समझने के सुन्दर रूपक को भोले पौराणिकों ने बालक का खेल बना डाला है और एक तरफ विष्णु को परम देवता बताकर उन्हें धोखाधड़ी करने वाला भी सिद्ध किया। पुराणों की प्रायः सारी कहानियां चोरी, व्यभिचार, छल, कपट, धोखा आदि से रंग दी गयी हैं।

शब्दार्थ—टिपके = बूंद, खट्टी बूंद। काँजी = फटे हुए दूध का पानी, कसैला।

भावार्थ—नौ मन दूध इकट्ठा किया गया, परन्तु उसमें सिरका आदि खट्टे रस की कुछ बूंदें डाल दी गयीं, तो वह सारा दूध नष्ट हो गया, क्योंकि दूध फटकर खट्टा पानी हो गया और घी का नाश हो गया। अभिप्राय है कि पांच तत्व, तीन गुण युक्त मानव शरीर में नवां जीव विद्यमान है, परन्तु एक अज्ञान के कारण जीवन व्यर्थ गया और जीव दुख में ही पड़ा रहा ॥१९७॥

व्याख्या—यहां नौ मन दूध इकट्ठा करने की बात कही गयी है जिसका लाक्षणिक अर्थ पांच तत्त्व तथा तीन गुण युक्त अष्टधाप्रकृति और नवां जीव किया गया है। अर्थात अष्टधा प्रकृतियुक्त उत्तम मानव शरीर में जीव निवास करता है, परन्तु एक अज्ञान का टिपका पड़ने से उसकी सारी योग्यता व्यर्थ हो जाती है।

वैसे "नौ मन दूध" का अष्टधा प्रकृति एवं जीव अर्थ न किया जाय तो भी काम बन सकता है। नौ मन दूध का लाक्षणिक अर्थ है पूरी येग्यता। इसमें कारण है १ से ९ की संख्या के अंक। इसके बाद शून्य (०) होता है। ये ही घूम-घूमकर संख्या बनाते हैं। इसलिए 'नौ मन' संख्या की अधिकता का सूचक है। जैसे कहावत है "न नौ मन तेल इकट्ठा होगा, न राधा नाचेगी।" आठ मन या दस मन कहने का प्रचलन नहीं है, किन्तु नौ मन कहने का ही प्रचलन है। अतएव "नौ मन दूध बटोरि कै" का सरल लाक्षणिक अर्थ है कि मानव जीवन की सारी योग्यता प्राप्त हो जाने पर भी जीव एक अज्ञान के कारण भटकता है। उदाहरण कितना सुन्दर और सटीक है। बहुत दूध इकट्ठा किया गया और उसमें थोड़ा कसैला पदार्थ डाल दिया गया तो वह न दूध रह जाता है न दही बन पाता है और न उसमें से घी ही निकलता है। वह सब-का-सब नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार इस उत्तम मानव शरीर की सुन्दर योग्यता एक अज्ञान के कारण पूरी-की-पूरी व्यर्थ जाती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपनी उत्तम योग्यता का दुरुपयोग करता है। किसी वस्तु के सदुपयोग के मूल में ज्ञान है और दुरुपयोग के मूल में अज्ञान। सदुपयोग कल्याणकर तथा दुरुपयोग अकल्याणकर है। नौ मन दूध में कोई कसैला डाल दे और वह फटकर खराब हो जाय तो यह कितना कष्टकर होगा! जिसका दूध होगा उसे बड़ा दुख होगा। परन्तु मानव शरीर की इस उत्तम योग्यता का हम अपने अज्ञानवश खिलवाड़ करते हैं। इसे मलिन विषयों में, दुर्व्यसनों में, व्यर्थ बकवाद में और आलस्य-प्रमाद में खोते हैं, इसलिए न हम व्यवहार में सुखी होते हैं और न परमार्थ-लाभ कर पाते हैं। अतएव हमें अपने समय और शक्ति का दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। इसके लिए हमें सच्चे सद्गुरु और संतों की शरण में जाकर अपने मन के अज्ञान को दूर करना चाहिए और अपने आप को समझना चाहिए कि हम कौन हैं, किसमें फंसे हैं, दुख क्यों है तथा उससे पूर्ण छुटकारा कैसे होगा!

हिन्दू और मुसलमानों की भूल

कितनो मनावो पाँव परि, कितनो मनावो रोय।
हिन्दू पूजे देवता, तुरुक न काहू होय ॥१९८॥

शब्दार्थ—तुरुक=तुर्क, तुर्किस्तान का रहने वाला, तात्पर्य में मुसलमान।

भावार्थ—पांव पड़कर और रो-रोकर चाहे जितना मनाओ, परन्तु हिन्दू जड़-देवता पूजना नहीं छोड़ते और मुसलमान शून्य में पुकारना नहीं छोड़ते ।।१९८।।

व्याख्या—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, ईश्वर को प्राणियों में नहीं देखते, वे जीव को परमात्मा नहीं समझते। वे या तो मिट्टी, पत्थर, काष्ट तथा अष्ट धातुओं की मूर्तियों में परमात्मा को देखते हैं या शून्य आकाश में देखते हैं। इसलिए वे देवता या ईश्वर को प्रेम-समर्पण के लिए बकरा, मुरगा, सूअर, भेड़, ऊंट, गाय आदि काटते हैं, जो घोर जंगलीपन है। देहधारी प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्हें पत्थर के देवता या शून्य के ईश्वर के नाम पर काट देना कितना घोर अज्ञान है! पत्थर आदि जड़ की पिंडी ईश्वर नहीं है और न शून्य आकाश ईश्वर है। ईश्वर तो ये मानव हैं, ये प्राणधारी हैं। इनकी पूजा करना चाहिए, इनका सत्कार करना चाहिए। लेकिन खेद है कि आदमी के दिमाग को लकवा मार गया है। वह पत्थर, पेड़, पानी, पहाड़, चांद, सूरज, आग, हवा, आकाश, सभी निर्जीव पदार्थों को पूज लेता है, परन्तु जो सजीव हैं और असली देवता हैं उनका तिरस्कार करता है। इतना ही नहीं, निर्जीव के आगे सजीव की हत्या करता है।

कबीर देव कितना मार्मिक वचन कहते हैं कि इन हिन्दू-मुसलमानों के सामने चाहे जितना हाथ जोड़कर समझाओ, इनके पैरों पर पड़कर समझाओ, रो-रोकर समझाओ, गिड़गिड़ाकर समझाओ, परन्तु ये न जड़ देवी-देवता पूजना छोड़ते हैं और न शून्य में पुकारना छोड़ते हैं। "न काहू होय" वचन में शून्य के लिए व्यंजना है। इसका स्थूल अर्थ है कि मुसलमान किसी के नहीं होते। परन्तु भावार्थ है कि ये शून्य में पुकारते हैं। किन्तु कबीर देव कहते हैं कि न पत्थर में परमात्मा है और न शून्य में। वह तो सभी प्राणियों में है। अतएव प्राणियों पर दया एवं उनसे प्रेम करना ही परमात्मा की भक्ति है। यह आत्मा ही शुद्ध होने पर परमात्मा है। इससे अलग खोजना भ्रम है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों पत्थर और दीवार के पुजारी हैं। दोनों भटके हुए हैं। जनाब अमीर मीनाई कहते हैं—

शेख कहता है बिरहमन को, बिरहमन वाको सख़्त।
काब और बुतखाने में, पत्थर है पत्थर का जवाब।।

अर्थात—मुल्ला और पंडित एक दूसरे को बुरा कहते हैं, परन्तु काबा और मंदिर—दोनों जगह पत्थर की पूजा है। हिन्दू मन्दिरों में पत्थर की मूर्ति पूजते हैं और मुसलमान काबा में पत्थर की परिक्रमा करके उसे चूमते हैं।

यहां अधिकतम हिन्दू-मुसलमानों की बात बतायी गयी है। दोनों में जो विवेकी हैं, वे न पत्थर पूजते हैं न शून्य में पुकारते हैं और न ईश्वर तथा देवी-देवता के नाम पर जीव-वध करते हैं। वे तो मनुष्यों से प्रेम और सभी प्राणियों पर दया तथा रहम का बरताव करते हैं।

तुर्क

'तुरुक' का शुद्ध शब्द 'तुर्क' है जो फारसी भाषा का शब्द है। इसे संस्कृत-भाषा के पंडितों ने 'तुरुष्क' कहा है।

तुरुक कहने से मुसलमान अर्थ प्रकट होता है। परन्तु तुर्क मूलतः मुसलमान नहीं थे। तुर्क जाति आज के अफगानिस्तान तथा उसके उत्तरी सीमावर्ती क्षेत्रों, जैसे कि रूस के कज़ाकिस्तान तथा चीन के 'सिकियांग' का निवासी थी। तुर्कजाति बड़ी बरबर और लड़ाकू थी। हजरत मुहम्मद के जीवनकाल में ही 'ईराक' जो अरब के उत्तर है, मुसलमान हो गया था। पीछे से 'ईरान' भी मुसलमान हो गया, जहां आर्य सभ्यता के लोग पारसीधर्म के नाम से बसते थे। तुर्क लोग नवीं शताब्दी के अन्त से ईरान के मुसलमानों को परेशान करने लगे थे। मुसलमानों ने इन तुर्कों के विरुद्ध लड़ने के लिए 'गाज़ी'[1] नाम की एक नयी सेना संगठित की जो अपने आप को इसलाम का रक्षक कहती थी। इसके सिपाही या तो वेतन लेते नहीं थे या बहुत कम लेते थे। ये हमला एवं युद्ध में लूटपाट के माल से अपना गुजर करते थे।

कुछ दिनों में तुर्क लोग मुसलमान बनते गये और वे स्वयं इसलाम के कट्टर रक्षक होते गये। ये तुर्क मुसलमान अन्य तुर्कों से भी युद्ध करने लगे जो मुसलमान नहीं थे तथा गैर तुर्कों से भी युद्ध कर इसलामी राज फैलाने लगे। आगे चलकर प्रायः सारे तुर्क मुसलमान हो गये। ये मूलतः खूंख्वार लड़ाकू थे, अतः मुसलमान बनने के बाद भी ये वैसे लड़ाकू रहे।

अफगानिस्तान में 'गजनी' एक नगर है। वहां का तुर्क सरदार 'महमूद' था जिसकी कई पीढ़ी पूर्व से मुसलमान हो गयी थी। यह सरदार जब ९९७ ई० में गजनी की गद्दी पर बैठा तब अपनी स्वतन्त्रसत्ता की सूचना देने के लिए इसने सुल्तान की पदवी धारण की। यही 'महमूद गजनवी'[2] के नाम से विख्यात हुआ। इसने भारत पर सत्तरह हमले और लूटमार किये। इसने अनेक नगर तथा मन्दिर लूटने के साथ १०२५ ई० में गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को लूटा। यह भारत को लूटकर गजनी नगर का श्रृंगार करता था।

अफगानिस्तान में ही 'गोर' नाम की जगह है। यहां का रहने वाला तुर्क सरदार 'मुहम्मद' था जिसे 'मुहम्मदगोरी'[3] कहा जाता है। यह गोर तथा गजनी दोनों का शासक था। इसने भी भारत पर हमलाकर एक बार दिल्ली के पास 'तराइन' नामक जगह में पृथ्वीराज से हारकर दुबारा ११९२ ई० में पृथ्वीराज को परास्त किया था तथा अपने तुर्क सरदारों को दिल्ली तथा उत्तरी भारत के एक विशाल क्षेत्र पर स्थापित कर दिया था। तब से धीरे-धीरे तुर्कों का राज्य भारत पर हुआ।

---

१. गाजी का अर्थ है—काफिरों से लड़ने वाला मुसलमान योद्धा; विजेता तथा शूरवीर। *(बृहत् हिन्दी कोश)*

२. महमूद गजनवी का शासन काल ९९७-१०३० ई०।

३. मुहम्मदगोरी का शासन काल ११७३-१२०६ ई०।

पीछे भारत के लोग भी मुसलमान बनते गये। परन्तु तुर्क मुसलमान भारतीय मुसलमानों को तुच्छ मानते थे। यह प्रक्रिया काफी दिन चली। आगे चलकर तुर्क मुसलमान का पर्याय बन गया। क्योंकि तुर्क मुसलमानों का ही भारत पर पहला प्रभाव पड़ा था। इसलिए भारत में मुसलमान नाम लेने की अपेक्षा तुर्क शब्द का ज्यादा प्रयोग हुआ जैसे तुर्किया नाई, तुर्किया धोबी, तुर्किया तेली आदि। उत्तरी भारत में जब कोई किसी को ज्यादा परेशान करता है, तब लोग कहते हैं कि भाई, मुझे तुर्क मत बनाओ। इसी प्रभाव से सद्गुरु कबीर ने भी हिन्दू और मुसलमान को जहां युग्म रूप में उपस्थित करना हुआ है, वहां प्रायः हिन्दू-तुरुक ही कहा है।

मनुष्यों के गुणों की विशेषता है

मानुष तेरा गुण बड़ा, माँसु न आवै काज।
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज ॥१९९॥

शब्दार्थ—आभरण = आभूषण, गहना।

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे दयादि सद्गुण ही श्रेष्ठ हैं, अन्यथा तेरा शरीर व्यर्थ है। न तेरा मांस किसी के काम में आता है, न तेरी हड्डी के आभूषण बनते हैं और न तेरे चाम के बाजे बनकर बजते हैं॥१९९॥

व्याख्या—मनुष्य की विशेषता उसके उत्तम विचारों एवं सद्गुणों में है। यदि उसने मानवीय विचार एवं मानवीय गुणों का अपने जीवन में विकास नहीं किया तो वह पशुओं से खराब है। पशुओं के चाम, हड्डी, मांस, बाल आदि सभी अंग दूसरे के काम में आ जाते हैं। पशु अपने जीवनकाल में तथा मर जाने पर भी दूसरों की सेवा में लग जाते हैं। पशु अपने स्वाभाविक कर्म को छोड़कर कोई दुष्कर्म नहीं करते। इसलिए उनके जीवन में नये कर्म-बन्धन नहीं बनते। पशु किसी की फसल को यदि चरता है तो पेट भर जाने के बाद चरना छोड़ देता है। परन्तु मनुष्य का पेट भरा रहने पर भी वह दूसरे के घर में चोरी करता है, जेब काटता है, मिलावटबाजी, घूसखोरी, चोरबाजारी, जमाखोरी, धोखेबाजी आदि सभी अपराध करता है।

जिन पशु-पक्षियों के जो स्वाभाविक भोजन हैं वे उन्हें ही ग्रहण करते हैं। जो पशु-पक्षी मांसाहारी होते हैं, वे ही मांस खाते हैं, अन्य जो शाकाहारी होते हैं वे प्रायः मांस नहीं खाते। मनुष्य ऐसा जंतु है जो शाकाहारी होकर भी मांस खाता है। वह बैल, भैंसा, सूअर, मछली, मेढक, बन्दर, सांप, बकरे, भेड़े, मुरगे आदि सब चट कर जाता है। और इतना ही नहीं, शराब, गांजा, भांग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि नाना प्रकार के नशाओं का सेवन करता है। मांसाहारी तो कह सकते हैं कि हम प्रोटीन खाते हैं, परन्तु नशेड़ी क्या कहेंगे! वे तो समस्त तम्बाकुओं में निकोटिन नाम का जहर खाते हैं। मनुष्य का आहार जितना खराब है उतना किसी जन्तु का नहीं है। अन्य प्राणियों के आहार में स्वाभाविकता एवं संयम होने से वे ज्यादा रोगी नहीं होते, परन्तु मनुष्य अपने आहार बिगाड़कर रोगी बना रहता है।

हर प्रकार के पशु-पक्षियों में उनकी खानियों के अनुसार प्रायः अपने प्राकृतिक नियम होते हैं, उन्हीं के अनुसार वे वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि यौन सम्बन्ध करते हैं। अधम पशु कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामोन्माद में होते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा जन्तु है कि वह यदि विवेक से काम नहीं लेता तो बारहों महीनें पागल बना रहता है। कामोन्माद में नाना रोगों से ग्रसित होना यह मानव में ही है, मानवेतर प्राणी ऐसा नहीं होते। मानवेतर प्राणियों में प्राकृतिक संयम होता है।

मनुष्य जितना मोहग्रसित है उतना कोई अन्य प्राणी नहीं है। गाय अपने नवजात बछड़े के लिए ज्यादा स्नेह रखती है, परन्तु थोड़े दिनों में वह उसे भूल जाती है। परन्तु मानव मरते तक बाल-बच्चे एवं कुटुम्बियों के मोहपाश में बंधा घसिटता रहता है। वह परिवार की रक्षा करे यह तो ठीक है, परन्तु वह तो रक्षा कम, मोह-वैर ज्यादा करता है, जो उसके लिए भवबन्धन है।

पशु, पक्षी और कीड़े तक उतने भयग्रसित नहीं होते जितना मनुष्य भयभीत होता है। अपमान-भय, रोग-भय, रोजी के छिन जाने का भय, शत्रु-भय, मृत्यु-भय, यहां तक मिथ्या भूत, प्रेत, टोनही, ग्रह, शकुन, अपशकुन आदि के भय उसे सताते रहते हैं। श्मशान में कब्रों के अन्दर भी चींटी, सांप, बिच्छू, छिपकली, चूहे आदि जानवर रहते हैं, श्मशान में बैल, गाय, पक्षी या अन्य मानवेतर प्राणी रात में भी आनन्द से सोते हैं। परन्तु मनुष्य रात में यदि श्मशान में पहुंच जाय तो उसे भूत-प्रेत दबोच लेते हैं। अतएव भूत, प्रेत, टोनही आदि का रोग केवल मानव को ही लगता है, अन्य प्राणियों को नहीं।

इस संसार में सबसे अधिक चिंताग्रस्त, रोगी, असंयत, कामी, क्रोधी, छली, दुर्व्यसनी, धोखेबाज, भयभीत एवं दुखी केवल मनुष्य है। मनुष्य के अलावा प्राणी इतने दुखी, दुर्व्यसनी एवं परेशान नहीं हैं।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सिंह आदि हिंसक एवं मांसाहारी जानवर शिक्षा देने से दयालु तथा शाकाहारी नहीं हो सकते। कुत्ते भले ही कार्तिक में कामोन्मादी हों तथा अन्य महीने में स्वाभाविक संयत हों, परन्तु वे शिक्षा पाकर आजीवन ब्रह्मचारी नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्य जीवनभर के लिए शाकाहारी तथा ब्रह्मचारी हो जाते हैं। मनुष्य इसीलिए ज्यादा बिगड़ा एवं दुखी है, क्योंकि उसमें अधिक संभावनाएं हैं। जब वह विचार करके अपने मानवीय गुणों का विकास करता है तब वही परमपद की गद्दी पर भी आसीन हो सकता है। यह संभावना मानवेतर प्राणियों में नहीं है।

मनुष्य में मन एवं वाणी की प्रबल शक्ति है। उसमें विचार का महान बल है। उसमें अनन्त संभावनाएं है। इसलिए जब वह अच्छी समझ से काम नहीं लेता, तब पशुओं से भी नीची दशा में पहुंच जाता है, और यदि वह अपने विचारों का उपयोग करता है तो महान हो जाता है। विचारहीन-मानव पशु से भी पतित है; परन्तु यदि उसने अपनी विचार-शक्ति का सम्यक उपयोग किया है तो उसके समान कोई देवता या परमात्मा नहीं है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने निकम्मे शरीर का अहंकार छोड़कर सुन्दर विचारों का उपयोग करे और दया, शील, क्षमा, सत्य, धैर्य, अहिंसा, करुणा, विवेक,

वैराग्य, भक्ति आदि सद्गुणों का संवर्धन करे। मनुष्य की विशेषता उसके मानवीय विचार एवं सद्गुणों में ही है।

स्वतन्त्र विचार

जो मोहि जाने, ताहि मैं जानौं।
लोक वेद का, कहा न मानौं ॥२००॥

शब्दार्थ—लोक = लोकाचार, सांसारिक व्यवहार। वेद = शास्त्र, शास्त्र-प्रमाण एवं शास्त्रव्यवहार।

भावार्थ—जो व्यक्ति मेरी वास्तविकता को समझता है, मेरे विचारों एवं संकेतों को स्वीकारता है, मैं उसे निभाने का प्रयास करता हूं, इसमें लोकाचार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें, तो मैं उनकी परवाह नहीं करता ॥२००॥

व्याख्या—समाज, धर्म तथा अध्यात्म क्षेत्र के अत्यन्त क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र चिंतक कबीर देव के निर्भय स्वर बीजक में पदे-पदे सुनाई देते हैं। उक्त दोनों छोटी-छोटी पंक्तियों में कितने प्राणवान विचार हैं, कितने निर्भीक एवं सहज स्वर हैं यह विचारते ही बनता है। कबीर को भय कहीं छू नहीं गया था। जो सत्य है, उसमें रहना है और उसे कहना है यह उनका निश्चय था। उन्होंने मृत्यु का भय त्याग दिया था। इसलिए उन्हें सत्य कहने में कोई डर नहीं था।

वे कहते हैं कि जो मुझे जानता है उसे मैं जानता हूं और इसमें लोक-वेद का बन्धन नहीं मानता। इसका अर्थ यह है कि कबीर साहेब के जो स्वतंत्र विचार हैं उनको स्वीकारने वालों को वे अपना लेते हैं। उनके सामाजिक विचार हैं कि मानव समान हैं। काल्पनिक जाति और वर्ण के नाते कोई छूत है और कोई अछूत है, कोई कल्याण का अधिकारी है और कोई अधिकारी नहीं है, इस बात को कबीर साहेब बिलकुल नहीं मानते। वे पूरे मानव को मूलरूप से एक समान मानते हैं। यह अलग बात है कि अपनी मानसिक तथा शारीरिक क्षमता के अनुसार लोग विविध क्षेत्रों में उन्नति करते हैं। तो यह हर तथाकथित वर्ण और जाति में रहने वाले व्यक्तियों की बात है। सब में उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ तथा विविध योग्यता वाले मनुष्य होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियादि नामधारियों में भी मोटी बुद्धि तथा भोगपरायण व्यक्ति होते हैं। तथाकथित शूद्र एवं अंत्यज नामधारियों में भी तीव्र बुद्धि एवं अध्यात्मपरायण व्यक्ति होते हैं।

कबीर साहेब के ख्याल से हिन्दू, मुसलमान, इसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि नाम जो धर्म में लगाये जाते हैं यह गलत है। धर्म हिन्दू नहीं है, मुसलमान, इसाई, जैन तथा बौद्धादि नहीं है, किन्तु वह केवल धर्म है। धर्म है शील, धर्म है दूसरे के प्रति करुणा एवं प्रेम। यह मानव का मूल स्वभाव है। हिन्दू, मुसलमानादि तो समाज हैं जो देश-काल-सापेक्ष हैं। ईसा की इस बीसवीं शताब्दी के पूर्व करीब चौदह सौ वर्षों से मुसलमान, दो हजार वर्षों से इसाई, चौबीस-पचीस सौ वर्षों से हिन्दू तथा बौद्ध, इससे कुछ पुराने जैन, यहूदी आदि हैं। ये सभी नाम, इनके बाह्याचार किसी देश एवं किसी काल में निर्मित हुए हैं, इसलिए ये देश-काल-सापेक्ष हैं, किन्तु धर्म तो देश-काल से निरपेक्ष, सार्वदेशिक,

सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक होता है। भिन्न किताब, महापुरुष एवं परम्परा में श्रद्धा रखना और भिन्न नाम, रूप, वेष, बाह्याचार को मानना एवं उनका आचरण करना यही सब समाज, पंथ एवं संप्रदाय बनाते हैं। परन्तु धर्म का लक्षण केवल सबके साथ शील, करुणा, अहिंसा, दयादि मानवीय गुणों का व्यवहार करना है। कबीर साहेब कहते हैं कि "बाँग नमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई"[1] अर्थात जब बांग नहीं दी जाती थी, नमांज नहीं पढ़ी जाती थी, कलमा का पाठ नहीं किया जाता था, राम-राम या खुदा-खुदा नहीं कहा जाता था, तब क्या धर्म नहीं था! धर्म बाहरी नाम, रूप एवं क्रियाकलाप नहीं है, किन्तु मानवता है।

कबीर देव कहते हैं कि परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की आत्मा से कोई बाहरी चीज नहीं है। मन का अनासक्त होकर शांत हो जाना ही मोक्ष है और अपनी आत्मा ही परमात्मा है। प्राणी ही देवता है, प्रेम ही स्वर्ग है। कबीर देव कहते हैं कि यदि इस प्रकार कोई मेरी बातों को समझता है तो मैं उसे अपना लेता हूं। इसमें लोकव्यवहार तथा शास्त्र-प्रमाण आड़े आयें तो मैं उसकी परवाह नहीं करता। वे कहते हैं कि संसार क्या कह रहा है न मुझे इसकी चिंता है और नाना मतों के शास्त्र क्या कह रहे हैं न इसकी चिन्ता है। मुझे यह चिंता है कि सत्य क्या है! "नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्" एक ऋषि, एक पैगम्बर एवं एक शास्त्र नहीं है जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। बहुत ऋषि हैं और बहुत शास्त्र हैं, इसलिए विवेक से सारासार निर्णय करना है "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[2]

लोक-वेद के कहा न मानने वाले बहुत लोग होते हैं, किन्तु वे पतन-पथ में जाते हैं। उन्मादपूर्वक लोक-वेद की परवाह न करना मानव के लिए अमंगलकर है। लोक-वेद मानव को संयम के पथ पर रखने के लिए शंबल हैं, किन्तु कबीर जैसे स्वतः संयत, मानवता की महामूर्ति, धर्म की धुरी और अध्यात्म के प्रौढ़ संतपुरुष की बात ही निराली है। वे मानव को सत्य की दिशा देने के लिए लोक-वेद की परवाह छोड़ते हैं, क्योंकि लोक और तथाकथित शास्त्र-प्रमाण ने मानव के साथ छल किया है। अनेक शास्त्रों में मानवों के अमुक तथाकथित वर्ण एवं जाति को नीच, अछूत और उच्च संस्कारों के अयोग्य कहकर उनके साथ छल किया है। शास्त्रों ने कहा कि यह शास्त्र ईश्वर का भेजा है, जो इसे नहीं मानता है वह नास्तिक, काफिर एवं नापाक है। यह मनुष्य के साथ छल करना है। यह शास्त्रों की ऊलजलूल बातों को सबसे मनवाने का हथकंडा है। आज देखिए मृत्युभोज, दहेजप्रथा, सतीप्रथा, छुआछूत, ऊंच-नीच भावनादि, भूत-प्रेत तथा अनेक अंधविश्वास जो मानव के लिए अकल्याणकर हैं, लोक-वेद की ही देन हैं। अर्थात लोक और शास्त्र-प्रमाण के नाम पर बहुत सारे कूड़े-कचड़े चलते हैं। 'प्रभुवचन' घोषित कर देने पर मानवता के लिए विषैली बातों का भी नकारा जाना कठिन हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जो मानवता के लिए अहितकर हैं, मैं ऐसी बातों को नहीं मानता वे चाहे लोकसंमत हों, चाहे किसी ऋषि या पैगम्बर की हों या किसी तथाकथित प्रभु की हों। मैं

---

१. बीजक शब्द २२।

२. साखी २४७।

सत-पथ का राही हूं और उस पर चलने वालों का हमराही हूं।

स्वतन्त्र चिंतन के ये कबीरी-स्वर वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, पुराणों तक में भी यत्र-तत्र मिल सकते हैं। वैदिक ऋषि सोभरि कहते हैं "हे अग्निदेव! यदि तुम मुझ जैसे मर्त्य मानव होते और मैं तुम जैसा अमर देवता होता, तो जानते हो मैं क्या करता! मेरी स्तुति करने वाला न मूर्ख होता, न संकट में फंसता और न पापलिप्त होता।"[१] "तुम्हारा सत्य तथा अमृत कहां गया और तुम्हें दी गयी आहुतियां कहां गयीं।"[२] इन पंक्तियों में वैदिक देवताओं की निरर्थकता वैदिक ऋषियों के मुख से ही प्रकट हुई है। अंगिरा शौनक से कहते हैं "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष—ये चार वेद, छह वेदांग सांसारिक विद्याएं हैं। इनसे परमार्थ का बोध नहीं होता। जिससे अविनाशी का बोध होता है, वह इससे परे है।"[३] भागवत पुराण के लेखक कहते हैं "लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं हैं, क्योंकि वेदवाक्य प्रायः गृहस्थजनोचित यज्ञविधि के विस्तार में ही व्यस्त हैं। राग-द्वेष दोषों से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी अभिव्यक्ति उनमें भी नहीं है।"[४] भामतीकार कहते हैं "हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[५] अतएव कोई बात इसलिए नहीं मान्य होनी चाहिए कि वह लोक तथा शास्त्रों द्वारा मान्य है, परन्तु इसलिए मान्य होनी चाहिए कि वह मानव के लिए कल्याणकारी है।

मनुष्य जीव का सर्वोपरि महत्त्व

सबकी उत्पति धरती, सब जीवन प्रतिपाल।
धरती न जानै आप गुण, ऐसा गुरू विचार॥२०१॥
धरती जानति आप गुण, कधी न होती डोल।
तिल तिल गरुवी होती, रहति ठिकों की मोल॥२०२॥

शब्दार्थ—गुरू विचार = श्रेष्ठ विचार। डोल = चंचल, भूकंप। तिल-तिल = सर्वांग। गरुवी = वजनदार, गंभीर, गौरवशाली। ठिकों = ठीक, उचित, मर्यादा। मोल = मूल्य, महत्त्व।

भावार्थ—सबकी उत्पत्ति धरती से होती है और सबका पालन भी धरती से होतां है,

---

१. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रो अमर्त्यः।
न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया।
(ऋग्वेद, ऋग्वेद सूक्त विकास, पृ० १३३, लेखक प्र० ह० र० दिवेकर)

२. कद्ध ऋतं कदामृतं का प्रत्ना व आहुतिः। *(वही)*

३. तत्रापरा ऋग्वदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ *(मुण्डक उपनिषद् १/५)*

४. तथैव राजन्नुरुगार्हमेध वितान विद्योरु विजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ *भागवत ५/११/२॥*

५. नाह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुं ईष्टे। *(भामती)*

परन्तु धरती इस अपने महान गुण को नहीं जानती। यदि धरती इसे जानती तो वह कभी चंचल नहीं होती। वह सर्वांग वजनदार और अपनी ठीक मर्यादा में रहती। तात्पर्य है कि जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का जनक है और सारे ज्ञान तथा कला का रक्षक है, परंतु वह अपने इस महान गुण एवं महान विचार को नहीं जानता। यदि वह इसे जानता तो अपने स्वरूप से चंचल नहीं होता। वह सर्वांग गंभीर रहकर अपनी स्वरूपस्थिति में रहता ॥२०१-२०२॥

व्याख्या—सारी भौतिक उन्नति का आधार धरती है, इसी प्रकार सारे ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का आधार जीव है। उक्त दोनों साखियों में जीव प्रमा है और धरती प्रमाण है। सद्गुरु ने यहां जीव के महत्त्व को समझाने के लिए धरती की महत्ता का वर्णन किया है। कबीर देव ने बीजक में जगह-जगह प्रमा का नाम लिये बिना केवल प्रमाणों से अपनी बातें समझाने की चेष्टा की है। इसे अन्योक्ति अलंकार या अर्थालंकार कह सकते हैं। उक्त दोनों साखियों में भी अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग किया गया है।

सद्गुरु कहते हैं कि धरती से ही सबकी उत्पत्ति होती है और उसी से ही सबका पालन होता है। बात सर्वथा सच है। वन, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल, कंद, कोयला, पत्थर, सोना, अनेक रत्न, अनेक धातु, पेट्रोल, तेल—सब कुछ तो धरती से पैदा होता है। सभी खानियों की देहें भी तो पार्थिव ही हैं। वे भी मानो धरती से ही पैदा होती हैं; और सभी प्राणियों की रक्षा भी धरती से ही होती है। इस प्रकार सारी भौतिक सृष्टि, स्थिति एवं पालन का आधार धरती है। इतना होने पर भी धरती इन अपने महान गुणों को नहीं जानती। यदि वह अपने गुणों को जानती तो चंचल न होती। समय-समय से भूकंप आता है। पृथ्वी दहल जाती है। ऐसा क्यों होता! वह अचल रहती, वह अपनी मर्यादा में रहती।

यहां धरती का लक्षणा अर्थ जीव है। धरती का नाम लेकर सद्गुरु कबीर ने मनुष्य जीव की ओर संकेत किया है। मनुष्य जीव ही से सारे ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति है। वेद, कुरान, बाइबिल, जिंदावेस्ता, समस्त धर्मशास्त्र, समस्त भौतिक विज्ञान, समस्त विद्याएं, समस्त कला-कौशल, पुनर्जन्म, बंध-मोक्ष, परलोक, ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, गॉड, देवी-देवता, अवतारवाद, पैगंबरवाद की धारणा, निर्धारण एवं कल्पना—इस मनुष्य जीव ही ने किया है। मनुष्य जीव के अलावा ज्ञान-विज्ञान का कोई कारण नहीं है। अल्पज्ञ, बहुज्ञ और सर्वज्ञ चाहे जो कहो, जीव ही है। जीव के अलावा सर्वज्ञ की केवल कल्पना है और उस कल्पना का करने वाला भी जीव ही है। हम इस तरह भी कह सकते हैं कि मनुष्य जीव ही ने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सर्व धर्मशास्त्र बनाये हैं। जीव ही ने ईश्वर की कल्पना की है। जीव ही ने देवताओं की अवधारणा की है। जीव ही ने अवतारवाद तथा पैगम्बरवाद को सृजा है। जीव ही ने तीर्थों का निर्माण किया है। जीव ही ने ज्ञान-विज्ञान को शोधा है। जीव ही ने नाना कला-कौशल की खोज की है। इस प्रकार सारा ज्ञानमय क्षेत्र जीव की खोज है, जीव की महत्ता है।

ऐसा महान मनुष्य जीव अपने महत्त्व को नहीं समझता है। वह ऐसे 'गुरु विचा एवं श्रेष्ठ विचार को नहीं समझ पाता है। सारे शास्त्र, ईश्वर एवं देवताओं का सृजेता जी अपने ही सृजन एवं कृतियों का गुलाम बन गया है। मनुष्य अपने ही हाथों से मिट्टी व देवता बनाता है और स्वयं उसके सामने घुटने टेककर उससे भोग और मोक्ष मांगता है इससे अधिक अज्ञान और क्या हो सकता है! इसी प्रकार अपने ही मन से गढ़े हुए ईश्व से सारी कामनाओं की पूर्ति के लिए आशा रखता है।

सद्गुरु कहते हैं कि यदि मनुष्य अपने महत्त्व को समझता, यदि वह अपने चेत स्वरूप को ठीक से जान लेता तो इस प्रकार दर-दर का भिखार नहीं होता। वह कभ चंचल होकर न विषयों के पीछे दौड़ता और न देवी-देवताओं के पीछे। जिसने अप अविनाशी, स्वयं प्रकाशी, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, प्राप्तकाम, आप्तकाम चेतनस्वरूप क समझ लिया है वह किसलिए चंचल हो! "जिसने समझ लिया कि यह चेतन पुरुष, य अपनी आत्मा ही सर्वोच्च है, वह किसलिए, किस कामना के लिए शरीर के पीछे पड़क अपने ऊपर जन्म-मरण का ज्वर चढ़ाये रखेगा, वह क्यों भोगों में पड़कर तपेगा!"[1] व बोधवान तो सर्वांग गंभीर एवं अबोल-अडोल होता है। वह खानी-वाणी के सारे बंधन को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होता है। वह अपनी स्वरूपस्थिति की मर्यादा में अचल रहता है। स्वरूपज्ञान के बाद स्वरूपस्थिति ही तो मनुष्य का गंतव्य है। जिसने अपने गुण को पहचाना वह स्वयं ईश्वर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। उसकी दीनता सदैव के लिए समाप्त हो जाती है।

तथ्य में एकता है

जहिया किर्तम ना हता, धरती हती न नीर।
उत्पति परलय ना हती, तबकी कहैं कबीर॥२०३॥

शब्दार्थ—किर्तम = कृत्रिम, बनावटी, जगत। हता = था। हती = थी।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मान लो जब यह बनावटी जगत नहीं था, धरती तथा पानी नहीं थे, उत्पत्ति और प्रलय नहीं थे, तब तुम्हारे आज के माने हुए सारे भेदभाव कहां थे? ॥२०३॥

व्याख्या—प्रायः सभी मतवादी मानते हैं कि यह सृष्टि पहले नहीं थी। वे कहते हैं कि न पहले पृथ्वी थी, न जल था, न आग थी, न हवा थी। कुछ लोग तो यह भी कहने का साहस करते हैं कि पहले आकाश भी नहीं था। थोड़े समय के लिए मान लिया जाय कि ठीक है यह सब पहले नहीं था। तो मैं पूछता हूं कि ये वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता एवं सारे धर्मशास्त्र कहां थे! ये हिन्दू, मुसलमान, इसाई, यहूदी, पारसी, जैन, बौद्धादि के भेदभाव कहां थे! ये ब्राह्मण और शूद्र नाम की ऊंच-नीच भावनाएं कहां थीं! इसका

---

१. आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ *बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१२॥*

मतलब है कि यह सब कलह-कल्पना पीछे का बनावटी प्रपंच है। फिर इन्हें क्यों पत्थर की लकीर मानते हो! एक तरफ पूरे संसार को बीच में बना हुआ मानते हो और दूसरी तरफ भेदभाव की सारी दीवारें स्वयंभू एवं अजर-अमर मान रखे हो। यह कितनी दो मुंही बातें हैं!

वस्तुतः सारे जड़तत्त्व एवं चेतन जीव नित्य, अनादि तथा अनंत हैं। उनके गुण-धर्म उनमें अनादि निहित एवं स्वभावसिद्ध हैं! इसलिए यह जगत भी बनता-बिगड़ता हुआ अनादिसिद्ध है। मूलद्रव्य जड़-चेतन नित्य हैं और उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं, तो उनसे जगत की प्रक्रिया भी नित्य है। इस अनादि प्रवाहमय जगत में न किसी ईश्वर ने उसमें कुछ बनाया है न किताब, संप्रदाय बनाये हैं और न मानवों में कोई भेदभाव कायम किया है। ये सारे भेदभाव भूले मनुष्यों के अपने अहंकार का फल है।

इस अनादि जगत में समय-समय से बुद्धिमान लोग पैदा होते रहे। उनमें जो ईमानदार थे, उन्होंने शुद्ध मानवता की एवं तथ्य की बातें कहीं और जो चतुर-चालाक थे, वे ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगम्बरवाद तथा दैववाद का दबदबा कायम कर अपने मत को आस्तिक एवं दीनदार कहकर दूसरे मतों को नास्तिक तथा काफिर करार दिये। उन्होंने अपने वर्ण एवं जाति को पुनीत तथा दूसरों को अशुद्ध घोषित किये। उन्होंने धर्म और अध्यात्म के नाम पर सांप्रदायिकता के विष बोये। उन्होंने जितना समाज का कल्याण किया उससे ज्यादा अकल्याण किया।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मूलतत्त्व में कोई विभेद नहीं है। मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश समान हैं। इनसे भिन्न चेतन जीव भी मूलतः समान हैं। संसार की गतिविधि भी अपने नियमों में निरन्तर चलती हुई मूलतः समान हैं। नैतिकता के नियम भी मानव के मन में समान हैं। कोई भी मानव हो यदि वह चोरी, हत्या, व्यभिचार, झूठ, छल, परनिंदा, ईर्ष्या आदि करता है तो उसका मन मलिन, चंचल एवं पीड़ित होगा, और यदि वह परसेवा, ब्रह्मचर्य, दया, सत्य, निष्कपटता, निष्छलता, परोपकारादि का बरताव करता है तो उसके मन में प्रसन्नता एवं शांति आयेगी। भूख-प्यास, नींद तथा शरीर की मूल आवश्यकताएं सबको समान ही लगती हैं। सभी मनुष्य एक समान आंख से देखते, पैर से चलते, हाथ से काम करते, कान से सुनते, नाक से सूंघते, जीभ से चखते, त्वचा से छूते, मन से सोचते और गुदा तथा उपस्थ से टट्टी-पेशाब करते हैं। तो आखिर मनुष्य-मनुष्य में क्या भेद है! अतएव चालाक मनुष्यों ने काल्पनिक ईश्वर, स्वयंभू शास्त्र तथा जन्मजात ऊंच-नीच की भावना का तूदा खड़ा करके मनुष्य-समाज का घोर अहित किया है। इसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया। उसके बीच में इसने पत्थर की लकीर कायम करने का प्रयास किया। नाना भेदभाव खड़े किये। चालाक मनुष्यों ने मानव-समाज को काट-काटकर रख दिया। लोग कहते हैं कि गर्व के साथ कहो कि हम मुसलमान हैं, गर्व के साथ कहो कि हम हिन्दू हैं इत्यादि। इन अक्ल के धनियों को यह नहीं सूझता कि मनुष्य केवल मनुष्य है। हिन्दू, मुसलमान, इसाई, यहूदी, जैन, बौद्धादि सब केवल मिथ्या शब्दजाल हैं। कबीर कहते हैं कि विनम्रता से कहो कि हम मनुष्य हैं, केवल मनुष्य!

सारे शास्त्र एवं मान्यताएं मनुष्य की रचनाएं हैं। अतः मनुष्य सारे शास्त्र एवं ताओं से श्रेष्ठ है। सद्गुरु ने सातवीं रमैनी में "तहिया होते पवन नहिं पानी, तहिया कौन उत्पानी" इत्यादि कहकर यह ध्वनित किया है कि सारी सृष्टि एवं सृष्टि के तत्त्व समय हैं। जगत अनादि और अनंत है। परन्तु संसार के अनेक मतवादी यही मानते ; संसार पहले नहीं था। यहां तक कि धरती, नीर आदि तक नहीं थे। सद्गुरु कहते ये भेदभाव की दीवारें कहा थीं? सृष्टि के सारे जड़-चेतन तत्त्व नित्य हैं। उनमें ही बनती-बिगड़ती रहती है। मूल द्रव्य रहे बिना सृष्टि किसमें बनेगी! अभाव से भाव होता। अतः मूल द्रव्य नित्य हैं। उनमें उनके गुण-धर्म नित्य हैं। उनसे सृष्टि-प्रपंच रूप नित्य है और सारे भेदभाव मनुष्य के बनाये हुए बीच के हैं।

मन और वाणी से उच्चस्थिति

जहँ बोल तहँ अक्षर आया, जहँ अक्षर तहँ मनहि दृढ़ाया।
बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई ॥२०४॥

ाब्दार्थ—बोल = बात, वाणी। अक्षर = वर्ण। बोल अबोल = वाणी उच्चारण और लखा = समझ लिया।

ावार्थ—जहां बात बोली जाती है, वहां वर्णों के समूह आ जाते हैं जिनसे शब्द ाक्य बनते हैं। उनके कुछ अर्थ लगाकर मनुष्य अपने मन में कुछ मान्यता बना । परन्तु जो व्यक्ति वाणी और मौन—दोनों स्थितियों को एक समान समझ लेता है ोनों दशाओं में समान निर्विकार एवं प्रशांत रहता है, वह संसार में विरला ०४॥

ाख्या—मनुष्य की दो बहुत बड़ी शक्तियां हैं वाणी और मन। मानवेतर प्राणियों में हैं, परन्तु बीज रूप में। उनमें इनका विकास नहीं होता। उनमें इनके विकास की ा ही नहीं है। केवल मानव-प्राणी में ही मन और वाणी का विकास होता है। मानव ज्यादा समझता है तथा अपने मन की बातों को वाणी-द्वारा दूसरे से कहता दूसरे मानव की बातों को सुनता और समझता है। मनुष्य के विकास के लिए ये ा वाणी वरदानस्वरूप हैं, परन्तु यदि इनका दुरुपयोग किया जाय तो ये महान न बन जाते हैं। अच्छी समझ होने से मन और वाणी मनुष्य के भौतिक तथा कल्याण के साधन बन जाते हैं और यदि समझ गलत है तो ये ही मन और नुष्य के लिए दुखदायी बन जाते हैं। मानवेतर प्राणियों में मन तथा वाणी का न होने से वे किसी दिशा में उन्नति नहीं कर सकते, परन्तु उनका उनसे अधिक न सकता है और न वे ज्यादा दुखी होते हैं।

, घोड़ा, गधा, हाथी, कबूतर आदि के सामने खड़े होकर तुम उन्हें चाहे जितनी ; वे इससे प्रभावित नहीं होंगे, परन्तु मनुष्य को आधी बात अनसुहाती कह दी । उसे चोट लग जायेगी। सारा मनुष्य-समाज बातों के झकझोर में पीड़ित है। ही रचता है, यही पढ़ता है। यही शब्दों से जागता है और शब्दों से भटक जाता

है। कोई शब्द बंधन बनाता है और कोई शब्द बंधन काटता है। हर आदमी के दिमाग में शब्द भरे हैं। वह शब्दों से हर समय उद्वेगित रहता है।

इस साखी में सद्गुरु ने कहा है "जहँ बोल तहँ अक्षर आया, जहँ अक्षर तहँ मनहि दृढ़ाया।" आदमी जैसे कुछ बोलता है वैसे उसके मुख से कुछ अक्षर निकलते हैं जो शब्द और वाक्य के रूप लेते हैं। फिर उनके कुछ अर्थ निकाल लिये जाते हैं और उन अर्थों में मन एक मान्यता निश्चित कर लेता है। राग, द्वेष, अनुकूल, प्रतिकूल, हर्ष, क्लेश, आनन्द, दुख सब कुछ शब्दों के आंदोलन से मन में उठते रहते हैं। मन-सागर में शब्दों के झंझावात से नाना तरंगें उठती हैं। मनुष्य के साथ यह भयंकर रोग है। संसार के अधिकतम मनुष्य विवेकरहित हैं, इसलिए वे शब्दों के झोकों में निरंतर आंदोलित रहते हैं। आप कहीं जायें। रास्ते चलते हुए दो आदमियों को देखें। वे पैदल चल रहे हैं, ट्रेन या बस में चल रहे हैं, बातों में उलझे होंगे। "अमुक ने मुझे यह कह दिया। मैं उससे कम नहीं हूं। यदि वह चलेगा डाल-डाल, तो मैं चलूंगा पात-पात। मैं उसको देख लूंगा। उसमें क्या दम है, इत्यादि।" आदमी शब्द सुनता है। उसका कुछ अर्थ लगाता है और उसी में उलझा रहता है।

"बोल अबोल एक होय जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई।" जो वाणी बोलते समय या मौन रहते समय, अथवा वाणी सुनते समय या वाणीविहीन मौन एवं सन्नाटे के समय, एक समान शांत रहता है, उन दोनों स्थितियों को एक समान समझता है, वह विरला व्यक्ति है। अभिप्राय है कि जिसे बातों की चोट नहीं लगती, वह धन्य है। 'बातों की चोट न लगने' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक वह आदमी है जिसे चाहे जितनी शिक्षा दो, वह जागता नहीं, क्योंकि उसे बातों की चोट ही नहीं लगती। गधों को चार डंडे मार दो तो भी वे वैसे ही रहते हैं। उनमें खास प्रगति नहीं होती। वैसे कुछ आदमी होते हैं। उन्हें चाहे जितने तीखे उपदेश करो, वे मानो सुनते ही नहीं हैं। उनके जीवन में कोई सुधार की संभावना नहीं। इस प्रकार बातों की चोट न लगना दुर्भाग्यपूर्ण है। समझदार आदमी को बातों की चोट लगती है। वह किसी की सच्ची सीख से आंदोलित हो जाता है और अपने आप में जगकर बुराइयों से ऊपर उठ जाता है।

यहां जो बातों की चोट न लगने की बात है और "बोल अबोल में एक हो जाना है" यह उच्चतम ज्ञान की स्थिति है। सब कुछ समझ-बूझ लेने के बाद जिसका मन भौतिक धरातल से ऊपर उठ जाता है वह सब समय मुक्त होता है। सारे शब्द वायु के झोंके मात्र हैं। उनमें आंदोलित होने की आवश्यकता ही नहीं है। किसी के भी मुख से यदि कोई अन्यथा बात निकलती है तो उस समय वह संतुलित नहीं है और असंयत आदमी की बात की परवाह करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि मैं किसी की बातों से क्षुब्ध होता हूं तो मैं पशु हूं और मानो उसने मुझे अपनी बातों के डंडे से हांक दिया। मेरा किसी पर क्या वश है! किसी को अपने वश में रखने की आवश्यकता भी क्या है! मैं स्वयं अपने वश में रहूं इतना काफी है। जहां अनुगामियों, परिवार तथा समाज को चलाने की बात है, उनका स्वामित्व एवं सेवा करने की बात है वहां बिलकुल यह नहीं चल सकता। वहां किसी के असंयत व्यवहार तथा बात देख-सुनकर उसे हिदायत करना पड़ेगा,

दंड भी देना पड़ सकता है। परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए ज्ञानी पुरुष अनुकू
प्रतिकूल बातों में सम होता है।

ज्ञानी पुरुष स्वरूपभाव में स्थित होता है। अपना चेतनस्वरूप सारे विकारों से र
है। न उसमें तन है, न मन है और न वाणी है। अतएव वह काम, क्रोध, लोभ, मोह
सारे विकारों से सर्वथा रहित शुद्ध-बुद्ध है। ऐसे भाव में जो स्थित होता है उसकी दृष्टि
सारे संसार का संबंध एवं प्रतीत एक स्वप्नभास है। वह अपने आप को सदैव तन,
तथा वाणी से अतीत देखता है। इसलिए वह बोल-अबोल में सम रहता है। वह वा
व्यापार तथा मौन दोनों में निर्विकार रहता है। वह कुछ बोलता है तो सार्थक
कल्याणकर, अन्यथा मौन रहता है। वह दूसरों की बातों से न क्षुब्ध होकर सदैव प्र
रहता है। ऐसे लोग विरले हैं और वे धन्य हैं।

कर्मों के बन्धन और उससे मुक्ति

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥२०५॥

शब्दार्थ—सूर = सूर्य। डोले = भटकता है। पूर = पूर्ण।

भावार्थ—तारे तभी तक जगमगाते हैं जब तक सूर्य उदित नहीं होता, इसी प्रक
जीव तभी तक कर्मों में बंधा हुआ भटकता है जब तक पूर्ण स्वरूपज्ञान उदित न
होता॥२०५॥

व्याख्या—उदाहरण कितना सटीक एवं ज्वलंत है यह समझते ही बनता है। रात
तारे जगमगाते हैं। वे अपनी पूर्ण चमक-दमक के साथ प्रकाश करते हैं। परन्तु उन
चमक-दमक तभी तक है जब तक सूर्य उदित नहीं होता। सूर्य के उदय होते ही वे दिख
भी नहीं देते। यही दशा जीवों के कर्मों की है। सब जीव शुभाशुभ कर्मों के अधीन
संसार-सागर में भटक रहे हैं। यह कर्मों की जगमगाहट इसलिए है कि जीव को अ
स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जब स्वरूपज्ञानरूपी सूर्योदय होता है तब अज्ञान-अंधकार अ
आप समाप्त हो जाता है। फिर जीव का भटकना भी बन्द हो जाता है।

जन्म-मरण से छूटकर जीव का विदेहमुक्त हो जाना, यह जीव का भटकना बंद हो
है। परन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष है देह रहते-रहते मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रश
हो जाना, जो सबके अनुभव की बात है। यही सर्वाधिक उपयोगी है। ज्ञानोदय का अ
यह नहीं है कि बहुत बौद्धिक ज्ञान या शास्त्रज्ञान हो जाय। ज्ञानोदय का अर्थ है अप
चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न समझकर विषय-वासनाओं का अत्यन्त अभाव
जाना। न इसमें बहुत बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकता है और न ज्यादा शास्त्रज्ञान की
इसका मतलब यह नहीं है कि स्वरूपज्ञानी पुरुष को बुद्धि और शास्त्र का उपयोग न
करना चाहिए। स्वरूपज्ञानी पुरुष तो बुद्धि का उत्तम उपयोग करता है। उसकी बु
वस्तुपरक एवं तथ्यपरक होती है। वह शास्त्रों का ज्ञाता भी हो सकता है। पर
स्वरूपज्ञान के मूल में केवल विषयों की अनासक्ति ही तथ्य है। न उसके लिए ब

शास्त्रज्ञान चाहिए और न बुद्धि में दुनियाभर की जानकारी। कितने बहुत शास्त्रज्ञानी एवं अपनी बुद्धि में दुनिया की बातों की बहुत जानकारी का कूड़ा-कबाड़ भरे हुए लोग केवल मन-इन्द्रियों के गुलाम होते हैं। जिस ज्ञान से आत्मशांति मिलती है वह शास्त्रज्ञान एवं बहुत जानकारी नहीं है, किन्तु स्वरूपज्ञान और वैराग्य है। ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष पवित्र रहनी है। पवित्र रहनी का अर्थ गलत आदतों, दुर्व्यसनों एवं समस्त विषयासक्तियों से सर्वथा मुक्त होना है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, हर्ष, शोकादि के वश होकर दुखी रहना जीव का भटकना है। यह सब स्वस्वरूप के अज्ञान तथा विषयासक्ति के वश होता है। जब स्वस्वरूप का ज्ञान हो जाता है और विषयासक्ति मिट जाती है, तब मन के सारे आंदोलन समाप्त हो जाते हैं। विषयासक्तिवश ही तो चाहनाएं उठती हैं और चाहनाएं ही जीव को भटकाती हैं। जिसने चाहनाओं का त्याग कर दिया वह निश्चल एवं शांत हो गया। पूर्ण ज्ञानोदय होने का अर्थ है सारे आकर्षणों से रहित होकर अपने आप में पूर्ण शांत होना।

जीव का स्थायी निवास उसका अपना स्वरूप है

नाँव न जाने गाँव का, भूला मारग जाय।
काल गड़ेगा काँटा, अगमन खसी कराय॥२०६॥

शब्दार्थ—काल = कल्पनाएं, वासनाएं। अगमन = पहले से। खसी कराय = गिरा देना, त्याग देना।

भावार्थ—यदि कोई अपने गतव्य-ग्राम का नाम न जानता हो और उसके पथ को भूलकर विपथ में भटक रहा हो, तो उसके पैरों में कांटे गड़ेंगे। उसे चाहिए कि वह पहले ही सावधान हो, अपने ग्राम के पथ को जाने और विपथ छोड़कर अपने पथ में चले। इसी प्रकार जो स्वरूपस्थिति की दशा का ज्ञान तो दूर, नाम भी नहीं जानता, और अपनी स्वरूपस्थिति के ज्ञान एवं रहनी से अलग पड़ा भूले पथ में जा रहा है, उसे कल्पनाओं एवं वासनाओं के कांटे गड़ेंगे। इसलिए समझदार का काम है कि वह पहले से ही विपथ का त्यागकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के पथ पर चले॥२०६॥

व्याख्या—आपको एक ऐसा आदमी मिले जिससे आप पूछें कि तुम कौन हो, कहां जा रहे हो! वह बताये कि मैं नहीं जानता हूं कि मैं कौन हूं तथा यह भी नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं, तो आप उसे अर्धविक्षिप्त ही कहेंगे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो संसार के मनुष्यों की यही दशा है। वे नहीं जानते कि वे कौन हैं और उनका स्थायी निवास का गांव कहां है!

एक युवक महात्माओं के पास जाकर उनसे कहता कि आप मुझे भगवान के दर्शन करा दें तो मैं आपको अपना गुरु मान लूं। महात्मा लोग लाचार होकर कहते कि भगवान के दर्शन तो हमने ही नहीं पाये हैं तो आपको कैसे करा दें! कुछ दिनों में उसे एक महात्मा मिल गये। उन्होंने कहा कि मैं तुम्हें भगवान के दर्शन करा दूंगा, परन्तु तुम पहले अपने स्थायी नाम तथा पता मुझे बतला दो। मैं भगवान के यहां तुम्हारी ओर से एक

चिट्ठी लिख दूं। फिर भगवान की आज्ञा हो जाने पर मैं तुम्हें उनके पास ले जाकर उनके दर्शन करा दूंगा।

उसने कहा कि मेरा नाम केशव है तथा मेरा पता भारत की राजधानी दिल्ली है। महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम केशव कब से पड़ा? उसने कहा कि जन्म से तो कोई नाम नहीं होता! मैं बचपन में खाता-खेलता था। लोग मुझे मुन्नू, बच्चू, गुड्डू, पप्पू आदि कहा करते थे। जब मैं पांच वर्ष का हुआ, एक स्कूल में पढ़ने गया, तब अध्यापक ने मेरा नाम केशव रख दिया।

महात्मा ने कहा कि तुम्हारा नाम नकली है; क्योंकि यह बीच का रखा नाम है। तुम अपना असली नाम बताओ जो स्थायी है। उसने कहा 'तो मेरा असली नाम क्या हो सकता है?' महात्मा ने कहा 'यह तुम जानो।' महात्मा ने पुनः कहा कि अच्छा, तुम दिल्ली में कब से रहते हो? उसने कहा 'जन्म से ही।' महात्मा ने कहा 'जन्म के पहले कहां रहते थे?' उसने कहा 'मैं नहीं जानता।' महात्मा ने कहा 'तुम्हारा पता भी गलत एवं नकली है। परमात्मा के यहां से तो असली नाम एवं पता होने पर ही लौटकर चिट्ठी आती है।' उसने कहा 'तो मेरे असली नाम-पता क्या हैं?' महात्मा ने कहा 'यह तुम जानो।'

अब वह युवक परमात्मा को खोजना छोड़कर अपने असली नाम और पता की खोज करने लगा। महात्माओं के पास जाकर पूछता कि मेरे असली नाम और पता क्या हैं! उसे धीरे-धीरे सत्संग से पता चला कि सबका नामकरण करने वाला जीव नामी है। सारे नाम नकली हैं और जीव असली है। और जीव का स्थायी निवास एवं पता उसका अपना स्वरूप ही है। जीव कहीं भी चला जाय, वह अपने स्वरूप को छोड़कर अलग नहीं हो सकता। "नित पारख प्रकाश में, सोई निज घर जान। बिन घर पाये आपना, परे न यम पहिचान॥"[1] जीव का स्थायी गांव, स्थायी निवास, विश्रामस्थल एवं निधान जीव का स्वरूप एवं स्वरूपस्थिति है।

कितने साधक एवं महात्मा कहलाने वाले लोग भी स्वरूपस्थिति का नाम तक नहीं जानते। वे रात-दिन भगवान, ईश्वर या परमात्मा को खोजते हैं। परन्तु यह सब जीव से हटकर एक शब्द-बवंडर है। भगवान, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों की चरितार्थता भी जीव ही में होती है। जीव ही स्वयंप्रत्यक्ष तथ्य है। मनुष्य अपने स्वरूप को न जानकर कहीं ईश्वर परमात्मा या मोक्ष के नाम पर बाहर भटकता जा रहा है और कहीं विषय-वासनाओं के मोह में भटकता जा रहा है। इन दोनों का परिणाम है वासनाओं के कांटों में उलझ जाना। निज चेतनस्वरूप से अलग परोक्ष या प्रत्यक्ष जो कुछ है, सब केवल विषय-वासना है। मन से जो कुछ मानकर उसमें उलझा जाय वह सब वासना ही में उलझना है। वासनाएं कांटे हैं जो जीव को कष्ट देती हैं। हम पांच विषयों के भोगों की इच्छा में भटकते हैं तो वासनाओं के कांटों में उलझे हैं और अपनी आत्मा से अलग परमात्मा या मोक्ष खोजने के भ्रम में पड़े हैं तो यह भी मानो वासनाओं के कांटों में ही उलझना है।

---

१. पंचग्रन्थी।

अतएव सद्गुरु कहते हैं "अगमन खसी कराय" पहले ही पारखी संतों की संगत कर स्वरूप को ठीक से समझ लो और अलग की सारी वासनाएं छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। अपना आत्मस्वरूप एवं चेतनस्वरूप ही अपना गांव है। वही अपना स्थायी निवास-स्थान एवं विश्रामस्थल है। जीव को परम विश्राम अपने स्वरूप में ही मिलेगा। इसका दिशा-निर्देश करने वाला सद्गुरु है।

'बिना रे खेवैया नैया कैसे लागे पार हो।'

साधु-संगति कल्याणकर है

संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।
ओछी संगति कूर की, आठों पहर उपाधि ॥२०७॥
संगति से सुख ऊपजे, कुसंगति से दुख होय।
कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय ॥२०८॥

शब्दार्थ—संगति = सत्संग। व्याधि = मन के विकार, मन की पीड़ा। कूर = क्रूर, निर्दय, नालायक, कायर, निकम्मा, मूर्ख। पहर = तीन घंटे का समय। उपाधि = छल, धोखा, झगड़ा। अपनी संगति = सज्जन-संतों की संगत।

भावार्थ—संतों की संगत करो, वे दूसरे के मन के विकार एवं पीड़ा को दूर करते हैं। निर्दय, कायर एवं मूर्ख की संगत करने से मानो चौबीसों घंटे छलावा एवं झगड़े में पड़ा रहना है। सत्संग से सुख उत्पन्न होता है और कुसंगति से दुख होता है, इसलिए कबीर देव कहते हैं कि वहां जाना चाहिए जहां अपनी संगति हो ॥२०७-२०८॥

व्याख्या—मानव-जीवन में संगत का बहुत बड़ा महत्त्व है। अधम-से-अधम लोग भी सज्जनों तथा संतों की संगत से ऊंचे उठ जाते हैं और अच्छे-अच्छे लोग कुसंगत में पड़कर अपना पतन कर लेते हैं। जीवन में जितने दुर्गुण एवं दुर्व्यसन आते हैं, प्रायः कुसंगत के कारण और आदमी ऊपर उठता है सुसंगत के कारण। कोयला में आग न होने से उसको छूने पर वह भले ही न जलाये, परन्तु काला दाग तो लगा ही देता है। इसी प्रकार गलत आदमी का संग करने से हम में तत्काल भले ही दोष न आयें, परन्तु लोगों की दृष्टि से हम गिर तो जायेंगे ही। एक ने एक से कहा कि मुझे यह बता दो कि वह किसके साथ बराबर उठता-बैठता है, तो मैं बता दूं कि उसके आचरण कैसे हैं। आदमी का मन गीली मिट्टी के तुल्य है। वह जैसा सांचा पाता है, वैसा ढल जाता है। मजबूत मन वाले कम लोग होते हैं जो कुसंगत पाकर उसमें न फिसलें। परन्तु यदि कोई बराबर कुसंगत करता रहेगा तो दृढ़ मन वाला भी फिसल जायेगा। कुसंगत में प्रेम करना ही बुरी बात है। यह अलग बात है कि यदि संयोग से गलत लोगों का संग पड़ जाय, तो सावधान होकर उनके बुरे प्रभाव से अपने आप को बचा ले, और जितना सम्भव हो उनसे अपने आप को शीघ्र अलग कर ले। जो कुसंग में प्रेम करेगा वह पतन से बच नहीं सकता। कुसंगत से प्रेम करना ही अपने पतन को निमंत्रण देना है। जो अच्छे-अच्छे साधक भी अपने पद से गिर जाते हैं, उसमें संग-दोष अर्थात कुसंग ही कारण होता है।

बलवान भी कुसंग में प्रेम करने से आज नहीं तो कल, फिसलेगा ही, और कमजोर आदमी भी यदि अच्छी संगत में बना रहे तो वह प्रपंच से बचा रहेगा।

बुराइयों से ज्यादा बुरा एवं पतन में कारण बुरा आदमी है। धूप गरम होती है, परन्तु धूप में तपी बालुका बहुत ज्यादा गरम होती है। बुराइयों में डूबा बुरा आदमी अपनी युक्ति-प्रयुक्ति से समझा-बुझाकर दूसरों को पतित करने में कारण बनता है। कुसंग वह आलंबन है जो मनुष्य के मन में विकार उत्पन्न करता है। सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने कहा है "शरीर के जिन अंगों को देखने से मन मलिन हो, वह कुअंग है, जिस जगह रहने से मन पर बुरा प्रभाव पड़े वह कुठांव है, जिस मनुष्य की संगत से मन मलिन हो वह कुमनुष्य है, जिस स्मरण से मलिनता आये वह कुमन है, जिस वाणी के बोलने तथा सुनने से मन मलिन हो वह कुवाक्य है, जिस देश में रहने से पतन का भय हो वह कुदेश है, जिसे खाने से उत्तेजना हो वह कुखाद्य है, जिस वस्तु के उपयोग से मन रजोगुणी होकर मलिन हो वह कुवस्तु है, जिन प्राणियों से भय हो वे कुजन्तु हैं, जिस कर्म के करने से मन मलिन हो वह कुकर्म है—ऐसे कुसंग मनुष्य को हमेशा मिलते रहते हैं।"[१] इनसे सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कबीर ने इस साखी में बताया है क़ि सदैव साधु की संगत करो। साधु का अर्थ केवल साधुवेषधारी नहीं है। कितने साधुवेषधारी हैं जो दुर्व्यसन, दुर्गुण एवं राग-द्वेष के भंडार बने रहते हैं और निश्चित ही उनकी संगत मनुष्य के पतन में कारण होती है अतः साधुवेष हो या न हो, जो शुद्ध बुद्धि वाला एवं पवित्र आचरण वाला है वही साधु है। उसी की संगत करने से मनुष्य को सत्प्रेरणा मिल सकती है। सद्गुरु कहते हैं कि साधु की संगत करो। वे तुम्हारे मन की पीड़ा को हरेंगे। सच्चे साधु-संतों के दर्शन, वचन, संगत एवं वार्तालाप मनुष्य के अज्ञान एवं शोक-मोह का निराकरण करने वाले हैं। जिनकी संगत में रहने से मन प्रसन्न रहे, मनोविकार दूर रहें और आत्मशांति रहे, उनकी संगत ही साधु-संगत है।

जब हम क्रूर की संगत करते हैं, निर्दय और निकम्मे व्यक्ति की संगत करते हैं तथा कायर और मूर्ख की संगत करते हैं, तब हमारे जीवन में पदे-पदे छलावा एवं धोखा मिलते हैं और मिलते हैं झगड़ा-द्वन्द्व! कायरों की संगत से अपने में कायरपन ही तो आयेगा। निकम्मे लोगों की संगत से निकम्मापन आयेगा। गलत लोगों की संगत से हमारे मन, वाणी, कर्म बुरी ओर जायेंगे। जिसका जीवन दूषित हो जायेगा वह अन्दर-बाहर केवल द्वन्द्वग्रसित ही रहेगा। एक पहर में तीन घंटे होते हैं, आठ पहर में चौबीस घंटे। कुसंगत में रहने से चौबीसों घंटे मत्थे पर उपद्रव ही रहता है। उपाधि का अर्थ है धोखा, छलावा एवं उपद्रव। कुसंग करने से यही फल मिलते हैं।

कुसंगति से दुख मिलता है और सुसंगति से सुख मिलता है यह भलीभांति समझकर सदैव सुसंगत में रहना चाहिए। "कहहिं कबीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी संगति होय।"

---

१. कुअंग कुठाम कुमनुष्य जो, कुमन कुवाक्य कुदेश।
कुखाद्य कुबस्तु कुजन्तु है, कुकरम कुसंग हमेश।। *मुक्तिद्वार, बंधमोक्ष शतक, १००।।*

अपनी संगत का अर्थ है अपने जीव के उद्धार के लिए अनुकूल वातावरण। जहां रहने से मन प्रसन्न रहे, वह अपनी संगत है। साखी ग्रन्थ में एक साखी है—"इष्ट मिले औ मन मिले, मिले सकल रस रीति। कबीर तहाँ पर जाइये, यह संतन की प्रीति॥" अच्छी संगत कहीं की भी हो जीव के लिए कल्याणकर है, परन्तु जिस सत्संग में अपने स्वभाव, रीति, नीति, विचार, संस्कार सब मिलते हैं, वहां जाने तथा रहने में स्वाभाविक सुख होता है।

साधना में निरंतरता सफलता की कुंजी है

जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर।
कौड़ी-कौड़ी जोरि के, पूँजी लक्ष करोर॥२०९॥

शब्दार्थ—ओर = आरम्भ। निबहै = निभना। छोर = अन्त। पूंजी = संचित सम्पत्ति, जमा धन।

भावार्थ—आदमी जिस उत्साह से आरम्भ में किसी काम में लगता है यदि उसी उत्साह से अन्त तक उसे निभाता है तो उसमें उसकी सफलता निश्चित है। धीरे-धीरे कौड़ी-कौड़ी जोड़कर ही किसी दिन लाख-करोड़ की संपत्ति हो जाती है॥२०९॥

व्याख्या—किसी उद्देश्य एवं क्षेत्र में शुरू से आखिर तक एक समान उत्साह से लगे रहने वाले कम लोग होते हैं। इसीलिए जीवन में सफल कम ही लोग होते हैं। साखीग्रन्थ की एक साखी है "भक्ति भाव भादौं नदी, सबै चली घहराय। सरिता सोई सराहिए, जेठ मास ठहराय॥" किसी काम में आरम्भ में उत्साह होता है। आगे चलकर आदमी ठण्डा हो जाता है। विद्या, कला, धन, भक्ति, धर्म, अध्यात्म किसी भी दिशा में यदि उन्नति करना है तो उसमें शुरू से आखिर तक उत्साहपूर्वक एक समान लगे रहना चाहिए।

एक संगीतज्ञ के संगीत से प्रभावित होकर एक आदमी ने कहा कि मैं भी चाहता हूं कि आपकी तरह बड़ा संगीतज्ञ बनूं। संगीतज्ञ ने कहा कि यह कोई बड़ी बात नहीं है, लगातार उत्साहपूर्वक तीस-पैंतीस वर्षों तक लगे रहिए आप भी अच्छे संगीतज्ञ हो जायंगे। आदमी किसी का कलात्मक तबलावादन, हारमोनियमस्वर, गायन, चित्रकला, वक्तृता, लेखनसम्पन्नता, धनसम्पन्नता, आध्यात्मिकसम्पन्नता आदि देखता है तो चाहता है कि वह भी उन्हीं जैसा हो जाय तो बहुत अच्छी बात होती। परन्तु वह यह नहीं समझता कि इन सब उपलब्धियों के पीछे उन लोगों ने कितनी तपस्याएं एवं साधनाएं की हैं। एक-एक बूंद गिरते-गिरते घड़ा भरता है, इसी प्रकार धन, विद्या और धर्म का थोड़ा-थोड़ा संग्रह होते-होते बहुत हो जाते हैं।

जो अपने निश्चित लक्ष्य को पाने के लिए लगातार दीर्घकाल तक एक समान श्रम कर सकता है वही सफल हो सकता है। संतों की संगत पाकर कुछ लोग शुरू-शुरू में बहुत ज्यादा भक्तिभावना में ओतप्रोत हो जाते हैं, परन्तु थोड़े दिनों में वे उसे प्रायः भूल जाते हैं। कितने लोग उत्साहपूर्वक वैराग्य और साधना में लगते हैं, परन्तु उनका उत्साह ज्यादा दिन तक नहीं टिकता। ऐसे लोग पुनः मन की मलिनता में घिर जाते हैं। तब वे कहते हैं कि वैराग्य, भक्ति, साधना, अध्यात्म सब बकवास है। जिस किसान को केवल

फसल पाने ही में आनंद आता है, किसानी में नहीं; जिस व्यापारी को मुनाफा में ही आनन्द आता है, व्यापार के श्रम में नहीं तथा जिस साधक को साध्य के पाने में ही आनन्द है, साधना में नहीं; वह न सच्चा किसान है, न सच्चा व्यापारी है और न सच्चा साधक। अतएव जिसको श्रम एवं साधना में आनन्द आता है वही किसी दिशा के सिद्धिलाभ में सफल होता है। त्याग, तप और अनवरत श्रमपूर्वक साधना, यही सफलता की कुंजी है। कायर आदमी इन सबसे डरता है और इनसे डरने वाला कभी किसी दिशा में भी सफल नहीं हो सकता। शिक्षित नवयुवक साधक घर छोड़कर विरक्ति-मार्ग में आते हैं। उनसे कहा जाता है कि तुम सेवाकार्य के बाद जितना समय निकाल पाओ स्वाध्याय में लगाओ; परन्तु सभी युवक पूरे मन तथा पूरे समय को स्वाध्याय में नहीं लगा पाते और ऐसा किये बिना वे कभी भी बहुज्ञ तथा विद्वान नहीं हो सकते। इसी प्रकार यदि वे तत्परतापूर्वक वैराग्य तथा साधना में नहीं लगते तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते।

सद्गुरु ने इस साखी में पहली पंक्ति कही है "जैसी लागी ओर की, वैसे निबहै छोर" इस पंक्ति के सारे शब्द वैज्ञानिक तथ्य से पूर्ण हैं। मनुष्य किसी दिशा की ओर में लगता है तो उसे चाहिए कि वह उसे छोर तक निभाये। 'ओर' आरम्भ है, 'छोर' अन्त है, 'लगना' उत्साह से काम शुरू करना है और 'निभाना' अन्त तक उत्साहपूर्वक काम पूरा करना है। किसी दिशा में सफलता की यही कुंजी है। परन्तु यह सब करने में तप, त्याग, श्रम, साधना के साथ समय भी लगता है। कोई चाहे कि खेत में बीज बोकर तुरन्त फसल काट ले, तो यह उसका बालकपन ही है। सब कुछ करने के साथ फल पाने में धैर्य रखना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गीताकार ने कहा है कि कर्म तो करो, परन्तु फल पाने की इच्छा ही न करो। यह बात अटपटी लगती है। जिसे फल पाने की इच्छा ही नहीं होगी वह कर्म क्यों करेगा! कर्म किया ही जाता है फल पाने के लिए। वस्तुतः गीताकार कहते हैं कि तुम किसी भी कर्म के फल पाने की बेताबी छोड़ दो। उसके विषय में धैर्य रखो, अन्यथा तुम अपने कर्म व्यवस्थित ढंग से नहीं कर पाओगे। तुम आज बीज बोकर कल उसे खोदकर देखोगे कि वे उग रहे हैं कि नहीं। इस प्रकार बीज को खोदकर देखने से बीज अंकुरित ही नहीं होंगे, तो फल कहां से आयेंगे! लगन से कर्म करते चलो और धैर्य रखो। समय आयेगा और फल अपने आप मिलेगा।

सद्गुरु कहते हैं "कौड़ी-कौड़ी जोरि के, पूंजी लक्ष करोर" इस पंक्ति में गरीब, दीन तथा दुर्बल साधकों के लिए भी उन्नति की अनन्त सम्भावनाएं एवं आशा-विश्वास की प्रखर किरणें हैं। जब बच्चा पढ़ने जाता है, तब उसे दस बार वर्णमाला का परिचय कराने पर भी वह उसे भूल-भूल जाता है। लगता है कि वह उसे याद ही नहीं कर पायेगा। परन्तु वही बच्चा एक लम्बे समय के अन्तराल में किसी महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में गूढ़-गूढ़ विषयों पर व्याख्यान देता है। जब कुआं खोदना तथा घर बनाना शुरू किया जाता है, तब विश्वास भी नहीं होता है कि पानी निकल आयेगा और घर पूरा बन जायेगा। परन्तु एक दिन वे काम पूरे हो जाते हैं। किसी भी दिशा में संपन्नता एकाएक नहीं होती। जो साधक निरन्तर सेवा, स्वाध्याय, साधना की त्रिवेणी में निमज्जन करता है

वह धीरे-धीरे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं इन सब के फल रूप में परमशांति की उपलब्धि करता है। सही दिशा में निरन्तर उत्साहपूर्वक श्रम करने से सफलता में सन्देह करने की बात ही नहीं है। भौतिक क्षेत्र में कभी असफलता हो भी सकती है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में सच्ची निष्ठा से निरन्तर श्रम करने के बाद सफलता निश्चित है। बस तप, त्याग, श्रमपूर्वक साधना और धैर्य होना चाहिए और इन सब को आजीवन चलते रहना चाहिए।

जीवन की क्षणभंगुरता

आजु काल दिन कैइक में, अस्थिर नाहिं शरीर।
कहहिं कबीर कस राखिहो, काँचे बासन नीर॥२१०॥

शब्दार्थ—कैइक = कई एक, कुछ दिनों में। बासन = बरतन।

भावार्थ—आज, कल या कुछ दिनों के बाद शरीर छूट जायेगा, क्योंकि वह स्थिर रहने वाला नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी भरकर कैसे रख सकते हो! इसी प्रकार इस नाशवान शरीर में जीव ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता॥२१०॥

व्याख्या—साधना की दृष्टि से मानव जीवन सर्वोत्तम है, परन्तु भौतिक दृष्टि से देखा जाय तो यह रोगों का घर, कूड़ा-कचड़ा तथा अत्यन्त क्षणभंगुर है। इस मानव जीवन में आकर यथासम्भव दूसरे की सेवा और अपनी आत्मशांति यही जीवन का सार है। बाकी तो केवल द्वन्द्व है।

मिट्टी के कच्चे बरतन में यदि पानी भरकर रखा जाय तो वह कब तक टिकेगा! हमारे शरीर की यही दशा है। यह आज-कल में या कुछ दिनों में जाने वाला है। पानी के बुलबुले, ओस के कण और बादल की पुतली के समान इसके बिनसने में देरी नहीं लगती। बिजली की चमक के समान जवानी और जीवन दोनों गायब हो जाते हैं। विमोहित मानव दो दिन की जवानी की चमक-दमक में मतवाला बनकर अपनी सावधानी खो देता है। जिस शरीर का एक क्षण के लिए विश्वास नहीं किया जा सकता, उसे वह भूलवश अजर-अमर मान लेता है। जवान-जवान लोग भी देखते-देखते भूलुंठित हो जाते हैं। एक बड़े डॉक्टर साहेब फोन पर बात करते-करते लुढ़क गये और सदा के लिए बिदा हो गये। एक वकील साहब कुर्सी पर बैठे अपने मुवक्किल से बात कर रहे थे, उनकी हृदयगति रुक गयी और वे मर गये। एक करोड़पति सेठ जी कार से अपने दफ्तर जा रहे थे, बीच में एक्सीडेंट हो गया और वे वहीं ढेर हो गये। यह सब देहधारियों की सहज गति है।

विमोहित मानव भोगों का अत्यन्त श्रृंगार करता है। वह सोचता है कि इन सारे भोगों को मैं भोगूंगा, परन्तु बीच में उसे काल उठा लेता है और उसके सारे-के-सारे भोग धरे रह जाते हैं। देहाभिमानी आदमी दीन होता है। जैसे बिल्ली चूहे को अचानक धर दबोचती है, वैसे काल मनुष्य को अचानक धर दबोचता है। मूढ़ मानव जब तक जीता है अहंकार में इतराता रहता है। वह अपने आगे किसी को नहीं गिनता। वह सबको टेढ़ी-सीधी

सुनाता रहता है। उसके ख्याल से सब मर जायं तो मर जायं परन्तु वह नहीं मरेगा। परन्तु उसको आभास भी नहीं होता कि आज मैं नहीं रह जाऊंगा और उसे काल अचानक उठा लेता है। जितना सम्भव होता है आदमी अपने आप को भूल-भुलैया में रखना चाहता है।

जो विवेकी हैं, सावधान हैं, वे शरीर को विचार से पहले ही छोड़े रहते हैं। जो सब समय शरीर को मृत्युमय देखता है उससे न अपराध होता है और न वह अशांत होता है। उसके सामने मौत आने पर वह आंदोलित नहीं होता, क्योंकि वह उसके लिए पहले से ही तैयार है। हमें भी चाहिए कि हम हर समय मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार रहें।

मोक्ष के माध्यम

बहु बन्धन से बाँधिया, एक बिचारा जीव।
की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावै पीव॥२११॥

शब्दार्थ—पीव = प्रियतम, सद्गुरु।

भावार्थ—बेचारा एक जीव बहुत बंधनों से बंधा है। या तो यह स्वयं अपने विवेक-बल से बंधनों से मुक्त हो जाय, या सद्गुरु इसको भवजाल परखाकर उससे छुड़ा दें॥२११॥

व्याख्या—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, चिंता, विकलता अनेक मानसिक बन्धन हैं। भूत-प्रेत, देवी-देवता, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, दिशा-शूल, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र तथा इसी प्रकार अनेक भ्रांतियों के बन्धन हैं। वर्ण-आश्रम, जाति-पांति, ऊंच-नीच आदि मिथ्या मान्यताओं के अनेक लौकिक बंधन हैं। शास्त्रों के महाजाल हैं जिनमें असंख्य अदृश्य कल्पनाओं की भरमार है। अपनी आत्मा से अलग मोक्ष और परमात्मा पाने का महाभ्रम का बंधन है। गिनाकर कहां तक कहा जाय, जीव असंख्य बंधनों में बंधा है। सभी बंधनों को हम एक शब्द में व्यक्त कर सकते हैं वह है 'मान्यता'। जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। हम अपनी चेतना के अलावा जितनी मान्यताएं बनाते हैं वह सब हमारे लिए बंधन बनती हैं। कुछ मान्यताएं व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक होती हैं। जैसे शरीर का कुछ नाम रखना पड़ता है, वैसे ही अन्य कुछ मान्यताएं होती हैं। परन्तु व्यवहार चलाने के लिए मान्यताएं और अविवेक से बनी दृढ़ मान्यताएं दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अपने स्वरूप से अलग हम जितनी दृढ़ मान्यताएं करते हैं वे ही हमारे बंधन का कारण बनती हैं।

सद्गुरु ने इन अपार बंधनों के बीच में पड़े हुए जीवों को बेचारा शब्द से याद किया है। बेचारा फारसी शब्द है। चारा कहते हैं उपाय या इलाज को। बेचारा कहते हैं निरुपाय को, विवश को। यह जीव बहुत-से बंधनों में जकड़कर निरुपाय-सा हो गया है। इसे न अपने स्वरूप का बोध है और न बंधनों की परख। इसलिए यह लाचार बना दुख भोग रहा है। साधारण-सी बात है कि पढ़े-लिखे समझदार आदमी भी बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, शराब आदि निरर्थक एवं हानिकारी चीजों को खाने-पीने की आदत बना लेते हैं, तो वे उनके बिना रह नहीं पाते। वे उन व्यसनों के कारण दुख भोगते हुए भी उन्हीं में

घसिटते जाते हैं। जब उन्हें स्व-विवेक से या किसी के चेताने से उनमें दृढ़ ग्लानि होती है तभी वे उनसे अपने आप को मुक्त कर पाते हैं।

बंधनों से मुक्त होने के लिए सद्गुरु ने दो उपाय बताये हैं, पहला है अपना विवेक-बल और दूसरा है गुरु का उपदेश-बल। इसका अर्थ यही हो सकता है कि या तो मनुष्य अपने विवेक-बल से अपने स्वरूप को समझ ले तथा अपने बंधन रूप सारी जड़-मान्यताओं एवं आसक्तियों को समझ ले और उनका त्याग कर दे, या तो कोई ऐसा योग्य बोधवान सद्गुरु उसे मिले और सब प्रकार की परख देकर उसे बंधनों से मुक्त होने के लिए प्रेरित करे और वह इस प्रकार गुरु का बल पाकर अपने आप को भव-बंधनों से मुक्त करे।

हर हालत में मनुष्य को बंधनों का त्याग स्वयं ही करना पड़ेगा, निर्देश अपने विवेक-बल का हो या सद्गुरु का हो। वैसे हर साधक को स्व-विवेक बल की और बाहरी गुरु के उपदेश की आवश्यकता पड़ती है। बिना बाहरी सहयोग के, बिना किसी-न-किसी प्रकार गुरु की सहायता के मनुष्य का विवेक जग नहीं सकता; और चाहे जितना बड़ा वैराग्यवान एवं बोधवान सद्गुरु मिल जायं, परन्तु अपने विवेक के बिना कोई भव-बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता। कहा जाता है कि बुद्ध और कबीर के कोई गुरु नहीं थे। इन्होंने अपने विवेक-बल से ही अपना पथ निर्धारित किया था, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि इन युगपुरुषों को उत्तम संस्कार देने वाले इनके माता-पिता, अध्यापक, अनेक मनुष्य, मनुष्यों के समाज रहे हैं। बुद्ध ने सांख्यवादी महात्मा आलार कालाम और अनेक ऋषियों से बहुत कुछ सीखा होगा, और किंवदंती के अनुसार कबीर ने रामानंद आदि महात्माओं से अनेक निर्देश ग्रहण किये होंगे। जितने जिज्ञासु होते हैं वे अनेक मनुष्यों, प्राणियों, पदार्थों तथा घटनाओं से प्रेरणा लेते हैं। किसी की अच्छाइयों से ही नहीं, गलतियों से भी अच्छी प्रेरणा ले लेते हैं। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कोई महापुरुष अन्य से कोई सहायता लिये बिना उच्चतम बन गया है। सभी महापुरुष अपनी पूर्वपरम्परा से बहुत कुछ पाते हैं। यह भी ठीक है कि बुद्ध और कबीर जैसे स्वतन्त्रप्रज्ञ महापुरुष परंपरा से हटकर स्व-विवेक से चलते हैं; परन्तु यह भी परम सत्य है कि वे अपनी परंपरा को पूर्ण रूप से छोड़ नहीं देते हैं। कोई भी अपनी पूर्व-परंपरा को छोड़कर जी भी नहीं सकता। यदि हम अपनी पूर्वपरंपरा को छोड़ दें तो बोल भी नहीं पायेंगे। पूर्व निर्धारित स्वर और व्यंजनों में ही तो हम बोलते हैं। पूर्वप्रवाहित परंपरा में ही तो हम जीवन जीने के अनेक कायदे, बरतने की अनेक संज्ञाएं और बोध के अनेक परिचय प्राप्त करते हैं।

सद्गुरु ने यहां "की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावे पीव" कहकर इन दोनों की विशेषताओं पर बल दिया है। यहां का अभिप्राय यह है कि कोई ऐसा मुमुक्षु होता है जिसे कोई ऐसा सद्गुरु नहीं मिलता कि जिसके निर्देश तथा आदर्श को लेकर वह अपने पूरे आध्यात्मिक पथ पर चले। उसे ऐसा विश्वसनीय गुरु मिला ही नहीं कि वह अपने आपको शिशु बनाकर उनकी गोद में डाल दे और उनके निर्देश पर अपना कल्याण कर ले। परन्तु संवेदनशील और निष्पक्ष दृष्टिवाला होने से उसने अपने विवेक बल का पूर्ण उपयोग किया और शास्त्रगत, लोकगत, परंपरागत, जातिगत सारे अंधविश्वासों, गलत बातों एवं

अविवेकपूर्ण धारणाओं को अस्वीकारते हुए अपना सत्य पथ निर्धारित कर लिया और उस पर चलकर बंधनों से अपने आप को मुक्त कर लिया। बुद्ध और कबीर दोनों के विषय में ऐसी घटनाएं घटी हैं। इन्होंने आलार कालाम तथा रामानंद से भले ही बहुत-कुछ या थोड़ा-बहुत सीखा हो तथा अन्य से बहुत-कुछ सीखा हो; परन्तु इन्हें कोई ऐसा पूर्ण गुरु तो नहीं ही मिला, जिनकी गोद में ये अपने आप को डालकर निश्चिंत हो जाते।

दूसरे वे मुमुक्षु हैं जिन्हें बोध-वैराग्य संपन्न सद्गुरु मिल गये हैं और उन्होंने अपने आप को उनकी शरण में डालकर उनके आदेश, निर्देश तथा आदर्श के अनुसार रहकर अपना कल्याण कर लिया है। जिनके बंधन कटते हैं वे इन्हीं दोनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति में रहने वाले होते हैं।

ऐसे भी साधु-भक्त तथा साधक कहलाने वाले होते हैं जो स्वयं को सिद्ध घोषित करते फिरते हैं, अतएव वे किसी के सामने झुकना नहीं चाहते, किसी का बनकर, किसी के अनुशासन में रहकर चलना नहीं चाहते। उनमें विवेक तो कुछ नहीं, वे देह-स्वार्थ और अहंकार की मूर्ति होते हैं। अतएव ऐसे लोग साधु-भक्त और साधक नाम धराकर अपने आप को छलते हैं और समाज को धोखा देते हैं।

दूसरे ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने आप को किसी गुरु के अधीन बनाये तो रखते हैं, परन्तु वे गुरु अधूरे होते हैं और स्वयं शिष्य भी अधूरे होते हैं ऐसे लोग बंधन नहीं काट सकते। हां, यदि वे ईमानदार हैं तो कुछ-न-कुछ शुभ मार्ग में चलते रहते हैं।

विशेष सद्गुरु की शरण लिये बिना केवल अपने विशेष विवेक-बल से ही सारे भव-बंधनों को तोड़कर मुक्ति प्राप्त करना सबके लिए सरल नहीं है। यह घटना कभी-कभी किसी-किसी विशेष पुरुष ही में घट सकती है। इसलिए कबीर साहेब ने सद्गुरु की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने कहा "जाको सद्गुरु न मिला, व्याकुल दहुँदिश धाय। आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥"[1]

विशेष सद्गुरु के बिना किसी-किसी को बोध हो जाता है, इसका संकेत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रन्थी में कई जगह किया है। एक जगह का उदाहरण दे जहां कबीर देव के विषय में स्वतः बोध होने के संकेत हैं—

देखि अनेक रीति अकुलाना। निज शोधन तब कियो सुजाना॥
ठहरि यथारथ पारख कीन्हा। लहत प्रकाश स्वतः पद चीन्हा॥
स्वतः दृष्टि जब जेहि भई भाई। तेई गुरुपद ठहर प्रखाई॥
पारख में ठहरे बुधिवन्ता। देखि दशा निज नाहिन हन्ता॥[2]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब-द्वारा प्रमाणित श्री प्रेम साहेब का लेख है—

---

१. बीजक, साखी २४५।
२. पंचग्रंथी, गुरुबोध।

"(१) अखण्ड सुख की इच्छा करना, (२) दुख में कष्टित होना, (३) अनेक जन्मों के शुभ संस्कार समय पर उदित होना, (४) विषयों में सुख मानकर भोगते हुए बार-बार असंतुष्ट ही रह जाना, (५) मोक्ष की इच्छा करना, (६) अनेक मनुष्य तथा अनेक जन्तुओं के संग से अनेक प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होना, तथा (७) स्वयं अपर प्रकाश; ये सात योग्यताएं जिस घट में एकत्र हुईं वे स्वयं जंगल में बूटी शोध लेने वत स्वतः पारख पद का प्रकाश किये हैं।"[1]

सद्गुरु श्री विशाल साहेब और कहते हैं—

अबोध से होवै बोध है, जीव अबन्ध के हेत।
स्वयं गुरू ह्वै जात है, पाय योग्यता जेत॥
बोध मिलै जेहि और से, तेहि को और से भेष।
स्वयंबोध को प्राप्त जो, सो तो स्वयं सुभेष॥
झूठ इष्ट लखि जाहि जब, नहिं तेहि भेष सोहान।
सत्य प्रिये सिद्धान्त लखि, तेहि का भेष मिठान॥[2]

भागवत में कृष्ण-उद्धव संवाद में श्री कृष्ण से कहलाया गया है "इस संसार में जो विवेकी पुरुष हैं वे संसार के जड़ और चेतन तत्त्व पर विचार करके कि मैं कौन हूं तथा जगत क्या है, अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समस्त भवबंधनों से स्वयं मुक्त कर लेते हैं।"[3]

जीवहत्या, तीर्थ और दान के संबंध

जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण।
हत्या कबहुँ न छूटिहैं, जो कोटिन सुनो पुराण॥२१२॥
जीव घात ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान।
तीरथ गये न बाँचिहो, जो कोटि हीरा देहु दान॥२१३॥

शब्दार्थ—मति = मत, नहीं। बापुरा = गरीब, बेचारा, विवश। घात = चोट, हत्या। कान = बदला।

भावार्थ—हे मनुष्यो! सभी देहधारी जीव बेचारे स्वयं दुखी हैं, उनको चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। सभी देहधारियों को प्राण एक समान प्रिय हैं, कोई तकलीफ नहीं चाहता। चाहे तुम करोड़ों पुराण सुनो, हत्या करने के पाप से कभी नहीं मुक्त हो सकते हो जब तक उसके फल के भोगों को भोग नहीं लोगे। अतएव किसी जीव

---

१. मुमुक्षुस्थिति, १७ वीं शिक्षा।
२. सत्यनिष्ठा, गुरुनिर्णय, साखी ७, १०, ११।
३. प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ *श्रीमद्भागवत, ११/७/१९॥*

को चोट न पहुंचाओ एवं उनकी हत्या न करो। जिनको तुम चोट पहुंचाते हो वे भी तुमसे बदला लेते हैं। तुम जीव-हत्या के पाप से मुक्त नहीं हो सकते चाहे तीर्थ में नहाओ और चाहे करोड़ों हीरे का दान करो॥२१२-२१३॥

व्याख्या—सामान्य तो सामान्य ही है, कितने धार्मिक कहलाने वाले होते हैं जो मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों को मारकर खाने की वस्तु समझते हैं। शायद वे मनुष्य को भी मारकर खाने की वस्तु समझते, परन्तु मजबूरी यह है कि मनुष्य बलवान प्राणी है। उसे मारकर खाना सरल नहीं है। इसलिए शायद उसने मनुष्यों को अवध्य तथा अखाद्य माना। चीता, सिंह आदि मांसाहारी प्राणी हैं इसलिए वे प्राणियों को मारते तथा खाते हैं; परन्तु वे केवल अपने पेट भरने के लिए ही मारते हैं, किन्तु हिंसक आदमी ऐसा जानवर है जो मूलतः शाकाहारी है, परन्तु वह अपने जीभ-स्वाद के लिए प्राणियों को मारता है और केवल अपने पेट भरने के लिए ही नहीं, किन्तु प्राणियों की हत्या करके वह उनकी लाशों की राशि इकट्ठा करता है।

कितने चतुर लोग ईश्वर तथा देवी-देवताओं के नाम पर जीवों को मारकर खाते हैं और कहते हैं कि इसमें पाप नहीं पड़ता। उन्होंने उस जीवहत्या के नाम कुर्बानी तथा बलि रख लिये हैं; परन्तु न तो नाम बदलने से जीवहत्या के पाप से मुक्ति मिलेगी और न तथाकथित ईश्वर एवं देवी-देवताओं के नाम लेने से। जीवहत्या एक क्रूरता है जो मनुष्य के मन को क्रूर बनाता है। इसे हम मांसाहारी तथा शाकाहारी प्राणियों के स्वभाव से समझ सकते हैं। शाकाहारी प्राणी सरल होते हैं और मांसाहारी क्रूर।

सद्गुरु कबीर अहिंसा के परम पुजारी हैं। वे मानव तथा मानवेतर प्राणियों को एक समान प्राणधारी मानकर सबके साथ प्रेम एवं दया का व्यवहार करना उचित समझते हैं। वे कहते हैं कि शक्ति चले तक किसी को कष्ट न दो। "जीव मति मारो बापुरा, सबका एकै प्राण" वे कहते हैं कि सभी जीवों को एक समान अपने प्राण प्रिय हैं। कोई पीड़ा नहीं चाहता। अतएव किसी को पीड़ा देना मानवता के विरुद्ध है। यदि हम किसी को पीड़ा देंगे, तो वह हमसे बदला लेना चाहेगा। मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणी भी अपने सताने वालों से सावधान रहते हैं और अवसर आने पर वे बदला लेने का प्रयास करते हैं। "बहुरि लेत वै कान" एक स्वाभाविक तथ्य है तथा इसका अर्थ जन्मांतर में बदला लेने के विश्वास पर भी निर्भर है। जन्मांतरवाद के सिद्धांत में यह माना जाता है कि जिसकी हत्या की गयी है यदि वह संसारीबुद्धिवाला है तो वह जन्मांतर में अपने हत्यारे की हत्या करके बदला लेता है। वस्तुतः वह बदला ले या न ले, हत्यारा अपने पाप-कर्म के वशीभूत होकर स्वयं दुख पायेगा। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि जो दूसरे को कष्ट देगा वह कष्ट पायेगा। हत्यारे का स्वभाव ऐसा क्रूर बन जाता है कि वह अपने क्रूर संस्कारों-द्वारा स्वयं कष्ट पाता है।

लोगों ने यह भी ढकोसला बना रखा है कि चाहे जितने हत्यादि पाप किये गये हों, परन्तु यदि पण्डितों से पुराण सुन लिये जायं, तीर्थ यात्रा कर ली जाय और ब्राह्मणों को हीरे, जवाहरात, अन्न, वस्त्रादि के दान कर दिये जायं, तो सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। परन्तु यह छलावा है, चालाक लोगों-द्वारा भोले लोगों को मूर्ख बनाने के तरीके हैं। कबीर देव

कहते हैं कि हत्या करने के पाप के फल-भोग से तुम नहीं बच सकते हो चाहे करोड़ों पुराण सुनो, करोड़ों तीर्थों में घूमो एवं करोड़ों हीरे का दान करो।

लहसुन, प्याज खाकर उसकी दुर्गंधी की डकार से नहीं बचा जा सकता, चाहे कितने ही गंगास्नान, दान, पूजा-पाठ आदि किये जायं। इसी प्रकार किसी प्राणी की हत्या कर उसके पाप से नहीं बचा जा सकता, चाहे जितने पुराण-श्रवण, दान एवं तीर्थ किये जायं। इसलिए सबसे बड़ा पुण्य है अहिंसा-धर्म।

तीरथ गये तीन जना, चित चंचल मन चोर।
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दश और॥२१४॥
तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राक्षस होय पछिताय॥२१५॥
तीरथ भई विष बेलरी, रही युगन युग छाय।
कबिरन मूल निकन्दिया, कौन हलाहल खाय॥२१६॥

शब्दार्थ—मन दश = दस मन, दसों इन्द्रियों के मानसिक विकार। राक्षस = क्रूर प्राणी। बेलरी = बेलि, लता। मूल = जड़। निकन्दिया = नष्ट किया। हलाहल = भयंकर विष।

भावार्थ—हत्यादि पापकर्म करके चित्त के चंचल, मन के कपटी और स्वभाव के चोर ये तीन लोग तीर्थ करने गये, परन्तु ये अपने किये हुए एक पाप को भी तो काट नहीं सके, बल्कि दस मन पाप और लाद लिये, क्योंकि तीर्थों के बल पर इनको पाप करने की छूट मिल गयी, अथवा तीर्थों में जाकर इनके दसों इन्द्रियों से उत्पन्न मानसिक विकार बढ़ गये॥२१४॥ ऐसे लोग जो तीर्थ में गये वे मानो ठंडे पानी में नहा कर और अपने पाप के प्रवाह में बहकर मर गये। सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! ऐसे कुकर्मी लोग तामसी योनि में जाकर दुख भोगते रहेंगे॥२१५॥ मिथ्या महिमा से मंडित तथा पाप काटने के ठेकेदार बने तीर्थ विष की लता हो गये, और बहुत काल से मनुष्यों के मन पर छाये हुए हैं। विवेकियों ने तो इसकी जड़ ही खोदकर नष्ट कर दी है, क्योंकि विष खाकर कौन मरे! अर्थात तथाकथित तीर्थों के धोखे में कौन पाप करे!॥२१६॥

व्याख्या—भारत की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद[1] में तीर्थ शब्द आया है जिसका अर्थ पथ एवं सड़क है। संस्कृत कोशकार भी तीर्थ का पहला अर्थ मार्ग, सड़क, रास्ता, घाट[2] करते हैं। सम्भवतः वैदिक युग में तीर्थों का निर्माण नहीं हुआ था। भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० वामन काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि तीर्थ तीन विशेषताओं को लेकर निर्मित होते हैं—"स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी

---

१. ऋग्वेद १/१६९/६; १/१७३/११; ४/२९/३।

२. वामन शिवराम आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश।

तपःपूत ऋषि या मुनि के वहां (स्नान करने, तप-साधना करने आदि के लिए) रहने के कारण।"[1] सार यह है कि नदी-पर्वत आदि की विलक्षण प्राकृतिक छटा की भूमि एवं महापुरुषों की जन्म एवं कर्मस्थली पवित्रस्थल मान लिये जाते हैं और उन्हें पीछे तीर्थ कहा जाने लगता है। किसी समुद्र, नदी, नदियों के संगम, पर्वत आदि के पास जाने पर मन प्रसन्न होता है और युगपुरुष तथा पवित्र पुरुषों की जन्मस्थली एवं तपःस्थली पर जाने पर मन को सत्प्रेरणा मिलती है। अतः ऐसे स्थलों को तीर्थ नाम देकर वहां जाना-आना अच्छा है। भारत के भिन्न-भिन्न कोनों में हमारे पूर्वजों ने तीर्थ कायम किये थे जिससे लोग कभी-कभी वहां की यात्रा करें। इससे उनमें ज्ञान बढ़ेगा, त्याग बढ़ेगा, घर-परिवार का मोह घटेगा, दान-परोपकार में रुचि बढ़ेगी, अपने देश के विभिन्न वर्गों के मनुष्यों, बोलियों, रीति-रिवाजों, धार्मिक संस्कारों, कमजोरियों एवं अच्छाइयों का ज्ञान होगा, राष्ट्रीय भावना बढ़ेगी। लगेगा कि हम अनेक वर्गों, संस्कारों, बोलियों आदि में विभाजित होकर भी एक हैं। अतएव इन सब दृष्टिकोणों को लेकर देश का पर्यटन हर देशवासी को करना चाहिए। पर्यटन स्थलों पर जो यात्रियों को रहने, बसने, सुरक्षा आदि की सुविधा दें, यात्रियों को उन्हें पारिश्रमिक भी देना चाहिए। इन दृष्टिकोणों से तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों का भ्रमण करना अच्छा है।

परन्तु तीर्थों की दशा बहुत बिगड़ गयी है। तीर्थों के पंडित-पुजारी एवं पंडों ने पुराकाल से ही तीर्थों की महिमा अतिशयोक्तिपूर्वक बढ़ा डाली है। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' लिखने वाले डॉ० वामन काणे लिखते हैं—"तीर्थों में स्थायी रूप से रहने वाले विशेषतः तीर्थ-पुरोहितों (पण्डों) ने दान-लाभ से उत्तेजित होकर संदिग्ध प्रमाणों से युक्त बहुत-से माहात्म्यों का नाम जोड़ दिया।[2]........पुराणों, माहात्म्यों एवं निबंधों के लेखकों में एक मनोवृत्ति यह भी रही कि वे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण विस्तार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी एक तीर्थ के ही विषय में पढ़े और उसके विषय में उल्लिखित प्रशस्तियों पर ध्यान न दे तो वह ऐसा अनुभव कर सकता है कि एक ही तीर्थ की यात्रा से इस जीवन एवं परलोक में उसकी सारी अभिलाषाएं पूर्ण हो सकती हैं और काशी-प्रयाग जैसे तीर्थों में जाने के उपरांत उसे न तो यज्ञ करने चाहिए, और न दान आदि अन्य कर्म करने चाहिए। कुछ अनोखे उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं। वनपर्व (८२/२६-२७) में यहां तक आया है कि देव लोगों एवं ऋषि लोगों ने पुष्कर में सिद्धि प्राप्त की और जो भी कोई वहां स्नान करता है एवं श्रद्धापूर्वक देवों एवं अपने पितरों की पूजा करता है वह अश्वमेध करने का दस गुना फल पाता है। पद्मपुराण (५ वां खण्ड, २७/७८) ने पुष्कर के विषय में लिखा है कि उससे बढ़कर संसार में कोई अन्य तीर्थ नही हैं। वनपर्व (८३/१४५) ने पृथूदके की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि कुरुक्षेत्र पुनीत है, सरस्वती कुरुक्षेत्र से अधिक पुनीत है और पृथूदक सभी तीर्थों में उच्च एवं पुनीत है। मत्स्यपुराण (१८६/११) ने कतिपय तीर्थों की तुलनात्मक पुनीतता का उल्लेख यों किया

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १३०१।

२. वही, पृ० १३०९।

है—'सरस्वती का जल तीन दिनों के स्नान से पवित्र करता है, यमुना का सात दिनों में, गंगा का जल तत्क्षण, किन्तु नर्मदा का जल केवल दर्शन से ही पवित्र करता है।' वाराणसी की प्रशस्ति में कूर्मपुराण (१/३१/६४) में आया है—'वाराणसी से बढ़कर कोई अन्य स्थल नहीं है और न कोई ऐसा होगा ही।' अतिशयोक्ति करने की बद्धमूलता इतनी आगे बढ़ गयी कि लोगों ने कह दिया कि आमरण काशी में निवास कर लेने से न केवल ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, प्रत्युत वह जन्म-मरण के न समाप्त होने वाले चक्र से भी बच जाता है और पुनः जन्म नहीं लेता। यही बात लिंगपुराण (१/९२/६३ एवं ९४) ने भी कही है। वामनपुराण में आया है—चार प्रकार से मुक्ति प्राप्त हो सकती है; ब्रह्मज्ञान, गयाश्राद्ध, छीनकर या भगाकर ले जायी जाती गायों को बचाने में मरण, कुरुक्षेत्र में निवास। जो कुरुक्षेत्र में मर जाते हैं वे पुनः पृथ्वी पर लौटकर नहीं आते। काशी में निवास मात्र की इतनी प्रशंसा के विषय में मत्स्यपुराण (१८१/२३), अग्निपुराण (११२/३) एवं अन्य पुराणों ने इतना कह डाला है कि काशी में जाने के उपरांत व्यक्ति को अपने पैरों को पत्थर से कुचल डालना चाहिए (जिससे कि वह अन्य तीर्थों में न जा सके) और सदा के लिए काशी में ही रह जाना चाहिए।''[1] वामन काणे जी आगे लिखते हैं—''धर्मशास्त्र-संबंधी ग्रन्थों में तीर्थ पर जो साहित्य है वह अपेक्षाकृत सबसे अधिक विशद है। वैदिक साहित्य को छोड़कर महाभारत एवं पुराणों में कम से कम ४०,००० (चालीस हजार) श्लोक तीर्थों, उपतीर्थों एवं उनसे संबंधित किंवदंतियों के विषय में ही प्रणीत हैं।''[2]

पुराणों में तीर्थों की इतनी महिमा बढ़ायी गयी कि आदमी चाहे जितना पाप करे, परन्तु तीर्थ में जाने, नदी-स्नान करने एवं देव-दर्शन से सब पाप कट जाते हैं। कहा गया कि ''नर्मदा का नाम लेने से एक जन्म का पाप कटता है, उसके दर्शन करने से तीन जन्मों का तथा उसमें स्नान करने से तो हजारों जन्मों का पाप भस्म हो जाता है। सैकड़ों योजन दूर से ही गंगा का नाम लेने से तीन जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है।''[3] वनपर्व में कहा गया ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीर्थ में स्नान करने से फिर जन्म नहीं लेते। इतना ही नहीं, स्त्री हो या पुरुष, उसने जीवन में जितना भी पाप किया हो पुष्कर में स्नान करने से वे सब नष्ट हो जाते हैं।''[4]

गोस्वामी जी ने कहा—

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १३०९-१३१०।

२. वही, पृष्ठ १३१८।

३. विष्णु पुराण (२/८/१२१), कबीर दर्शन, अध्याय १, तीर्थ।

४. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम।
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥३०-३१॥
जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ॥३३-३४॥ *महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२ ॥*

आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं॥
जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। सो तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं॥
जो गंगा जल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुकुति नर पाइहिं॥
मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तंरिही॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा॥

अर्थात "चारों खानि के देहधारी काशी में मरने से मुक्ति पाते हैं। जिस मुक्तिगति को महान मुनिजन अगम बताते हैं उसे आपके नगर में कीटपतंग भी पा जाते हैं। जो रामेश्वर के दर्शन करेगा वह शरीर छोड़कर मेरे धाम (स्वर्ग) में पहुंचेगा। जो व्यक्ति रामेश्वर में गंगा जल लाकर चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पायेगा। यहां तक मेरे द्वारा निर्मित सेतु के जो दर्शन करेगा वह बिना परिश्रम के ही भवसागर पार हो जायेगा। चार खानि के अपार जगज्जीव अयोध्या में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।" यह है कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसीदास जी की घोषणा। गोस्वामी जी ने सभी पुराणों से अपना पुराण आगे बढ़ा दिया।

तुलसी कबीर के बाद हुए हैं। कबीर के युग में जो तीर्थों की मिथ्या महिमा करके संसार के लोगों को गुमराह किया जा रहा था, उससे कबीर को बड़ी पीड़ा हुई। सारे पाप करके तीर्थों में जाने से सब पाप कट जाते हैं यह मान्यता तो मनुष्य के पापों को बढ़ाने वाली हुई। सद्गुरु कहते हैं कि चित्त के चंचल, मन के कपटी तथा स्वभाव के चोर लोग तीर्थों में जाकर पाप तो एक भी नहीं काट पाते हैं, उलटे अपने ऊपर दस मन पाप ही लादते हैं। यहां दस मन लक्षणा अर्थ में पाप की अधिकता का द्योतक है, या दसों इन्द्रियों के पाप का बढ़ाना भी अर्थ किया जा सकता है।

"तीरथ गये ते बहि मुये" हत्यादि पाप कर उसके काटने के चक्कर में जो तीर्थों में जाते हैं और जूड़े पानी में नहाते हैं वे मानो अपने पापों में बहकर मरते हैं। साहेब कहते हैं कि ऐसे लोग राक्षस होकर पश्चाताप करते हैं। अर्थात हिंसा राक्षसी कर्म है, उसे करते हैं, परन्तु पापों से छूटने के लिए तीर्थों का सहारा ढूंढ़ते हैं। ऐसे लोगों को आज जीवन में तथा भविष्य में भी केवल पछताना पड़ेगा। हिंसा करने वाला आज ही राक्षस है और वह आगे भी उसके परिणाम में तामसी योनि में जाकर दुख भोगेगा।

ऊपर २१२ से २१३वीं साखी में सद्गुरु ने हिंसावृत्तिवालों को चेतावनी दी है कि तुम हिंसादि पाप करके उसके फल से छूटने के लिए जो दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ आदि का आधार लेते हो, यह तुम्हारा अपने आपके साथ छलावा है। तुम जीवहत्या के पाप से दान, पुराणश्रवण एवं तीर्थ-सेवन करके बच नहीं सकते। अतः हिंसावृत्ति का त्याग करो। इसी क्रम में सद्गुरु ने उन्हें जोरदार शब्दों में २१४ से २१६वीं साखियों में लताड़ा है जो हिंसादि पापकर्म बराबर करते जाते हैं और सारे पाप तीर्थसेवन करके काटने का ढोंग भी करते जाते हैं। इस तथ्य को न समझकर एक ग्रन्थचुम्बक ने मिथ्या प्रलाप किया है कि कबीर ने तो यहां तीर्थयात्रियों को राक्षस होना बताया है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि जो अपने कर्तव्यकर्मों का परित्याग कर केवल कृष्ण-कृष्ण जपते रहते हैं वे हरिद्वेषी औ

पापी हैं; क्योंकि कृष्ण ने धर्म-कर्म के लिए ही जन्मधारण किया था।[1] अब इसमें कोई अपने अल्पज्ञतावश यह कहे कि विष्णुपुराण के लेखक ने तो कृष्ण-नाम जपने वाले को हरिद्वेषी और पापी कहा है, तो यह कहने वाले की बुद्धि की महिमा है। किस संदर्भ में बात कही गयी है इसका विचार किये बिना उस पर समीक्षा करना अपना छिछलापन है। अतएव उक्त साखियों में सामान्य तीर्थयात्रियों को राक्षस होने की बात नहीं कही गयी है, किन्तु तीर्थों की मिथ्या महिमाओं के बल पर पाप कटने के धोखे में हिंसा करते रहने वालों के लिए ये साखियां कही गयी हैं।

तीर्थों की महिमा करने वाले भी जब तीर्थों से घबराये हैं तब उन्होंने कहा है— "सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, दया, ऋजुता, दान, आत्मनिग्रह, संतोष, ब्रह्मचर्य, मृदुवाणी, ज्ञान, धैर्य और तप तीर्थ हैं और सर्वोच्च तीर्थ मनशुद्धि है। उनमें यह भी आया है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवंचक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं वे सभी तीर्थों में स्नान करने के बाद भी पापी एवं अपवित्र रहते हैं। क्योंकि मछलियां जल में जन्म लेती हैं, वहीं मर जाती हैं; परन्तु स्वर्ग को नहीं जातीं, क्योंकि उनके मन पवित्र नहीं होते। यदि मन शुद्ध नहीं है तो दान, यज्ञ, तप, स्वच्छता, तीर्थयात्रा एवं विद्या को तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता।"[2]

तीर्थों की अति महिमा करने वाले गोस्वामी तुलसीदासजी जब तीर्थों के पण्डे-पुजारियों के अत्याचार देखकर घबराये तब उन्होंने भी कहा—"देव-मन्दिरों, तीर्थों और पुरियों में निर्लज्जतापूर्वक निपट दुष्कर्म हो रहे हैं। मानो कलिकाल अपनी पूरी फौज सहित वहां किला रोपकर जमा है।"[3]

कुछ आदमी गंगा स्नान करने जा रहे थे। जिस ट्रेन में वे चल रहे थे, एक महात्मा भी आकर बैठ गये। वे लोग सिगरेट पीने लगे। संत ने कहा कि जब तक आप तीर्थयात्री हैं तब तक तो सिगरेट न पीयें। उन्होंने कहा कि हम लोग तो शराब भी पीते हैं और पता नहीं क्या-क्या उलटा-सीधा करते हैं। हम जितना पाप वर्ष में करते हैं एक बार गंगा में नहा लेते हैं और वे सारे पाप कट जाते हैं। महात्मा ने गंगा से पूछा। गंगा ने कहा कि मैं किसी का पाप अपने पास नहीं रखती, नहीं तो मैं सूख जाती। मैं तो नहाने वालों के सारे पाप अपनी धारा के साथ समुद्र में पहुंचा देती हूं। समुद्र से पूछने पर उसने कहा कि मैं

---

१. अपहाय निजं कर्म कृष्णकृष्णेति वादिनः।
ते हरिद्वेष्णः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥ *विष्णुपुराण॥*

२. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं............तीर्थानामुत्तमं तीर्थं विशुद्धिर्मनसः पुनः॥............जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥.........दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥ स्कन्दपुराण (काशीखंड ६/२८-४५), पद्मपुराण (उत्तरखंड २३७/११-२८), मिलाइए मत्स्यपुराण (२२/८०—सत्यं तीर्थं दया तीर्थम्.........)। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १३०८।

३. सुर सदनन तीरथ पुरिन, निपट कुकाज कुलाज।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज॥ *दोहावली॥*

बादलों को पाप सौंप देता हूं; क्योंकि मेरा पानी सूरज की गरमी तथा हवा से हरदम भाप बनता है और भाप ही बादल बनता है। महात्मा ने बादलों से पूछा। बादलों ने कहा कि हम पापियों के पाप अपने पास रखें तो भस्म हो जायेंगे, इसलिए जिनके पाप रहते हैं हम उन्हीं पर उन्हें बरसा देते हैं।

नदी, समुद्र, बादल आदि तो जड़ हैं। वे बात क्या करेंगे! तात्पर्य यह है कि तीर्थों में नहाने से न पाप कटते हैं, न मोक्ष होता है। ये सब बातें तो पण्डे-पुजारियों की पेटपूजा के लिए गढ़ी गयी महिमाएं हैं। हां, देशाटन, महापुरुषों के दर्शन एवं सत्संग के लिए देश के विभिन्न स्थलों एवं तीर्थ कहे जाने वाले स्थानों में जाना चाहिए।

माया की जड़ काटो

ये गुणवन्ती बेलरी, तव गुण बर्णि न जाय।
जर काटे ते हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय॥२१७॥

शब्दार्थ—गुणवन्ती = गुणवाली। बेलरी = बेलि, लता, मनोवृत्ति। तव गुण = तुम्हारी महिमा। हरियरी = हरीभरी, प्रसन्न। कुम्हिलाय = मुरझा जाना, दुखी होना।

भावार्थ—हे गुणवती लता मनोवृत्ति! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। तुम्हारी विषयासक्ति एवं अहंता-ममतारूपी जड़ काट देने से तू प्रसन्न एवं सुखी होती है और यदि भोगों से तू सींची जाय, तो मलिन होकर दुखी हो जाती है॥२१७॥

व्याख्या—'गुणवन्ती बेलरी' त्रिगुणात्मिका माया है और वह है मनोवृत्ति। मन की मान्यता, भौतिक पदार्थों एवं परोक्ष कल्पनाओं में अहंता-ममता उसकी जड़ है। जीव अपने स्वरूप के अलावा जो कुछ मान लेता है वही माया बन जाता है। उसकी जड़ है अहंता-ममता। विजाति पदार्थों एवं परोक्ष मान्यताओं में अहंता-ममता करने से माया बलवती होती है अर्थात मन का मोह प्रबल होता है। मनोवृत्ति ही माया है जिसके दो रूप हैं एक बंधनप्रद और दूसरा मोक्ष में सहायक। यह मनोवृत्ति ही तो है जो नाना विषयों में रागवती बनती है और यह भी मनोवृत्ति ही है जो वैराग्य, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति में रमती है। हमारी मनोवृत्ति तब माया बनती है जब उसके मूल में विजाति पदार्थों के प्रति या परोक्ष कल्पनाओं के प्रति अहंता-ममता बनती है, और नाना मान्यताओं का जाल बिछता है। इसे काट दिया जाय, अर्थात अहंता-ममताओं एवं मान्यताओं को छिन्न कर दिया जाय तो मनोवृत्ति प्रसन्न, सुखी एवं संतुष्ट हो जाती है और यदि इसे भोगों तथा नाना कल्पनाओं से सींचा जाय तो यह दुखी होती है।

कवि-कुल-भूषण कबीर की वाणियों की पंक्ति-पंक्ति में अलंकारों का सुंदर प्रयोग है। इस साखी में भी गुणवन्ती लता का सुन्दर रूपक है और विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है। विरोधाभास अलंकार उसे कहते हैं जहां सचमुच विरोध न होकर केवल विरोध का आभास होता है। जड़ काटने से लता का हरा-भरा होना और सींचने से मुरझा जाना चौंकाने वाली बात है। कबीर साहेब बीच-बीच में उलटवांसी तथा विरोधाभास की बातें

कह-कहकर अपने पाठकों एवं श्रोताओं को चौंकाते रहते हैं। इससे पाठक एवं श्रोता को उनके उपदेशों में रुचि तो जगती ही है, साथ-साथ आशय समझ जाने पर कथन के चुटीलेपन के कारण मन में तीव्र संवेदना एवं चेतावनी के उद्रेक होते हैं।

हम इस साखी को सरलता से समझें तो अर्थ होगा कि अहंता-ममता को नष्ट कर देने से ही मनुष्य की मनोवृत्ति संतुष्ट हो सकती है और यदि अहंता-ममता को सींचा गया तो मनोवृत्ति मलिन होकर सदैव दुखी रहेगी।

पूर्व की साखियों में मिथ्या महिमा से मंडित तीर्थों को विष की लता कहा गया था, परन्तु प्रस्तुत साखी में 'गुणवन्ती बेलरी' से ध्वनित माया-लता केवल तीर्थों की मान्यता तक सीमित नहीं है। इस साखी में मनोवृत्ति मात्र लता है। मनुष्य की मनोवृत्ति प्रसन्न है या मलिन है, यही तो जीवन की सफलता या असफलता का रहस्य है। भौतिक अनुकूलताओं से जो मनुष्य का मन प्रसन्न होता है, वह क्षणिक है। क्योंकि भौतिक स्थितियां परिवर्तनशील हैं, इसलिए उन पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस नहीं रह सकती। मनुष्य की आत्मा अपरिवर्तित तथा एकरस है, इसलिए अपनी आत्मा पर अवलंबित प्रसन्नता एकरस रहती है। वस्तुनिष्ठ सुख तथा आत्मनिष्ठ सुख में बड़ा अंतर है। वस्तुनिष्ठ सुख क्षणिक है और आत्मनिष्ठ सुख अनन्त है।

माया की जड़ काटने से ही मनोवृत्ति चिरंतन सुखी हो सकती है। माया की जड़ सींचने से मनोवृत्ति दुखों में डूबी रहने के अलावा कुछ नहीं होगा। जो जितना दुनिया के राग-रंग में डूबेगा वह उतना ही दुखी रहेगा, और जो जितना ही इससे विरत रहेगा वह उतना सुखी रहेगा। समस्त सांसारिक उपलब्धियां विनश्वर हैं। उनमें अपने मन को रमाना पीड़ा को निमंत्रण देना है। निर्भयतापूर्वक सारी अहंताओं को काट देना ही सुख के सागर में पहुंचना है।

इस साखी में लता, जड़, काटना, सींचना, हरा-भरा होना, कुम्हलाना आदि रूपक एवं अलंकार हैं जो विषय-वस्तु के समझने में सहयोग करते ही हैं, कथन को रोचक भी बनाते हैं और विरोधाभास कथन तो पाठक के मन को और खींचता है।

बेलि कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय।
ओर बिनष्टी तूमरी, तेरो सरोपात करुवाय ॥२१८॥

शब्दार्थ—बेलि = लता, माया, मनोवृत्ति। कुढंगी = कुपथगामी। बसाय = बदबू करता है, दुर्गन्ध करता है। ओर = आरम्भ, शुरुआत। तूमरी = तुमड़ी। सरोपात = संपूर्ण पत्ते। करुवाय = कड़वे एवं तीखे लगना।

भावार्थ—मनोवृत्तिरूपी माया-लता विपथगामिनी है, इसलिए इसका फल बुरा होना ही है, क्योंकि इसके कुबुद्धिरूपी फूल पहले से ही दुर्गन्ध देते हैं। हे कड़वी-तुमड़ी माया! जहां से तेरा आरम्भ होता है, तू उस जीव का ही पतन करती है। तेरे संपूर्ण कर्मरूपी पत्ते कड़वे हैं॥२१८॥

व्याख्या—इस साखी में भी रूपकों तथा अलंकारों का घटाटोप है। बेलि, फल, फूल, तुमड़ी, पत्ते और इनका विपथगामी होना, दुर्गन्ध देना, अपने जनक का विनाशक होन तथा कड़वा होना—ये सब विषय-वस्तुओं को समझने में सरलता उत्पन्न करते हैं।

मनुष्य की मनोवृत्ति ही माया-बेलि है जो कुढंगी अर्थात विपथगामिनी है। जब मनोवृत्ति विपथगामिनी होगी तब उसका फल बुरा होना ही है। कुबुद्धि फूल है जो दुर्गन्ध से पूर्ण है। कुबुद्धि से कुकर्म तथा कुकर्म से कुफल यह प्रकृति का विधान है। "बेलि कुढंगी, फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय, ओर विनष्टी, सरोपात करुवाय" ये सभी वच चुभने वाले हैं। पहली बात है कुबुद्धि के फूल, जो दुर्गन्ध देते हैं। फूल से ही फल हो हैं। कुबुद्धि फूल है, उससे कुकर्म होते हैं। कुबुद्धि की दुर्गन्धी मनुष्य को निरंतर सड़ात है। कुबुद्धि की दुर्गन्धी दूर-दूर तक फैल जाती है। रावण की कुबुद्धि थी पर-स्त्री विमोहित होकर उसका हरण कर लेना और हितचिन्तकों-द्वारा समझाये जाने पर भी उ न लौटाना, दुर्योधन की कुबुद्धि थी पांडवों के बारह वर्ष वनवास तथा एक व अज्ञातवास की शर्त को पूरा कर देने पर भी उन्हें उनका राज्य न लौटाना, कृष्णवंश यादवों की कुबुद्धि थी शासनबल, जनबल, धनबल, शरीरबल आदि के नशे में शराब कबाबी होकर आपस में एक-दूसरे की अवहेलना करना। इन सब की कुबुद्धियों का फ क्या हुआ? यह सब जानते हैं कि इनका सर्वनाश हुआ। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं जिन इतिहास बन गये हैं। छोटे-छोटे नाम सर्वसामान्य हैं जो सर्वत्र कम-बेश अपनी दुर्गन फैलाते हैं। कुबुद्धि ऐसा फूल है जिसमें केवल दुर्गन्धी है। कुबुद्धि से ही मनुष्य व मनोवृत्तिरूपी बेलि कुपथ में चलती है। उसमें कड़वे कर्मरूपी पत्ते लगते हैं और तीखे फ फलते हैं।

पर-निंदा, ईर्ष्या, क्रोध, वैर, लड़ाई-झगड़े, व्यभिचार, चोरी, हत्या, अभक्ष्य-भक्षणा दुर्बुद्धि के प्रकाश हैं। दुर्बुद्धि के कारण ही मनुष्य जीवनभर राग-द्वेष की आग में जल हैं। वे समझते हैं कि हम इस संसार में सदैव रहेंगे और ये जो धन, भवन, स्वजन आ मिले हैं, इनका सदैव उपभोग करेंगे। कुबुद्धि के कारण मनुष्य की मनोवृत्ति सदैव अन में भटकती है। इससे मनुष्य बुरे कर्म कर उसके कड़वे फल चखता है। जीवन में आद कितना धन कमाया तथा कितने जनसमूह को अपना अनुगामी या साथी बनाया, कित प्रसिद्ध हुआ इन सबका कोई मूल्य नहीं है। इन सब में उसके जीवन का कोई महत्त्व न है। जीवन का महत्त्व है सद्बुद्धि, संयत मनोवृत्ति एवं विवेकपूर्ण कर्म में। इन्हीं सब जीवन में मधु इकट्ठा होता है। आदमी कितने कीमती भोजन, वस्त्र, वाहन, भवन आ का उपयोग करता है इससे उसके जीवन के सार का मूल्यांकन नहीं होता, किन्तु उस मूल्यांकन इससे होता है कि उसके मन, बुद्धि एवं कर्म कितने संयत, शुद्ध और शांत हैं

सद्गुरु ने माया को "ओर विनष्टी तूमरी" कहा है। मनोवृत्ति ही तो माया है उ इसका 'ओर' अर्थात आरम्भ जीव ही है। यह जीव ही तो मनोवृत्ति का जनक है उ यह उसी का पतन करती है। जीव अपनी ही मलिन मनोवृत्तियों से पतित होता है। पर यही मनोवृत्ति यदि पवित्र हो जाय तो जीव का कल्याणकारक हो जाय। जैसे पानी मनु की असावधानी से डुबाता है, परन्तु यदि तैरना जाने तो पानी तैरने में सहयोग करता

इसी प्रकार मनोवृत्ति जीव को उसकी ही असावधानी से डुबाती है और यदि साधक सावधान है तो उसके मोक्ष में सहायक होती है।

मन का स्वरूप

पानी ते अति पातला, धूवाँ ते अति झीन।
पौन्हु ते उतावला, सो दोस्त कबीरन कीन॥२१९॥

शब्दार्थ—कबीरन = जीवों ने।

भावार्थ—जो पानी से अत्यंत पतला है, धुआं से बहुत बारीक है और वायु से अधिक चंचल है, ऐसे मन से जीवों ने मित्रता की है॥२१९॥

व्याख्या—पानी, धुआं और वायु तो वस्तु हैं, परन्तु मन कोई वस्तु नहीं। यह देखे, सुने और भोगे हुए विषयों के संस्कारों का समुच्चय मात्र है। ऊपर की साखियों में मनोवृत्तिरूपी माया-लता का वर्णन है। उसी मन की सूक्ष्मता एवं चंचलता का इस साखी में दिग्दर्शन कराया गया है।

मन एक ऐसा साधन है जिसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। जैसे कुल्हाड़ी में लकड़ी का बेंट लगाकर तब लकड़ियां काटी जाती हैं, वैसे मन को लेकर ही मन का निग्रह किया जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि मन के आधार में उठते हैं, तो भक्ति, विवेक, वैराग्यादि भी मन के आधार में ही रहते हैं। मन के उपस्थित हुए बिना न बुरा काम होता है और न भला काम। मन न होता तो भवसागर न होता। इस मन ने ही भवसागर बनाया है और इस मन के द्वारा ही भवसागर सुखाया जा सकता है। गीताकार ने ठीक ही कहा है कि मन मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है।[1] विषयासक्त मन मनुष्य के लिए बंधन बनाता है और निर्विषय मन बंधनों से मुक्त करता है। मन न होता तो प्रपंच ही न होता यह सच है, परन्तु मन है ही और उसके द्वारा रचा हुआ प्रपंच भी है ही, तो अब विवेकवान का काम है कि वह उस मन को लेकर मन के प्रपंचों को शांत कर दे।

मनुष्य अविवेकवश मन की चंचलता ही में आनन्द मानता है। परन्तु मन की चंचलता में खुजली-जैसा आनन्द है जो क्षणिक है और उसके पीछे केवल जलन है। इसी प्रकार मनुष्य अपने मन को विषयों में लगाकर उसे चंचल करता है। मनुष्य की रजोगुणी वृत्ति के कारण उसे विषयों में आनन्द लगता है, परन्तु वह अत्यन्त क्षणिक है और उसके परिणाम में मन की घोर अशांति है। मन की चंचलता और चहल-पहल में ही रजोगुणी व्यक्ति आनन्द मानता है। मन की शांति में उसे शून्यता, निराशा और निरर्थकता लगती है। परन्तु यह तो विवेकवान ही समझते हैं कि जब मन निर्विचार होकर शांत हो जाता है तब जीवन के कितने दिव्य क्षण होते हैं। लौकिक दृष्टि में विस्तार विकास है और आध्यात्मिक दृष्टि में विस्तार समाप्त कर देना जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुंचना है।

---

१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

विस्तार में मन केन्द्र छोड़कर बाहर तैरता है, और विस्तार समाप्त हो जाने पर केन्द्र में आकर शांत हो जाता है। विस्तार मान्यताओं का लोक है और केन्द्र व्यक्ति का निजस्वरूप है, जो शुद्ध चेतन है, आत्मा है, जीव है। विस्तार में चहल-पहल अवश्य है, परन्तु उसमें विश्राम नहीं है। मन जब केन्द्र में लौट आता है, अर्थात स्वरूपस्थ हो जाता है, तब सारी चहल-पहल समाप्त हो जाती है, और उसे वहां परम विश्राम मिल जाता है। कम-बेश, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब मन के ही प्रपंच हैं। ये सारे प्रपंच न होते तो मेरा क्या नुकसान होता! वस्तुतः इन प्रपंचों में पड़ा रहना ही अपना नुकसान है। इनसे मुक्त हो जाना ही अपना सच्चा फायदा है।

कैसा आश्चर्य है कि जीव अनादिकाल से मन के प्रपंचों में दौड़ते-दौड़ते और उसमें सारी दुर्गति सहते-सहते आज भी उससे नहीं थकता है। मन के विस्तार में पड़कर उन्हीं-उन्हीं मलिन विषयों को असंख्य बार भोग चुके हैं और असंख्य बार पश्चाताप कर चुके हैं, फिर भी मनुष्य न जागे तो क्या उपाय! जिन विषयों में आज तक विश्राम न मिला, उनमें आगे कैसे विश्राम मिल जायेगा!

मन ही जीव के सामने सारे संसार को उपस्थित करता रहता है। यदि मन शांत हो जाय तो जीव के लिए मानो संसार शांत हो जाय। मन की गति सूक्ष्म है। वह मानो जीव को परमार्थ से घुमाकर स्वार्थ में तथा ज्ञान से हटाकर विषयों में लगा देता है। परन्तु बिलकुल ऐसी बात है नहीं। वस्तुतः हमारी आदतें बिगड़ी हैं। हम विषयों के रागी हैं। इसलिए हम बारम्बार उसकी तरफ फिसल जाते हैं। फिसलने में मन मात्र सहायक बनता है। यदि हमें पूर्ण ज्ञान तथा विषयों से वैराग्य हो जाय तो मन निवृत्ति में सहायक बनेगा। रागात्मक दशा में मन जितना चंचल रहता है, पूर्ण ज्ञान-वैराग्य दशा हो जाने पर मन उतना ही स्थिर हो जाता है। जो मन अज्ञानदशा में एक क्षण स्थिर नहीं होता, वही ज्ञानदशा में चंचल नहीं होता। मन जब समाधि तथा शांति सुख का रस चख लेता है, तब उसे विषय-रस फीके एवं तुच्छ हो जाते हैं। जो मन कभी स्थिर नहीं होता था, वही मन स्वरूपस्थिति की पूर्ण परिपक्वता में समाधि एवं शांति-सुख से हटना नहीं चाहता। प्रशांत मन वाले साधक को अपने मन को कोच-कोचकर जगाना पड़ता है। उसे व्यवहार में लगाना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानी-से-ज्ञानी को भी जीवन का व्यवहार करना पड़ता है।

ज्ञानी आलसी नहीं होता। आलस्य के कारण कुछ करने का मन न होना बिलकुल अलग बात है। यह तो पतन का रास्ता है। ज्ञानी श्रमशील होता है। परन्तु उसका मन शांतिपरायण होता है। विवेकवान का मन गैसबत्ती में लगे हुए मेंथल के समान होता है जो वर्तमान में प्रकाश तो देता है, परन्तु जलकर राख हो चुका होता है। अतः वह उससे खोलकर दूसरी गैसबत्ती में नहीं लगाया जा सकता। अज्ञानदशा में मन जितना ही चंचल और पाजी रहता है ज्ञानदशा में उतना ही शांत एवं शुद्ध हो जाता है। अतएव मन वायु के समान चंचल है, यह पढ़-सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। यह तो सामान्य स्थिति का वर्णन है। मन साधना द्वारा शुद्ध, शांत एवं समाधिनिष्ठ बना लिया जा सकता है और यह सब करने में कठिनाई नहीं, किन्तु सरलता है, केवल सच्ची समझ तथा वैराग्य होना चाहिए।

जीव ही सर्वोच्च है

सतगुरु बचन सुनो हो सन्तो, मति लीजै शिर भार।
हो हजूर ठाढ़ कहत हौं, अब तैं सम्हर सँभार ॥२२०॥

शब्दार्थ—मति = मत, नहीं। हजूर = हुजूर, उपस्थित, श्रीमान, स्वामी, श्रेष्ठतम। ठाढ़ = खड़ा, दृढ़। सम्हर = समर, युद्ध अथवा संभलना, अपने आप को संयत करना। सँभार = संभालना, रक्षा करना।

भावार्थ—हे संतो! सद्गुरु के निर्णय वचनों को सुनो और उनका आचरण करो। मान्यताओं का बोझा अपने सिर पर मत उठाओ। मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि तुम स्वयं श्रेष्ठतम हो। अब तुम मन के युद्ध में अपनी रक्षा करो, अथवा तुम स्वयं संभलो और दूसरों को संभालो ॥२२०॥

व्याख्या—इस साखी के चारों चरणों में कबीर देव ने चार मुख्य बातें कही हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात है "सतगुरु बचन सुनो हो संतो" हे संतो, सद्गुरु के वचनों को सुनो। लोग तो इतने पामर हैं कि गुरु के वचनों पर ध्यान ही नहीं देते। कारण है "गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार। कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार॥" मनुष्य तो भोगों से इन्द्रियों को सींचने वाला है। गुरु के वचन इसके विरोध में हैं, इसलिए वह उनसे दूर भागता है। वह तो कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन में अपना मन रखता है और उनका भोग करना चाहता है। उसे तो जुए की आदत की तरह विषयों की आदत लगी है। अतएव कल्याण का पहला द्वार है सद्गुरु के वचनों पर ध्यान देना, उन्हें सुनना तथा मनन करना।

दूसरी बात है "मति लीजै शिर भार" सिर पर बोझा मत उठाओ। अनेक मान्यताओं का बोझा लेकर जीव पिस रहा है। यह पेड़, पहाड़, पानी, पत्थर, चांद, सूरज, हवा, आकाश तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं को देवता मानकर उनके सामने घुटने टेक रहा है। मनुष्य की अविवेकवश मानो नियति ही हो गयी है जड़पिंडों एवं मन की अवधारणाओं को देवी-देवता मानकर उनके सामने गिड़गिड़ाना। इतना ही क्या, मनुष्य ने भूत-प्रेत, ग्रह-लग्न, दिशाशूल, मंत्र-तंत्र, शकुन-अपशकुन आदि अनेक भ्रांतियों को पाल रखा है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम इन मिथ्या मान्यताओं का बोझा मत लादो। यदि पहले से लाद रखे हो तो उसे फेंक दो। तुम्हारी अपनी आत्मा के अलावा कोई ऐसी अदृश्य शक्ति नहीं है जो तुम्हारे ऊपर कोप या कृपा कर सके। तुम्हारे दुष्कर्म ही तुम्हारे ऊपर कोप बन जाते हैं तथा तुम्हारे सत्कर्म तुम्हारे ऊपर कृपा बन जाते हैं। अतएव तुम अपने कर्मों का सुधार कर लो, बस हो गया भजन!

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह तीसरी बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आंदोलनकारी है। कबीर देव कहते हैं कि मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम खुद हुजूर हो। खड़ा होकर कहने का तात्पर्य है दृढ़तापूर्वक कहना। सद्गुरु कहते हैं कि मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो, सम्राट हो, तुम स्वयं परमात्मा हो। हे मनुष्य! तुम किस परमात्मा को खोज रहे हो! तुम्हारे अलावा तुम्हारा कोई परमात्मा नहीं है। तुम अपने

अविनाशी आत्मतत्त्व को न समझकर ही दर-दर भटक रहे हो। आश्चर्य है कि परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है।

मनुष्य की मानसिकता है पूजने की। पूजना अच्छा है। मर्यादा में बड़े तथा पवित्र पुरुषों की पूजा करना या प्राणिमात्र का सत्काररूपी पूजा करना उत्तम है। परन्तु अपने आप में दीनता की मानसिकता बनाना बहुत गलत है। बेजान पिंडों तथा शून्य को पूजना और उनसे भोग तथा मोक्ष मांगना अपने आप का पतन करना है। जब स्वस्वरूप का ज्ञान तथा कर्मफल भोग का बोध हो जाता है, तब कहीं रोने-गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। बोधवान पुरुष भोग और मोक्ष को अपने कर्म एवं श्रम का फल मानता है जो वास्तविकता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपनी श्रेष्ठता को समझ, अपने स्वरूप को पहचान, और अपनी महानता में प्रतिष्ठित हो।

चौथी बात है ''अब तैं सम्हर सँभार'' सम्हर के अर्थ समर और संभलना दोनों हो सकते हैं। दोनों अर्थों से मूल आशय में अन्तर नहीं पड़ता। एक में अर्थ होगा कि तू मन के युद्ध में अपने आप को संभाल, अपने आप की रक्षा कर, और दूसरे में अर्थ होगा कि तू अपने आप में संभल तथा दूसरों को संभाल। अर्थात अपने स्वरूप को पहचानकर स्वयं की रक्षा करो और दूसरों को भी भवबन्धनों से बचने में सहयोग करो। अपने स्वरूप की पहचान हो जाने के बाद साधक का मात्र एक काम रह जाता है 'अपने आप को मन की धारा से बचाना' इसके साथ दूसरे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं को भी इस दिशा में प्रेरित करना।

अपने आप को मन की धारा से अलग करना यही तो साधना है। मन में ही तो सारा कूड़ा-कबाड़ भरा रहता है। जो साधक मन को अलग कर देता है वह स्वच्छ हो जाता है। ऊपर की पंक्ति के दूसरे चरण में ही कहा गया है ''मति लीजै शिर भार'' अर्थात तुम अपने स्वरूपज्ञान के अलावा कोई मान्यता बनाकर उसका बोझा मत लादो। मन की संकल्परूपी कली को तोड़ते रहो, फिर न फूल होंगे न फल। राग मानना, द्वेष मानना तथा अनेक प्रकार की मान्यताओं का जाल बनाना यही सब तो जीव की महानता को नष्ट करते हैं। जब जीव सारी मान्यताओं के बोझ से तथा मन की धारा से मुक्त हो जाता है, तब वह सदा आनन्दस्वरूप हो जाता है। ''अबकी पूरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।'' जो साधक आज वासनाओं का त्याग कर देता है वह सदैव के लिए आनंदस्वरूप हो जाता है। अर्थात वह सदा के लिए दुखों से छूट जाता है।

कड़वी माया-लता और छुटा हुआ सिद्ध

वो करुवाई बेलरी, औ करुवा फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होर॥२२१॥
सिद्ध भया तो क्या भया, चहुँदिश फूटी बास।
अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस॥२२२॥

शब्दार्थ—करुवाई = कड़वी, तिक्त। बेलरी = लता, रायपेहंटा नाम की एक कड़वी लता जिसके पत्ते और कच्चे फल कड़वे होते हैं, माया। सिद्ध = पका हुआ, लक्ष्यप्राप्त। बास = गंध, वासना। अन्तर = भीतर।

भावार्थ—रायपेहंटा नाम की लता होती है जिसके पत्ते और फल सब कड़वे होते हैं, परन्तु जब उसके फल पक जाते हैं तब उसकी सुगंध चारों ओर फैल जाती है और फल बेलि से टूटकर अपने आप अलग हो जाते हैं। परन्तु उनके पकने से क्या हुआ! उनके भीतर के बीज तो कड़वी लता ही पैदा करते हैं। उक्त उदाहरण देकर सद्गुरु कहते हैं—

हे कड़वी माया-लता! तेरे फल कड़वे हैं। जो सिद्ध कहलाने लगता है, वह माया लता से अलग हो जाता है, यह ठीक है। परन्तु ऐसा सिद्ध होने से क्या लाभ हुआ जिसके भीतर से वासनाएं फूटकर चारों तरफ फैल गयीं, और अन्दर में जगत के बीज हैं तथा उनके पुनः उगने की संभावना है।।२२१-२२२।।

व्याख्या—कोई भी उदाहरण सर्वांश में नहीं होता। सिद्धांत को समझाने के लिए किसी वस्तु के किसी अंश का उदाहरण दिया जाता है। माया ऐसी लता है जो कड़वी है। उसके पत्ते कड़वे हैं और फल कड़वे हैं। सांसारिक प्राणी-पदार्थों का मोह, माया है या कहना चाहिए मन की रागात्मक वृत्ति माया है। यह कड़वी है। इसका परिणाम तीखा है। जो व्यक्ति जितना ही संसार में रागी होगा वह उतना ही पीड़ा भोगेगा।

कोई व्यक्ति जब सिद्ध हो जाता है तब वह माया-लता से अलग हो जाता है। 'सिद्ध' का अर्थ ही है 'मुक्त'। जो अपने स्वरूप में स्थित हो गया, पूर्णकाम एवं सफल मनोरथ हो गया वह सिद्ध है, मुक्त है। उसका संबंध माया से कट जाता है। अर्थात वह संसार में एवं पांचों विषयों तथा प्राणी-पदार्थों में राग नहीं करता। उसका मन निर्मल एवं समाधिनिष्ठ हो जाता है। जैसे पका हुआ फल अपने आप पेड़ से चू पड़ता है, वैसे अनासक्त मन एवं सिद्ध पुरुष विषयासक्ति से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

परन्तु ऐसे भी सिद्ध होते हैं जो वस्तुतः सिद्ध नहीं होते, किन्तु सिद्धई का ढोंग करते हैं। उनमें सिद्ध होने का तामझाम होता है, ऊपरी दिखावा होता है। वे दिखावे के ऐसे आचरण करते हैं जिससे संसार के लोग यह समझें कि वे सिद्ध हैं। जो अपने आपको समाज में सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है वह तो सांसारिक वासनाओं से भरा है। उसके अन्दर तो प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा (शिष्यैषणा) भरी है। उसके अन्दर में फिर से जागने की आशा है। वह माया से मुक्त कहां है! वह मोटी माया छोड़कर झीनी माया में उलझ गया है। कोई अपने आप को ईश्वर का अवतार घोषित करता है, कोई किसी महापुरुष का अवतार बनता है। कोई दूधाहारी तथा फलाहारी बनकर अपने आप को सिद्ध बताता है। कोई अन्य प्रकार से विचित्र आचरण करके अपने आप को सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है। अतएव विचित्र, बेढंगे तथा दिखावे के आचरण करके जो समाज में अपने आपको सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे वासनाओं के दास होते हैं। उनके अन्दर जगत वासनाओं के बीज होते हैं। अतएव वे मानो पुनः संसार में लौटे हुए लोग हैं।

इस साखी में संभवतः पूर्ण सिद्धि की ओर बढ़ रहे संतों को भी राय दी गयी है कि सावधानी छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि शरीर रहते वासनाओं के अंकुर पुनः पौधे बन सकते हैं।

कुछ लोग अपने आपको ऐसा ब्रह्म मानते हैं जिसके भीतर सारा जगत लीन है। वे कहते हैं "जैसे जल और जल की तरंगें, मिट्टी और मिट्टी से बने घड़े तथा स्वर्ण और उससे बने गहने एक हैं; वैसे ब्रह्म और जगत एक है। मैं ब्रह्म हूं और सारा विश्व मुझमें लीन है। जगत मुझसे अलग नहीं।" इस प्रकार धारणा रखकर वे सिद्ध बनते हैं। तो यह सिद्धि भी कच्ची है। क्योंकि जिसमें सारा जगत लीन है उससे समय आने पर जगत फूटकर निकलेगा ही। "अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस" वचन उसके लिए सटीक है, जो अपने आप को जगत से अभिन्न मानता है। वह जगत से कब मुक्त हो सकता है!

अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने आप को शुद्ध चेतन मात्र समझे, और यह समझे कि मुझ शुद्ध चेतन में जड़ जगत का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अपने आप को निराधार, असंग एवं अकेला समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो और साधना तथा आचरण में भी किसी प्रकार का दिखावा न करे तभी वह सिद्ध, मुक्त एवं माया से अतीत होकर सदैव के लिए कृतार्थ हो सकता है।

शास्त्र तथा प्रभुवचन के जाल से बचो

परदे पानी ढारिया, सन्तो करो बिचार।
शरमा शरमी पचि मुवा, काल घसीटनहार ॥२२३॥

शब्दार्थ—परदे = परदा, आधार, आड़। पानी = वाणी, बात। काल = कल्पनाएं, वासनाएं।

भावार्थ—हे सन्तो! विचार करो, जैसे कोई अपने आप को छिपाकर परदे के भीतर से पानी ढाल दे, लोगों के देखने में पानी तो बहता हुआ दिखे, परन्तु पानी ढालने वाला न दिखे, वैसे नाना मत-मजहबों के गुरुओं ने ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, आप्तपुरुष तथा शास्त्र की आड़ में अपनी बातों को जनता से मनवाने का षड्यंत्र किया है। इस कसर को जो लोग समझ भी जाते हैं उनमें भी कुछ ऐसे होते हैं जो लोक-लाज के चक्कर में पड़कर उसी अंधविश्वास के घेरे में पच-पचकर मरते हैं। उनको उनके मन की कल्पनाएं एवं वासनाएं घसीटने वाली हैं॥२२३॥

व्याख्या—ईमानदारी से धर्म और अध्यात्म के उपदेश करने वाले संसार में कम हैं। अनेक मजहबों तथा सम्प्रदायों की बहुत-सी बातें बिना सिर-पैर की हैं। उनकी बातों को न तर्क से मतलब है और न विवेक से। न उन्हें संसार के नियमों की परवाह है न विश्वसत्ता की कारण-कार्य-व्यवस्था की। वे अपनी ऊलजलूल बातें समाज से मनवाना चाहते हैं। यदि वे ईमानदार बनकर कहें कि यह हमारे विचार हैं तो उनके मानने वाले बहुत कम

हों। अतएव उन्होंने यह कहा कि जो हम कहते हैं वे बातें ईश्वर की भेजी हुई हैं। यह ईश्वर के पैगम्बर ने, ईश्वर के पुत्र ने तथा ईश्वर के अवतार ने कहा है। यह सिद्धपुरुष तथा आप्तपुरुष ने कहा है। यह शास्त्र-प्रमाण है। यह प्रभुवचन है। और इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि जो इन बातों को नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है तथा नापाक है। वह नरक की आग में जलाया जायेगा।

इस प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाले नाना मजहबों एवं सम्प्रदायों ने मानवता के साथ छल किया। उन्होंने मानव-समाज को धोखा दिया, गलत दिशा-निर्देश देकर उन्हें गुमराह किया। उन्होंने मानव के स्वतन्त्र-विचारों का वध किया। उन्होंने मानव-समाज को सब समय के लिए अपने पीछे चलने वाला पशु बना लिया। यह मजहबों का मानव के साथ घोर अपराध था। यह ठीक है कि कुछ चतुर लोगों ने अत्यन्त मूढ़ मनुष्यों को पहले शुभमार्ग में लाने के लिए ऐसा षड्यंत्र किया हो; परन्तु इससे मानव-समाज को लाभ अत्यन्त अल्प मिला; परन्तु हानि सीमातीत हुई। खुदाई सन्देश तथा प्रभु-वचन के धोखे में ही धर्म के नाम पर सहस्राब्दियों से घोर रक्तपात होते रहे। आज भी तथाकथित हर ईश्वरीय मत के मिथ्याभिमानी कठमुल्ले मुट्ठी भींजकर यही कहते हैं कि हमारी बातें ईश्वरीय हैं; और दूसरे की बातें मनुष्यों की कल्पनाएं। जबकि सबकी बातें मनुष्यों की कल्पनाएं ही हैं। मनुष्य के अलावा न कभी कोई ईश्वर या प्रभु पैदा हुआ और न आगे पैदा होने की उम्मीद की जा सकती है। इसलिए सत्य के अनुसंधाताओं को यह समझना चाहिए कि संसार की सारी बातें चाहे वे मौखिक हों या लिखित, उनके नाम वेद, बाइबिल, कुरान, पुराण हों या धर्मशास्त्र—संसार का सारा वाङ्मय मनुष्यों की देन है। अब यह विवेकी का काम है कि उनमें से सारासार का विचार करके असार को छोड़े और सार को ग्रहण करे। सत्य के इच्छुकों को न किसी की वाणी की अवहेलना करना चाहिए और न आंख मूंदकर समर्थन। उसे चाहिए कि वह सुने तथा पढ़े हुए वचनों पर विचार करे कि क्या तर्क से, युक्ति से, विश्वसत्ता के नियमों से एवं संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था से इनका तालमेल बैठता है! यदि बैठता है तो ग्राह्य है, अन्यथा त्याज्य।

परन्तु लोग शर्माशर्मी में मरते हैं। लोग भीतर से जान जाते हैं कि हमारी मान्य बातें मिथ्या हैं, ढोंग-ढकोसलों से भरी हुई दकियानूसी हैं, फिर भी वे उनका ऊपर से समर्थन करते रहते हैं। उन्हें यह लोक-लाज सताता है कि अपनी मान्य बातों को गलत कहूंगा तो संसार के लोग यही कहेंगे कि ये आज तक भटकाव में थे। इसलिए वे जिस पूंछ को पकड़ लिये हैं उसे पकड़े घसिटते जाते हैं। किसी धूर्त के बहकावे में आकर तथाकथित ईश्वर-दर्शन के लिए उन्होंने एक बार अपनी नाक कटा ली, तो नाचते और कहते जा रहे हैं कि ईश्वर दिख रहा है। ऐसे लोगों को सत्य का मोती नहीं मिलता। जो "शरमा शरमी पचि मुवा" चरितार्थ करेगा, उसे "काल घसीटनहार" होगा ही। सत्यज्ञान पाने के लिए "लोकलाज कुल की मरजादा, इहै गले की फांसी" समझकर इन्हें सर्वथा त्यागना होगा। शास्त्र, परम्परा, जनमानस, महापुरुष सबका मोह छोड़कर सत्यज्ञान मिलता है।

स्व-सत्ता ही अपना परम अस्तित्त्व है

अस्ति कहौं तो कोइ न पतीजे, बिना अस्ति का सिद्धा।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, हीरी हीरा बेधा॥२२४॥

शब्दार्थ—अस्ति = सत्ता, भाव, विद्यमानता। पतीजै = प्रतीति करना, विश्वास करना। सिद्धा = सिद्ध, प्रमाणित, परम सत्य, मुक्त। हीरी = हीरकणी, हीरे के कण। हीरा = एक बहुमूल्य रत्न जो बहुत कठोर तथा सफेद होता है।

भावार्थ—मनुष्य का आत्म-अस्तित्व सर्वथा सत्य एवं विद्यमान वस्तु है, उसकी ओर सुझाव देता हूं तो कोई उस पर विश्वास नहीं करता। लोग अत्यंत मिथ्या एवं काल्पनिक वस्तु का पक्ष लेकर सिद्ध बन रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जैसे हीरकणी हीरे को काट देती है, वैसे मनुष्य-जीव से ही उठी कल्पना उसे ही पथभ्रष्ट कर रही है॥२२४॥

व्याख्या—'अस्ति' कहते हैं होने को, विद्यमानता को, वह 'मैं' के रूप में है। 'मैं' के दो रूप होते हैं एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में जहां तक मैं का आरोप किया जाता है, वह मायिक है, और चेतन-सत्ता मात्र 'मैं' आत्मिक और परमसत्य है। यह 'मैं' ही परम सत्ता है। "अपने आप के विषय में यह किसी को संदेह नहीं होता है कि मैं हूं या नहीं हूं।"[1] मैं तो निस्संदेह हूं। सत्रहवीं शताब्दी का यूरोपीय दार्शनिक रेने डेकार्ट ने कहा है कि संदेह करना भी एक सोचना है और यदि सोचने वाला ही न हो तो कौन सोचेगा, कौन संदेह करेगा! अतएव यदि मैं किसी विषय में संदेह करता हूं तो इसका अर्थ है कि मैं सोचता हूं। "मैं सोचता हूं तो मैं हूं।"[2] सर राधाकृष्णन ने 'आत्मिक साहचर्य' में लिखा है कि पायलेट ने प्रश्न किया था कि सत्य क्या है, परन्तु जीसस ने इसका उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि एक अन्य सन्दर्भ में उन्होंने कहा था "मैं ही सत्य हूं।"

अतएव जीव ही परम विद्यमान सत्ता है, एवं मनुष्य की आत्मा ही परम अस्तित्त्व है। परन्तु यह बात लोग समझ नहीं पाते। मैं ही परम सत्य हूं, यह बात लोगों के गले ही नहीं उतरती। वे यह समझ नहीं पाते कि सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। यदि कोई सत्य मनुष्य की आत्मा से अलग है तो वह मनुष्य का अपना सत्य कभी नहीं हो सकता। मेरा काम तो मेरा सत्य देगा। अर्थात मेरा अपना सत्य ही मेरे काम का हो सकता है। बाहर के हजार देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा मेरे काम के नहीं हो सकते। मेरे काम का देवता, मेरे काम का परमात्मा तो वही हो सकता है जो मेरा अपना हो, और वह है मेरा निजस्वरूप चेतन, मेरी अपनी अन्तरात्मा। मैं बाहर के परमात्मा को पाकर भी नहीं पा सकता, और अपनी अन्तरात्मारूपी परमात्मा को छोड़कर भी नहीं छोड़ सकता। मुझे बाहर से जो कुछ मिलेगा वह मन और इन्द्रियजन्य अनुभव

---

१. न हि कश्चित् सन्दिग्धे ऽहं वा न ऽहं वा इति॥ भामती॥

२. I think therefore I am.

होगा जो पांचों विषयों का होगा। इसलिए यदि मैं परमात्मा को बाहर से पाने का भ्रम पालता हूं तो धोखे में हूं। बाहर से तो मैं जो कुछ परमात्मा के नाम पर पाऊंगा वह विषय होगा। परन्तु अपना स्वरूप पाना नहीं है। वह तो मैं ही हूं। केवल उसके विषय में भूल है, उसे मात्र याद कर लेना है और उसी दशा में स्थित हो जाना है।

लोग बिना 'अस्ति' के सिद्ध बन रहे हैं। अपनी आत्मा से अलग परमात्मा को पाकर मुक्त होना चाहते हैं। अरे, अपनी आत्मा से अलग जो कुछ प्राप्त होगा, वह माया होगी। उसमें सिद्धि न मिलकर भटकाव मिलेगा। यह तो वही दशा हुई कि हीरे से हीरकणी[1] निकलती है और उसी हीरे को काटती है। इसी प्रकार जीव ही का मानसिक भ्रम जीव को भटकाता है। जीव अपने समर्थ, सम्पन्न एवं विद्यमान स्वरूप को भूलकर अविद्यमान वस्तु की कल्पना करता है और अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने के अविवेक के समान अपने स्वरूप से पतित होता है। अतएव मन की सारी कल्पनाएं छोड़कर मुझे अपने अस्तित्त्व में स्थित होना चाहिए।

सज्जन और दुर्जन के स्वभाव

सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौ बार।
कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार॥२२५॥

शब्दार्थ—कुम्भ = घड़ा। धका = धक्का, चोट। दरार = संधि, फट जाना।

भावार्थ—सोना, सज्जन एवं साधुजन स्वभावतः कोमल होने के कारण सैकड़ों बार टूटकर भी जुट जाते हैं। परन्तु दुष्ट और कुम्हार का घड़ा, ये दोनों स्वभाव से कठोर होने के कारण एक ही चोट में सदैव के लिए फट जाते हैं और पुनः कभी नहीं मिलते॥२२५॥

व्याख्या—महाकवि कबीर ने इस साखी में सोना-सज्जन-साधुजन तथा कुजन-कुम्भ-कुम्हार कहकर कमाल के अनुप्रास अलंकार का प्रयोग किया है। साखी का भाव अत्यन्त उच्च है यह अलग बात है। सज्जन तथा साधुजन की कोमलता के लिए सोना का उदाहरण है। सोने के गहने बनते हैं। वे अनेक बार टूटते हैं तथा उन्हें गलाकर पुनः उनके अनेक बार नये-नये गहने बना लिये जाते हैं। यही बात सज्जनों एवं साधुजनों की है। उनमें कारणवश कभी-कभी मत विभिन्नता हो जाय तो वे उसे अनदेख कर समय-समय पर परस्पर मिल लेते हैं। मत की भिन्नता संसार का स्वभाव है, परन्तु इसको लेकर सज्जन तथा साधुजन मन में वैर नहीं बनाते। यदि कोई अपने मन में किसी के लिए वैर पालता है तो इससे उसकी अपनी ही हानि है। किसी के लिए भी मन में वैर पालने से मन की दशा खराब होती है। जहां मन की दशा ही खराब हो गयी वहां शांति कहां मिल सकती है!

---

१. मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें आपस में लड़ाते हैं और वे एक दूसरे को काटते हैं। इस परस्पर रगड़ में जो हीरे का चूर गिरता है उसे हीरकणी या हीरी कहते हैं। फिर इस हीरकणी से हीरे को काटते हैं। हीरा दूसरे औजार से नहीं कटता।

यदि किन्हीं सज्जन एवं संत के प्रति कोई घोर विरोध करता हो, उनकी ईर्ष्या में लगा हो, उनकी निंदा करके उनके विषय में सर्वत्र बुराई का प्रचार करता हो और हर क्षेत्र में उनके प्रति अत्यन्त द्वेषपूर्वक पेश आता हो, तो ऐसी स्थिति में भी सज्जन एवं साधुजन उससे वैर या ईर्ष्या नहीं करते। वे उससे उपेक्षा करके भले रहते हों। अर्थात उससे तटस्थ होकर न उसकी बुराई करते हों और न भलाई। परन्तु वे उससे द्वेष नहीं करते। सज्जन और साधुजन अपने घोर द्वेषी को भी सामने पाकर उससे अभिवादन कर लेते तथा कुशल-समाचार पूछ लेते हैं; क्योंकि उनके मन में उसके प्रति द्वेष रहता ही नहीं है। यह अलग बात है कि ऐसी जगह ज्यादा व्यवहार नहीं बन सकता। जहां अगली तरफ से दिल खोलकर मिलना ही न हो वहां ज्यादा व्यवहार कैसे संभव है! परन्तु सज्जन और साधु अपने मन को सदैव निर्मल रखते हैं, अतएव द्वेषी व्यक्ति के प्रति भी वे अपना मन स्वच्छ रखते हैं। जो केवल वेष से नहीं, सचमुच सज्जन तथा साधु हैं उनका मन स्वाभाविक स्वच्छ होता है। उनमें किसी के प्रति भी विकार आ नहीं सकते।

शरीर पानी का बुलबुला है। इसके फूटने में देरी नहीं लगती। फिर ऐसे क्षणभंगुर जीवन में किससे वैर किया जाय! वैर-विरोध में तो लाभ किसी का नहीं, केवल हानि है। जिस काम में अपनी ही हानि हो, समझदार आदमी उसे क्यों करेगा! परन्तु जो ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध में ही रात-दिन लगा हो, उसके व्यवहार से अपने आप को बचाना सज्जन का काम होता है। क्योंकि उससे ज्यादा व्यवहार बढ़ाने से लाभ तो होता नहीं, उलटे अशांति होती है। इसलिए सज्जन और साधुजन अपने आप को दुर्जनों से बचाकर अपने मन को सदैव सबके प्रति स्वच्छ रखते हैं।

यहां पहली पंक्ति का भाव यह है कि यदि दोनों तरफ से सज्जन-सज्जन तथा साधु-साधु स्वभाव के लोग हैं, तो पहली बात वहां आपस में खटपट होगी ही नहीं। यदि कभी खटपट होती है तो किसी तरफ से कुछ गलतफहमी है, और वे उसे आपस में समझकर देर-सबेर सुधार लेते हैं। जहां दोनों तरफ से सज्जनता एवं साधुता है, वहां कोई गलतफहमी ज्यादा समय तक रह ही नहीं सकती। कहीं-कहीं देखा जाता है कि दोनों तरफ सज्जन एवं भक्त हैं तथा दोनों तरफ त्यागी-वैरागी साधु हैं, परन्तु वे जीवनभर आपस में भिड़े वैर-विरोध में कमाल दिखाते रहते हैं। तो इसमें कारण यह है कि उनके जीवन में कई प्रकार के सदाचार अवश्य हैं; परन्तु उनमें भौतिक स्वार्थ एवं अहंकार भावना की प्रबलता है। अतएव वे आपस में जीवनभर परस्पर लड़ते रहते या वैर बांधे रहते हैं। जब तक स्वार्थ तथा अहंकार का भ्रम नहीं टूटता तब तक कोमलता आ ही नहीं सकती है। कितने लोग ऐसे होते हैं जो कई अंशों में कट्टर त्यागी होते हैं, परन्तु कई अंशों में इतने कमजोर होते हैं कि वे जीवनभर उलझे रहते हैं। अपनी इन कमजोरियों के कारण कई सज्जन एवं साधु कहलाने वाले लोग भी राग-द्वेष में उलझे होने के कारण समाज के लिए बिगड़ी घड़ी बने रहते हैं। विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों कथित ब्रह्मज्ञानी एवं तपस्वी पुरुष थे, परन्तु दोनों एक दूसरे को उखाड़ने के चक्कर में पड़े रहे। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के पुत्रों की हत्या की तथा उनके आश्रम को आग में समर्पित कर दिया और वसिष्ठ ने विश्वामित्र के सौ पुत्रों की हत्या की और इतना ही नहीं, वे पहल, यवन, कम्बोज, बर्बर,

म्लेक्ष, हारीत, किरात आदि को अपना सहयोगी बनाकर विश्वामित्र को उच्छिन्न करने में लग गये।[1]

यदि सचमुच दोनों तरफ से सज्जन एवं साधु पुरुष हैं तो वे आपस में सौ बार भी टूटकर जुट जायेंगे। वैसे वे सौ बार टूटेंगे ही नहीं। "टूटि जुरैं सौ बार" तो एक मुहावरा जैसा है। सौ बार टूटकर जुटने का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। अर्थात सज्जन अनेक बार भी टूटकर जुट जाते हैं। एक तरफ सचमुच सज्जन एवं साधु हैं और दूसरी तरफ सज्जन तथा साधुवेष में क्रूर संस्कार वाले हैं, तो सज्जन पुरुष अपनी ओर से नम्र ही रह कर बरताव करते हैं। वे कभी क्रूर नहीं बनते। सोना अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं सकता। वह असंख्य बार टूटकर जुटता रहेगा। इसी प्रकार सज्जन एवं साधुजन भी अपना निर्मल स्वभाव नहीं छोड़ सकते। उनमें चाहे जितना विमत हो, परन्तु वे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा मधुर व्यवहार बनाये रखते हैं। सज्जन और साधुजन कोई घटिया काम अपने विरोधी के प्रति भी नहीं कर सकते।

"कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार" सज्जन एवं साधुजन के बिलकुल उलटे होते हैं कुजन एवं दुष्टजन। इनके लिए कुम्हार के बनाये मिट्टी के घड़े का उदाहरण उपयुक्त है। मिट्टी के घड़े में यदि एक बार धक्का लग जाय तो वह टूट जाता है और पुनः कभी नहीं जुड़ता। दुर्जन का स्वभाव ऐसा होता है। यदि वे एक बार टकरा गये तो जीवनभर के लिए वैर बांध लेते हैं। कितने लोग एक बार कुछ फरक पड़ जाने पर सदा के लिए टूट जाते हैं और दूसरे से न बोलने या दूसरे अमुक के दरवाजे पर न जाने का वीभत्स शपथ खा लेते हैं। वे मरते समय अपने बच्चों से भी कहे जाते हैं कि अमुक मेरा शत्रु है। उससे सम्बन्ध न रखना। बन सके तो उससे बदला लेना। दुष्ट का वैर तो पत्थर की लकीर होता है जो कभी न मिटने वाला होता है, मध्यम व्यक्ति का वैर बालू की लकीर होता है जो कुछ ही समय में मिट जाता है, परन्तु सज्जन का वैर पानी की लकीर होता है। पानी में लकीर इधर पारो और वह उधर मिट जाती है। इसी प्रकार किसी के दुर्व्यवहार से यदि सज्जन के मन में कुछ मलिनता आती है तो वह तुरन्त मिट जाती है।

दुर्जन भयंकर होता है। वह मिलना जानता ही नहीं। एक बार गांठ बांध ली तो बांध ली, वैर बना लिया तो बना लिया। वह वैर-विरोध की भावना में निरन्तर जलता है और दूसरों को जलाने का प्रयत्न करता है। ऐसा दुर्व्यवहार संसार में जगह-जगह देखा जा सकता है। न उन्हें यह ख्याल है कि आजकल में हमें संसार छोड़कर जाना है और न यह ख्याल है कि मानव जीवन का ऐसा सुनहला अवसर राग-द्वेष की आग में जल-जलाकर हम क्यों बरबाद करें! ऐसे लोगों के जीवन में केवल अहंकार की आग होती है। वे अपने आप को बहुत योग्य समझते हैं। परन्तु अहंकार तथा राग-द्वेष की आग में जलने के अलावा उनको अन्य कोई चारा नहीं है। उनके जीवन में शांति का कोई अवसर ही नहीं आता। स्वयं राग-द्वेष में जलते रहें और दूसरे को जलाने का प्रयास करते रहें यही मानो उनकी नियति है।

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग ५३-५५।

मलिनता से मुक्त होने में मनुष्य समर्थ है

काजर केरी कोठरी, बुड़ता है संसार।
बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार॥२२६॥

शब्दार्थ—बलिहारी = निछावर, कुर्बान।

भावार्थ—इस संसार में आकर मानो हर आदमी माया के कुंड में डूबता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस व्यक्ति पर निछावर हूं जो इसमें डूबकर भी इससे निकल जाता है॥२२६॥

व्याख्या—जीव शरीर धारण करता है, जन्म लेता है और धीरे-धीरे संसार के विषय-विकार उसको लगते जाते हैं। दिन जितने बीतते हैं, वह निरन्तर माया में डूबता जाता है। बालक, किशोर, जवान, अधेड़ तथा वृद्ध जो भी उसे मिलते हैं, वे प्रायः दुर्व्यसन, विषय-वासना एवं मोह के पाठ पढ़ाते हैं, उसे नये-नये दुर्गुण और बुराइयां सिखाते हैं। इस संसार में प्रवेश करना क्या है मानो घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। आप जिधर निकलिए मन को खराब करने वाली आवाज सुनेंगे, चीजें तथा व्यवहार देखेंगे। अधिकतम आदमी तमोगुण एवं रजोगुण में डूबे हैं। उनकी संगत का प्रभाव वही होना है। गलत लड़कों की संगत में पड़कर कितने सज्जन लड़के खराब आचरण के हो जाते हैं। जीव के साथ में अनादि अभ्यस्त विषयों की वासनाएं एवं संस्कार हैं। देह धारण करते ही वे उठने लगते हैं। इस प्रकार जीव के साथ में अनादि वासनाएं हैं, देह, इन्द्रिय और मन हैं, बाहर विषयों का गरम बाजार है, विषयों का पाठ पढ़ाने वाले नर-नारी हैं। इस प्रकार जीव को सब तरफ से विषय-वासनाओं में डुबाने वाले साधन हैं। अतएव देह धारण करते ही जीव मानो काजल की कोठरी में डूब जाता है। अर्थात माया के कुंड में गिर पड़ता है।

परन्तु "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।" उस नर या नारी की प्रशंसा है जो इस काजल की कोठरी संसार-शरीर में आकर इसके दोषों से निकल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस पर अपने आपको निछावर करता हूं, मैं उस पर कुर्बान हूं जो कालिख भरे संसार में आकर अपने आपको इससे निकाल लेता है। "बलिहारी तेहि पुरुष की" में 'पुरुष' शब्द स्त्री-पुरुष वाला 'पुरुष' नहीं है, किन्तु 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में सोता है वह चेतन पुरुष है। शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, वह तो भौतिक है। परन्तु दोनों के भीतर एक समान चेतन पुरुष निवास करता है। अतएव नर के शरीर में जैसे चेतनपुरुष निवास करता है, वैसे नारी के शरीर में भी चेतनपुरुष निवास करता है। अतः नर हो या नारी, जिन्होंने अपने आप को इस घोर संसार से निकाल लिया है, वह धन्य है।

भूल हो जाना, भटक जाना, गलती हो जाना, तो सहज बात है। इसको लेकर किसी को नीची दृष्टि से न देखो। क्या दीवार भूल कर सकती है! क्या पेड़-पौधे, क्या पत्थर, तृण भूल कर सकते हैं! वे भूल नहीं करते। तो क्या तुम भी उन सरीखे बेजान होना

चाहोगे! तुम मनुष्य हो, जानदार प्राणी हो और मनुष्येतर प्राणियों से भी श्रेष्ठ हो। तुम ज्यादा समझते हो। इसलिए तुम भटक भी सकते हो और सुपथ पर लग भी सकते हो। हे मानव, तू इस भव का भूषण है। तेरे समान केवल तू है। मानव की तुलना में केवल मानव है। परन्तु वह चारों तरफ से विषयों के संस्कारों से जकड़ा है। उसे विषयों की ओर ठेलने के लिए जड़-चेतन सृष्टि तैयार है। इसलिए यदि वह कहीं फिसल गया तो बड़ी बात नहीं हो गयी। उसकी विशेषता है कि वह इस कीचड़ से निकल सकता है। जो इस कीचड़ से अपने आप को निकाल ले वह परमपूज्य है। घोर अविद्या, स्वार्थ, अहंकार, विषय-वासना—इन सब काले कज्जलों के भयंकर कुंड से जो अपने आप को निकाल लेता है कबीरदेव उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वे उस पर अपने आप को निछावर करते हैं। यह उनकी दीर्घदृष्टि और हृदयविशालता है।

काजर ही की कोठरी, काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रहा सो ओटहि ओट॥२२७॥

शब्दार्थ—काजर = काजल, कज्जल, माया, विकार। कोठरी = शरीर। कोट = किला, संसार। तोंदी = नाभि, पेट, मन, हाथ की उंगलियों के अग्रभाग। ओट = आधार, आड़ा, सत्संग-साधना का सहारा।

भावार्थ—यह शरीर मानो मलिनता की कोठरी तथा संसार मलिनता का किला है। परन्तु इनसे निकलने वाला पुरुष सत्संग तथा साधना का सहारा लेकर रहता है, इसलिए शरीर तथा संसार में रहते हुए भी उसका मन मैला नहीं होता॥२२७॥

व्याख्या—कुशल वक्ता और कवि संत कबीर ज्वलंत उदाहरण देकर हमें समझाते हैं। वे कहते हैं कि मानो एक किला हो जो कज्जल से भरा हो, इसलिए उसकी सारी कोठरियां कज्जल से ओतप्रोत हों। एक ऐसा व्यक्ति उसमें रहता हो जो इतना सावधान हो कि उसकी उंगलियों के अग्रभाग भी काले न होते हों, तो यह उसकी प्रशंसा है। इसी प्रकार इस कालिख भरे शरीर और संसार में रहकर जिसका मन मलिन न हो वह प्रशंसा का भाजन है।

इस साखी में 'तोंदी' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। तोंदी के दो मुख्य अर्थ हैं। तोंदी हाथ की उंगलियों के अग्रभाग को कहते हैं और पेट में स्थित नाभि को भी कहते हैं, इसका सामान्य अर्थ पेट भी है। पेट से अर्थ मन है। गांव के लोग किसी का मन मैला देखकर कहते हैं कि भैया, वे बात चाहे जितनी साफ करें, परन्तु उनका पेट काला है। इसका अर्थ यही है कि उनका मन मैला है। उदाहरण में तोंदी का अर्थ हाथ की उंगलियों के अग्रभाग हैं तथा सिद्धांत में मन है। कज्जल भरी कोठरी तथा किला में रहकर भी इतनी सावधानी बरती जाय कि हाथ की उंगलियों के अग्रभाग भी मैले न हों, तो उसकी सावधानी का फल है। इसी प्रकार मलिनता भरे शरीर और संसार में रहकर ऐसी सावधानी बरती जाय कि मन मैला न हो, तो यह उस व्यक्ति की परम जागरूकता का फल है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा साधक "रहा सो ओटहि ओट" आड़ा, आधार एवं सहारा लेकर रहता है। सज्जनों एवं संतों की संगत, सद्ग्रंथों का स्वाध्याय, चिंतन,

विवेक, ध्यान, समाधि और निरन्तर सावधानी, जो इन सबका सहारा लेकर रहता है, उसका मन मलिन नहीं होता।

मन-माया से सावधान वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर इस साखी में मुख्य दो बातें बताते हैं—माया की प्रबलता तथा उससे बचने के सबल साधन। वे कहते हैं कि यह सच है कि शरीर तथा संसार कज्जल की कोठरी एवं किला के समान मलिनता के प्रबल कारण हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि उनसे बेदाग बचने के लिए सबल साधन हैं; और जो उनका आधार लेकर जीवनभर रहता है, वह निर्मल जीवन व्यतीत करता है। जो सत्संग एवं साधना का ओट न लेगा, सहारा न लेगा, आधार न लेगा, वह संसार-सागर में डूब जायेगा। माया की प्रबलता प्रत्यक्ष है। जो असावधानी बरतेगा, कुसंग करेगा और सत्संग तथा साधना का त्याग करेगा, उसके फिसलने में देरी नहीं लगेगी। परन्तु जो अच्छी संगत का आधार लेगा, सत्संग में रमेगा, सद्ग्रन्थों का सदैव स्वाध्याय करेगा, सेवापरायण होगा, समय-समय से ध्यान और समाधि का अभ्यास करेगा, मन-इन्द्रियों तथा संसार के माया-जाल से सावधान रहेगा, निजस्वरूप का विवेक तथा चिंतन करेगा और इस प्रकार जो अपने सारे समय एवं जीवन के प्रत्येक क्षण को पर-सेवा तथा निज-संयम में लगायेगा वह मोह-माया में नहीं भूलेगा। उसका मन विकारग्रस्त नहीं होगा। इस संसार में मलिनता के अवश्य कारण हैं, परन्तु उससे बचे रहने के लिए भी प्रबल अवलम्ब हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह सत्संग तथा साधना का अवलम्ब लेकर निर्मल जीवन व्यतीत करे। स्वरूपबोध पूर्वक सर्वथा निर्दोषता की स्थिति ही दुखों से परे मोक्षावस्था है। निर्मल मन ही परम शांति का भंडार होता है।

भक्ति की सर्वोच्चता

अर्ब-खर्ब ले दर्ब है, उदय-अस्त लों राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सब कौने काज॥२२८॥

शब्दार्थ—महातम = माहात्म्य, विशेषता।

भावार्थ—अर्ब से खर्ब तक धन हो और सारे भूमंडल पर राज्य हो, परन्तु ये सब भक्ति के महत्व की तुलना में नहीं तुल सकते, क्योंकि ये सब जीव का क्या कल्याण कर सकते हैं! ॥२२८॥

व्याख्या—संसार का अतुल धन, राज्य, शासन, परिवार, समाज तथा अन्य सांसारिक ऐश्वर्य जीव को शांति-सुख एवं अनंत-सुख नहीं दे सकते। परन्तु भक्ति मानव के कल्याण का परम शम्बल है। भक्तिविहीन आदमी संसार के सारे भोगों को पाने के बाद भी अन्दर से सूना-सूना रहता है। शरीर की रक्षा के लिए दो-चार रोटियां एवं दो-चार कपड़े यही मानो धन है, शेष धन वही सार्थक है जो दूसरे की सेवा में लग सके। पर-सेवारहित बहुत धन-दौलत तो एक मानसिक रोग है, जो केवल पीड़ा का कारण है। धन कमाना तथा उसकी रक्षा करना बहुत लोग जानते हैं; परन्तु उसका अच्छा उपयोग करना कम लोग

जानते हैं। दूसरे की सेवा में लगना ही धन का सदुपयोग है और यह बहुत कम लोग कर पाते हैं। इसलिए अधिकतम धनी लोग मन की अशांति में ही जीवन व्यतीत करते हैं।

"अब खर्ब ले दर्ब है" का अभिप्राय है अधिकतम धन, और "उदय अस्त लों राज" का अर्थ है पूरी पृथ्वी पर शासन। इन सबका अपना महत्त्व है। धन और शासन से जनता की सेवा करना धनी और राजा का काम है। एक वस्तु के कई पहल होते हैं, इसलिए उनके अध्ययन के हर पहल के अलग-अलग विषय होते हैं। जैसे शरीर का आंगिक अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन तथा अन्य भी अध्ययन के बहुत विषय हैं; वैसे धन और राज्य के भी कई पहलू हैं और उन्हें अनेक दृष्टियों से देखा जाता है। धन और राज्य के अपने अच्छे उपयोग हैं, यह सब ठीक है, परन्तु प्रश्न है कि क्या ये भक्तिविहीन मनुष्य को आत्मशांति दे सकते हैं! उत्तर साफ है कि ये आत्मशांति के कारण नहीं हो सकते। इस साखी का भाव है कि चाहे तुम्हारे पास अतुल-धन हो और विशाल राज्य हो, परन्तु तुम यदि भक्तिविहीन हो तो सफल जीवन नहीं हो।

अब प्रश्न उठता है कि भक्ति किसे कहते हैं! विद्वान लोग भक्ति के अर्थ सेवा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति अनुराग, श्रद्धा, विभाग[1] आदि करते हैं। इस प्रकार भक्ति का पहला अर्थ है 'सेवा'। सेवा जानदार की ही की जा सकती है। बेजान वस्तुओं की सेवा भी इसलिए की जाती है कि उनसे जानदार की सेवा हो सके। जैसे मकान, मशीन, वस्त्र, पुस्तकें आदि नाना जड़ वस्तुओं को इसलिए संवारा-सुधारा, स्वच्छ और सुरक्षित रखा जाता है कि इनसे जानदार की सेवा की जा सके। पत्थर आदि जड़मूर्तियों तथा शून्य को भगवान-ईश्वर मानकर जो लोगों-द्वारा उसकी सेवा करने का टोटका किया जाता है, उसमें भी जानदार की आत्मशांति ही हेतु होता है। यह अलग बात है कि उसमें कितनी शांति मिलती है। वस्तुतः प्राणियों का समूह सच्चा भगवान है और उसकी सेवा करना ही धन और राज्य का अच्छा उपयोग है। यदि प्राणि-सेवाविहीन धन और राज्य हैं तो वे निरर्थक ही नहीं, अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं।

भक्ति का दूसरा अर्थ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है सत्य के प्रति अनुराग। हर व्यक्ति का अपना परम सत्य है अपनी चेतनात्मा, अपना चेतनस्वरूप। अतः जिसके साहचर्य एवं सहायता से इस कार्य में बल मिले उन संत पुरुषों के प्रति अनुराग भी भक्ति है। इसलिए स्वामी शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है "स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते" अर्थात स्व-स्वरूप का अनुसंधान भक्ति कहलाती है। इसके लिए "पूज्येष्वनुरागो भक्तिः" अर्थात पूज्य के प्रति अनुराग होना भक्ति है। आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए पूज्य वही हो सकता है, जिसका जीवन निर्मल हो और जो अपने सत्यस्वरूप में स्थित हो। क्योंकि उसी के उत्तम आदर्श से उसे अपने स्वरूपानुसंधान एवं स्वरूपस्थिति में सहायता मिल सकती है। अतएव हम इस ढंग से भी कह सकते हैं कि प्राणियों की सेवा करना तथा पूज्य सन्त एवं गुरु की सेवा करना तथा उनके प्रति अनुराग रखना ही मानो सगुण भगवान की भक्ति है। प्राणिमात्र सगुण भगवान है और उनमें पवित्रात्मा बोधवान

१. बृहत् हिंदी कोश।

सन्त-गुरु सगुण भगवान के पूर्ण स्वरूप हैं। उनकी सेवा से ही अन्तःकरण स्वच्छ होकर स्व-स्वरूपानुसंधान रूपी परा भक्ति की जा सकती है। पूज्य एवं सद्गुरु के प्रति भक्ति को हम 'अपरा' भक्ति कह सकते हैं। अपरा का अर्थ ही है जो पार न गयी हो। जो सांसारिक परदे के भीतर ही हो; और स्व-स्वरूपानुसंधान अर्थात स्वरूपस्थिति को हम 'परा' भक्ति कह सकते हैं। परा का अर्थ यहां श्रेष्ठतम है। जो माया एवं प्रकृति के परदे से पार हो गयी हो वह परा भक्ति है।

सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। बाहर का सत्य मेरा अपना सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि बाहर की चीजें मिलकर छूट जाती हैं। मेरा अपना सत्य मेरा अपना स्वरूप है। मेरा स्वरूप केवल चेतन है। अतएव जब तक हम यह नहीं समझते कि मेरा परम निधान, परम आश्रय एवं परम केन्द्र मेरी अपनी आत्मा ही है, मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है, तब तक हम बाहरी उलझनों से छुट्टी नहीं पा सकते। भक्ति का फल अनन्त शांति एवं मुक्ति है और वह तभी हो सकती है जब अपने सत्य स्वरूप को समझकर उसी में अनन्य अनुराग हो जाय। अतएव स्व-स्वरूप की सच्ची समझ और स्व-स्वरूप के प्रति अनन्य अनुराग ही परा भक्ति है। इन सब की उपलब्धि के लिए बोधवान-वैराग्यवान सन्त-गुरु के प्रति अनुराग, उनकी सेवा, उनकी आज्ञाकारितारूपी भक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति का अर्थ श्रद्धा भी है। श्रद्धा दो पदों का मेल है—श्रत्+धा, श्रत् का अर्थ सत्य है और 'धा' का अर्थ धारण करना है। सत्य का धारण करना ही श्रद्धा है। किसी भी व्यक्ति के लिए सत्य उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतना है। अतएव अपने चेतनस्वरूप में निष्ठा तथा स्थिति ही श्रद्धा है और यही भक्ति है। भक्ति का अन्तिम अर्थ विभाग है, अलग हो जाना है। अतएव सारे जड़ दृश्यों से अपने आप को अलग कर लेना ही सच्ची भक्ति है। नीर-क्षीर का विवेक करके अपने स्वरूप को मन-माया से अलग कर लेना ही भक्ति है।

उक्त साखी का सार अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य ने अतुल धन पाया और पूरे भूमंडल का राज्य पाया, तो वह क्या पाया यदि उसने भक्ति नहीं पायी, अर्थात अपने आप को नहीं पाया। धन और राज्य एक दिन छूट जाते हैं, परन्तु अपनी आत्मा अपने आप से कभी नहीं बिछुड़ती। इसलिए स्वरूपज्ञान, स्वरूपनिष्ठा एवं स्वरूपस्थिति रूपी भक्ति की तुलना में अतुल धन तथा विश्व का राज्य तुच्छ है। इस सन्दर्भ में महात्मा ईसा की याद आती है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य ने सारे संसार को पाया तो क्या पाया, यदि उसने अपने आप को खो दिया।

कबीर साहेब धर्म और अध्यात्मक्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले सारे जाल को अस्वीकारते हैं, परन्तु सकारात्मक पक्ष की रक्षा करते हुए। वे गुरु और भक्ति के महत्त्व को जानते हैं। इसलिए वे उनकी प्रशंसा करते हैं। वे गुरु और भक्ति के तात्विक स्वरूप को उपस्थित करते हैं, उनके विषय में चलने वाली भावुकता को नहीं। सद्गुरु ने उक्त साखी में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन किया, तो उन्हें

मानो यह भी याद आया कि लोग भक्ति के नाम पर भटकते भी हैं। वे गुरुनामधारी अविवेकियों के हाथों में पड़कर दुख उठाते हैं। वे भ्रामक गुरुओं-द्वारा मिथ्या प्रलोभनों में फंसाये जाते हैं। इसलिए सद्गुरु आगे तीन साखियों में धीमर और मछलियों का सुन्दर रूपक देकर क्रमशः भ्रामक-गुरुओं और भटके हुए भक्तों का मार्मिक चित्रण करते हैं। देखें—

सच्ची भक्ति के विघ्न

मच्छ बिकाने सब चले, धीमर के दरबार।
अँखिया तेरी रतनारी, तू क्यों पहिरा जार॥२२९॥
पानी भीतर घर किया, सेज्या किया पतार।
पासा परा करीम का, तब मैं पहिरा जार॥२३०॥
मच्छ होय नहिं बाँचिहो, धीमर तेरो काल।
जेहि-जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल॥२३१॥

शब्दार्थ—मच्छ = मछली, तात्पर्य में दीन मनुष्य। धीमर = मछुआरा, मछली मारने वाला, तात्पर्य में भ्रामक गुरु। रतनारी = लाल। जार = जाल। पानी = पानी, वाणी। पासा = फंदा, बंधन। करीम = कृपालु। डाबर = गड्ढा, मतमतांतरवाद। मेले = फेंकना, डालना, फंसाना।

रूपक—सब मछलियां जाल में फंसकर मछुआरे के दरबार में बिकने चलीं। इतने में कोई उनका सावधान हितचिंतक उन्हें मिला और उनसे पूछा "तुम्हारी आंखें लाल-लाल और स्वच्छ हैं, फिर तुमने क्यों अंधों-सरीखे जाल पहन लिया है?" मछलियों ने कहा—'हमने पानी के भीतर अपने रहने का स्थान बनाया था और सोने की शय्या तो पाताल में—बहुत गहरे में बना रखी थी। परन्तु हमारे ऊपर करीम नाम के मछुआरे के जाल का फंदा पड़ गया, तब हमें जाल पहन लेना पड़ा।" मछलियों के हितचिंतक ने कहा—"तुम दीन मछली बनकर मछुआरे के जाल से नहीं बच सकती, क्योंकि वह तुम्हें मारने वाला तुम्हारा काल है। तुम जिस-जिस गड्ढे में घूमोगी, वह वहीं-वहीं तुम्हें फंसाने के लिए तुम्हारे ऊपर जाल डाल देगा।"

भावार्थ—सब भावुक मनुष्य भक्ति की महिमा सुन और वाणियों के मोहक जाल में फंसकर गुरुओं के दरबार में बिकने चले। सद्गुरु कहते हैं "हे मनुष्य! तू तो स्वच्छ विवेक-नेत्रों वाला प्राणी है। तू भक्ति की झूठी महिमा के जाल में क्यों फंस गया?" भावुक भक्तों ने कहा—"हमने गुरु महाराज की वाणियों में अपना मन बसाया और उनके आदेशों की गहराई में जाकर लीन हुए। इस प्रकार कृपालु गुरुदेव या भगवान का हमारे ऊपर कृपा का फंदा पड़ गया और हमने जाल पहन लिया।" सद्गुरु कहते हैं "तुम भावुक और दीन बनकर गुरुओं के जाल से नहीं बच सकते हो। ये भ्रामक गुरु तुम्हें फंसाने वाले काल हैं। तुम जिस किसी मत-मतांतर के गड्ढे में पहुंचोगे, वहीं उनके द्वारा फंसा लिये जाओगे" ॥२२९-२३०-२३१॥

व्याख्या—कबीर की पंक्ति-पंक्ति में कितनी आग है यह विचार करने पर पता चलता है। वे धर्म और भक्ति के नाम पर चलने वाले कूड़े-कचड़े को एकदम जला देना चाहते थे। वे भक्ति, धर्म तथा गुरु के समर्थक ही नहीं, उन्हें मानने वाले तथा महान धर्मप्राण एवं अध्यात्मप्रवण थे, परन्तु इनके नाम पर मनुष्यों को बहकाया जाना उन्हें बहुत खलता था। वे सबके सत्य स्वरूप के पक्षधर थे।

गुरु या सद्गुरु का महत्त्व सर्वोच्च है। परन्तु गुरु नाम धरा कर समाज को बेवकूफ बनाने वालों की पांचों उंगलियां सदैव घी में रही हैं। कबीर साहेब के समय में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। इसलिए उन्हें यह सब देखकर कष्ट हुआ था और उन्होंने अपने विदग्धात्मक भाव अपनी वाणियों में उड़ेल दिये थे। जिनके आचरण पवित्र नहीं हैं, जो कामादि विकारों के शिकार हैं, जो राग-द्वेषादि मलिनताओं में लिपटे हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं है, जो भ्रांतियों में आकंठ डूबे हैं, ऐसे लोग गुरु या सद्गुरु बनकर जगत के लोगों को तारने की ठेकेदारी लेते घूमते हैं तो समाज का कैसे कल्याण होगा! इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धूर्त अपने आपको किसी तथाकथित भगवान या अमुक महापुरुष का अवतार घोषित करते हैं, आनन-फानन में ईश्वर-दर्शन का झांसा देते हैं जो एक जालसाजी है। चुटकी बजाते मुक्ति देते हैं। इतना ही क्या, वे पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय तथा संसार की सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झूठा प्रलोभन देते हैं और समाज को पथभ्रष्ट करते हैं। संसार के अधिकतम मनुष्य सांसारिक चीजों के लोभी हैं। धूर्त गुरु उनकी कमजोरियों को जानते हैं और सांसारिक चीजों के मिलने का प्रलोभन देकर उन्हें फंसाते हैं। हर मनुष्य को अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से संसार की चीजें समय-समय पर मिलती रहती हैं। इसी प्रकार भावुक-भक्तों को भी अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से ही कोई उपलब्धि होती है, परन्तु इसे वे उन भ्रामक गुरुओं की कृपा का फल मान लेते हैं और इसका वे दूसरे में भी प्रचार करते हैं। इस प्रकार गुरुडम चलता रहता है।

धार्मिक क्षेत्र में सबसे बड़ा प्रलोभन है ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष-प्राप्ति का। ईश्वर-दर्शन एक छलावा है। जिसके भी आंखों से दर्शन होते हैं या मन से जिसकी कल्पना होती है वह सब भौतिक पदार्थ या भावना है। मनुष्य की आत्मा से अलग कोई ईश्वर नहीं है जिसके दर्शन उसे मिल सकते हों। परंतु ईश्वर-दर्शन का भ्रम सहस्राब्दियों से चला आया है। आदमी कोई अवधारणा बना लेता है। जब उस अवधारणा में उसके मन का अत्यन्त अनुराग हो जाता है, तब वह उसे अपने मन में देखता रहता है। उसे समय-समय से ऐसा भी लगता है कि मानो वह उसे प्रत्यक्ष मिलता है। भावुक भक्तों को अपने मन में बुद्ध, महावीर, ईसा, राम, कृष्ण, कबीर आदि के दर्शन होते रहते हैं। वे उन्हें प्रत्यक्ष भी देखने का भ्रम करते रहते हैं। किसी भावुक को यदि कोई पत्थर की मूर्ति मुसकराती हुई दिखे तो यह आश्चर्य नहीं है। क्योंकि अधिक भावना में ऐसे मानसिक भ्रम का होना सहज बात है। सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की कल्पना करने वालों को बादल की बिजली की चमक में उसकी मुसकराहटें, हवा में उसके श्वसन, समुद्र की लहरों में उसके हाथ पटकने की क्रिया, वन-वनस्पतियों में उसके बालों को देखना सहज बात है। स्वामी रामतीर्थ जैसे पुरुष भावुक होकर नदियों, बादलों एवं वनों की श्यामता में कृष्ण को देखने का भ्रम

करके उन्हें पुकारते रहते थे। उदाहरण प्रत्यक्ष है कि कामियों को हर तरफ अपनी प्रेयसी दिखाई देती है, अति लोभियों को हर तरफ रुपये और अति मोहियों को अपने प्रियतम दिखते हैं। आदमी जिस व्यक्ति, वस्तु और अवधारणा में अपनी तदाकारता एवं तन्मयता कर लेता है, उसके मन में वे सदैव छाये रहते हैं। यही मानो उसका उनके दर्शन करना है। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने ईश्वर की जैसी कल्पना गढ़ रखी है, वह वैसे ईश्वर को अपने मानस-चक्षु में सब समय या समय-समय से देखता रहता है। इन सबका अर्थ यही हुआ कि ईश्वर-दर्शन का अर्थ है अपने मन और इन्द्रियों के विकारों के दर्शन। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर-दर्शन कुछ नहीं है। परन्तु भ्रामक गुरु भावुक भक्तों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर उन्हें अपने जाल में फंसाते रहते हैं। कोई आंख की गरमी और प्रकाश को ईश्वर-दर्शन बताता है, तो कोई अनाहतनाद के नाम पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकार को, तो कोई अन्य चमक-दमक एवं अवधारणा को ईश्वर-दर्शन बताता है। कोई तो शून्य को ईश्वर बताकर कहता है कि लो, मैंने तुम्हें ईश्वर के दर्शन करा दिये।

दूसरी बात है मोक्ष-प्राप्ति की। मोक्ष जीव से अलग कोई वस्तु नहीं जो उसकी प्राप्ति करना हो और कोई उसे दे सके। मोक्ष तो है मन के मोह का क्षय। जब इन्द्रियां अपने वश में हो गयीं और मन प्रशांत हो गया, बस यही मोक्ष है। इसे दूसरा कोई नहीं दे सकता, किन्तु व्यक्ति के अपने विवेक-वैराग्य एवं साधना का फल है। इसमें योग्य गुरु सहायक होता है। धूर्त गुरु तो इसमें बाधक बनेगा।

धूर्त गुरुओं के वाक्य-जाल में फंसकर भावुक भक्त लोग उनके दरबार में बिकने चले, तो कबीर साहेब ने उन्हें टोका—अरे विवेक-नेत्रों वाले मानव! तुम अंधे सरीखे कैसे जाल में फंस रहे हो। ये ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, मोक्ष देने वाले तथा ईश्वर-दर्शन कराने वाले धूर्त गुरुओं के जाल में तुम क्यों फंस रहे हो! ये सिद्ध तथा अवतार बने भ्रामक लोग तुम्हें कुछ देने की शक्ति नहीं रखते हैं। यदि ये तुम्हें कुछ देंगे तो धोखा और छलावा। सदाचार और अच्छी बातों के उपदेश वे भी करते हैं और वे अपने जीवन में भी इनका दिखावा करते हैं। क्योंकि यही तो विश्वास उत्पन्न कराने का साधन है। परंतु उनकी पोलपट्टी तब खुल जाती है जब वे अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं और अपनी कृपा से भक्तों को भोग तथा मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। अतः हे मूलतः विवेक-प्रधान मानव! तुम ऐसे भ्रामकों के जाल में क्यों फंस रहे हो!

भावुक भक्त कहते हैं 'हे महाराज! हमने गुरु और भगवान के वचन सुने। उनकी बातें हमारे मन में बस गयीं। पीछे हम उन्हीं में लीन हो गये। दयालु गुरु एवं कृपालु भगवान ने मानो हमारे ऊपर अपने फंदे डालकर हमें फंसा लिया है। अब हमने अपने आप को उन्हीं के अधीन कर दिया है। हमारे गुरु जैसे भी हैं हम उनको भगवान मानते हैं। यदि वे कामी हैं तो कृष्ण हैं, मोही हैं तो राम हैं, लोभी हैं तो वामन हैं, क्रोधी हैं तो परशुराम हैं। गुरु जैसे भी हों वे त्यागने योग्य नहीं होते। वे सदैव पूज्य एवं आराध्य होते हैं।

कबीर साहेब ने कहा—हे मनुष्य ! तुम दीन बनकर अपनी मानवता एवं अपने सत्य स्वरूप में नहीं प्रतिष्ठित हो सकते। तुम बिना कर्म किये, केवल गिड़गिड़ाकर और भीख मांगकर जो भोग और मोक्ष चाहते हो यह तुम्हारी गहरी भूल है। तुम्हारे पुरुषार्थ एवं श्रम के बिना कोई गुरु तुम्हें कुछ नहीं दे सकता। विवेक तथा रहनी संपन्न गुरु के उच्चादर्श तथा उपदेश साधक को प्रेरित करते हैं। उसे श्रम तो स्वयं ही करना पड़ता है। यदि कोई सिद्ध या भगवान बनकर तुम्हें छूमंतर से भोग और मोक्ष देने की बात करता है तो वह धूर्त है। ऐसे लोग तुम्हारे काल हैं, तुम्हारे पथभ्रष्टक हैं। तुम इस प्रकार की बातें करने वालों के संप्रदायरूपी गड्ढे में गिरोगे तो वहीं फंसोगे "जेहि जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल।" तर्क, विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के विरुद्ध जहां तक बातें की जाती हैं सब जालसाजियां हैं। उनमें पड़ने से मनुष्य का भटक जाना सहज है। अतएव भक्ति की महिमा के जोश में जाल में न फंसो। सत्य में श्रद्धा ही भक्ति है।

अदृश्य बन्धनों की प्रबलता

बिन रसरी गर सकलो बन्धा, तासो बँधा अलेख।
दीन्हा दर्पण हस्त में, चश्म बिना क्या देख ॥२३२॥

शब्दार्थ—गर = गला, गरदन। तासो = उससे। अलेख = अदृश्य। हस्त = हाथ। चश्म = आंख।

भावार्थ—बिना रस्सी के केवल मान्यता रूपी अदृश्य बन्धनों से सबकी गरदनें बंधी हुई हैं। जैसे अंधे के हाथों में दर्पण देने से भी वह कुछ नहीं देख सकता, वैसे विवेकहीन तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण से रहित मनुष्य को सच्चा निर्णय सुनाने पर भी वह क्या समझ सकता है ! ॥२३२॥

व्याख्या—संसार में पशु आदि को बांधने के लिए रस्सी, जंजीर आदि के बन्धन होते हैं। चोर, बदमाश आदमियों को भी रस्सी, जंजीर आदि में ही बांधा जाता है। परन्तु जीव के बन्धन रस्सी, जंजीर आदि के नहीं हैं। सद्गुरु मार्मिक वचन कहते हैं "बिन रसरी गर सकलो बन्धा" सब की गरदनें बिना रस्सी के बंधी हैं। वह कौन-सा बन्धन है? सद्गुरु बतलाते हैं "तासो बँधा अलेख" अर्थात मनुष्य उससे बंधा है जो अलेख है। अलेख का मतलब है जो लखने एवं देखने में न आवे, जो अदृश्य हो। वह है मान्यता एवं अहंता-ममता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मान्यता ही तो हैं। मैं शरीर हूं या मेरा शरीर है, ये मकान, धन, परिवार, जाति, वर्ण, पद, प्रतिष्ठा मेरे हैं, मेरा निधान या आश्रय मुझसे अलग है—यह सब मान्यता ही है। इन्हीं मान्यताओं के जाल में जीव बंधा है। सद्गुरु ने कहा "सबकी गरदनें बिना रस्सी के बंधी हैं।" तब लोगों ने पूछा "महाराज, वह कौन बन्धन है?" सद्गुरु ने कहा "जीव उस बंधन में बंधे हैं जो अदृश्य है।" वह अदृश्य बन्धन मन की मान्यता है।

एक प्रसिद्ध कहानी है। ऊंट के व्यापारियों के ठहरने की एक सराय थी। बहुत-से ऊंटों को लेकर एक व्यापारी सराय में रुका। सराय के मालिक से उसने ऊंटों को बांधने

के लिए रस्सियां मांगीं। उसने सब ऊंटों को रस्सियों से बांध दिया। एक ऊंट बांधने से बच गया। रस्सियां खत्म हो गयी थीं। सराय वाले ने कहा कि अब तो मेरे पास रस्सियां नहीं हैं। उसने ऊंट वाले से कहा कि तुम ऐसा करो कि ऊंट को एक खूंटे के पास ले जाकर उसे अदृश्य की रस्सी से बांध दो। इसका अर्थ यह है कि जैसे रस्सी से बांधा जाता है, तुम वैसे ही अपने हाथ उसकी गरदन पर फेरकर उसे खूंटे से बांधने का दिखावा करो, और ऊंट समझ लेगा कि मैं बंध गया हूं। ऊंट वाले ने वैसा ही किया। सचमुच ऊंट ने समझ लिया कि मैं बंध गया। ऊंट अपने खूंटे के पास बैठ गया। सुबह ऊंट वाले ने सारे ऊंटों की गरदनों से रस्सियां खोलीं। सभी ऊंट उठ खड़े हुए और वहां से चल पड़े। परन्तु जो ऊंट अदृश्य रस्सी से बंधा था, वह न उठा। ऊंट वाले ने उसे डंडे मारे, हाथ से धकेला, परन्तु वह उठा नहीं। ऊंट वाला बहुत हैरान हुआ। सब ऊंट सराय से चल दिये थे, परन्तु वह तो उठ ही नहीं रहा था। ऊंट वाले ने सराय के मालिक के पास जाकर अपनी समस्या बतायी। उसने कहा कि उस ऊंट की रस्सी भी खोल दो। ऊंट वाले ने कहा, परन्तु वह तो बंधा ही नहीं है, उसकी गरदन में रस्सी है ही नहीं। सराय वाले ने कहा कि तुम जैसे उसे अदृश्य रस्सी से बांधे हो, वैसे उसे खोलने का भी नाटक करो। उसकी गरदन पर हाथ फेरकर खोलने का उपक्रम करो, तब ऊंट समझेगा कि मैं खोला गया और उठकर चल देगा। ऊंट वाले ने वैसा ही किया और ऊंट उठकर चल दिया।

मनुष्य ऐसी रस्सी से बंधा है जो दिखाई नहीं देती। झूठी मान्यता के बन्धन उसके मन को जकड़ रखे हैं। शरीर और संसार का संबंध स्वप्न से भी झूठा है, क्योंकि स्वप्न से जागकर उसकी याद तो आती है, परन्तु शरीर छूट जाने पर शरीर और संसार की याद भी नहीं आती। ऐसे शरीर और संसार के प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता करना कितना घोर अज्ञान है। परन्तु आदमी इस अहंता-ममता के बन्धनों में बंधा रहता है। शराब, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि की आसक्ति वाले आदमी उनके बिना रह नहीं पाते। आदमी बाहर की किसी रस्सी से तो बीड़ी-सिगरेट आदि में नहीं बंधा है। वह भीतर से मान्यता एवं आसक्ति के बन्धनों से बंधा है जो दिखाई नहीं देते। इसलिए उससे छूटना बड़ा कठिन होता है। रस्सी तथा जंजीर के बन्धनों को तो वह जल्दी तोड़ दे, आदत और मोह के बन्धन तोड़ना विवेक का काम है।

आदमी सांसारिक माया-मोह में सब प्रकार का दुख पाते हुए भी उसमें बंधा हुआ घसिटता चला जाता है। वह मान्यता का, मोह का एवं ममता का ही बन्धन है जो देखने में नहीं आता है, परन्तु अति प्रबल है। लोग मरने के निकट होकर भी इसे नहीं छोड़ पाते। केवल स्थूल प्राणी-पदार्थों की मोह-ममता ही बन्धन नहीं है; किन्तु भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस, मन्त्र-तन्त्र, शकुन-अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, देवी, देवता तथा अपनी आत्मा से अलग अपना आश्रय-स्थल किसी ईश्वर-परमात्मा की अवधारणा आदि सब केवल मन की मान्यता का जाल है जो जीव के लिए अदृश्य बन्धन है। मान्यता मात्र बन्धन है। सारी मान्यताओं को छोड़ देने के बाद स्वयं आत्म-अस्तित्त्व ही मुक्तस्वरूप है। जीव निजस्वरूप को भूलकर अपने से अलग कुछ मान-मानकर ही बंधा है। श्री विशाल साहेब

ने कहा है "लोह जंजीर न रसरी बंधन, बड़े-बड़े सुभट सो खाय पछरवा हो।" अर्थात यह अहंता-ममता का बंधन कोई लोह-जंजीर एवं रस्सी का नहीं है, परन्तु इससे बड़े-बड़े वीर भी पछाड़ खाते हैं। रस्सी, जंजीर एवं जेलखाना रूप स्थूल बन्धन काटने में सरलता होती है, परन्तु मान्यता का बन्धन काटना बड़ा कठिन होता है। कोई शूरवीर ही इसे काटता है।

अंधे आदमी के हाथों में स्वच्छ दर्पण दे दिया जाय तो उससे वह अपना मुख नहीं देख सकता, वैसे ही विवेकहीन आदमी को चाहे जितना सत्य निर्णय सुनाओ, वह उससे नहीं जग सकता। आदमी ने आंखें होने पर भी उन्हें बंद कर ली हैं। मनुष्य का मौलिक स्वरूप विवेकसंपन्न है, परन्तु उसने मान्यताओं का अंधापन स्वीकार कर लिया है। चाहे संसार की मोह-ममता की बातें हों, चाहे राग-द्वेष की बातें हों, चाहे वैर-विरोध की बातें हों, चाहे नाना काल्पनिक अवधारणाओं की बातें हों, जिस आदमी ने जहां जैसी मान्यता बना ली है, उससे वह हटना नहीं चाहता। एक बार खूंटा गाड़कर जहां बंध गये, तो बंध गये। ऐसे अंधों को कोई कैसे सुपथ पर लगा सकेगा!

जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। परन्तु उसने जितनी मान्यताएं बना रखी हैं सब विजाति हैं। जीव का अपना 'आपा' एवं 'स्व' केवल उसकी चेतना है और जो मन की मान्यताएं हैं वे 'पर' हैं। जीव 'स्व' को भूलकर 'पर' के हाथ में बिक गया है। सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

समुझाये समुझे नहीं, पर हाथ आपु बिकाय।
मैं खैंचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय॥२३३॥

शब्दार्थ—पर हाथ = दूसरे के हाथों; मन, माया, मान्यता एवं कल्पना के हाथों। आपको = अपनी ओर, स्वचेतन स्थिति की ओर। जमपुर = वासनाओं-मान्यताओं का जाल।

भावार्थ—मनुष्य समझाने पर भी नहीं समझता। वह अपने आप को दूसरों के हाथों में बेच रहा है। मैं तो उसे अपनी ओर खींचता हूं कि सारी मान्यताओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, परन्तु वह मान्यता एवं वासना रूपी यमपुर में जा रहा है॥२३३॥

व्याख्या—"पर हाथ आपु बिकाय" बहुत वजनदार वचन है। मनुष्य अपने आप को दूसरे के हाथों में बेचता है। वह समझता है कि मेरे स्थायी सुख का साधन कोई दूसरा है। मनुष्य ने इन्द्रियों के भोगों के लोभवश अपने आप को दूसरों के हाथों बेच दिया है। वह प्राणी-पदार्थों, मैथुन, मोह, नशा, नाच, रंग, मंत्र, तंत्र, देवी-देवादि के हाथों तथा पता नहीं कितनी जगहों में अपने आपको बेच दिया है। मनुष्य अपने आप को 'स्व-वश' न रखकर 'पर-वश' कर दिया है। परन्तु परवशता ही सब प्रकार का दुख है और स्ववशता ही सर्वस्व सुख है।[१] बस, इतनी ही सुख-दुख की परिभाषा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि

---

१. सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्। *(मनुस्मृति)*

उच्छृंखलता को स्ववशता नहीं कहते। स्ववशता है मन-इन्द्रियों की विवशता से मुक्ति। उच्छृंखलता तो घोर परवशता है। आदमी ने अपने आप को वासनाओं के हाथों बेच दिया है। उसे समझाया जाय तो वह समझता नहीं। जिसके मन में जो भ्रम, जो मान्यता, जो आसक्ति गड़ गयी है, उसका निकलना कठिन हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "मैं खैंचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय।" मैं लोगों को अपनी ओर खींचता हूं और लोग ऐसे हैं कि वे यमपुर की ओर जा रहे हैं। गुरु जीव को अपनी ओर खींचते हैं। अपनी ओर है स्वरूपस्थिति और यमपुर है वासनाओं का समूह। गुरु के वचनों पर ध्यान देकर कोई विरला सुज्ञ जीव अपनी स्वरूपस्थिति की ओर लौटता है। शेष तो यमपुर की ओर ही जाते हैं। लोग मान्यताओं तथा वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझे मन की धारा में बहते रहते हैं। जो मन की धारा से निकलकर स्व-स्वरूप में स्थित हो, वह धन्य है। मन की धारा से निकल आना ही स्वरूपस्थिति में रहना है तथा स्वरूपस्थिति में रहना ही मन की धारा से निकल आना है। "सहजै हीरा नीपजै, जब मन आवै ठौर।"

माया-मोह से मुक्त होने का साधन नित्य सत्संग है

नित खरसान लोहाघुन छूटै। नित की गोष्ट माया मोह टूटै ॥२३४॥

शब्दार्थ—खरसान = अधिक तेज सान, पत्थर की वह चक्की जिस पर उस्तुरा, कैंची, चाकू आदि की धार तेज की जाती है उसे 'सान' कहते हैं। घुन = मोरचा, लोह का मैल जो पानी तथा हवा के संयोग से लोहे में से ही पैदा होता है। गोष्ट = गोष्ठी, सत्संगवार्ता।

भावार्थ—छुरा, कैंची, चाकू आदि को बराबर तेज सान पर चढ़ाकर माजते रहने से उनका मोरचा झड़ता रहता है, और वे तेज तथा चमकदार बने रहते हैं। इसी प्रकार नित्य संत-सज्जनों की संगत तथा ज्ञानचर्चा करते रहने से माया-मोह छूटता रहता है॥२३४॥

व्याख्या—जैसे लोहे के औजार में पानी और हवा के संयोग से मोरचा लगता रहता है, परन्तु उसे माजते रहें तो मोरचा छूटता रहता है और वह चमकता रहता है, वैसे हमारे मन की दशा है। पूर्व वासनाएं, मन-इन्द्रिय, विषय-पदार्थ, प्राणी तथा नाना व्यवहार के सम्बन्ध में मनुष्य के मन में मलिनता आने की हर क्षण संभावना रहती है। इनसे साधक तभी बचा रह सकता है जब वह निरंतर संतों एवं सज्जनों की संगत करे और उनसे स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं सद्गुणों की चर्चा सुनता एवं करता रहे। संत-सज्जनों के उत्तम आदर्श देखने तथा उनकी वाणियों को सुनकर उन पर मनन करने से साधक को अपने चित्त की शुद्धि में शंबल मिलता है।

गृहस्थ-भक्तों से कहा जाता है कि वे पूरा परिवार इकट्ठे होकर अपने घर में प्रतिदिन एक समय अपने मान्य ग्रन्थों का पाठ, कथा, सत्संग-वार्ता करते रहें, तो उन बातों का उनके मन पर रोज-रोज प्रभाव पड़ेगा, परन्तु कम लोग इस पर ध्यान देते हैं। हर गृहस्थ को अपने घर में नित्य एक समय पाठ, कथा, सत्संग का आयोजन करना चाहिए और पूरे परिवार को इसका लाभ लेना चाहिए। पड़ोस के लोग भी आकर लाभ लें तो अच्छा है।

फिर गांव या मोहल्ले में भी यह आयोजन होना चाहिए, सप्ताह में एक बार ही हो। पूरा परिवार एक बार इकट्ठा बैठ जाने से एक तो आपस में प्रेम बनता है। उनके व्यवहार में यदि कुछ विकार आया हुआ रहता है तो वह धुल जाता है। साथ-साथ नित्य के प्रापंचिक व्यवहार की मलिनता सत्संग से धुलती रहती है। प्रपंच तो रुक नहीं सकता, सत्संग रोक देने से चित्त की मलिनता बढ़ने के सिवा और क्या होगा! गृहस्थ तो गृहस्थ ही हैं कितने साधुओं के मठ में सत्संग का कार्य नहीं होता। उनका मठ भी केवल कमाने-खाने की जगह बनकर रह जाता है। जिस मठ में सत्संग-वार्ता नहीं होती, वहां के साधु साधना-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं और उनसे समाज को कोई प्रेरणा नहीं मिलती। हम नित्य घर-आंगन बुहारते हैं। यदि न बुहारें तो वे कचड़े से भर जायेंगे। इसी प्रकार सत्संग और विचार से यदि हम अपने मन को न बुहारते रहेंगे तो हमारे मन में मलिनता आ जायेगी।

राम और माया दोनों में माया का मोह तो अनादि अभ्यस्त है और आज भी वह मनुष्य के अन्दर और बाहर धूं-धूं कर गुजर रहा है; परन्तु राम का परिचय तथा उसमें अनुराग दुर्लभ वस्तु है। राम की याद दिलाने वाले सद्ग्रंथों का पाठ, वाचन, कथा-वार्ता, सत्संग, गोष्ठी आदि हैं और यदि आदमी इनसे दूर रहता है, तो उसके मन में केवल माया की प्रतिष्ठा रहेगी, राम की नहीं। इसका फल होगा जीवन का दुखों में डूबा रहना। धन, परिवार तथा संसार के ऐश्वर्य चित्त को शांति नहीं दे सकते। मन जितना माया में डूबा रहेगा उतना वह पीड़ा का कारण बनेगा और जितना राम की याद में रहेगा, राम में रमेगा, उतना वह शीतल एवं सुख से पूर्ण रहेगा। पर-प्रकृति माया में रमना दुखों का कारण है और स्व-स्वरूप-राम में रमना सुखों का कारण है। जो नित्य सत्संग करता रहेगा, उसी के जीवन में दैवी संपदा का निवास होगा और वही माया से मुक्त होकर निजस्वरूप राम में स्थित हो सकेगा।

उलटा चलकर पहुँचने की भूल

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
शिर पर विष की मोटरी, चाहै उतरन पार॥२३५॥

शब्दार्थ—नावरी = नौका। पाहन = पत्थर। गरुवा = वजनदार।

भावार्थ—मनुष्य लोहे की नौका में पत्थर का वजनी भार लादकर और सिर पर विष की गठरी रखकर पार उतरना चाहता है। अर्थात वह जड़-बुद्धि, दुष्कर्म तथा विषय-वासनाओं का आधार पकड़कर जीवन में चिरंतन सुख चाहता है॥२३५॥

व्याख्या—जड़बुद्धि मानो लोहे की नौका है, दुष्कर्म मानो पत्थर का वजनदार बोझा है और विषयों की वासनाएं मानो विष की गठरी हैं। इन्हीं का सहारा लेकर अनंत सुख की कामना करना कितना बड़ा व्यामोह है। इस साखी में जड़बुद्धि, दुष्कर्म और विषय-वासना के लिए लोह की नौका, पत्थर का वजनी भार एवं विष की गठरी रूपक हैं, जो विषय वस्तु को सरलता से समझने में सहयोग करते हैं। हम इन बातों पर अलग-अलग विचार करें।

पहली बात है जड़बुद्धिरूपी लोह की नौका पर सवार होना। जड़बुद्धि का अर्थ है सत्य-असत्य न समझ पाना। यहां यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि अपढ़ आदमी जड़बुद्धि का होता है और पढ़ा-लिखा आदमी चैतन्य बुद्धि का। यह ठीक है कि पढ़ाई-लिखाई बुद्धि में सहयोग करती है, परन्तु जड़बुद्धि और चैतन्यबुद्धि से उसका ज्यादा संबंध नहीं है। कितने पढ़े-लिखे लोग सत्यासत्य समझने से लाखों कोस दूर हैं। कितने वकील, जज, प्रोफेसर, इन्जीनियर, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य आज भी राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, कबीर, हनुमान के दर्शन करने, उनसे साक्षात मिलने तथा उनसे बातें करने का दावा करते हैं। उन्हें न कारण-कार्य-व्यवस्था का ज्ञान है, न विश्व के शाश्वत नियमों से मतलब है और न विवेकबुद्धि से प्रयोजन है। कितने पढ़े-लिखे तथा विद्वान नामधारी भूत-प्रेत, देवी-देवतादि के घोर अंधविश्वास में डूबे हैं। विद्वान कहलाते हैं, किन्तु उन्हें जड़ और चेतन का कोई विवेक नहीं है। निजस्वरूप का बोध तो अत्यन्त कठिन हो गया है। बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि कहलाने वाले भी अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न नहीं समझ पाते। वे कहते हैं "यह जगत मुझसे अलग कहां है! मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं और मैं ही यह अनंत ब्रह्मांड हूं।" वे 'स्व' और 'पर' तथा 'चेतन' और 'जड़' के भेद को समझते ही नहीं हैं। अब विचारिए कि ऐसे लोगों को जड़बुद्धि का समझा जाय या विवेकबुद्धि का! 'स्व' और 'पर' का विवेक जिसे नहीं है, वह जड़बुद्धि का है, यह सहज समझा जा सकता है। जड़बुद्धि का व्यापक अर्थ है स्व-पर, चेतन-जड़, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि को प्रायः न समझ पाना।

दूसरी बात है "पाहन गरुवा भार" दुराचरणरूपी पत्थर का बोझा। जिसकी बुद्धि ही जड़ है उसके सारे आचरण कैसे पवित्र हो सकते हैं! बुद्धि की गड़बड़ी से आचरण गड़बड़ होंगे ही। गलत कर्म एवं गलत आचरण मनुष्य के लिए वजनदार बोझा बन जाते हैं। जिसके गले में पत्थर बंधे हों वह पानी में सहज ही डूब जायेगा। इसी प्रकार जो कुकर्म तथा बुरे आचरणों के भार से लदा है वह संसार-सागर में डूबेगा ही। पूछते हैं "सबसे भारी क्या होता है?" उत्तर देते हैं "अपना बनाया पाप।"

तीसरी बात है "सिर पर विष की मोटरी" विषय-वासनाएं ही जिसके सिर पर नाच रही हैं, अर्थात जिसके दिमाग में विषयों के विष भरे हैं, वह अविनाशी एवं अमृत पद से तो दूर रहता ही है, उलटे नरककुण्ड में गिरता है। वस्तुतः विषय-वासनाएं ही नरककुण्ड हैं।

चौथी बात है तिस पर भी "चाहे उतरन पार" संसार-सागर से पार उतरना चाहता है। इतनी सारी विसंगतियों को लेकर भी मनुष्य पार उतरना चाहता है। पार उतरना क्या है? वस्तुतः पूर्ण प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करना, चिरंतन सुख एवं सदा आनन्द में रहना पार उतरना है। जब मन में कुछ करने, भोगने, देखने, सुनने तथा जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती; जब व्यक्ति सब समय पूर्णकाम, अकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अखण्ड तृप्त हो जाता है तब वह मानो संसार-सागर से पार हो गया। संसार-शरीर में रहते हुए भी जब संसार-शरीर से जीव एकदम निष्काम हो जाता है तब यही उसका संसार-सागर से पार हो जाना है।

क्या भगवद्दर्शन का फल दुख में भटकना है?

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय॥२३६॥

शब्दार्थ—हिंवारे = हिमालय। काई = मैल।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के समीप रहने वाले पांचों पांडव स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्ति के लिए जाकर हिमालय में गले, परन्तु लोहा को यदि पारस-पत्थर मिल जाय तो उसे मैल क्यों खायेगा! अर्थात जिसे बोध मिल गया है उसे भटकने की क्या आवश्यकता!॥२३६॥

व्याख्या—श्रीकृष्ण जी को राजनेता और ज्ञानी ही नहीं, पूर्णब्रह्म एवं जगतकर्ता मान लिया गया है। कहा जाता है कि उन्होंने सात सौ श्लोकों की गीता अर्जुन को बोध देने में ही कही है। गीता के अनुसार श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप दर्शन भी अर्जुन को दिये हैं। लोग मानते हैं कि जो परमात्मा के दर्शन पा जाता है वह कृतार्थ हो जाता है। उसे कुछ करना बाकी नहीं रहता। पांचों पांडव तो परमात्मा कृष्ण के सहचर ही थे। आश्चर्य होता है कि इतना होने पर भी उनके दुख नहीं छूटे थे। महाभारत पढ़ो तो गीता का पूर्ण ज्ञान पाने के बाद भी अर्जुन सहित पांचों पांडव हिमालय में गलकर स्वर्ग जाने का उपक्रम करते हैं। वह भी हिम में गलकर केवल स्वर्ग पाने की बात है, मोक्ष की नहीं।

मरने के बाद क्या हुआ था इसका चक्कर छोड़ दें। पांडवों की दशा जीते जी क्या हुई थी इसे महाभारत पढ़कर जाना जा सकता है। तथाकथित विश्वनियन्ता श्रीकृष्ण के साथ रहकर भी पांडवों का पूरा जीवन कंटकाकीर्ण था। पांडवों के देखते-देखते उनकी पत्नी को भरी सभा में निर्वस्त्र करके अपमानित करना, पांडवों का नगर से निकाला जाना, उनका मृगछाला पहनकर घोर जंगलों में बारह वर्ष भटकते हुए नाना कष्ट भोगना, एक वर्ष का अज्ञातवास करते हुए नाना कष्ट उठाना, नगर में आकर राज्य वापस न पाना, कौरवों से भीषण युद्ध करना, पिता, पितामह एवं गुरुओं को छल-छद्म से मारना, उसके बाद अवशेष जीवन परिवार-विनाश के अनुताप में रोते रहना, और अन्त में हिमालय में गलकर मरना, यही है पांडवों के भगवद्दर्शन एवं भगवान के साथ जीवनभर रहने का फल। भगवद्दर्शन से परमशांति एवं परमानन्द की प्राप्ति की बात का पांडवों के जीवन में कहीं पता नहीं चलता। श्रीकृष्ण महाराज एक राजनीतिज्ञ वीर योद्धा और ज्ञानी थे। उनको परमात्मा तो लेखकों ने बनाया है।

घमण्ड का त्याग करो

पूरब उगै पश्चिम अथवै, भखै पौन के फूल।
ताहू को राहू ग्रासे, मानुष काहेक भूल॥२३७॥

शब्दार्थ—पौन = पवन, वायु।

भावार्थ—सूर्य जगत को प्रकाश देने के लिए पूर्व में उगता है और दिन भर लम्बी यात्रा कर पश्चिम में डूब जाता है और आहार हिंसा-रहित लेता है केवल पवन के फूल।

ऐसे निर्दोष को भी समय-समय से राहु ग्रसता है, फिर मनुष्य किस अभिमान में पड़कर मृत्यु को भूल रहा है! ॥२३७॥

व्याख्या—सूर्य का दिखाई देने का आरम्भ होना उसका उगना है। वह जिस तरफ दिखाई देना शुरू करता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं, और जिस तरफ दिखना बन्द हो जाता है, पृथ्वी का आड़ा हो जाता है उसे पश्चिम कहते हैं। सूर्य यह नहीं जानता कि मैं संसार को प्रकाश देकर परोपकार कर रहा हूं। वह हवा का न आहार करता है और न उसे राहु ग्रसता है। यह सब तो एक आलंकारिक कथन है। सार यह है कि जब ऐसा परोपकारी, समर्थ, श्रमशील एवं निरपराध सूर्य भी ग्रहण की चपेट में आ जाता है, तब दूसरे की हानि करने वाले, असमर्थ, आलसी एवं अपराध करने वाले आदमी किस घमंड में भूले हैं! उनका मृत्यु के मुख में जाना तो एकदम सहज है।

मनुष्य नाना दुर्बलताओं से घिरा है; क्योंकि उसे अपने समर्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के विवेक से रहित है और देह ही को अपना स्वरूप मानता है। इसलिए देहाभिमानी बनकर नाना मलिनताओं में लिपटा रहता है। विषयों की मलिनता में लिपटे हुए होने के नाते अनेक आदतों, आसक्तियों एवं दुर्गुणरूपी दुर्बलताओं का शिकार बना है। इसके साथ वह जिस शरीर में रहता है वह अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसलिए मनुष्य को किसी प्रकार का अहंकार करना उचित नहीं है। उसे चाहिए कि वह विनम्रतापूर्वक अपने आचरण सुधारे।

मन और इन्द्रियों को जीतो

नैनन आगे मन बसै, पलक-पलक करे दौर।
तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर॥२३८॥

शब्दार्थ—तीन लोक = पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा पाताल; पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे तथा पृथ्वी के ऊपर; सम्पूर्ण विश्व; सत, रज तथा तमगुणयुक्त समस्त जीव।

भावार्थ—मन नेत्रों के आगे बसता है और पलक-पलक दौड़ लगाता है। सभी जीवों के ऊपर मन राजा बन बैठा है। सब जगह मन की पूजा हो रही है॥२३८॥

व्याख्या—जागृति-अवस्था में मन की वृत्ति विशेष नेत्रों के सामने ही रहती है। मनुष्य नेत्रों से जो-जो देखता है उसी-उसी में उसका मन चला जाता है, और उसे जो दृश्य ज्यादा प्रिय लगता है उसका मनन करने लगता है। रूप की तरह शब्द विषय भी ज्यादा संवेदनशील होता है। शब्दों को सुनकर मन उसका मनन करता है। मनुष्यों में गंध की आसक्ति ज्यादा नहीं होती। स्पर्श तथा रस ये दो विषय इंद्रियों को छूकर ही मन को आंदोलित करते हैं, परन्तु रूप और शब्द दूर से ही मनुष्य के मन को प्रभावित करते रहते हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो शब्द विषय का सर्वाधिक व्यापक प्रभाव है। वह ग्रंथों एवं पुस्तकों के रूप में पुराकाल से विद्यमान है। अर्थात साधक और बाधक दोनों प्रकार के शब्द नाना किताबों के द्वारा मनुष्य तक पहुंचते रहते हैं। मनुष्यों के द्वारा सुनकर और स्वयं कहकर शब्दों का ही सर्वत्र आदान-प्रदान होता है। इस विषय को इस प्रकरण के शुरू की साखियों की व्याख्या पढ़कर ज्यादा समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्गुरु ने नेत्र से रूप विषय के सम्बन्ध में मन के पलक-पलक रमने की बात कही है जो परम सत्य है। जागृति अवस्था में नेत्र प्रायः हर समय खुले रहते हैं और नेत्रों के सामने जो कुछ दिखाई देता है उसी में मन रमा करता है। दृश्यों में मन जिसे आकर्षक मान लेता है उसमें आसक्त हो जाता है, और कहीं-कहीं यह नेत्रों की चोट भयंकर होती है। मनोनुकूल स्त्री को देखकर पुरुष तथा पुरुष को देखकर स्त्री मोह-विह्वल हो जाते हैं। पतिंगे मूढ़ होने से दीपक की ज्योति में चिपककर मर जाते हैं; परन्तु कोई-कोई नर और नारी समझदार होकर भी इतने मूढ़ हो जाते हैं कि स्त्री या पुरुष के शरीर के कुछ उभरे और गहरे हाड़ और मांस के आकार, चिकने चाम, बाल और वस्त्र के मोड़ों को देखकर प्रलुब्ध हो जाते हैं। कुछ लोग तो रूप के मोह में इतने मूढ़ हो जाते हैं कि अपरिचित स्त्री या पुरुष के पीछे दीवाने होकर अपमान, लात, जूते एवं डंडे खाते हैं। स्त्रियां पुरुषों की तरफ आकर्षित होकर ज्यादा अनर्थ नहीं करती हैं। ज्यादातर पुरुष ही स्त्रियों को देखकर मूढ़ बनते हैं। इसलिए नेत्र-संयम की बड़ी आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं "स्त्री को घूरकर मत देखो, उसको देखकर उसके शरीर एवं अंगों की बार-बार याद मत करो। उसे घूरकर देखने से तुम्हारे मन में मोह एवं विषय-वासनाओं का विष चढ़ जायेगा और तुम्हारे मन में कुछ गंदी बातें आ जायेंगी।" मूल वचन इस प्रकार है—

नारी निरख न देखिये, निरखि न कीजै गौर।
निरखत ही ते विष चढ़े, मन आवै कुछ और॥

सद्गुरु कहते हैं कि सारे विश्व के प्राणियों के बीच में मानो मन ही राजा बन गया है और सब जगह सब लोग मन की ही पूजा में लगे हैं। इसका खुलासा यह है कि मनुष्य अपने आप को इतना भूल गया है कि मन जिधर बहता है मनुष्य उसी तरफ लुढ़क जाता है। संसार के अधिकतम मनुष्य मन के नचाये नाचते हैं। कुछ लोग तो मन के इतने गुलाम हैं कि उनकी अत्यन्त दयनीय दशा होती है। परन्तु जो इन्द्रिय और मन की गुलामी करता है वह पशु से भी गया-बीता आदमी है और जो मन-इंद्रियों पर विजयी है वह महत्तम मानव है।

मन स्वारथी आप रस, विषय लहर फहराय।
मन के चलाये तन चलै, जाते सरबस जाय॥२३९॥

शब्दार्थ—स्वारथी = स्वार्थी, खुदगरज। रस = स्वाद। फहराय = चंचल होना।

भावार्थ—मन अपने इंद्रिय-विषयों के स्वाद का स्वार्थी है। उसमें विषयों की ही लहरियां उठती रहती हैं। मन के विचलित होते ही शरीर विचलित हो जाता है, जिससे सर्वस्व नष्ट हो जाता है॥२३९॥

व्याख्या—मन स्वार्थी है, खुदगर्ज है। वह सदैव अपने रस में डूबा रहता है। उसे सदा विषयों के स्वाद प्रिय हैं, क्योंकि वह अनादिकाल से उनमें आसक्त है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। सामान्य मनुष्य के मन में प्रायः हर समय कोई-न-कोई विषय की लहर विद्यमान रहती है, और वह उसी में डूबा रहता है। साधारण आदमी

भी हर समय अपने मन को रोकता है। जिस विषय से वह अपने मन को नहीं रोक पाता, उस विषय से वह कम-से-कम अपनी इंद्रियों को तो रोकता ही है। मनुष्य का मन हर क्षण जैसे सोचता है उसके अनुसार इंद्रियों से आचरण करके तो वह जीवित ही नहीं रह सकता। जब किसी एक विषय में मनुष्य का मन निरन्तर चलता है और उससे वह अपने को अलग नहीं करता, तो उस विषय में उसके मन में एक मोह उत्पन्न हो जाता है। मोह उत्पन्न होने पर वह कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हित-अहित का विवेक खोकर घोर अन्धकार में पड़ जाता है और वह उसी विचलित मन के अनुसार बह जाता है।

साधारण गृहस्थ हो या वेषधारी, जो व्यक्ति स्त्रियों के कामोद्दीपक अंगों के सहित उनका स्मरण करता रहेगा, वह एक-न-एक दिन अपने पद से गिर जायेगा। हजार ज्ञान, हजार युक्तियां कुसंग तथा कुस्मरण की बहिया में बह कर पता नहीं कहां चले जाते हैं। मन विचलित होने पर शरीर विचलित हो जाता है और मन तथा शरीर दोनों विचलित हो गये तो मानो सर्वस्व चला गया। अर्थात उसका सब प्रकार से पतन हो गया। इसी प्रकार कोई साधारण स्त्री या साधिका यदि किसी पुरुष के अंगों सहित उसकी देह में अनुरक्त होने लगी तो वह धीरे-धीरे उस तरफ फिसलकर अपने आपको खो देगी। अच्छे-से-अच्छे साधक भी कुसंग के कारण ही गिरते हैं। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन है। विरोधी आलंबन के निरंतर घूर-घूरकर दर्शन तथा डूब-डूबकर स्मरण करते रहने से पतित होने के सिवा कोई चारा नहीं है।

साधक एवं साधिका को चाहिए कि जिन दर्शनों, शब्दों, स्पर्शों, स्मरणों आदि से मन में काम-वासना संबंधी मलिनता पैदा हो उन्हें सांप-बिच्छू से भी भयंकर समझ कर उनसे दूर होते रहें। २०७वीं तथा २०८वीं साखी की व्याख्या में विशाल देव की साखी के उदाहरण हम देख आये हैं कि कुसंग के कितने रूप हैं। जिन-जिन दृश्यों एवं शब्दों से मन विचलित हो, वे सब कुसंग हैं। अनादिकाल से विषय-वासना में वासित मन को कुसंग से हटाकर तथा परहेज रखकर ही शुद्ध बनाये रखा जा सकता है। जो पतिंगे के समान मूढ़ बनकर दीप-ज्वाला एवं विरोधी आलंबन में चिपकेगा, उसका विनाश रखा-रखाया है। एक बूढ़ा एक सुन्दरी को रोज-रोज ललचाई हुई दृष्टि से देखते-देखते इतना पागल हो गया कि एक दिन बलात उसके कमरे में घुसने लगा, परन्तु उस सुन्दरी ने इतने जोर से फाटक बन्द किया कि बूढ़े का सिर तथा चेहरा फाटक से टकराकर रक्तरंजित हो गया। वह मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा तथा लोगों के बीच में हास्यास्पद हो गया। एक नवयुवक एक युवती को दूर से ही रोज-रोज देखकर उसके मोह में इतना मूढ़ हो गया कि वह एक दिन उसके घर जाकर उससे अपनी मनोकामना के अनुसार याचना करने लगा। उस युवती को उस मूढ़ पर इतना गुस्सा आया कि उसने उसके ऊपर पत्थर दे मारा और वह जमीन पर गिर पड़ा। लोग इकट्ठे हो गये। उस पर थू-थू करने लगे। उसे पुलिस के पास ले गये। पुलिस ने उसके आधे बाल मुड़वा, आधी मूंछ तथा दाढ़ी कटवाकर तथा मुख में स्याही लगाकर बाजार में घुमाया। ये "नैन रसिक" लोग इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी नैतिकता, शांति एवं प्रतिष्ठा को और दूसरे तथा समाज की प्रतिष्ठा को एकदम भूलकर अपनी नाक टट्टी में डुबो देते हैं।

अतएव सद्गुरु कबीर सावधान करते हैं कि हे मानव तथा साधक! तू सावधान हो जा। तू चाम, बाल, वस्त्र की बनावट के मिथ्या व्यामोह में पड़कर अन्धा मत बन! ये नर-नारियों के शरीर हड्डी, मांस, मल, मूत्र के पात्र हैं। इनमें कुछ सार नहीं है। भोगों से मन तृप्त नहीं होता, किन्तु त्याग से ही तृप्त होता है। विषयों की मलिनता नरक है। इससे मुक्त होना ही जीवन की उच्चता है।

भेड़ियाधंसान

कैसी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।
एक परा जो गाड़ में, सबै गाड़ में जात॥२४०॥

शब्दार्थ—गाडर = भेड़, भेड़ी। ठाट = झुंड, समूह। गाड़ = गड्ढा।

भावार्थ—संसार के लोगों की वही दशा है जो भेड़ों के झुंड की होती है। यदि एक भेड़ गड्ढे में गिर पड़ी तो सारी भेड़ें उसके पीछे गड्ढे में गिरती चली जाती हैं॥२४०॥

व्याख्या—एक आदमी ने कहा कि अमुक व्यक्ति पानी में फूंक मारकर या उसे छूकर दे देता है तो उस पानी के सेवन से सभी ऋद्धि-सिद्धियां मिलती हैं, तो इस बात के पीछे पढ़, अपढ़, गंवई, शहरी सारे मूर्ख लाइन लगाकर खड़े हो जाते हैं। तांत्रिक, सोखा, बैगा, नाउत, फलित ज्योतिषी नामधारी और कुछ धूर्त जो अपने आप को पण्डित तथा महात्मा घोषित कर देते हैं, संसार के लोगों को मूर्ख बनाकर ठगने में लगे रहते हैं। ये नीरोग्यता, विजय, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा, पद सब कुछ देने का झांसा देकर मूर्खों को ठगते हैं। और इनके पीछे मूर्खों की लाइन लगी रहती है। जिसमें सामान्य जनता से लेकर प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, जज, राजनेता, राज्याधिकारी, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य, वेदाचार्य सब भेड़ बने गड्ढे में गिरते हैं। कर दो हल्ला कि अमुक वन में, पेड़ के नीचे तथा गांव में देवी निकली हैं, देवता निकले हैं, तो देखोगे वहां मूर्खों की भीड़ पहुंचने लगेगी और अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए अपने तन, मन और धन को समर्पित करने लगेगी।

अमुक तीर्थ में जाने से, उसका नाम लेने मात्र से, अमुक नदी में नहाने से सारे पाप कट जाते हैं, स्वर्ग या मोक्ष मिलता है; अमुक नाम या मंत्र जपने से ऋद्धि-सिद्धि या मुक्ति मिलती है, अमुक पर्व या तिथि को प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, काशी आदि में नहाने से, मरने से मोक्ष होता है; ऐसी-ऐसी अनेक भ्रांतियां हैं जो महारथी लोग फैलाते रहते हैं, किताबों में लिखते रहते हैं, उन्हें धर्मशास्त्र घोषित करते रहते हैं। लोग इन सबके पीछे पागल बने भेड़ों की तरह गड्ढे में गिरते रहते हैं। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या इसाई, क्या अन्य मत वाले सब अन्धविश्वास के शिकार हैं, विरला कोई इस भेड़ियाधंसान से बचता है।

आश्चर्य होता है कि दूसरे संप्रदायों की ऊलजलूल बातों को सब अंधविश्वास समझ लेते हैं, परन्तु अपने संप्रदायों की भ्रांतियों को परम सत्य समझे रहते हैं। इसमें कारण है अपने संप्रदायों की भ्रांतियों में अपना निहितस्वार्थ रहता है। यद्यपि यह स्वार्थ भी भ्रमपूर्ण ही है, तथापि उसे छोड़ना वीरता का काम है।

इस साखी में कोई-कोई संत एवं विद्वान पहले शब्द 'कैसी' को 'कासी' एवं 'काशी' पाठ मानते हैं। उनके अनुसार शुद्ध पाठ है—"काशी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।" इस पाठ में भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसका अभिप्राय हुआ कि काशी में मरने से मनुष्य की गति एवं मुक्ति होती है—यह विश्वास भेड़ियाधंसान है। सद्गुरु ने शब्द प्रकरण के १०३वें शब्द में इस पर खूब खुलासा समझाया है।

जब जिसे शुद्ध परखदृष्टि प्राप्त होती है वह सारे अन्धविश्वासों का परित्याग कर देता है चाहे अपने सम्प्रदाय का हो और चाहे दूसरे के सम्प्रदायों का हो। परखदृष्टि का अर्थ है निष्पक्ष विवेक, नीर-क्षीर विवेक। गुण-दोषों की पूर्ण परीक्षा ही परखदृष्टि है।

मारग तो कठिन है, वहाँ कोई मत जाव।
गये ते बहुरे नहीं, कुशल कहै को आव॥२४१॥

शब्दार्थ—कठिन = टेढ़ा, दुखदायी। बहुरे नहीं = फिर कल्याण-पथ में नहीं आये। कुशल = मंगल, हालचाल।

भावार्थ—भेड़ियाधंसान का मार्ग टेढ़ा एवं दुखदायी है। हे लोगो! बिना विचार किये दूसरे की देखादेखी किसी बात को सत्य मानकर उसके पीछे मत चलो। जो लोग देखादेखी गड्ढे में गिरते हैं, वे लौटकर कल्याण-पथ में नहीं आते, फिर कौन आकर अपना कुशल-मंगल कहे! ॥२४१॥

व्याख्या—अपनी बुद्धि एवं विवेक का प्रयोग न कर केवल दूसरे की देखादेखी किसी मार्ग में चल देना मनुष्य के लिए कल्याणकर नहीं है। मनुष्य के मन में भीड़ का मोह होता है। लोग सोचते हैं कि जिसके पास राजनेता, वकील, जज, डॉक्टर, विद्वान, सेठ सब जाते हैं, जिसके पास हजारों अनुगामी हैं, जरूर वहां सत्य होगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ठीक है, बिना जांचभाल किये किसी को गलत मान लेना ठीक नहीं है, परन्तु आंख मूंदकर किसी व्यक्ति या भीड़ के साथ चलना भी ठीक नहीं है। महापुरुष, शास्त्र, परम्परा, जनसमाज सब आदरणीय हैं, परन्तु अपना विवेक कम आदरणीय नहीं है। महापुरुष अनेक हैं, शास्त्र भी अनेक हैं और परम्पराएं भी अनेक हैं, फिर हम किस एक के पीछे चलें? अतएव महापुरुष, शास्त्र और परम्पराओं को भी हम अपने विवेक से ही समझ सकते हैं। अतएव जो अपनी विवेक-बुद्धि का तिरस्कार कर भेड़ियाधंसान में पड़ता है, उसका रास्ता पतन का होता है। विवेकवान हर बात पर विवेक कर उसका ग्रहण या त्याग करता है।

सद्गुरु कहते हैं कि बिना विचार किये भीड़ के साथ चलना केवल दुख का रास्ता है। उसमें कोई मत जाओ। जो लोग किसी धूर्त के कहने से या देखादेखी ईश्वर-दर्शन के लिए अपनी नाक कटा लेते हैं वे समझ जाने पर भी लज्जावश उसी में जीवनभर पड़े रहते हैं। उसको छोड़कर बाहर नहीं आते, फिर उनका कुशल-मंगल एवं हालचाल कौन कहे! वे शर्माशर्मी पच-पचकर मरते हैं। एक बार गड्ढे में गिर जाने पर मनुष्य को गड्ढा ही प्यारा लगने लगता है। अपनी भूल को स्वीकार कर उसे सुधार लेना बड़े त्याग और साहस का काम है।

कुसंग से सावधान

मारी मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वै हालैं वै चींधरें, बिधिना संग निबेर॥२४२॥

शब्दार्थ—केरा = केला। बेर = एक प्रसिद्ध फल का कांटेदार पेड़। चींधरें = फाड़ते हैं। बिधिना = विधाता, कर्ता। निबेर = त्याग।

भावार्थ—मनुष्य कुसंग की मार से उसी प्रकार मरता है जैसे केले के पेड़ के साथ में बेर के पेड़ लग जाने पर केले की दशा होती है। केले के पत्ते हिलते हैं और बेर की कांटेदार डालियां उन्हें फाड़ती हैं। हे अपने कर्मों का विधाता मनुष्य! तू कुसंग का त्याग कर!॥२४२॥

व्याख्या—मनुष्य का ज्यादा पतन कुसंग के कारण ही होता है। मांस, मदिरा, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू की आदतें, चोरी, व्यभिचार की आदतें तथा ऐसी अनेक अनर्थकारी आदतें कुसंग के कारण ही पड़ती हैं। अच्छे-अच्छे लोग कुसंग में पड़कर भ्रष्ट हो जाते हैं। धूप से अधिक ज्वलनशील धूप में तपी बालुका होती है, इसी प्रकार दोषों से अधिक घातक दोषों में डूबे आदमी की संगत होती है। सद्गुरु ने यहां केला और बेर का सुन्दर एवं सटीक उदाहरण देकर इस विषय को बड़ी सरलता से समझाया है। केला कितना चिकना और कोमल पेड़ होता है यह सब जानते हैं। उसके फल भी कितने सुस्वादु एवं तृप्तिकर होते हैं। उसके फल तथा वृक्ष की उच्चता के नाते उसे मांगलिक काम में भी लाया जाता है। केला के सुन्दर पेड़ एवं पत्ते गाड़कर भारतीय समाज में पूजा का मंडप बनाया जाता है। ऐसे सुन्दर एवं चिकने पेड़ के पास यदि बेर का पेड़ उग आये और बड़ा होकर केले के ऊपर छा जाये तो केले की क्या दशा हो सकती है यह सर्वविदित है। हवा चलने पर केले के पत्ते हिलेंगे और बेर की कांटेदार डालियों से टकराकर फटेंगे। बेर के कांटे केले के पत्ते को चींधी-चींधी उड़ायेंगे। इसी प्रकार यदि मनुष्य चोर की संगत करेगा, व्यभिचारी एवं दुर्व्यसनी की संगत करेगा तथा अन्य प्रकार दुराचरणग्रस्त लोगों की संगत करेगा, तो उससे उसकी बुद्धि बिगड़ते-बिगड़ते वह भी वैसे ही हो जायेगा।

जिनके घर में मांस-मदिरा नहीं थे, उनके घर में एक मांस-मदिरा का सेवन करने वाला व्यक्ति आकर बस गया और उस घर के लड़के उसके साथ भ्रष्ट हो गये। शूकर विष्ठा खाने का स्वभावसिद्ध आदती होता है, वैसे आदमी तम्बाकू खाने का आदती नहीं होता। परन्तु जिसके घर में तम्बाकू का नाम नहीं था, उसके घर में एक तम्बाकू खाने वाले शूकर या शूकरी का प्रवेश हुआ और उसकी संगत से घर के कई लोग शूकर या शूकरी हो गये। ये तम्बाकू खाने वाले बिना नाक के शूकर हैं। इसी प्रकार गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट आदि पीने एवं खाने वालों की दशा है। करीब-करीब सारे दोष मनुष्य में कुसंग से आते हैं। पान का एक सड़ा पत्ता दूसरे पत्ते के साथ है तो उन्हें भी सड़ाता है। एक सड़ी मछली पूरे तालाब को गंदा करती है। इसी प्रकार आचरणभ्रष्ट मनुष्य स्वयं नरक में गिरा ही है, जो व्यक्ति उसकी संगत करता है वह भी नरक में गिरता है।

सद्गुरु कहते हैं "बिधिना संग निबेर" हे विधाता! तू ऐसी बुरी संगत का त्याग कर। मनुष्य अपने कर्मों का विधिना है, विधाता है। वह चाहे बुरे कर्म कर अपने को गड्ढे में डाल ले और चाहे अच्छे कर्म कर अपने आप को ऊपर उठा ले। कुसंग से कुबुद्धि बनती है और कुबुद्धि से गलत आचरण होते हैं, तथा सुसंगत से सुबुद्धि बनती है और उससे अच्छे आचरण होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह कुसंगत का त्याग करके अच्छी संगत करे।

केरा तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते क्या भया, जब काँटन लीन्हा घेर॥२४३॥

शब्दार्थ—ढिग = पास, निकट।

भावार्थ—केला का पेड़ तभी सावधान नहीं हुआ जब उसके पास बेर का पेड़ उगा था। अब उसके सावधान होने से क्या होता है जब बेर के कांटों ने उसे घेर लिया है! अर्थात मनुष्य तभी नहीं सावधान हुआ जब उसके ऊपर कुसंग का आवरण पड़ने लगा था। अब जब वह कुसंग तथा उसके फलस्वरूप कुकर्म में डूब गया है तब उसके रोने से क्या होता है! ॥२४३॥

व्याख्या—केले के पेड़ के पास जब बेर के पौधे उगें तभी उन्हें उखाड़ देना चाहिए। इसी प्रकार कुसंग का संयोग आते ही उससे सावधान हो जाना चाहिए। कांटों से घिर जाने पर बचना कठिन है। कुसंग से जकड़ जाने पर उसके प्रभाव से बचना मुश्किल है। जो लोग कुसंग में रस लेना शुरू करते हैं वे यह नहीं समझते कि इसका परिणाम आगे चलकर बड़ा भयंकर एवं दूरगामी होगा। कुसंग पड़ने की शुरुआत में उससे सावधान होकर हट जाना बड़ा सरल होता है। परन्तु जब आदमी कुसंग करते-करते उसमें डूब जाता है तब उसका स्वभाव ही वैसा हो जाता है। तब वह कुसंग और कुकर्म के कारण उसके बुरे फल से रो सकता है, परन्तु उससे बचना कठिन हो जाता है।

हम इस विषय को और अधिक सूक्ष्म रूप में लें। कई युवक पढ़ते-लिखते हैं। वे बड़े अच्छे संस्कार वाले होते हैं। वे धर्म, अध्यात्म तथा लोकमंगल की भावना को समझते हैं। परन्तु वे व्यामोहवश शादी-विवाह के चक्कर में पड़ जाते हैं और थोड़े दिनों में सांसारिकता के कांटों से इस तरह जकड़ जाते हैं कि उनको रोते भी नहीं बनता। यह ठीक है कि सामान्य लोग शादी-विवाह करके रहते ही हैं और उन्हें रहना भी चाहिए। अन्यथा वे अनर्थ करेंगे। परन्तु जो ज्यादा समझदार है, जो आत्मकल्याण और लोककल्याण को समझता है, यदि वह शादी-विवाह एवं सांसारिकता के कांटों में फंसता है, तो उसे पीछे केवल पश्चाताप हाथ लगता है। क्योंकि एक बार दुनियादारी में जकड़ जाने के बाद उससे छूटने वाला विरला होता है। अच्छे संस्कार वाले यदि कारणवश दुनियादारी में फंस गये तो वे जीवनभर केवल पश्चाताप करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जो एक बार सांसारिकता में फंस गया वह निकल नहीं सकता। मनुष्य में पक्के निश्चय की वह महान शक्ति है जिससे सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं। सद्गुरु कबीर ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी प्रशंसा की है जो एक बार संसार में उलझकर भी उससे निकल आता है "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।"

मनुष्य को चाहिए कि वह पहले ही कुसंग से सावधान होकर उससे दूर हो जाय।

सद्गुरु बिना जीवों का भटकाव

जीव मर्म जाने नहीं, अन्ध भया सब जाय।
बादी द्वारे दादि न पावै, जन्म-जन्म पछिताय॥२४४॥

शब्दार्थ—बादी = वादी, प्रवक्ता, गुरु। दादि = दाद, इंसाफ, न्याय।

भावार्थ—मनुष्य वास्तविकता का रहस्य नहीं जानते। सब विवेकहीन बने भटक रहे हैं। वे नाना मत के गुरुओं की सभाओं में भी न्याय नहीं पाते। फलतः जीव जन्म-जन्मांतर पश्चाताप करते और भटकते रहते हैं॥२४४॥

व्याख्या—अशिक्षित से शिक्षित, गंवई से शहरी, चपरासी से उच्चतम अफसर एवं शासक और निरक्षर से उच्चतम विद्वान जड़-चेतन की वास्तविकता का भेद पाये बिना अंधे बने भटक रहे हैं। यंत्र, तंत्र, मंत्र, गंडे, ताबीज, भूत, प्रेत, देवी, देवतादि नाना मिथ्या कल्पनाओं में सारा संसार चक्कर खा रहा है। आदमी अपने ऊपर एक अदृश्य-शक्ति की कल्पना करके स्वयं विमूढ़ बना है। जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्व हैं जिनमें अपने-अपने गुण-धर्म अनादि निहित हैं। इस भेद को न समझकर संसार की प्रायः हर घटना में किसी कल्पित देव को कारण मान लिया जाता है जिससे मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र में निरंतर गिरावट आती है। दैववाद के मोह में पड़ा हुआ मनुष्य हर प्राकृतिक घटना का कारण प्रकृति में न खोजकर किसी देव या ईश्वर में खोजता है जो चमत्कार एवं अन्धविश्वास को प्रश्रय देता है। ग्रह, उपग्रह की गति, जड़तत्त्वों की क्रियाशीलता, ऋतु परिवर्तन, वनस्पति, नदी, झरने, भूचाल, ज्वालामुखी, पर्वत, बादल, वर्षा, समुद्र की घटनाएं प्रकृति में होती हैं, तो इनके कारण हमें प्रत्यक्ष प्रकृति में ही खोजना चाहिए, कल्पित देव में नहीं। आदमी बुद्धि, विवेक तथा अनुसंधान का इतना तिरस्कार करता गया कि वह करीब-करीब हर बात में पोंगापंथी हो गया। जब पंडित, विद्वान, महात्मा नामधारी भटक रहे हैं तब आमजनता का भटकना स्वाभाविक ही है।

सद्गुरु कहते हैं "बादी द्वारे दादि न पावै" साधारण मनुष्य विद्वानों, वक्ताओं एवं गुरुओं-द्वारा भी न्याय नहीं पाता है। अधिकतम धर्मोपदेशक तो स्वयं भटके हैं और रात-दिन मानो संसार को भटकाने में ही लगे हैं। दैववाद, अवतारवाद, चमत्कारवाद तथा अनेक अजीबोगरीब बातें करना मानो धार्मिक गुरुओं की नियति हो गयी है। अतएव संसार के अधिकतम धार्मिक गुरुओं की सभाओं में न्याय नहीं मिलता। अनेक धार्मिक गुरु जीव को अंश, प्रतिबिम्ब, आभास, इच्छा, द्वेषादि से स्वरूपतः बद्ध कहकर मानो उसका निरादर करने पर ही डटे हैं। जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल है। जिसने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता तथा संसार के सारे शास्त्रों की रचना की है, जिसने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का अन्वेषण किया है, जिसने ईश्वर, देवी, देवताओं आदि की कल्पना की है, उस परमसत्ता जीव को ही तुच्छ कहना मानव के दुर्भाग्य का लक्षण है। इन सबका फल है कि जीव जन्म-जन्मांतरों से दुख भोगता है। अपने महत्त्व को भूलकर कोई अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

जाको सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिश धाय।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥२४५॥

शब्दार्थ—घूर = कचड़ा डालने की जगह।

भावार्थ—जिसको सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं, वह अशांत होकर सर्वत्र भटकता है। उस पगले की विवेक की आंखें बंद होने से उसे कुछ दिखाई नहीं देता, जलता है घर और बुझाता है घूर॥२४५॥

व्याख्या—गुरु और सद्गुरु में अन्तर होता है। माता, पिता, दाई, विद्या पढ़ाने वाले तथा एक-एक विद्या एवं कला का ज्ञान कराने वाले एवं किसी मत के अनुसार दीक्षा देकर कुछ सन्मार्ग में लगाने वाले—ये सब गुरु हैं। गुरु बहुत होते हैं। एक गुरु के बाद दूसरा गुरु स्वीकारा जाता है। परन्तु सद्गुरु केवल एक होता है जिसकी शरण मिल जाने के बाद दूसरा सद्गुरु नहीं ढूंढ़ना पड़ता। गुरुओं की शरण में जाकर भी जहां तक यथार्थ बोध एवं संतोष नहीं हुआ वहां तक मानो सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु मिल जाने पर सारी भ्रांतियां मिट जाती हैं और यथार्थ बोध हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जिसको सद्गुरु नहीं मिला है वह बोध न पाने के कारण अशांत होकर दसों दिशाओं में भटकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान[1], नैर्ऋती, आग्नेय, वायव्य, नीचे तथा ऊपर—ये दस दिशाएं हैं। विवेकहीन आदमी परमात्मा या मोक्ष को पाने के लिए इन दसों दिशाओं में भागा-भागा फिरता है। तीर्थों के नाम से वह आठों दिशाओं में तो दौड़ता ही है, ऊपर स्वर्ग या परमात्मा के धाम की कल्पना करता है और नीचे क्षीरसागर तथा उसमें विष्णु की कल्पना करता है। यहां दसों दिशाओं का अर्थ लाक्षणिक भी है। इसका अर्थ हुआ सभी तरफ। आदमी बोध के बिना सभी तरफ दौड़ता है। दसों दिशाओं का अर्थ चारों वेद तथा छहों शास्त्र भी किया जा सकता है। अर्थात आदमी चारों वेदों तथा छहों शास्त्रों की वाणियों में भटकता है। अंततः सरल अर्थ यही है कि जब तक मनुष्य को यथार्थ सद्गुरु-द्वारा अपने स्वरूप का वास्तविक बोध नहीं मिलता, तब तक वह सब समय एवं सब तरफ भटकता ही रहता है। चाहे अनपढ़ हो या विद्वान सब भटकते हैं। आज के युग में भी अंधविश्वास की कमी नहीं है। आज भी गुरुडम कम नहीं है। धूर्त विद्वान अशिक्षित तथा शिक्षित मूर्खों को अपने माया-जाल में फंसाकर उनका शोषण करते हैं। सद्गुरु नाम वजनदार है, तो धूर्तों ने स्वयं को सद्गुरु घोषित कर दिया। अतएव जिज्ञासुओं को बहुत सावधान रहने योग्य है।

जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था, जड़-चेतन एवं विश्व के शाश्वत नियमों का ज्ञान नहीं है और जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है, वह अन्धा है, विवेकहीन है। वह घर में आग लगने पर उस पर पानी नहीं डालता है, किन्तु घूर पर डालता है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि की आग तो उसके दिल में लगी है, उसे वह नहीं शांत करता है, किन्तु पत्थर-पीतल, पेड़-पहाड़, पानी-नदी आदि पूजता फिरता है। वह काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा,

---

१. ईशान—उत्तर-पूर्व कोण; नैर्ऋती—पश्चिम-दक्षिण कोण; आग्नेय (अग्निकोण)—पूर्व-दक्षिण कोण; वायव्य—पश्चिम-उत्तर कोण।

बद्री, पुष्कर, रामेश्वर, द्वारिका, पुरी आदि तीर्थ कहे जाने वाले नगरों की खाक छानता है; जहां पंडे-पुजारियों के धक्के एवं वचन-व्यवहार के सिवा कुछ नहीं पाता है। कारण है उसे सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु ही साधक की आंखें खोलता है और बतलाता है कि हे मानव! तेरे हृदय-मन्दिर में ही आत्मदेव निवास करता है। वही परमात्मा है। यह अपनी चेतना ही परम तत्त्व है। तू अपनी आत्मा की अवहेलना करके कहीं मत भटक। छोड़ सारे देवी-देवताओं का प्रपंच, और समझ अपने आत्मदेव को। व्यक्ति ने अपने स्वरूप को, अपने आत्मदेव को भूलकर सारे देवी-देवताओं के पचड़े का सृजन किया है और उसी में भटक रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि बाह्यप्रपंच छोड़कर सच्चे सद्गुरु की खोज करे।

पारख का महत्त्व

बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।
सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥२४६॥

शब्दार्थ—अन्तै = अलग, पृथक। पारख = गुण-दोष की पहचान, विवेकज्ञान।

भावार्थ—वस्तु कहीं अलग रखी हो और उसे खोजा जाय कहीं अलग, तो हाथ में कैसे लगेगी! वे ही अच्छे लोग हैं तथा वे ही प्रशंसा करने योग्य हैं जो अपने मन में विवेकज्ञान रखते हैं और परख की कसौटी पर सब कुछ परखते रहते हैं॥२४६॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी वस्तु अपनी आत्मा है, वह अपने आप 'मैं' के रूप में है। परन्तु मनुष्य 'मैं' का, अपने आपका विवेक न कर कुछ बाहर खोज रहा है। अपने स्वरूप का बोध पाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। परन्तु मनुष्य समझता है कि मेरा परम लक्ष्य बाहर है, इसलिए वह अपने आप पर कभी न ध्यान देकर अपने लक्ष्य को सदैव बाहर खोजता है।

एक बुढ़िया घर में बैठी कपड़ा सिल रही थी। वह बीच में उठकर कुल्ला-पानी करने गयी। जब लौटी, तब बहुत खोजने पर भी उसे सूई न मिली। इतने में दरवाजे की सड़क पर नगरपालिका की बत्ती जल गयी। उसने सड़क पर आकर सूई खोजना शुरू किया। किसी ने उससे पूछा—

"दाई, क्या खोजती हो?"

"बेटा, सूई।"

"वह कहां गिरी है?"

"घर में।"

"तो बाहर क्यों खोजती हो?"

"क्योंकि यहां बत्ती जलती है।"

"मां, बाहर चाहे जितनी बत्तियां जलें, सूई यहां नहीं मिलेगी। सूई तो घर के भीतर ही मिलेगी, क्योंकि वह वहीं खोई है। तुम घर में बत्ती जलाओ और वहीं खोजो।"

हमारी दशा यही है। आत्मदेव, रामदेव, चेतनदेव हृदय के भीतर है और हम मूर्ख बने उसे बाहर खोजते हैं। हम बाहर शायद असंख्य जन्मों से खोजते हों, परन्तु वह आज तक नहीं मिला है। आगे भी उसे अनंतकाल तक खोजते रहें तो भी वह नहीं मिलेगा। खोज कर जो वस्तु मिलती है, वह तो जड़ पदार्थ है, विजाति मायावी पदार्थ है। अपनी वस्तु तो अपना स्वरूप है। उसे खोजना नहीं है, किन्तु जगत से लौटकर समझना है। केन उपनिषद् में कहा गया है कि वह "प्रतिबोधविदितं मतम्"[१] का विषय है। हम बाहर दृश्यों को जो कुछ जानते हैं वह बोध है और जब दृश्यों से एवं बाहर से लौटकर विवेक करते हैं कि दृश्यों को कौन जाना तब 'प्रतिबोध' होता है कि मैंने ही तो दृश्यों को जाना। जो दृश्यों को जानता है वह मैं हूं। फिर मैं कौन हूं? मैं चेतन हूं, मैं ही वह राम हूं जिसे मैं खोज रहा हूं। सद्गुरु विशालदेव ने भी कहा है "घूमि लखत जब आप को, मैं जाना व तमन्ध"[२] अर्थात जब जीव दृश्यों से लौटकर अपने आप पर ध्यान देता है, तब उसे बोध होता है कि मैं चेतन ही जड़ अन्धकारमय दृश्यों को जानता हूं।

कबीर देव का हर वचन मार्मिक होता है। वे यहां भी मार्मिक वचन कहते हैं "बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ" अतएव वे पुनः कहते हैं "सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ" वही सज्जन है, वही प्रशंसा करने योग्य है जो अपने पास में पारख रखता है। कबीर देव का पारख बड़ा प्रिय विषय है। कबीर देव पारखी हैं। वे सबके गुण-दोषों की परखकर दोषों को छोड़ते तथा केवल गुणों को ग्रहण करते हैं। पारखी असत्य के लिए बड़ा निर्भय होता है। वह पुरानी पोथी, परंपरा, प्राचीन बड़े पुरुष सबका आदर करता है, परन्तु किसी द्वारा पोषित असत्य को नहीं स्वीकारता। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व बनी राजनीति की महान पुस्तक "कौटलीय अर्थशास्त्रम्', के ग्रंथारंभ में ही अंन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—इन चार विद्याओं का वर्णन किया गया है। उनमें प्रथम 'अन्वीक्षकी' है। सांख्य, योग और लोकायत मत को अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर देव अपने युग के मानो अन्वीक्षकी विद्या के आचार्य हैं। कबीर देव हर बात में अन्वीक्षण, परीक्षण एवं परख करते हैं, और अपनी बात मानने वालों को राय देते हैं कि तुम लोग भी अपने साथ 'पारख' रखो—"पारख राखै साथ।"

परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। जीव ज्ञानमात्र है। ज्ञान ही में तो परख है। एक चींटी भी धूल में मिले हुए शकर के कण को परखकर उसमें से निकाल लेती है। हम मनुष्य-शरीर का विवेकसम्पन्न साधन पाकर भी धर्म के नाम पर चलाये गये अन्धविश्वासों की निष्पक्ष परख करके सारासार निर्णय न कर पावें तो इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा! हमें सारे संस्कारों के बंधनों को तोड़कर सारासार की परख करनी चाहिए। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "परख साधु गुरु परख कबीर, पारख पद पहिचान। पारख के परताप से, सब भ्रम जाला मान।।" अर्थात पारख अपने साथ में रखने के कारण ही साधु, गुरु और कबीर साहेब प्रशंसा के पात्र हैं। इसलिए मनुष्य को पारखपद की पहचान करनी

---

१. केन उपनिषद्, खंड २, मंत्र ४।

२. विशाल वचनामृत, अपनाबोध, साखी ४९।

चाहिए। अर्थात अपने पारखस्वरूप, परखशक्ति एवं स्व-स्वरूप का महत्त्व समझना चाहिए। निष्पक्ष सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान ही प्रशंसनीय है। अतएव मानव मात्र को निष्पक्ष पारखी होना चाहिए। इसलिए सद्गुरु रामरहस साहेब ने कहा है—"बन्दौं सन्मुख पारखी।"

श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी।
सेंदुर का सिंधौरा, झपनी की झपनी ॥२४७॥

शब्दार्थ—निबेरिये = निबेड़ा, गुण-दोषों की परख, सारासार निर्णय, बन्धनों का त्याग। सिंधौरा = सेंदुर रखने का पात्र। झपनी = ढक्कन।

भावार्थ—आदर से सबकी बातें सुन लो, परन्तु अपनी परख से उनके गुण-दोषों की पहचान करो और दोषों का त्यागकर केवल गुणों का ग्रहण करो। जैसे सेंदूर के सिंधोरा में ढक्कन लगा रहता है, तो वह सिंधोरा है और झपनी की झपनी भी है, वैसे सबकी बातें सुन लेने से श्रद्धा का निर्वाह हो जायेगा और अपने विवेक से उनका निर्णय करने से बुद्धि का भी निर्वाह हो जायेगा ॥२४७॥

व्याख्या—सबकी गलत बातों का निर्मम खण्डन करने वाले कबीर देव जैसा दुनिया में कोई नहीं हुआ; परन्तु उनका खंडन ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक है। वे भौतिकवादी नहीं, किन्तु अध्यात्मवादी हैं। यहां कहने का अर्थ यह नहीं है कि भौतिकवादियों की गतिविधि ध्वंसात्मक होती है। कितने लोग अध्यात्मवाद का मुखौटा लगाकर ध्वंसात्मक काम करते हैं। ईश्वर मानने वालों ने जितना मानव का खून-खराबा किया है उतना अनीश्वरवादियों ने नहीं किया है।

कबीर साहेब वस्तुतः भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की सीमा से परे विवेकवादी तथा मानवतावादी हैं। वे सब का आदर करते हैं, परन्तु किसी का असत्य किंचित भी स्वीकारना नहीं चाहते। इसलिए वे इस साखी की पहली पंक्ति में कितनी समन्वयात्मक बातें कहते हैं, सोचते ही बनता है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" सबकी बातें आदर से सुनो, परन्तु अपने विवेक से उन सबका निर्णय करो। न तो किसी की बातों एवं शास्त्रों का अनादर करो और न आंख मूंदकर समर्थन करो।

संसार में प्रायः दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वे होते हैं जो अपने धर्म और अपने शास्त्र के नाम पर सब कुछ आंखें मूंदकर मानते हैं। वे किसी बात पर थोड़ा भी विचार नहीं करना चाहते। दूसरे वे लोग होते हैं जिनको धर्म और शास्त्र के नाम पर ही चिढ़ होती है। वे धर्म और शास्त्रों के नाम पर चलती हुई असंगत बातों से इतने क्षुब्ध होते हैं कि धर्म और शास्त्र की कोई बात ही नहीं सुनना चाहते। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ऐसे लोग काफी हैं। ऐसे लोगों की चिढ़ इसलिए अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि पंडित, महात्मा एवं बूढ़े लोग धर्म और शास्त्र के नाम पर चलने वाली सारी असंगत बातों को संगत एवं सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और उन ऊलजलूल बातों को न मानने

वालों को वे नास्तिक कहने का साहस करते हैं। वेद, बाइबिल, कुरानादि कुछ भी नाम हो, यह कहना कि किसी निराकार ईश्वर ने पुस्तकें बनाकर दुनिया में भेजी हैं, वह राम, कृष्ण के रूप में अवतार बनकर आया है तथा उसने ईसा और मुहम्मद के रूप में अपने पुत्र एवं संदेशवाहक भेजे हैं, हनुमान सूरज निगल गये, कबीर ने मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से चौकी को चला दिया, ईसा ने आठ रोटियों एवं छह मछलियों से कई हजार नर-नारियों को पेट भर खिला दिया, उसके बाद कई झाबे रोटी तथा मछलियां बच भी गयीं, कोई हजार, लाख या करोड़ों वर्षों तक जीता रहा, काकभुशुंडि सत्ताईस कल्प अर्थात एक खर्ब, पौने सोलह अरब वर्षों तक एक ही आश्रम पर बने रहे; इन जैसी बिना सिर-पैर की बातें विवेक की आंखों वाला आदमी नहीं मान सकता और आज का वस्तुपरक बुद्धि रखने वाला आदमी भी नहीं मान सकता! यह सब असत्य बातें मानना अन्याय और पाप भी है। धार्मिक नामधारियों द्वारा उक्त ऊटपटांग बातों का भी समर्थन करने तथा उन्हें बलात समाज से मनवाने की बात देख-सुनकर नयी पीढ़ी का युवावर्ग या बुद्धिवादी समाज धर्म नाम से बिदक जाता है। फिर तो वह धर्म की बात सुनना भी नहीं चाहता। दूसरे वे लोग हैं जो अपने माने गये धर्म और शास्त्रों की बातों में कुछ निबेरना नहीं चाहते। वे किसी बात पर सोचना, तर्क करना एवं निर्णय करना पाप समझते हैं।

आजकल उक्त दोनों विचार प्रबल रूप से चल रहे हैं। इसलिए नई तथा पुरानी पीढ़ी में खाईं चौड़ी होती जा रही है। आज हर सम्प्रदाय की युवा पीढ़ी के अधिकतम लोग तर्कहीन एवं युक्तिहीन बातों को नहीं मानते हैं। आजकल हर सम्प्रदाय का पुरोहितवाद ठंडा होता जा रहा है। पुरानी आस्थाएं टूट रही हैं। आस्थाविहीन जीवन बिखर जाता है। इसलिए उत्तरोत्तर युवा-पीढ़ी दिशाहीन होकर भटक रही है। उसे धर्म के धंधेबाजों से चिढ़ बढ़ती जा रही है। धर्म के नाम पर जो सर्वाधिक बड़ी दुकानें होती हैं उनमें अधिकतम चमत्कार नामक झुठाई पर ही चलने वाली होती हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी भगवान के अवतार, कबीर के अवतार, तथाकथित सूक्ष्म एवं कारण शरीरधारी ऋषियों की आत्मा से बातें करने वाले, प्रेतात्मा एवं भूतों से बातें करने वाले, थोड़े पूजा-पाठ से ऋद्धि-सिद्धि देने वाले गुरुओं की भरमार है। इन सब बातों से आज के बुद्धिवादी समाज का चित्त पीड़ित है।

उक्त रोग की एक ही औषध है जिसे सद्गुरु बतला रहे हैं कि सबकी बातों को आदर से सुनो, और सबके शास्त्रों को आदर से पढ़ो, परन्तु उन पर अपनी परख की कसौटी लगाकर सारासार का निर्णय करो। संसार की सारी पुस्तकें, महापुरुष एवं परम्पराएं आदरणीय हैं, परन्तु गलत बातें किसी की भी आदरणीय नहीं हैं। सबकी बातें सुनना प्रचलित अर्थ में श्रद्धा है और अपने विवेक से उनमें गुण-दोषों की परख करना बुद्धि है। यद्यपि यह पीछे देखा गया है कि श्रद्धा सत्य का धारण करना है। हिन्दू केवल वेदों को, इसाई बाइबिल को, यहूदी बाइबिल के पुराने अंश को तथा मुसलमान कुरान को ही मानते हैं। परन्तु अब पूरे मानव-समाज की नयी पीढ़ी को चाहिए कि वह दुनिया के सभी शास्त्रों को आदर दे, परन्तु तर्कहीन बातें किसी की भी न माने। हर बात एवं शास्त्र की हर वाणी पर परख की कसौटी लगाकर उनमें सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करे।

निर्विवाद रहो

बाजन दे बाजन्तरी, तू कल कुकुही मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर॥२४८॥

शब्दार्थ—बाजन्तरी = बाजा, मतवाद को लेकर लड़ने वाले। कल = मधुर, कमजोर। कुकुही = वनमुरगी, एक छोटा बाजा। छेर = छेड़, छेड़खानी, नोकझोंक, चिढ़ाने की क्रिया, सुर निकालने के लिए बाजे (स्वरवाद्य) को छूने एवं दबाने की क्रिया। क्या परी = क्या चिंता है? निबेर = निबेड़ा, छुटकारा।

भावार्थ—मतवाद का पक्ष लेकर झगड़ने वाले लोगों को झगड़ने दे! तू शांतिप्रिय साधक इन झगड़ालू वनमुरगों से छेड़खानी मत कर, अथवा द्वंद्व का घनघोर बाजा बजाने वाले इन झगड़ालुओं के बीच में अपना कमजोर स्वर मत छेड़। तुझे दूसरे के विवाद से क्या प्रयोजन है! तू अपने इंद्रिय, मन एवं वासनाओं के झगड़े को मिटा, उससे छुटकारा ले!॥२४८॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर सत्य कहने में खरे हैं, किन्तु विवादी से विवाद करने से दूर हैं। खरा सत्य कहे बिना जिज्ञासु को बोध नहीं हो सकता, किन्तु मतवादियों से विवाद करके कभी अपना सत्य उन्हें समझाया नहीं जा सकता। इसलिए कबीर देव खरा तो कहते हैं, परन्तु विवादी से उलझते नहीं। वे कहते हैं कि यदि कोई अपने मत का पक्ष लेकर झगड़ा करता है, बक-बक करता है तो उसे झगड़ने दो। तुम अपने आप को उसके झगड़े के बीच में मत डालो। "बाजन दे बाजन्तरी" का अर्थ है बाजा बजने दो। भावार्थ है कि झगड़ालुओं को झगड़ने दो। जो लोग झगड़ा करके अपने मत को सिद्ध करना चाहते हैं, मनोविज्ञान से उनकी मानसिकदशा की दयनीयता समझ लो और उनसे दूर हो जाओ। भला, आज तक कोई झगड़ा करके अपना पक्ष दूसरे को समझा सका है! जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ है, वहां केवल कलह हुआ है। शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों के लोग एक-दूसरे को कभी समझने की चेष्टा नहीं किये न करते हैं। वहां तो अपनी सही-गलत बातों को येनकेन प्रकारेण दूसरों के सामने ऐसे जोर से कहना है कि लोग उनसे आतंकित हो जायं। शास्त्रार्थ में तो वही जीतता है जो चतुर, चपल और बकबक करने में प्रचंड हो। शास्त्रार्थ में समझने-समझाने की बात नहीं होती। वहां तो हार और जीत की बात होती है। अपढ़-मूर्ख आपस में कलह होने पर लाठी चलाते हैं और विद्वान-मूर्ख शास्त्रार्थ के नाम पर झगड़ा करते हैं। समझने-समझाने का रास्ता शास्त्रार्थ नहीं, सत्संग है।

यदि कोई तुम से विवाद करते हुए कहे कि मुझे अपने मत को समझाओ। यदि तुम अपने मत को नहीं समझा पा रहे हो तो तुम्हारा मत असत्य है। तो उससे तुम कह सकते हो कि ठीक है, मेरा मत असत्य ही समझ लो। परन्तु आप का मत तो सत्य है, फिर आप अपने मत को विवाद करके दूसरे मत वालों को क्यों नहीं समझा देते! जैसे आप के ख्याल से आप का मत सत्य होते हुए भी आप उसे दूसरे को बलात नहीं समझा सकते, वैसे मैं भी अपना मत आप को बलात कैसे समझा सकता हूं! दूसरे सबको समझाकर तब हम अपने मत पर चलें, जो ऐसा सोचेगा वह न दूसरे सबको समझा सकेगा और न अपने मत के अनुसार चल सकेगा।

जिज्ञासुओं को ही समझाया जा सकता है। जिज्ञासु वह है जो विनम्र, उदार और निष्पक्ष होकर श्रद्धा एवं बुद्धिपूर्वक समझने का भाव रखता है। जो व्यक्ति अपनी बातों को पक्की मानकर विवाद करने आता है वह नहीं समझ सकता। उसे समझने का भाव ही नहीं है। यदि कहीं कोई मतवादी घेर-घेरकर विवाद ही करना चाहे, तो आपको उससे केवल उसकी बातों में प्रश्न करना चाहिए। अपना कोई मत न रखना और दूसरे के मत में केवल प्रश्न करते जाना विवादी को थकाने का तरीका है। परन्तु इस शस्त्र का प्रयोग तब करना चाहिए जब कोई बहुत पीछे पड़ जाय और आप अपना बल अंदाज लें। इसके लिए आपको अगले आदमी के मत का ज्ञान होना चाहिए और आप में प्रगल्भ बुद्धि तथा वाक्यनिपुणता होनी चाहिए। परन्तु शांति-इच्छुक के लिए यह सब करना ठीक नहीं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं "बाजन दे बाजन्तरी"। झगड़ा करने वालों को झगड़ने दे। "कल कुकुही मति छेर" तू शांतिप्रिय आदमी, इन झगड़ालू वनमुरगों से छेड़खानी एवं नोकझोंक न करे। 'कल' का अर्थ मधुरता एवं शांति है, कुकुही का अर्थ वनमुरगा है। वनमुरगा जब बोलने लगता है तब दिन-दिन "पुक-पुक" बोला करता है। वनमुरगा को बंसमुरगा भी कहते हैं। कबीर साहेब सटीक उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि तुम कल से, शांति से रहने वाले साधक हो, अतएव इन झगड़ालू वनमुरगों से मत उलझो। विवाद की कोई इति नहीं है। विवाद से विवाद बढ़ता है। सद्गुरु ने ७०वीं रमैनी में भी कहा है "बोलत-बोलत बाढ़ु विकारा" बहुत बोलने से केवल विकार बढ़ता है।

सुना जाता है कि कुकुही नाम का एक छोटा बाजा भी होता है जिसमें कमजोर स्वर निकलता है। इस अर्थ में 'कल' कुकुही का विशेषण होगा। अर्थात 'कुकुही' में 'कल' विशेषण माना जायेगा। अतएव अर्थ होगा कि कमजोर स्वर निकालने वाले कुकुही नाम का बाजा बजाना मत शुरू करो। अभिप्राय है कि नक्कार खाने में तूती की आवाज की कहानी मत चरितार्थ करो। अगला आदमी जोर देकर बकबक करने वाला प्रमादी है, और तुम शांति से, धीरे तथा कम बोलने वाले साधक हो, फिर तुम उससे अपना "कल कुकुही" क्यों छेड़ते हो? चातुर वह है जो पातुर से बचाए। अर्थात समझदार वह है जो झगड़ालुओं से अपने आप को बचाए। विवाद करने से अपनी शक्ति क्षीण होती है। इसलिए निर्विवाद रहना अच्छा है।

"तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर" तुम्हें इसकी चिन्ता क्यों होनी चाहिए कि दूसरे सब लोग तुम्हारी बातें समझ ही जायं। ऐसा कभी नहीं हुआ है। कोई अपनी बातें सबको नहीं समझा सका है। इसलिए तुम अपनी मनोवासनाओं को दूरकर तथा अपने सारे बन्धनों को काटकर स्वयं कृतार्थ हो जाओ, फिर जिन्हें तुम्हारी बातें समझनी होगी झख मारकर समझेंगे। तुम दूसरों को इसीलिए समझाना चाहते हो कि वह सत्य को समझकर तथा उसका आचरण कर कृतार्थ हो जाय, तो यह काम पहले तुम अपने लिए करो। सब, सबको समझाने के चक्कर में ही रहें, और स्वयं कोई समझकर अपना उद्धार न करे तो ऐसा समझाना किस काम का! अतएव हमें चाहिए कि हम दूसरे के विवाद से रहित होकर अपना कल्याण करें।

करनी के बिना कथनी बेकार है

गावै कथै बिचारै नाहीं, अनजाने का दोहा।
कहहिं कबीर पारस परसे बिना, जस पाहन भीतर लोहा॥२४९॥

शब्दार्थ—कथै = कहता है, ज्ञान-चर्चा। पाहन = पत्थर।

भावार्थ—दोहा, चौपाई, पद, श्लोक आदि गाते हैं, उनकी कथा भी कहते हैं, परन्तु उनका विचार करके आचरण नहीं करते, तो मानो वे अनजाने ही हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि जैसे मोरचा लगा लोहा पारस-पत्थर के भीतर ही क्यों न पड़ा हो, किन्तु मोरचा के परदे के कारण उसका पारस से स्पर्श न होने से वह सोना नहीं बनता, वैसे मलिनता में लिपटे हुए होने के कारण ज्ञान की वाणियों के पाठ तथा कथा करते हुए भी व्यक्ति का कल्याण नहीं होता॥२४९॥

व्याख्या—पारस-पत्थर तो वैसे काल्पनिक है, किन्तु बातों को समझाने के लिए इसका उदाहरण कवि-जगत में चलता है। जिस लोहा में खूब मोरचा लगा हो ऐसा लोहा चाहे पारस-पत्थर के भीतर ही पड़ा हो, वह सोना नहीं बन सकता। क्योंकि लोहा और पारस में मोरचा परदा बनकर दोनों का स्पर्श नहीं होने देता। यही दशा मलिनता में लिपटे हुए जीव की है। वे ज्ञान के ग्रन्थ पढ़ते हैं, गाते हैं, उनका व्याख्यान करते हैं, परन्तु बोध और आचरण की जगह पर कोरे-के-कोरे ही रहते हैं। जो व्यक्ति अपने में अहंकार, कामना तथा नाना मनोविकारों का पालन करेगा, उसका वाक्यज्ञान उसके कल्याण में सहायक नहीं बन पायेगा। यदि ज्ञान की वाणियों का याद करना, पाठ करना तथा उन पर व्याख्यान करना एक व्यसन है तो उससे वह आदमी अपना कल्याण तो कर ही नहीं पाता, उलटे उनके जोर से अपनी कमजोरियों को ढाकता है। वाचिकज्ञानी वाक्यज्ञान से अपने दोषों को सद्गुण सिद्ध करता है। एक प्रवक्ता महात्मा नामधारी ने अपने प्रवचन में कहा था "भगवद् भक्त में यदि दूषण हैं तो वे मानो भूषण ही हैं।" जब सुधार की भावना नहीं होती है तब व्यक्ति का सारा ज्ञान उसे विपरीत दिशा में ही ले जाता है। ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी, कथावाचक एवं प्रवक्ता होते हैं जो बातें निचोड़कर कहते हैं, परन्तु उनके आचरणों से लाखों कोस दूर होते हैं। अप्पय दीक्षित ने ठीक ही कहा है "नीति, ज्योतिष, शास्त्रों, वेदों एवं ब्रह्म के ज्ञाता बहुत मिलते हैं, परन्तु अपनी कमजोरियों तथा अपने अज्ञान के ज्ञाता विरले हैं।"[1] इसीलिए युधिष्ठिर जी कहते हैं "पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो क्रियावान है, सदाचरणसंपन्न है, वह पण्डित है।"[2] अतएव हमारे मन का थोड़ा ज्ञान भी आचरणयुक्त है तो बहुत है। आचरणरहित बहुत ज्ञान किस काम का!

---

१. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञाऽपिभवन्ति शास्त्रज्ञाः।
ब्रह्मज्ञाऽपिलभ्याः स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥

२. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ वनपर्व, ३१३/११०॥

ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानना भ्रम है

प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारहबान।
कसत कसौटी ना टिका, पीतर भया निदान ॥२५०॥

शब्दार्थ—हौं = मैं, ब्रह्म। बारहबान = खरा, खालिस सोना।

भावार्थ—सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु बहुत हो जाऊं, और वह एक से अनेक अर्थात जगत बन गया—यह सिद्धांत खरा सोना के समान बड़ा सच्चा लगा। परन्तु जब इसे परख की कसौटी पर कसा गया तब यह सत्यरूप में नहीं ठहरा। अंततः पीतल सिद्ध हुआ ॥२५०॥

व्याख्या—पुराकाल में ऐसे चिन्तक हुए हैं जिन्होंने यह कल्पना की कि सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसके अलावा और कुछ नहीं था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया "एकाकी न रमते।" अतएव उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु प्रजा के रूप में अनेक हो जाऊं—"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।" फिर सृष्टि हो गयी। इन सबका अर्थ यह है कि पहले जगत नहीं था, केवल एक अखंड शुद्ध चेतनस्वरूप ब्रह्म था। उसी ने जगत बनने की इच्छा की और वह स्वयं जगत बन गया। इस सिद्धांत को लोग बड़ा महत्त्वपूर्ण मानने लगे। आज भी जो लोग विवेक नहीं करते वे इस सिद्धांत को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु जब इस पर परख की कसौटी लगायी गयी तब असत्य सिद्ध हुआ। ब्रह्मवादीजन ब्रह्म को स्वजाति, विजाति और स्वगत भेद से रहित निर्विकार, एक अखण्ड सर्वत्र व्याप्त और शुद्ध चेतन मानते हैं, फिर उसमें स्फूर्ति, संचालन, क्रिया, विकार हो ही नहीं सकते। जहां क्रिया और विकार ही संभव नहीं, वहां सृष्टि का होना कैसे संभव होगा! इसके अलावा ब्रह्म को सच्चिदानंद कहा जाता है। अर्थात वह सत् है, चिद् है और आनंदस्वरूप है। परन्तु जगत असत्, अचिद् और क्लेशमय है, तो सत् से असत्, चिद् से अचिद् और आनंदस्वरूप से क्लेशरूप जगत कैसे बन सकता है? वैशेषिक सूत्रकार कणाद ऋषि कहते हैं कि कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होता है।[1] अर्थात जो गुण कारण में होगा वही कार्य में होगा। कारण से सर्वथा हटकर कार्य में गुण नहीं आ सकते। और चेतन से जड़ तथा जड़ से चेतन तो हो ही नहीं सकते। फिर शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत कैसे बन गया! क्रियाहीन ब्रह्म से क्रियाशील जगत कैसे बन सकता है! अतएव इस सिद्धांत को कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनि और पतंजलि ने जो क्रमशः सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और योग दर्शन के प्रणेता हैं, नहीं माना है।

कुछ ब्रह्मवादीजन कहते हैं कि जड़-गोबर से चेतन बिच्छू पैदा हो जाते हैं, नशारहित अन्न, महुआ आदि से नशा वाली शराब बन जाती है, मारक तत्त्व हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद तत्त्व ऑक्सीजन से पोषक तत्त्व जल बन जाता है, और पोषक पदार्थ घी और मधु की बराबर मात्रा मिला देने से मारक पदार्थ विष बन जाता है, इसलिए चेतन ब्रह्म से जड़ जगत भी बन सकता है। इन्हीं सब युक्तियों एवं प्रमाणों से भौतिकवादी जन जड़तत्त्वों में गुणात्मक परिवर्तन मानकर उनसे चेतन की उत्पत्ति मानते हैं।

---

१. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥ २/१/२४ ॥

वस्तुतः जड़ गोबर से चेतन बिच्छू नहीं होता। चेतन जीव जड़ गोबर या किसी जड़तत्त्व में देह धारण कर सकता है। अन्न में घुन पैदा हो जाते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि घुन की चेतना अन्न से पैदा हुई है। वस्तुतः अन्न से केवल घुन का शरीर पैदा हुआ है, चेतन तो स्वतः है। अन्न, महुआ सब में सूक्ष्म रूप में नशा है, इसीलिए भोजन करने के बाद नींद या आलस्य आता है। अन्न, महुआ आदि का सूक्ष्म नशा उन्हें सड़ा देने पर शराब में प्रचंड रूप में आ जाता है। मिट्टी की कठोरता उसके कार्य ईंट में तथा पत्थर की कठोरता उसके कार्य लोहे में अधिक हो जाती है। मारक हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद ऑक्सीजन से पोषक जल बन गया तथा पोषक घी और मधु से मारक विष बन गया तो भी जड़ का जड़ ही रहा। जड़ से चेतन नहीं बन गया और न चेतन से जड़ बन गया; अतएव न तो जड़ तत्त्वों से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है और न चेतन से जड़तत्त्वों की उत्पत्ति हो सकती है। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। दोनों स्वतः एवं अनादि-अनंत हैं।

कोई ऐसी सत्ता जो एक अखण्ड, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सर्वत्र व्याप्त हो, उसमें गति, स्फूर्ण, संचालन, क्रिया तथा सृष्टि कदापि नहीं हो सकती। अतएव एक अखण्ड निर्विकार, शुद्ध चेतन ब्रह्म जगत बन गया, यह सिद्धांत एकाएक खरा सोना भले लगे, परन्तु कसौटी पर चढ़ाने के बाद यह पीतल सिद्ध होता है। सद्गुरु ने 'बारहबान' और 'पीतर' शब्द का प्रयोग करके कितना सटीक विवेचन किया है! ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी से प्रकाशित "बृहत् हिन्दी कोश" में 'बारहबान' के अर्थ खरा, खालिस (सोना); निर्दोष, बेएब; पूरा तथा कामिल[1] किये गये हैं। 'पीतर' का अर्थ सर्वविदित है जो एक प्रसिद्ध मिश्रधातु है और मुख्यतः तांबे और जस्ते के योग से बनता है, जिसका शुद्ध नाम पीतल है, पीतर उसका अपभ्रंश है। ठग लोग प्रायः पीतल पर सोने का पानी चढ़ाकर भोले लोगों के हाथों में सोने के भाव उसे बेच देते हैं। उसे खरीदने वाले पीछे जब किसी पारखी से उसकी कसौटी कराते हैं तब वह पीतल सिद्ध होता है और वे अपना माथा पकड़कर पश्चाताप करते हैं। ब्रह्म ही जगत बन गया—यह सिद्धांत सोने का पानी चढ़ा पीतल है। यह परख की कसौटी पर असत्य सिद्ध होता है। इसके विषय में ६७वें शब्द "जो पै बीज रूप भगवान" की व्याख्या देखने योग्य है।

ब्रह्म शुद्ध चेतन है और वह मैं ही हूं—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म तथा प्रज्ञानं ब्रह्म अर्थात—मैं ब्रह्म हूं, वह तू है, यह आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञान ही ब्रह्म है—ब्रह्म की यह सरल एवं शुद्ध परिभाषा ही ठीक है। परन्तु उसे जहां सर्वत्र व्याप्त तथा जगत का अभिन्ननिमित्त उपादान कारण कहा जायेगा वहीं उसके विषय में भ्रम पैदा किया जायेगा। ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ, बृहत्त्वात् ब्रह्म। श्रेष्ठ यह द्रष्टा चेतन जीव एवं स्वस्वरूप ही है जो जड़ से सर्वथा पृथक व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी आदि भावों से रहित केवल ज्ञान मात्र है। अतः निज चेतनस्वरूप से पृथक ब्रह्म खड़ा करना एक भ्रम पैदा करना है। मैं ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त तथा जड़-जगत से अभिन्न हूं—यह महाभ्रम है। वस्तुतः मैं शुद्ध चेतन,

---

१. कामिल के अर्थ—पूरा, संपूर्ण, तमाम, योग्य, पूर्णज्ञाता (सिद्धपुरुष) हैं।

जड़जगत से सर्वथा पृथक, दृश्यों का द्रष्टा एवं ज्ञान मात्र हूं, यही वास्तविकता है। इस को ब्रह्म एवं श्रेष्ठ कहना कोई बुरा नहीं है।

भक्ति के विषय में बहकाव

कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखि के, अमृत डारिनि खोय॥२५१॥

शब्दार्थ—विष = जड़ाध्यास। अमृत = जो मृत एवं जड़ न हो वह चेतन, स्वरूप विचार।

भावार्थ—लोगों ने कंकर-पत्थर और जड़ पिंडियों को धो-पूजकर भक्ति का स्वरूप नष्ट कर दिया है। उन्होंने अपने मन में जड़ाध्यास का विष रख लिया और चेतनस्वरूप के विचाररूपी अमृत को नष्ट कर दिया॥२५१॥

व्याख्या—लोग कंकर-पत्थर की पिंडी को या पत्थर, काष्ठादि को गढ़-छीलकर किसी आकार या पुतले को देवता नाम देकर उन्हें नहलाते हैं, पोछते हैं, पत्र-पुष्प-मिष्ठान्नादि चढ़ाकर पूजते हैं। उन्हें सुलाते और जगाते हैं। गरमी में पंखा, कूलर आदि चलाकर तथा ठंडी में आग से या हीटर चलाकर उन्हें शीतलता या गरमी प्रदान कर उनकी सेवा करते हैं। ये लोग भावुकता में पड़कर इतनी भी समझ नहीं रखते कि इन जड़मूर्तियों एवं जड़पिंडियों को इन सबकी आवश्यकता नहीं है। ये सब तो किसी प्राणी की सेवा में समर्पित करना चाहिए।

जड़पिंडियों एवं जड़मूर्तियों की सेवा-पूजा करना केवल समय ही बरबाद नहीं करना है; किन्तु उलटे उत्तरोत्तर जड़भावना को ग्रहण करके चेतनस्वरूप के बोध से दूर होते जाना है। पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, धातु, कागज आदि के मूर्ति, चित्र आदि तो केवल किसी दिवंगत व्यक्ति के स्मरण दिलाने वाले हैं। किसी महापुरुष की मूर्ति या चित्र देखने से उनकी याद होती है यही उनका उपयोग है। मूर्ति, चित्र आदि को धूल-गर्द आदि से गंदे न होने दे, उन्हें साफ रखे, यही उनकी पूजा है, फिर इससे अधिक उन्हें नहलाना, खिलाना, सुलाना, जगाना, पंखा करना, आग तपाना, उनकी आरती उतारना, वंदना करना, नमस्कार करना—सब भावुकतापूर्ण एवं विवेक-विरुद्ध बातें हैं। विवेकवान लोग महापुरुषों के चित्र केवल दीवार आदि में टांग देते हैं जिससे उन पर नजर पड़ने पर मन में अच्छे भाव आवें। वे उनको न नमस्कार करते हैं और न उनकी पूजा-आरती। मूर्ति तो वे रखते ही नहीं, क्योंकि भोले लोगों-द्वारा उसमें पूजा का भाव बढ़ सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि कंकर-पत्थर आदि की पूजा करना भक्ति के स्वरूप को नष्ट करना है। प्राणि मात्र के प्रति दया, प्रेम एवं करुणा का भाव रखकर उनकी यथासाध्य सेवा करना और अंततः निजस्वरूप चेतन के प्रति अनुराग, स्वरूपचिन्तन एवं स्वरूपस्थिति ही सच्ची भक्ति है। दूसरे प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही भक्ति है, यही अमृत है। इसे छोड़कर जड़ की पूजा और परोक्ष में अपना लक्ष्य खोजना

विष को अपने हृदय में रखना है। ''अर्ब खर्च ले दर्ब है'' इस २२८वीं साखी में भक्ति के स्वरूप का थोड़ा विस्तृत विवेचन हुआ है।

रही एक की भई अनेक की, बिस्वा बहुत भ्रतारी।
कहहिं कबीर काके संग जरिहौ, बहु पुरुषन की नारी॥२५२॥

शब्दार्थ—बिस्वा = वेश्या। भ्रतारी = पतिवाली।

रूपक—मानो एक स्त्री हो और वह पति वाली हो। परन्तु पीछे से उसका स्वभाव खराब हो गया हो और वह वेश्या बनकर बहुतों की प्रेयसी बन गयी हो। अब उसके सभी प्राप्त पुरुष मानो पति हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि वह अन्त में सती होना चाहे तो किसके साथ में जलेगी, क्योंकि वह तो बहुत पुरुषों की नारी है!

भावार्थ—मनोवृत्ति का पति केवल निज चेतनस्वरूप है, परन्तु वह इसे न समझकर वेश्यावत बहुपतिवाली बन गयी। मनुष्य की चित्तवृत्ति नाना देवी-देवताओं की कल्पना करके भटक गयी। कबीर देव कहते हैं कि यह बहुतों की खींचतान में पड़ी हुई मनोवृत्ति अंततः किसमें स्थित होगी!॥२५२॥

व्याख्या—मनुष्य के इस शरीर में जीव पति है और मनोवृत्ति पत्नी है। अतएव मानव की मनोवृत्ति का एकमात्र पति जीव ही है। जब मनोवृत्ति जीव में स्थित होगी, अर्थात जब मनोवृत्ति निजस्वरूप चेतन में ही विश्राम पायेगी, तब जीव के द्वन्द्व समाप्त होंगे। परन्तु अज्ञानवश मानव की मनोवृत्ति नाना जड़ देवी-देवताओं में भटकती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हनुमान, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण, शिव, गायत्री देवी तथा और अनेक तथाकथित देवी-देवताओं और सिनेमा वालों द्वारा दी गयी एक नयी देवी संतोषी मा, कितने नाम गिनाये जायं, इनकी सीमा नहीं है। फिर इनके अलावा नाना मतों के नाना ईश्वर जिनके विषय में उन मतों की विचित्र-विचित्र कल्पनाएं हैं। इन सब में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती है। स्वस्वरूप से अलग जहां कहीं भी मनोवृत्ति भटकेगी, उसे शांति नहीं मिलेगी। क्योंकि निजस्वरूप से अलग जितने आलंबन माने जाते हैं सब मनःकल्पित एवं विजाति हैं। कबीर देव ने ३८वें शब्द में कहा है ''जहँ जहँ गयउ अपन पौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।''

''कहहिं कबीर काके संग जरिहौ'' कबीर देव कहते हैं कि मनोवृत्ति किसमें स्थित होकर परम विश्राम पायेगी? वस्तुतः जब तक यह विजाति देवी-देवताओं में भटकती रहेगी, कभी चिरविश्राम नहीं पायेगी। चिरविश्राम तो निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से ही मिल सकता है। सार भाव यह है कि मनुष्य जब तक अपना उपास्य अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को न समझकर बाहर भटकता है तब तक उसे परमशांति नहीं मिल सकती। मनुष्य की मनोवृत्ति को परम विश्राम स्वरूपस्थिति में ही मिलेगा।

संसार-सागर और मन-पक्षी

तन बोहित मन काग है, लक्ष योजन उड़ि जाय।
कबहिं के भरमें अगम दरिया, कबहिं के गगन रहाय॥२५३॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज। लक्ष = लाख की संख्या। योजन = दो, चार, आठ कोस मतभेदमयी मितियां (सीमाएं) मानी जाती हैं, कोस की लम्बाई चार हजार हाथ मानी ती है; जैनी दस हजार कोस का योजन मानते हैं।[1] गगन = आकाश, अलौकिकता।

भावार्थ—यह मानव-शरीर संसार-समुद्र में तैरता हुआ एक जहाज है। इस पर रूपी कौआ बैठा है। यह क्षण ही में लाखों योजन उड़ जाता है। कभी तो यह अपार ार-समुद्र में भटकता है और कभी अलौकिकता के आकाश में पंख फहराने लगता ।२५३।।

व्याख्या—जहाज समुद्र के तट पर मानो खड़ा है। एक कौआ शाम को आकर उस बैठ गया। कुछ रात बीतते ही जहाज तट से चल पड़ा। सुबह होते-होते जहाज सैकड़ों लोमीटर दूर चला गया। अब कौआ जहाज से उड़कर इधर-उधर जाता है। दूर-दूर तक ने पर भी उसे न थल मिलता है न बाग-वन। वह कहीं आश्रय न पाने से पुनः जहाज लौट आता है; क्योंकि जहाज के सैकड़ों या हजारों किलोमीटर चारों तरफ केवल त-जल है।

इस प्रकार संसार-सागर में यह शरीर जहाज है। इसमें मनरूपी कौआ बैठा है। यह ण-क्षण लाखों योजन उड़ जाता है। परन्तु इसको अलग आश्रय न मिलने से यह शरीर लौट आता है। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि वह कहीं जाता हो। वस्तुतः हमने जो छ देख, सुन और भोग रखा है उनकी याद होना ही मानो मन का भटकना है। मन तो ीर के भीतर ही रहता है। वहीं से वह अनुभूत विषयों की याद करता रहता है।

कबीर देव अपनी बातें सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दे-देकर समझाते हैं। यह उनकी थन-शैली की महान विशेषता है। उनके द्वारा इस साखी में दिया गया रूपक कितना कर्षक है! संसार सागर है, शरीर जहाज है और मन कौआ है। यह मन-कौआ लाखों जन उड़ जाता है। यह कभी संसार-सागर में भटकता है और कभी अलौकिकता के काश की ऊंचाई पर चढ़ जाता है।

पहली बात है कि यह मानव-शरीर संसार-सागर से तैरने के लिए जहाज है। परन्तु ुष्य इसे जहाज के रूप में न देखकर विषय-भोगों को भोगने के साधन के रूप में खता है। दृष्टिकोण भिन्न होने से फल भिन्न होता है। यदि इस शरीर में रहकर जीव षयों में डूबा रहता है तो वह मानो भवसागर में आज बह रहा है तथा आगे भी उसी में ने की तैयारी करता है। और यदि वह इस शरीर में रहते हुए परख-द्वारा सारी सनाओं का त्याग करते हुए अपने स्वरूप में स्थित होता है तो वह संसार-सागर से आज पार हो चुका है। हमें चाहिए कि हम इस शरीर को संसार-सागर से तरने के साधन हाज के रूप में देखें और इसका उपयोग उसी काम के लिए करें।

दूसरी बात है कि यह मन कौआ है। यह अपने स्वभाव से मलिन विषयों पर ही ता रहता है। यह हर क्षण लाखों योजन दूर उड़ जाता है। इसका अर्थ है कि यह

---

[1] बृहत् हिंदी कोश।

शरीर के भीतर रहते-रहते देखे, सुने तथा भोगे हुए विषयों की क्षण-क्षण याद करता रहता है। इसीलिए यह 'अगम दरिया' में भ्रमता रहता है। अगम दरिया एवं अपार सागर यह संसार है, यह विषयों का जाल है। विषयी मन इसी में भटकता है। परन्तु यह कभी-कभी आकाश में भी उड़ जाता है। मन कभी-कभी वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष एवं संसार से एकदम निवृत्त होकर असंग-स्थिति का भी विचार करता है।

अंततः मन का आश्रयस्थल शरीर ही है। इस दृष्टिकोण को लेकर "तन बोहित मन काग है" इस साखी में कहा गया है। मन शरीर में रहते हुए ही संसार-सागर में भटकता है तथा आकाश में भी उड़ता है। अतएव इसी हाड़-चाम के शरीर में रहते हुए विवेकज्ञान हो जाने पर मन विषयों के सागर से मुक्त होकर अध्यात्म के आकाश में चढ़ सकता है। हमारे जीवन की विशेषता यही है कि मन संसार के कीचड़ से निकलकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के दिव्य गगन में विहरण करे, हमारा मन कौआ से बदलकर हंस बन जाय और ज्ञान का मोती चुगे। जब हमारा मन हंस बनकर स्वरूपज्ञान में रमेगा, तब हमारा शरीर संसार-सागर से तरने का जहाज है यह चरितार्थ हो जायेगा।

मौन और वक्तव्य के महत्त्व

ज्ञान रतन की कोठरी, चुम्बक दीन्हों ताल।
पारखि आगे खोलिये, कूँजी बचन रसाल ॥२५४॥

शब्दार्थ—रतन = रत्न—हीरा, पन्ना, मोती, माणिक, लाल, जवाहर, नगीना आदि (मुख्य रत्न नौ हैं—माणिक, नीलम, लहसुनिया, हीरा, पन्ना, पुखराज, मूंगा, मोती, गोमेद),[1] ज्ञानरूप रत्न। चुम्बक = एक तरह का पत्थर जो लोहे को खींचता है, तात्पर्य में आकर्षक। ताल = ताला, मौन। कूँजी = कुंजी, ताला खोलने का साधन, ताली। रसाल = मधुर, मीठा।

भावार्थ—ज्ञानरूपी रत्नों से भरी अंतःकरणरूपी कोठरी में मौन का आकर्षक ताला लगा दो, और जब उन रत्नों के ग्राहक सच्चे पारखी मिलें तब उसे मीठे वचनरूपी कुंजी से उनके आगे खोलो ॥२५४॥

व्याख्या—सद्गुरु ने क्या खूब कहा है, स्वाद में उत्तम और गुणों में सर्वोत्तम! सीख तो सर्वोत्तम है ही, कहने का तरीका भी कितना उत्तम है! ज्ञान का रूपक रत्न है, अन्तःकरण का कोठरी, मौन का चुम्बक ताला, जिज्ञासु का पारखी एवं जौहरी तथा मीठे वचन का कुंजी रूपक है। इन रूपकों एवं अलंकारों में कबीर देव हमें बहुत बड़ी सीख देते हैं। कितने ज्ञानी कहलाने वाले "बदो तो पंच न बदो तो पंच" बने हर जगह हर समय अधिकारी तथा अनधिकारी के सामने अपना ज्ञान झाड़ते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ज्यादा बकबक करने से न तुम्हारा कल्याण होगा और न दूसरे का।

---

१. बृहत् हिंदी कोश।

ज्ञानी का ज्ञान उसके अन्दर में पचना चाहिए। खाया हुआ आहार यदि बिना पचे शरीर से निकल जाय तो उससे शरीर को कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार अर्जित किया हुआ ज्ञान बिना आचरण किये परोपदेश में निकल जाय तो उससे वक्ता का अपना कोई लाभ नहीं हुआ। प्राप्त जानकारी को दूसरों के सामने परोसने का उतावलापन ओछापन का लक्षण है। सभा में प्रवचन देना हो तो वहां भी मांग होने पर ही समयानुसार देने योग्य को देना चाहिए, और व्यक्तिगत मिलने वालों को बिना अगले आदमी की ओर से मांग हुए उसे ज्ञान की बातें परोसने लगने से न जिसको उपदेश दिया जाता है उसका लाभ होता है, न उपदेश की इज्जत होती है और न उपदेष्टा की। ज्ञानातिरेक में बहुत बोलने की आदत होती है जो केवल छिछलापन सिद्ध करती है। अनुभूत ज्ञान जीवन का स्वरूप होता ही है; अर्जित ज्ञान भी रहनी सम्पन्न व्यक्ति में उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। इसलिए वह हर समय फट-फट ज्ञान नहीं झाड़ता; किन्तु प्राप्त ज्ञान का आचरण रूप में दोहन करता है। हम जो कुछ जानते हैं उनका निरन्तर आचरण करने का प्रयत्न करना ही उनका दोहन करना है।

जो प्राप्त जानकारी का आचरण करता है वह वाक्यसंयमी होता है। वह मौन का ताला लगाये रखता है। वह तो उसे तभी खोलता है जब उसका ग्राहक पारखी मिल जाता है। बेपारखी के सामने अपने रत्नों को खोलना उनका निरादर करना है। कुजड़ों की हाट में रत्न नहीं बिकते। रत्न तो पारखियों एवं जौहरियों की हाट में बिकते हैं। कल्पित देवी-देवताओं में उलझे हुए लोग स्वरूपज्ञान का विषय क्या समझ सकते हैं! किन्तु यह भी समझना चाहिए कि सत्पात्र हर जगह होते हैं। जिन मनुष्यों को स्वरूपज्ञान की बातें बताने वाला कोई नहीं मिला, तो वे देवी-देवताओं की अलीक धारणा में ही उलझे हैं। यदि उन्हें कोई जड़-चेतन का निर्णय तथा स्वरूपज्ञान की परख देने वाला हो, तो उनमें कितने ही सत्पात्र मिलेंगे जो थोड़े ही दिनों में सारे जंजाल छोड़कर स्वरूपज्ञान में निष्णात हो जायेंगे। इतिहास साक्षी है कि आज के बड़े-बड़े पारखी पहले देवी-देवताओं के ढोंग-ढांग में पड़े थे। जब उन्हें किसी पारखी की संगत मिली तो वे भी सत्य का मोती परखकर कृतकृत्य हो गये। जीव मात्र का स्वरूप पारख अर्थात ज्ञान है। परख की शक्ति तो सब में है। वह जहां रहता है किसी-न-किसी प्रकार परखता रहता है। मानव-शरीर तो अधिक विवेकसम्पन्न है। मानव अंधविश्वासियों की संगत में अंधविश्वासी हो गये हैं। जब वे पारखियों की संगत पाते हैं तो उनमें से कितने ही सत्पात्र ऐसे निकल आते हैं जो शुद्ध पारखी हो जाते हैं। वे 'स्व' और 'पर' दोनों की परखकर 'पर' से 'स्व' को निकाल लेते हैं।

सद्गुरु ने उपदेश देने तथा किसी सत्पात्र को सत्यासत्य की परख देने के लिए तरीका बताया "पारखि आगे खोलिये, कूँजी बचन रसाल" एक तो सत्पात्र के आगे अपनी बातें खोलो और दूसरी बात है कि मीठे वचनों से किसी को सीख दो। रुचिहीन आदमी के पीछे अपना समय व्यर्थ मत करो, परन्तु जो तुम्हारी बातों में रुचि ले उससे मीठे वचनों में बातें करो। यह ध्यान रखो, सारा सत्य किसी के सामने एक साथ नहीं कहा जा सकता। भले कोई बहुत गहरे अंधविश्वास में पड़ा हो, परन्तु उसे मीठे वचनों में जितना ज्यादा

सफलतापूर्वक समझाया जा सकता है उतना कटु कहकर नहीं। उपदेशक के मीठे वचनों के कारण श्रोता का उपदेशक से प्रेम हो जाता है और प्रेम हो जाने के बाद सीख देने वाले की बात गले उतरने लगती है।

इस साखी में मुख्य दो बातें बतायी गयी हैं कि विवेकवान का काम है कि वह या तो मौन रहे और या तो सत्पात्र मिलने पर मीठे वचनों से उसे अच्छी सीख दे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी वैराग्य संदीपनी में कहा है—

की मुख पट दीन्हें रहें, यथाअर्थ भाषंत।
तुलसी यह संसार में, सो विचार युत संत।।

साधना के नाम पर मोटी-झीनी माया का जाल

स्वर्ग पाताल के बीच में, दुई तुमरिया बद्ध।
षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध।।२५५।।

शब्दार्थ—स्वर्ग पाताल = आकाश-पाताल, तात्पर्य में पूरा संसार। दुई तुमरिया = मोटी तथा झीनी माया। षट दर्शन = छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण—तात्पर्य में समस्त आध्यात्मिक विचारक। संशय = अनिश्चय, संदेह, खतरा।

भावार्थ—संसार के वे समस्त लोग जो खाने-भोगने से ऊपर उठकर आत्म-उद्धार की बातें सोचते हैं, उनके मन में यह संदेह पैदा हुआ कि हम इस संसार-सागर से कैसे तरेंगे, तो उन्होंने इसके लिए मोटी-झीनी माया की दो तुमड़ियां बांधकर उसके सहारे से तरना चाहा। इसी में लाखों साधक एवं चौरासी सिद्ध भी पड़े हैं।।२५५।।

व्याख्या—कबीर देव अपने कथनों के बीच-बीच में बुझव्वल कहा करते हैं जिससे लोग अपने मस्तिष्क का ज्यादा प्रयोग करें और उनकी समझ-क्षमता बढ़े। इस साखी में कुछ ऐसा ही कथन है। "स्वर्ग पाताल के बीच में" कहकर सद्गुरु ने पूरे संसार को व्यक्त किया है। आकाश-पाताल के बीच में ही तो यह हमारा संसार है। अतएव "स्वर्ग पाताल के बीच में" का लाक्षणिक अर्थ हुआ पूरा संसार।

"दुई तुमरिया बद्ध" क्या है? लोग ताल-तलैयों एवं छोटी नदी और नालों को दो तुमड़ियों एवं सूखी लौकियों को एक में बांधकर उसके सहारे तैरकर पार हो जाते हैं। परन्तु यदि कोई उसी के सहारे समुद्र पार करना चाहे तो डूबकर मर जाने के सिवा कोई दूसरा परिणाम नहीं होगा। तुमड़ियां पानी में नहीं डूबतीं यह उनका स्वभाव है। इसीलिए उनके सहारे नदी-नाले पार किये जाते हैं। परन्तु वे समुद्र नहीं पार कर सकतीं। यहां तुमड़ियों के अभिप्राय में है मोटी और झीनी माया। संसार के समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतकों एवं साधकों ने उपासना एवं ध्यान के जितने आलंबन निर्धारित किये हैं सब मोटी या झीनी माया के भीतर हैं। ध्यान एवं उपासना के विषय जहां तक किसी महापुरुष के आकार, चित्र या नाद, बिंदु, सबद आदि बनाये जाते हैं, मोटी माया है और जहां तक किसी परोक्ष लोकवासी या सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की अवधारणा की जाती है और

उन्हें ध्यान एवं उपासना के विषय बनाये जाते हैं, झीनी माया है। क्योंकि ये सब इंद्रियगोचर जड़ पदार्थ या मनगोचर कल्पनाएं एवं अवधारणाएं हैं। इन सबकी उपासना एवं ध्यान से मन में एकाग्रता, सात्विकता तथा थोड़ी शांति आ सकती है। परन्तु चिरंतन स्थिति और शांति तो स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में ही संभव है।

हम मन को रोकने एवं ध्यान-उपासना करने के जितने आलंबन बनाते हैं वे सब विजाति होते हैं, हमारे निज चेतनस्वरूप से अलग होते हैं। अतएव वे हमारी स्थिति एवं विश्राम के परम आश्रय नहीं बन सकते। मनुष्य मन से सोच करके ही सारे उपास्य बनाता है। अतएव साधक के सारे उपास्य मन के खिलौने हैं, और मन के आयाम से पार जाकर ही जीव की सर्वोच्च स्थिति होती है। मन के पार वही जाता है जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है। वह मन को शून्य कर देता है और स्वयं शेष रह जाता है।

"षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध" छह दर्शनियों, लाखों साधकों एवं चौरासी सिद्धों के मन में यह संदेह हुआ कि हम संसार-सागर से कैसे पार जायेंगे! षड्दर्शन में संसार के सभी संप्रदाय आ जाते हैं। षड्दर्शन में योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। सेवड़ा में जैन-बौद्धादि सब आ जाते हैं। दरवेश का शाब्दिक अर्थ फकीर या भिक्षु है, परन्तु उसमें सारे अभारतीय मत आ जाते हैं। षड्दर्शन का लाक्षणिक अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है भी। साखीग्रंथ में आया है "गुरु को पूजै गुरुमुखी, बाना पूजै साध। षटदर्शन जो पूजही, ताका मता अगाध॥" इसमें आये हुए 'षटदर्शन' का अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है।

संसार के समस्त धार्मिक मत वालों के मन में संसार-सागर से पार जाने में संदेह हुआ, अतएव पार जाने के लिए सब ने कोई पूजा, आराधना, उपासना एवं ध्यान का आलंबन बनाया। वे पहली साधना में पात्रानुसार ठीक हो सकते हैं परन्तु गंतव्य तक पहुंचाने वाले नहीं, क्योंकि वे माया की दो तुमड़ियों के भीतर हैं। वे या तो मोटी माया के भीतर हैं या झीनी माया के। वे या तो स्थूल जड़ पदार्थ हैं या मन की कल्पनाएं। परन्तु पांचों विषयों तथा मनःकल्पनाओं के पार जाने पर ही जीव की अपने स्वरूप में स्थिति होती है। स्वरूपस्थिति ही जीव का परम गंतव्य एवं सर्वोच्च विश्रामस्थल है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार के अधिकतम साधक माया की दो तुमड़ियों के बीच में ही फंसे पड़े हैं। वे स्थूल बुद्धि वाले बनकर देवी-देवता एवं नाद, बिंदु, सबद तक ही उपासना एवं ध्यान में सीमित हैं या बहुत उड़कर चले तो ईश्वर की कल्पना करके मन में कोई उसका आकार बना लिये और उसी में अपने मन को जोड़ते हैं। इंद्रियगोचर पंचविषय पदार्थ तथा मनगोचर समस्त कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर स्वस्वरूप में स्थित होने वाले कम लोग हैं। अधिकतम लोग साधना, उपासना के नाम पर मोटी और झीनी माया के आयाम में ही पड़े रहते हैं।

इस साखी में चौरासी सिद्ध शब्द आये हैं। चौरासी सिद्धों के नाम इस प्रकार हैं—

१. लूहिपा	२. लीलापा	३. विरूपा
४. डोम्भिपा	५. पबरीपा	६. सरहपा

७. कंकालीपा ८. मीनपा ९. गोरक्षपा
१०. चोंगगिपा ११. वीणपा १२. शांतिपा
१३. तत्तिपा १४. चमरिपा १५. खंगपा
१६. नागर्जुन १७. कराहपा १८. कर्णरिपा
१९. थगनपा २०. तारोपा २१. शालिपा
२२. तिलोपा २३. छत्रपा २४. भद्रपा
२५. दोखन्धिपा २६. अजोगिपा २७. कालपा
२८. धोकिपा २९. कंकणपा ३०. कमरिपा
३१. डेंगिपा ३२. भदेपा ३३. तन्धेपा
३४. कुकुरिपा ३५. कुसूलिपा ३६. धर्मपा
३७. महिमा ३८. अचिन्तिपा ३९. भलहपा
४०. नलिनपा ४१. भुसुकुपा ४२. इन्द्रभूतिपा
४३. मेकोपा ४४. कुठालिपा ४५. कमरिपा
४६. जलन्धरपा ४७. राहुलपा ४८. घवरिपा
४९. मेदिनीपा ५०. पंकजपा ५१. घणटापा
५२. जोगीपा ५३. चेलुकपा ५४. गुण्डरिपा
५५. लुचिकपा ५६. निर्गुणपा ५७. जयानन्नपा
५८. चर्षटिपा ५९. चश्पकपा ६०. भिकनपा
६१. भलिपा ६२. कुमरिपा ६३. जवरिपा
६४. मणिभद्रपा ६५. मेखलापा ६६. कनखलापा
६७. कलकल्पा ६८. कुन्तलिपा ६९. धहुलिपा
७०. उधलिपा ७१. कपालपा ७२. कमालिपा
७३. किलपा ७४. सागरपा ७५. सर्वभक्षपा
७६. नागबोधिपा ७७. दारिका ७८. पुतुलिपा
७९. पनहपा ८०. कोकलिपा ८१. अनंगपा
८२. लक्ष्मीकरापा ८३. समुद्रपा और ८४. भलिपा

हंस की रहनी

सकलो दुर्मति दूर करु, अच्छा जन्म बनाव।
काग गौन गति छाड़ि के, हंस गौन चलि आव॥२५६॥

शब्दार्थ—दुर्मति = दुर्बुद्धि, कुमति। काग = कौआ। गौन = चंचल, गमन, आचरण। गति = चाल, दशा।

भावार्थ—सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो। जीवन को अच्छा बनाओ। चंचल कौए की चाल एवं दशा छोड़कर हंस के आचरण में चलते हुए स्वरूपस्थिति को प्राप्त करो॥२५६॥

व्याख्या—सद्गुरु ने २५५वीं साखी में षड्दर्शनियों एवं सिद्धों के मायामय तथा उलझन भरे साधनों की चर्चा कर उनके गुण-दोषों को परखाया है। इस साखी में वे सरल साधना बतला रहे हैं। वे इस साखी में चार बातें बताते हैं—सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो, जीवन को अच्छा बनाओ, कौए की चाल छोड़ दो और हंस की चाल में चलकर स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। हम इन चारों बातों पर अलग-अलग विचार करें।

"सकलो दुर्मति दूर करु" दुर्मति का अर्थ कुमति एवं दुर्बुद्धि है। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो भाई से भाई लड़ते हैं, पिता से पुत्र तथा पुत्र से पिता लड़ते हैं, पति से पत्नी तथा पत्नी से पति लड़ते हैं। पड़ोस, गांव, मोहल्ला, राष्ट्र तथा अन्ताराष्ट्र में लड़ाई का कारण दुर्बुद्धि है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो न खाने योग्य पदार्थों को आदमी खाता है तथा न पीने योग्य पदार्थों को पीता है। आदमी अखाद्य मांस, मछली एवं अंडे ही नहीं खाता है, अपितु वह शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि सर्वथा हानिकारी चीजों को भी खाता-पीता है। जिसमें लाभ कुछ न हो अपितु केवल हानि हो ऐसे नशा की चीजों को पैसा से खरीदकर खाना दुर्बुद्धि नहीं तो क्या है! पढ़े-लिखे लोग अपने आपको बुद्धिवादी मानते हैं और वे ही लोग उस सिगरेट को पीते हैं जिसके डिब्बे पर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। इससे अधिक बुद्धि का दीवाला पिटना और क्या होगा! ऐसे लोगों को बुद्धिवादी कहा जाय तो बुद्धि का शत्रु किसे कहा जाय!

पवित्र आचरण में चलकर शांतिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। परन्तु संसार के अधिकतम लोग आपस में लड़-लड़कर जीवन बिताते हैं। कुछ लोग तो यहां तक शूरवीर होते हैं कि थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए मुकदमे में हजारों-लाखों रुपये खर्च करते हैं और जीवन के अधिकतम वर्ष लड़ाई में बिता देते हैं। एक आदमी ने पांच सौ रुपये के मूल्य की जमीन के लिए मुकदमे में पचहत्तर हजार रुपये खर्च किये और वह सत्ताईस वर्षों से लड़ रहा है। जब उससे पूछा गया कि थोड़ी जमीन के लिए इतना समय और धन मुकदमे में क्यों बरबाद करते हो; तब उसने बड़े रोब से कहा "साहेब, लड़ाई जमीन की नहीं, बात की है।" इस प्रकार बात-बात की लड़ाई में बहुमूल्य जीवन खोना, समय, शक्ति बरबाद करना और जीवनभर राग-द्वेष में जलना कौन-सी बुद्धिमानी है! यह केवल मिथ्या अहंकार है। 'धिग स्वारथ झूठा हंकारा।' आदमी दुर्बुद्धि के कारण ही अपने समय, शक्ति सबका दुरुपयोग कर अपने जीवन को दुखों से भर लेता है।

देह को 'मैं' मानना सबसे बड़ी दुर्मति है। यह हाड़-मांस का बना शरीर जिसमें टट्टी-पेशाब भरी है, इसे यह मानना कि मैं शरीर हूं, महती दुर्बुद्धि है। फिर इंद्रियों के विषय-भोगों में लालायित होकर उनमें डूबना दुर्मति का प्रकाश है, क्योंकि इंद्रिय-भोगासक्ति ही तो जीवन को नरक बनाती है। इसी प्रकार मन की जिन अवधारणाओं, वाणी तथा इंद्रियों की क्रियाओं से जीवन उलझन और अशांति में पड़े, उन सबके मूल में दुर्बुद्धि है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो।

दूसरी बात है "अच्छा जन्म बनाव।" जीवन को अच्छा बनाना क्या है! कई भाषाओं का ज्ञान, पद, प्रतिष्ठा, महल, वाहन, परिवार, रुपये-पैसे आदि सांसारिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न होना जीवन को अच्छा बनाना है—सामान्य लोगों की यही समझ है। यह सब ठीक है। इनका कोई निरादर नहीं कर सकता। अच्छे जीवनस्तर के ये भौतिक अंग हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि निष्पाप और निर्मल जीवन ही अच्छा जीवन है। अपने मन के पाप और मलिनता के कारण विद्वान दुखी हैं, पद-प्रतिष्ठा वाले दुखी हैं, धन, महल, वाहन एवं ऐश्वर्य वाले दुखी हैं, परिवार वाले दुखी हैं और यदि जीवन में दुख है तो जीवन अच्छा कहां है!

केवल कुछ भाषा और लिपि का ज्ञान हो जाना विद्या-प्राप्ति नहीं है और दुनिया का कुछ कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा हो जाना धन-प्राप्ति नहीं है। वस्तुतः शुद्ध बुद्धि और आत्मज्ञान का पाना ही विद्या-प्राप्ति है और सदाचार ही धन है। इनके बिना बड़े-बड़े ऐश्वर्य वाले केवल दुखों में जल रहे हैं। अतएव जिसके जीवन में शील, क्षमा, करुणा, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परोपकार, संतोष, शांति आदि सद्‌गुण एवं सदाचार हैं उसका जीवन ही अच्छा है। स्वरूपज्ञान और सदाचार से पूर्ण जीवन ही अच्छा जीवन है।

सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता सब के जीवन में है, परन्तु वे सबके पास समान रूप से नहीं होतीं। रोटी सब को चाहिए। यह अलग बात है कि किनको कितनी कीमती रोटी मिलती है, अर्थात किनकी रोटी के साथ घी, दूध, मलाई, दही, मेवे आदि हैं, किनकी रोटी के साथ केवल रूखी सब्जी है और किनकी रोटी के साथ केवल नमक है। अच्छी चीज पाने की भावना सब के मन में होती है, परन्तु थोड़ी ठीक समझ हो जाय तो यह जाना जा सकता है कि इन सब चीजों में जितना अन्तर समझा जाता है उतना अन्तर नहीं रहता। यदि मन प्रसन्न है तो रोटी के साथ केवल नमक मिले तो उसमें मानो बहुत प्रोटीन और विटामिन है। भूख लगने पर सूखी रोटी भी अमृत लगती है और बिना भूख के मेवे-मलाई भी विष लगते हैं और यदि मन मलिन, पापी एवं दुखी है तो मेवे-मलाई भी मनुष्य को शक्ति न देकर पानी बन जाते हैं। हमारे शरीर पर कितना मूल्यवान वस्त्र है, हम कितने बड़े महल या झोपड़ी में रहते हैं, हमें कितने लोग जानते हैं, इन सब बातों का महत्त्व बहुत ऊपरी-ऊपरी है। महत्त्व तो इसमें है कि हमारा मन कितना पवित्र है। मन जितना पवित्र होगा जीवन में उतनी प्रसन्नता होगी। मन की पूर्ण पवित्रता में ही जीवन में पूर्ण प्रसन्नता रहती है। मन, वाणी तथा कर्मों की निर्मलता ही जीवन की निर्मलता है और जीवन की निर्मलता ही जीवन की अच्छाई है। अतः जो अपने जीवन को निर्मल बनाता है वही मानो अपने जीवन को अच्छा बनाता है।

तीसरी बात है "काग गौन गति छाड़ि के" कौए के आचरण एवं चाल छोड़ दो। कौए के मन, वाणी और कर्म तीनों गंदे होते हैं। उसका मन चंचल होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा उसके आचरण गंदे होते हैं। सभी पक्षियों में कौआ ज्यादा चालाक होता है। कहा जाता है कि जब कौआ को बच्चा पैदा हुआ तब उससे कौआ ने कहा कि देखो बेटे, यदि किसी आदमी को जमीन पर झुकते देखो तो समझ लो कि वह तुम्हें मारने के लिए पत्थर उठा रहा है, अतः तुम तुरन्त उड़ जाना। कौए के बच्चे ने कहा कि

पिताजी यदि आदमी अपनी जेब में पत्थर पहले से रख लिया हो तो? कौए ने कहा कि बेटा, तुम मुझसे भी ज्यादा चालाक हो। इस प्रकार कौए का बच्चा कौए से भी अधिक चालाक होता है। परन्तु ऐसा चालाक कि सुबह होते ही वह गंदगी पर चोंच मारता है। गोस्वामी जी के वचनों में "कागा काह न खाय" कौआ क्या नहीं खा लेता!

कौआ का मन बड़ा चंचल होता है। वह सबसे डरता है। उसे सब पर संदेह होता है। दूसरे पक्षी लोगों से इतना नहीं डरते। उन्हें लोगों पर इतना संदेह नहीं होता, इसलिए वे लोगों से इतने सावधान नहीं रहते। कौए की दशा एकदम भिन्न है। वह सबसे सब समय सावधान रहता है। मालूम होता है कि वह हर समय बहुत बड़ा खजाना बांधे घूमता है। चंचल, चालाक एवं पापी मन वालों की दशा यही होती है। इस प्रकार आपने कौए के मन को देखा कि वह कितना मलिन और चंचल है।

कौए की वाणी कर्कस होती है यह जगत प्रसिद्ध है। सब को इसका अनुभव है। कौआ जैसे आकर ऊपर बैठता है, वह बड़े जोरों से कर्र-कर्र आवाज करता है। इसलिए यह दोहा कहा गया है—"कागा काको धन हरै, कोयल काको देत। अपनो शब्द सुनाय के, जग यश अपयश लेत॥" इस प्रकार कौए के मन की चंचलता और वाणी की कर्कसता को आपने देखा। उसके आचरण की गंदगी की भी चर्चा ऊपर आ ही गयी है कि वह सब कुछ खाता रहता है।

कुछ मनुष्य भी ऐसे ही होते हैं जो मन के चंचल, वाणी के कर्कस तथा आचरण के गंदे होते हैं। वे कौए के समान ही सब पर संदेह करने वाले तथा ज्यादा चतुर-चालाक होते हैं। परन्तु कौआ चालाक होकर भी सुबह से गंदगी ही तो खोदता है! इसी प्रकार ज्यादा चालाक लोग अपने जीवन में बुराइयों की ही कमाई करते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि कौए की-जैसी मन की चंचलता, वाणी की कर्कसता तथा आचरण की गंदगी की चाल छोड़ दो। अर्थात तुम कौए के समान चंचल-चालाक, कटुभाषी एवं गंदे आचरण के मत बनो। किन्तु सरल मन वाले, मधुरभाषी एवं पवित्र आचरण वाले बनो। सद्गुरु कहते हैं कि तुम कौए की चाल छोड़ दो।

चौथी बात है "हंस गौन चलि आव" हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर-जैसी बड़ी एवं स्वच्छ झील में रहता है। उसके लिए दो किंवदंतियां हैं। एक यह कि वह मोती चुगता है और दूसरा यह कि वह नीर-क्षीर-विवेक करता है। अर्थात दूध और पानी एक में मिला हो तो वह उसमें से केवल दूध लेकर पानी छोड़ देता है। हो सकता है ये दोनों बातें हंस पक्षी में न हों। मोती का चुगना तो काल्पनिक है ही, उसका नीर-क्षीर-विवेक भी काल्पनिक लगता है। वैसे नीर-क्षीर अलग करने-जैसी बात असंभव नहीं है। हम दूध में नीबू का रस डाल देतें हैं तो दूध छेना बन जाता है और पानी अलग हो जाता है और छेना खाने या मिठाई बनाने आदि के काम में आता है। इसी प्रकार यदि हंस की चोंच में स्वाभाविक खटास होती हो तो उसको दूध में डुबाने से वह फटेगा ही और दूध छेना बन जाने से उसे हंस सहज ही खा सकता है तथा पानी छोड़ सकता है। वस्तुतः यहां हंस का मोती का चुगना तथा नीर-क्षीर-विवेक करना लाक्षणिक है। अर्थ है कि हंस गलत वस्तु को हटाकर पवित्र वस्तु खाता है। हंस मोती चुगता है। मनुष्य को

चाहिए कि वह हंस के समान सद्गुणों का ग्रहण करने वाला हो और हंस के नीर-क्षीर विवेक के समान जड़-चेतन एवं बंध-मोक्ष का विवेक करके और जड़-बन्धनों को त्याग कर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हो।

भारतीय परम्परा में हंस का बड़ा आदर है। वैदिक साहित्य में भी हंस का उदाहरण अनेक बार आया है। कबीर साहेब की वाणियों में तो हंस के उदाहरणों की भरमार है। संस्कृत भाषा के अहंसः से शुरू के अ तथा अंत के विसर्ग लुप्त होकर हिन्दी में हंस हो गया है। अर्थ हुआ कि 'मैं वह हूं' जो मैं चाहता हूं। मैं दुखों से पूर्ण निवृत्ति तथा परम शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप वही है। अथवा दूसरी भाषा में कहूं तो मैं परमात्मा, राम एवं मोक्ष चाहता हूं, तो मैं ही परमात्मा हूं, राम हूं एवं मोक्षस्वरूप हूं। इस प्रकार हंस का हंसत्व है निजस्वरूप-विवेक तथा निजस्वरूप-स्थिति। सद्गुरु इस साखी के चौथे चरण में कहते हैं "हंस गौन चलि आव"—हंस की रहनी में चले आओ। जड़-चेतन का नीर-क्षीर विवेक करके अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ।

कथनी और करनी की एकता

जैसी कहै करै जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे।
तामें घटे बढ़े रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँवारे॥२५७॥

शब्दार्थ—निरुवारे = त्याग करे। सँवारे = सुधारे।

भावार्थ—जैसी ज्ञान की बातें कही जाती हैं, वैसा ही आचरण करना चाहिए, और हृदय से राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। अपनी रहनी से रत्तीभर विचलित न हो। इस प्रकार से अपने आप का सुधार करना चाहिए॥२५७॥

व्याख्या—"जैसी कहै करै जो तैसी" बहुत बड़ी बात है। पुस्तकें पढ़कर, प्रवचन सुनकर तथा संसार की घटनाओं को देखकर मनुष्य को अनेक प्रकार की जानकारियां हो जाती हैं। उन जानकारियों को वह दूसरों के सामने सहज ही कह सकता है। परन्तु उनके अनुसार अपने आचरण बनाने में त्याग और श्रम करने पड़ते हैं। थोड़ी भी जानकारी बहुत बड़ा काम देती है यदि उसका आचरण जीवन में हो रहा है, और बहुत बड़ी जानकारी किस काम की जिसका आचरण न हो। आदमी जानता कम नहीं है, किन्तु करता कम है। किसी साधारण-से-साधारण आदमी से कह दो कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि पर अपने विचार कहे, तो वह अपनी बुद्धि तथा वाक्यशक्ति के अनुसार यही कहेगा कि ये सब नरक के द्वार हैं। परन्तु वह उन्हें नरक समझकर उनका त्याग नहीं कर पाता, बल्कि उन्हें बड़े प्यार से अपनाता है। इसका अर्थ यह है कि आदमी गलत को गलत जान तो सहज जाता है और उसे गलत कहता भी है, परन्तु उसे त्याग नहीं पाता, तो उसके वे जानना और कहना सार्थक नहीं होते। आदमी के जीवन में तब ऊंचाई आती है जब वह जिसे गलत समझता है उसको त्यागने के लिए कमर कस लेता है और जिसे सही समझता है उसे ग्रहण करने के लिए कमर कस लेता है।

जितना कहने में आता है उतना तत्काल करने में तो किसी से भी नहीं आता, परन्तु जिसे करने की चेष्टा है वह धीरे-धीरे अपनी कथनी को करनी में उतारता जाता है। कथनी को करनी में उतारना असंभव तो है ही नहीं, कठिन भी इसलिए लगता है कि मनुष्य के मन में विषयासक्ति है। परन्तु जिसे कल्याण एवं जीवन में परम शांति की इच्छा है वह आचरण में जी-जान से डट जाता है। जिसे रहनी धारण करने की तीव्र इच्छा है, उसके लिए यह सरल काम है। कोई भी संभव काम कठिन इसलिए लगता है कि हम उसके लिए तीव्र इच्छुक नहीं हैं। जब हमें जिस काम के करने के लिए तीव्र इच्छा होती है तब उसको करना सरल हो जाता है। इच्छाशक्ति मनुष्य का महान बल है। अमेरिका का इंजीनियर पेरी अपनी नब्बे वर्ष की उम्र के बाद अपनी प्रबल इच्छाशक्ति से उत्तरी ध्रुव क्षेत्र पर पहुंचा था जहां हजारों किलोमीटर चारों तरफ कठिन ठंडी के कारण आकाश में पक्षी भी नहीं उड़ते। वह हजारों किलोमीटर बर्फ में चलकर तथा हजारों फीट ऊंची बर्फ की चोटियों पर कठिनता से चढ़-उतरकर उस निर्जन स्थल में पहुंचा था और जब उसने उत्तरी ध्रुव-क्षेत्र पर पहुंचकर अमेरिका की ध्वजा गाड़ दी तो वह हर्ष से भर गया था। आदमी चन्द्रलोक-यात्रा-जैसे कठिनतम काम को सरल कर लेता है, तो अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में क्यों नहीं कर सकता!

संसार में अनेक महापुरुष हुए हैं और वर्तमान में भी हैं जिन्होंने कथनी के अनुसार अपनी करनी तथा रहनी बनायी है। जब एक आदमी ऐसा कर सकता है तब अन्य भी जो दिलोजान से चाहेगा वह भी कर लेगा। वैसे संसार के सभी मनुष्य कुछ-न-कुछ पवित्र रहनी में चलते हैं। संसार में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो प्राप्त जानकारी का एकदम आदर न करता हो। सभी मनुष्य समझ के अनुसार कुछ-न-कुछ सदाचार के मार्ग में चलते हैं। जो आदमी रहनी में जितना लाभ समझता जाता है वह उतना ही उस दिशा में चलता है।

जैसी कथनी वैसी करनी की परिभाषा है "राग द्वेष निरुवारे।" राग कहते हैं आसक्ति को और द्वेष कहते हैं किसी के लिए जलन एवं ईर्ष्या रखने को। निरुवारने का अर्थ है छुड़ाना, हटाना या त्याग करना। राग-द्वेष ही संसार-बन्धन है। बिना राग के द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष में सारे बंधन आ जाते हैं। राग के भीतर ही आसक्ति, कामना, लालसा, मोह, ममता, काम, लोभ आदि हैं और द्वेष के अन्दर ईर्ष्या, वैर, जलन, क्रोध, हिंसा आदि हैं। हमें भोगों की जितनी लालसा होती है, उतने ही हमारे मन में राग-द्वेष होते हैं। भोगों का एक स्थूल अर्थ काम-भोग ही नहीं है, किन्तु सम्मान, प्रतिष्ठा, पूज्यता की लालसा भी भोग है। कोई अपनी ओर से हमारी प्रतिष्ठा, पूजा या सम्मान करता है और हम उस ओर से अनासक्त हैं तो हमारे मन में कोई बन्धन नहीं है। परन्तु यदि हम सम्मान-प्रतिष्ठादि चाहते हैं तो हम भोगासक्त हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच में केवल प्रतिष्ठा की ही बात थी, परंतु उनमें साधारण राग-द्वेष ही नहीं थे, किन्तु एक दूसरे के पुत्रों तक की उन्होंने हत्या कर दी थी। दावाग्नि की तरह सारा संसार राग-द्वेष में जल रहा है। संसारी तो जल ही रहे हैं, वेषधारी भी उससे बचे नहीं हैं। इससे तो कोई विवेकी ही बचते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कहते हो कि हम जैसा कहते हैं वैसा करते हैं

तो इसकी पहचान है राग-द्वेष का त्याग। तुम राग-द्वेष से निवृत्त हो, इसके लिए दूसरे के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है। इसकी परख तो तुम्हें अपने भीतर ही करना है। किसी को भी पूरा-का-पूरा दूसरा कोई नहीं जान सकता। 'मैं' को पूर्णतया 'मैं' ही जान सकता हूं। जब हमारा मन कभी विवशता का अनुभव नहीं करता तब हमें समझना चाहिए कि हमारा मन राग-द्वेष से रहित है। हमें लोगों में इसका प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए कि हम राग-द्वेष से रहित हैं। हमें तो राग-द्वेष से रहित होना चाहिए। संसार में ऐसा कोई सन्त नहीं हुआ है जिसे संसार के सभी लोग राग-द्वेष से रहित समझ लिये हों। बड़े-से-बड़े संत को बुरा कहने वाले संसार में रहे हैं, फिर हम किस खेत के मूली हैं जो हमें कोई बुरा न कहे! सच्चे साधक एवं संत पुरुष अपनी निन्दा अमृत-तुल्य समझते हैं, बल्कि अपनी प्रशंसा ही विषतुल्य समझते हैं। हमें यह बिलकुल सोचना ही नहीं है कि हमें लोग क्या कहते हैं, बल्कि हमें यह सोचना है कि हम क्या हैं! राग-द्वेष से पूर्ण निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है।

"तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" अर्थात उक्त स्थिति में रत्तीभर न घटे और न बढ़े। इसका अर्थ लाक्षणिक है और वह है एकरस एवं अचल रहना। हमारी राग-द्वेष-विहीनता की स्थिति अविचल होनी चाहिए। किसी साधना में निरन्तरता एवं अविचल निष्ठा उस दिशा की सफलता की कुंजी है। राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो जाना साधना नहीं, सिद्धि है। और सिद्धि की कसौटी यही है "तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" एकरस, अबोल, अडोल "मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।" कृतार्थ अवस्था वही है जिसमें घट-बढ़ न हो, उथल-पुथल न हो, जीवन में कोई सिकवा-शिकायत न रह जाय। मुक्त पुरुष के मन में किसी के लिए शिकायत नहीं रह जाती। चाहे उसके प्रति कोई द्वेष करने वाला ही क्यों न हो, उसके लिए भी बोधवान के मन में कोई शिकायत नहीं रहती। औटते हुए तेल में जब तक पानी रहता है तब तक उसमें कल-कल की आवाज होती है। पानी के सर्वथा जल जाने पर कटाह का तेल शांत हो जाता है। वैसे राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त साधक शांत हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार अपना सुधार करना चाहिए। यही जीवनधारण करने का फल है।

सभी आसक्ति छोड़ने पर बोध मिलता है

द्वारे तेरे राम जी, मिलहु कबीरा मोहि।
तैं तो सब में मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि॥२५८॥

शब्दार्थ—राम जी = घट-घट में रमने वाले चेतन जीव। कबीरा = काया में बीर जीव, चेतन मनुष्य।

भावार्थ—मानव तनधारी हे राम! हे कबीर! सद्गुरु तुम्हारे द्वार पर आकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिलो। यदि तुम कहो कि सद्गुरु ही आकर तुमसे मिलें तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि तू तो सब में मिल रहा है, इसलिए मैं तुमसे नहीं मिल सकता। मुझसे मिलना चाहे तो सबको छोड़कर मेरे पास आ जा!॥२५८॥

व्याख्या—जिज्ञासुओं को समझाने के लिए कबीर देव के विचित्र-विचित्र ढंग हैं। कबीर साहेब ने बीजक में जीव के लिए राम शब्द का प्रयोग तो बहुत किया ही है, कबीर शब्द का प्रयोग भी किया है। उपर्युक्त अर्थ में 'राम जी' तथा 'कबीरा' दोनों ही ज़ीव के अर्थ में लिये गये हैं। सद्गुरु जीव के मोक्षद्वार मानव-शरीर पर आकर मानो उसे पुकारते हैं कि हे राम, हे कबीर, तुम मुझ से आकर मिलो। मनुष्य का कल्याण तभी है जब वह सद्गुरु से आकर मिले। "जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।"[१] हे लोगो! तुम विनम्रतापूर्वक उठकर वहां जाकर मिलो जहां अत्यन्त धीर एवं गम्भीर पुरुष हैं। "सन्त मिलन को जाइये, तजि माया अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे धरे, कोटिन यज्ञ समान।।" यह तो जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का ही कर्तव्य है कि वह विनम्रतापूर्वक गुरु से मिले।

यदि कहो गुरु ही जिज्ञासु एवं मुमुक्षु से मिलें, तो इसमें भी कोई बुराई नहीं है। गुरु तो पुकार ही रहे हैं कि हे मनुष्यो! तुम आकर हम से मिलो। परन्तु निरानिर गुरु पुकारकर क्या करेंगे जब तक जिज्ञासु की अपनी जिज्ञासा नहीं जगती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तुम्हें थोड़ा संकेत कर दिया। तुम्हारे दरवाजे पर आकर तुम्हें पुकार दिया। अब मैं तुम्हारे पीछे कितना पड़ूं! आगे तुम्हारा काम है कि तुम खुद चेष्टा वाले होकर आकर मुझ से मिलो। "जो जिव झाँकि न ऊपजै, तो कहा पुकार कबीर।"[२] अर्थात यदि जीव के मन में स्वयं प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेष्टा गुरु पुकारकर क्या करेगा!

सद्गुरु कहते हैं कि केवल मेरे पुकारने से, केवल तुम्हारे पीछे मेरे पड़े रहने से तुम्हारा कल्याण होने वाला भी नहीं है। क्योंकि "तैं तो सब में मिलि रहा" अर्थात खानी-वाणी का जितना पसारा है तू सब में आसक्त है। तू मोटी माया तथा झीनी माया—दोनों में लीन है। तू संसार के प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति तथा मन की असंख्य परिकल्पनाओं में डूबा है। तूने अपने आप को सब में आसक्त करके खो दिया है। विषयी जीवों का चित्त तो संसार के विस्तार में आसक्त ही है, कितने आध्यात्मिक महापुरुष भी जड़-चेतन सब कुछ अपना ही स्वरूप मानकर सब में मिल रहे हैं। जिसने जड़-प्रपंच को भी अपना स्वरूप मान लिया है उसमें विवेक जगा पाना बड़ा कठिन है। जो अपने आप को विस्मरण करके सब में आसक्त है उसके पीछे गुरु पड़े भी तो क्या फल होगा! अतएव गुरु ने थोड़ा संकेत कर दिया। अब जिज्ञासु का कर्त्तव्य है कि वह सब को छोड़कर गुरु से मिले। सब की ममता छोड़कर केवल गुरु के उपदेशों पर ध्यान दिये बिना जीव का कल्याण नहीं है। सद्गुरु कहते हैं "मैं ना मिलूँगा तोहि।" यदि तुम मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते हो तो मैं तुमको नहीं मिलूंगा। यहां सद्गुरु जीवों की कल्याण-कामना से उसे पुकारते हैं और उससे निस्पृह भी हैं। इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु की जीवों पर करुणा तथा संसार से निस्पृहता सुन्दर ढंग से झलकती हैं।

---

१. बीजक, शब्द २९।

२. बीजक, साखी ११२।

उक्त साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम को कहां खोजते हो! राम जी तो मानो तुम्हारे दरवाजे पर खड़ा होकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिल लो। परंतु हे मोहासक्त! तू तो संसार के प्राणी-पदार्थों में उलझा हुआ सब में मिल रहा है, सब में आसक्त हो रहा है। अतः राम जी कहते हैं कि हे जीव! तू जब तक सब में आसक्त है मैं तुझ से नहीं मिलूंगा। तू जब सब की आसक्ति छोड़ दे तो "मैं तो तेरे पास में।"

उक्त अर्थ लाक्षणिक है। राम का जीव से अलग कोई अस्तित्त्व नहीं है। जीव ही में रामत्व है, शिवत्व है, गुरुत्व है, कल्याणत्व है। जब जीव सब में मिलना छोड़ देगा तब मानो वह राम को पा गया, गुरु को पा गया। सब की आसक्ति छोड़ देने पर जीव असंग हो जाता है। बस वही राम है, गुरु है, मुक्त है। इस प्रकार जीव को राम को खोजने नहीं जाना है। उससे अलग कहीं कोई राम है ही नहीं। यदि जीव से अलग अन्य जीव हैं तो वे सजाति हैं। किसी जीव का सत्य एवं परमार्थ उससे अलग नहीं होता। अलग का सत्य कभी मेरा स्थायी अपना नहीं बन सकता। जीव का प्राप्तव्य उसका निजस्वरूप ही है। वही उसका राम है। अतएव राम को खोजना नहीं है। राम तो दरवाजे पर खड़ा है। अर्थात वह तो मेरा निजस्वरूप चेतन ही है। सब में मिलना छोड़कर तथा सब के राग-द्वेष से निवृत्त होकर अपने आप में लौट आना है; बस, मानो राम मिल गया।

भ्रम से जागो

भरम बढ़ा तिहुँलोक में, भरम मण्डा सब ठाँव।
कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव॥२५९॥

शब्दार्थ—भरम = भ्रम, मिथ्याज्ञान, भटकाव। तिहुँलोक = अर्ध, उर्ध्व, मध्य; सर्वत्र, त्रिगुणी जीव। मण्डा = सजाया हुआ, मड़ा, रखा हुआ।

भावार्थ—मिथ्याज्ञान सर्वत्र फैला हुआ है। मानो सब जगह भ्रांति ही सजाकर रखी गयी है। कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि हे संसार के लोगो! तुम भ्रम की नगरी में ही बसे हुए हो॥२५९॥

व्याख्या—जड़ और चेतन तथा उनके शाश्वत गुण-धर्मों की परख न होने से ज्ञान के क्षेत्र में सर्वत्र भ्रांति फैली है। भूत, प्रेत, देवी, देवता तथा अनेक अदृश्य शक्तियों की कल्पना कर आदमी भ्रांतियों में डूबा है। संसार में जितनी घटनाएं घटती हैं सब चेतन प्राणियों के कर्म या जड़प्रकृति की क्रिया का फल है। उनमें इन दोनों को छोड़कर किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना ही सारे भ्रमों का सृजन करती है। इसीलिए कुछ चालाक लोग पूजा के बल पर जनता को सारे दुखों से मुक्त करने का झांसा देकर तथा उनके मन में भ्रम पैदाकर उन्हें मानसिक रूप से दुर्बल बनाते हैं और उनका धन ऐंठते हैं। प्रत्यक्ष प्राणियों के अलावा सारे देवी-देवता झूठे हैं, भूत-प्रेत झूठे हैं, प्रार्थना-पूजा करने से कोई देवता एवं ईश्वर कुछ दे देगा, या पाप काट देगा, दुख दूर कर देगा, ये सब झूठी धारणाएं हैं, परन्तु इन सब भ्रांतियों में अशिक्षित से शिक्षित तक आकंठ डूबे हैं। इसलिए

उनके ज्ञान और आचरण गड्डबड्ड हैं। इसी का फल है कि मनुष्य अपने श्रम एवं कर्म पर न विश्वास कर मंत्र-तंत्र एवं पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहता है। जिधर निकलिए उधर मिट्टी एवं पत्थर की पिंडी देवी-देवता के रूप में विद्यमान हैं। आदमी पत्थर, पेड़, नदी, पानी, पर्वत पूजते-पूजते जड़-बुद्धि का हो गया है। यदि वह इनसे बचता है तो आकाश में हाथ उठाकर किसी सर्वसमर्थ की कल्पना कर उससे सब कुछ पाना चाहता है। पानी बरसने न बरसने में कारण जड़-प्रकृति की योग्यता तथा अयोग्यता है, भूचाल, ज्वालामुखी, छह ऋतुओं का परिवर्तन, वन, पर्वत, झरने, नदी, समुद्र, असंख्य तारे, ग्रह-उपग्रह आदि जड़-प्रकृति के खेल हैं जो स्वाभाविक हैं। परन्तु मनुष्य को महाभ्रम है कि इसे कोई देवता या ईश्वर चला रहा है। मनुष्य निर्भ्रांत होने के लिए प्रकृति का उदारतापूर्वक अध्ययन ही नहीं करना चाहता। वह प्रकृति के स्वतःसिद्ध तथा अनादिनिहित गुण-धर्मों पर ध्यान न देकर मिथ्या दैवी कल्पना में डूबा रहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तीनों लोकों में भ्रम बढ़ा हुआ है। तीनों लोक का लाक्षणिक अर्थ है पूरा संसार। सतप्रधान, रजप्रधान एवं तमप्रधान मनुष्यों के समूह को भी तीनों लोक कहा जा सकता है। इन त्रिगुणी मनुष्यों में भ्रांतियां फैली हैं। "भरम मण्डा सब ठाँव" मण्डा का अर्थ सजाया हुआ। मानो सब तरफ एवं सब जगह भ्रम ही सजा करके रखा है। लोग झूठी-झूठी बातों को ऐसा सजाकर रखते हैं कि मानो उन्हीं सबसे ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। चालाक लोग झूठी बातों के बल पर भोले लोगों को भटका रहे हैं और अपना स्वार्थ साध रहे हैं।

ऊपर परोक्ष कल्पनाओं के भ्रम के विषय में निवेदन किया गया। प्रत्यक्ष चीजों में भी बहुत बड़ा-बड़ा भ्रम है। संसार के प्राणी-पदार्थों में अपना-पराया मानने का भ्रम; जड़, क्षणभंगुर, दुखपूर्ण एवं मलिन भोगों में रमणीय और स्थायी सुख का भ्रम; शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम, इसी प्रकार जीव अनेक भ्रमों में डूबा है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थों को अपना मानने का भ्रम महा दुखदायी है। सभी दुखों एवं बंधनों का मूल है शरीर को अपना स्वरूप मानना। यदि यह भ्रम टूट जाये तो अन्य भ्रम के टूटने में बड़ी सरलता हो।

आदमी भ्रमवश गलत तरीके से धन कमाकर मकान, जमीन तथा ऐश्वर्य का संग्रह करता है; परन्तु उसके गलत आचरण के कारण उसका मन मलिन बना रहता है। उसे जीवनभर शांति नहीं मिलती और एक दिन सब कुछ अचानक छोड़कर यहां से सदा के लिए चला जाता है। आदमी जीवनभर नये-नये भ्रम पालता रहता है। मनुष्य भ्रमवश ही कुछ लोगों में ममता करता है और भ्रमवश ही कुछ लोगों से वैर करता है। मनुष्य मानो भ्रम के नशे में सदैव डूबा रहता है। जीव का संसार में कुछ भी अपना नहीं है, परन्तु वह भ्रमवश संसार के प्राणी-पदार्थों में ममता बनाकर दुखी रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव" कबीर साहेब संसार में आये और सब को भ्रम में डूबा देखकर चिल्ला उठे कि हे मानव! तू तो भ्रम के गांव में बसा हुआ है। इस संसार-पागलखाने में आकर और लोगों के भ्रमजनित पागलपन की बातें देखकर कबीर को बेहद पीड़ा हुई। वे किसी की परवाह किये बिना पुकारकर बोल पड़े

"तुम बसेउ भरम के गाँव।" कबीर साहेब पूरे मानव-समाज को भ्रमरहित कल्याणरूप देखना चाहते हैं।

आज ही स्वरूपस्थिति का लाभ लो

रतन अड़ाइनि रेत में, कंकर चुनि-चुनि खाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥२६०॥

शब्दार्थ—रतन = रत्न, मोती। अड़ाइनि = अटका दिया, डाल दिया। रेत = धूल, वीर्य, विषय-वासना। ई पिण्डे = यह मानव-शरीर।

भावार्थ—मानो एक मूर्ख हंस मोती को धूल में डालकर कंकर चुन-चुनकर खाने लगा, वैसे मूढ़ मानव अपने स्वरूप-विवेक को विषयों में खोकर मलिन भोगों को भोगने में डूब गया। कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि इस शरीर में रहते-रहते अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, अन्यथा धोखे में पड़कर भटक जाओगे॥२६०॥

व्याख्या—लोक कहावत के अनुसार हंस मोती चुगता है। परन्तु कोई हंस अपनी चोंच में लिये हुए मोती को भी धूल में डाल दे और कंकर चुन-चुन कर खाने लगे तो यह उसकी मूर्खता है। वैसे मनुष्य मूलतः विवेकसंपन्न होकर भी अपने स्वरूप-विवेक को न जगाये और निरन्तर विषय-भोगों में लगा रहे तो यह उसका अज्ञान है। मनुष्य स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति का अधिकारी है, परन्तु वह अपने दिव्य चेतनस्वरूप को भूलकर मलिन विषयों की गली में निरन्तर घूम रहा है। "रतन अड़ाइने रेत में, कंकर चुनि-चुनि खाय।" यह कितना मार्मिक वचन है। सद्गुरु अनुप्रास अलंकार में कहते हैं "रतन अड़ाइनि रेत में" जीव ने रत्न को रेत में डाल दिया। रत्न स्वरूपज्ञान है तथा रेत विषय भोग है। स्वरूपज्ञान में रमना चाहिए तो अभागा मलिन विषयों में रमने लगा। मोती चुगना था तो कंकर चुगने लगा। अर्थात दया, क्षमा, शील, सत्यादि सद्गुण ग्रहण करना चाहिए था तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेषादि में जलने लगा।

सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु कि जाय" इसी पिंड में, इसी शरीर में स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लो, अन्यथा भ्रम में ही चले जाओगे। मनुष्य इसी जीवन में कल्याण करने का अधिकारी है। यह बात तो दुर्बलों के लिए है कि तुम सन्मार्ग में चलते रहो, आज नहीं तो कल, इस जीवन में नहीं तो अगले जन्म-जन्मांतरों में तुम्हारा कल्याण हो जायगा। "भक्ति बीज पलटे नहीं, जो युग जाय अनंत। ऊंच नीच घर अवतरे, होय संत का संत॥" परन्तु श्रम करने वालों के लिए अगले जन्मों की आशा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ही नहीं है जो वर्तमान में न पूरा हो। हम वर्तमान में ही अपने जीवन के परम एवं चरम उद्देश्य परम शांति को प्राप्त कर सकते हैं। सारी भ्रांतियों एवं विषय-वासनाओं को छोड़ देने से ही परम शांति की प्राप्ति होती है। छोड़ना सरल है। हम किसी वस्तु को ग्रहण करने में परतन्त्र हो सकते हैं, परन्तु छोड़ने में परतन्त्र नहीं हैं। मनुष्य सोचता है कि हमें इतनी जमीन चाहिए, इतने रुपये चाहिए, इतने मकान चाहिए, इतनी प्रतिष्ठा चाहिए, परन्तु जितना वह सोचता है, हो सकता है कि उसे

उतना न मिले, परन्तु यदि कोई सोचता है कि हमें कुछ नहीं चाहिए तो उसे क्या परतन्त्रता है! विजाति पदार्थों की चाहना होती है और उन्हीं को छोड़ना है। जो मेरी आत्मा से अलग है उसे छोड़ने में मुझे क्या परतन्त्रता है! अतएव मोक्ष का मार्ग बड़ा सरल है। उसमें केवल विजाति प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता छोड़ना है। जिन्हें अन्त में छोड़ना ही है उनका राग पहले ही छोड़ देने में क्या कठिनता है! जैसे मरे हुए को मारना सरल है, वैसे संसार का त्याग करना सरल है, क्योंकि सब कुछ छूटने वाला होने से मानो सब छुटा ही है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु" इसी शरीर में रहते-रहते स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति करने में आज तुम्हें क्या परेशानी है! संसार में तुम्हें क्या करना है जिसको लेकर तुम स्वरूपस्थिति का काम अभी नहीं कर रहे हो! जो स्वरूपस्थिति का काम नहीं करता है वह धोखे में है।

संसार का काम कभी पूरा नहीं होता। उन्हें अनादिकाल से करते आ रहे हो, परन्तु आज तक वे पूरे नहीं हुए, और न इन्द्रियों के भोगों में कभी मन की तृप्ति हुई। संसार की सारी उन्नति अंत में स्वप्नवत छूट जाने वाली तथा समाप्त हो जाने वाली है। अतएव नित्य तृप्तिकर एवं कभी न छूटने वाली स्वरूपस्थिति ही तुम्हारा परम उद्देश्य है। उसे इसी जीवन में प्राप्त करो, अभी प्राप्त करो। अन्यथा केवल घाटा-ही-घाटा है।

परखकर ही कोई वाणी मानो

जेते पत्र बनस्पती, औ गंगा की रेन।
पण्डित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन॥२६१॥

शब्दार्थ—रेन = रेणु, बालु-कण।

भावार्थ—संसार में वनस्पतियों के जितने पत्ते हैं और नदियों के जितने बालु-कण हैं उतनी वाणियां जीवों ने अपने मुख से कह डाली हैं, एक बेचारा पंडित कितनी वाणी कहेगा! ॥२६१॥

व्याख्या—जो महाशय कबीर साहेब को अतिमानवीय शक्ति मानते हैं इस साखी के 'कबीर' शब्द का कबीर साहेब में अर्थ लगाकर यह सिद्ध करते हैं कि कबीर साहेब ने उतनी वाणियां कही हैं जितने संसार में वनस्पतियों के पत्ते हैं तथा नदियों के बालु-कण हैं। यह सिद्ध करने के बाद वे कबीर के नाम पर चलने वाली सारी वाणियों को कबीर साहेब से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं, कबीर और धर्मदास के संवाद के नाम पर जो कबीरपंथी मंहतों ने हजारों पृष्ठ लिखे हैं उन्हें भीं वे कबीर साहेब के मुख से निकली वाणी सिद्ध करते हैं, जिनमें काल्पनिक पौराणिक असत्य कथाओं की भरमार है।

वस्तुतः कबीर साहेब की मुख्य वाणी बीजक है और उनकी कुछ वाणियां उनमें भी हैं जो साखीग्रंथ तथा कबीरग्रंथावली के नाम से प्रसिद्ध हैं या सिक्खों के गुरुग्रन्थ में संकलित हैं। परन्तु उन सब में कबीर साहेब के नाम पर मिलावट भी है जो बीजक सिद्धांत से अलग है। कबीर साहेब ने इस साखी में "कबीर कही मुख बैन" कहकर

अपने आप को नहीं प्रस्तुत किया है, किन्तु पूरे मानव-जगत को कहा है। यहां अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ समझना चाहिए।

सद्गुरु इस साखी में कहना चाहते हैं कि केवल बेचारे पंडित कितने वचन कहेंगे! संसार के मनुष्यों ने असंख्य वाणियां कह डाली हैं और उन वाणियों में ही पूरा मानव-समाज डूबा है। उनमें सार वाणियां भी हैं और असार वाणियां भी। इसलिए उनकी परख के लिए बीजक-वाणी की आवश्यकता है। बीजक-वाणी का अर्थ है कसौटी-वाणी। किसी भी वाणी को बिना उसकी परख किये नहीं स्वीकारना चाहिए। वाणी वे ही माननीय हैं जिनके भाव विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था तथा प्रकृति के गुण-धर्मों के अनुकूल हों। जो घटनाएं प्रकृति या जड़-चेतन के गुण-धर्मों में आज प्रत्यक्ष न घटती हों यदि उन-जैसी घटनाओं का कहीं चित्रण हो तो वे मान्य नहीं हो सकतीं। जैसे किसी संत या कल्पित भगवान ने किसी मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से जड़ पदार्थों को चला दिया, या केवल आज्ञा देकर उन्हें रोक दिया आदि। चमत्कार-जैसी लगने वाली सारी बातें या तो चालाकों-द्वारा कही गयी हैं या भ्रांतों-द्वारा। चालाक भी अन्ततः भ्रांत ही हैं। अन्तर यह है कि वे जानते हैं कि जो हम कह या लिख रहे हैं वे सर्वथा असत्य हैं। परंतु वे इसमें अपना स्वार्थ समझकर ऐसा लिखते या कहते हैं। किन्तु उसमें उनको अपना स्वार्थ मानना उनका भ्रम ही है। ऐसा स्वार्थ जो छलपूर्ण एवं धूर्ततापूर्ण हो अंततः कर्ता को तथा अन्य को गड्ढे में ही ले जाता है।

अतएव चाहे व्यवहार के नाम पर चलने वाली वाणियां हों और चाहे धर्म के नाम पर, ''बाबा वाक्य प्रमाणम्'' मानने की आवश्यकता नहीं है। चाहे पंडित की बात हो चाहे ऋषि-मुनि की, चाहे सन्त-महात्मा की बात हो और चाहे तथाकथित भगवान या प्रभु की और चाहे आम जनता की, सब पर कसौटी करना परम कर्तव्य है। जैसे सत्य का बोध कराने वाली वाणियां कल्याणकारी हैं वैसे भ्रम पैदा कराने वाली वाणियां पतनकारी हैं। अतएव केवल वाणी के मोह में पड़ आंख मूंदकर किसी की बातों को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए पारखी सन्त सदैव वाणीजाल से सावधान रहने की चेतावनी देते हैं। जो लोग भाव नहीं समझते हैं वे कहते हैं कि पारखी संत वाणी को जाल कहकर उसका खण्डन करते हैं तो स्वयं वाणी क्यों लिखते-बोलते हैं! निवेदन है कि ऐसा कहने वाले पारखी सन्तों के भाव को समझने का प्रयास करें। वे स्वयं सोचें क्या वे संसार में प्रचलित सभी वाणियों को मान लेते हैं! अपनी समझ के अनुसार सभी मनुष्य सारासार विचार करते हैं। बस, उन्हें जहां पक्षपात हो जाता है, वहीं बिना विचार किये सब कुछ आंखें मूंदकर मान लेते हैं। पारखी सन्त कहते हैं कि कहीं की भी बात बिना विचार किये मत मानो।

बगला भगत से सावधान

हौं जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा, छुवै न देतेउँ अंग॥२६२॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। बगु = बगला पक्षी। बावरा = पागल।

भावार्थ—हे मनुष्य! मैं जानता हूं कि तुम हंस कुल के हो! तुम मूलतः विवेकसंपन्न प्राणी हो। इसी से मैंने तुम्हें अपने साथ में लिया है और तुम्हें सन्मार्ग बताने की चेष्टा की है। यदि मैं तुम्हें बगला के समान स्वभावतः गंदा और स्वार्थ में पागल समझता तो पास भी न बैठने देता।।२६२।।

व्याख्या—सद्गुरु मनुष्य की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य मूलतः हंस है। हंस तो एक पक्षी है जिसमें विवेक होना सम्भव ही नहीं है। उसके लिए केवल एक रूढ़ कहावत है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करता है। मनुष्य अहंसः का विवेक करने वाला है इसलिए वह हंस है। मैं वह हूं जिसे मैं चाहता हूं। मैं पूर्ण तृप्ति, पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति चाहता हूं और मैं वही हूं जो मूलतः पूर्णतृप्त है। सभी मानव का मूल स्वरूप विवेकसंपन्न है। कौन कितना प्रयत्न करके अपने विवेक को विकसित कर लेता है यह हर व्यक्ति के अपने परिश्रम पर निर्भर है। यह निश्चित है कि मानव मात्र मूलतः विवेकशक्तिसंपन्न है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! मैं समझता हूं कि तुम हंस-कुल के हो, अर्थात तुम विवेचनशक्तिसंपन्न श्रेष्ठतम प्राणी हो। इसीलिए मैंने तुम्हें सन्मार्ग में लाने एवं तुम्हारे विवेक को जगाने का प्रयास किया है। सभी सन्त, ऋषि-मुनि, औलिया इसीलिए तो मनुष्यों को शिक्षा देते हैं। पशु-पक्षी आदि मानवेतर प्राणियों को कौन शिक्षा देता है! यदि संतजन मनुष्य को पागल बगला समझते तो उसे उपदेश क्यों देते! बगला कब समझने लगा विवेक की बातें! मानवेतर प्राणी कब समझ सकते हैं सत्यासत्य के भेद! अतएव संतजन मानव मात्र को सत्यज्ञान का अधिकारी समझते हैं और उसी को सत्योपदेश देने का प्रयत्न करते हैं।

इस साखी का एक खुला अर्थ उलाहनापूर्ण लगता है। मानो कबीर साहेब ने किसी जिज्ञासु या मुमुक्षु दिखते हुए व्यक्ति को अपनी शरण दी हो, परन्तु पीछे से उसकी कलई खुलने पर लगा हो कि यह बनावटी जिज्ञासु या मुमुक्षु है, असली नहीं है। तब उन्होंने कहा हो—

मैंने तो समझा था कि तुम समझदार एवं विवेकवान हो तब तुम्हें अपने साथ में लिया था। यदि मैं पहले समझ जाता कि तुम बगले के समान ऊपर उजले और भीतर काले हो और तुच्छ स्वार्थ में पागल हो, तो तुम्हें अपने पास न बैठने देता।

प्रायः हर महापुरुष के जीवन में अनुगामी बनकर कुछ ऐसे लोग आ जाते हैं जो दिल के सच्चे नहीं होते। कुछ दिनों में उनके व्यवहार से उनकी पोलपट्टी खुल जाती है। हो सकता है कबीर साहेब के पास ऐसा कोई आया हो जो देखने में हंस एवं व्यवहार में बगला रहा हो और अन्ततः उन्होंने उसे फटकारा हो। हंस और बगला दोनों सफेद होते हैं; परन्तु एक तो नीर-क्षीर विवेक करता है और दूसरा जलाशय में मछलियों तथा अन्य कीड़ों को खाने के लिए ध्यान लगाकर उन्हें कपटपूर्वक चाल से पकड़ता है। आप किसी जलाशय के निकट देख सकते हैं कि बगले आधी बन्द आंखों से मानो ध्यान लगाये हुए बैठे हैं और कभी-कभी केवल एक पैर के ही आधार पर ध्यान करने की मुद्रा में बैठ

जाते हैं। उसमें उनका उद्देश्य होता है किसी सामने आये हुए मछली आदि जन्तु पर शीघ्रता से कूदकर उन्हें पकड़ खाना। कहां हंस दूध में मिले हुए पानी को भी छोड़कर केवल दूध लेने वाला और कहां बगला ध्यान-मुद्रा बनाकर जीव-वध करके उसे खाने वाला। ऊपर से दोनों सफेद और शांत दिखते हुए भी दोनों के आचरण में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। जो लोग ऊपर से हंस का स्वांग रचकर भीतर से बगला का चरित्र रखते हैं वे अत्यन्त निंदनीय हैं। विवेकियों ने बगला से अच्छा कौआ को माना है। क्योंकि कौआ ईमानदार दुष्ट होता है। वह बाहर काला और भीतर भी काला है। वह जैसे आकर ऊपर मकान या पेड़ आदि पर बैठता है तुरन्त कड़ी आवाज में बोलता है और प्रायः टट्टी भी कर देता है। अतः कौआ खुला दुष्ट है। उससे किसी को ठगाने का प्रायः चांस नहीं पड़ता। परन्तु बगला ऊपर सफेद और भीतर काला होता है। वह बनावटी साधुत्व दिखाकर दूसरे जीव पर चोट करने वाला होता है। इसीलिए पाखंडियों के विशेषण में "बगला भगत" कहावत प्रसिद्ध है। सभी के जीवन में कभी-कभी ऐसे लोग मिलते हैं जो "मन मैला तन उजरौ" होते हैं। ऐसे लोगों से सदैव सावधान रहना चाहिए।

गुणवान ही गुणों का आदर करता है

गुणिया तो गुण ही कहै, निर्गुणिया गुणहि घिनाय।
बैलहि दीजे जायफर, क्या बूझै क्या खाय॥२६३॥

शब्दार्थ—गुणिया = सद्गुणी व्यक्ति। निर्गुणिया = गुणहीन व्यक्ति। जायफर = जायफल, एक सुगंधित फल जिसका व्यवहार औषध और मसाले में होता है।

भावार्थ—गुणवान व्यक्ति सद्गुणों का ही वर्णन करता है और गुणहीन व्यक्ति सद्गुणों से घृणा करता है। बैल के सामने यदि सुगंधित जायफल रख दिया जाय तो वह उसे क्या समझेगा और क्या खायेगा! ॥२६३॥

व्याख्या—गुणवान व्यक्ति दूसरे के गुणों का आदर करता है। वह न दूसरे के दुर्गुणों को देखता है और न उनकी चर्चा करता है। वह दूसरे के सद्गुणों को ही देखता तथा उन्हीं की चर्चा करता है। "गुणिया तो गुण ही कहै" यह बहुत बड़ी बात है। इस वाक्य से यही माना जायगा कि वही सद्गुणी व्यक्ति है जो दूसरे के सद्गुणों को देखता है। जिसे अपना कल्याण प्रिय है वह दूसरे की बुराइयों को देखने के चक्कर में नहीं पड़ता, क्योंकि किसी की बुराई देखने तथा कहने से अपने मन तथा वाणी में बुराइयों को स्थान मिलता है। यह मानव मात्र के लिए अहितकर है और साधक के लिए पतनकर हैं। सद्गुणी आदमी दूसरे के दोषों को अपने पवित्र हृदय और वाणी में कैसे स्थान देगा! एक समझदार आदमी अपने बिछे हुए स्वच्छ बिस्तर पर कोई गंदी वस्तु कैसे रखेगा! साधक को दूसरे के दोषों को देखने और कहने का अवसर कहां है! अतएव सद्गुणी मनुष्य अन्य की बुराइयों को नजरअन्दाज कर सब में रहे हुए केवल सद्गुणों को देखता है और सद्गुणों की ही चर्चा करता है।

"निर्गुणिया गुणहि घिनाय" गुणहीन आदमी दूसरों के सद्गुणों से घृणा करता है। दूसरे के सद्गुणों को सह पाना बड़ा कठिन काम होता है। जब लोग दूसरों के सद्गुणों को सह ही नहीं पाते तब उनकी प्रशंसा करना तो दूर की बात है। लोग दूसरे की विद्या, कला, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, पवित्र रहनी का केवल अवमूल्यन ही नहीं करते, किन्तु ईर्ष्या भी करते हैं। गुणहीन आदमी गुणों की इज्जत नहीं कर पाता। सद्गुरु ने यहां गुणहीन आदमी के लिए बैल की उपमा दी है। बैल के सामने सुगंधित जायफल रखा जाय तो वह न उसे समझ सकता है और न खा सकता है। यही दशा गुणहीनों की है। कलाविद् ही कला की परख करता है। कला-हीन कला को क्या जाने!

सगुणोपासकों की दयनीयदशा

अहिरहु तजि खसमहु तजी, बिना दाद की ढोर।
मुक्ति परी बिललात है, बृन्दावन की खोर॥२६४॥

शब्दार्थ—अहिरहु = चरवाहे ने, गुरुओं ने। खसमहु = मालिक ने भी, कल्पित पति ने, भगवान ने। दाद = न्याय, इंसाफ। ढोर = पशु। मुक्ति = मुक्त, छुटा हुआ, मोक्ष। बिललात = बिलखना, दुख से तड़पना। बृन्दावन = गोकुल के पास का एक वन, संसार। खोर = गली, रास्ता।

भावार्थ—जैसे कोई बूढ़ा पशु हो, उसके मालिक ने उसे अनुपयोगी समझकर उसका त्याग कर दिया हो, और उसके चरवाहे ग्वाले ने भी उसकी रक्षा करना त्याग दिया हो, अतः वह अपने विषय में कहीं न्याय न पाने से सब तरफ से त्यागा जाकर छुटा हुआ वृन्दावन-जैसे किसी वन की गलियों में दुख से विलखता हुआ घूमता हो, वैसे भगवान की विरह-भावना में पड़ा-पड़ा बूढ़ा व्यक्ति भगवान न मिलने से मानो वह मालिक की तरफ से त्याग दिया गया है और उसके चरवाहे-गुरु जो उसे उस भावना में हांकते थे उनका भी निर्देश कुछ काम न देने से मानो उनके द्वारा भी वह त्याग दिया गया है। अतः ऐसा भक्त सच्चा निर्णय एवं स्वरूपविवेक न पाने से अपने लक्ष्य से दूर वृन्दावन की गलियों में भगवान के लिए विलखता पड़ा रोता है।

अथवा मालिक और चरवाहे से उपेक्षित बूढ़े पशु की दयनीय दशा की तरह सगुणोपासक को भगवान न मिलने तथा गुरोपदेश निरर्थक हो जाने से उनकी दशा दुखपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उनके यहां मुक्ति का तो कोई मूल्य नहीं है। सगुणोपासकों के क्षेत्र वृन्दावन-जैसे स्थानों की गलियों में तो मुक्ति विलखती पड़ी रह जाती है, उसे कोई पूछता नहीं है॥२६४॥

व्याख्या—इस साखी में सटीक तथा सुन्दर उदाहरण देकर सगुणोपासकों की दयनीयदशा का चित्रण किया गया है। जो भावुक भक्त लोग गुरुओं की मोहक एवं रोचक वाणियों में उलझकर राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के रूप में किसी देहधारी भगवान को अपनी आंखों से देखना चाहते हैं, उसके पास रहना चाहते हैं, उसके रूप वाला होना चाहते हैं, या उसमें मिल जाना चाहते हैं; वे जीवनभर भक्ति-भावना के नशा

में उसी के स्वप्न देखते रहते हैं। उन्हीं भावनाओं एवं धारणाओं में तन्मय होने से उन्हें अपने कल्पित भगवान का समय-समय पर भास भी होता है। परन्तु वह केवल उनके मन की कल्पना रहती है। वे कभी भी किसी भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाते।

सगुणोपासक गुरुओं ने बड़ी-बड़ी मोहक कथाएं लिख रखी हैं। वे जबान से भी नयी-नयी कल्पित कथाएं सुनाते रहते हैं। उनमें वे बताते हैं कि अमुक भक्त को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के दर्शन हुए, अमुक को विष्णु के तथा अमुक को शिव के दर्शन हुए। कबीर को भी भगवान मानकर उनके दर्शन के लिए कितने लोग लालायित रहते हैं। कितने लोगों ने तो यह भी कहने का साहस किया है कि हमें कबीर साहेब ने साक्षात दर्शन दिये हैं। लोग भक्ति के नाम पर नशा खाते और खिलाते हैं। एक हाईकोर्ट के जज ने कहा कि आप को कबीर साहेब के साक्षात दर्शन हो सकते हैं। उन्होंने कहा श्रीराम तथा लक्ष्मण के दर्शन तुलसीदास ने चित्रकूट में पाये थे। उनसे कहा गया कि श्रीराम और लक्ष्मण तुलसीदास को दर्शन देने आ सकते थे तो क्या हमलावर विदेशी शक, हूण, यूनानी, तुरुक, मंगोल, मुसलमान आदि को भारत से खदेड़ने के लिए नहीं आ सकते थे जिससे उनके भक्तों, मंदिरों, गायों आदि की रक्षा हो सकती? सारे सगुण भगवानों के मंदिर तथा मूर्तियां तोड़ डाले गये परन्तु उन भगवानों ने इस पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया। फिर भी हम उनके गीत गाये जा रहे हैं कि पाप का घड़ा एक दिन फूटेगा और भगवान आकर पुनः धन्वा-बाण एवं चक्र-सुदर्शन सम्हालेंगे।

जिन देहधारी भगवानों के हम साक्षात दर्शन करना चाहते हैं उनके शरीरान्त हुए सैकड़ों-हजारों वर्ष हो गये। उनकी हड्डियों का चूर भी पृथ्वी तल पर नहीं होगा। सब-का-सब अपने कारण तत्त्वों में बदल गया होगा; और उनकी आत्माएं अपने कर्मों के अनुसार गति पायी होंगी। वे आज कहां किससे मिलने वाले हैं! उन भगवानों एवं देवताओं की मूर्तियां आज भी मंदिरों से चुरा ली जाती हैं और जाकर विदेश में बिकती हैं। इस प्रकार जो तथाकथित भगवान एवं देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, वे दूसरे की क्या करेंगे!

भक्ति के नाम पर आज भी ऐसी घुट्टी पिलायी जाती है जिससे आदमी बदहोश रहे। भक्त लोग कहते हैं कि आज भी श्रीकृष्ण वृन्दावन में रोज रास करते हैं। एक चारदीवारी के भीतर तो यह धारणा है कि वहां जितने पेड़-पौधे तथा घास-फूस हैं सब गोपिकाएं हैं। वहां शाम को बिस्तर बिछा दिया जाता है, फूल सजा दिये जाते हैं और फाटक बन्द कर दिया जाता है। रात में उसके भीतर के सारे पेड़-पौधे गोपी का रूप धारणकर श्रीकृष्ण के साथ नाचते, गाते तथा रमण करते हैं। सुबह फाटक खोलने पर बिस्तर, फूल आदि सब भोग से मर्दित रहते हैं। श्रीकृष्ण जैसे शूरवीर को, जिनके विषय में ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद् तथा महाभारत में रास की गंध भी नहीं है, भारतीय परम्परा के आत्मघाती एवं मलिन पंडितों ने पामर सिद्ध किया है। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है! परन्तु आश्चर्य है कि वे भक्त कहलाते हैं।

अतएव पवित्र मनुष्य तथा संत-सद्गुरु के अलावा और कोई देव या भगवान नहीं है, जो किसी को आकर दर्शन दे। परन्तु भ्रामक गुरुओं के झांसे में पड़े हुए कितने लोग

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन के चक्कर में अपने जीवन को खो देते हैं। जब उन्हें बुढ़ापा तक कोई भगवान नहीं मिलता तब वे मालिक तथा चरवाहे—दोनों-द्वारा उपेक्षित बूढ़े पशु की तरह वृन्दावन की गलियों में बिलबिलाते हैं। यह बात केवल वृन्दावन की नहीं है, किन्तु सारे संसार की है। जो भी अपनी आत्मा की स्थिति एवं स्वरूपस्थिति से अलग किसी भगवान के दर्शन करना चाहेगा, उसको अन्त में पछताने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

"मुक्तिपरी बिललात है, बृन्दाबन की खोर" इस पंक्ति को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि वृन्दावन-जैसे सगुणोपासकों के क्षेत्र में बेचारी मुक्ति पड़ी बिलखती है। उसे कोई नहीं पूछता। क्योंकि सगुणोपासक लोग मुक्ति का महत्त्व नहीं समझते। वे तो किसी भगवान के दर्शन तथा उसके लोक एवं धाम पाना चाहते हैं। मोक्ष है वासना का त्याग। सारे मोह एवं वासनाओं को त्याग देने के बाद जीव की जो स्वरूपस्थिति होती है, अर्थात अपने आप में परम तृप्ति एवं शांति होती है, यही मोक्ष है। यह तथ्य है। यह स्थिति किसी भी मनुष्य को मिल सकती है। इसमें कुछ पाना नहीं है, किन्तु विकारों-वासनाओं को छोड़कर अपने आप शांत हो जाना है। सगुणोपासक इसके महत्त्व को समझते नहीं, अतएव वे इसकी स्वयं उपेक्षा कर देते हैं और वे जिसके दर्शन करना चाहते हैं वह उन्हें मिलता नहीं, मिल सकता नहीं, अतएव वह मानो उन भक्तों की उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न माड़े" वाली उनकी दशा होती है। जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के लिए दौड़ता है, वह दोनों तरफ से खाली जाता है।

अतएव साधक को चाहिए कि वह किसी भगवान के दर्शन पाने का भ्रम छोड़ दे, क्योंकि वह असत्य एवं काल्पनिक है। उसे चाहिए कि वह संत-सद्गुरु की संगत में स्वयं विवेक जगाकर अपने स्वरूप को समझे और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो!

तुम अंतरात्मारूपी राम को ठग नहीं सकते

मुख की मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहहिं कबीर ता लोगन से, तैसेहिं राम सयान ॥२६५॥

शब्दार्थ— मति = अभिप्राय। आन = दूसरा, अन्य। राम = मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा। सयान = समझदार।

भावार्थ— जो लोग मुख से तो मीठी बातें करते हैं और हृदय में कपट-कतरनी रखते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे लोगों से राम ज्यादा समझते हैं, वे राम को ठगने की चेष्टा न करें। अर्थात अपनी अन्तरात्मा को कोई ठग नहीं सकता ॥२६५॥

व्याख्या— मनुष्य की अन्तरात्मा ही राम है। उसे कोई ठग नहीं सकता। लोग चोरी करें, व्यभिचार करें, हत्या करें और उन्हें कोई दूसरा न देख सके या न जान सके यह संभव है, परन्तु यह सब करने वाला खुद उन्हें न देखे या न जाने यह संभव नहीं है। चोरी, व्यभिचार, हत्या, घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, असत्यभाषण तथा अन्य

जितने दुराचार आदमी करता है उसे दूसरे कोई भले न जाने या न देखे, परन्तु इन सब का करने वाला स्वयं इन्हें देखता और जानता है। कोई व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से अपने कर्म छिपा नहीं सकता।

सुभान नाम के एक मियां थे। वे एक दिन बेर पेड़ के नीचे बैठे टट्टी कर रहे थे। वहां पके-पके बेर गिरे थे। वे लालच न रोक सके, अतः टट्टी करते-करते बेर खाते गये। गांव में रात में वेश्या का नाच हो रहा था। सुभान मियां नाच देखने गये। वे धनी आदमी थे। वे आदरपूर्वक आगे बैठाये गये। वेश्या का नाच शुरू हुआ। उसने गाना शुरू किया "सुभान तेरी बतिया जान गयी राम।"

सुभान के मन में संदेह हुआ कि इसने कहीं से मुझे टट्टी करते समय बेर खाते देख लिया है। आज मैंने और तो कोई गलती नहीं की है, केवल टट्टी करते-करते बेर खाये हैं। यदि इसने समाज में यह बात कह दी, तो मेरी बड़ी बेइज्जती होगी। यह सब सोचकर सुभान ने अपने हाथ की अंगूठी उतारकर वेश्या को दे दी, जो बेशकीमती थी।

वेश्या बहुत खुश हुई। उसने अगली कड़ी गायी "सुभान तेरी बतिया कह दूंगी राम।" सुभान को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सोचा कि इतनी कीमती अंगूठी दे देने के बाद भी यह हरामजादी मेरी बुराई कह देना चाहती है। मियां जी ने अपने मन को सम्हाला और उन्होंने जो एक उत्तम शाल ओढ़ रखा था, उतारकर वेश्या को दे दिया। वेश्या बहुत खुश हुई। गाना शुरू करते ही उसे इतना बड़ा इनाम कभी नहीं मिला था। अतः उसने भावमग्न होकर जोर के आलाप में गाया "सुभान तेरी बतिया कह रही हूं राम।"

अब सुभान मियां से न रहा गया। वे तमककर खड़े हो गये और वेश्या से कहा "तुम्हें न अपनी इज्जत का डर है और न दूसरे की इज्जत का। तुम क्या कहोगी, यही तो कहोगी कि सुभान मियां टट्टी करते हुए बेर खाते थे कि और कुछ कहोगी!"

सारा समाज हंस पड़ा। वेश्या स्तब्ध रह गयी। उसने मियां जी से कहा "हुजूर, मैं ईश्वर का गुणानुवाद गाती हूं। मैं नहीं जानती कि यहां कोई सुभान मियां[1] बैठे हैं और वे टट्टी करते समय बेर खाते थे।"

वेश्या न सुभान मियां को जानती थी और न उनकी हरकत को कि उन्होंने टट्टी करते समय बेर खाये हैं। परन्तु सुभान मियां की अन्तरात्मा तो जानती थी। अतएव जब हम पर्वत की गुफा में, समुद्र के भीतर, आकाश के ऊपर, जमीन के नीचे, कमरे में, वन में—कहीं भी अकेले हों तो यह न समझें कि जो हम कर रहे हैं उसे कोई नहीं देख रहा है। हमारी अपनी अन्तरात्मा तो हमारी हर हरकत को हर समय देख रही है। उससे कुछ भी छिपाने की बात ही संभव नहीं है। हमारी आत्मा भगवान है और हमारी आंखें भगवान की आंखें हैं। उससे कुछ भी छिपाना असंभव है। किसी की आत्मा अपने आप को कभी क्षमा नहीं करती। हम पाप करने के बाद किसी कल्पित भगवान या देवी-देवता

---

१. 'सुभान' का शुद्ध रूप 'सुब्हान' है जो अरबी भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ होता है 'पाक परमेश्वर'।

की पूजा या चढ़ौती कर भले अपने मन को संतोष देने का प्रयास करें कि हमारे पाप कट गये, परन्तु हृदय अपने पापों से जलता रहेगा। यही तो चित्रगुप्त का लिखना है। मनुष्य के मन में जो सारे कर्मों के चित्र गुप्तरूप से अंकित हो जाते हैं यही चित्रगुप्त का लिखना है। इससे कोई बच नहीं सकता।

तीन-तीन घंटे पूजा करने वाले लोग घूस लेते समय, मिलावट एवं चोरबाजारी या कोई दुराचार करते समय, दूसरों की नजरों से उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। एक तरफ वे भगवान का गुणानुवाद गाते हुए नहीं अघाते। वे उसके लक्षण भी बताते हैं कि भगवान सब कुछ जानता और सब कुछ देखता है, परन्तु वे जब कोई दुराचार करते हैं तब दूसरे मनुष्यों से छिपाते हैं। उन्हें मनुष्यों पर विश्वास है, ईश्वर पर नहीं। इसीलिए तो वे मनुष्यों से अपने दोष छिपाते हैं और ईश्वर से नहीं डरते। यदि वे ईश्वर से डरें तो ईश्वर की आंखें कहां नहीं हैं! वस्तुतः बाहर ईश्वर तो एक भावना या कल्पना है। मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर है और वह मनुष्य की सारी हरकतें जानती है। यहां मनुष्य और उसकी आत्मा का भिन्न अर्थात दो अस्तित्त्व न समझना चाहिए। सार अर्थ यह है कि आत्मा ही राम है और वह अपने द्वारा किये गये कर्मों का साक्षी है। अतः किसी को भी अपनी अन्तरात्मा को ठगने का प्रयास न करना चाहिए; क्योंकि ठगना असंभव है, और पाप तो है ही। उसका फल तो मिलना ही है। मनुष्य बुरे कर्म करते हुए भी भले कहता रहे "राम दोहाई गंगा किरिया हम कोई पाप नहीं करते" परन्तु उसकी अंतरात्मा उसको कचोटती रहेगी। वह कहीं भी रहेगा अपने पाप-कर्मवश मन-ही-मन भयभीत रहेगा। लहसुन-प्याज खाने से स्वयं दुर्गन्धी की डकार आती है।

स्वर्ग हत्या का नहीं, प्रेम का फल है

इतते सब कोई गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोई न आइया, जासों पुछिये धाय॥२६६॥

शब्दार्थ—इतते = संसार से। उतते = स्वर्ग से।

भावार्थ—संसार के लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिए वध, कुर्बानी, होमबलि आदि के नाम पर जीववध कर तथा अच्छे-बुरे नाना कर्मों के बोझा लाद-लादकर संसार से चले गये, परन्तु स्वर्ग से कोई नहीं आया, जिससे दौड़कर पूछा जाय कि स्वर्ग का आनंद कैसा है!॥२६६॥

व्याख्या—वैदिकों में यह भ्रम था कि यज्ञ के नाम पर पशु-पक्षियों को मारकर देवताओं को तृप्त किया जा सकता है और उनकी खुशी में स्वर्ग पाया जा सकता है। बाइबिल वाले ईश्वर के नाम पर होम-बलि कहकर जीव की हत्याकर उसे आग में डालते और इस क्रिया से वे समझते कि इससे ईश्वर खुश होगा, और वह हमें स्वर्ग का आनंद देगा। मुसलमानों के यहां कुर्बानी के नाम पर बकरीद के दिन लाखों पशु काट दिये जाते हैं। कहते हैं आजकल भी मक्का यात्रा करने वाले मक्का में जाकर करीब साठ हजार ऊंटों की ईश्वर के नाम पर हत्या कर देते हैं। यह जंगली-युग का अंधविश्वास आज भी

चल रहा है। हिन्दुओं में तो इस बात में काफी सुधार हो गया है, परन्तु मुसलमानों में आज भी सुधार नहीं है। किसी देवता या ईश्वर के प्रीत्यर्थ किसी जीव की हत्या करने की बात कैसी उलटी है! जीवहत्या जो सब से बड़ा पाप है उससे कोई देवता या ईश्वर खुश कैसे होगा! सद्गुरु कहते हैं "कहुँधौं बिहिस्त कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई।" कहां है स्वर्ग जिसको पाने के लिए तुमने मूक पशुओं के गले पर छूरी चलायी है, और किसके कहने से चलायी है! कहने वालों की मनगढ़ंत कल्पना है।

वस्तुतः इस धरती से अलग कहीं स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। स्वर्ग की केवल कल्पना की गयी है और नाना मतवालों ने उसका अपना रूप खड़ा किया है। मनुष्य को चाहिए कि अपने प्रेम के व्यवहार से इस धरती को ही स्वर्ग बनाये। जब हमारा मन पवित्र हो जाता है तब हृदय ही स्वर्ग बन जाता है। जो अपने मन को स्वर्ग बना लेता है उसके द्वारा बाहर का वातावरण भी स्वर्ग बनता है। यह स्वर्ग ही सच्चा है। इसे पाने के लिए जीवहत्या जैसा घोर पाप नहीं, किन्तु दया और प्रेम का व्यवहार अपेक्षित है।

स्वर्ग तो काल्पनिक है, परन्तु पुनर्जन्म एक वास्तविकता है। पुनर्जन्म सिद्धांत माने बिना चैतन्य-जगत की स्थिति नहीं समझी जा सकती। बुरे कर्मों के परिणाम में आज तथा पुनर्जन्म में दुख तथा अच्छे कर्मों के परिणाम में सुख यही मानो नरक और स्वर्ग है। हम पुनर्जन्म पर थोड़ा विचार करें।

तालाब, नदी, समुद्र आदि का जल सूर्य की किरण और वायु के सम्पर्क से वाष्प बनकर आकाश में जाता है और ऊपर परमाणु रूप में रहता है। कालान्तर में वही बुन्द रूप में बरसकर पुनः तालाब आदि भरता है। वे ही तारे, चांद, सूर्य घूम-घूमकर रोज आकाश में उगते हैं। दिन में चांद-तारे नहीं दिखते तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे नष्ट हो गये। वे ही पुनः रात में दिखते हैं। ये सब नित्य नये बनकर नहीं आते, वे ही रहते हैं।

इसी प्रकार वे ही अविनाशी चेतन जीव एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण करते हैं। न जीव का नाश होता है और न जड़ का। जड़ अपने स्वभाव में बरतते हैं और जीव अपने कर्मवश भटकते हैं। जड़ तत्वों का क्रियाशील रहना स्वाभाविक है और जीवों का भटकना कर्मवश सहेतुक है। इसीलिए कर्मभूमिका रूप नरजन्म में कर्म-संस्कार (विषयासक्ति) नष्ट हो जाने पर जीव गमनागमनरहित अपने आप शान्त हो जाता है। यह बात विवेक से गम्य है, किंतु अत्यन्त सूक्ष्म है। इस ज्ञान के लिए बहुत काल साधना-सत्संग करने की आवश्यकता है। जब एक साधारण अध्यापक की योग्यता-प्राप्ति के लिए १२-१४ वर्ष पढ़ना पड़ता है, तब ऐसा सूक्ष्म विषय घंटों में कैसे समझ लें!

कोई जन्म से ही प्रतिभावान, कोई प्रतिभाहीन, कोई बहुत पढ़ाने पर भी नहीं पढ़ पाता, कोई थोड़े में बहुत जान लेता है। इसी प्रकार सबके गुण-स्वभाव, भोग, बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। यह इसीलिए है कि जीवों के पूर्वजन्मों के कर्मों की भिन्नता है।

खट्टे आम के पेड़ के फल सभी खट्टे और मीठे आम के पेड़ के फल सभी मीठे होते हैं, क्योंकि फल केवल वृक्ष के स्वभावानुसार उसी के ही रूपान्तर हैं। परन्तु एक माता-पिता से अनेक बच्चे होते हैं। उनके स्वभाव माता-पिता-जैसे ही सबके नहीं रहते, भिन्न-

भिन्न रहते हैं। क्योंकि उनकी देह के उत्पन्न होने में केवल माता-पिता के रज-वीर्य ही नहीं कारण हैं, बल्कि उन-उन अविनाशी जीवों के उत्तम-मध्यम कर्म भी कारण हैं।

अतएव अगणित अविनाशी चेतन जीवों के कर्म-फल भोग, पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष सर्वथा विवेक अनुकूल हैं। यहां तो किंचित संकेत-मात्र है। इस विषय को ठीक से समझने के लिए अधिक सत्संग, सद्ग्रन्थावलोकन तथा विवेक करने की आवश्यकता है।

रामभक्ति सर्वाधिक प्रिय है

भक्ति पियारी राम की, जैसी पियारी आग।
सारा पट्टन जरि मुवा, बहुरि ले आवै माँग॥२६७॥

शब्दार्थ—पट्टन = शहर, नगर।

भावार्थ—राम की भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। देखो, आग लगने पर गांव या शहर जल जाता है, तो भी आदमी भोजन बनाने एवं प्रकाश जलाने के लिए उसे पुनः दूसरों के घरों से मांग लाता है॥२६७॥

व्याख्या—भक्ति की परिभाषा पीछे २२८वीं साखी "अर्ब खर्ब ले दर्ब है" की व्याख्या में की जा चुकी है। सार इतना ही है कि कबीर का राम व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा है और उसके प्रति अनुराग भक्ति है। अतएव स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति ही भक्ति है। परन्तु इस स्थिति को पाने के लिए प्राणिमात्र पर करुणा, प्रेम और सेवा का व्यवहार चाहिए तथा बोधवान सद्गुरु-संतों के प्रति उपासनापूर्वक उनसे दिशानिर्देश लेना चाहिए। प्राणिमात्र को रामरूप समझकर उनसे प्रेम तथा अपनी अन्तरात्मारूपी राम में स्थिति भक्ति का स्वरूप है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, बोध-वैराग्यसम्पन्न सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा-उपासना एवं अंततः निज चेतनस्वरूप में अनन्य अनुराग एवं स्थिति—यह सब भक्ति के लक्षण हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। आग जब घर, गांव तथा शहर में लगती है, तब उसे जलाकर राख कर देती है। इस प्रकार आग का परिणाम कभी-कभी कितना भयावह हो जाता है। परन्तु क्या कोई आग का तिरस्कार करता है! जिस आग में अपना सब कुछ जल गया हो, उसी आग को लोग पुनः बड़े प्रेम से दूसरे के घर से मांगकर अपने घर में ले आते हैं, क्योंकि जलपान, भोजन आदि पकाने के लिए आग की कितनी अनिवार्यता है! रात के अंधकार को दूर करने के लिए भी प्रकाश जलाना पड़ता है और प्रकाश आग का ही गुण-धर्म है।

भक्ति मार्ग में लगने पर कभी-कभी कठिनाइयां आती हैं, परन्तु उनमें विचलित होने वाला व्यक्ति भक्ति-पथ पर नहीं चल सकता। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के जंगली क्षेत्र में गांव का एक धनी आदमी भक्त हुआ। उसने जीव-हत्या और मांस, शराब आदि छोड़ दिया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव-हत्या करना भी छोड़ दिया। जिस देवपूजन में जीव-वध हो उसमें चंदा देना, सहयोग करना तथा सम्मिलित होना भी छोड़ दिया। गांव वाले उस पर रुष्ट हो गये। पूरे गांव के लोग देव-पूजन में बकरे-मुरगे काटने वाले तथा शराब-मांस के सेवन करने वाले थे। उन सब ने पंचायत कर उक्त भक्त के विरोध में गांव

में घोषणा कर दी कि उसके यहां कोई नौकर न लगे, मज़दूरी करने न जाय, उसे कोई आग तक न दे, उससे कोई बात न करे।

भक्त गांव वालों से पूर्णतया उपेक्षित हो गया। उसके कई हल चलते थे। कई नौकर तथा मजदूर लगते थे। बाहर से सब काम ठप्प हो गया, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। वह अपने मार्ग पर दृढ़ रहा। भक्त और उसका एक पुत्र दो जोड़ी बैलों को लेकर सुबह से दोपहर तक हल चलाते। दोपहर में बैलों को लाकर घर पर छोड़ देते। घर वाले उन बैलों को खिलाते-पिलाते और घर से दूसरे दो जोड़ी बैलों को लेकर पिता-पुत्र शाम तक हल चलाते। दूसरे गांव से मजदूर लाकर खेत में काम कराते। यह स्थिति पचीस वर्षों तक रही। उसके बाद गांव के लोग सामान्य हो गये। फिर उनको नौकर-मजदूर मिलने लगे। ऐसी कठिनाइयां या इनसे नरम-गरम कठिनाइयां जगह-जगह लोगों को पड़ी या पड़ती हैं, परन्तु जो दृढ़ रहते हैं, वे ही भक्ति कर सकते हैं।

प्रहलाद की कहानी चाहे पूर्णतया काल्पनिक हो, परन्तु उसमें भक्ति-पथ के पथिकों के लिए साहस का अन्यतम पाठ है। ध्रुव की कहानी की भी यही बात है। कबीर, मीरा, तुलसी तक को अपने पथ में कितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं। दयानंद, ईसा, मुहम्मद, विवेकानंद, बुद्ध, महावीर किसे कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा! ईसा, दयानंद, सुकरात, मंसूर, बंदा वैरागी, गुरु गोविन्द सिंह, उनके दो बच्चे, गुरुतेग बहादुर आदि को तो शहीद हो जाना पड़ा। धर्म के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रांतिकारी कबीर को अपने जीवन के पूर्वार्ध में जो कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं। उन्हीं की महिमा में बावन क़सनियों का वर्णन है। उनमें चमत्कारों की अतिशयोक्तियां हैं, परन्तु उनमें सार यही है कि उन्हें कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। परन्तु उनका कोई बाल न बांका कर सका। अंततः वे समाज-द्वारा पूज्य हुए।

भक्त होने तथा गुरुदीक्षा लेने के पश्चात जिनकी भैंस मर जाती है या कोई नुकसान हो जाता है वे यह भ्रम करके कि भक्ति हमें नहीं छाजती या नहीं शोभती, भक्ति छोड़ बैठते हैं। वे कायर-कुपूत लोग क्या भक्ति कर सकते हैं! भक्ति जितनी प्रगाढ़ होती जाती है उतना ही सत्य का व्यवहार बढ़ता है, किन्तु उसमें अपनी आर्थिक हानि मानकर जो भक्ति छोड़ देता है वह भक्ति नहीं कर सकता। किसी अन्य भक्त, साधक, साधुवेषधारी की फिसलन देखकर या किसी गुरु की ही डगमगाहट देखकर जो भक्ति छोड़ बैठता है वह भक्ति-पथ का पथिक नहीं है। भक्ति-पथ में वही चल सकता है जो सारे द्वन्द्वों, दुखों, हानियों, अपमानों एवं कष्टों को सहकर उसे न छोड़े।

सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। भक्ति करने में चाहे जितनी हानि दिखे उसका परित्याग कभी न करना चाहिए। संसार की हानि झूठी है, परन्तु भक्ति का फल सच्चा है। राम की भक्ति जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। राम मनुष्य के भीतर भी है और बाहर भी। बाहर प्राणिजगत राम का विराट स्वरूप है। उसकी यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। पहली सेवा है प्राणिजगत का शक्ति चले तक अहित न करना और बन सके तो उसकी सुविधा में सहयोग करना। भीतरी राम मेरी अपनी अंतरात्मा है, उसका चिंतन, उसमें स्थिति यह उसकी भक्ति करना है। अतएव

दूसरे की सेवा और अपने आप में स्थिति यही राम की भक्ति है। यह जीवन की परम उपलब्धि है। जो व्यक्ति यथासाध्य दूसरे की सेवा करता है और अपने आप में संयत होकर स्थित होता है उसके समान सफल जीवन कौन होगा, और ऐसी स्थिति एवं भक्ति को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ का स्वाहा कर देना पड़े तो क्या हानि है! इसीलिए सद्गुरु ने कहा है—

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोइ सूरमा, जाति वर्ण कुल खोय।।

× × ×

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

अनन्य भक्ति

नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुशी क्यों होय।।२६८।।

शब्दार्थ—जार = पराई स्त्री से प्रेम करने वाला पुरुष, उपपति, आशना। खसम = पति।

भावार्थ—कोई स्त्री पत्नी तो अपने पति की कहलावे, परन्तु विलास दूसरे के साथ करे, और उस जार मित्र को ही अपने हृदय में बसाये रखे, तो उसका पति उस पर कैसे प्रसन्न हो सकता है! इसी प्रकार जो सद्गुरु या राम का भक्त कहलाकर काल्पनिक देवी-देवताओं में उलझता है, न उससे सद्गुरु प्रसन्न हो सकते हैं और न उसकी अंतरात्मा प्रसन्न हो सकती है।।२६८।।

व्याख्या—सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है "दुनिया सेती दोस्ती, परत भजन में भंग। एकाएकी राम ते, की संतन के संग।।" अर्थात संत-सद्गुरु के सत्संग, सेवा, भक्ति आदि में रमो या अपने स्वरूप-राम में रमो। इसके अलावा जंजाल है। जो गुरु का भक्त है अथवा जो राम का भक्त है वह कल्पित एवं जड़ देवी-देवताओं को न मानता है और न पूजता है। और जो देवी-देवताओं में उलझा है वह न गुरुतत्त्व को जानता है और न रामतत्त्व को जानता है। बाहरी गुरु बोधदाता है जो मनुष्य के रूप में है और भीतरी गुरु मनुष्य का निज विवेक है और अंततः उसका निजस्वरूप चेतन है। इसी प्रकार बाहरी राम प्राणिजगत है और भीतरी राम अपनी आत्मा है, जीव है। इस प्रकार जिसे रामतत्त्व और गुरुतत्व का बोध है वह संत-गुरु की सेवा करता है, प्राणियों की सेवा करता है, अपने विवेक को जाग्रत करता है और अपने चेतन पारखस्वरूप में स्थिति करता है। वह कल्पित जड़ देवी-देवताओं की उपासना-पूजा में नहीं भटकता।

वस्तुतः मनोवृत्ति पत्नी है और जीव पति है। यदि मनोवृत्ति जीव को छोड़कर अर्थात अंतरात्मा को छोड़कर इधर-उधर भटकती है तो मानो वह जारकर्म में निरत रहने वाली व्यभिचारिणी है। ऐसी मनोवृत्ति से चेतनपति को कभी संतोष नहीं मिल सकता। जब मनोवृत्ति निजस्वरूप में स्थित होती है तभी जीव को परम शांति मिलती है।

भटकाव में कुसंग कारण

सज्जन से दुर्जन भया, सुनि काहू की बोल।
काँसा तामा होय रहा, हता ठिकों का मोल॥२६९॥

शब्दार्थ—काहू = अविवेकी। काँसा = ताँबे और जस्ते के मेल से बनी एक धातु तामा = लाल रंग की एक धातु। हता = था। ठिकों का मोल = सही कीमत।

भावार्थ—मनुष्य मूलतः सच्चे सोने की कीमत का था और है, परन्तु य अविवेकियों की बातें सुनकर और उनसे प्रभावित होकर अच्छा से बुरा बन गया औ तुच्छ कांसे-तांबे के भाव बिकने लगा॥२६९॥

व्याख्या—जब मनुष्य शिशु के रूप में जन्म लेता है तब वह शुद्ध और साफ-पाव होता है। यदि मनुष्य के बच्चे शुरू से ही कुसंग न पायें और अच्छी संगत, अच्छे साहित एवं अच्छे वातावरण पायें तो उनका प्रायः अच्छा ही निर्माण हो। मनुष्य मूलरूप विवेक-शक्तिसंपन्न है। वह मौलिक रूप में शुद्ध है। परन्तु दुख की बात है कि उसे शुरू ही कुसंग मिलने लगता है। स्वार्थपरता एवं झुठाई आदि की सीख तो कितनी माताएं देने लगती हैं। जब बच्चा माता की गोद से उतरकर जमीन पर खेलना शुरू करता है त दूसरे कुसंस्कारी बच्चों की संगत से उसमें कुसंस्कार आने लगते हैं। फिर वह गांव तथ मोहल्ले के लड़कों से मिलता है, पाठशाला में पढ़ने जाने लगता है तब वहां बहुत लड़क का सम्बन्ध होता है। इनमें कितने लड़के अनेक दुर्व्यसनों के शिकार तथा दुर्गुणों के पंडि होते हैं। यदि इन बच्चों की संगत में पड़ गया तो थोड़े दिनों में स्वभाव बिगड़ जाता है।

फिर तो समय जितने बीतते हैं उसे अनेक लोगों की संगत मिलती जाती है जिन अच्छे तो कम मिलते हैं, किसी-न-किसी प्रकार भटका देने वाले बहुत मिलते हैं। जिनव संगत से मांस, अंडा खाने या किसी प्रकार के नशा करने एवं किसी प्रकार के गल आचरण की आदत पड़ जाय वह तो बुरी संगत है ही, परंतु जिनकी संगत से भूत, प्रेत देवी, देवता, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, शकुन, अपशकुन या किसी अदृश्यशक्ति का भय य लालच का भ्रम मन में खड़ा हो जाय, वह भी महान कुसंग है। कितने भ्रामक लड़के य गुरु लोग मिलते हैं वे गायत्री-जप, देवी-देवता-पूजन या और किसी टंट-घंट करने परीक्षा में उत्तीर्ण होने, मुकदमे में विजय पाने, पुत्र, धन पाने, नौकरी आदि पाने क झांसा देकर मनुष्य की मानसिकता को दुर्बल बनाने का पाप करते हैं। ऐसे लोगों कुसंग से मनुष्य कारण-कार्य तथा विश्व के शाश्वत नियमों के ज्ञान से दूर होक चमत्कारों में विश्वास करने लगता है, जो केवल अज्ञान या धूर्तता से पैदा हुए हैं। भ्राम लोग जनता को झूठी आशा देकर उन्हें केवल मूर्ख बनाते हैं और उसी क्रम में किसी क अपने श्रम एवं प्रारब्ध से पुत्र, धन, विजय, परीक्षोत्तीर्णता आदि मिल गये तो उन्हें भ्रम दृढ़ हो जाता है कि यह सब उपलब्धि मान-मनौती से हुई है और वंचक लोग ढिंढो पीटते हैं कि देखो अमुक ने गायत्री या अमुक देवी-देवता की पूजा के बल पर पुत्र-धन पाये हैं। भ्रामकों एवं भोले लोगों ने मिलकर ही सारे देवी-देवताओं, चमत्कारों ए अन्धविश्वासों को जन्म दिया है। इसके मूल में मिथ्या स्वार्थ है। इससे भ्रामकों का स्वा

खूब सिद्ध होता है। वे भोले लोगों को अपने मायाजाल में फंसाकर उन्हें खूब बेवकूफ बनाते हैं और उनसे धन, यश आदि लूटते हैं, परन्तु भोले लोग जो फंसते हैं उनका लाभ तो कुछ भी नहीं, केवल हानि ही हानि है। किसी कल्पित देवी-देवतादि की पूजा, वन्दना उपासना करने से किसी को भी पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिलते हैं।

संसार में मनुष्य सर्वोच्च सत्ता है। उसकी सर्वाधिक कीमत है। समस्त शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान उसी की देन हैं। परन्तु वह "काहू" की बोल सुनकर भटक गया है। यहां "काहू" शब्द पर काफी जोर है। "काहू" से अर्थ है "बेपारखी"। जिसे जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य की व्यवस्था एवं प्रकृतिगत गुण-धर्मों की पहचान नहीं है, अथवा जिसके आचरण पवित्र नहीं हैं, उसके लिए ही "काहू" शब्द का प्रयोग है। ऐसे लोगों की ही बातें सुनकर मनुष्य सज्जन से दुर्जन हो जाता है। ज्ञान में भ्रांति और आचरण की मलिनता मनुष्य को नीचा बनाती है।

यदि सोना कांसे-तांबे के भाव बिकने लगे तो यह सोने के महत्त्व को न समझना है। इस संसार में जिस मनुष्य की कीमत सबसे ज्यादा है वह तुच्छ कहा जाने लगा। वह अपने बनाये जड़-पिंडियों, शब्द-समूहों एवं मनःकल्पनाओं के सामने रोने, गिड़गिड़ाने एवं भोग-मोक्ष मांगने लगा। वह पत्थर, पेड़, पहाड़, नदी, आकाश, चांद, सूरज सब से भीख मांगने लगा। जितना मूल्य पत्थर, पेड़ और कांसा-तांबा का है, मनुष्य का उतना भी नहीं रहा। इसके मूल में है "काहू की बोल"। जो ज्ञान और आचरण से गिरे हैं उनकी बातें सुन-सुनकर अच्छे लोग भी भटक जाते हैं।

विवेचनशक्तिसंपन्न होने से मनुष्य की मर्यादा सर्वोत्तम है। इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य समस्त विकारों को जीतकर स्वयं परमात्मा या भगवान है। इससे बढ़कर या इसके समान कोई अन्य नहीं है।

बिरही जीवों का भटकाव

बिरहिन साजी आरती, दर्शन दीजै राम।
मूये दर्शन देहुगे, तो आवै कौने काम॥२७०॥

शब्दार्थ—बिरहिन = पति-वियोग की पीड़ा से व्यथित नारी, तात्पर्य में ईश्वर को पति मानकर उसके दर्शन के लिए तड़पता भक्त।

भावार्थ—ईश्वर के वियोग के अनुभव से पीड़ित भक्त अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानकर और उसे पति मानकर उससे मिलने, उसके दर्शन पाने के लिए आरती साजता है, उसकी वन्दना करके कहता है कि हे राम, मुझे दर्शन दो। यदि मरने पर दर्शन दोगे तो उससे क्या लाभ होगा!॥२७०॥

व्याख्या—ऐसा बहुत लोगों को भ्रम होता है कि आत्मा से अलग परमात्मा होता है। कितनों को यह भी विश्वास होता है कि उसके विरह में तड़पने से वह आकर साक्षात दर्शन देता है। इस भ्रांत मानसिकता के बहुत लोग शिकार होते हैं। ऐसे लोग अपने

रत्नतुल्य समय और जीवन को उसके दर्शन पाने के प्रयास के गोरखधंधे में व्यर्थ बिता देते हैं। उनको इतना-सा विवेक नहीं होता कि रूप विषय को छोड़कर अन्य चार गंध, शब्द, स्वाद एवं स्पर्श के ही आंखों से दर्शन नहीं होते, तो अभौतिक, अदृश्य परमात्मा के दर्शन कैसे होंगे! इसके अलावा जो मेरी आत्मा से अलग होगा वह परमात्मा हमारा अपना कैसे बन सकता है! वे उन मोहक एवं काल्पनिक वाणियों के व्यामोह में पड़े रहते हैं, जिनमें बताया गया है कि अमुक को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के, अमुक को शिव या विष्णु के दर्शन हुए आदि। इस प्रकार की सारी वाणियां एक मानसिक सनक से लिखी गयी होती हैं। परन्तु आदमी वाणियों के व्यामोह में पड़ा भटकता है।

कितने गुरु लोग कहते हैं कि यदि आदमी जीवनभर ईश्वर की विरहाग्नि में जलता रहे तो मरने के बाद उसे भगवान के दर्शन अवश्य होंगे। परन्तु मरने के बाद ईश्वर-दर्शन का झांसा देना आदमी को गुमराह करना है। जो इस जीवन में नहीं घटेगा वह मरने पर क्या घटेगा! इस झांसे में पड़े हुए अनेक साधक जीवनभर तपस्या का घोर कष्ट उठाते हैं। उन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं होता जो स्वयंप्रत्यक्ष एवं हाजिर हुजूर है। इस प्रकार स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान के बिना मानव भटकता है। विरह का अर्थ ही है, वियोग, जुदाई। परन्तु जुदाई एवं बिछुड़न भ्रमजनित है। मेरा 'अपना' बिछुड़ा ही नहीं है। जो मेरा अपना आपा है, स्वत्व है, स्व-स्वरूप है, वही मेरा परमात्मा है और वह मुझ से कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। जब बिछुड़ा ही नहीं, तब वियोगजनित पीड़ा कैसी! अतएव अपने से अलग परमात्मा या राम मानकर उससे बिछुड़न की कल्पना ही अज्ञानजनित है, फिर मिलने का क्या मतलब हो सकता है! अध्यात्म के क्षेत्र में इतना ही है कि मुझे स्व-स्वरूप का केवल विस्मरण है। उसे जानकर केवल स्मरण कर लेना है और विषय-वासनाओं को छोड़कर सदैव स्वरूपस्थिति में रहना है।

वर्तमान सुधारो

पल में परलय बीतिया, लोगहिं लागु तमारि।
आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि ॥२७१॥

शब्दार्थ—तमारि = तम+अरि—अंधकार का शत्रु, सूर्य, तात्पर्य में ज्ञान। आगल = भविष्यकाल। पाछल = भूतकाल। गोहारि = सत्संग में पुकार।

भावार्थ—पल मात्र में तेरी मौत हो जायेगी, फिर तेरा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इसलिए हे मानव, तू गुरु के ज्ञान-पथ में लग और भूत की चिंताओं तथा भविष्य की कल्पनाओं को छोड़कर वर्तमान के सारे बंधनों को तोड़ने के लिए सत्संग में पुकार कर! ॥२७१॥

व्याख्या—हम घर, धन, पशु, परिवार का शृंगार करते हैं, अपने माने हुए शरीर को सजाते हैं और उसे बड़ा स्थायी मानते हैं। इस प्रकार संसार की माया को हम अजर-अमर मानकर उसके प्रमाद में फूले नहीं समाते। परन्तु हमें कालबली का तमाचा क्षण में लग जाता है और हमारे शरीर का अंत हो जाता है। शरीर का अंत हो जाना मानो हमारे

ग्रावी अहं का प्रलय हो जाना है। शरीर के मिटने के साथ पलक मात्र में हमारा सब
त जाता है। विचार करके देखो तो हमारे देह-गेहादि के प्रति बनाये हुए अहं-मम कितने
थ्या हैं! पागल मानव जिसको जीवनभर मेरा-मेरा कर रटता है क्षण ही में वह सब खो
ता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

आगाह अपनी मौत से कोई बसर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू देह-गेहादि का अहंकार मत कर, बल्कि
ागु तमारि" अर्थात अज्ञाननाशक ज्ञान में लग। "देह-गेहादि भौतिक पदार्थ मेरे हैं"
ी धारणा ही अज्ञान है और ये सब मेरे नहीं हैं, मैं शुद्ध चेतन असंग, अविनाशी एवं
ाधार हूं, यह ज्ञान है। कबीर देव कहते हैं कि अज्ञान को छोड़कर ज्ञान में लगो। जैसे
र्य के उगते ही अंधकार समाप्त हो जाता है, वैसे स्वरूपज्ञान के उदित होते ही माया-मोह
ट हो जाता है। जैसे अंधकार में आदमी को ऊंच-नीच, रास्ता-खाईं आदि का पता न
ने से वह जगह-जगह ठोकरें खाता है, परन्तु सूर्योदय होने पर प्रकाश हो जाता है,
र उसे सब कुछ साफ दिखता है तथा वह कांटा-खाईं से बचकर अच्छे रास्ते पर चलता
इसी प्रकार देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों के मोह में डूबा आदमी विवेकहीन होकर
कता है। उसे अपना हिताहित नहीं दिखता। परन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है कि इस
ार में कुछ भी अपना नहीं है, फिर मैं किस प्राणी-पदार्थ के लिए राग-द्वेष करूं तो वह
थ पर चलता है। वह सब कुछ के अहंकार को छोड़कर अविनाशीस्वरूप में स्थित
ा है।

सद्गुरु कहते हैं "आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" अर्थात आगे-पीछे
चिन्ता छोड़कर वर्तमान में बन्धनों से मुक्त होने के लिए सत्संग में गोहार करो। हम
काल की अपने द्वारा घटी घटनाओं को लेकर चिंता और पश्चाताप करते हैं कि ऐसा
ता तो ऐसा अच्छा हो जाता। मैंने गलत किया जिससे काम बिगड़ गया इत्यादि। परन्तु
दमी चाहे जितना पश्चाताप करे और चाहे जितनी चिंता करे जो बीत गया वह लौट
ीं सकता। बीता हुआ मुरदा है। उसे कौन जिला सकता है! अतएव बीती घटनाओं
लेकर चिन्ता एवं पश्चाताप करना अविवेक है।

हम भविष्य के लिए नयी-नयी स्वर्णिम कल्पनाएं करते हैं, ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे,
ह होगा, वह होगा, परन्तु आदमी जितना सोचता है क्या उतना होता है! तथागत
द्ध ने कहा है कि मूढ़ आदमी सोचता है कि मैं ठंडी में अमुक जगह, गरमी में अमुक
ह तथा वर्षा में अमुक जगह रहूंगा। परंतु उसको क्या पता कि काल उसे कब
ा लेगा! इसका मतलब यह नहीं है कि भविष्य के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाना
हिए। कार्यक्रम बनाना पड़ता है, तभी जीवन की गाड़ी चलती है और तभी कुछ
या जा सकता है। परन्तु विवेकवान आदमी मन के लड्डू नहीं खाते। वे भविष्य के
ने में डूबते नहीं। वे भूत की चिन्ता एवं पश्चाताप तथा भविष्य की कल्पना छोड़कर
मान सुन्दर बनाते हैं। वर्तमान हमारे हाथों में है। हमें आज सत्संग करना चाहिए,
वेक करना चाहिए और प्राप्त निष्कर्ष के अनुसार जीवन बनाना चाहिए। वर्तमान में हम

राग-द्वेष से मुक्त होकर स्ववश रहें, यही जीवन में महान उपलब्धि है। श्री पूरण साहेब कहते हैं—

वर्तमान में बरतो भाई। भूत भविष्य सब देउ बहाई।।
होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जिव काहेक रोई।।
तू अविनाशी सुख में कहिए। याहि जानि धीरता लहिए।। निर्णयसार।।

"आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि भविष्य में क्या होगा इसकी चिन्ता छोड़ दो। तुम भूतकाल में बनी हुई वासनाओं एवं बन्धनों को नष्ट करने के लिए सत्संग में पुकार करो। अर्थात विनयावनत होकर सन्तों से सत्यासत्य समझकर सारे अध्यासों को ध्वंस करो। तुम्हारे सारे बन्धन भूतकाल में ही तो बने हैं। यदि उन्हें वर्तमान में मिटा देते हो तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमने वर्तमान में भूत का सुधार कर लिया और जीवनभर केवल वर्तमान को ठीक बनाये रखा तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है।

मन को वश में करना ही सर्वोच्च उपलब्धि है

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं ।।२७२।।

शब्दार्थ—एक = मन। समाना = आसक्त हुआ। सकल = पंचविषय जगत। बूझ = ज्ञान, परख। दूतिया = दृश्य जगत।

भावार्थ—साधारण मनुष्य का मन संसार के सारे प्रपंच में आसक्त रहता है और सारे प्रपंच के संस्कार उसके मन में लीन रहते हैं। परंतु जिसका मन संसार की सारी वासनाओं को छोड़ देता है, उसका मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है, जहां दृश्य जगत नहीं है।।२७२।।

व्याख्या—जो लोग प्रसंग को नहीं देखते वे "एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि" का अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म सब में लीन है तथा सब एक ब्रह्म में लीन है। परन्तु यहां "एक" का अर्थ मन है। यही बात इसकी अगली साखी में भी दोहरायी गयी है कि "एक साधे सब साधिया" वहां भी अर्थ मन का है कि एक मन साध लिया जाय तो सब सध गया।

सामान्य जीवों की यही दशा है कि उनका मन संसार के सारे प्रपंच में लीन होता है और सारे प्रपंच के संस्कार उनके मन में लीन होते हैं। ये कहने के दो तरीके हुए, परन्तु दोनों का अर्थ है कि साधारण आदमी का मन जगत-विषयों में ही डूबा रहता है। साधारण आदमी अपने मन को सब समय किसी-न-किसी विषय के राग में ही लगाये रखता है। विषयों का स्मरण मानो उसके मन का व्यापार है। इसीलिए सामान्य लोग यह समझ भी नहीं पाते कि हम विषयों से अलग शुद्ध चेतन हैं।

परन्तु जिन्हें अपने अविनाशीस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और उन्होंने विषयों की वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उनका शुद्ध मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता

''कबीर समाना बूझ में'' बड़ा वजनदार वचन है। जहां सबकी बूझ, समझ एवं परख है वह जीव का निजस्वरूप है। श्री पूरण साहेब ने कहा है ''जाते सकलो परखिया, ारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप।।'' जिस चेतन भूमिका से ी परख होती है वही तो व्यक्ति का निजस्वरूप है। जिसका मन वासनाहीन हो गया सका मन उसी में लीन होता है। ''कबीर समाना बूझ में'' कबीर तो केवल बूझ में ये हैं। वे केवल ज्ञान में लीन हैं। कबीर अपने आप को स्वरूपस्थिति में लीन बताकर उन सब को स्वरूपलीन बताते हैं जिनको स्वरूपज्ञान हो गया है और जिनका मन हो गया है।

वह स्वरूपस्थिति की दशा कैसी होती है? सद्गुरु बताते हैं ''जहां दूतिया नाहिं'' द्वैत नहीं रहता, यह दृश्य जगत वहां नहीं रहता। वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति नन का यह स्वभाव है कि वह एक काल में केवल एक ही विषय को ले सकता है। मन स्वरूपज्ञान में लीन हो गया तब वहां दूसरा विषय कैसे उपस्थित हो सकता है! नज्ञान में स्थिति ही तो मानो अद्वैत दशा है। ब्रह्मवादी जड़-चेतन को एक मानकर की कल्पना करते हैं जो केवल एक सांप्रदायिक मतवाद है। परन्तु विषयों को कर स्वरूपस्थिति ही अद्वैत है। अद्वैत का अर्थ है अकेलापन। सारे संकल्पों के छूट के बाद शुद्ध चेतन मात्र रहा, और वही अद्वैत है। वहां स्वरूपस्थिति के अलावा नहीं है।

एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय।
जैसा सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय।।२७३।।

शब्दार्थ—एक = मन। साधे = रोके, वश में करने से। सब = संसार के प्राणी, पदार्थ, ा आदि।

भावार्थ—एक मन को वश में कर लेने से मानो सब कुछ वश में हो गया, परन्तु के सारे प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठादि को जो अपने वश में करने का प्रयत्न करता है ा मन संसार में भटक जाता है। जैसे पेड़ की जड़ में पानी डालने से पूरा पेड़ हरा-होता है और फूलता-फलता है और सींचने वाले को पेटभर खाने को मिलता है, वैसे पने मन को वश में कर लेता है वह अखण्ड तृप्ति पाता है।।२७३।।

व्याख्या—कोई व्यक्ति पेड़ के पत्ते-पत्ते को पानी से सींचे तो इससे न तो पेड़ को से खुराक मिलेगी और न उसके फूलने-फलने में सहयोग मिलेगा, परन्तु केवल पेड़ ाड़ में पानी डालकर सींचने से पूरा पेड़ हरा-भरा हो जायेगा। उसमें फूल तथा फल ो और सींचने वाले को अघाकर फल खाने के लिए मिलेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति को अपने वश में करके सुख चाहता है वह भोला है। सच्चा तथा स्थायी सुख तो मिलता है जब अपने मन को वश में कर लिया जाय।

''एक साधे सब साधिया'' बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। एक मन को अपने वश में कर नर सारा संसार अपने वश में हो गया। वस्तुतः जब अपने मन को वश में कर लिया है तब कुछ इच्छा ही नहीं रह जाती, और जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं उसके

राग-द्वेष से मुक्त होकर स्ववश रहें, यही जीवन में महान उपलब्धि है। श्री पूरण साहेब कहते हैं—

वर्तमान में बरतो भाई। भूत भविष्य सब देउ बहाई।।
होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जिव काहेक रोई।।
तू अविनाशी सुख में कहिए। याहि जानि धीरता लहिए।। निर्णयसार।।

"आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि भविष्य में क्या होगा इसकी चिन्ता छोड़ दो। तुम भूतकाल में बनी हुई वासनाओं एवं बन्धनों को नष्ट करने के लिए सत्संग में पुकार करो। अर्थात विनयावनत होकर सन्तों से सत्यासत्य समझकर सारे अध्यासों को ध्वंस करो। तुम्हारे सारे बन्धन भूतकाल में ही तो बने हैं। यदि उन्हें वर्तमान में मिटा देते हो तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमने वर्तमान में भूत का सुधार कर लिया और जीवनभर केवल वर्तमान को ठीक बनाये रखा तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है।

मन को वश में करना ही सर्वोच्च उपलब्धि है

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं ।।२७२।।

शब्दार्थ—एक = मन। समाना = आसक्त हुआ। सकल = पंचविषय जगत। बूझ = ज्ञान, परख। दूतिया = दृश्य जगत।

भावार्थ—साधारण मनुष्य का मन संसार के सारे प्रपंच में आसक्त रहता है और सारे प्रपंच के संस्कार उसके मन में लीन रहते हैं। परंतु जिसका मन संसार की सारी वासनाओं को छोड़ देता है, उसका मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है, जहां दृश्य जगत नहीं है ।।२७२।।

व्याख्या—जो लोग प्रसंग को नहीं देखते वे "एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि" का अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म सब में लीन है तथा सब एक ब्रह्म में लीन है। परन्तु यहां "एक" का अर्थ मन है। यही बात इसकी अगली साखी में भी दोहरायी गयी है कि "एक साधे सब साधिया" वहां भी अर्थ मन का है कि एक मन साध लिया जाय तो सब सध गया।

सामान्य जीवों की यही दशा है कि उनका मन संसार के सारे प्रपंच में लीन होता है और सारे प्रपंच के संस्कार उनके मन में लीन होते हैं। ये कहने के दो तरीके हुए, परन्तु दोनों का अर्थ है कि साधारण आदमी का मन जगत-विषयों में ही डूबा रहता है। साधारण आदमी अपने मन को सब समय किसी-न-किसी विषय के राग में ही लगाये रखता है। विषयों का स्मरण मानो उसके मन का व्यापार है। इसीलिए सामान्य लोग यह समझ भी नहीं पाते कि हम विषयों से अलग शुद्ध चेतन हैं।

परन्तु जिन्हें अपने अविनाशीस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और उन्होंने विषयों की वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उनका शुद्ध मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता

। "कबीर समाना बूझ में" बड़ा वजनदार वचन है। जहां सबकी बूझ, समझ एवं परख ती है वह जीव का निजस्वरूप है। श्री पूरण साहेब ने कहा है "जाते सकलो परखिया, पारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप।।" जिस चेतन भूमिका से बकी परख होती है वही तो व्यक्ति का निजस्वरूप है। जिसका मन वासनाहीन हो गया उसका मन उसी में लीन होता है। "कबीर समाना बूझ में" कबीर तो केवल बूझ में नाये हैं। वे केवल ज्ञान में लीन हैं। कबीर अपने आप को स्वरूपस्थिति में लीन बताकर नो उन सब को स्वरूपलीन बताते हैं जिनको स्वरूपज्ञान हो गया है और जिनका मन द्ध हो गया है।

वह स्वरूपस्थिति की दशा कैसी होती है? सद्गुरु बताते हैं "जहां दूतिया नाहिं" ां द्वैत नहीं रहता, यह दृश्य जगत वहां नहीं रहता। वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति । मन का यह स्वभाव है कि वह एक काल में केवल एक ही विषय को ले सकता है। ब मन स्वरूपज्ञान में लीन हो गया तब वहां दूसरा विषय कैसे उपस्थित हो सकता है! रूपज्ञान में स्थिति ही तो मानो अद्वैत दशा है। ब्रह्मवादी जड़-चेतन को एक मानकर द्वैत की कल्पना करते हैं जो केवल एक सांप्रदायिक मतवाद है। परन्तु विषयों को गकर स्वरूपस्थिति ही अद्वैत है। अद्वैत का अर्थ है अकेलापन। सारे संकल्पों के छूट ने के बाद शुद्ध चेतन मात्र रहा, और वही अद्वैत है। वहां स्वरूपस्थिति के अलावा छ नहीं है।

एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय।
जैसा सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय।।२७३।।

शब्दार्थ—एक = मन। साधे = रोके, वश में करने से। सब = संसार के प्राणी, पदार्थ, तिष्ठा आदि।

भावार्थ—एक मन को वश में कर लेने से मानो सब कुछ वश में हो गया, परन्तु सार के सारे प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठादि को जो अपने वश में करने का प्रयत्न करता है सका मन संसार में भटक जाता है। जैसे पेड़ की जड़ में पानी डालने से पूरा पेड़ हरा- ा होता है और फूलता-फलता है और सींचने वाले को पेटभर खाने को मिलता है, वैसे अपने मन को वश में कर लेता है वह अखण्ड तृप्ति पाता है।।२७३।।

व्याख्या—कोई व्यक्ति पेड़ के पत्ते-पत्ते को पानी से सींचे तो इससे न तो पेड़ को क से खुराक मिलेगी और न उसके फूलने-फलने में सहयोग मिलेगा, परन्तु केवल पेड़ जड़ में पानी डालकर सींचने से पूरा पेड़ हरा-भरा हो जायेगा। उसमें फूल तथा फल येंगे और सींचने वाले को अघाकर फल खाने के लिए मिलेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति सार को अपने वश में करके सुख चाहता है वह भोला है। सच्चा तथा स्थायी सुख तो मिलता है जब अपने मन को वश में कर लिया जाय।

"एक साधे सब साधिया" बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। एक मन को अपने वश में कर ने पर सारा संसार अपने वश में हो गया। वस्तुतः जब अपने मन को वश में कर लिया ता है तब कुछ इच्छा ही नहीं रह जाती, और जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं उसके

राग-द्वेष से मुक्त होकर स्ववश रहें, यही जीवन में महान उपलब्धि है। श्री पूरण साहेब कहते हैं—

वर्तमान में बरतो भाई। भूत भविष्य सब देउ बहाई।।
होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जिव काहेक रोई।।
तू अविनाशी सुख में कहिए। याहि जानि धीरता लहिए।। निर्णयसार।।

"आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि भविष्य में क्या होगा इसकी चिन्ता छोड़ दो। तुम भूतकाल में बनी हुई वासनाओं एवं बन्धनों को नष्ट करने के लिए सत्संग में पुकार करो। अर्थात विनयावनत होकर सन्तों से सत्यासत्य समझकर सारे अध्यासों को ध्वंस करो। तुम्हारे सारे बन्धन भूतकाल में ही तो बने हैं। यदि उन्हें वर्तमान में मिटा देते हो तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमने वर्तमान में भूत का सुधार कर लिया और जीवनभर केवल वर्तमान को ठीक बनाये रखा तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है।

मन को वश में करना ही सर्वोच्च उपलब्धि है

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं ।।२७२।।

शब्दार्थ—एक = मन। समाना = आसक्त हुआ। सकल = पंचविषय जगत। बूझ = ज्ञान, परख। दूतिया = दृश्य जगत।

भावार्थ—साधारण मनुष्य का मन संसार के सारे प्रपंच में आसक्त रहता है और सारे प्रपंच के संस्कार उसके मन में लीन रहते हैं। परंतु जिसका मन संसार की सारी वासनाओं को छोड़ देता है, उसका मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है, जहां दृश्य जगत नहीं है।।२७२।।

व्याख्या—जो लोग प्रसंग को नहीं देखते वे "एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि" का अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म सब में लीन है तथा सब एक ब्रह्म में लीन है परन्तु यहां "एक" का अर्थ मन है। यही बात इसकी अगली साखी में भी दोहरायी गयी है कि "एक साधे सब साधिया" वहां भी अर्थ मन का है कि एक मन साध लिया जाय तो सब सध गया।

सामान्य जीवों की यही दशा है कि उनका मन संसार के सारे प्रपंच में लीन होता है और सारे प्रपंच के संस्कार उनके मन में लीन होते हैं। ये कहने के दो तरीके हुए, परन्तु दोनों का अर्थ है कि साधारण आदमी का मन जगत-विषयों में ही डूबा रहता है। साधारण आदमी अपने मन को सब समय किसी-न-किसी विषय के राग में ही लगाये रखता है। विषयों का स्मरण मानो उसके मन का व्यापार है। इसीलिए सामान्य लोग यह समझ भी नहीं पाते कि हम विषयों से अलग शुद्ध चेतन हैं।

परन्तु जिन्हें अपने अविनाशीस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और उन्होंने विषयों की वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उनका शुद्ध मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता

है। "कबीर समाना बूझ में" बड़ा वजनदार वचन है। जहां सबकी बूझ, समझ एवं परख होती है वह जीव का निजस्वरूप है। श्री पूरण साहेब ने कहा है "जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥" जिस चेतन भूमिका से सबकी परख होती है वही तो व्यक्ति का निजस्वरूप है। जिसका मन वासनाहीन हो गया है उसका मन उसी में लीन होता है। "कबीर समाना बूझ में" कबीर तो केवल बूझ में समाये हैं। वे केवल ज्ञान में लीन हैं। कबीर अपने आप को स्वरूपस्थिति में लीन बताकर मानो उन सब को स्वरूपलीन बताते हैं जिनको स्वरूपज्ञान हो गया है और जिनका मन शुद्ध हो गया है।

वह स्वरूपस्थिति की दशा कैसी होती है? सद्गुरु बताते हैं "जहां दूतिया नाहिं" वहां द्वैत नहीं रहता, यह दृश्य जगत वहां नहीं रहता। वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति है। मन का यह स्वभाव है कि वह एक काल में केवल एक ही विषय को ले सकता है। जब मन स्वरूपज्ञान में लीन हो गया तब वहां दूसरा विषय कैसे उपस्थित हो सकता है! स्वरूपज्ञान में स्थिति ही तो मानो अद्वैत दशा है। ब्रह्मवादी जड़-चेतन को एक मानकर अद्वैत की कल्पना करते हैं जो केवल एक सांप्रदायिक मतवाद है। परन्तु विषयों को त्यागकर स्वरूपस्थिति ही अद्वैत है। अद्वैत का अर्थ है अकेलापन। सारे संकल्पों के छूट जाने के बाद शुद्ध चेतन मात्र रहा, और वही अद्वैत है। वहां स्वरूपस्थिति के अलावा कुछ नहीं है।

एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय।
जैसा सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥२७३॥

शब्दार्थ—एक = मन। साधे = रोके, वश में करने से। सब = संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा आदि।

भावार्थ—एक मन को वश में कर लेने से मानो सब कुछ वश में हो गया, परन्तु संसार के सारे प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठादि को जो अपने वश में करने का प्रयत्न करता है उसका मन संसार में भटक जाता है। जैसे पेड़ की जड़ में पानी डालने से पूरा पेड़ हरा-भरा होता है और फूलता-फलता है और सींचने वाले को पेटभर खाने को मिलता है, वैसे जो अपने मन को वश में कर लेता है वह अखण्ड तृप्ति पाता है॥२७३॥

व्याख्या—कोई व्यक्ति पेड़ के पत्ते-पत्ते को पानी से सींचे तो इससे न तो पेड़ को ठींक से खुराक मिलेगी और न उसके फूलने-फलने में सहयोग मिलेगा, परन्तु केवल पेड़ की जड़ में पानी डालकर सींचने से पूरा पेड़ हरा-भरा हो जायेगा। उसमें फूल तथा फल आयेंगे और सींचने वाले को अघाकर फल खाने के लिए मिलेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति संसार को अपने वश में करके सुख चाहता है वह भोला है। सच्चा तथा स्थायी सुख तो तब मिलता है जब अपने मन को वश में कर लिया जाय।

"एक साधे सब साधिया" बड़ा महत्वपूर्ण वचन है। एक मन को अपने वश में कर लेने पर सारा संसार अपने वश में हो गया। वस्तुतः जब अपने मन को वश में कर लिया जाता है तब कुछ इच्छा ही नहीं रह जाती, और जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं उसके

सारे प्रयोजन मानो पूर्ण हो गये। शरीर की आवश्यकताएं तो प्रयत्न तथा प्रारब्ध से पूर्ण होती रहती हैं, मनुष्य की इच्छाएं ही नहीं पूर्ण होतीं। परन्तु जब वह मन को वश में कर लेता है तब इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं। जिसके मन की इच्छाएं बुझ जाती हैं वह परम तृप्त हो जाता है।

"सब साधे एक जाय" यदि आदमी सारी दुनिया को अपने वश में करने की दुराशा करता है तो उसका मन भटक जाता है। संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा, पद यहां तक कि जवानी, सौंदर्य, शरीर—कुछ भी अपने वश में नहीं है। ये सब सर्वथा कभी अपने वश में हो नहीं सकते। कुछ प्राणी-पदार्थों पर हमारा थोड़े दिनों के लिए अधिकार हो जाता है और हम उनके अहंकार में इतराने लगते हैं, परन्तु उनके बिछुड़ने, पराये होने तथा विमुख होने में देरी नहीं लगती। जो प्राणी, पदार्थ, पद आदि आज हमारे हाथों में हैं वे ही कल दूसरे के हाथों में चले जाते हैं। दूसरे प्राणी, पदार्थ तो दूर हैं ही, जिसे हम बिलकुल अपना मानते हैं और जो सबसे ज्यादा निकट है वह शरीर भी हमारे वश में नहीं है। कौन चाहता है कि जवानी तथा उसके सौंदर्य-माधुर्य समाप्त हो जायं, परन्तु वे देह में ही समाप्त हो जाते हैं। मीलों दौड़ लगाने वाला एक दिन बिस्तर पर पड़ा-पड़ा करवट नहीं बदल पाता। उसके हाथ जब कोई दूसरा आदमी उठा देता है तब वह एक जगह से दूसरी जगह होता है।

जिस संसार के एक कण पर भी अपनी स्ववशता नहीं है, विमोहित आदमी उस संसार के सारे प्राणी, पदार्थों को अपने वश में करने को सोचता रहता है। परन्तु वह जितना ही संसार को अपने वश में करने को सोचता है उतना ही उसका मन चंचल हो जाता है। जो व्यक्ति जितना ही संसार को समेटकर रखना चाहेगा, उसका मन उतना ही चंचल होकर भटकेगा। "सब साधे एक जाय" यह अमर वचन है। संसार को अपने वश में करना चाहोगे तो मन भटक जायेगा, और संसार भी अपने वश में नहीं होगा, और यदि मन को अपने वश में कर लोगे तो संसार की आवश्यकता ही समाप्त हो जायेगी, तो मानो संसार वश में हो गया।

संसार में केवल एक ही वस्तु हमारे वश में हो सकती है, वह है मन। इसके अलावा हमारे वश में कुछ भी नहीं हो सकता। हम काले शरीर को गोरा नहीं बना सकते, परंतु अशुद्ध मन को शुद्ध बना सकते हैं। हम बूढ़े शरीर को जवान नहीं बना सकते परन्तु आसक्ति की दुर्बलता से घिरे मन को वैराग्य-ज्ञान के बल से सबल कर सकते हैं। पहली बात, संसार के प्राणी-पदार्थ अपने वश में होंगे ही नहीं, यदि हम थोड़े समय के लिए असंभव को संभव भी बना लें और उन्हें अपने वश में कर लें तो भी उनसे हमारे मन में तृप्ति तो आ ही नहीं सकती। संसार के ऐश्वर्य से कौन तृप्त हुआ है! अखंड तृप्ति का केवल एक साधन है—मन को अपने वश में करना।

जिसका मन पूर्णरूपेण उसके वश में है वह सदैव सहज-समाधि में डूबा रहता है। सहज-समाधि है अभ्यासकाल में संकल्पहीनता और व्यवहारकाल में राग-द्वेष-हीनता एवं आसक्तिहीनता। ऐसा मानव आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम, निवृत्तकाम एवं

तृप्तकाम होता है। इस सुख के समान संसार में कोई सुख नहीं है। भूला मनुष्य संसार को वश में कर अनंत सुख चाहता है जो दोनों ही असंभव हैं; परन्तु विवेकवान मानव अपने मन को वश में कर अनंत सुख पा लेता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछु नहिं चाहिए, सोई शाहन्शाह।।

"एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय" इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि एक अपने मन को वश में कर लेने पर मानो सारी साधनाएं कर ली गयीं, क्योंकि इससे पूर्ण तृप्ति मिल जाती है, परन्तु जो नाना देवी-देवताओं की उपासना में पड़े रहते हैं उनका मन भटक जाता है। परम शांति मन के निर्बीज होने में है, न कि किसी कल्पना में लगे रहने में।

कल्पनालोक की बातें छोड़कर निजस्वरूप पहचानो

जेहि बन सिंह न संचरे, पन्छी ना उड़ि जाय।
सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय ।।२७४।।

शब्दार्थ—बन = कल्पनालोक। सिंह = जीव। संचरे = प्रवेश। पन्छी = पक्षी, मन। हींड़िया = खोज किया, भटका।

भावार्थ—जिस कल्पनालोक में जीव का प्रवेश नहीं होता और मन-पक्षी जहां उड़कर नहीं पहुंच सकता, भटके हुए लोगों ने शून्य में समाधि लगाकर उसकी खोज कर डाली है।।२७४।।

व्याख्या—उक्त पूरी साखी का भाव व्यंग्यात्मक है। जैसे कोई घना एवं भयंकर वन हो, जहां सिंह भी प्रवेश न कर सके तथा पक्षी भी उड़कर न जा सके यदि उसमें कोई मनुष्य पहुंच जाय तो उसकी प्रशंसा है, वैसे मनुष्यों ने ऐसे-ऐसे भगवानों, देवताओं एवं अदृश्य शक्ति के मूर्तिमान रूपों की कल्पना की है, अथवा उनके ऐसे-ऐसे लोकों की कल्पना की है, जो विचित्र हैं। आप नाना मतों के पौराणिक एवं धार्मिक किताबों को पढ़िए तो आपको पता चलेगा कि उनके कैसे-कैसे देवता हैं, भगवान हैं और उनके कैसे-कैसे स्वर्गलोक हैं! उनके ईश्वरों, भगवानों एवं स्वर्गलोकों के दिव्य भोगों का ऐसे आकर्षक वर्णन हैं कि साधारण लोगों का ही नहीं, बड़े-बड़े समझदारों का मन ललचा जाय।

यदि उनसे पूछो कि आप लोग ऐसे देवताओं, भगवानों एवं लोकों का पता कैसे पाये, क्या आप लोग वहां जाकर देख आये हैं! तो वे कहते हैं कि हमारे पैगंबरों तथा सिद्धपुरुषों ने ध्यान लगाकर समाधि में उनका साक्षात्कार किया है। "सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय।।" यह पंक्ति उन्हीं तथाकथित पैगंबरों एवं सिद्धों पर व्यंग्य है। यहां कबिरन ग्रन्थकार का वाचक नहीं है, किन्तु यह शब्द उनके लिए है जो संसार में चतुर लोग हुए हैं और जिन्होंने अपनी सनक में भविष्यवाणियां की हैं, अजीब-अजीब

काल्पनिक बातें की हैं और अपने वाक्यजाल में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये हैं। यदि यह माना जाय कि 'कबिरन' ग्रंथकार का ही नाम है और उन्होंने पद बैठाने के लिए ऐसा कहा है, तो भी मूल अर्थ में कोई अंतर नहीं है।

लोगों को थाली में सामने रखी हुई रोटी-सब्जी अच्छी नहीं लगती, किन्तु वे मनःकल्पित लड्डू खाना चाहते हैं। लोग मानव या प्राणिमात्र में छिपे चेतनरूपी भगवान को नहीं पहचानते और प्राणिमात्र को देवी-देवता नहीं मानते जिससे यह धरती स्वर्ग बन सके। वे मनोराज्य के स्वर्ग बनाते हैं और मनोराज्य के ही देवी-देवता तथा भगवान बनाते हैं। इसका फल यह होता है कि उनकी दृष्टि और व्यवहार में न यह पृथ्वी स्वर्ग बन पाती है और न इस पर रहने वाले जीव देवी-देवता बन पाते हैं। वे शून्य के देवी-देवता तथा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए धरती के प्राणीरूपी देवी-देवता एवं ईश्वर का वध करते हैं।

समाधि का अपना सर्वोच्च महत्त्व है। सच्ची समाधि संकल्पों का शून्यत्व ही है। जब सारे संकल्पों की समाप्तिरूप समाधि लगती है तब उसमें कुछ प्रपंच का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। न उसमें कोई देवी-देवता दिखता है, न कोई भगवान एवं ईश्वर तथा न कोई स्वर्गलोक। यह सब तो मन का विलास है, मन की कल्पना है और वहां मन ही नहीं रहता। फिर वहां मन का राज्य कहां रहेगा! समाधि का अर्थ है सारे संकल्पों का सर्वथा शून्य हो जाना, और संकल्पों के शून्य होने पर रहती है केवल गहरी शांति। वहां तो सारे दृश्यों का अन्त हो जाता है। "कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं।" वहां तो साधक अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है। वहां द्वैत-दृश्य नहीं होता।

अतएव यदि कोई यह कहता है कि हमें या हमारे आप्त पुरुषों को समाधि में कोई भगवान, ईश्वर, देवता या स्वर्गलोक दिखाई पड़ा, तो उसकी समाधि नहीं, मनोराज्य है। समाधि में तो केवल स्वरूपस्थिति एवं शांति रहती है।

"जेहि बन सिंह न संचरे, पन्छी ना उड़ि जाय।" इसमें सिंह जीववाचक तथा पन्छी मनवाचक है। गुरुआ लोग कहते हैं कि उस भगवान, ईश्वर या स्वर्गलोक में न सामान्य जीव प्रवेश कर सकता है और न मन उसको ग्रहण कर सकता है। वह तो आप्तपुरुषों की शून्य-समाधि का ही विषय बन पाता है। परन्तु यह सब वाक्यजाल की भूलभुलैया है। वस्तुतः समाधि में कुछ मिलता नहीं है, किन्तु वहां तो सारी कल्पनाएं ही खो जाती हैं। वहां तो शुद्ध चेतन मात्र अवशेष रहता है और रहती है गहरी शांति!

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि॥२७५॥

शब्दार्थ—ढेंकुली = कुआं से पानी निकालने का काष्ठ-यन्त्र, टेंड़ा।

भावार्थ—यदि सच्ची बात कहूं तो इस द्रष्टा, ज्ञाता, मंता, बोद्धा चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है, परन्तु लोगों को तो झूठी बातें ही बहुत प्यारी लगती हैं। मेरे सिर पर तो ढेकुली का पानी ढालते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं। अर्थात लोग मेरा अनुयायी बनते हैं और स्वरूपज्ञान छोड़कर नाना कल्पित मतों का पोषण करते हैं॥२७५॥

व्याख्या—इस साखी से पता लगता है कि कबीर साहेब की महानता से कुछ ऐसे लोग भी उनके पास आकर्षित होकर आ गये थे जो उनके खरे ज्ञान को धारण नहीं कर सके थे, परन्तु उनके प्रति भक्ति-भावना व्यक्त करते थे। वे बनते थे कबीर के अनुयायी, परन्तु कबीर के सत्य को पचा नहीं पाते थे। अतएव वे कबीर का नाम लेकर उन्हीं बातों का प्रचार करते थे जो अन्य पौराणिक मत वाले करते हैं। उनमें शायद नाम का ही परिवर्तन था, काम सब ढोंग-ढकोसलों का ही था। इसी दर्द का प्रकटीकरण यह पंक्ति है "मो सिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।" कहने का तरीका भी कितना काव्यात्मक है! वे "ढारे ढेंकुली" कहकर अनुप्रास शब्दालंकार में अपना भाव कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं! जब उनके सामने ही उनके अनुयायियों में उनसे भिन्न विचार रखने वाले थे तो आज समय के इतने अंतराल में कबीर-अनुयायी कहलाकर उनका कबीर से भिन्न विचार रखना सहज बात है। संसार की विचार-स्वतन्त्रता का यही लक्षण है। संसार के सभी मूलाचार्यों के बाद की बात ऐसी ही है। वैदिक परंपरा हो या श्रमण परम्परा, इसाई परम्परा हो या इस्लामिक परम्परा सबकी यही दशा है।

"साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।" बड़ी क्रांति की पंक्ति है। ऊपर २७४वीं साखी में वन, सिंह, पन्छी आदि शब्दों में कल्पनालोक की बातें कहकर उन पर व्यंग्य किया गया है। उसी प्रसंग को लेते हुए सद्‌गुरु ने इस साखी में खुलासा करते हुए कहा है कि यदि सच्ची बात कहूं तो यही कहना पड़ेगा कि इस प्रत्यक्ष अनुभविता साक्षी चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है। प्राकृतिक जगत तो अपने गुण-धर्मों से चल रहा है और ज्ञान-विज्ञान का सारा काम इन प्रत्यक्ष चेतन जीवों का है। यदि मनुष्य-जीव न होता तो न वेद, कुरान, बाइबिल एवं नाना शास्त्र बनते, न ज्ञान का आविष्कार होता और न देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना होती है। ज्ञान का सारा क्षेत्र चेतन जीवों की ही देन है।

जहां तक ध्यान तथा समाधि में किसी देव या ईश्वर को देखने एवं उसका साक्षात्कार करने की बात है, वह एक मानसिक भ्रम है। मनुष्य पहले अपने मन में किसी देव या ईश्वर का आकार गढ़ता है। फिर वह जब आंख मूंदकर बैठता है तब वही आकार उसके मन में प्रतिबिंबित होता है। इसी में निरन्तर धारणा बना लेने पर उसे हर क्षण मानो उसके दर्शन होते रहते हैं। आंख मूंदकर एकांत और एकाग्र होने पर सब को अपनी अभ्यस्त कल्पना के मन में दर्शन होते हैं। उसी को ईश्वर-दर्शन तथा ईश्वर-साक्षात्कार मान लिया जाता है।

विचार यह करना है कि इन सारे प्रपंचों की कल्पना तथा अवधारणा कौन करता है! वह कल्पना करने वाला तू ही है जो सबका द्रष्टा, साक्षी, मंता, बोद्धा, ज्ञाता एवं पारखी है। अतएव तू ही सच है और तेरी सारी मनःकल्पनाएं झूठी हैं। इस ग्रन्थ की अनेक पंक्तियों की व्याख्या में यह देख लिया गया है कि संकल्पों का सर्वथा अन्त ही ध्यान या समाधि है। इसका समर्थन सांख्य-योगादि शास्त्रों में भी हुआ है। "जहँ दूतिया नाहिं" सारे दृश्यों का अन्त ही समाधि है। ध्यान या समाधि-लाभ ही अध्यात्म की ऊंचाई

है। उसमें कुछ मिलता नहीं, किन्तु सारे दृश्यों का विसर्जन ही होता है, तब वहां कौन-से ईश्वर-परमात्मा को पाने की आशा की जाय!

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची बात यही है कि अपनी आत्मसत्ता के अलावा कुछ भी अपना प्राप्तव्य नहीं है; क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीव को मिल सके। जीव को जो कुछ मिलता है वह मायावी वस्तु है और वह मिलकर छूट जाती है। परन्तु लोगों को झूठी तथा नकली बातें बहुत प्यारी लगती हैं। वे उन्हीं में बहुधा पड़े रहते हैं। सब वासनाएं छोड़कर निजस्वरूप में स्थित होना यह वास्तविकता है, परन्तु कम लोग इस विवेक एवं सत्यता में ठहरते हैं। लोग तो किसी परमात्मा एवं ब्रह्म को पाना चाहते हैं जो उनसे अलग है और बड़ा भारी है, परन्तु आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है अतएव आत्मा को कुछ पाना नहीं है। उसे सब वासनाएं, कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर अपने आप में शांत होना है।

विचारपूर्ण वाणी की क़ीमत है

बोल तो अमोल है, जो कोई बोले जान।
हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन॥२७६॥

शब्दार्थ—बोल = बात, वाणी। आन = लाना।

भावार्थ—बातें तो ऐसी उत्तम-उत्तम होती हैं कि उनका कोई मूल्य नहीं चुका सकता, परन्तु यदि बोलने का ढंग जाने तो। वह ढंग यह है कि पहले हृदयरूपी तराजू पर तौल कर तब बात को मुख से बाहर निकालना चाहिए॥२७६॥

व्याख्या—वाक्यशक्ति एक अद्भुत शक्ति है जो केवल मनुष्य को प्राप्त है। उसका सदुपयोग करने से बड़े-बड़े काम बन जाते हैं और दुरुपयोग करने से बने काम भी बिगड़ जाते हैं। रावण ने कठोर वचन कहकर अपने भाई विभीषण को शत्रु बना लिया और राम ने उससे मीठे वचन कहकर मित्र बना लिया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दुर्योधन को जल का थल तथा थल का जल आदि भ्रम होने से उसकी गतिविधि पर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेवादि के द्वारा व्यंग्यात्मक हंसी करने से[१] दुर्योधन के मन में आग लग गयी और उसके पीछे युद्ध के बीज बो गये।

एक ट्रक-निर्माता कम्पनी का एजेंट एक ट्रक-व्यापारी के कार्यालय में उसे अपने माल का ग्राहक बनाने के लिए पहुंचा। व्यापारी ने उसे देखते ही कहा "आपका माल मैं नहीं ले सकता, क्योंकि मैंने अमुक कम्पनी का माल लेने की बात तय कर ली है।" उस एजेंट ने बड़ी विनम्रता और शालीनता से कहा "बहुत अच्छा, जिस कम्पनी से आपने सौदा किया है वह प्रामाणिक कम्पनी है, माल भी अच्छा बनाती है। उसके सौदे में आपको लाभ ही होगा। परन्तु आज नहीं तो आगे कभी, मेरी कम्पनी को भी सेवा का अवसर देने की कृपा कीजियेगा।"

---

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४७, श्लोक ७-८-९।

व्यापारी एजेंट की बातें सुनकर उससे बहुत प्रभावित हुआ और तुरंत उससे करोड़ों का सौदा कर लिया। यदि एजेंट उस कम्पनी की निंदा करता जिससे व्यापारी ने सौदा कर लिया था, तो व्यापारी एजेंट से चिढ़कर उससे बातें भी नहीं करता; परन्तु उसकी पर-गुण-प्रशंसा ने व्यापारी को मोह लिया। हम दूसरे की लकीर काटकर उसे छोटी करने के चक्कर में रहते हैं, अपनी बड़ी लकीर-द्वारा उसे छोटी नहीं कर पाते।

दूसरे की बुराई एवं निंदा करने वाला तथा दूसरे को कटु कहने वाला कभी वार्तालाप में सफल नहीं हो सकता। जिसकी वाणी में अपने विषय में अहंकार तथा दूसरे के प्रति हीनभावना रहती है वह बातचीत में दूसरे के ऊपर अच्छा असर नहीं डाल सकता। डॉक्टर, एजेंट, व्यापारी, वकील, अध्यापक, राजनेता, किसी समूह के स्वामी आदि को वाक्य-कुशल होना चाहिए, जिससे वह अधिक-से-अधिक लोगों को अपनी ओर ला सके। गुरु, धर्मोपदेशक एवं प्रवक्ता को तो चाहिए कि वह ऐसी वाणी बोले जिससे जन-समाज उसकी बातों को समझने के लिए आकर्षित हो। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मीठे वचन के नाम पर असत्य एवं केवल मनोरंजन का आश्रय ले। सत्य प्रायः कटु होता है और उसके बिना किसी को निर्भ्रांत ज्ञान नहीं हो सकता। जो सत्य का ग्राहक होगा वह उसे सुनेगा और उसका आचरण करेगा। ज्वरग्रस्त आदमी का कल्याण मिठाई से नहीं, कड़वे काढ़े से होगा, परन्तु उसमें थोड़ा मीठा मिला देने से वह उसे सरलता से पी लेगा। कटु सत्य को जितना संभव हो मीठे लेप में देना प्रवक्ता की समझदारी है।

सद्गुरु ने यहां मानव मात्र को राय दी है कि वे बोलने का ढंग समझकर बात करें। बोलने का ढंग है "हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन।" केवल इस आधी साखी का जीवन में व्यवहार हो जाय, तो बड़ी शांति आ जाय। मालूम होता है कि हम सदैव नशा में होते हैं और पदे-पदे बिना विचार किये बोलते रहते हैं और उनके फल में लोगों-द्वारा उपेक्षित होते हैं तथा भीतर से भी असंतुष्ट होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि जब वह किसी भी प्रकार के मानसिक उद्वेग में हो तो उस समय मौन रहे। उद्वेग में बात न करे। किसी महत्त्वपूर्ण बात पर अनेक बार विचार करने के बाद अपनी राय समाज में रखना चाहिए। शीघ्रता से कही गयी कई बातें पीछे केवल पश्चाताप उत्पन्न करती हैं। यदि हम आज से केवल एक साधना शुरू कर दें कि हृदयरूपी तराजू पर तौल-तौलकर बात करें, जब तक मन में खूब सोच-समझ न लें, कोई बात न बोलें, तो निश्चित ही हमारी रहनी वजनदार हो जाय, हमारे हृदय में शांति आ जाय और हमारा व्यक्तित्त्व निखर जाय।

जिभ्या कर्म कछोत्तरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा केहरी, गंजि सकै न कोय।। साखी ग्रंथ।।

स्वावलंबी बनो

करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।
जाके आँगन नदिया बहै, सो कस मरै पियास।।२७७।।

शब्दार्थ—बहियाँ = हाथ, बल, भरोसा।

भावार्थ—अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरे की आशा छोड़ दो। जिसके आंगन में ही नदी बहती हो, वह प्यासा क्यों मरे! ||२७७||

व्याख्या—कबीर साहेब की हर वाणी टॉनिक है, शक्तिवर्द्धक औषध है और इस साखी को तो कहना ही क्या! वे कहते हैं कि दूसरे की आशा छोड़ दो और अपने बाहुबल का भरोसा करो। जो व्यक्ति अपना काम दूसरे के भरोसे रखता है उसका काम समय पर नहीं होता। जो अपना काम अपने हाथों से करता है वही प्रगतिशील है। वही उन्नति कर सकता है। यह ठीक है कि बहुत काम ऐसे हैं जो दूसरे के सहयोग से होते हैं। हर काम आदमी अकेले नहीं कर सकता। परन्तु जो काम दूसरों के सहयोग से होता है उस काम का करने वाला संयोजक एवं संपादक यदि सावधानी एवं सतर्कता से उसे नहीं करायेगा तो नहीं होगा। उसमें भी संयोजक, संपादक, प्रवर्तक एवं प्रबंधक की विशेषता है। अतएव व्यवहार के काम भी स्वयं लगे बिना नहीं हो सकते। जो व्यक्ति आलस्यपूर्वक रहकर परावलंबी बनता है वह मनुष्य नहीं, मिट्टी है। जो लोग अपने आपको यह प्रदर्शित करते हैं कि हम मोटा काम नहीं कर पाते, हम सुकुमार हैं, कोमल हैं, वे अभागे हैं, उन्होंने अपने मिथ्या अहंकार में अपने आप का मानो पतन किया है। जो किसान गोबर, मिट्टी, ठंडी, गरमी, वर्षा, कीचड़ एवं श्रम से डरेगा वह क्या कर सकता है! जो व्यापारी तथा नौकरीपेशे वाला अपने क्षेत्र के श्रम एवं कर्तव्य से विमुख होगा, उसकी क्या उन्नति होगी! मेहनत से थककर चूर-चूर हो जाने वाला आदमी ही अपने जीवन में उन्नति के दिन देख सकता है।

व्यावहारिक क्षेत्र में कोई मेरे लिए कुछ कर भी दे, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह बिलकुल ही चलने वाला नहीं है। जैसे कोई मेरे लिए मकान बना दे, भोजन बना दे, पानी भर दे, बिस्तर लगा दे या इसी प्रकार मेरे अन्य काम कोई कर सकता है; परन्तु मेरे मन की वासना को दूसरा कोई नहीं मिटा सकता। मेरे अन्दर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-विकलता, देहाभिमान आदि को कोई दूसरा नहीं समाप्त कर सकता। मेरे भीतर विवेक, वैराग्य, शील, समता, संतोष, शांति आदि की स्थापना कोई दूसरा नहीं कर सकता। दूसरा कोई या सन्त-गुरुजन हमें केवल उपदेश देकर प्रेरित कर सकते हैं; परन्तु परिश्रम हमें ही करना पड़ेगा। हमारे व्यवहार का काम दूसरा कोई भले कर दे, परन्तु हमारे मोक्ष का काम हमें स्वयं करना पड़ेगा।

संसार में उलटी धारा है। व्यवहार के अपने सारे काम तो लोग स्वयं करते हैं। कोई नहीं कहता कि हे देवी-देवता, हे हनुमान जी, हे भगवान, हमारे खेत जोत दो, फसल काट दो, भोजन पका दो इत्यादि। लोग जानते हैं कि इन्हें स्वयं करना पड़ेगा, परन्तु अपने कल्याण या मोक्ष के लिए देवी-देवता तथा भगवान के भरोसे सोते हैं। धार्मिक क्षेत्र में यह काफी भ्रम है कि जब भगवान कृपा करेगा तब हमारे सारे पापों को काटकर हमें कृतार्थ कर देगा। हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान को केवल पुकारते जायं, फिर उसके कानों में कभी भनक पड़ेगी ही "कबहुंक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।" इस बात को दृढ़ाने के लिए लोगों ने अनेक काल्पनिक तथा मिथ्या कहानियां गढ़ रखी हैं। परन्तु सत्य के इच्छुक कान खोलकर सुन लें कि इस प्रकार विनय-प्रार्थना करने एवं रोने-गिड़गिड़ाने से

तुम्हारा मन थोड़ा कोमल अवश्य बनेगा, अच्छे संस्कार जगेंगे, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, परन्तु न तो कोई तुम्हारी विनय सुनने वाला है, न उत्तर देने वाला, न तुम्हारे पापों को काटने वाला और न तुम्हें मुक्त करने वाला है। तुम इस विनय-वन्दना के चक्कर में पड़कर एक अन्धविश्वास पाल रहे हो, और अपनी उन्नति का रास्ता रोक रहे हो। यह भ्रम अपने मन में मत बैठा लो कि तुम्हारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। संत-गुरुजन केवल प्रेरक बनेंगे, साधना तुम्हें ही करना पड़ेगा। तुम्हारे मन के भीतर का बन्धन दूसरा कोई कैसे काट सकता है!

सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरे की आशा बिलकुल छोड़ दो। तुम्हारे बन्धनों को दूसरा कोई नहीं काट सकता। परन्तु तुम अपने बन्धन काट सकते हो। तुम्हारे आंगन में शीतल, स्वच्छ एवं सुमिष्ट जल की नदी बहती है और तुम अभागे बने प्यासे मरते हो। तुम्हारे अन्तःकरण में बन्धनों को तोड़ने के लिए विवेक का प्रबल साधन है, परन्तु तुम उससे अपरिचित हो और बन्धनों को तोड़ने के लिए बाहर गोहार मचा रहे हो। तुम्हारा गोहार करना सत्संग तक सार्थक है। तुम साधकों, सन्तों एवं गुरुजनों से युक्ति सीखो, स्वरूपज्ञान एवं रहनी का परिचय प्राप्त करो। गुरुजन तुम्हारे ही हृदय के धन को तुम्हें बता देंगे, तुम उसे जानकर सबल हो जाओगे और अपने बनाये बन्धनों को तोड़कर कृतार्थ हो जाओगे।

व्यक्ति अपने हृदय के बन्धनों को स्वयं ही जान सकता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। इसके अलावा कोई चारा नहीं है। तुम्हारे में अनन्त शक्तियां हैं। तुम उन्हें पहचानो। गुरुजनों की उपासना कर उनके सत्संग से अपने आप को भलीभांति परखो और अपने उद्धार के लिए स्वयं उठ खड़े होओ।

बुरे के साथ बुरा मत बनो

वो तो वैसा ही हुआ, तू मति होहु अयान।
वो निर्गुणिया तैं गुणवन्ता, मत एकहि में सान॥२७८॥

शब्दार्थ—अयान = अज्ञानी। निर्गुणिया = गुणहीन, सद्गुणरहित। गुणवन्ता = गुणवाला, सद्गुणयुक्त। सान = मिलाना।

भावार्थ—वह तो गलत आचरण करके गलत हुआ ही, तुम भी उसी के समान गलत काम करके अज्ञानी मत बनो। क्योंकि वह गुणहीन आदमी है और तुम सद्गुणयुक्त समझदार हो, अतएव दोनों को एक में मत मिलाओ॥२७८॥

व्याख्या—कोई ऐसा आदमी है जिसने तुम्हें गाली दी, तुम्हारी निंदा की, तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहा तथा आज भी सब समय नीचा दिखाना चाहता है, तो तुम उसके लिए क्या सोचते हो! क्या तुम भी उसके साथ उस-जैसा ही व्यवहार करके अपनी विजय समझते हो! यदि समझते हो तो तुम भी धोखे में हो। उसने तो अपने अज्ञान से अपने मन, वाणी तथा कर्मों को मैला कर लिया है। तुम्हें नीचा दिखाने के बहाने उसने अपने

आप का पतन कर लिया है। अब तुम भी यदि उसकी निंदा करने लग जाओ, उसको समाज में नीचा दिखाने का षड्यंत्र करने लगो तो तुम्हारा भी मानो पतन हो गया। ध्यान रखो, कर्म अपना सीधा प्रभाव अपने कर्ता पर ही डालते हैं। यदि कोई आदमी दूसरे का अनिष्ट सोचत्ता है, दूसरे की निंदा करता है और दूसरे को समाज में नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है तो उसका मन अपने इन दुष्कर्मों के फल में चंचल, तेजहीन, मलिन एवं कलुषित होता है। उसका मन अधिक मलिन होने से वह आगे और मलिन कर्म करता है, उसके फल में उसका मन और मलिन होता है। इस प्रकार छत से जीने पर गिरे हुए गेंद की तरह वह उत्तरोत्तर नीचे गिरता चला जाता है। इस प्रकार अपने आप को पतित करने वाला आदमी अज्ञानी है। वह तो अपने पैरों में स्वयं अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारता है। ऐसा भोला आदमी बेचारा क्षमा-दया का पात्र है। तुम्हें चाहिए कि तुम उस पर तरस खाओ। बन सके तो उसके कल्याण का उपाय सोचो, अन्यथा उसका हितचिन्तन तो करो ही। उसका अनिष्ट कभी मत सोचो।

ध्यान रहे, तुम्हारी चाहे कोई कितनी निंदा एवं बुराई करे, सामने आकर तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहे, परन्तु यदि तुम ठीक हो तो कोई कुछ नहीं कर पायेगा। यदि कोई धूल उड़ाये तो वह स्वयं धूल से ढक जायगा, और तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। मनुष्य के अपने कर्म ही उसे दूषित करते हैं, दूसरे के कर्म नहीं। जिसके मन, वाणी और शरीर के कर्म स्वच्छ हैं उसे कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अतएव दूसरे के दुर्व्यवहार से तुम भयभीत मत होओ। आदमी की यह कमजोरी है कि वह किसी-द्वारा अपनी निंदा या बुराई सुनकर भयभीत हो जाता है कि अब सब लोग मुझे बुरा समझ लेंगे, और इस भावना से वह आतंकित होकर अपने ऊपर आरोपित बुराइयों के लिए सफाई देने लगता है तथा अपने निंदकों को बुरा कहने लगता है। वह आदमी निंदा की प्रतिक्रिया में निंदा करने लगता है। उसकी इसी में हार होती है। मान लो, किसी के बुरा कहने से लोग मुझे बुरा मान लें तो इसमें मेरी क्या हानि है यदि मैं बुरा नहीं हूं तो। मेरे में बुराई नहीं है, यह मेरा मिथ्या अहंकार है। मैं भी देहधारी हूं। मुझ में भी बुराइयां हो सकती हैं। विनयावनत हृदय की तो यह स्वीकृति है कि "मुझ सा बुरा न कोय" अथवा "कबीर हम सब ते बुरे।"

अतएव हम अपने प्रति अपराध करने वाले के प्रति अपराध करके उसी के समान न बनें। दूसरे की बुराई करना, निंदा करना, दूसरे का अनिष्ट करने की बात सोचना या करना यह सब मनुष्य के चरित्र की दुर्बलता के लक्षण हैं। अतएव यदि हम चाहे प्रतिक्रिया में ही सही, यही सब करते हैं तो दुर्बल हैं। दूसरे अज्ञानी के समान हम भी अज्ञानी हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तू मति होहु अयान"। तुम भी दूसरे अज्ञानी के समान अज्ञानी मत बनो। वह गुणहीन है और तुम गुणवान हो, फिर दोनों को एक में क्यों सानते हो! तुम भी नीच के समान नीच क्यों बनते हो! गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी गधा को लात मारोगे! कुत्ता तुम्हें देखकर भोंके तो क्या तुम भी कुत्ते को भोंकोगे! चातुर का काम है कि पातुर से बचाकर चले।

किसी के उद्वेगित करने पर यदि हम उद्वेगित हो गये तो यह हमारी पशुता है। हम न स्वयं उद्वेगित हों और न दूसरों के उद्वेगित करने से उद्वेगित हों। हमारी उच्चता हमारी

सहनशीलता में है। सहनशीलता ही धर्म है, सहनशीलता ही अध्यात्म की स्थिति है और सहनशीलता ही परमार्थ की उच्च रहनी है।

मन के भास को हीं ईश्वर मान लेने का भ्रम

जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवे बाँहिं॥२७९॥

शब्दार्थ—मतवारे = उन्मत्त, पागल।

भावार्थ—जो लोग ईश्वर के पीछे पागल हैं वे अपने मन के द्वारा गढ़े गये उसके किसी रूप को लेकर मन-ही-मन गद्गद होते रहते हैं, परन्तु जैसे किसी सुन्दरी स्त्री का प्रतिबिम्ब किसी दर्पण में पड़ता हो और कोई उसे मोहवश पकड़ना चाहे, परन्तु वह पकड़ में न आवे, वैसे उसका कल्पित ईश्वर उसकी पकड़ में नहीं आता॥२७९॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने ग्रन्थरत्न बीजक में राम शब्द बहुतायत से लिया है। उसका विधेयात्मक राम व्यक्ति का हृदय-निवासी चेतन है। यदि कोई उससे अलग ईश्वर मानता है तो सद्गुरु उसका खंडन करते हैं। इस साखी में आया हुआ राम खंडनपरक है। यहां राम शब्द से अभिप्राय उस काल्पनिक सत्ता से है जो व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग मानी गयी है। मनुष्य समझता है कि मेरी अपनी चेतनात्मा से अलग कोई परम चेतन सत्ता है जिसे हम राम, रहीम, ईश्वर, ब्रह्म, गॉड आदि कह सकते हैं। वह परम आनन्द का सागर है। जब हमें वह मिल जायेगा तब हम सभी दुखों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जायेंगे। लोग उस कल्पित ईश्वर के अपने-अपने ढंग से रूप गढ़ते हैं। कोई उसे चार भुजावाला, कोई आठ भुजावाला, कोई हजारों भुजावाला मानता है। कोई उसे मोर-मुकुटधारी, कोई धनुर्धारी तथा कोई चक्रसुदर्शनधारी मानता है। कोई उसे किसी विशेष लोक में, कोई सातवें तपक पर तथा कोई उसे सर्वत्र व्याप्त कहता है। कोई उसे पुरुष के रूप में तो कोई उसे नारी के रूप में निरूपित करता है। जो व्यक्ति उसका जैसा नक्शा गढ़ता है वह व्यक्ति उसके उसी रूप के पीछे पागल रहता है और जो जिस कल्पित रूप के पीछे पागल रहता है वह उसी भाव में मगन रहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि वह कोई तथ्य नहीं है। वह तो केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। जो एकांत में भूत की कल्पना कर लेता है वह भयभीत हो जाता है तथा जो ईश्वर की कल्पना कर लेता है वह गद्गद हो जाता है। परन्तु न कहीं भूत है और न आत्मा से अलग ईश्वर। आदमी कल्पित ईश्वर का मन से जैसा रूप बना लेता है उसी रूप का वह निरंतर स्मरण करता है, उसी में अनुराग और प्रेम करता है, इसलिए उसे वही समय-समय पर मन में दिखाई देता है। यद्यपि वह एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है, तथापि वह उसे ईश्वर का साक्षात्कार मान लेता है। परन्तु वह दर्पण में पड़ी हुई सुन्दरी की परिछाईं के समान मन का एक आभास है। अतएव वह पकड़ने में आने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह इन सारे भास-अध्यासों को छोड़कर अपने स्वरूप को समझे और अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करे। निज चेतनस्वरूप की गरिमा का बोध न होने से ही यह सब भटकाव है।

जौ लौं लखि नाहीं परत, तुलसी पर पद आप।
तौ लौं मोह विवश सकल, कहत पुत्र को बाप।। तुलसी सतसई।।

साधू होना चाहिए

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरिके, खरी भया नहिं तेल।।२८०।।

शब्दार्थ—साधू = उत्तम, विरक्त। खेल = साधना।

भावार्थ—विरक्त साधु होना चाहिए, परन्तु दृढ़ निश्चय करके साधना-पूर्वक। कच्ची सरसों पेर देने पर न तेल होता है और न खली।।२८०।।

व्याख्या—साधु के अर्थ बढ़िया, उत्तम, पूर्ण, उपयुक्त, ठीक, धार्मिक, धर्मपरायण, दयालु, शुद्ध, प्रिय, कुलीन, शिष्ट[1] आदि माने गये हैं, परन्तु साधु का रूढ़ अर्थ उससे है जो व्यक्ति घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्ति का वेष लेकर विचरण करता है। यदि कोई सच्चे ढंग से विरक्त होता है तो वह उत्तम, पूर्ण, धार्मिक, शुद्ध आदि होता ही है।

सद्गुरु कबीर घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्त साधु होने की आज्ञा देते हैं, परन्तु वे कहते हैं कि जब अपने मन में वैराग्य का पक्का निश्चय हो जाय और निश्चयतापूर्वक साधना भी कर ले तभी साधु-वेष धारण करना चाहिए। कुछ लोग दूसरे के देखादेखी, थोड़े उत्साह में पड़कर घर छोड़ देते हैं, ऐसे लोग पीछे पश्चाताप करते हैं। जो लोग घर के काम-धन्धे के डर से आलस्यवश या केवल खाने-पीने के लिए साधु-वेष धारण करते हैं वे तो अत्यन्त निंदनीय हैं। कुछ लोग संसार में किसी प्रकार का ठोकर लगने से या प्रिय-वियोगादि से साधु-वेष में आ जाते हैं। यदि उन्हें अच्छी संगत मिल गयी, वे विवेकवान संतों की संगत में पड़ गये तथा उन्हें विवेक जग गया तो सच्चे वैराग्यवान हो जाते हैं, अन्यथा वे कुछ दिनों में पुनः लौटकर संसार में रागवान बन जाते हैं।

जब घर-गृहस्थी में रहते हुए मन में वैराग्य का भाव निरंतर प्रदीप्त होता जाय, सारे विषय-भोग फीके लगने लगें, परिवार के लोग पराये लगने लगें, सबके प्रति आसक्ति समाप्त होती जाय और यह भाव-धारा मन में निरन्तर बनी रहे तब घर-गृहस्थी का त्याग करना चाहिए। जब घर में रहते हुए ऐसा लगे कि मानो मैं घर में नहीं हूं, जब घर-गृहस्थी के हानि-लाभ तुच्छ दिखने लगें, तभी समझना चाहिए कि मैं जीवनभर वैराग्य-पथ में रह सकूंगा। जब सब समय मन में वैराग्य एवं साधु-दशा, साधु-संग, साधु-सेवा तथा प्रपंच-रहित ज्ञान-दशा के ही सम्बन्ध में संकल्प उठने लगें तब समझना चाहिए कि मैं घर-गृहस्थी से विरक्त होने की योग्यता रखता हूं।

उत्तम वैराग्य होने पर साधु-दशा में जाना चाहिए। विरक्त होने की कोई अमुक उम्र नहीं है, परन्तु बहुतायत कैशोर एवं नवजवानी ही इसके लिए उपयुक्त अवसर है। साधु-

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

दशा में जीवनपर्यंत रहने की इच्छा वालों को चाहिए कि वे अपने पूर्व के माने हुए घर-गृहस्थी एवं परिवार वालों के प्रति थोड़ा भी मोह न रखें और न उनसे व्यावहारिक सम्बन्ध रखें, न वहां विशेष आना-जाना रखें। उन्हें रसासक्ति का त्याग करना चाहिए, सादा और स्वल्प भोजन करना चाहिए। उन्हें खाने, पहनने, आसन, बिस्तर आदि में यथाप्राप्ति में संतोष, अधिक प्राप्त को दूसरे की सेवा में लगाते हुए स्वयं थोड़े में गुजर करना चाहिए।

साधक को सेवा, स्वाध्याय और साधना—इसकी त्रिवेणी में निरन्तर निमज्जन करना चाहिए। आलसी आदमी वैराग्यवान नहीं हो सकता। जिसे सच्चा वैराग्य होगा वह आलसी होगा ही नहीं। कामी पत्नी के लिए अथक परिश्रम करता है तो वैराग्यवृत्ति वाला साधु-सेवा में निश्चित ही पूर्ण श्रमशील होगा। सच्चा वैराग्यवान मोटा-से-मोटा काम करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करेगा। सेवा करने से चित्त शुद्ध होता है, स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है तथा साधना से वैराग्य बढ़ता है। सेवा, स्वाध्याय एवं साधना को मजबूती से पकड़ना चाहिए। जो ज्यादा उम्र में विरक्त हों, उन्हें भी शक्ति के अनुसार सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगे रहना चाहिए। जो लोग स्वाध्याय एवं साधना की अधिक योग्यता रखते हैं, उन्हें भी सेवा का काम यथासमय एवं यथाशक्ति करते रहना चाहिए। हमें दूसरे की सेवा मिलती है, अतः हमें भी चाहिए कि हम दूसरे की सेवा करें! भारतवर्ष और उसमें हिन्दू-समाज का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसने हजारों वर्षों से यह धारणा बना ली है कि मोटा काम करने वाला न धार्मिक है और न बड़ा आदमी। इस गलत धारणा को हमें दिल से निकाल देना चाहिए और मोटा काम करने में निष्ठा उत्पन्न करना चाहिए। साधु होने का मतलब निकम्मा होना नहीं है। हां, यह भी ठीक है कि साधु को केवल मोटे काम में अधिक लीन नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसे स्वाध्याय और साधना का समय नहीं मिल सकेगा।

मनुष्य को चाहिए कि वह जिस दिशा में आगे बढ़ने का शौक रखे उसमें पूरे मन से लगे और मन में यह निश्चय कर ले कि मैं उस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ूंगा। वैराग्य-मार्ग तो सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। व्यापार करके फिर छोड़ देना उसके स्थान पर गुजर का खेती आदि दूसरा धन्धा करना तथा खेती-बाड़ी छोड़कर व्यापार आदि करना कोई बुरा नहीं है, परन्तु वैराग्य-पथ पकड़कर फिर उसे छोड़ना निंदनीय काम है। इसलिए बहुत सोच-समझकर वैराग्य-पथ के लिए कदम उठाना चाहिए और कदम ऐसा उठाना चाहिए कि उसी दिशा में निरन्तर बढ़ते जायं।

सद्गुरु ने इस साखी में साधु होने के लिए पक्का होकर खेलने की बात कही है। "पक्का ह्वै के खेल" बड़ा मार्मिक वचन है। केवल एकनिष्ठ वैराग्य मार्ग में पक्का निश्चय होना और निष्कपट तथा निश्छल भाव से साधना में लगे रहना पक्का होकर खेलना है। इसके विपरीत अधकचरे लोगों के विषय में सद्गुरु ने कच्ची सरसों का उदाहरण दिया है, जिसके पेरने पर न तेल होता है और न खली। इसी प्रकार कच्चे मन वाले घर छोड़कर साधु-वेष धारण करते हैं, वे न साधु हो पाते हैं न गृहस्थी में रहकर सेवा कर पाते हैं। उनकी दशा होती है "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न मांड़े"। अतएव वैराग्य-मार्ग में पक्का होकर लगना चाहिए।

मुमुक्षु को सच्चे वैराग्यवान संत की शरण पकड़ना चाहिए और उनकी सेवा में रहकर साधुत्व का काम करना चाहिए। साधु-वेष तथा अपने में पूज्यता का भाव नहीं रखना चाहिए। बहुत समय तक तो गुरु की शरण में रहते हुए भी साधु-वेष न लेना चाहिए। इसके लिए गुरुजनों को भी सावधान रहना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे भावुक बनकर जल्दी-जल्दी साधु-वेष देने के चक्कर में न पड़ें, किन्तु उन्हें साधना में कसने का प्रयत्न करें, और बहुत काल के बाद साधु-वेष दें।

सती लहर घड़ी एक है, शूर लहर घड़ी चार।
साधु लहर है जनम भर, मरै विचार विचार।। साखीग्रन्थ।।

सिंहों केरी खोलरी, मेढ़ा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये, शब्दहिं देत लखाय।।२८१।।

शब्दार्थ—खोलरी = खाल, चाम। मेढ़ा = भेड़ा।

भावार्थ—यदि भेड़ दौड़कर सिंह की खाल में घुस जाय और नगर में आकर घूमने लगे तो उसे देखकर भयभीत नहीं होना चाहिए। उसकी वाणी से उसे पहचानना चाहिए। उसके मुख से निकले हुए "में-में" शब्द उसके असली स्वरूप का परिचय करा देंगे। इसी प्रकार किसी के साधु एवं अच्छे वेष देखकर नहीं भूलना चाहिए, किन्तु ध्यान से उसकी वाणी पर विचार करना चाहिए। उसके मुख से निकले वचन उसके हृदय का परिचय करा देंगे।।२८१।।

व्याख्या—पीछे की २८०वीं साखी में सद्गुरु ने यह बताया है कि किस प्रकार पक्के मन से साधु होना चाहिए। इसी संदर्भ में यह साखी भी कही गयी है। उदाहरण कितना मार्मिक है। मानो एक भेड़ हो, वह सिंह की खाल में घुसकर लोगों के बीच में अपने आप को सिंह प्रदर्शित करना चाहे, परन्तु उसकी वाणी तो सिंह-जैसी नहीं हो सकती। उसकी आवाज तो 'में-में' ही रहेगी। इसी प्रकार कोई विषयी-पामर एवं धूर्त मनुष्य साधु-वेष धारणकर लोगों को ठगना चाहे तो उसकी धांधलेबाजी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। वाणी हृदय की पहचान होती है। कोई कितना ही गढ़-छीलकर वाणी बोले, परन्तु थोड़े ही समय में उसकी वाणी से उसके हृदय का पता लग जायेगा।

मनुष्य की सच्ची पहचान उसके वेष से कम, उसकी वाणी एवं आचरण से ज्यादा होती है। ऐसी भी नीति है कि सज्जन को तो तुरन्त पहचान लिया जा सकता है, परन्तु दुष्ट को पहचानने में समय लगता है। सज्जन तो निश्छल एवं खुली किताब की तरह होता है, उसे जब चाहो पढ़ लो, परन्तु दुष्ट आदमी अपने आप को स्वर्णिमबर्क से ढककर रखता है। इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वह ऐसे लोगों से सावधान रहे।

टोना-टामर, झाड़-फूंक, दुआ-ताबीज, मंत्र-तंत्र-यंत्र आदि का आडम्बर करना, किसी को पुत्र, धन, नीरोग्यतादि देने का झांसा देना, दुर्व्यसनी होना, गृहस्थों से नाना वस्तुओं की याचना करना, उत्तम-उत्तम भोजन-वस्त्र चाहना, साथ में स्त्री रखना, ब्रह्मचर्य न

होना—यह सब नकली साधु के लक्षण हैं। सच्चे साधु विषय-विरक्त, शील-क्षमादि सद्गुणयुत, निर्वाह में मध्यवर्ती, यथाप्राप्त में संतोषी, सदाचारी, आडंबररहित और विवेक-वैराग्य में तत्पर होते हैं।

मूल तत्त्व अपने भीतर है

जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर।
बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गइ दूर॥२८२॥

शब्दार्थ—मूर = मूल तत्त्व। गर्भ = गर्व, अहंकार। गुमान = संदेह, शक, अनुमान, घमंड।

भावार्थ—जिसे खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं, वह मूल तत्व तो हमारे हृदय के भीतर ही सब समय विद्यमान है। परन्तु देहादि में मैं-मेरापन का घमंड तथा अनेक संदेह, अनुमान एवं भ्रम होने के कारण उसके विषय में हम अपरिचित हैं, इसलिए वह खोया-जैसा लगता है॥२८२॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि पर प्रकाश डाला है। मनुष्य धन, पत्नी, पुत्र, प्रतिष्ठादि सांसारिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न होने पर भी भीतर-भीतर अभाव का अनुभव करता है। धनी-से-धनी लोग मिलने पर कहते हैं "महाराज किसी चीज की कमी नहीं है, बस, केवल मन में शांति नहीं है।" परन्तु यदि मन में शांति नहीं है, तो फिर तुम्हारे पास है क्या! शांति के अलावा तो जो कुछ है, वह सब माटी है। माटी तन है, माटी धन है, माटी सब संसार।

मनुष्य रात-दिन क्या खोजता है! वह केवल दुखों से छूटना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अनंत सुख चाहता है। परन्तु यदि उसका सब दुख छूट जाय तो उसे सुख पाने की याद भी न रहे। यदि भूख-प्यास का दुख न हो तो अन्न-पानी से सुख की कल्पना होगी भी नहीं। यदि ठण्डी न लगी हो तो आग से सुख का आभास भी न होगा। हम सुख क्यों चाहते हैं! क्योंकि हम दुखी हैं। यदि हमारा सारा दुख छूट जाय, तो सुख की कल्पना समाप्त हो जाय। दुख क्या है! वस्तुतः दुख है इच्छा। यदि इच्छा मिट जाय तो सुख पाने की कल्पना मिट जाय।

सहजतया लोग कहते हैं कि यदि परमात्मा या मोक्ष मिल जाय तो जीवन से सारे दुख दूर हो जायं। परन्तु परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की चेतना एवं आत्मा से अलग क्या वस्तु है जो मिलेगी! यदि हमारे मन की इच्छाएं मिट जायं तो परमात्मा एवं मोक्ष पाने की भी इच्छा नहीं रह जायेगी। इच्छा मात्र दुख है, बंधन है। उसके मिट जाने पर न कोई दुख रह जाता है न बंधन। हां, इच्छाओं के मिट जाने पर भी जो दुख रह जाता है वह है शारीरिक, जिससे ज्ञानी ज्यादा प्रभावित नहीं होता। उसके आ जाने पर भी उसकी शांति बनी रहती है। इच्छाओं के त्याग का मूल है विवेक और वह मनुष्य के हृदय में ही है। उसे बाहर खोजना नहीं है, किन्तु अपने हृदय में जगाना है।

यदि हम इस ढंग से कहें कि हम परमात्मा को खोजते हैं, मोक्ष को खोजते हैं, सद्‌गुरु कहते हैं तो वह भी तुम्हारे हृदय से अलग नहीं है। तुम्हारी चेतना ही परमात्मा है और वही मूलतः मुक्त स्वरूप है। बस उसे ठीक से समझकर सारे विकारों को छोड़ देना है। जब हमारी चेतना सारे विकारों से सर्वथा छूट जाती है, तब यही मोक्ष है। अनंत शांति तथा आत्यंतिक सुख का अर्थ भी यही है। जब हमारी चेतना सारे संस्कारों से छूट जाती है तब हमारे हृदय में ही अनंत सुख का सागर लहराने लगता है। सबका सार इतना ही है कि हमारी चेतना, हमारी आत्मा, हमारा अपना आपा सारी वासनाओं, सारी इच्छाओं एवं सारे विकारों से छूट जाय, बस हम सारे दुखों से मुक्त हो जायं, हम स्वयं अनंत शांति के सागर हो जायं।

सद्‌गुरु ने इस साखी में कहा है कि जिसको खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं वह मूलतत्त्व तो तुम्हारे हृदय में हीं है। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की अवधि को कल्प कहते हैं। ऐसे असंख्य कल्प बीत गये हैं। 'कल्पों' का यहां लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल। जीव अनादिकाल से दुखों से छुटकारा चाहता है और इसी के लिए विभिन्न देश-काल में बने शब्द अनंत सुख, अनंत शांति, परमात्मा, खुदा, गॉड, अल्लाह, ब्रह्म, निर्वाण, ताओ आदि के भाव को पाना चाहता है। परन्तु यह सब भाव मनुष्य की आत्मा एवं चेतना से अलग अपना कोई अस्तित्त्व नहीं रखते। सद्‌गुरु कहते हैं कि जिसे तुम अनादिकाल से खोज रहे हो वह मूल तत्त्व हृदय में ही है। हृदय में भी देहोपाधि की दृष्टि से कहा जाता है, अन्यथा वह तो तुम स्वयं हो। तुम स्वयं मूलतः दुखरहित हो, मुक्त हो, परमात्मा हो, अनंत शांतस्वरूप एवं परम सुखस्वरूप हो। बस, हृदय में विवेक जगाओ, सारी इच्छाओं-वासनाओं को छोड़ो और अपने स्वरूप में, अपनी चेतना में स्थित होओ।

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं झाँईं भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

जीवन की क्षणभंगुरता

दश द्वारे का पींजरा, तामें पन्छी पौन।
रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥२८३॥

शब्दार्थ—दस द्वारे = दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न और एक सिर के तलवे में माना है। पींजरा = शरीर।

भावार्थ—यह शरीर दस द्वारों का खुला पिंजरा है। इसमें प्राण-पखेरू रहता है। इसमें इसके रहने में ही आश्चर्य है, उड़ जाने में क्या आश्चर्य! ॥२८३॥

व्याख्या—कल्पना करो कि एक पिंजरा है। उसमें दस खुले हुए दरवाजे हैं। उसमें एक पक्षी बैठा है। देखा जाता है कि वह पक्षी उस पिंजरे में वर्षों बैठा रहता है। यहां तक कि लगातार पचास वर्ष, साठ वर्ष, सत्तर वर्ष, नब्बे और सौ-सौ वर्षों तक बैठा रहता

है। दस-दस खुले द्वारों के पिंजरे में इतनी लंबी अवधि तक पक्षी का निरन्तर बैठा रहना आश्चर्य का विषय है। यदि वह उसमें से किसी दिन उड़ जाय तो क्या आश्चर्य है! यह पिंजरा है शरीर तथा पक्षी है प्राण। दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा तथा शिश्न ये नौ खुले द्वार हैं। दसवां द्वार सिर के तालुमूल में माना गया है। शिशु के सिर पर बीच की एक खास जगह पर उंगली रखिए तो वह बड़ा कोमल होता है। वही तालुमूल है। वहां एक छिद्र है, यह एक अनुमान है। वैसे पूरे शरीर में छिद्र-ही-छिद्र हैं जो जीव के निकल जांने के लिए काफी हैं। ऐसे असंख्य खुले द्वारों के पिंजरे में प्राणपखेरू का वर्षों, दसकों, आधी शताब्दी एवं एक शताब्दी तक टिके रहना आश्चर्य है। उड़ जाने में कोई आश्चर्य नहीं।

यह शरीर हड्डियों के जोड़ की एक झोपड़ी है जो बड़ी कमजोर है। इसमें मांस का छाजन तथा चाम का लेप है। इसकी नस-नस में रक्त भरा है। इसके भीतर टट्टी-पेशाब भरी है। यह एक प्रकार फोड़ा के समान है। जैसे पके फोड़े में जरा-सा ठोकर लगते ही वह फूटकर बह निकलता है, वैसे यह शरीर कहीं जरा-सा टकरा जाने पर फूटकर बह निकलता है। ट्रक से एक बच्चा ऐसा कुचल गया कि उसके विदीर्ण शरीर को कुदाली से खुरच कर उठाना पड़ा और उधर एक पानठेला वाला अपने ठेले में टूटकर सदा के लिए सो गया। सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरे थे साथ।
टपका लागा फुट गया, कछू न आया हाथ ।।

कितना मार्मिक कथन है! यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है, जिसे हाथ में लेकर घूम रहे थे। इतने में किसी चीज की ठोकर लग गयी और यह फूटकर गिर गया, हाथ में कुछ भी न लगा। ऐक्सिडेंट हो गया, हार्ट-अटैक हो गया और आदमी मर गया। लोग इन्हें बड़े आश्चर्य से लेते हैं 'अरे, ऐसा कैसे हो गया?' भले आदमी, आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिए कि यह पानी का बुलबुला वर्षों टिका कैसे रहा! यदि यह मिट गया तो क्या आश्चर्य! लकड़ी, पत्थर, धातु आदि के बने सामान की एक अवधि होती है। जब मकान, पुल आदि बनते हैं तब इंजीनियर यह तय करता है कि इनकी इतने वर्षों की अवधि है। परन्तु किसी प्राणी के जन्म के अवसर पर यह नहीं निर्धारित किया जा सकता कि यह इतने वर्षों तक जीवित रहेगा। प्राणियों के जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। आदमी खा-पीकर बिस्तर पर सोता है और सुबह मरा हुआ मिलता है। बिजली की चमक के समान जवानी, सौंदर्य, मित्रों का मिलन और पूरा जीवन है।

ऐसे क्षणभंगुर जीवन का आदमी अहंकार करता है और वह दो दिनों के लिए जवानी, धन, प्रतिष्ठादि पाकर इतना इतराता है कि उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। परन्तु वह देखते-देखते एक दिन काल के गाल में चला जाता है और उसका अपना माना हुआ सब कुछ सदा के लिए छूट जाता है। फिर उसकी उससे कभी मुलाकात नहीं होती। इसलिए मनुष्य को अपने माने हुए शरीर, प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा की क्षणभंगुरता को

सदैव अपनी दृष्टि में रखना चाहिए, और उनकी गरमी से सदैव दूर रहना चाहिए। इन देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का घमण्ड ही आदमी को पतित करता है। जो व्यक्ति अपने शरीर की नश्वरता को हर समय देखता है उसे मोह-शोक नहीं होता।

क्रूरता ईश्वर-भक्ति नहीं

रामहिं सुमिरे रण भिरे, फिरै और की गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल॥२८४॥

शब्दार्थ—रण = युद्ध, लड़ाई-झगड़े। गैल = मार्ग। खोलरी = खाल, चाम।

भावार्थ—नाना मत के लोग दयालु ईश्वर का नाम तो जपते एवं उसका स्मरण करते हैं, परंतु बात-बात में राग-द्वेष करके लड़ाई-झगड़े में लग जाते हैं और एक दूसरे का खून-खराबा करने लगते हैं। ये वस्तुतः अपने ईश्वर के पथ को छोड़कर राक्षसी-पथ पर भटकने लगते हैं। इन्हें देखकर लगता है कि मानो मनुष्य की खाल ओढ़कर बैल घूम रहे हैं॥२८४॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने जमाने में अपनी आंखों से देखा था और आज के युग में भी यह बात दिखाई देती है। ईसा की बीसवीं शताब्दी के इस नौवें दसक में तो ईश्वर-भक्तों की तलवारें और बन्दूकें ज्यादा चमक उठी हैं। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर काफी क्रूर होते दिखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम का स्मरण तो करते हैं। यहां राम से अभिप्राय केवल हिन्दुओं के राम से नहीं है, किन्तु अर्थ है ईश्वर। प्रायः हर मत के लोग अपने-अपने ढंग से माने हुए ईश्वर का भजन, पूजन, नामस्मरण आदि करते हैं, और यह भी कहते हैं कि ईश्वर दयालु है, सबका है, सब प्राणी ईश्वर के ही बच्चे हैं। परन्तु जबान से ऐसा कहते हुए भी वे साम्प्रदायिक और स्वार्थ की भावनाओं में इतना जलते हैं कि एक दूसरे से थोड़ी-थोड़ी बातों में लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू हो जाते हैं। लोग दूसरे मत के लोगों को, पुजारियों एवं साधकों को छूरा मार देते हैं, गोली से भून देते हैं। दूसरे के पूजा-स्थलों एवं उपासना-गृहों को आग लगा देते हैं। ये भगवान के भक्त हैं कि शैतान के बंदे! यह सहज समझा जा सकता है। जो निहायत रहम वाला है, जो निस्सीम दयालु है उस ईश्वर की उपासना करने वाले निहायत क्रूर एवं शैतान बन जायं यह बात समझ में नहीं आती है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी सम्प्रदाय की साधारण जनता विशेष सांप्रदायिक नहीं होती। ज्यादा सांप्रदायिक तो वे होते हैं जो अपने आपको ईश्वर तथा धर्म के ठेकेदार मानते हैं।

ये ईश्वर और धर्म के नाम पर खून बहाने वाले ईश्वर-भक्त और धार्मिक तो हैं ही नहीं, इन्हें मनुष्य एवं इनसान कहना भी अपराध है। ये तो राक्षसी-पथ के पथिक हैं। वैसे

किसी दिन "रक्षामः यक्षामः"[1] कहा गया था। अर्थात जो दूसरे की रक्षा करे वह राक्षस तथा पूजा करे वह यक्ष है। परन्तु पीछे से राक्षस क्रूरकर्मी में रूढ़ हो गया। इसी रूढ़ अर्थ को लिया जाय जो आजकल प्रचलित है तो यही कहना पड़ेगा कि ये कट्टर ईश्वर-भक्त प्राणियों के हिंसक बनकर राक्षस हो गये हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि ये प्राणियों की हत्या करने वाले तो मरकहे बैल हैं जो मनुष्य की खाल ओढ़कर घूमते हैं। अर्थात ये ऊपर से तो मनुष्य हैं, परन्तु भीतर से बैल हैं। "मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल।" यहां बैल का अभिप्राय अविवेकी ही है। वह घोर अविवेकी है जो ईश्वर के नाम पर मनुष्यों एवं प्राणियों की हत्या करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या सभी ईश्वर-भक्त लड़ाई-झगड़ा करने वाले तथा हिंसक ही होते हैं! उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसी बात नहीं है। ईश्वर-भक्ति का मतलब लड़ाई करना नहीं, किन्तु प्रेम का प्रकाश करना है। अतएव सच्चे राम-भक्त एवं ईश्वर-भक्त तो प्राणिमात्र पर दया एवं प्रेम करने वाले होते हैं। वस्तुतः ये प्राणी ही तो राम हैं, ईश्वर हैं। इनको पीड़ा देने की बात सोचकर ईश्वर-भक्ति कैसी! ईश्वर-भक्तों की सबसे बड़ी भूल है कि वे ईश्वर को प्राणियों से अलग मान लेते हैं। इसलिए उनमें से कितने ही लोग तथाकथित ईश्वर की भक्ति करते हैं और प्राणियों का वध करते हैं। कबीर साहेब ने तथा दुनिया के अन्य विवेकियों ने ईश्वर को प्राणियों से अलग नहीं माना है। ये जीव ही भगवान हैं। अतः जीव की सेवा ही ईश्वर की सेवा तथा जीवों को कष्ट देना मानो ईश्वर को कष्ट देना है। कबीर साहेब ने बारम्बार इस बात पर जोर डाला है कि प्राणिजगत ही ईश्वर है। जीव ही राम है। जीवों पर दया करना ही राम-भक्ति है। इसी सिद्धान्त को मानने से संसार में अमन-चैन हो सकता है। जीव-जगत से दूर करके ईश्वर को अलग बैठा देना अपराध है। जीव से अलग ईश्वर की कल्पना ही क्रूरता को जन्म देती है। ऐसी धारणा वाले तथाकथित ईश्वर की पूजा करते हैं और जीवों की हत्या। परन्तु ईश्वर यदि कहीं चरितार्थ हो सकता है तो जीवों में ही। अतएव जीव मात्र को ईश्वर, राम, अल्लाह एवं गॉड मानकर उन पर दया और प्रेम का बरताव करना ही असली ईश्वर-पूजा एवं राम-भजन है।

ज्ञान, गुरु और शिष्य

खेत भला बीज भला, बोये मुठी का फेर।
काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर॥२८५॥

शब्दार्थ—बिरवा = वृक्ष, पौधा। रूखरा = दुर्बल।

भावार्थ—खेत उत्तम हो और बीज भी उत्तम हो, परन्तु किसानों के बोने में मूठ का फेर हो जाने से कहीं कम बीज पड़ते हैं और कहीं अधिक, और उसी प्रकार विरल तथा

---

१. रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः॥ *वाल्मीकि ७/४/१३॥*

सघन उनके पौधे उगते हैं एवं तदनुसार ही कम-विशेष अन्न की उत्पत्ति होती है। यदि पौधे दुर्बल हो गये हैं तो क्यों? यह खेत का ही गुण समझना चाहिए। अर्थात खेत उत्तम नहीं है। इसी प्रकार शिष्य में उत्तम योग्यता हो तथा गुरु का ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु भिन्न गुरुओं के उपदेश देने की शैली में भिन्नता होने से किसी को किसी की शैली से तथा किसी को किसी की शैली से बोध होता या नहीं होता है। यदि गुरुज्ञान ठीक होने पर भी शिष्य को बोध नहीं हुआ, तो यह शिष्य का दोष है॥२८५॥

व्याख्या—खेत शिष्य का हृदय है, बीज ज्ञान है, और बोने वाले उपदेशक गुरुजन हैं। शिष्य उत्तम पात्र हो और ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु उपदेशक गुरुओं के उपदेश देने की शैलियां एवं युक्तियां भिन्न-भिन्न होने से शिष्य के लाभालाभ में अन्तर हो सकता है। ज्ञानोपदेश वही होने पर भी कोई उसे उत्तम ढंग से समझाकर शिष्य को भलीभांति बोध करा देता है और कोई उस प्रकार बोध नहीं करा पाता। अथवा किसी उपदेशक की शैली किसी को जंचती है, और किसी उपदेशक की शैली किसी को। सबकी शैली सब को नहीं जंचती। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है—

प्रेम शोध के हेतु से, बोध मिले गुरु पाय।
कोइ काहू से बोध होय, काहू से जात दुराय॥

प्रायः देखा जाता है कि किसी व्यक्ति को एक उत्तम उपदेष्टा से संतोष नहीं मिलता और दूसरे किसी साधारण उपदेष्टा से संतोष मिल जाता है। इस प्रकार "बोये मुठी का फेर" होता है।

"काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर।" उपदेष्टा गुरु तथा उपदेश ज्ञान दोनों उत्तम हैं, परन्तु शिष्य को न ठीक से ज्ञान हुआ और ज्ञान हो जाने पर न उसकी रहनी में वह स्थित हो पाया। शिष्य आध्यात्मिक शक्ति से दुर्बल ही बना रह गया, तो यह दोष है शिष्य का। उसने गुरु के उपदेशों का पालन नहीं किया। वही गन्ना निर्बल खेत में बोने से पतला-पतला तथा कम रस वाला होता है और वही गन्ना उर्वर खेत में बो दिया जाय तो मोटा-मोटा तथा खूब रस वाला होता है। गुरु का एक ही ज्ञान भिन्न शिष्यों के पात्रत्व के अनुसार भिन्न मात्रा में फल पैदा करता है। अतएव खेत और बीज दोनों के गुण उत्तम होने चाहिए। अर्थात ज्ञान सच्चा होना चाहिए और शिष्य को सच्चा हृदय करके उसे धारण करना चाहिए।

सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल है। अंततः जड़वर्ग से अपनी चेतना को अलग समझ लेना ही ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है। मैं सब का साक्षी, सब से भिन्न, स्वतः, असंग एवं परम तृप्तस्वरूप हूं यही ज्ञान का अन्त है।

इसका देने वाला सद्गुरु है। जो सारी भ्रांतियों से रहित, सबका पारखी है और अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित है, वही सच्चा सद्गुरु है। सच्चे ज्ञान तथा सच्ची रहनी से संपन्न संत ही सद्गुरु है।

शिष्य का शिष्यत्व है उसका खुला हृदय, निष्पक्ष प्रज्ञा, विनम्रभाव, सत्य को जानने और उसका आचरण करने की तीव्र पिपासा।

गुरु-सीढ़ी से पतन का परिणाम

गुरु सीढ़ी ते ऊतरै, शब्द बिमूखा होय।
ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय।।२८६।।

शब्दार्थ—काल = कल्पना, वासना।

भावार्थ—जो व्यक्ति सद्गुरु की ज्ञान-सीढ़ी से उतर जाता है और उनके सत्योपदेशों से विमुख हो जाता है, उसको दुर्वासना रूपी काल घसीट कर संसार में रगड़ता है। उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।।२८६।।

व्याख्या—किसी मकान के ऊपरी तल्ले पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां होती हैं। आदमी एक-एक सीढ़ी पर पैर रखते-रखते ऊपर चढ़ता है। यदि चढ़ने वाला बीच ही से लौट पड़ता है और उन सीढ़ियों पर से उतरने लगता है तो वह नीचे चला आता है।

सद्गुरु ने यहां गुरु-सीढ़ी से उतरने वाले की दुर्दशा का वर्णन किया है। गुरु-सीढ़ी क्या है? 'गुरु' का शाब्दिक अर्थ होता है 'भारी'। इसके अनेक अर्थ हैं, परन्तु इस संदर्भ में तीन अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है कि गुरु वह व्यक्ति है जो अपने पवित्र आचरण, रहनी तथा सत्योपदेश से शिष्यों को प्रेरितकर उनको कल्याण मार्ग में लगाने वाला होता है, गुरु का दूसरा अर्थ होता है 'गुरु-दशा' जिसमें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी होती है और गुरु का तीसरा अर्थ शुद्ध चेतन है। पहला अर्थ व्यक्तिवाचक है, दूसरा भाववाचक है और तीसरा परिनिष्ठित शुद्ध चेतनवाचक है। परन्तु सबका उद्देश्य एक है अपनी आत्मचेतना के शिखर पर आरोहण करना। व्यक्ति-गुरु की सेवा मूल उद्देश्य नहीं है। व्यक्ति-गुरु की सेवा तथा आज्ञापालनादि भक्तिमार्ग तो इसलिए आवश्यक है कि साधक इसके द्वारा ही अपने कल्याण-मार्ग में बढ़ सकता है। पवित्र रहनी भी इसीलिए धारण करना है जिससे हम अपने स्वरूप में टिक सकें। बिना पवित्र रहनी के मन स्थिर ही नहीं होगा जो अपने स्वरूप में टिकने योग्य हो सके। गुरु के उपदेश से साधक एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ता है। अर्थात सेवा, आज्ञापालन, स्वाध्याय, साधना की सीढ़ियों से होते हुए वह ऊपर उठता है। साधक का उद्देश्य है व्यक्ति-गुरु के उपदेशों के सहारे अपने गुरु-भाव श्रेष्ठ-भाव में ठहरते हुए अपने परम गुरुत्व स्वरूप में स्थित हो जाय।

कुछ साधक ऐसे होते हैं जो समझ की कमी, अविवेक के जोर तथा कुसंग के आवरण के कारण कल्याण-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं। वे अपने दुर्भाग्यवश गुरुत्व पर चढ़ने की अपेक्षा उससे उतरना शुरू कर देते हैं। वे गुरु-संतों की आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं। उनकी अवमानना करते हैं। सामाजिक नियमों तथा साधना के नियमों को तोड़ने लगते हैं। वे सेवा नहीं करना चाहते, आज्ञापालन नहीं करना चाहते, सद्ग्रन्थों का

स्वाध्याय न कर साधना-विरोधी पुस्तकें पढ़ने लगते या प्रपंच-वार्ता में समय बिताने लगते हैं, जिससे भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य में गिरावट आये ऐसा व्यवहार करने लगते हैं। यही सब गुरु-सीढ़ी से उतरना है। जो स्वरूपस्थिति के शिखररूपी गुरुत्व पर चढ़कर सदैव के लिए संसार-कीचड़ से मुक्त होना चाहता था, वह कुछ दूर चलकर यदि उससे लौट पड़ा है तो यही गुरु-सीढ़ी से उतरना है; और यही "शब्द-बिमूखा" होना है!

ऐसे साधक की दशा क्या होती है? सद्गुरु कहते हैं "ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय।" उसको काल संसार-नगर में घसीट-घसीट कर रगड़ता है। उसे उससे कोई बचा नहीं सकता। काल हैं मन की दुर्वासनाएं, कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, चिंता, शोक, विकलता, भ्रांति ये सब भयंकर काल हैं, जिन्हें जीव ही ने अपने स्वरूप की भूल से बना रखे हैं। जब साधक गुरुत्व के शिखर पर चढ़ने लगता है तब ये काल कमजोर पड़ कर मरने लगते हैं और जब कोई अभागा साधक गुरुत्व-शिखर की सीढ़ियों से उतरने लगता है तब ये काल पुनः बलवान होकर जीव को पीड़ित करने लगते हैं। कामादि विकारों के अधीन बना संसार में भटकना ही तो उसके द्वारा घसीटे जाना है! एकमात्र गुरु ही इस काल से छुड़ाने वाला है और जिस मूढ़ जीव ने उन्हीं की अवहेलना कर दी उसे काल के गाल से कौन बचावे! मौत को काल कहते हैं जो केवल शरीर को समाप्त करती है, परन्तु मानसिक विकाररूपी काल मनुष्य का पतन करते हैं। अतः साधक को चाहिए कि वह प्रमाद छोड़कर गुरु-सीढ़ी पर उत्तरोत्तर चढ़ता जाय। नीचे उतरने का तो ख्याल भी न करे।

कामनाओं का ताप

भुँभुरी घाम बसै, घट माहीं।
सब कोइ बसै, सोग की छाहीं॥२८७॥

शब्दार्थ—भँभुरी घाम = वह धूप जिसमें सामान्य बदली हो, इसमें अधिक गरमी होती है। घट = शरीर, अंतःकरण। सोग = शोक।

भावार्थ—हलकी बदली की उत्तप्त धूप के सदृश मनुष्य के हृदय में नाना कामनाओं की तपन रहती है, इसलिए सभी सकामी जीव शोक की छाया में बसते हैं॥२८७॥

व्याख्या—गरमी या वर्षा काल में दिन में जब बहुत पतली बदली रहती है तब उससे छनकर आयी हुई धूप बहुत गरमी पैदा करती है। क्योंकि उस समय हवा नहीं चलती। यदि हवा चले तो बदली फट जाय। यदि मोटी बदली रहे तो गरमी न हो और यदि हवा चले तो पतली बदली न हो। परन्तु हवा भी नहीं चलती और मोटी बदली भी नहीं रहती, किन्तु पतली बदली रहती है तो उससे छनकर सूरज की गरमी पृथ्वी पर व्याप्त हो जाती है। इसे 'भुंभुरी घाम' कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, भुंभुरीघाम तो तुम्हारे हृदय में बसता है। हृदय का भुंभुरीघाम है कामनाओं की ज्वाला। आदमी भीतर-

भीतर कामनाओं की ज्वाला में झुलसता रहता है। कामनाओं की ज्वाला भुंभुरीघाम है। इससे परित्राण पाने के लिए वह भोगों को खोजता है। वह समझता है कि भोग शीतल छाया है। परन्तु भोगों को भोगने से तो कामनाज्वाला और धधकती है, तथा उसके परिणाम में चिंता-शोक की वृद्धि होती है। इसलिए मानो सारे सकामी जीव शोक की छाया में बसते हैं। छाहीं का अर्थ है धूपरहित जगह अथवा आश्रयस्थल। यहां छाहीं का अर्थ आश्रयस्थल है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग कामनाओं के भुंभुरीघाम एवं उत्तप्त धूप में जलते हैं और उससे बचने के लिए एवं कामनाओं की तृप्ति के लिए भोगों को पकड़ते हैं जो शोकरूप हैं। अतः भोगों में पड़कर मानो शोक की जगह में जाना है। भोगी जीव को आश्रयस्थल मिलता है शोक का। कामनाबद्ध जीव भोगों का आश्रय पकड़ता है जो वस्तुतः शोक है। कामनाओं से भोग, तथा भोगों से शोक का मिलना उसका स्वाभाविक क्रम है।

जब आदमी को तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि पीने की इच्छा होती है तब उसे तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट तथा शराब शीतल छाया लगते हैं। जब मैथुन भोग की कामना जगती है, तब स्त्री को पुरुष का एवं पुरुष को स्त्री का अंग-मिलन शीतल छाया लगता है। इसी प्रकार किसी भी भोग की इच्छा जब जगती है तब वह भोग शीतल छाया के समान लगता है। परन्तु भोग शीतल छाया नहीं, शोक-छाया है। शीतल छाया तो इच्छा-त्याग, भोग-त्याग एवं संतोष है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भोग-इच्छा के ताप से बचकर संतोष की शीतल छाया पकड़े।

जीव की सर्वोच्चता

जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।
छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय॥२८८॥

शब्दार्थ—छौ = छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा ब्राह्मण। लाख = लाखों, बहुत अधिक। छियानबे = छानबे भेद—दस-संन्यासी, बारह-योगी, चौदह-दरवेश, अठारह-ब्राह्मण, अठारह-जंगम तथा चौबीस-सेवड़ा। सहस = सहस्र, हजार, हजारों। रमैनी = प्रार्थना, नामजपादि, चौपाई, दोहे, पदादि।

भावार्थ—जो कोई मिलता है वह ज्ञान का अहंकारी उपदेश देने वाला गुरु बनकर मिलता है, सच्चा ज्ञान लेने वाला निष्कपट एवं विनम्र शिष्य बनकर कोई नहीं मिलता। परन्तु मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं कि छह दर्शनों के लाखों ग्रंथों और उनके छानबे भेदों के हजारों पूजा, पाठ, प्रार्थना आदि एक जीव पर ही होते हैं। अर्थात सारी कल्पनाओं एवं ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र में जीव ही है॥२८८॥

व्याख्या—"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इसका सीधा एवं शाब्दिक अर्थ है कि मुझे आज तक जो मिला वह गुरु बनकर मिला, शिष्य बनकर कोई नहीं मिला। यह शाब्दिक अर्थ मान लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि इस साखी के

लिखते तक कबीर साहेब को कोई शिष्य नहीं मिला था। परन्तु यह अर्थ मान लेना अनर्थ करना है। यहां अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि अपनी उलटी-सीधी बातों को ज्ञान मानकर उपदेश झाड़ने वाले लोग ज्यादा मिलते हैं, किन्तु विनम्रतापूर्वक सत्यज्ञान लेने वाले कम मिलते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक के सामने कई बार ऐसा प्रसंग पड़ता है कि लोग मिलने आते हैं और वे शुरू से आखिर तक अपनी उलटी-सीधी बातें बिना सांस लिये झाड़ते जाते हैं। कितने लोग धर्म के नाम पर चलने वाले बकवास, चमत्कार तथा अंधविश्वास की बातें करते रहते हैं और कितने लोग तो अपने घर के व्यवहार, यहां तक कि वे कैसे खिचड़ी में नीबू निचोड़कर तथा अधिक मात्रा में तरोई की सब्जी खाते हैं इसका दसों बार घुमा-घुमाकर वर्णन करते हैं। वे पूरे समय में एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते। परन्तु जब उठकर चलते हैं तब कहते हैं कि आप के सत्संग में बड़ा आनन्द आया।

लोगों को जो कुछ परम्परा से प्राप्त शब्द हैं उन्हीं को वे ज्ञान मानते हैं, उन्हीं को वे दूसरे के गले उतारना चाहते हैं, परन्तु स्वयं दूसरे का कुछ भी नहीं सुनना चाहते। मतवादी तो अपने मतवाद में भूत होते ही हैं, साधारण आदमी भी, जिसके मन में जो बात जमी है उसे छोड़ना नहीं चाहता, बल्कि उसे दूसरे को मनवाना चाहता है। मतवादी तो अपने आप को ईश्वर के उत्तराधिकारी एवं सत्य के ठेकेदार ही मानते हैं। वे दूसरे की बातें कहां मानने लगे! किसी का पूज्य ईश्वर का अवतार है, किसी का पूज्य ईश्वर का पुत्र है, तो किसी का पूज्य ईश्वर का पैगम्बर और किसी का पूज्य तो स्वयं ईश्वर ही है। ऐसी भ्रांत मानसिकता के लोग जो कुछ उलटे-सीधे अपने मत बना रखे हैं उन्हीं के पोषण में सदैव पड़े रहते हैं।

ईश्वर, अवतार, पैगम्बर-जैसी काल्पनिक बातें हटाकर और मत, परम्परा, पुराने पुरुष, पुराने ग्रन्थ, बड़े जनसमाज एवं भारी जनमत का पक्ष छोड़कर केवल सत्यज्ञान के लिए निष्पक्ष एवं विनम्र अन्वेषण करने वाले बहुत कम लोग हैं। कम लोग भले हों, परन्तु निष्पक्ष जिज्ञासु सब समय तथा सब देश में कुछ-न-कुछ होते हैं। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं। कबीर साहेब की बातें बड़ी पैनी हैं। वे कहते हैं—

"छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय।" छह दर्शन—योगी, जंगम, सेघड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। इनके अन्दर संसार के समस्त मत को समझ लेना चाहिए। छह दर्शनों के छानबे पाखंड माने गये हैं "छौ दर्शन छानबे पाखंडा"[1] अर्थात छह दर्शनों के छानबे भेद। जैसे आजकल केवल छह दर्शन ही नहीं, बहुत हो गये हैं, वैसे उनके छानबे ही भेद नहीं, किन्तु असंख्य भेद हैं। अतएव यहां भी शाब्दिक अर्थ

१. बीजक, रमैनी १।

न मानकर लाक्षणिक ही मानना चाहिए। अर्थात संसार के असंख्य मतों के असंख्य ग्रंथ एवं उनके असंख्य भेदों के असंख्य पूजा, पाठ, मान्यताएं, उपासना-पद्धतियां आदि "एक जीव पर होय"—एक जीव के कल्याण के लिए कल्पे गये हैं। इन सब के केन्द्र में एक जीव ही है। मनुष्य जीव ही ने तो नाना मत खड़े किये, ईश्वर, अल्लाह, अवतार, पैगम्बर की कल्पनाएं गढ़ीं, अपनी किताबों को इलहामी और ईश्वरीय कहने का दुस्साहस किया। इसी ने ज्ञान-विज्ञान के नाना प्रयोग किये, नाना उपासना-विधियां एवं मान्यताएं चलायीं। जीव न होता तो यह सब कुछ नहीं होता।

सद्गुरु कहते हैं कि चाहे कोई सुने या न सुने, परन्तु यह परम सत्य है कि जीव ही सर्वोच्च सत्ता है। कोई अपनी आत्मा का तिरस्कार करके बाहर से परमात्मा पाने की आशा करता है तो यह उसकी दुराशा है। "छौ लाख छानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय" इस पंक्ति का यदि सपाट अर्थ किया जाय तो भी सार अभिप्राय यही होगा कि छह लाख छानबे हजार रमैनियां अर्थात दोहे, चौपाइयां, प्रार्थनाएं, सूत्र, श्लोकादि सब एक जीव ही की महिमा है। सब कुछ उसी से निकले हैं। इस सपाट अर्थ में भी "छौ लाख छानबे सहस" का लाक्षणिक अर्थ ही होगा। अभिप्राय है कि असंख्य वचन जीव से ही निकले हैं और उसी के कल्याण के लिए ही कहे गये हैं।

"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इस पंक्ति को इस प्रकार भी संतों ने समझाने की चेष्टा की है कि जो स्वरूपस्थिति में मिला वह गुरु ही मिला, कोई शिष्यत्व का परदा रखकर स्वरूपस्थ नहीं हो सकता। स्वरूपस्थ व्यक्ति ही तो गुरु है। यह अलग बात है कि देहभाव से एवं व्यवहार में वह अपने गुरु का शिष्य है परन्तु बोधभाव एवं स्वरूपस्थितिदशा में गुरु है। श्री पूरण साहेब ने कहा है "देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥"

स्वाभाविक अर्थ पहले वाला ही है कि प्रायः लोग ज्ञान का अहंभाव लेकर अर्थात गुरु बनकर ही मिलते हैं, ग्राहक शिष्य बनकर कम लोग मिलते हैं। इसी सन्दर्भ में सद्गुरु आगे कहते हैं—

सत्यज्ञान का पिपासु निष्पक्ष एवं विनम्र होता है

जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं तहँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाहिं॥२८९॥

शब्दार्थ—हौं = मैंपन, अहंकार। गाहक = ग्रहण करने वाला जिज्ञासु। छाहिं = सहारा, आश्रय।

भावार्थ—जो सत्यज्ञान ग्रहण करने का इच्छुक जिज्ञासु होता है उसमें किसी प्रकार का अहंभाव नहीं होता, और जिसमें किसी प्रकार का अहंभाव होता है वह सच्चा जिज्ञासु

नहीं होता। वह तो कुछ शब्दों का सहारा पकड़कर बिना विवेक भटकता फिरत है ।।२८९।।

व्याख्या—सत्यइच्छुक ज्ञानपिपासु के मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं होता। वह तो अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से सत्य की खोज करता है और ज्ञानदात सच्चा सद्गुरु पाकर भलीभांति छकता है। परन्तु जिसके हृदय में धन, मकान, परिवार शरीर, जवानी, रूप, जाति, पद, विद्या, अधिकार आदि का मद है; अथवा नाना मत पथ, ग्रन्थ एवं किसी विख्यात मनुष्य का पक्ष तथा अहंकार है, वह न सत्य का ग्राहक और न सत्यबोध को प्राप्त ही कर सकता है। वह तो विवेक से हाथ धोकर सुने-सुना कल्पित शब्दों की पूंछ पकड़कर भटकता फिरता है।

कितने लोग कहते हैं "पदुम अठारह यूथप बंदर" अर्थात रामादल में अठारह पद् सेनापतियों का होना क्या असत्य हो जायेगा! कुम्भकरण की सौ योजन (बारह र किलोमीटर) लम्बी देह, रावण के दस मुख तथा बीस हाथ, भागवत वर्णित राजा प्रियव्र का ग्यारह अरब वर्ष राज्य करना तथा उनके रथ के पहिये के चलने से समुद्र बन जा क्या झूठ हो सकते हैं! उपनिषद्-वर्णित कहीं जल से, कहीं प्राण से, कहीं तेज आदि सृष्टि का होना, बाइबिल वर्णित बिना कारण के ही ईश्वर का छह दिनों में सृष्टि का र डालना, ईसामसीह के अनेक चमत्कार, कुरान-वर्णित खुदा के केवल 'हो जा' कह देने झट से जगत उत्पन्न हो जाना आदि धर्म तथा ईश्वर की बातें हैं। ये गलत नहीं सकतीं। ये ईश्वर के रचे वेद, अल्लाह का भेजा कुरान तथा गॉड की प्रेषित बाइबिल क्या एक अक्षर भी असत्य हो सकता है! क्या वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, भागव कुरान, बाइबिल आदि में एक अक्षर भी झूठ हो सकता है!

तथाकथित ईश्वर के नाम से जुड़े हुए ग्रंथों में जो कुछ लिख दिया गया है उन थोड़ा भी न नु न च करना, थोड़ा भी तर्क करना वे लोग अपराध मानते हैं। हां, वे दूर की ईश्वरीय कही जाने वाली किताबों की बातों पर अपनी टिप्पणी पेश करते हैं, पर जब अपनी किताबों पर बात आती है तब उसे केवल श्रद्धा से देखने की बात करते हैं वे उस पर थोड़ा भी सोचने का अवसर नहीं देना चाहते। इस प्रकार केवल शब्द-प्रमा की दोहाई देने वाले एवं शब्दों की छांह पकड़ने वाले सत्य के ग्राहक नहीं होते। वे अपने मूल ग्रन्थ एवं आचार्य की बातों की पुष्टि के लिए दूसरे का खंडन करेंगे, दूसरे नास्तिक एवं काफिर कहेंगे, परन्तु अपने मत का अभिमान छोड़कर सत्य की परख न करेंगे।

"कुल-पशु, गुरु-पशु, वेद-पशु, काम-पशू संसार। मानुष ताको जानिये, जाहिं विवे विचार।।" यहां वेद से अर्थ ऋग्वेदादि प्रसिद्ध चार पुस्तकों से नहीं है, किन्तु अपने-अ मत के शास्त्रों से है। जो बिना विवेक-विचार किये कुल-परम्परा के रस्मो-रिवाज को, ग की बातों को तथा शास्त्रों की बातों को ढोता है और काम में अंधा रहता है वह पशु

मनुष्य वह है जिसके हृदय में विवेक-विचार है। गुरु, शास्त्र, परम्परा सब आदरणीय हैं, परन्तु अपना विवेक छोड़कर नहीं।

कबीरदेव इस साखी में बताते हैं कि जो सत्यज्ञान का पिपासु होता है वह कुल-परम्परा, गुरु, शास्त्र आदि का पक्ष छोड़कर विनम्रतापूर्वक छान-विचार करता है। परन्तु जहां सत्यज्ञान की इच्छा न होकर केवल अपनी मानी हुई बातों को ही सर्वोपरि बताने का हठ है वहां तो बस, शब्दों की ही दोहाई दी जाती है कि यह लिखा है वह लिखा है। ऐसे लोग अपने माने गये शास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते फिरते हैं।

गुणग्राही ही पारखी है

नग पषाण जग सकल है, पारख बिरला कोय।
नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय॥२९०॥

शब्दार्थ—नग = रत्न। पषाण = पाषाण, पत्थर। पारख = परख, परीक्षा, सांच-झूठ समझने की शक्ति।

भावार्थ—सारे संसार में रत्न और पत्थर दोनों हैं, अर्थात गुण और दोष तथा जड़ और चेतन सर्वत्र हैं, परन्तु इनकी परख करने वाला विरला कोई है। नग से भी उत्तम उसके पारखी हैं जो संसार में कम होते हैं॥२९०॥

व्याख्या—सारा संसार जड़-चेतन एवं गुण-दोषमय है। विवेकी-पारखी पुरुष जड़ को छोड़कर चेतन को तथा दोष को छोड़कर गुण को ले लेता है।

"नग पषाण जग सकल है" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। न तो संसार का कोई हिस्सा दूध का धोया है और न एकदम बुरा है। एकांगी दृष्टि वाला किन्हीं देश, प्रदेश, कुल, परम्परा, मत, शास्त्र आदि की बेतहाशा बड़ाई करने लगता है और किन्हीं की निंदा करने लगता है, परन्तु निष्पक्ष विचारक ऐसा न कर हर जगह से दोषों को छोड़कर केवल सद्गुण ले लेता है। हम दूसरे मत की निंदा में डट पड़ते हैं और मान लेते हैं कि दूसरे के मतों में केवल बुराइयां हैं, परन्तु विचारकर देखें तो हमारे मत में भी कहीं-न-कहीं कोई त्रुटि हो सकती है और दूसरे के मतों में भी अच्छाई है ही। ऐसा तो कोई मत है ही नहीं कि उसमें अच्छाई न हो। कोई मत, कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, कोई वस्तु, कोई देश तथा कोई काल ऐसा नहीं है जिसमें अच्छाई न मिले।

एक जिज्ञासु ने किसी संत के पास जाकर उनसे दीक्षा चाही। संत ने कहा कि तुम मुझे गुरुदक्षिणा में क्या दोगे? जिज्ञासु ने कहा कि महाराज, आप ही आज्ञा दें। संत ने कहा कि कोई ऐसी वस्तु मुझे गुरुदक्षिणा में दो जो बिलकुल बेकार हो। जिज्ञासु ने अवसर मांगा। छह महीने बीत गये परन्तु उसे ऐसी कोई वस्तु नहीं मिली कि जो बिलकुल बेकार हो। उसने अपना दृष्टिकोण संत से कह सुनाया कि महाराज संसार में तो कोई वस्तु नहीं

नहीं होता। वह तो कुछ शब्दों का सहारा पकड़कर बिना विवेक भटकता फिरता है ।।२८९।।

व्याख्या—सत्यइच्छुक ज्ञानपिपासु के मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं होता। वह तो अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से सत्य की खोज करता है और ज्ञानदात सच्चा सद्गुरु पाकर भलीभांति छकता है। परन्तु जिसके हृदय में धन, मकान, परिवार, शरीर, जवानी, रूप, जाति, पद, विद्या, अधिकार आदि का मद है; अथवा नाना मत पथ, ग्रन्थ एवं किसी विख्यात मनुष्य का पक्ष तथा अहंकार है, वह न सत्य का ग्राहक है और न सत्यबोध को प्राप्त ही कर सकता है। वह तो विवेक से हाथ धोकर सुने-सुनाये कल्पित शब्दों की पूंछ पकड़कर भटकता फिरता है।

कितने लोग कहते हैं "पदुम अठारह यूथप बंदर" अर्थात रामादल में अठारह पद्म सेनापतियों का होना क्या असत्य हो जायेगा! कुम्भकरण की सौ योजन (बारह सं किलोमीटर) लम्बी देह, रावण के दस मुख तथा बीस हाथ, भागवत वर्णित राजा प्रियव्र का ग्यारह अरब वर्ष राज्य करना तथा उनके रथ के पहिये के चलने से समुद्र बन जान क्या झूठ हो सकते हैं! उपनिषद्-वर्णित कहीं जल से, कहीं प्राण से, कहीं तेज आदि सृष्टि का होना, बाइबिल वर्णित बिना कारण के ही ईश्वर का छह दिनों में सृष्टि का र डालना, ईसामसीह के अनेक चमत्कार, कुरान-वर्णित खुदा के केवल 'हो जा' कह देने झट से जगत उत्पन्न हो जाना आदि धर्म तथा ईश्वर की बातें हैं। ये गलत नहीं सकतीं। ये ईश्वर के रचे वेद, अल्लाह का भेजा कुरान तथा गॉड की प्रेषित बाइबिल क्या एक अक्षर भी असत्य हो सकता है! क्या वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, भागवत कुरान, बाइबिल आदि में एक अक्षर भी झूठ हो सकता है!

तथाकथित ईश्वर के नाम से जुड़े हुए ग्रंथों में जो कुछ लिख दिया गया है उन थोड़ा भी न नु न च करना, थोड़ा भी तर्क करना वे लोग अपराध मानते हैं। हां, वे दूस की ईश्वरीय कही जाने वाली किताबों की बातों पर अपनी टिप्पणी पेश करते हैं, पर जब अपनी किताबों पर बात आती है तब उसे केवल श्रद्धा से देखने की बात करते है वे उस पर थोड़ा भी सोचने का अवसर नहीं देना चाहते। इस प्रकार केवल शब्द-प्रमा की दोहाई देने वाले एवं शब्दों की छांह पकड़ने वाले सत्य के ग्राहक नहीं होते। वे अपने मूल ग्रन्थ एवं आचार्य की बातों की पुष्टि के लिए दूसरे का खंडन करेंगे, दूसरे नास्तिक एवं काफिर कहेंगे, परन्तु अपने मत का अभिमान छोड़कर सत्य की परख न करेंगे।

"कुल-पशु, गुरु-पशु, वेद-पशु, काम-पशू संसार। मानुष ताको जानिये, जाहिं विवे विचार।।" यहां वेद से अर्थ ऋग्वेदादि प्रसिद्ध चार पुस्तकों से नहीं है, किन्तु अपने-अप मत के शास्त्रों से है। जो बिना विवेक-विचार किये कुल-परम्परा के रस्मो-रिवाज को, गु की बातों को तथा शास्त्रों की बातों को ढोता है और काम में अंधा रहता है वह पशु है

मनुष्य वह है जिसके हृदय में विवेक-विचार है। गुरु, शास्त्र, परम्परा सब आदरणीय हैं, परन्तु अपना विवेक छोड़कर नहीं।

कबीरदेव इस साखी में बताते हैं कि जो सत्यज्ञान का पिपासु होता है वह कुल-परम्परा, गुरु, शास्त्र आदि का पक्ष छोड़कर विनम्रतापूर्वक छान-विचार करता है। परन्तु जहां सत्यज्ञान की इच्छा न होकर केवल अपनी मानी हुई बातों को ही सर्वोपरि बताने का हठ है वहां तो बस, शब्दों की ही दोहाई दी जाती है कि यह लिखा है वह लिखा है। ऐसे लोग अपने माने गये शास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते फिरते हैं।

गुणग्राही ही पारखी है

नग पषाण जग सकल है, पारख बिरला कोय।
नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय॥२९०॥

शब्दार्थ—नग = रत्न। पषाण = पाषाण, पत्थर। पारख = परख, परीक्षा, सांच-झूठ समझने की शक्ति।

भावार्थ—सारे संसार में रत्न और पत्थर दोनों हैं, अर्थात गुण और दोष तथा जड़ और चेतन सर्वत्र हैं, परन्तु इनकी परख करने वाला विरला कोई है। नग से भी उत्तम उसके पारखी हैं जो संसार में कम होते हैं॥२९०॥

व्याख्या—सारा संसार जड़-चेतन एवं गुण-दोषमय है। विवेकी-पारखी पुरुष जड़ को छोड़कर चेतन को तथा दोष को छोड़कर गुण को ले लेता है।

"नग पषाण जग सकल है" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। न तो संसार का कोई हिस्सा दूध का धोया है और न एकदम बुरा है। एकांगी दृष्टि वाला किन्हीं देश, प्रदेश, कुल, परम्परा, मत, शास्त्र आदि की बेतहाशा बड़ाई करने लगता है और किन्हीं की निंदा करने लगता है, परन्तु निष्पक्ष विचारक ऐसा न कर हर जगह से दोषों को छोड़कर केवल सद्गुण ले लेता है। हम दूसरे मत की निंदा में डट पड़ते हैं और मान लेते हैं कि दूसरे के मतों में केवल बुराइयां हैं, परन्तु विचारकर देखें तो हमारे मत में भी कहीं-न-कहीं कोई त्रुटि हो सकती है और दूसरे के मतों में भी अच्छाई है ही। ऐसा तो कोई मत है ही नहीं कि उसमें अच्छाई न हो। कोई मत, कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, कोई वस्तु, कोई देश तथा कोई काल ऐसा नहीं है जिसमें अच्छाई न मिले।

एक जिज्ञासु ने किसी संत के पास जाकर उनसे दीक्षा चाही। संत ने कहा कि तुम मुझे गुरुदक्षिणा में क्या दोगे? जिज्ञासु ने कहा कि महाराज, आप ही आज्ञा दें। संत ने कहा कि कोई ऐसी वस्तु मुझे गुरुदक्षिणा में दो जो बिलकुल बेकार हो। जिज्ञासु ने अवसर मांगा। छह महीने बीत गये परन्तु उसे ऐसी कोई वस्तु नहीं मिली कि जो बिलकुल बेकार हो। उसने अपना दृष्टिकोण संत से कह सुनाया कि महाराज संसार में तो कोई वस्तु नहीं

मिली जो एकदम बेकार हो। मैं आप को बेकार चीज कहां से लाकर दूं। संत ने कहा बस, बेटा! तू मेरे द्वारा दीक्षा का पूर्ण अधिकारी है, तेरे में तो पूर्ण शिष्यत्व है। जिसकी दृष्टि इतनी गुणग्राही हो, वही सच्चा जिज्ञासु है।

एक ही वस्तु में कई पहलू होते हैं, कोई पहलू गुणमय होता है और कोई पहलू दोषमय। गुलाब के पेड़ में फूल गुणमय हैं और कांटे दोषमय। पारखी फूल ले लेता है और कांटें छोड़ देता है। जगत जानता है कि समझदार लोग पत्थर में से सोना, मिट्टी में से पानी, तेल, पेट्रोल अनेक धातु आदि खनिज पदार्थ, भूसी तथा छिलके में से चावल, दाल तथा फल आदि ले लेते हैं। इसी प्रकार सब के मतों, ग्रंथों एवं सब प्राणी-पदार्थों से अच्छाई छांटकर ले लेना पारखी का काम है। यहां तक कि एक ही वस्तु का सदुपयोग करने से वह गुणमय बन जाती है और दुरुपयोग करने से दोषमय। जैसे रुपये परोपकार में लगाओ तो वे कल्याणकारी तथा दूसरे की हत्या करवाने में लगाओ तो पतनकारी बनते हैं। यहां तक कि विष को शोधकर दवाई के काम में लेने से वह अमृत बन जाता है और अन्न जो अमृत है, गलत तरीके तथा ज्यादा खाने से मारक विष बन जाता है। घी और मधु दोनों स्वास्थ्यवर्द्धक हैं, परन्तु कहते हैं कि दोनों को बराबर मात्रा में मिला देने से विष बन जाता है।

सच्चा पारखी वही है जो न तो कहीं ममता करता है और न कहीं घृणा एवं वैर वह सब जगह से दोषों को त्यागते हुए केवल सद्गुण ग्रहण करता है। "नग पषाण जग सकल है" इस छोटे से वाक्य में निष्पक्षता, विनम्रता, दीर्घदृष्टि एवं परम विवेक समाये हैं भव-बंधन का मूल है राग-द्वेष, और राग-द्वेष का मूल है उक्त बात को न समझ पाना जो यह समझता है कि सर्वत्र गुण-दोष हैं, वह कहीं से राग-द्वेष नहीं करता, किन्तु सब जगह से दोषों को छोड़ते हुए केवल सद्गुणों का चयन करता है।

'नग पषाण' के लक्षणा अर्थ में जैसे गुण-दोष हैं वैसे चेतन और जड़ हैं। विवेकवान सर्वत्र जड़-चेतन का विवेक रखता है। वह मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, चांद सूरज, तारे, नदी, पर्वत, पेड़ आदि की वंदना नहीं करता। वह समझता है कि ये सब जड़ हैं। वह जानता है कि किसी महापुरुष के चित्र एवं मूर्ति आदि केवल स्मारक हैं, इसलिए वह उनको नहलाने, सुलाने, जगाने आदि के चक्कर में नहीं पड़ता। ज़ड़-चेतन का पारखी जानता है कि असंख्य ग्रह, उपग्रह, छह ऋतुएं, नदी, झरने, वन, पर्वत, बादल वर्षा, भूचाल, ज्वालामुखी, अतिवर्षण, अवर्षण आदि जड़प्रकृति का खेल है। इनमें किसी चेतन की कोई सत्ता नहीं है। वह समझता है कि भूत, प्रेत, देवी, देवता एवं अनेक काल्पनिक अवधारणाएं केवल मनुष्यों के मनोराज्य हैं। पारखी अपने स्वरूप को चेतन समझता है और उसे जड़ से सर्वथा भिन्न मानता है। वह जड़-चेतन को सर्वदा-सर्वथा भिन्न समझता है। वह अपने चेतनस्वरूप को देह, मन, प्राण, तेज, शब्द आदि समस्त जड़ दृश्यों से अलग समझकर उनमें से अपने आप को उसी प्रकार निदाग निकाल लेता है जैसे कोई मूंज में से सींक निकाल लेता है। समस्त जड़दृश्यों से अपने चेतन स्वरूप को अलग समझकर असंग स्थिति प्राप्त करना ही पारखी का मुख्य लक्षण है।

सद्गुरु कहते हैं "पारख बिरला कोय" कोई विरला ही गुण-दोष एवं चेतन-जड़ की परख करता है। शेष लोग तो दोष देखने की प्रवृत्ति में पड़कर दूसरों के सद्गुणों का भी तिरस्कार कर देते हैं और चेतन-जड़ का विवेक खोकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे ज्ञानी कहलाने वाले तक कहते हैं "मैं चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, यह सारा विश्व मेरा स्वरूप है। जैसे जल और तरंग एक है, जैसे स्वर्ण और आभूषण एक है, जैसे मिट्टी और घट एक है वैसे चेतन और जड़ एक है।" ऐसी मान्यता रखने वाले अपनी परखशक्ति को दरकिनार कर मतवाद में पड़े उलझे रहते हैं। कोई विरला ही ऐसी दृष्टि रखता है कि सर्वत्र दोषों को त्यागते हुए सद्गुण ले तथा जड़ासक्ति त्यागकर चेतनस्वरूप में स्थिति हो।

"नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय।" रत्नों से श्रेष्ठ रत्नों का पारखी होता है। सद्गुणों से श्रेष्ठ वह है जो उन्हें सर्वत्र से लेकर अपने जीवन में उनका आचरण करता है। इसी प्रकार सभी सामान्य चेतन जीवों से वह श्रेष्ठ है जो उनका पारखी है। इस पूरी साखी में सद्गुरु ने पारखी की विशेषता बतायी है। पारखी वही है जो सर्वत्र से दोषों को त्यागते हुए सद्गुण ग्रहण करे तथा जड़दृश्यों से लौटकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित है।

सारा सम्बन्ध स्वप्नवत है

सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥२९१॥

शब्दार्थ—लूट = डकैती; यहां लूट का व्यंजनात्मक अर्थ है आनन्द या क्लेश।

भावार्थ—आदमी सोते समय सपने देखता है। उसे उनमें आनन्द भी मिलता है तथा क्लेश भी। परन्तु जब वह जागकर तथा नेत्रों को खोलकर देखता है, तब उसे सपने के सुख-दुख से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही दशा संसार के जीवों की है। वे अज्ञानवश संसार में सुख-दुख के झमेले में पड़े रहते हैं, परन्तु जब वे विवेकज्ञान की आंखें खोलकर देखते हैं, तो उन्हें उनसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता॥२९१॥

व्याख्या—हम रोज रात में सोते हैं। जब तक गाढ़ी नींद नहीं आती तब तक अर्ध-सुषुप्ति रहती है। उसमें हम सपने देखते हैं। सपने में हम मानो भैंसे, हाथी या सिंह से खदेड़े जाते हैं। कहीं मानो शत्रुओं-द्वारा सताये जाते हैं। चोर, डाकू, अग्नि, सांप, नदी, वनादि के भय से पीड़ित होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न में दरिद्रतादि अनेक दुखों से हम ग्रसित होते हैं। इसके विपरीत कभी हम ऐसे भी सपने देखते हैं कि मानो हमें बहुत बड़े पद, अधिकार, धन, मित्र एवं सुख की सारी अनुकूलताएं मिल गयी हैं। परन्तु जब नेत्र खुलते हैं, तब वे दोनों झूठे सिद्ध होते हैं।

यही दशा हमारे सांसारिक जीवन एवं सांसारिक उपलब्धियों की है। जिन्हें हम सपना कहते हैं उन्हें हम आंखें मूंदकर सोते समय देखते हैं। परन्तु संसार के सपने हम आंख खोलकर जागते समय देखते हैं। हमें बहुत सुन्दर एवं बलवान शरीर मिला, बहुत प्राणी,

पदार्थ, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि मिले; परन्तु ये देखते-देखते खोते चले जाते हैं। इसी प्रकार दुख, अपमान, प्रतिकूलतादि भी अंततः खो जाते हैं। जीवन की शुरुआत के सुख-दुख, दस वर्षों के पूर्व के सुख-दुख, गत वर्ष के सुख-दुख, यहां तक अभी बीते हुए कल के सुख-दुख आज कहां हैं! बादल की पुतली, चलती रेलगाड़ी की छाया एवं बिजली की चमक के समान ये सारी उपलब्धियां हमसे दूर भागी चली जाती हैं। इनमें कहां स्थायित्व है!

संसार के बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान राजों-महाराजों पर दृष्टि डालिए, सिकंदर, अशोक, अकबर ये सब कहां गये! पुराणों को पढ़िए, महाभारत तथा रामायण को पढ़िए, उनमें वर्णित बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान केवल चर्चा के विषय हैं। स्वप्न में आनंद मिला, क्लेश मिला, परन्तु आंखें खुलीं और सब गायब! इसी प्रकार जीवन में उपलब्ध समस्त अनुकूलता-प्रतिकूलता देखते-देखते शून्यता में बदल जाती हैं। "जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन।" इस पंक्ति में लूट शब्द व्यंजनात्मक है। यह लाभ और हानि दोनों के लिए संकेत करता है, जैसे ये बहुत लूट में पड़े हैं, अर्थात बड़े आनन्द में पड़े हैं या बड़ी परेशानी में पड़े हैं। संसार के सारे हानि-लाभ क्षण-क्षण बीतते जाते हैं और सपने के समान पीछे से वे केवल मन में याद होते हैं, और जब जीवन समाप्त हो जाता है तब तो सब कुछ सुषुप्ति के समान शून्य हो जाता है। फिर उनसे क्या लेना-देना रहता है! यह जीव अनादिकाल से ना मालूम कितने माता-पिता, पत्नी, बच्चे तथा भाई-बन्धुओं का संगम किया है, परन्तु वे सब आज कहां हैं!

बाह्य प्राणी, पदार्थ, शरीर, मन आदि एक भीड़ है जो सपने में मिले हुए के समान है। यह भीड़ थोड़े दिनों में छट जाती है। परन्तु जब हम इन भीड़ों में होते हैं, इन्हें सत्य मान लेते हैं तब इन्हीं में उलझकर राग-द्वेष के शिकार हो जाते हैं। इनमें सत्यता का आभास ही हमें अशांत करता है। यदि हम इन सबकी स्वप्नमयता एवं असत्यता समझ लें तो हमारे मन की पीड़ा समाप्त हो जाय। इस संसार में मेरा कुछ नहीं है, यह बात परम सत्य है। इसे ठीक से समझकर जो अपने मन में इसे बैठा लेता है उसके मन की चिंताग्नि एकदम शांत हो जाती है। आज-कल में अचानक जहां से कुल छोड़कर जाना है वहां के लिए हमें अपने मन में किस वस्तु के लिए पीड़ा करनी चाहिए! अतएव हमें सदैव यह ध्यान में रखना चाहिए "ना कछु लेन न देन।"

विवेक से मोह का नाश

नष्ट का राज है, नफर का बरते तेज।
सारशब्द टकसार है, कोइ हृदया माहिं विवेक॥२९२॥

शब्दार्थ—नफर = नौकर, सेवक, तात्पर्य में मन। तेज = प्रभाव। सारशब्द = निर्णयवचन। टकसार = टकसाल, सिक्कों की ढलाई का स्थान, निर्दोषवस्तु, चोखा, खरा।[1]

---

१. बृहत् हिंदी कोश।

भावार्थ—हमारा अपना माना हुआ जो कुछ राजकाज है वह सब नाशवान क्षणभंगुर है, परन्तु मन का प्रभाव व्यवहृत होने से इसमें स्थायित्व एवं सत्यता का भ्रम होता है। निर्णय वचन निर्दोष एवं खरे ज्ञान के साधन हैं, जो कोई उन्हें लेकर अपने हृदय में विवेक करेगा, उसका भ्रम मिट जायेगा।।२९२।।

व्याख्या—"नष्ट का राज है" सद्गुरु का यह भारी हथौड़ा हमारे ममतालु मन पर गिरता है। "राज" कहते हैं अपने शासित देश को और शासन, अधिकारकाल या अधिकार को। जो कुछ मेरा अपना माना हुआ है वही मानो अपना राज है। सद्गुरु कहते हैं, लेकिन वह नाशवान है। वह नित्य रहने वाला नहीं है। आप देखते नहीं, जवानी की चमक बिजली के समान बुझ जाती है। जवानी में पति और पत्नी में आकर्षण रहता है, कुछ दिनों के बाद वे एक दूसरे को प्रेम से देखना भी नहीं चाहते। परिपक्वास्था में घर-परिवार पर जो अपना दबदबा एवं शासन रहता है, बुढ़ापे में कपूर की तरह उड़ जाता है। जनतंत्र के राज-मंत्रियों के उनके अपने शासन-काल बीतने पर जैसे उनकी दयनीय दशा होती है, वैसे ही संसार के सारे सुख-संयोग के बाद मनुष्य की दशा होती है। घर, धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता अंततः जीव के साथ क्या रह जाता है! जब शरीर ही साथ नहीं रह जाता, तब अन्य किसका साथ रह सकता है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा अपना माना हुआ राज्य नष्ट का है। जो कुछ तूने आज तक अपना मान रखा है वह कुछ भी तेरे साथ न रहेगा।

प्रश्न होता है कि यह सारी माया असत्य होते हुए सत्य क्यों प्रतीत होती है? सद्गुरु उत्तर देते हैं "नफर का बरते तेज" नफर का तेज बरत रहा है, इसलिए। नफर अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है नौकर, सेवक, मजदूर आदि। यह मन जीव का नौकर है, परन्तु इसने उसके ऊपर अपना दबदबा कायम कर रखा है। जैसे किसी राज्य में राजा का शासन न चलकर नौकर का ही शासन चले, वैसे जीव के राज्य में जीव का शासन न चलकर मन-नौकर का शासन चल रहा है। "नफर का बरते तेज" नौकर-मन का तेज एवं प्रभाव बरत रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन ने सारी वस्तुओं को सत्यवत मानकर सब में अहंता-ममता कर रखी है। अज्ञानवश सांसारिक प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता करने से वे सब सत्य लगते हैं। इसलिए हम उनके पीछे पागल बने भटकते हैं और उनके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ करते हैं। यह नष्ट का राज, यह नाशवान पसारा सत्य इसलिए लगता है कि इसे मन ने मान रखा है। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू जैसी गंदी चीजें भी इसलिए अच्छी लगती हैं कि उनमें मन ने सुख मान रखा है। शराब पीकर नाली में गिरना क्यों अच्छा लगता है, क्योंकि मन ने उसे मान रखा है। जिसमें चंचलता, अशांति, मलिनता, क्षीणता और परवशता का अनन्त दुख है ऐसे मलिन काम-भोग में आदमी क्यों रमता है, क्योंकि मन ने उसमें सुख मान रखा है। अपने घर की रूपवती एवं शीलवती पत्नी को छोड़कर कहीं बाहर की एक कुरूपा तथा कुलक्षणी स्त्री में आदमी क्यों फंस जाता है, क्योंकि उसका मन उसे मान लेता है। अतएव यह क्षणभंगुर तथा घृणित भौतिक जीवन एवं संसार का पसारा इसीलिए सत्यवत एवं सुखप्रद लगता है, क्योंकि हमारे मन की मान्यता ही ऐसी उलटी बन गयी है।

प्रश्न होता है कि इस मन का प्रभाव हटकर जीव की स्वरूपस्थिति कैसे होगी? सद्गुरु उत्तर देते हैं "सार शब्द टकसार है, कोइ हृदया माहिं विवेक।" सच्चे ज्ञान के लिए सारशब्द ही साधन है। सारशब्द कहते हैं निर्णयवचन को। श्री रामरहस साहेब ने कहा है "सारशब्द निर्णय को नामा।" निर्णय वचन ही सारशब्द है। दो-दो चार निर्णय वचन हैं। जो जैसा है उसको वैसा कहना ही निर्णयवचन है। सद्गुरु कहते हैं कि निर्णयवचन ही टकसाल है। टकसाल का अर्थ है प्रामाणिक, निर्दोष, खरा। एक छोटे कागज का कोई मूल्य नहीं, परन्तु टकसाल की छाप लग जाय तो वह रुपया बन जाता है। टकसाल प्रामाणिक है। इसी प्रकार निर्णय वचन प्रामाणिक होता है। जब निष्पक्ष, निर्दोष, निर्णयवचन मिलता है तब किसी-किसी मनुष्य के हृदय में विवेक जग जाता है और वह संसार की माया को तृणवत समझकर उसके मोह से ऊपर उठ जाता है और इसी जीवन में निजस्वरूप में स्थित होकर कृतार्थ हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "कोइ हृदया माहिं विवेक" निर्णय वचन पाकर कोई व्यक्ति हृदय में विवेक करता है। आप देखते नहीं कि हजारों लोग सत्योपदेश सुनते हैं, परन्तु उनमें सब कहां जग पाते हैं! कोई विरला जगता है। वही जगता है जिसके हृदय में विवेक हो जाता है। कितने लोग तो निर्णय वचन सुनकर क्षुब्ध हो जाते हैं। उनको विवेक जगना तो दूर, उलटे वे वक्ता के प्रति ही द्वेष बना लेते हैं। प्रायः श्रोता वही सुनना चाहते हैं जैसे उन्होंने अपने मन में मान्यता बना रखी है, अथवा जो उनकी परम्परा में मान्य है। जो बात उन्हें नयी लगती है उसे वे सुनना ही नहीं चाहते। जो सुनने में ही अनुदार है उसे विवेक कैसे जगेगा! सद्गुरु ने तो कहा है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" अर्थात सब की बातें सुनो, परन्तु उनका अपने विवेक से निर्णय करो। वही संसार की मोह-नींद से जगता है जिसके हृदय में विवेक का उदय हो जाता है। विवेक एक्सरे-मशीन है। एक्सरे-मशीन वस्त्र और चाम को हटाकर भीतर की हड्डी का चित्र लेती है, इसी प्रकार विवेक किसी वस्तु के भीतर घुसकर उसकी वास्तविकता को देखता है। वह शरीर के ऊपरी सौंदर्य के भीतर उसकी गंदगी एवं निस्सारता को, संयोग में वियोग को, अनुकूलता में प्रतिकूलता को, उन्नति में पतन को तथा जीवन में मरण को देखता है। विवेक किसी वस्तु या घटना की अन्तिम परिणति को देखता है। अतः जिसके हृदय में निरंतर विवेक जाग्रत रहता है, वह मोह में नहीं सोता। विवेक वह प्रकाश है जिसमें अंधकार टिक नहीं सकता। विवेक अपनी आत्मा को सारे जड़दृश्यों से अलग कर लेता है। कबीर देव ने इस ग्रंथ में विवेक को बारम्बार प्रधानता दी है। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥"

सारे नाते जीव के रहते तक हैं

जब लग बोला तब लग ढोला, तौ लौं धन ब्यौहार।
ढोला फूटा बोला गया, कोइ न झाँके द्वार॥२९३॥

शब्दार्थ—बोला = बोलता चेतन। ढोला = शरीर। द्वार = मुख।

भावार्थ—जब तक इस शरीर में बोलता चेतन निवास करता है, तब तक यह ढोलक बजती है और तब तक ही संग्रहीत धन का व्यवहार होता है। जैसे ही बोलता

चेतन इससे निकल जाता है, यह शरीर-ढोलक फूट जाती है, फिर तो कोई इसका मुख भी नहीं देखना चाहता।।२९३।।

व्याख्या—यहां ढोला का अर्थ शरीररूपी ढोलक से है। सद्‌गुरु कहते हैं कि यह शरीर-ढोल तब तक बजता है जब तक इसका बजाने वाला बोलता चेतन जीव इसमें रहता है। जीव के निकल जाने पर यह ढोल बेकार हो जाता है। संसार के साधारण लोग भी यह जानते हैं कि जीव देह से अलग वस्तु है। इसी से उसके न रहने पर शरीर की गतिविधि समाप्त हो जाती है। अतएव जब तक बोलता चेतन इस शरीर में रहता है तब तक यह कायम रहता है और तब तक ही संग्रहीत धन का उपयोग होता है। लोग इस जीवन की क्षणभंगुरता को नहीं समझ पाते, अतः वे न्याय-अन्याय की परवाह छोड़कर धन का संग्रह करते हैं। वे धन को इतनी प्रमुखता देते हैं कि मन की पवित्रता एवं शांति के विषय में सोचना ही छोड़ देते हैं। ऐसी दशा में कुछ लोगों के पास धन तो अवश्य बढ़ जाता है, परन्तु उनका मन मलिन, चंचल एवं दुखी हो जाता है। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे पागल मानव! धन का व्यवहार शरीर तक है और शरीर क्षणभंगुर है। तू इसके लिए पाप मत कर! जीवन का गुजर तो थोड़े धन में ही हो जाता है, तू ज्यादा धन की लालसा करके पाप मत कर! "आधी औ रूखी भली, सारी सोग संताप। जो चाहेगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप।।"[1] अर्थात सद्‌गुरु कहते हैं "आधी और सूखी रोटी अच्छी है, पेटभर खाने की इच्छा होना तो शोक-संताप को निमंत्रण देना है, और यदि तू घी से चुपड़ी हुई रोटी चाहेगा तो बहुत पाप करेगा।" इसका मतलब यह नहीं है कि आधा पेट खाना ही अच्छा है और घी खाना पाप है। मतलब है कि थोड़े पदार्थों में गुजर करना अच्छा है, ज्यादा की लालसा दुखदायी है और यदि तुम बहुत ऐश्वर्य इकट्ठा करके भोग भोगना चाहोगे तो बहुत पाप करोगे। यह परम सत्य है कि ऐश्वर्य भोगने की लालसा वाला गलत काम करता है। मूल आवश्यकता से अधिक धन संग्रह ही होता है बहुतों का अधिकार छीनकर!

"ढोला फूटा बोला गया, कोइ न झाँके द्वार।" जहां जीव ने शरीर छोड़ा, यह बेकार हो जाता है। जब तक जीव शरीर में रहता है तब तक यह माता, पिता, गुरु, पुत्र, पत्नी, पति, भाई आदि के रूप में प्रिय करके माना जाता है और जब जीव देह से निकल जाता है तब देह को कोई माता-पिता, भाई-बंधु आदि नहीं कहता। तब लोग इसे कहते हैं कि भैया, मिट्टी पड़ी है। अब इसका अंत्येष्टि-संस्कार कर देना चाहिए, ज्यादा समय तक घर में मिट्टी पड़ी रहने देना अच्छा नहीं है, क्योंकि यह सड़ेगी, बदबू देगी। मृत शरीर का कोई मुख देखना नहीं चाहता, क्योंकि वह कुरूप एवं बुरा लगता है। यदि रात भर किसी लाश को रखाना पड़े तो कई लोग भाला-बल्लम एवं छूरी-कटारी लेकर उसे रखाते हैं। लोगों को भय रहता है कि कहीं वह प्रेत बनकर और उठकर चढ़ न बैठे। जिसे हम प्यार से अपने सीने से चिपका लेते थे, उससे ही जीव निकल जाने पर दूर से ही डरते हैं, घिनाते हैं और उसके सामने नहीं जाना चाहते। अन्त में जिस देह को ऐसी दयनीयदशा

---

१. साखी ग्रन्थ।

हो जाती है, उसका अहंकार करना कितना अविवेक है! शरीर का सही उपयोग तो परसेवा तथा स्वयं के संयम में है। जो व्यक्ति इस शरीर से दूसरे की सेवा और अपने मन-इंद्रियों का संयम कर लेता है उसी का शरीर सार्थक है; अन्यथा यह अन्त में मिट्टी है। अतः मनुष्य को चाहिए कि उसे धन, दौलत, शरीर, जो कुछ मिला है उससे दूसरे की सेवा कर ले और अपनी आत्मा को सारे बंधनों से छुड़ा ले। इसी में उसके जीवन की सार्थक्ता है।

विवेकवान ही उपासनीय है

कर बन्दगी विवेक की, भेष धरे सब कोय।
सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय॥२९४॥

शब्दार्थ—बन्दगी = सेवा, चाकरी, वंदना, आराधना, नमस्कार, प्रणाम।

भावार्थ—विवेकसंपन्न संतपुरुष की सेवा, आराधना एवं उपासना करो, साधु-वेष साधु-असाधु सब कोई धर सकता है। जो सारासार शब्दों का विवेक नहीं करता, उसकी सेवा-उपासना करने के चक्कर में मत पड़ो॥२९४॥

व्याख्या—कबीर साहेब केवल श्रद्धावादी नहीं हैं और केवल बुद्धिवादी भी नहीं हैं। वे श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक-पथ के पथिक हैं। वे साधु को श्रद्धेय मानते हैं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर। वे कहते हैं कि साधु-वेष तो कोई भी धर लेता है। क्या लगता है कपड़ा बदलने में! इसलिए केवल वेष देखकर मत भूलो, किन्तु जिसमें विवेकज्ञान हो और जो विवेकपूर्वक दिव्य रहनी में रहता हो, उसकी बन्दगी करो। यहां बन्दगी का अर्थ केवल दंडवत, नमस्कार आदि शिष्टाचार का पालन मात्र नहीं, किन्तु सेवा, आराधना एवं उपासना है। शिष्टाचार पालन के लिए तो किसी के भी बंदगी, दंडवत एवं नमस्कार आदि कर लिये जा सकते हैं। वेष मात्र देखकर भी हाथ जोड़ लेना बुरा नहीं है। "कर बन्दगी विवेक की" इस वाक्यांश का अर्थ है विवेकसंपन्न संत की सेवा करो। उन्हीं की आराधना एवं उपासना करो। उन्हीं से तुम्हें सत्प्रेरणा मिलेगी। सद्गुरु ने इस ग्रंथ में अन्यत्र भी कहा है—

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ साखी ३०९॥

तेहि साहेब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटि के होहु सनाथा। रमैनी ७५॥

जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ शब्द २९॥

"सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय।" जिस साधु-वेषधारी या मनुष्य में सारासार शब्दों का विवेक नहीं है, जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था की पहचान नहीं है, जिसे विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है, जो धर्म के नाम पर चलने वाली सभी बातों को आंखें मूंदकर मानने का आदी है, ऐसे पारखहीन एवं विवेकहीन की सेवा-उपासना करने से कैसे सच्चा बोध मिलेगा! अतएव ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए।

कर्म-फल-भोग सब को होता है

सुर नर मुनि औ देवता, सात द्वीप नौ खण्ड।
कहहिं कबीर सब भोगिया, देह धरे को दण्ड ॥२९५॥

शब्दार्थ—दण्ड = कर्म-फल-भोग।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि सुर, नर, मुनि और देवता तथा नौ खण्डों से युक्त सप्तद्वीपवती पृथ्वी पर रहने वाले समस्त देहधारी अपने कर्मों के फल अवश्यमेव भोगते हैं।।२९५।।

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं। उनकी दृष्टि में भावना का उपयोग विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जो दशा जहां नहीं है उसे वहां आरोपित कर अपने आप तथा समाज को धोखे में रखना विवेक विरुद्ध बात है, अतः ऐसा करने से मानव का अकल्याण है। संसार में भ्रम फैला है कि ऋषि-मुनि अजर-अमर हैं या उन्हें कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। वे जब जहां चाहें तब वहां प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। देवता लोग तो उनसे भी बलवान, कालजयी, अजर-अमर, सब जगह आने-जाने वाले तथा कर्म-फल-भोग से रहित होते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि सुर, नर, मुनि, देवता ये सब केवल नाम हैं। ये सब मनुष्य हैं। ये सब देह धरते हैं, अपने किये हुए कर्मों के फल भोगते हैं और अंततः कुछ दिनों में शरीर छोड़ देते हैं। ये सब अदृश्य होकर तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। जैसे तुम अपने कर्म-फल-भोक्ता हो, वैसे ये भी कर्म-फल-भोक्ता हैं।

कर्म-फल-भोग सबके लिए अकाट्य है। इसीलिए अपने कर्मों का सुधार करना मानव मात्र का कर्तव्य है। किसी देवी-देवता के सहारे बैठे रहना भूल है। इसके विषय में "आपन कर्म न मेटो जाई" इस ११०वें शब्द का मनन करना चाहिए।

मन की स्ववशता ही परमसुख है

जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं ॥२९६॥

शब्दार्थ—दिल पर दिल = मन की स्ववशता। सब सुख = शांति-सुख।

भावार्थ—जब तक मन अपने वश में नहीं होता, तब तक शांति-सुख नहीं मिलता और मन इसलिए वश में नहीं होता क्योंकि युगानुयुग से चली आती हुई जो नाना प्रकार की बातें सुन रखी हैं उनके संशय मन में बने हुए हैं।।२९६।।

व्याख्या—"जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सब सुख नाहिं।" यह बड़ी महत्त्वपूर्ण पंक्ति है। इस पंक्ति में 'दिल पर दिल' तथा 'सब सुख' जान है। दिल पर दिल होना बहुत बड़ी बात है। हमारा दिल बाहर न भटके, किन्तु अपने आप में ही रहे, यही तो जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। सुन्दर शरीर मिला, अनुकूल परिवार मिला, उच्च पद

मिला, बेशुमार प्रतिष्ठा मिली तथा संसार की और सारी चीजें मिलीं, परन्तु दिल पर दिल नहीं रहा, दिल चारों तरफ भटकता रहा तो क्या मिला! संसार की कोई उपलब्धि न हो, किन्तु दिल पर दिल हो, तो क्या पाना बाकी रहा!

मन में कुछ पाने की लालसा न हो, कुछ करने, कुछ भोगने एवं कुछ देखने की इच्छा न हो, सारी इच्छाएं बुझ जायं और मन उद्वेगरहित परम शांत हो जाय, यही दिल पर दिल का होना है। स्ववश मन वाला सब समय उद्वेगरहित होता है। उसके सामने चाहे जैसा उथल-पुथल आये, परन्तु वह सब समय शांत होता है। संसार में हमें जो कुछ उपलब्ध है वह सब नाशवान है, ऐसा समझकर वह पुरुष सब समय निश्चिंत रहता है।

सद्गुरु ने इस ग्रन्थ में कई जगह 'सब सुख' तथा 'सब दुख' कहा है। जैसे—"करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।"[१] तथा "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास।"[२] सब दुख है मानसिक उलझन और सब सुख है मानसिक शांति। सब जीव सुख चाहते हैं और शांति के बिना सुख नहीं मिलता। जब आदमी को उत्तम-उत्तम व्यंजन मिलते हैं तब उसे खाने का सुख मिलता है, इसी प्रकार पहनने का सुख, सवारी का सुख, पुत्रादि का सुख, घर-मकान का सुख, पद-प्रतिष्ठा का सुख या अन्य सुख मिलते हैं, परन्तु यदि मन शांत न हो तो वे सारे सुख निरर्थक लगते हैं। दुनिया की सारी चीजों से संपन्न मनुष्य मन की शांति के बिना घोर दुखी रहता है। इसलिए मन की पूर्ण शांति ही सब सुख है, और यह तभी मिलता है जब मन स्ववश हो। दिल पर दिल रहने से ही सब सुख मिलता है।

सद्गुरु कहते हैं कि इसमें रोड़े हैं पुराने संस्कार। "चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं।" यहां चारों युगन का अभिप्राय है बीते हुए सभी समय से। अनादिकाल से नाना लोगों ने नाना प्रकार की बातें कही हैं वह सब सुन-सुनकर मनुष्य का मन संशयग्रसित बना रहता है। जो पांचों विषयों की आसक्ति है वह तो है ही, मनुष्य की अपनी आत्मा से अलग उसका लक्ष्य बताना यह काफी भटकाव का कारण बना हुआ है। पुराकाल से नाना ग्रन्थों में नाना लोगों ने ऐसी-ऐसी बातें लिख रखी हैं जिन्हें पढ़-सुनकर मनुष्य का मन विचलित होता रहता है। जिससे उसे न स्वरूप का ठीक से ज्ञान होता है न स्वरूपस्थिति। नाना ग्रन्थों में ऐसी बातें बतायी गयी हैं कि मनुष्य का अपना लक्ष्य मोक्ष या परमात्मा उससे अलग कहीं दूर है। इसका परिणाम यह हुआ है कि धर्मक्षेत्र के अधिकतम लोग अपना लक्ष्य बाहर खोजते और भटकते हैं। परन्तु अपनी आत्मा को छोड़कर बाहर भटकने वाले को कभी शांति नहीं मिल सकती।

तुम शरीर नहीं जीव एवं चेतन हो

यन्त्र बजावत हौं सुना, टूटि गया सब तार।
यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार॥२९७॥

शब्दार्थ—यन्त्र = बाजा, शरीर। हौं = मैं। तार = नाड़ियां, मुख्यतः इडा, पिंगला तथा

---

१. रमैनी २३।

२. साखी २९८।

सुषुम्णा। बजावनहार = चेतन जीव।

भावार्थ—मैंने बजाने वाले द्वारा बाजा बजाते सुना, परन्तु एक दिन बाजा के सारे तार टूट गये और बजाने वाला चला गया, तो जड़ बाजा बेचारा क्या करे! अर्थात जीव देह का संचालन करता है, परन्तु जब इसकी नाड़ियां रुक जाती हैं और जीव देह को छोड़ देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है ॥२९७॥

व्याख्या—जीव और देह का भिन्न ज्ञान वास्तविकता का बोध है। जिन तत्त्वों से शरीर बना है वे निरे जड़ हैं। उन्हें हम चाहे मिट्टी, पानी, आग, हवा नामों से कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फासफोरस, रेडियम आदि नामों से कहें। वैज्ञानिकों ने भी पूर्ण अनुसंधान के बाद यह घोषणा की है कि जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है। प्रश्न होता है कि जब जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है तब शरीरधारियों में जो चेतना विद्यमान है वह किसका गुण है! इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। इसका उत्तर है अध्यात्म के पास। वस्तुतः चेतना एक स्वतन्त्र गुण है जिसके लिए एक स्वतंत्र द्रव्य चाहिए। क्योंकि बिना द्रव्य के गुण नहीं रहता। अतएव जीव ही वह द्रव्य है जिसका गुण चेतना है। जीव जड़ तत्त्वों से सर्वथा पृथक अनादि और नित्य वस्तु है। जीव असंख्य हैं, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु उन सभी का गुण एक चेतना एवं ज्ञान है। जो सब शरीरों में मैं-मैं कहता है या मानवेतर प्राणियों में न कहते हुए भी अपने 'मैंपन' का बोध करता है, वही जीव है। हर व्यक्ति का अपना वास्तविक स्वरूप जीव है। जीव ही इस शरीर-यन्त्र को बजाता है। वही हर इन्द्रिय का संचालन करता है। शरीर में हजारों नाड़ियां हैं, परन्तु मुख्य हैं इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। इनके टूट जाने पर जीव शरीर छोड़ देता है। अथवा जब जीव शरीर छोड़ने लगता है तब शरीर के सारे नाड़ीरूपी तार टूटने लगते हैं। जब जीव शरीर छोड़कर चल देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है। जीव के बिना शरीर बेचारा क्या कर सकता है! "यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार।" इस पंक्ति में यन्त्र के बेचारा विशेषण में असमर्थता की व्यंजना है। जब जीव शरीर छोड़ देता है तब शरीर बेचारा क्या कर सकता है!

लोग अज्ञानवश देहाभिमान करते हैं और अपने चेतनस्वरूप जीव को भूलकर जड़ देह ही को सब कुछ मानते हैं। परन्तु जब जीव निकल जाता है एवं मैंपन का बोध करने वाला चेतन-तत्त्व शरीर छोड़ देता है तब शरीर घंटों में दुर्गंध देने लगता है। विचार करके देखिये, शरीर तो पूरा बना है। उसकी सारी इंद्रियां बनी हैं, फिर वह क्यों सड़ रहा है? बात साफ है, उसमें एक ही परमतत्त्व जीव नहीं रह गया है। जीव के निकल जाने से शरीर अमंगल हो गया है। सारी चेतना, मैंपन, स्वच्छता एवं मंगलमयता जीव में ही निहित है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के अभिमान को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो। जीव व्यक्ति का मूल स्वरूप है। उसका गुण ज्ञान एवं चेतना है। वह अपना स्वरूप होने से आत्मा है। आत्मा का अर्थ ही होता है अपना। जब आत्मा मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाती है तब उसी को कहते हैं परमात्मा। वह सर्वश्रेष्ठ होने से उसे ही कह सकते हैं ब्रह्म। वह स्वयं अपना स्वामी है इसलिए उसे ईश्वर कहा जा सकता है। इस प्रकार यह जीव ही चेतन है, आत्मा है, परमात्मा है, ब्रह्म है तथा

ईश्वर है। इसके अलावा सब जड़तत्त्वों का पसारा है या मानसिक कल्पनाएं हैं। सारी मानसिक कल्पनाओं का जनक जीव ही है। इस संसार में जीव ही सर्वोच्च सत्ता है।

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि योगी लोग कान बंदकर शरीर रूप यन्त्र को बजाते हैं, अर्थात दस अनाहतनाद सुनते हैं और उसी को सारशब्द या ब्रह्मध्वनि मानकर उसी में अपनी स्थिति समझते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जब एक दिन शरीर के सारे तार टूट जायेंगे तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियां समाप्त हो जायंगी और जीव शरीर को छोड़कर चल देगा, तब दस अनाहतनाद कहां रह जायेंगे! यह सब देह के कार्य देह के साथ नष्ट हो जायेंगे। इसलिए इन नाशवान पदार्थों में न रमकर अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

निष्कामदशा ही गुरुत्व एवं कल्याण है

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥२९८॥

शब्दार्थ—सब सुख = निर्वासनात्मक जीवन्मुक्ति सुख, अनंत शांति।

भावार्थ—यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सब की आशा छोड़ दो और मेरे समान ही सब तरह से निष्काम हो जाओ, बस, सब सुख तुम्हारे पास है॥२९८॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे किसी को झूठा आश्वासन नहीं देते। उनकी बातें महंगी लग सकती हैं, परन्तु कल्याण भी उन्हीं से है। मानो किसी मुमुक्षु साधक एवं भक्त ने कबीर साहेब से कहा हो कि मैं आप को चाहता हूं, आपके साथ रहना चाहता हूं और आप से मिल जाना चाहता हूं। तो मानो कबीर साहेब ने उसे समझाया हो कि यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सब की आशा छोड़ दो और मेरे समान निष्काम हो जाओ, बस, सब सुख तुम्हारे पास होगा। कबीर साहेब यह नहीं कहते कि तुम मेरी शरण में आ जाओ, और बस मुक्त हो जाओगे या मेरा नाम जपो और मुक्त हो जाओगे। वे भावुकता में महिमा बढ़ाकर लोगों को भुलावे में डालना नहीं जानते। बल्कि वे सारे भुलावे को छिलके की तरह उतारकर फेंक देते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं कि शिष्य को गुरु में मिलकर मुक्त होना नहीं है। वे कहते हैं कि हर जीव स्वरूपतः गुरु ही है। जब कोई जीव गुरु की शरण में आता है तब गुरु उसके गुरुत्व को जगाता है। गुरु किसी को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। यहां समझने में असावधानी नहीं करना चाहिए। गुरु की शरण में जब कोई जिज्ञासु एवं मुमुक्षु आता है, तब वह स्वयं अपने आप को गुरु का शिष्य मानता है, परन्तु गुरु उसे उसके गुरुत्व एवं महिमामय स्वरूप का परिचय कराता है। गुरु मुमुक्षु को बताता है कि जो मैं हूं वही तू है। मैंने संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दी हैं, इसलिए मैं पूर्ण सुखी हो गया हूं। तू भी मेरे समान संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दे और तू भी पूर्ण सुखी हो जा। यदि तू चाहे कि यह सब काम गुरु जी ही कर दें, गुरु जी हमारे ऊपर

अपना शक्तिपात करके हमें एकदम कागा से हंस बना दें, तो यह तेरा भ्रम है। यह कोई गुरु नहीं कर सकता।

आध्यात्मिक जगत में 'शक्तिपात' का बहुत बड़ा भ्रम है। लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु शिष्य पर अपना शक्तिपात करके उसे आनन-फानन में कृतार्थ कर देता है, सारी शक्तियों से संपन्न कर देता है। लोग उदाहरण देते हैं कि श्री रामकृष्ण परमहंस विवेकानंद पर शक्तिपात कर उनको महान बना दिये थे। यह ठीक है कि योग्य गुरु की प्रेरणा योग्य शिष्य पर ज्यादा कारगर होती है। परन्तु गुरु केवल अपनी तरफ से किसी को बदल नहीं सकता जब तक बदलने वाला स्वयं श्रम न करे। श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद को ही क्यों ऐसा किया था! उनके अनेक शिष्य थे। वे उन सब पर शक्तिपात करके सब को विवेकानंद की तरह महान क्यों नहीं बना दिये! इस धारणा से तो विवेकानंद का अपना महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। उनमें मानो कुछ था ही नहीं। वस्तुतः विवेकानंद प्रतिभा के धनी और तेजस्वी आत्मा थे और वे योग्य गुरु पाकर उनकी प्रेरणा से आगे बढ़ गये। बस, इतनी ही बात है। गुरु सभी शिष्यों को समान प्रेरणा देता है, परन्तु जिस शिष्य में जितना बल होता है या कहना चाहिए कि जो जितना गुरु के वचनों पर ध्यान देता है वह उतना ही उससे प्रेरणा लेकर अपनी उन्नति करता है। बिना कुछ किये गुरु-द्वारा सब कुछ मिल जाय इस भावना के मूल में या गुरु की मिथ्या महिमा बढ़ाने के मूल में शक्तिपात की बात है। इसके अलावा शक्तिपात-जैसी कोई बात नहीं है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे कल्याणार्थी! यदि तू परम शांति, सब सुख, अनंतसुख, आत्यंतिक सुख, परमानंद तथा परमकल्याण चाहता है तो सब की आशा छोड़ दे, सब से निष्काम हो जा, बस तू जो चाहता है वही दशा हो जायगी। मनुष्य के मन में जो परम सुख की चाहना है वह चाहना छोड़ने से ही पूरी होगी।

किसी प्राणी-पदार्थ में आशाबद्ध होने के समान दुख नहीं है। यह जीव आशाबद्ध होकर अपना मन बाहर लगाये रखता है और उसके परिणाम में क्षण-क्षण अभाव का अनुभव करता है। संसार की समस्त वस्तुएं जीव से सर्वथा पृथक हैं। अतएव जीव का उनसे नित्य संबंध न होने से उनमें राग या उनकी आशा करने से अभाव का अनुभव होगा ही। यह अभाव का अनुभव पदार्थों के संयोग से नहीं मिट सकता, बल्कि रागजनित पदार्थों के संयोग में वियोगजनित भय ही अधिक खटकता है। इसलिए बाह्य वस्तुओं से मन हटा लेने से, उनकी आशा-वासना छोड़ देने से अभाव का दुख मिट जाता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर सद्गुरु ने कहा है कि यदि तुम परम शांति चाहते हो तो सब की आशा-वासना का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

साधु की वाणी विचारपूर्ण होती है

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं बिचार।
हतै पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥२९९॥

शब्दार्थ—हतै = मारता है।

भावार्थ—साधु का वेष पहन लेने से क्या होता है यदि विचारपूर्वक नहीं बोलता और अपनी जिह्वा में असत्य एवं कटु वचन की तलवार बांधकर दूसरे की अंतरात्मा को कष्ट देता है ॥२९९॥

व्याख्या—कितने लोग साधु का वेष तो पहन लेते हैं, परन्तु अपनी वाणी तक का संयम नहीं कर पाते। वे बिना विचार किये जो कुछ मन में आया धमके सिद्ध रहते हैं। मानव का यह सौभाग्य है कि उसे वाक्य-शक्ति प्राप्त है। अतएव उसे चाहिए कि वह उसका सदुपयोग करे। सदैव सत्य, मीठे और आवश्यक शब्द बोले। यह भी यथार्थ है कि सत्य ज्यादा मीठा नहीं होता, परन्तु जितना संभव हो उसे मीठा बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

सद्गुरु ने इस साखी में उस व्यक्ति की साधुता को व्यर्थ बताया है जो विचार करके नहीं बोलता। विचार शब्द बड़ा गंभीर है। केवल मीठे वचन विचारपूर्ण नहीं होते। कितने ही मीठे वचन झूठे होते हैं, केवल दूसरों को व्यर्थ खुश करने के लिए ही नहीं, ठगने के लिए भी होते हैं। धर्म के नाम पर, भगवान के नाम पर, मोक्ष के नाम पर नाना उपोद्घात एवं कहानियां बनाकर मीठे-मीठे वचनों में लोग मिथ्या बातें, भ्रांतिपूर्ण बातें कहते एवं केवल अपनी सनकी भावनाओं का पोषण करते हैं। कितने कथाकार अपने रोचक और मीठे वचनों से सभा को विमोहित करके उन्हें भावविह्वल कर रुला देते हैं, परन्तु देते हैं उन्हें ज्ञान की दिशा में भटकाव। जब तक सत्तर प्रतिशत असत्य न रहे तब तक लोग धार्मिक कथा एवं प्रवचन नहीं मानते। अधिकतम धार्मिक प्रवक्ताओं की वाणियां कारण-कार्य-व्यवस्था से रहित, विश्व के शाश्वत नियमों के विपरीत तथा प्रकृति के गुण-स्वभावों से अलग ही होती हैं। वे सुनने में मीठी होती हैं, परन्तु गुण में अज्ञानवर्द्धक, भटकावपूर्ण एवं उलझाने वाली होती हैं। कुछ साधु एवं गुरु नामधारी जानबूझकर समाज को अपने झूठे और मीठे वचनों में फंसाते हैं और कुछ लोग स्वयं पूरे भटके होते हैं इसलिए वे सच्चे दिल से झूठी धारणाओं को ही सत माने रहते हैं और उसे ही दूसरों के सामने पेश करते हैं। जो गुरु, साधु एवं पण्डित अपने भोलेपन में असत्य धारणाओं का प्रचार करते हैं वे स्वयं तो किसी हद तक क्षम्य हैं, परन्तु उपदेश तो उनके भी लोगों के लिए अहितकर ही हैं। किन्तु जो लोग जानबूझकर झूठी धारणाओं का प्रचार करते हैं वे किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं हो सकते। उनका प्रचार लोगों को भटकाने वाला तो होगा ही, प्रचार करने वाले का भी घोर पतन होगा। असत्य की तलवार बांधकर वे दूसरे की आत्मा की मानो हत्या करने में लगे हैं।

अतएव साधु का कर्तव्य है कि पोथी, परम्परा, गुरु, जनसमाज, प्राचीनता आदि किसी पक्ष में न पड़कर निष्पक्ष स्वतन्त्र चिन्तनपूर्ण सत्य वचन बोले, सच्चे ज्ञान का प्रकाश करे। वह अपनी वाणी से किसी की आत्मा के बन्धन होने वाले वचन न बोले।

मनुष्य की भूल

हंसा के घट भीतरे, बसै सरोवर खोट।
चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट ॥३००॥

शब्दार्थ—हंसा = मनुष्य। घट = अंतःकरण। सरोवर = मानंदी एवं मान्यतारूपी

जलाशय। खोट = बुराई। कोट = गढ़, किला।

भावार्थ—जैसे मानो हंस के मन में मानसरोवर छोड़कर गंदे तालाब में रहने की वासना हो जाय और वह उसी में रमने लगे, वैसे मनुष्य ने अपने अंतःकरण में बुरी मान्यताओं का मैला जलाशय बना लिया है, अर्थात वह अपने मौलिक स्वच्छ विचारों से हटकर गंदे विचारों में रमने लगा है। यह जहां झोपड़ों का गांव नहीं बस सकता वहां किला उठाने चला है, अर्थात असंभव कल्पनाएं करता है॥३००॥

व्याख्या—मनुष्य मूलतः हंस है। वह सारासार का विवेचन कर सकता है। मनुष्य का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन है। चेतन ही उसका अहम है। परन्तु इसने अपने आप को भूलकर मन को सांसारिक विषयों में रमा रखा है। सांसारिक विषयों में रमने के कारण इसने अपने मन में राग, द्वेष, कलह, कल्पना तथा अनेक भास-अध्यास बना रखा है। इसलिए इसका मनरूपी मानसरोवर मैला हो गया है। इसके हृदय में खोटा सरोवर बसने लगा है। सद्गुरु की कैसी अद्‌भुत उक्ति है। वे कहते हैं कि हंस तो गहरे, स्वच्छ तथा विशाल मानसरोवर में रहता है; परन्तु वह अपने हंसत्व को भूल गया और उसके मन में खोटा सरोवर बसने लगा। इसका मतलब है कि उसके मन में ऐसा अज्ञान बस गया कि मैं मैले सरोवर में रहूं। इसलिए वह गंदे तालाब में रहने लगा। कबीर साहेब ने एक पद में कहा है "हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।" जब हंस स्वच्छ एवं विशाल मानसरोवर पा जाता है तब वह ताल-तलैया, गंदे एवं तुच्छ जलाशय में क्यों भटकेगा! परन्तु यहां तो हंस अपने हंसत्व को ही भूल गया है। उसे मानसरोवर की याद ही नहीं रह गयी। उसने तो गंदे गड्ढे को ही अपना निवासस्थल समझ लिया है और उसी मलिनता में रहने लगा है।

इस चेतन हंस की यही दशा हो गयी है। यह अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गया है। शील, करुणा, सत्य, क्षमा, अहिंसा, दया, भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादि संबलित जो विशाल और स्वच्छ चित्त का जलाशय एवं मानसरोवर है उसे यह भूल गया है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार, चिंता, शोक, विकलता आदि कूड़े-कचड़े से भरे तुच्छ एवं गंदे मन के गड्ढे में लोटपोट रहा है। हंस गंदे गड्ढे में रहने को सोचे, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है। गंदे गड्ढे में तो बगला रहता है। हंस तो मानसरोवर में रहता है। परन्तु जब हंस अपने आपा को ही भूल गया है तब वह अपने निवास को भी भूल गया। जब जीव अपने स्वरूप को भूल गया तब वह अपनी स्वच्छ रहनी एवं उच्च स्थिति को भी भूलकर गंदी चाल में चलने लगा।

"चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट।" जहां झोपड़ों का गांव न बन सके, वहां किला उठाने की चेष्टा दुस्साहस मात्र है। इस पंक्ति में असंभव के प्रति व्यंजना है। यह गंदा एवं उलझा मन ही असंभव को संभव बनाने की चेष्टा में लगा रहता है। बूढ़ा जवानी की कल्पना करता है। कुरूप सुरूप की, निर्धन धन की, धनी अधिक धन की कल्पना करता है। अपनी आत्मा से अलग किसी दिव्यधाम तथा पूर्णानंद भगवान को पाने की कल्पना करता है। इन सब के मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जीव अपने पूर्णकाम, पूर्णतृप्त स्वरूप को न समझकर कुछ-का-कुछ सोचता है। वह निराधार मन के

किले बनाता है। शेखचिल्ली की कहानियां मन की कल्पनाओं के ही प्रतीक हैं। यह अविवेकी मन जहां गांव भी नहीं, वहां किला एवं राज़भवन की कल्पना करता है। यह मन की गंदगी का ही परिणाम है। "जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी" मन का अविवेक ही है। जहां अपना कुछ नहीं है वहां वह अपना सब कुछ मान रहा है। इस संसार में अपना क्या है! फिर भी यहां का अहंकार कितना है! वर्तमान में न रहकर भूत-भविष्य की कल्पनाओं एवं भावनाओं में ऊबना-डूबना और अपने सहज चेतनस्वरूप की स्थिति में न रहकर मन के लड्डू खाते रहना, "चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट" उक्ति ही चरितार्थ करना है।

मीठे और कटुवचनों का प्रभाव

मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर।
श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर॥३०१॥

शब्दार्थ—संचरे = प्रवेश करता है।

भावार्थ—मीठे वचन दुख दूर करने की औषध हैं; परन्तु तीखे वचन बाण के समान हैं, जो श्रवण-द्वार से प्रवेश करते हैं और सारे शरीर को पीड़ा पहुंचाते हैं॥३०१॥

व्याख्या—मीठे वचन पशु को भी पसन्द होते हैं, फिर मनुष्य के लिए तो कहना ही क्या! टूटा हुआ दिल भी मीठे वचनों से जुड़ जाता है। कड़वा सत्य उत्तम अधिकारी ही ग्रहण करते हैं, किन्तु मीठा सत्य सबके लिए उपादेय होता है। कई परिवार में आपस की फूट का कारण कड़वे वचन होते हैं। यादवों में द्वारका के संसद भवन में बड़े कड़वे वचनों की बौछार होती थी। उसका परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण-जैसे राजनीति-कुशल पुरुष भी यादव-वंश को न सम्हाल सके और उसका पूर्णतया विध्वंस हो गया। देवर्षि नारद ने श्रीकृष्ण[१] को सलाह दी थी कि आप अपने परिवार वालों को वश में करने के लिए अनायस शस्त्र का प्रयोग कीजिये। आयस कहते हैं लोहे को तथा अनायस कहते हैं जो लोहे से न बना हो वह शस्त्र, इसका लाक्षणिक अर्थ है मीठे वचन। घाव लगने पर जैसे उस पर मरहम लगाने से वह अच्छा होता है, वैसे दुखी दिल वाले के लिए मीठे वचन उसके लिए औषध बन जाते हैं। मीठे वचन सबको सुखप्रद लगते हैं।

कटुवचन तीर के समान होते हैं जो कान से प्रवेशकर हृदय में चले जाते हैं और सारे शरीर को पीड़ित करते हैं। अतएव जितना बन सके कटुवचन बोलने से दूर रहना चाहिए। हमें कटुवचन सहना चाहिए। सत्य कटु होता है, परन्तु कल्याण उसी से है। वाणी-सुधार के विषय में ७०वीं रमैनी "बोलना कासो बोलिये रे भाई" की व्याख्या देखना चाहिए।

---

१. श्रीकृष्ण को नारद की सलाह का यह प्रसंग पीछे "हद चले सो मानवा" १८९वीं साखी की व्याख्या में देखें।

हठयोग-समीक्षा

ढाढस देखो मरजीव को, धाय जुरि पैठि पताल।
जीव अटक मानै नहीं, ले गहि निकरा लाल॥३०२॥

शब्दार्थ—ढाढस = ढाड़स, धैर्य। मरजीव = मरजिया, पानी में डूबकर चीजें निकालने वाला, गोताखोर, तात्पर्य में हठयोगी। अटक = रुकावट, अड़चन।

भावार्थ—मरजिया का धैर्य तो देखो! वह दौड़कर समुद्र में घुसा और तली में पहुंच गया। वह किसी अड़चन की परवाह किये बिना समुद्र से मोती लेकर ही निकला। तात्पर्य है कि हठयोगी लोग जोखिम उठाकर भी हठयोग की साधना करते हैं और उसका अनुभव लेकर निकलते हैं॥३०२॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपनी बहुत-सी बातें अलंकारों में ही कहते हैं। यहां अन्योक्ति अलंकार में हठयोगियों के साहस का वर्णन है। यहां योगी के लिए मरजिया शब्द का प्रयोग किया गया है। मरजिया समुद्र की तली में प्रवेशकर मोती या अन्य वस्तुएं निकालता है। मरजिया जीने-मरने की चिंता छोड़कर समुद्र में कूदता है और मोती लेकर ही निकलता है। हठयोगियों की दशा यही है। वे कुण्डलिनी प्रदीप्त करने तथा षटचक्रवेधन आदि के नाम से बहुत अथक प्रयत्न करते हैं और शब्द, ज्योति, शून्य आदि जड़भास को ही अनुभव के मोती मानकर उसे लेकर समाधि से निकलते हैं। "ले गहि निकरा लाल" हठयोगियों पर व्यंग्य है। जिसे हठयोगी लाल तथा हीरे के समान बहुमूल्य मानते हैं उसे कबीर साहेब चुनौती देते हैं कि उसकी परख कर लो। वह तुम्हारे मन का भास-अध्यास है।

कबीर साहेब राजयोग का विषय मानते हैं। अर्थात सारे संकल्पों को छोड़कर स्वस्वरूप चेतन मात्र की स्थितिरूपी योग उनको मान्य है। परन्तु नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके, बहुत दिनों तक श्वास साधकर षटचक्रवेधन आदि करना और ज्योति, नाद, बिंदु, शब्द, शून्य आदि को अनुभवतत्त्व मानकर जड़भास में टिक जाना उचित नहीं समझते। हठयोग में मेहनत बहुत है और लाभ कम है और आगे चलकर तो जड़-भास को ही लक्ष्य मान लेने के कारण केवल हानि ही है। इसमें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति न होकर योग के नाम पर अंततः जड़ाध्यास ही ग्रहण होता है।

ई जग तो जहँड़े गया, भया योग ना भोग।
तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग॥३०३॥

शब्दार्थ—जहँड़े गया = ठगा गये। तिल = एक प्रसिद्ध तेलहन, तात्पर्य में सार तत्त्व, जीव। तिलैठी = तिल के डंठल, तात्पर्य में शरीर।

भावार्थ—इस संसार के लोग तो माया में ठगा जाते हैं। वे सच्चा योग कर नहीं पाते हैं और भोग नाशवान होने से उनमें सफल हो ही नहीं सकते। सद्गुरु कहते हैं कि सावधान लोग तो तिल झाड़ लेते हैं और भोले लोग उसके डंठल को ही महत्वपूर्ण मानकर उसी में उलझे रहते हैं, अर्थात विवेकवान निजस्वरूप चेतन की स्थिति करते हैं और विवेकहीन शरीर के भोगों में लगे रहते हैं॥३०३॥

व्याख्या—संसार के लोग धोखे में जीवन गवां देते हैं। वे माया-ठगिनी से ठगा जाते हैं। वे न सच्चा योग करते हैं और न भोग कर पाते हैं। अधिकतम लोग तो सच्चा या कच्चा किसी प्रकार का भी योग नहीं कर पाते। हठयोग कच्चा योग है और राजयोग, अर्थात चित्त का निरोध करके निजस्वरूप की स्थिति सच्चा योग है। वे हर प्रकार से योग से दूर ही रहते हैं। कुछ लोग योग करते भी हैं तो वे दिखावे में पड़कर हठयोग साधने लगते हैं। वे नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करते हैं। श्वासा की साधना करते हैं। जमीन के भीतर गुफा खोदकर उसमें समाधि लगाते हैं। शहर, मेला, बाजार में समाधि लगाते हैं। यह सब भी प्रकारांतर से माया में उलझने के ही लक्षण हैं। सच्चा योग, जिसके लक्षण हैं चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वस्वरूप चेतन में स्थित होना, अर्थात कुछ भी स्मरण न करना, मात्र स्वरूपस्थ रहना। इससे तो आदमी दूर ही रहते हैं। पहली बात है कि अधिकतम लोगों को इसका ज्ञान ही नहीं है। जो इसे जानते हैं, उनमें भी अधिक लोग कर नहीं पाते। न कर पाने का कारण प्रपंचासक्ति है। इस प्रकार आदमी योग से दूर रहता है।

अब जरा भोग पर विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि लोग भोग भी नहीं कर पाते। सद्गुरु ने बारहवें कहरा में कहा है "माया किनहुँ न भोगी हो" अर्थात कोई भी माया का भोग नहीं कर पाता, किन्तु मायाद्वारा मनुष्य ही भोग लिया जाता है। भर्तृहरि जी ने भी कहा है "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता" हम भोग को नहीं भोग पाये किन्तु भोगों ने ही हमें भोग लिया। भोग अपूर्ण हैं, नाशवान हैं, जिन प्राणियों से भोगों का सम्पादन होता है वे अपने इच्छानुसार चलने वाले स्वतंत्र हैं, और जिन देह तथा इंद्रियों से भोग भोगे जाते हैं वे दुर्बल तथा शिथिल होने वाले और क्षणभंगुर हैं। इसलिए इच्छानुसार भोगों का भोगा जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए था कि वह योग-द्वारा चित्त का निरोधकर अपने स्वरूप में स्थित होता, परन्तु वह भोगों के लोभ में पड़कर यह कर नहीं पाता, और अंततः भोग तो इच्छानुसार भोगा जाना संभव ही नहीं होता। इस प्रकार जीव दोनों तरफ से धोखा खाकर ठगा जाता है। निश्चित को वह स्वयं छोड़ देता है और अनिश्चित तो छुटा-छुटाया ही है।

"तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग।" कबीर साहेब कहते हैं कि समझदार लोग सार-सत्य का ग्रहण करते हैं और बेसमझ लोग असार में पड़े रहते हैं। देहाभिमान छोड़कर अपने चेतनस्वरूप को समझना तथा निजस्वरूप में ही स्थित होना यही सार-सत्य को ग्रहण करना है; भूले जीव स्वरूपज्ञान छोड़कर देहाभिमानी बने इंद्रिय-भोगों को ही सार समझते हैं। समझदार तिल झाड़ लेते हैं, परतु बेसमझ सारहीन डंठल झाड़ते हैं। ज्ञानी आत्म-शोधन और आत्म-स्थिति कर लेते हैं और अज्ञानी देह को ही झाड़ने-पोछने में लगे रहते हैं। ज्ञानी स्वरूपस्थिति का अमृत-रस पीता है और अज्ञानी मलिन विषयों के रस में डूबकर जीवन को व्यर्थ ही नहीं खोता, किन्तु उसे पतित करके अपने लिए भव-बंधन बना लेता है।

ये मरजीवा अम्मृत पीवा, क्या धँसि मरसि पतार।
गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार॥३०४॥

शब्दार्थ—अम्मृत = अमृत, अमर स्वरूप का बोध। पतार = पाताल, नाभि या कुंडलिनी, हठयोग की गहराई। यहि द्वार = विवेक-पथ।

भावार्थ—हे हठयोग के गोताखोर! अविनाशी चेतनस्वरूप का बोध प्राप्त कर! तू हठयोग की गहराई में धंसकर एवं कुंडलिनी-प्रदीपन के भ्रम में पड़कर क्या कर रहा है! सद्गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश और साधु की संगत में लगकर इस विवेक-पथ में निकल आ! ॥३०४॥

व्याख्या—हठयोगी लोग अपनी जीभ को उलटाकर उस विकारीजल को पीते हैं जो मूर्द्धा से टपकता है। वे उसे अमृत कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे हठयोगी, वह विकारीजल अमृत नहीं है। अमृत तो अमर को कहते हैं। मृत में अ उपसर्ग लगाने से अमृत शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है चेतन एवं अमर। मृत कहते हैं निर्जीव एवं जड़ को तथा जो मरकर समाप्त हो गया हो, और अमृत कहते हैं जो चेतन एवं अमर हो। अतएव मनुष्य का चेतनस्वरूप ही अमृत है। उसका बोध प्राप्त करना मानो अमृत पीना है। या सारे विचारों तथा संकल्पों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना मानो अमृत पीना है। सद्गुरु कहते हैं कि किसी प्रकार का जड़ाध्यास क्यों अपनाते हो! अमृत पीयो, अविनाशी स्वरूप में स्थित होओ!

कबीर साहेब कहते हैं कि हठयोग की गहराई में धंसकर मत मरो। कुण्डलिनी के भ्रम में मत पड़ो। यह केवल एक शब्दजाल है। यदि आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़कर जीवन में परम शांति की प्राप्ति अभीष्ट है तो विनम्र होकर सच्चे सद्गुरु की खोज करो और उन्हें पाकर विनम्रतापूर्वक उनकी शरण में जाओ। उनकी सेवा तथा आज्ञा पालन करके उनसे अपने स्वरूप के विषय में सच्ची जानकारी प्राप्त करो। उनका सत्योपदेश ही उनकी तुम्हारे ऊपर दया एवं कृपा है। पूर्ण सद्गुरु के सत्योपदेश तथा साहचर्य जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए परम कल्याणकारी है। इसके साथ-साथ विवेक-वैराग्यसंपन्न संतों की संगत करो। उनकी संगत से तुम्हें आध्यात्मिक दिशा में बढ़ने के लिए मनोबल मिलेगा।

इस प्रकार सद्गुरु एवं संतों के सत्योपदेश तथा संगत से तुम्हें विवेकबल मिलेगा, फिर तुम इस विवेक-द्वार पर निकल आओगे। "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।" यह एक सहज-मार्ग का प्रकाश है। इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर के सहज-मार्ग का चित्रण है। वे कहते हैं गुरु के उपदेशों के अनुसार चलो। संतों की संगत से तुम्हारी आध्यात्मिक यात्रा सरल होगी!

तुच्छ वस्तु की चिन्ता क्यों?

केतेहि बुन्द हलफो गये, केते गये बिगोय।
एक बुन्द के कारणे, मानुष काहेक रोय॥३०५॥

शब्दार्थ—हलफो गये = सही हो गये। हलफा = लहर, ऊंची तरंग, तेज सांस।

भावार्थ—वीर्य की कितनी ही बूंदें नारी के गर्भाशय में जाकर सही हो जाती हैं और उनसे गर्भ टिक जाते हैं और कितनी बूंदें यों ही नष्ट हो जाती हैं। तेरे पुत्र का शरीर भी

तो तेरे वीर्य की एक बूंद था, फिर हे मनुष्य! उसके मर जाने पर तू क्यों रोता है! ||३०५||

व्याख्या—मानो किसी व्यक्ति का पुत्र मर गया हो और वह उसके लिए रो-रोकर व्याकुल होता हो। सद्‌गुरु ने उसकी दशा देखकर उससे उक्त वचन कहे हों। 'हलफ' अरबी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है शपथ एवं कसम। सत्य की प्रामाणिकता के लिए शपथ ली जाती है। अतएव हलफ का प्रकारांतर से अर्थ है सत्य एवं सही। सद्‌गुरु ने उस पुत्र-वियोग से पीड़ित व्यक्ति को संबोधित कर कहा—हे मनुष्य! तेरे वीर्य की एक बूंद सही होकर उससे गर्भ रह गया, बच्चा हो गया, शेष तो अधिकतम बूंदें बेकार ही हो गयीं। तेरे बच्चे का शरीर भी तेरे वीर्य की एक बूंद था। वह यदि नहीं रह गया तो क्यों नहीं समझ लेता कि एक बूंद और मानो निरर्थक हो गयी।

यदि हम हलफो को हलफा पढ़ें तो उसके अर्थ लहर, ऊंची तरंग आदि हैं। इससे अभिप्राय होगा, कि हे मानव! तूने वीर्य की कितनी ही बूंदें मन की तरंगों में खो दीं और कितनी यों ही नष्ट हो गयीं, फिर एक बूंद वीर्य रूपी शरीर के लिए क्या रोता है!

किसी वस्तु के मूल्यांकन के कई दृष्टिकोण होते हैं। एक शरीर के अध्ययन करने के अनेकों पहलू हैं। शरीर के सौंदर्य का अध्ययन, अंगों का अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन आदि। विवेकसंपन्न होने से इस शरीर की महत्ता का अध्ययन तथा यह एक बूंद वीर्य का ही तो विस्तार है इस प्रकार विचार कर इसकी तुच्छता का अध्ययन, सभी अध्ययन अपनी-अपनी जगह पर ठीक होते हैं। सारे अध्ययनों की अपनी आवश्यकता है। यहां पुत्र-वियोग में कोई पीड़ित है। उसके मन के मोह को तोड़ने के लिए शरीर की तुच्छता का अध्ययन आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से बात कही गयी है एकदम तथ्य है। यह शरीर क्या है, वीर्य की एक बूंद ही तो! यदि पुत्र मर गया तो क्या हो गया, मानो वीर्य की एक बूंद नष्ट हो गयी। फिर उसके लिए क्या रोना-धोना!

मानो कोई अपने शरीर के निर्वाह के लिए रो रहा है, तो यह भी अविवेक ही है। क्या वीर्य की इस एक बूंद का निर्वाह नहीं हो जायेगा! हर प्राणी खाते-जीते हैं तो क्या हमारे इस तुच्छ शरीर का निर्वाह नहीं हो जायेगा! संसार के अधिकतम मनुष्य जीवनभर यही सोचते रहते हैं कि गुजर कैसे होगा, लड़की की शादी कैसे होगी, घर कैसे बनेगा, रोग तथा बुढ़ापा में सेवा कौन करेगा इत्यादि। कितने लोग तो इस चिंता में रहते हैं कि मेरे मर जाने के बाद मेरी लाश की अंत्येष्टि कौन करेगा! यह सब केवल पागलपन है। अनादिकाल से जितने प्राणी पैदा हुए हैं उन सबका देह-निर्वाह हुआ है। सभी की लड़कियों की शादी हुई है। सब किसी-न-किसी प्रकार छानी और छत के नीचे वर्षा-गरमी-ठंडी काटते हैं। सबकी रोग लग जाने पर किसी-न-किसी प्रकार औषध हो जाती है। धनी आदमी के जुकाम लगने पर भी पांच हजार रुपये खर्च हो सकते हैं तथा गरीब के बुखार में खरखोदवा दवाई से भी वह दूर हो जाता है। यदि दवा के अभाव में गरीबों को तकलीफ होती है तो कीमती दवा करते-करते भी धनी लोग सड़ते रहते हैं। कौन बूढ़ा दूसरे से सेवा लेने के लिए शताब्दियों बैठा रहता है! सबको सेवा की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। कितने लोगों का चलते-फिरते शरीर छूट जाता है। जब जिसको सेवा की

आवश्यकता पड़ेगी, उसको सेवा अपने आप मिल जायेगी! मेरे मर जाने पर मेरी लाश कौन उठायेगा, कौन उसकी अंत्येष्टि करेगा, यह तो महा पागलपन है। अरे, जिसे दुर्गन्ध आयेगी वही लाश को उठाकर कहीं ठिकाने लगा देगा। अन्यथा वहीं उसे चील्ह-गिद्ध, सियार-कुत्ते खा लेंगे। मेरा उसमें क्या जायेगा! चिन्ता का मूल ही है अविवेक!

आगि जो लागि समुद्र में, टूटि टूटि खसे झोल।
रोवै कबिरा डँफिया, मोर हीरा जरे अमोल॥३०६॥

शब्दार्थ—समुद्र = संसार। खसे = गिरना। झोल = राख। डँफिया = डंफिया, डंफना, जोर से चिल्लाकर एवं फूट-फूटकर रोना, विलाप करना।

भावार्थ—संसार-समुद्र में काल की आग लगी है और प्राणी-पदार्थ जल-जलकर तथा उनकी राख टूट-टूटकर गिरती है और संसार के लोग यह कहकर रोते-पीटते हैं कि मेरे अनमोल हीरे जल रहे हैं, अर्थात मेरे पुत्र, मित्र एवं निकट संबंधी नहीं रहे॥३०६॥

व्याख्या—उलटवांसी कहने में प्रवीण कबीर पदे-पदे उलटवांसी कहते हैं। वे इस साखी में कहते हैं कि समुद्र में आग लगी है और वहां का सब कुछ जल रहा है। इसलिए सर्वत्र राख टूट-टूटकर गिर रही है। यह संसार मानो समुद्र है। इसमें काल की आग लगी है। हर वस्तु को काल निरन्तर क्षीण कर रहा है। हम जब मकान बनाते हैं और उसे पूरा करके तथा रंग-पोतकर ठीक करते हैं, तब कहते हैं कि यह मकान नया है। परन्तु उस मकान में हर समय परिवर्तन हो रहा है और वह पुराना हो रहा है। संसार के हर भौतिक पदार्थ में निरन्तर रासायनिक परिवर्तन होता रहता है। अर्थात हर पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता रहता है। इसी प्रकार प्राणियों के शरीरों की बात है। प्राणियों के शरीर हर समय बदलते हैं। आदमी समझता है कि मेरा बच्चा बड़ा हो रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह क्षण-क्षण घट रहा है।

जैसे मकान, लकड़ी, पुवाल आदि में जब आग लगती है तब उनके जलने पर उनमें से राख टूट-टूटकर गिरती है, वैसे प्राणियों के शरीरों की दशा है। वे मानो काल की आग में निरन्तर जलते हैं और क्षीण होते हैं। एक दिन प्राण निकल जाने पर उनके शरीर आग में जल जाते हैं। आदमी स्वजनों के मरने पर फूट-फूटकर रोता है। वह कहता है कि मेरा अनमोल हीरा पुत्र नहीं रहा, मेरा मित्र, मेरी पत्नी, मेरे प्यारे स्वजन नहीं रहे। विवेकहीन मनुष्य इन सपनों में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के वियोग को लेकर विकल होता है, विलाप करता है और उनके शोक में जलता है। हम विचारकर देखें कि यहां कौन किसका है! माता, पिता, पुत्र, पत्नी, मित्र, गुरु, शिष्य आदि सब इकट्ठे हो जाते हैं तो लगता है कि यह सब सत्य है, यह सब इसी प्रकार नित्य बना रहेगा। परन्तु इनके बिगड़ने में देरी नहीं लगती। हम जिसको बड़े प्यार से हृदय से लगाते थे वह क्षण ही में हम से सदा के लिए विदा हो जाता है। "दिल में जो दिल बनके धड़के, गये तो न देखा जरा मुड़के।" आश्रयदाता श्रद्धेय पिता बिस्तर पर लेटे ही थे कि एक हुचकी आयी और संसार से विदा हो गये। पुत्र सड़क के एक्सीडेंट में क्षण ही में नहीं रहा। पत्नी रेलवे लाइन पार कर रही थी कि गाड़ी आ गयी और उसने ऐसा रौंद दिया कि वह पहचानी न जा सकी। हमारे

माने हुए साथी एक-एक कर उठ जाते हैं और हम अकेले रह जाते हैं। एक दिन हम भी स्वजनों को रोते-पीटते छोड़कर बेदर्द की तरह यहां से चले जाते हैं।

यह संसार एक सरायखाना है, पथशाला है। यहां कोई रुक नहीं सकता। यहां रुकने का नियम ही नहीं है। फिर कोई चला गया तो डंफना क्यों! रोना-धोना क्यों! यह तो केवल अविवेक है। प्रकृति के नियम को कौन नहीं जानता कि शरीरधारी को शरीर छोड़ना है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद सबने शरीर छोड़ा है। हमारे माने गये स्वजन कब तक बैठे रहेंगे! अतएव इस संसार में मोह-शोक से रहित होकर जीना ही समझदारी का काम है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अज्ञान की आग लगी है। इसमें सब जीव रात-दिन जल रहे हैं। कबीर फूट-फूटकर रोते हैं और कहते हैं हाय, मेरे अनमोल हीरे-जीव अज्ञान में जल रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जीवों को अज्ञान में जलते देखकर दुखी होते हैं। वे सभी जीवों को सजाति समझकर उनके प्रति करुणाशील होते हैं। वे सबका कल्याण चाहते हैं। इसलिए वे उनके दुखों को देखकर करुणाविगलित हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि संसार के लोग अज्ञान की आग से अपने आप को बचायें।

लोगों की जड़ता

छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।
कहहिं कबीर सबखलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी ॥३०७॥

शब्दार्थ—छौ दर्शन = योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण; तात्पर्य में समस्त धार्मिक मत। परवाना = प्रमाणित, सत्य-मान्य। बनवारी = बनावटी वाणी, वनमाली —वन के फूलों की माला पहनने वाला, तात्पर्य में परमप्रिय। खलक = ख़लक़, जीवसमष्टि, लोकसमूह, संसार के लोग। सयाना = समझदार। अनारी = अनाड़ी, अज्ञानी।

भावार्थ—नाना धार्मिक मतों-द्वारा जो कुछ सत्य करके मान लिया गया है उसके नाम पर ही नाना कल्पित वाणियां बनी हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि इनके मानने वाले संसार के लोग ही ज्ञानी हैं, बल्कि मैं ही अनाड़ी हूं॥३०७॥

व्याख्या—इस साखी की प्रथम पंक्ति में समस्त धार्मिक मतों की भ्रममान्यताओं के लिए व्यंजना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक मतों में अच्छाइयां तथा सच्चाइयां नहीं हैं। एक चोर तथा डाकू के विचारों में भी कुछ-न-कुछ सच्चाई होती है, फिर जो धार्मिक मत संसार के कुछ लोगों को कुछ सन्तोष देते हैं, उनमें कुछ सच्चाई क्यों नहीं होगी! सत्य तथा सदाचार की बातें चोर भी करते हैं। यह आज भी देखा जा सकता है कि जो धर्म के नाम पर धूर्ताई करते हैं वे भी समाज को सदाचार की शिक्षा देते हैं। यही तो उनको अपनी बुराई छिपाने का कवच होता है। भूत-प्रेत, देवी-देवता, तंत्र-मंत्र-यंत्र, ग्रह-लग्न-मुहूर्त, अवतारवाद, पैगम्बरवाद, अपनी पुस्तकों को इलहामी एवं तथाकथित ईश्वरीय मानना, अपने मत को सत्य का एकाधिकारी मानना, स्वर्ग-नरक की कल्पनाएं,

अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य मानना आदि सब भ्रांत एवं कल्पित मान्यताएं हैं। जिन मतों में जो अंश सही है वह तो परम आदरणीय है, परन्तु जो मान्यताएं भ्रांत हैं वे चाहे जान-बूझकर एवं धूर्ततापूर्वक हों और चाहे अनजाने में भोलेपन से हों, मनुष्य के लिए अहितकर हैं। परन्तु उन्हें सत्य मानकर उन मतों-द्वारा उनके समर्थन में नाना ग्रन्थ बने हैं। बड़ी-बड़ी गद्दियों पर उन्हीं के व्याख्यान हो रहे हैं।

कोई कहता है हमारा पूज्य सुप्रीम पावर एवं परमात्मा का अवतार है, कोई कहता है हमारा पूज्य ईश्वर का संदेशवाहक है, कोई कहता है कि हमारा पूज्य ईश्वर का पुत्र है, कोई कहता है हमारा पूज्य स्वयं भगवान है, कोई कहता है हमारी किताब ईश्वर की वाणी है, कोई कहता है हम आस्तिक हैं शेष सब नास्तिक हैं, कोई कहता है हमारा मत दीन है और सब बे-दीन एवं काफिर हैं, कोई कहता है हमारा मार्ग पवित्र, शेष का अपवित्र है। नाना मत के लोग सत्य तथा ईश्वर के ठेकेदार बनकर अन्य को तुच्छ समझते हैं, परन्तु वे अनेक ऐसी बातें करते हैं जो कारण-कार्य-व्यवस्था से दूर, विश्व के शाश्वत नियमों से अलग तथा प्रकृति के गुण-धर्मों से परे चमत्कार, अंधविश्वास एवं बिना सिर-पैर की हैं। धर्म का नाम लेकर सारी झुठाइयां की जाती हैं। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि छह दर्शनों एवं समस्त धार्मिक मतों में जो कुछ प्रामाणिक एवं सत्य मान लिया गया है, उसके नाम पर नाना वाणियां बन गयी हैं, और उन मतों के लोग उन वाणियों को ही परम सत्य करके मान लिये हैं चाहे उनमें हजारों नकली बातें हों।

"छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी" इस पंक्ति का ऊपर सरल अर्थ किया गया। इस पंक्ति में "बनवारी" महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसका अर्थ बनावटी या कृत्रिम वाणी किया गया है। वाणियां तो सभी बनावटी होती हैं। यहां बनावटी का अर्थ है बनावटी कथ्य, जो कुछ कहा गया हो, वह काल्पनिक हो। बनवारी के प्रचलित अर्थ का शुद्ध शब्द है 'वनमाली'। इसका अर्थ होता है वन के फूलों की माला पहनने वाला। कृष्ण में रूढ़ होने से वनमाली का अर्थ कृष्ण प्रचलित है, परन्तु इस साखी के बनवारी से कृष्ण का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि छहों दर्शन एवं सभी मतों में कृष्ण मान्य नहीं हैं। यहां बनवारी का अर्थ वन-माला धारण करने वाला माना जाय तो लक्षणा अर्थ में परम प्यारा कर सकते हैं। अर्थात छह दर्शनों में एवं समस्त धार्मिक मतों में जो सत्य माने गये उसी के नाम उनके लिए परम प्यारे हो गये। जो जिसे प्रिय हो जाता है उसमें चाहे कितना ही भ्रम एवं असत्य हो, वे उसे छोड़ना नहीं चाहते।

कबीर साहेब ने नाना धार्मिक मत वालों को देखा, उनके काल्पनिक मतों को देखा, उनकी मान्यताओं को जांचा-परखा और उन्हें असत्य मान्यताओं को छोड़ने की राय दी। परन्तु उन्होंने देखा कि जो जिन उलटी-सीधी बातों को सिद्धांत एवं मत के रूप में मान लिये हैं उनमें वे दृढ़ हो गये हैं। वे उन्हें छोड़ने वाले नहीं हैं। बल्कि समझाने वालों को ही उलटकर गलत कहते हैं। तब सद्गुरु ने उनकी उलटी क्रिया देखकर कहा "कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी।" अर्थात संसार के लोग ही समझदार हैं, ज्ञानी हैं। इनमें मैं ही अज्ञानी हूं।

उपदेष्टा के उपदेश जब लोग नहीं मानते तब कभी-कभी उपदेष्टा स्वयं को ही कोसने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है "रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न की तरह भाई के साथ भाई प्रेमपूर्वक रहे, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान हो रहे हैं। जैसे कौरव तथा पांडव भाई-भाई होकर भी मिथ्या स्वार्थवश आपस में कटकर मर गये। गोस्वामी जी अपने आपको कोसते हुए कहते हैं कि हे तुलसी! तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनेगा! कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।" मूल वचन इस प्रकार है—

रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रेम॥

कबीर साहेब ने देखा कि धर्म और तथाकथित ईश्वर-आज्ञा के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच खाईं बनायी गयी है, तर्कहीन एवं ऊलजलूल बातें मिलाई गयी हैं, भक्ति के नाम पर जड़बुद्धि की बातें कही गयी हैं, मोक्ष और परमात्मा-प्राप्ति के नाम पर व्यक्ति को उसकी अपनी आत्मा से अलग भटका दिया गया है। इसलिए उन्होंने अपनी निष्पक्ष वाणियां कहीं जिससे लोगों की आंखें खुलें। उनकी बातों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और वह प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आज उसका प्रभाव अति व्यापक रूप में है चाहे उनका नाम लेकर या बिना नाम लिये।

बीजक के प्राचीन व्याख्याकार श्री पूरण साहेब ने इस साखी की व्याख्या में एक कहानी लिखी है जो मनोरंजक के साथ शिक्षाप्रद भी है। वह इस प्रकार है—

एक राजा था। उसने तीन दिनों की समाधि ली। इन्हीं तीन दिनों के बीच में पागलपन का पानी बरसा। राज्य के सभी लोग उस पानी को पीकर पागल हो गये। समाधि में होने से राजा पर प्रभाव नहीं हुआ। राजा समाधि से उठा। उसने सभा की। सभी सभासदों को देखा कि वे सब पागलपन की बातें करते हैं। राजा आश्चर्यचकित हुआ। उसने उन्हें समझाना चाहा। सभी सभासद राजा से रुष्ट होकर कहने लगे कि राजा पागल है। यह तथ्य है कि पागल आदमी अपने आप को पागल नहीं समझता। वह दूसरों को पागल कहता है। राजा ने सोचा कि इनके साथ समझौता करके ही इन्हें समझाना ठीक है। स्वयं लघु बनकर इन्हीं की बड़ाई करते हुए इन्हें समझाया जा सकता है। अतः सभासदों से राजा ने कहा कि सचमुच मैं ही पागल हूं। आप लोग समझदार हैं। जब सभासदों का पागलपन दूर हुआ तब उन्होंने राजा की बातें समझीं।

इसी प्रकार धर्म, ईश्वर, भक्ति, मुक्ति आदि के नाम पर मनुष्य में जो जड़ता है उसे एकाएक नहीं छुड़ाया जा सकता है। किन्तु उनकी जड़ता में मिलकर, उनकी बातों का कुछ समर्थन करके तथा उन्हें थोड़ा संतुष्ट करके तब उन्हें थोड़ा-थोड़ा रास्ते पर लाया जा सकता है। श्री रामरहस साहेब ने कहा कि—

जेहिकर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई॥
रती रती दर्शाव करावै। अबुध के संग अबुध होय जावै॥ पंच० गुरु०॥

सत्य पथ का पथिक अजेय होता है

साँचे श्राप न लागै, साँचे काल न खाय।
साँचहिं साँचा जो चलै, ताको काह नशाय ॥३०८॥

शब्दार्थ—श्राप = शाप, बददुआ। काल = समय, मृत्यु।

भावार्थ—सच्चे को किसी का शाप नहीं लगता, सच्चे को काल नहीं खा सकता। जो व्यक्ति केवल सच्चे पथ पर चलता है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! ॥३०८॥

व्याख्या—यह विश्वसत्ता का परम सिद्धांत एवं तथ्य है। सत्य को न शाप लगता है और न उसे काल खा सकता है। अतः तुम्हें लोग क्या कहते हैं इसकी चिन्ता मत करो; परन्तु तुम क्या करते हो इस पर विचार करो। यदि तुम असत्य में लिपटे हो तो दुनिया की कोई शक्ति तुम्हें पतन से बचा नहीं सकती; और यदि तुम सत्य में प्रतिष्ठित हो तो दुनिया की कोई शक्ति गिरा नहीं सकती। यह केवल मन को धैर्य देने की बात नहीं है, किन्तु ठोस सत्य है। जिस व्यक्ति को इस परम तथ्य पर दृढ़ विश्वास हो जाता है और इस विश्वास के दृढ़ धरातल पर अपने जीवन की गतिविधि करने लगता है वह भीतर से तो पूर्ण हो ही जाता है, बाहर से भी चमक जाता है।

विश्वसत्ता के जो नियम हैं उनको पहचानना तथा उनके अनुसार चलना सत्य में चलना है। हमारा पेट कितना भोजन आराम से पचाता है और हमें हल्कापन एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है, इसकी हमें ठीक से पहचान करनी चाहिए और उसी के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन में चाहे जितने स्वादिष्ट व्यंजन बने हों, परन्तु उनके प्रलोभन में न पड़ना। यह भी देखना कि भोजन में कौन-सी वस्तु हमारे स्वास्थ्य के लिए ठीक है और कौन-सी वस्तु गलत है। ठीक को लेना तथा गलत को न लेना। भोजन में वस्तु और मात्रा दोनों पर ध्यान देना चाहिए। अखाद्य कभी नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार जो यथावत कार्य करता है वह आनंदित रहता है।

हमारे नित्य के व्यवहार में किन मनुष्यों का कितना संबंध उपयुक्त है, हमें किन-किन मनुष्यों का संबंध कितना लेना चाहिए तथा कितने से बचना चाहिए, हमारे व्यवहार एवं परमार्थ की सिद्धि के लिए कितना संबंध उपयुक्त है, हमारी शांति में कितनी चर्चाएं बाधक एवं कितनी साधक हैं, हमें कितनी बातें करनी चाहिए, कितनी निरर्थक हैं, इन सब की परख तथा तदनुकूल ग्रहण और त्याग करना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति को पहचानकर जो यथायोग्य व्यवहार करता है वह सुखी रहता है।

हमारे जीवन की इसी में सार्थकता है कि हमारे-द्वारा दूसरे की जितनी अधिक हो सके सेवा हो तथा अपने लिए संयम हो। पहली बात मनुष्य का सहज कर्तव्य है कि वह दूसरे की सेवा करे। दूसरी बात है कि उसके भौतिक एवं आत्मिक कल्याण लाखों लोगों के सहयोग से होते हैं। इसलिए उसे भी चाहिए कि वह जितना बन सके दूसरे की सेवा करे। अपने लिए संयम, यह जीवन की अंतिम सफलता है। संयम इस सीमा तक पहुंचनी चाहिए कि इस जीवन में रहते-रहते सारी इच्छाओं की निवृत्ति हो जाय। हर आदमी रोते

हुए जन्मता है, शिकायत करते हुए जीता है तथा निराशाग्रस्त होकर मरता है। यह जीवन की घोर असफलता है। रोते हुए जन्म लेना प्रकृति का विधान है। इसको बदलने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य का बच्चा रोते हुए जन्म लेगा ही। परन्तु जो हम शिकायत करते हुए जीते हैं इसको पूरा बदल सकते हैं। जिसकी सारी इच्छाएं बुझ जाती हैं वह किसी की शिकायत नहीं करता। अथवा यह चाहिए, वह चाहिए—यह शिकायत उसके जीवन में आ ही नहीं सकती। जिसकी इच्छाएं सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं उसे निराशा में मरने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। सारी आशाएं पहले ही समाप्त हैं तब निराशा का कोई मतलब ही नहीं रहा।

पर-सेवा और स्व-संयम जीवन का परम सत्य है। इनमें जो विघ्न आये उन्हें सहकर इनको निभाना मानव की मानवता है। पर-सेवा की कोई सीमा नहीं है। वह जितना संभव हो, करे। परन्तु स्व-संयम में पूरी सीमा तक खरा उतरने पर ही कृतार्थता हो सकती है। पर-सेवा का भाव रखने वाला कभी किसी का अहित नहीं सोच सकता और जो अपने आप में संयम रखता है उसके द्वारा दूसरों का अहित होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस प्रकार जो दूसरे का अहित करने से सर्वथा निवृत्त हो गया है और जितना बन सकता है उतना परहित ही करता है और स्वयं संयम के पथ पर चलता है, वह सत्य पथ का पथिक है। उसको किसी की बददुआ कैसे लगेगी! उसे कोई न समझ पाये और गाली देता रहे तो उसे क्या अन्तर पड़ेगा! क्या दुनिया के किसी भी महापुरुष को आप बतायेंगे कि उसे पागलों ने गाली न दी हो! तो इससे उसका क्या बिगड़ा! बिगाड़-सुधार तो अपने भाव तथा कर्म से होते हैं। यदि हम स्वयं सही पथ पर हैं तो यह चिंता करने की क्या आवश्यकता कि दूसरे लोग हमें क्या कहते हैं! हम अपने आपको दूसरों के सामने सर्वथा निर्दोष सिद्ध करके तब अपने पथ पर चलेंगे यह सोचना ही अज्ञान है। दुनिया का कोई महापुरुष अपने आप को सबके सामने निर्दोष नहीं सिद्ध कर सका है और न आगे सिद्ध कर सकेगा। दूसरे लोग हमारे सम्बन्ध में क्या सोचते और कहते हैं इस पर हमें सोचना ही नहीं चाहिए; किन्तु हमें निरन्तर अपने आपको देखना चाहिए कि हम क्या करते हैं! मुझे, पूर्णतया मैं ही समझ सकता हूं, दूसरा नहीं। यदि मैं स्वयं अपने आप को नहीं समझ पा रहा हूं, तो मैं घोटाले में हूं। जो अपने विषय में दूसरे से राय जानना चाहता है वह धोखे में है। यह अलग बात है कि आरंभिक, कच्ची एवं साधनावस्था में दूसरे मित्रों एवं महापुरुषों से अपने विषय में राय लेना चाहिए, अपने स्वभाव, चाल-ढाल एवं रहनी के विषय में उनसे परख करवानी तथा सम्मति लेनी चाहिए। परन्तु अंततः अपने आप को बोध और रहनी में इतना मजबूत बनाना चाहिए कि हम दूसरों से दृष्टि हटाकर निरंतर अपने आप को ही देखने का अभ्यास करें और जो निरन्तर अपने आप को देखता है और सुधारता है वह कालजयी हो जाता है।

हीरे रगड़ने पर काले नहीं होते, किन्तु उत्तरोत्तर चमकते हैं, इसी प्रकार सत्पथ पर चलने वाला कभी धूमिल नहीं होता चाहे उसकी कोई कितनी ही निंदा करे! सूरज की तरफ धूल उछालने पर वह उस तक नहीं पहुंच सकती, किन्तु लौटकर उछालने वाले के ऊपर ही पड़ती है। दूसरे के दोष देखने वाला तथा निंदा करने वाला स्वयं गिरता जाता है

परन्तु सत्पथ पर चलने वाला उठता जाता है। सत्पथ का राही अपने निंदकों की प्रतिक्रिया में नहीं पड़ता। उसके पास किसी को बुरा देखने और कहने का अवसर ही नहीं रह जाता। कौन विवेकवान होगा जो अपने रत्नतुल्य समय को परदोष-दर्शन एवं परनिंदा में लगाकर अपने मन और वाणी को दूषित करेगा।

हर मनुष्य को तथा कम-से-कम साधकों को यह दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि यदि हम दूसरों का अहित नहीं सोचते, बल्कि दूसरे का हित सोचते हैं, यहां तक कि अपने विरोधी के प्रति भी, और अपने जीवन में पूर्ण संयम से रहते हैं तो इसके बाद चिंता छोड़ देनी चाहिए कि लोग हमें क्या कहते हैं। सत्य-पथ पर चलने वाले को बुरा कहकर न कोई गिरा सकता है, न उसे काल खा सकता है। जो केवल सत्पथ का राही है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

"सबते साँचा भला" इस ६४वीं साखी की व्याख्या का भी मनन करना चाहिए।

पूरे गुरु का सेवन करो

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥३०९॥

शब्दार्थ—पूरा साहेब = बोध और रहनी में पक्का सद्गुरु।

भावार्थ—हे मुमुक्षु! जो बोध और रहनी—दोनों से संपन्न है, ऐसे सद्गुरु की सेवा करो, फिर तुम सब प्रकार से कृतार्थ हो जाओगे। यदि छिछले गुरु से प्रेम लगाओगे तो तुम्हारा मूलतत्व-विवेक भी खो जायेगा, अथवा भ्रमवश गुरु मात्र से अश्रद्धा कर बैठोगे॥३०९॥

व्याख्या—अपने स्वरूप के विषय में जिसको सच्चा ज्ञान है, व्यवहार बरतने की सम्यक समझ है और पवित्र रहनी में जो पूर्णतया चलता है, वह पूरा साहेब है।

इस संसार में कोई विरला मनुष्य होता है जो सांसारिकता से उपराम होकर यह सोचता है कि मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा और जगत का सम्बन्ध कैसा है और जीवन का लक्ष्य क्या है! ऐसा सोचने वाला जिज्ञासु एवं ज्ञान की इच्छावाला कहा जाता है। जब उसे किसी गुरु-द्वारा इन सब का ज्ञान होता है, तब उसे भव-बंधनों से छूटने की उत्कंठा जगती है, तब उसे मुमुक्षु कहा जाता है जिसका अर्थ है मोक्ष की इच्छावाला। इसलिए वह बंधनों को छोड़ने का अभ्यास करता है। बंधन हैं मन के विकार। मन के विकारों से ही इंद्रियों में गलत आदतें रहती हैं। जो इन बंधनों को तोड़ने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है उसे कहते हैं साधक या साधु। इस अवस्था में कभी मन पर विजय होती है और कभी मन से हार। जब अभ्यास करते-करते व्यक्ति पूर्ण अनासक्त एवं चारों ओर से निष्काम हो जाता है तब वह संत हो जाता है। पूर्णत्व प्राप्त को संत कहते हैं। पूर्णत्व का अर्थ कृतकृत्य हो जाना है। जब कुछ करने, खाने, देखने, सुनने, किसी से मिलने, कुछ पाने, यहां तक जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती, जब वह पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम, प्राप्तकाम एवं पूर्ण संतुष्ट हो जाता है, तब उसे पूर्ण कहते हैं।

ऐसा व्यक्ति खाना, पीना, देखना, सुनना, आना, जाना केवल शरीरयात्रा पूर्ण करने के लिए करता है। वह किसी चीज में आसक्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति ही पूरा साहेब है। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे सद्गुरु की सेवा करो। ऐसे सद्गुरु के चरणों में पूर्णतया समर्पित हो जाओ, उनकी अनन्य भाव से सेवा एवं उपासना करो तो तुम्हारा सब प्रकार कल्याण हो जायेगा। ऐसे उच्चादर्श की उपासना से तुम भी पूर्णकाम हो जाओगे।

पूरा साहेब एवं पूर्णगुरु का व्यक्तित्त्व अमृत-रस से भरा होता है। पूर्णगुरु के व्यक्तित्त्व से हर समय मानो अमृत-रस चूता है। उपासक-शिष्य को खुला पात्र होना चाहिए जिससे वह रस उसमें इकट्ठा हो सके। साधक निष्कपट एवं सरल भाव से जब पूर्ण गुरु को समर्पित हो जाता है तब उसमें गुरुत्व अपने आप आने लगता है। यही दीपक से दीपक जलाना है।

यदि साधक स्वयं छिछला है तो वह पूर्णगुरु पाकर भी उससे कोई लाभ ले नहीं पाता। परन्तु यदि वह कल्याण के लिए समर्पित है तो पूर्णगुरु पाकर कृतार्थ हो जाता है। शिष्य का "सब विधि पूरा होय" का अभिप्राय यही है कि उसको अपने जीवन में पूर्ण संतोष मिल जाता है। वह भी गुरु की तरह पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम हो जाता है। "मुझ ही ऐसा होय रहो" सद्गुरु ने आदेश भी दिया है।

'ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय।" यदि छिछला गुरु मिल गया तो साधक का विवेक भी खो जाता है। जिसमें स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, यदि ज्ञान है तो रहनी नहीं है, जो गुरु स्वयं मन तथा इंद्रियों का गुलाम है, राग-द्वेष और कलह-कल्पनाओं में पड़ा है वह छिछला है। यदि साधक ऐसे गुरु से प्रेम करेगा और उसके दुर्गुणों से सावधान होकर उससे अलग नहीं हो जायेगा तो उसके कुसंग में पड़कर उसका विवेक खो जायेगा। मनुष्य के कल्याण का मूल है विवेक। कुसंग से विवेक नष्ट होता है तथा सत्संग से विवेक जाग्रत एवं विकसित होता है। सच्चे सद्गुरु की शरण में ही विवेक जगेगा, छिछले गुरु की संगत में तो रहा-सहा विवेक चौपट हो जाता है। छिछले गुरुओं के साथ मूल खो जाने की बात यह भी है कि यदि साधक पक्की समझ का नहीं है तो उसकी श्रद्धा गुरु मात्र से उठ सकती है। उसको भ्रम हो सकता है कि सब गुरु ऐसे ही अधकचरे होते होंगे। ऐसी अवस्था में वह परमार्थ-पथ से हटकर केवल पामर एवं भौतिकवादी हो सकता है। यदि गुरु और संत नामधारी हैं, परन्तु उनकी संगत में रहने से मन के विक्षेप ही बढ़ते हैं तो वे तत्काल त्याज्य हैं। वह अंजन किस काम का जिसके लगाने से आंखें ही फूट जायं। इसी प्रकार वह गुरु तथा संत की संगत कैसी जिससे मन में विक्षेप बढ़कर अशांति फैले! इसीलिए साखी ग्रंथ में कहा है—

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥
साँचे गुरु के पक्ष में, दीजै मन ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय॥

अधकचरे गुरु की विदाई

जाहु वैद्य घर आपने, यहाँ बात न पूछै कोय।
जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय ॥३१०॥

शब्दार्थ—वैद्य = चिकित्सक, लक्षणा अर्थ में गुरु, परन्तु व्यंजना है असद्गुरु एवं गुरुआ के लिए।

भावार्थ—हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। जिन सद्गुरु ने मेरे कल्याण की जिम्मेदारी ली है वह स्वयं मेरा निस्तार करेगा ॥३१०॥

व्याख्या—संसार में गुरु की बड़ी प्रतिष्ठा है। कबीर साहेब ने स्वयं गुरु के महत्त्व का बखान किया है। गुरु जिज्ञासुओं के मानस-नेत्रों का अज्ञानमाड़ा हटाता है। गुरु के संरक्षण में साधक अपना कल्याण प्राप्त करता है। अतएव साधारण जनता, भक्तों, जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं-द्वारा गुरु की पूजा-प्रतिष्ठा होती है और ऐसा होना ठीक ही है। परन्तु ऐसा देखकर संसार में बहुत-से अधकचरे तथा धूर्त लोग गुरु का चोला पहनकर जनता को उपदेश देने लगते हैं और उनसे अपने आपको पुजवाने लगते हैं। जिनके ज्ञान तथा आचरण का कोई ठिकाना नहीं है ऐसे लोग मुमुक्षु के उद्धारक बने घूमते हैं। ऐसे गुरुओं के चक्कर में पड़े हुए जिज्ञासु को जब किसी विवेकवान संत एवं भक्त की संगत पाकर विवेक हो जाता है और वे गुरु तथा शिष्य के लक्षण जान लेते हैं और जड़-चेतन तथा बन्ध-मोक्ष के भेद समझ लेते हैं तब वे ऐसे गुरुओं के सिकंजे से निकल जाते हैं।

मानो कोई ऐसा ही अधकचरा गुरु आया हो, परन्तु जो शिष्य विवेकवान संत, भक्त एवं गुरुजनों की संगत पाकर विवेकवान हो गया हो, उसने उस अधकचरे गुरु से कहा हो कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। हम आपके चक्कर में तभी तक थे जब तक भ्रम में पड़े थे। अब हमारे भ्रम मिट गये हैं। अब हमने समझ लिया है कि गुरु कौन है, सद्गुरु कौन है तथा गुरुआ कौन है। माता-पिता एवं किसी विषय की शिक्षा देने वाले गुरु हैं, स्वरूपबोध देकर अपनी वाणी तथा उच्च रहनी के आदर्श से प्रेरित करके स्वरूपस्थिति की ओर अग्रसर करने वाले सद्गुरु हैं और नाना अंधविश्वास में फंसाने वाले तथा स्वयं अंधविश्वास और विषय-वासनाओं में डूबे हुए तथाकथित उपदेशक गुरुआ हैं। जो स्वयं नाना भ्रांतियों, भूत-प्रेतों, मंत्र-तंत्रों, देवी-देवताओं एवं परोक्ष कल्पनाओं में उलझा है, जिसे स्वयं अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं है, अथवा जो खुद काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं राग-द्वेष का गुलाम है, वह दूसरे को क्या प्रकाश दे सकता है! स्वयं भटकने वाला व्यक्ति दूसरे का भटकाव क्या दूर कर सकता है! जो स्वयं दुखी हो वह दूसरे के दुखों को दूर करने के लिए क्या आदर्श दिखा सकता है! इसलिए हे गुरु महाराज! आप हमारी आशा छोड़ दें। अब हम जग गये हैं। आप गुरुत्व को बदनाम न करें। आप स्वयं किसी सच्चे सद्गुरु की शरण में जाकर बोध प्राप्त करें। इसके बाद विषय-वासनाओं का त्यागकर स्वयं परमार्थ-दशा में ठहरें। दूसरे का गुरु बनना, सद्गुरु बनना तो बहुत बाद की बात है। यह तो स्वयं कृतार्थ

हो जाने के बाद होता है। स्वयं पूर्ण निर्भ्रांत, अनासक्त एवं तृप्त हुए बिना दूसरे के उद्धार का बोझा नहीं लेना चाहिए। अधकचरा गुरु दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेकर स्वयं डूबेगा और शिष्यों को भी डुबायेगा।

इसलिए साधक कहता है "जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय।" मेरे कल्याण की जिम्मेदारी जिन सद्गुरु ने ली है, वे ही मेरा निस्तार करेंगे। जो बोध और रहनी से संपन्न पूरा साहेब है एवं पूर्ण सद्गुरु है, उसी को शोभा देता है कि वह दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी ले। जो कृतार्थ संत होते हैं उनमें कुछ तो दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। वे किसी को न शिष्य बनाते हैं और न दूसरे किसी को अपने साथ रखने का दायित्व लेते हैं। वे स्वच्छंद विचरण करते या एक स्थान पर रहते और अपने आत्माराम के भजन में डूबे रहते हैं। वे सदैव स्वरूपस्थिति में निमग्न रहते हैं। उनकी रुचि हुई तो सामने मिले हुए जिज्ञासुओं को कुछ संबोधित कर देते हैं। परन्तु दूसरे कुछ कृतार्थ संत होते हैं, वे दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेते हैं। वे लोगों को विधिवत दीक्षा देते हैं। वे विरक्त साधुओं को दीक्षा देकर तथा उन्हें साथ रखकर उनको हर प्रकार से सन्मार्ग में प्रेरित करते हैं। श्री रामरहस साहेब ने पंचग्रन्थी के गुरुबोध प्रकरण में कहा है—गुरु तथा साधु[1] का एक रूप होता है। इनके अलावा कल्याण का कहीं स्थल मानना कल्पनाओं के जाल में पड़ जाना है। गुरु और साधु में जो थोड़ा अन्तर होता है वह यह है कि गुरु दयालु होता है, अशरण को शरण देकर उसके कल्याण में सहायक होता है और साधु सदैव स्वच्छंद होते हैं। वे किसी के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। मूल वचन इस प्रकार है—

एक रूप गुरु साधु का, दूजा काल को फन्द।
अशरण शरण दयालु गुरु, साधु सदा स्वच्छंद॥

साधक कहता है कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर जाइए। हमें अब सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं। उन्होंने हमारा बोझा ले लिया है। वे हमारा निर्वाह करेंगे। वे पूर्ण हैं। वे हमारा निस्तार कर सकते हैं। अब आप तकलीफ न उठायें। आप स्वयं किसी पूर्ण सद्गुरु की शरण में जायं। स्वयं को सद्गुरु मानने का भ्रम छोड़ दें।

अधकचरे गुरुओं की दशा

औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।
रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत॥३११॥

शब्दार्थ—मोहड़े = मुख में। रेत = बालू, धूल। रास = पशुओं का समूह।

भावार्थ—दूसरों को उपदेश करते-करते वाचक-ज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं के मुख में अंततः धूल ही पड़ती है। उनकी दशा वैसे होती है जैसे कोई भोला आदमी दूसरों

---

१. यहां गुरु का अर्थ सद्गुरु तथा साधु का अर्थ संत है।

के पशुओं की रक्षा के चक्कर में पड़कर उनके द्वारा अपने घर के खेत की फसल को ही चरा दे।।३११।।

व्याख्या—३०९वीं साखी से लेकर इस साखी तक का एक ही प्रसंग है। सद्गुरु ने ३०९वीं साखी में जिज्ञासुओं को चेतावनी दी है कि पूरे गुरु की शरण में जाओ, तभी तुम्हें पूर्णता मिलेगी। यदि तुम छिछले गुरु से प्रेम करोगे तो भटकोगे। इसके आगे की साखी में साधक ने अधकचरे गुरु को जवाब ही दे दिया है। इस साखी में भी वही क्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु दूसरों को धुआंधार उपदेश करते हैं, परन्तु उन्हें अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वे स्वयं क्या करते हैं, इसका लेखा-जोखा वे कभी नहीं करते। उन्हें स्व-चरित्र-सुधार, आत्म-शोधन एवं आत्म-चिन्तन से कोई प्रयोजन नहीं है। वे तो केवल दूसरों को धर्म, ईश्वर और मोक्ष के नाम से अपने माया-जाल में फंसाना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। देखो न, आजकल गुरुओं की बड़ी-बड़ी दुकानों को, जिनमें न सच्चा ज्ञान है, न मन की सच्चाई और न चरित्र की प्रौढ़ता। बस, वे दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नये-नये जाल रचते हैं। छोटी दुकान वाले भी वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु घूमते हैं जो रात-दिन मन की धारा में बहने वाले हैं, परन्तु वे दूसरे के उद्धार के लिए दावा करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे लोगों के मुख में अंततः धूल पड़ेगी। जो स्वयं आचरण में न चलकर केवल दूसरों को सीख देने के चक्कर में रहता है वह अंत में निराश होता है। "औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।" इस पंक्ति में अधकचरे गुरुओं के पतन की व्यंजना है।

वाचकज्ञानी परोपदेश देने के चक्कर में कैसे अपनी हानि करता है इसके लिए सद्गुरु ने दूसरी पंक्ति में सुन्दर उदाहरण दिया है। "रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत।" संस्कृत भाषा में 'रास' का अर्थ है शब्द, ध्वनि, कोलाहल तथा नृत्य क्रीड़ा, परन्तु इस पंक्ति के रास का यह अर्थ नहीं है। रास शब्द का साधारणतया लगाम, बाग, ढेर, मेषादि राशि, चौपायों का समूह, जोड़, ब्याज[१] आदि अर्थ किया जाता है। इस प्रसंग में चौपायों एवं पशुओं का समूह ही रास का उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि आगे खेत चर जाने की बात आती है जो पशु से ही संभव है। मानो एक भोला आदमी था। वह अपने खेत में अपनी खड़ी फसल की रखवाली में बैठा था। एक दूसरा व्यक्ति था, जिसके पास पशुओं का बड़ा झुंड था। उसने खेत वाले से कहा कि तुम मेरे पशुओं को देखते रहियो, मैं घर हो आऊं। वह भोला उन पशुओं की रखवाली करने लगा। उसको ध्यान था कि पशु कहीं भाग न जायें। वे सारे पशु उसके खेत की फसल को चरने लगे और धीरे-धीरे उसकी फसल उन पशुओं द्वारा खा ली गयी। वह दूसरे के पशु सम्हालने में अपने खेत की फसल चरा बैठा।

यही दशा वाचकज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं की है। वे दूसरों के कल्याण के चक्कर में अपना ही अकल्याण कर लेते हैं। वाचकज्ञानी प्राप्त जानकारियों से अपने दोषों को ढाकता है। उसका परोपदेश केवल पर-मनोरंजन के लिए होता है। वह दूसरों को

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

खुशकर अपनी देह का स्वार्थ साधता है। अधकचरा गुरु यों ही अपने आपको छल रहा है। उसके बाद वह साधारण जनता से सम्मान, प्रतिष्ठा एवं पूज्यता पाकर उसके अभिमान में अपने आपा को और भूल जाता है। पूर्ण निष्काम हुए बिना कोई मान को सह नहीं पाता। मान को निष्काम पुरुष ही सहकर निर्मान रहता है। अधूरा तो मान पाकर अभिमान से ग्रस्त हो जाता है और अपने पद से गिर जाता है। अतएव सद्गुरु बनने का जोखिम सब को नहीं लेना चाहिए। पूर्ण निष्काम पुरुष ही गुरुत्व का भार लेकर तरण-तारण हो सकता है।

शिष्य एवं मुमुक्षु के कर्तव्य

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
कहहिं कबीर कैसे बनि हैं, मोहि तोहि औ वोहि ॥३१२॥

शब्दार्थ—मैं = सद्गुरु। तू = शिष्य। मोहि = सद्गुरु। तोहि = शिष्य। वोहि = माया।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मैं तेरे कल्याण के लिए तेरी ओर देखता हूं, परन्तु तू तो माया की ओर देखता है, फिर बीच में माया के आने से मेरा और तेरा कैसे निभेगा! ॥३१२॥

व्याख्या—कबीर देव ने ऊपर की साखियों में गुरुओं को सावधान किया था। वे इस साखी में शिष्य को सावधान करते हैं। सद्गुरु शिष्य की तरफ देखता है। देखने का अर्थ है उस पर करुणा करके उसे भव-बंधनों से मुक्त होने की प्रेरणा देना। परन्तु यदि शिष्य गुरु को नहीं देखता। वह गुरु के उपदेशों पर न ध्यान देकर माया की ओर आकर्षित होता है तो गुरु उसका क्या करेगा!

बोध और रहनीसंपन्न पूर्ण निष्काम सद्गुरु हो और मोक्ष की तीव्र इच्छा वाला पूर्ण निष्कपट शिष्य हो, तो ये दोनों की उत्तम योग्यताएं हैं। इनके बीच में माया आ ही नहीं सकती। माया का अर्थ है सांसारिक प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता आदि के लिए मोह। निष्काम सद्गुरु तो इन सबकी तरफ आकर्षित ही नहीं होगा, सच्चा मुमुक्षु एवं निष्कपट शिष्य भी इनमें नहीं भूलेगा। जहां कहीं भी माया का प्रलोभन आता है वहां अधकचरापन है, वह चाहे गुरु हो और चाहे शिष्य! यहां प्रसंग शिष्य का है। सद्गुरु पूर्ण है। वह निष्काम है, स्वस्वरूपस्थ है। वह शिष्य का पूर्ण कल्याण चाहता है और उसकी ओर कृपादृष्टि करके निहार रहा है। परन्तु शिष्य अधकचरा है। उसने माया के प्रलोभनों का अभी त्याग नहीं किया है। वह एक बार गुरु की ओर देखता है और दूसरी बार घूमकर माया की तरफ देखता है। उसका चित्त दोनों तरफ बंटा है। सद्गुरु तो शिष्य की तरफ देखते हैं और शिष्य माया की तरफ देखता है, तो सद्गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मेरी, तेरी और माया की एकता कैसे होगी! दूध और पानी तो मिल जाते हैं परंतु बीच में आकर खटाई पड़ जाय तो वह उन्हें फाड़कर अलग-अलग कर देती है। दो के बीच में तीसरा आने पर गड़बड़ होता ही है।

पूर्ण निष्काम एवं बोधवान सद्गुरु को पाकर शिष्य को तो गर्भस्थ शिशु बन जाना चाहिए। अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के अभिन्न सम्बन्ध के विषय में एक बड़ा सुन्दर मन्त्र आता है। उसका भाव ऋषि व्यक्त करता है "सद्गुरु शिष्य को उपनेत्र एवं विवेक की आंखें देने के लिए उसे अपने गर्भ में ले लेता है।"[1] कितना सुन्दर भाव है। गर्भस्थ शिशु मां को पूर्णतया समर्पित होता है। गर्भस्थ शिशु को अपने विषय में कोई चिंता ही नहीं रहती। उसे न खाने की चिंता है न पीने की चिंता है, न निवास-आवास की चिंता है, यहां तक कि उसे श्वास लेने की भी चिंता नहीं रहती। वहां तो माता का खाना उसका खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का श्वास लेना मानो उसका श्वास लेना है। माता की सारी गतिविधि ही शिशु की सारी गतिविधि है।

इसी प्रकार जो मुमुक्षु अपने आप को शिशु बनाकर पूर्ण सद्गुरु रूप मां को समर्पित हो जाता है वह कृतकृत्य हो जाता है। समर्पण आधा-तिहाई नहीं होता, किन्तु पूर्ण होता है, और जब पूर्ण समर्पित हो गया तब बीच में माया के आने की सम्भावना ही नहीं है। यदि सद्गुरु पूर्ण नहीं है तो शिष्य के सामने समस्या हो जाती है, परन्तु पूर्ण सद्गुरु को पाकर यदि शिष्य माया के चक्कर में भटकता है तो वह महा अभागा है।

एक तरफ गुरुज्ञान है, दूसरी तरफ माया है और बीच में मुमुक्षु है। वह माया की ओर देखेगा तो गुरुज्ञान भूल जायेगा और गुरुज्ञान की तरफ देखेगा तो माया भूल जायेगी। हम समुद्र के तट पर खड़े हों तो यदि जल की तरफ देखेंगे, तो थल नहीं दिखेगा और थल की तरफ देखेंगे तो जल नहीं दिखेगा। "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाव॥" अतएव कल्याणार्थी मुमुक्षु को चाहिए कि वह सांसारिक प्रलोभनों से एकदम हटकर गुरुज्ञान की तरफ दृढ़ता से लगे।

लक्ष्य की विफलता

तकत तकावत तकि रहा, सकै न बेझा मार।
सबै तीर खाली परा, चला कमानहि डार॥३१३॥

शब्दार्थ—तकत = स्वयं देखते हैं। तकावत = अन्य को लक्ष्य दिखाते हैं। तकि रहा = लक्ष्य देख रहे हैं। बेझा = वेध, निशाना, लक्ष्य। कमान = धनुष, शरीर।

भावार्थ—जैसे कोई निशानेबाज हो। वह निशाने को देखता हो और साथी को दिखाता हो। इस प्रकार वह केवल उसे देखता तो हो, परन्तु निशाने पर बाण नहीं मार पाता हो। उसके सारे तीर निरर्थक होकर गिर जायं और वह धंनुष छोड़कर चल दे। वैसे कितने ही साधक लक्ष्य को स्वयं देखते हैं, दूसरों को दिखलाते हैं, इस प्रकार केवल देखते ही रह जाते हैं। वे लक्ष्य पर मार कर नहीं पाते। उनके सारे अनुसंधान निरर्थक हो जाते हैं। और वे बिना लक्ष्य को पाये ही शरीर छोड़कर संसार से चले जाते हैं॥३१३॥

---

१. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

व्याख्या—जीवन का चरम एवं परमलक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है मन की सारी ग्रंथियों, वासनाओं एवं इच्छाओं का कट जाना। निर्ग्रंथ एवं वासनाहीन मन परमानंद एवं परमशांति का सागर होता है। कितने साधक अपने लक्ष्य को पहचानते हैं और उसकी व्याख्या दूसरों के सामने करते हैं। इस प्रकार जीवनभर केवल लक्ष्य की व्याख्या ही करते रह जाते हैं। वे अपने लक्ष्य पर बाण मार नहीं पाते। बहुधा जितनी बातें समझने और कहने में आती हैं उतनी आचरण में नहीं आतीं, और जब तक बातें आचरण में नहीं आतीं तब तक जीवन का लक्ष्य नहीं मिलता। ज्ञान की बातों का आचरणों में न उतरने का कारण है मायावी आकर्षणों से विरत न हो पाना। भोगों का त्याग किये बिना रहनी नहीं आ सकती।

साधक निशानेबाज है, परमशांति लक्ष्य एवं निशाना है, शरीर धनुष है और विचार तीर हैं। मनुष्य जीवनभर परमशांति में अपने तीर मारने के लिए अनुसंधान करता है, परन्तु उसके सारे विचार-तीर खाली चले जाते हैं और वह परमशांति पाये बिना संसार से बिदा हो जाता है। संसार के साधारण लोगों की तो बातें ही जाने दीजिए, कितने साधु, गुरु, आचार्य, मंडलेश्वर, महामंडलेश्वर, जगद्गुरु, विश्वगुरु आदि भी परमानन्द एवं परमशांति पाये बिना ही चले जाते हैं।

मनुष्य के भीतर अनन्त सुख की लालसा है और वह दिवास्वप्न बनकर रह जाती है। वह जीवनभर उसके अनुसंधान में रहता है, परन्तु पाता नहीं, क्योंकि वह उसे बाहर खोजता है और वह बाहर नहीं, किन्तु भीतर है। भीतर समझ जाने पर भी वह अपने रजोगुणी स्वभाव के नाते भीतर ठहर नहीं पाता। ज्ञान की बातों को जानना और दूसरों को जना देना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है मन के विकारों, गलत आदतों, विषय-वासनाओं एवं माया के प्रलोभनों का त्याग करना। त्याग के बिना ज्ञान की बातें दीपक के चित्र के समान हैं जिनसे प्रकाश होने की किंचित भी संभावना नहीं है। बिना कुछ दिये कुछ भी नहीं मिलता। सांसारिकता से पीठ दिये बिना परमशांति नहीं मिलती। भोग और मोक्ष को एक साथ सोचना धूर्तता है। ऐसी धूर्तता अनेक गुरु-नामधारियों ने भी की है और आज भी कर रहे हैं। परन्तु भोग होगा तो मोक्ष नहीं और मोक्ष होगा तो भोग नहीं। संसार को चाहेंगे तो मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष चाहते हैं तो संसार का राग छोड़ना पड़ेगा।

संसार की इच्छाएं ही तो हमें नचाती हैं। हम क्यों अशांत हैं क्योंकि इच्छावाले हैं। इच्छा का त्याग कर देने पर अशांति का नाम भी नहीं रह सकता। इच्छाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। वे स्थूल भोग से हटकर सूक्ष्म धर्म एवं लोककल्याण का जामा पहन लेती हैं और साधक किसी-न-किसी प्रकार जीवनभर इच्छाओं में उलझता रहता है। हमें चाहिए कि हम धीरे-धीरे इच्छाओं के जाल को काटें। जब इच्छाओं का जाल पूर्णरूप से कट जायेगा तब मनपक्षी अनंत शांति के आकाश में विचरण करने लगेगा। इसका अर्थ है कि वह पूर्ण शांति में निमज्जन करने लगेगा। दुर्लभ लगने वाली शांति इच्छाओं के त्याग से पूर्ण सुलभ हो जाती है।

कथनी-करनी की एकता आवश्यक

जस कथनी तस करनी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम॥३१४॥

शब्दार्थ—चुम्बक = एक पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है, यह प्राकृतिक होता है और कृत्रिम भी।

भावार्थ—जब कथनी के अनुसार करनी हो जाती है तब ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे चुम्बकीय ज्ञान के बिना तुम कामादि शत्रुओं के युद्ध में कैसे विजय प्राप्त कर सकते हो! ॥३१४॥

व्याख्या—हम जो कुछ जानते हैं, दूसरों के सामने उसकी चर्चा करते हैं, उसे कथनी कहते हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार व्यवहार करना आचरण कहलाता है और इसे ही करनी कहा जाता है। जब हमारी करनी कथनी के अनुसार हो जाती है तब हमारा ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

ज्ञान की कथा करने वाले बहुत लोग हैं। धाराप्रवाह व्याख्यान देने वाले तो व्याख्यान देते ही हैं, साधारण लोग भी एक दूसरे से अच्छी बातें कहते हैं। जब भी किसी को दूसरों को सीख देने का अवसर पड़ता है वह अच्छी ही सीख देता है। "मन शुद्ध रखना चाहिए; संतोष की डाली में मेवे फलते हैं; अपनी कर्म-कमाई ही साथ जाती है; संसार झूठा है; परिवार, मित्र, भाई-बन्धु कौन किसका है! आत्मा ही परमात्मा है; भजन ही जीवन का सार है; शांति ही सबसे बड़ा सुख है; काम-क्रोधादि को मारकर ही निर्वाण पद मिलता है" इत्यादि बातें सामान्य लोग भी समय आने पर कहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि ज्ञान की बातों को कहने का फल तब है जब हम उनके अनुसार आचरण करने लगें। जिसके जीवन में जानकारी तथा आचरण एक समान हो जाते हैं उसका ज्ञान आकर्षक हो जाता है। हमारी जानकारी तब तक ज्ञान का रूप नहीं लेती जब तक वह आचरण में न ढले। जानकारी का आचरण ही ज्ञान है। आचरण-युक्त ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

आप जानते हैं कि चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार जिनके जीवन में पवित्र आचरण है उसके ज्ञानोपदेश सत्पात्रों को अपनी ओर खींचते हैं। हाथ से फेंककर मारी हुई गोली हो सकता है कि निशाने पर लगे ही न, और लग भी जाय तो उतनी चोट नहीं कर सकती। परन्तु यदि उसी गोली को बन्दूक में भरकर मारा जाय तो एक तो प्रायः निशाने पर लगेगी और दूसरी बात, चोट भी गहरी करेगी। यही बात ज्ञानोपदेश की है। आचरण-रहित प्रवक्ता का ज्ञानोपदेश लोगों को प्रभावित नहीं करता, किन्तु यदि वह आचरणसंपन्न है तो उसकी बातें श्रोताओं पर प्रभाव डालती हैं। यही उसका चुम्बक के समान आकर्षक होना है। यह भी ठीक है कि आचरणहीन प्रवक्ताओं की भी कही हुई अच्छी बातें गुणग्राही लोग ले लेते हैं और श्रद्धाहीन लोग आचरणसंपन्न पुरुषों से भी कुछ नहीं ले पाते। परन्तु बात तो यहां आचरणयुक्त ज्ञान की वरीयता की है, जिसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। यदि कोई उसे चुनौती देता है तो स्वयं मुंह की

खाता है। यह निर्विवाद है कि सत्पात्र को आचरणसंपन्न पुरुषों के ज्ञान खींचते हैं और उनका विरोधी भी उनकी वरीयता भीतर से जानता है।

"कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम।" सद्गुरु कहते हैं कि इस तरह चुम्बकीय ज्ञान के बिना कोई मानसिक-युद्ध में कैसे विजयी होगा! जो व्यक्ति अपनी प्राप्त जानकारी का आदर नहीं करता, अर्थात जो जैसा जानता है उसका उस तरह से जीवन में उपयोग नहीं करता, तो वह मन के विकारों को कैसे जीत सकता है! हम जानते कम नहीं हैं, करते कम हैं। यदि जितना जानते हैं उतना आचरण में ढाल लें तो आगे काम की बातें और जान जायेंगे। इस प्रकार आचरण के द्वारा जो हमारा अनुभूत ज्ञान होगा उसी ज्ञान से हम मानसिक विकारों पर विजय पा सकते हैं।

महात्मा गांधी से विदेश के एक पत्रकार ने एक बार पूछा था कि आप न देखने में कोई सुन्दर हैं, न कोई बड़े विद्वान हैं और न आपके व्याख्यान में कलाबाजी है; फिर क्या कारण है कि भारत के लोग आप पर लट्टू हैं? महात्मा गांधी ने उत्तर दिया था "और तो मैं नहीं जानता कि मेरे में क्या गुण है, केवल एक बात जानता हूं कि मैं जिसे गलत समझ लेता हूं उसको छोड़ने के लिए कमर कस लेता हूं और जिसे सही समझता हूं उसे ग्रहण करने के लिए प्राणपण से डट जाता हूं।" यही तो मनुष्यता है, यही तो साधुता है। समस्त उच्च लोगों का यही आचरण होता है।

समन्वय का तरीका

अपनी कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होय।
हमरे देखत जग जात है, ऐसा मिला न कोय॥३१५॥

शब्दार्थ—जात है = भटके जा रहे हैं।

भावार्थ—अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और कह-सुनकर तथा आपस में तालमेल बैठाकर एक हो जाय। मेरे देखने में लगता है कि संसार के अधिकतम लोग अपने मतों के हठ में पड़कर और अ-समन्वय को अपनाकर विरोधा-विरोधी में ही भटके जा रहे हैं। ऐसा प्रायः कोई नहीं मिलता जो समन्वय का रास्ता अपनावे॥३१५॥

व्याख्या—कबीर पर अध्ययन एवं शोध करने वाले विद्वान जिनमें डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तक हैं यह लिखते हैं कि कबीर ने समन्वय तथा समझौता का रास्ता नहीं अपनाया है। उन्होंने गलत को गलत कहा और सबकी बुराइयों पर उन्हें फटकारा। यह बात सर्वथा सत्य है। परन्तु विद्वानों को यह बात माननी ही पड़ेगी और प्रकारांतर से माना ही है कि कबीर महान समन्वयवादी रहे हैं। राम-रहीम, करीम-केशव, पूजा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र एक ही बात है—इतना ज्वलंत समन्वय कबीर के अलावा किसने किया है! कबीर जो कुछ कहते थे, सब समन्वित होता था; क्योंकि उनका हृदय ही अद्भुत रूप से समन्वित था। अपनी जड़मान्यताओं के समर्थन में झूठ-फुर एक में मिला लेना, ऐसा समन्वय करना कबीर नहीं जानते थे। कबीर उदार और महान समन्वयवादी थे, किन्तु केवल तथ्य के ठोस धरातल पर।

सद्गुरु कबीर समन्वय का सुन्दर रास्ता बताते हैं। वे कहते हैं अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और उन्हें समझकर दोनों तरफ की केवल सचाइयों को ग्रहण कर ले, बस एकता हो जायेगी। जो लोग ईश्वर-अवतार, पैगंबर, इलहामी किताब तथा प्रभुवाणी की भ्रम-धारणा में पड़े रहेंगे, वे न निष्पक्ष हो सकते हैं और न सत्य ग्रहण करने के लिए समन्वय कर सकते हैं। जो लोग अपने मत को ईश्वर का ठेकेदार मान बैठे हैं, वे कब दूसरे की बातें सुनकर उन्हें मनन करना चाहेंगे! उनको तो घोर प्रमाद है कि उनका मत ईश्वरीय है, उनकी किताब ईश्वरीय है, उनका पूज्य महापुरुष ईश्वर या ईश्वर का पैगंबर है। ऐसे भोले आदमी कब दूसरे की बातें सुनने लगे! जो लोग अपने मतों को तथाकथित ईश्वरीय एवं परम सत्य मान बैठे हैं, वे अपनी बातें तो कह सकते हैं, परन्तु दूसरे की बातें सुन नहीं सकते। यदि सुन भी लें तो उनका न मनन करेंगे और न उनसे सार लेंगे। पक्षपात और जड़संस्कारों की चादर उतारकर जब तक फेंक नहीं दी जाती, तब तक न सारग्राही दृष्टि आ सकती है और न सत्य का मोती मिल सकता है। पक्षपात, हठ एवं दुराग्रह छोड़कर बातें कहने तथा सुनने से एकता हो जाना निश्चित है।

मन की पूर्ण शांति ही परम सुख एवं मोक्ष है, और मन के पूर्ण निर्विकल्प होने पर ही मन पूर्ण शांत होता है, और जब मन पूर्ण निर्विकल्प हो गया, तब कौन-सा मत रह गया! सारे मत मन की उपज हैं और मन लीन हो जाने पर सभी मत लीन हो गये। इस प्रकार परम शांति में पहुंचकर एकता ही है। यदि हम समझ लें कि सारे मत मन के खिलवाड़ हैं, मन की पूर्ण शांति ही परम सिद्धांत है तो विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत चाहे जितने मत हों, सबका एक ही लक्ष्य है परम शांति की प्राप्ति, और वह बिना मन निर्विकल्प हुए नहीं हो सकती। और निर्विकल्प होने पर कोई मत ही नहीं रहता, फिर क्या झगड़ा है!

यह कहा जा सकता है कि मन की पूर्ण शांति की एक अलग अवस्था है, परन्तु दूसरी अवस्था निर्णय की होती है। उसमें सांच-झूठ पर विवेचन करना पड़ेगा। परन्तु विवेचन यदि निष्पक्षतापूर्वक हो तो बात सरलतापूर्वक समझी और समझायी जा सकती है। इसके लिए ऊपर ही विचार कर लिया गया है।

हम अपनी व्यावहारिक समस्याओं को भी आपस में बात करके सुलझा सकते हैं। प्रत्यक्ष है कि बड़े-बड़े राष्ट्रों में युद्ध होते हैं और युद्ध के बाद दोनों देश के राष्ट्राध्यक्ष एक जगह बैठकर आपसी विवाद को सुलझा लेते हैं। बात वहां नहीं सुलझती जहां कुछ समस्या हो या न हो, किन्तु मन में द्वेष, हठ, अड़ंगेबाजी एवं न सुलझाने की भावना होती है।

पूर्ण निष्पक्ष जिज्ञासु कम होते हैं

देश विदेशे हौं फिरा, गाँव-गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवै फटक पछोरि॥३१६॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। खोरि = गली।

भावार्थ—मैं देश-विदेश तथा गांव-गांव की गलियों में घूमा, परन्तु ऐसा निष्पक्ष आग्रहहीन एवं निर्मान व्यक्ति नहीं मिला जो सारे दुराग्रह छोड़ सूप-सदृश फटक-पछोरकर सत्य ज्ञान को ले ले और असत्य को भूसी की तरह उड़ा दे ।।३१६।।

व्याख्या—इस साखी से कबीर साहेब की व्यापक भ्रमणशीलता का पता लगता है। वे देश ही में नहीं, विदेशों में घूमे थे और गांव-गांव की गलियों में भी। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की लम्बी आयु पायी थी और अच्छा स्वास्थ्य पाया था। अतः वे देश-विदेशों में खूब घूमे थे। उनकी वाणियों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द पाये जाते हैं जिससे उनकी भ्रमणशीलता की और भी पुष्टि होती है।

इस साखी में सद्गुरु ने जो मुख्य बात कही है वह यह है कि उन्हें ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो निष्पक्षतापूर्वक बातों पर विचार करे और सार-सार को ले तथा असार को छोड़ दे। बीजक में इस बात की उन्होंने कई बार पुनरुक्ति की है, जैसे "जाको खोजत हौं फिरा, ताका परा दुकाल।"[1] आदि। इसका शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो ठीक नहीं है। यदि उन्हें कोई निष्पक्ष जिज्ञासु नहीं मिला तो उनके विचारों का क्रम आज तक कैसे बना है! अतः मिले तो अवश्य, परन्तु कम मिले। इसका लाक्षणिक अर्थ यही होगा कि निष्पक्ष चिंतक कम मिले। कबीर साहेब के संतत्व एवं सिद्धि की महिमा गाने वाले तथा उनकी भक्ति करने वाले तो उनके जमाने में कम नहीं थे, परन्तु "लेवै फटक पछोरि" की वृत्ति वाले उन्हें कम मिले। यह मानी हुई बात है कि उन जैसे निष्पक्ष और बेलाग को उन-जैसा ही बेलाग विरला मिलेगा ही। आज भी कबीर साहेब के प्रति भक्ति-भावना अर्पित करने वाले करोड़ों हैं, परन्तु उनके खरे विचारों को पचाने वाले बहुत थोड़े हैं। जैसा वे स्वयं चारों तरफ से निष्पक्ष थे वैसा निष्पक्ष मिलना मामूली बात नहीं है। सब तो अपने-अपने संस्कारों की चादर में लिपटे हैं। आज भी उनके नाम पर पुजाने-खाने वालों में उनके खरे विचारों पर कितने हैं! "लेवै फटक पछोरि" बहुत बड़ी बात है। जब माताएं सूप में कूटा हुआ धान रखकर उसे पछोरती हैं तब सारी भूसी को उड़ा देती हैं। केवल चावल को सूप में रहने देती हैं। यदि चावल के साथ कंकड़ हों तो उन्हें वे नख से बीन-बीनकर फेंक देती हैं। चावल की कनी को भी एक तरफ कर देती हैं। सारी वाणियों को मथ-मथकर उनसे केवल सार-सार निकाल ले, उससे सारी असत्य-भूसी उड़ाकर सत्य-चावल ले ले, यह बड़े निष्पक्ष व्यक्ति का काम है।

अपनी परम्परा, मत, पंथ, संप्रदाय, समाज, मजहब का मोह, प्राचीनता का मोह, विशाल साहित्य का मोह, बहुत बड़े जनसमूह का मोह, बड़े-बड़े पुरुषों का मोह, तथाकथित ईश्वर, अवतार, पैगंबर, इलहामी किताब एवं प्रभुवाणी का मोह, भारी जनमत का मोह, ये सारे मोह मनुष्य को असत्य को त्यागने एवं सत्य को ग्रहण करने में आड़े आते हैं। जो सत्य का मोती पाने के लिए सबका मोह छोड़ देता है वह पूर्ण जिज्ञासु है। फटकने-पछोरने वाला भूसी का मोह बिलकुल नहीं करता। इसी प्रकार जो सत्यज्ञान चाहता है वह असत्य मान्यताओं को निर्मम होकर त्यागता है। चाहे हजारों वर्षों की

---

१. साखी १८५।

मान्यता हो, जो असत्य है उसका त्याग होना ही चाहिए। सत्य-देवता असत्य की गंध भी नहीं चाहता।

दुचित्तापन सफलता में बाधक

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत कछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर॥३१७॥

शब्दार्थ—लानत = धिक्कार, भर्त्सना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे जिज्ञासु! मैं तेरी ओर देखता हूं, परन्तु तू तो कुछ दूसरी ही तरफ देख रहा है। तेरे ऐसे चित्त को धिक्कार है जो गुरुज्ञान और माया—दोनों तरफ बंटा है॥३१७॥

व्याख्या—कबीर साहेब के पास मानो कोई जिज्ञासु आया हो। वे उसे समझा रहे हों, परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो। वह कुछ तो साहेब की बातों को सुनने में चित्त लगाता हो और कुछ दूसरी तरफ। तो कबीर साहेब ने उसको टोक दिया हो—भले आदमी! मैं तो सारी एकाग्रता तुम्हें समझाने में लगा रहा हूं और तुम ऐसे दुचित्ते हो कि मेरी सारी बातें ध्यान से नहीं सुन रहे हो। ऐसे कई साधारण आदमी ही नहीं, साधक भी होते हैं कि जब उन्हें कोई विषय समझाने लगो तो वे उसे गहराई से नहीं लेते। वे या तो दूसरी तरफ ताकने लगते हैं, या दूसरी बातें करने लगते हैं। फिर तो ऐसे जिज्ञासुओं को समझाने की रुचि ही समाप्त हो जाती है।

बोधवान सद्गुरु संतजन सदैव सत्पात्रों को सत्यज्ञान देकर उन्हें कल्याण के पथ पर ही खींचने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु सब जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पूर्ण समर्पित नहीं होते। जो पूर्ण समर्पित नहीं होता उसे पूर्ण कल्याण-पथ पर लाना बड़ा कठिन है। गृहस्थ भक्त तो दुचित्ते होते ही हैं और यह स्वाभाविक है। परन्तु कितने विरक्ति का जामा पहने हुए साधक भी दुचित्ते होते हैं। जो साधक आधा चित्त गुरुज्ञान की तरफ तथा आधा चित्त इन्द्रियों की लंपटता, कुटुम्ब-मोह, प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि की प्राप्ति की तरफ रखता है, वह अधकचरा है। उसकी नौका कब डूब जाय इसका ठिकाना नहीं है। गृहस्थ दुचित्ते हों यह बात स्वाभाविक लगती है, परन्तु विरक्ति वेष लेकर कोई दुचित्ता हो, तो उसे घर-गृहस्थी में लौट जाना चाहिए और जब उसका मन वैराग्य में पक्का हो जाय तब वैराग्य-पथ में आना चाहिए।

कुछ हद तक गृहस्थ-भक्तों का भी दुचित्तापन गलत है। जैसे अभक्ष्यसेवन, किसी प्रकार का नशा-सेवन, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक में लगना, कल्पित देवी-देवता तथा परोक्ष भ्रांत-मान्यताओं में भटकना, धन सत्कर्म में न खर्च करना, साधु-संगत एवं सद्ग्रंथ-अध्ययन में रुचि न रखना, योग्यतानुसार त्याग पर ध्यान न देना, यह सब गृहस्थों-भक्तों का दुचित्तापन उनके पतन का कारण है। वे भक्त कहलाकर भी यदि इस तरह अपने पतन वाले पक्षों में मन रखते हैं तो उनका पतन कौन रोक सकता है!

विरक्त साधकों का दुचित्तापन तो एकदम क्षम्य नहीं है। ब्रह्मचारी एवं साधु-मर्यादा में रहते हुए अपने माने हुए घर एवं परिवार में रागवान होना, अपनी पूर्व-पत्नी या किसी स्त्री से निकट संबंध बनाना, संसारियों से घुलना-मिलना, स्वार्थ-दृष्टि से संसारियों को अपनी ओर खींचने का नाना उपाय करना, नाना पदार्थों का लालच करना, स्वाद और राग-रंग में मन रखना, किसी पद एवं प्रतिष्ठा-पूज्यता की लालसा रखना और इसी प्रकार अन्य ऐसी चेष्टाएं जो अपने वैराग्य, एकता एवं साधना में बाधक हैं, ब्रह्मचारी एवं साधु के पतन-पथ हैं।

लोकोक्ति है "बज्र अस रांड़ या बज्र अस अहिबाती" अर्थात दो नावकाओं में पैर न रखकर एक ही नावका पर पैर रखने चाहिए। विरक्ति के पूर्ण साधन न अपना पावे तो उसका जामा न पहने, घर-गृहस्थी में रहकर भक्ति-पथ से चले। यदि विरक्ति-पथ का शौक हो तो सच्चा विरक्त हो। कहा जाता है "बिन शौक फकीरी मिट्टी है"। साधक बनकर फिर स्त्रियों की संगत में मोह, राग-रंग, स्वाद-शौक आदि करना मूर्खता ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

कोई काम तब तक पूर्णतया सफल नहीं होता जब तक दुचित्तापन छोड़कर उसको एक चित्त से न किया जाय, वह चाहे खेती, व्यापार, पढ़ाई या कुछ भी हो। फिर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम कोई दुचित्तापन से करे तो वह कैसे सफल होगा! यह तो बिलकुल एकाग्रता का विषय है। "प्रेम गली अति साँकरी, जामें दो न समाय।" जब तक सांसारिक राग-रंग से एकदम पीठ नहीं दे दिया जाता, तब तक सच्ची मुमुक्षा नहीं, और जब तक सारी कामनाओं का त्याग कर समाधि में लीन नहीं होते तब तक परम शांति एवं मोक्ष पद नहीं मिल सकता, जो जीवन का, या कम-से-कम साधक का परम लक्ष्य है। इसलिए हम दुचित्तापन को छोड़कर तथा एकचित्त होकर गुरुज्ञान एवं साधना में लगें।

निर्णय वचन मोक्षप्रद हैं

चुम्बक लोहे प्रीति है, लोहे लेत उठाय।
ऐसा शब्द कबीर का, काल से लेत छुड़ाय ॥३१८॥

शब्दार्थ—चुम्बक = एक प्रकार का पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है। काल = अज्ञान।

भावार्थ—चुम्बक में लोहे के प्रति मानो प्रेम है। वह लोहे को निकट पाकर उसे उठाकर अपने में चिपका लेता है। कबीर के निर्णय वचन भी ऐसे ही हैं। वे जीव को अज्ञान से छुड़ा लेते हैं॥३१८॥

व्याख्या—यहां 'कबीर' का यदि हम ग्रंथकार कबीर साहेब अर्थ करते हैं जैसा कि ऊपर किया गया है, तो यह साखी कबीर की एक गर्वोक्ति के रूप में प्रतीत होगी। अर्थात कबीर गर्वपूर्वक कहते हैं कि मेरे वचन ऐसे हैं जो जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। साधारणतया यह साखी लगती तो गर्वोक्ति है, परन्तु यह एक साधिकारोक्ति है जो कबीर

साहेब-जैसे सिद्ध संत के लिए सहज एवं स्वाभाविक है। पूर्ण पुरुष साधिकार वचन कह सकते हैं। कबीर साहेब अध्यात्म के उच्चतम सिद्ध संत थे। उनका अधिकारपूर्वक कहना स्वाभाविक है। पूरा बीजक पढ़ डालिए तो आप कहीं भी नहीं पायेंगे कि अंधविश्वास की थोड़ी भी गुंजाइश हो। बल्कि उसका तो प्रबलतम निषेध है। कबीर की सारी बातें धारदार, बेलाग और खरे ज्ञान से पूर्ण हैं। वे निश्चित ही अज्ञान-काल की जड़ उखाड़कर फेंक देने वाली हैं। कबीर साहेब की वाणियों का जो निष्पक्षतापूर्वक एवं आग्रहरहित होकर मनन करेगा, निश्चित ही उसके सारे अज्ञान समाप्त हो जायेंगे।

क = काया, बीर = जीतने वाला, अर्थात काया को जीत लेने वाला कबीर है। जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को जीत लिया है, वही कबीर है। कबीर का सामान्य अर्थ जीव भी किया जाता है। काया में बीर कबीर—जीव है। अतएव सामान्य चेतन जीव और जितेंद्रिय संत पुरुष कबीर वाचक मान लिये गये हैं। इस प्रकार उक्त साखी का अर्थ होगा कि जितेंद्रिय पुरुष के ज्ञान-शब्द मनुष्य के मन के अज्ञान के विध्वंसक हैं। जिसने भी अपने मन तथा शरीर को जीत लिया, उसके ही वचन अज्ञान के ध्वंसक हो जाते हैं। जिसने मन को जीता वही गुरु है, वही कबीर है और उसी के वचन जिज्ञासुओं के लिए कल्याणकारी हैं।

यदि कबीर का अर्थ सामान्य चेतन जीव माने, तो अर्थ होगा कि जीव के स्वरूप के परिचायक शब्द जीव को अज्ञान-काल से छुड़ा लेते हैं। अर्थात जो वाणी जीव के स्वरूप का परिचय देती है वह जीव को अज्ञान से छुड़ा लेती है। जीव अपने स्वरूप का परिचय पाकर ही तो नाना प्रकार के अज्ञान से छूटता है!

कुल मिलाकर सार अर्थ यही है कि निर्णय वचन अज्ञान के ध्वंसक हैं और वे चुम्बक की तरह हैं। यहां चुम्बक का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। लोहे का चूर भी हो और वह धूल में मिल गया हो, परन्तु यदि वहां चुम्बक-पत्थर पहुंच जाय तो उन लोह-कणों को वह धूल में से खींचकर अपने में चिपका लेगा। चुम्बक में लोहे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। इसी प्रकार खरे ज्ञान में जिज्ञासु जीव के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। जो निष्पक्ष, आग्रहरहित एवं विनम्र जिज्ञासु होता है, वह सत्य निर्णय को सुनकर उधर स्वाभाविक खिंच जाता है। सत्य निर्णय वचन जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। काल का रूढ़ अर्थ मृत्यु है, जो केवल शरीर को मारता है परन्तु शरीर के मरने से कोई हानि नहीं होती। जिससे जीव को संसार में भटकना पड़ता है, अथवा जिससे मनुष्य का मन सदैव चंचल रहता है वह अज्ञान एवं अविद्या ही काल है। चिन्ता और चिता में चिंता ही दुखदायी है, चिता नहीं। क्योंकि चिता तो जड़ शरीर को ही भस्म करती है, परन्तु चिन्ता चेतन को रुलाती है। मौत होने पर जड़ शरीर चिता में जलता है, परन्तु अज्ञान से चेतन-मनुष्य चिन्ता में जलता है। अतएव चिन्ताकारक अज्ञान ही काल है, जिससे जीव को ज्ञान के वचन छुड़ाते हैं। इसलिए हर शांति-इच्छुक का कर्त्तव्य है कि वह विवेकवान संत पुरुषों के निर्णय वचनों का मनन-चिंतन करे।

भूल से जागो

भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।
विस्मय की छूरी, संशय का रेतना॥३१९॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः, फिर। चेतना = होश में आना, सावधान होना। विस्मय = आश्चर्य, संदेह। संशय = अनिश्चय। रेतना = रेती से रगड़कर किसी वस्तु को साफ या औजार को तेज करना।

भावार्थ—जो भूल हो गयी वह हो गयी, अब सावधान हो जाओ! लोग संशय की रेती से रेतकर विस्मय की छूरी को तेज करते हैं और उससे अपना ही गला काटते हैं। तुम ऐसा न करो॥३१९॥

व्याख्या—रेती नाम का लोहे का एक खुरदुरा चपटा छड़ होता है उससे रगड़कर लोहे के औजार साफ किये जाते हैं और छूरी, चाकू आदि धारदार हथियार को रगड़कर उनकी धार तेज की जाती है। सद्गुरु ने इस साखी में विस्मय को छूरी कहा है जिससे सबका गला रेता जा रहा है। इस विस्मय की छूरी को ज्यादा तेज करने के लिए संदेह की रेती से उसकी धार साफ कर ली जाती है।

विस्मय आश्चर्य को कहते हैं। इसके बाद इसके अर्थ संदेह, गर्व, विषाद आदि भी हैं, किंतु यहां का खास अर्थ आश्चर्य ही लगता है। मनुष्य भूमंडल, समुद्र, वन, असंख्य तारे तथा अनंत आकाश देखता है। उसे आश्चर्य होता है कि यह सब कैसे बन गया, इसे किसने बनाया! पृथ्वी पर छह ऋतुओं का परिवर्तन, वृक्ष, बेलि, वनस्पति, नदी, झरने, नाना धातु, प्राणियों के शरीर, शरीर में उपयोगी अवयव एवं इंद्रियां—ये सब कैसे बन गये, इन्हें किसने बनाया! पुराकाल में हमारे पूर्वजों को तो निविड़ अंधियारी रात, तूफान, मूसलाधार वर्षा, बादलों की गर्जना आदि भी घोर आश्चर्यजनक लगते थे, और वे इन सबमें किन्हीं समर्थ देवताओं के हाथ देखते थे। आज इस विज्ञान युग में भी सृष्टि की विचित्रता में जड़-चेतन के गुण-धर्म, विश्व के नियम, द्रव्यों से स्वभावसिद्ध संरचना न देखकर किसी देव के हाथ देखने वालों की भीड़ है। विस्मय एवं आश्चर्य होना ही अबोध का लक्षण है।

वनस्पतियों के पत्तों में नसें कैसे बन गयीं! नाना प्रकार के फूल कैसे खिल गये! एक ही पेड़ की एक ही डाली में नाना रंग के फूल कैसे हो गये! मोर की कलंगी, हिरन की ऐंठी सींगे, सिंह के शरीर पर धारियां, प्राणियों में आंख, नाक, कान, दांत आदि कैसे बन गये! यह सब आश्चर्य अबोधी आदमी को ही हो सकते हैं। ज्ञानवान समझते हैं कि जड़प्रकृति गुणों का भंडार है। बीजीअसर के असंख्य खेल हैं और जड़-चेतन के बीच में जो संभव है वह हो रहा है। आश्चर्य नाम की चीज संसार में कुछ है ही नहीं। परन्तु देवता का भूत जिसके दिमाग पर चढ़ा है वह हर चीज किसी देवता का बनाया मानता है, और स्वयं अकर्मण्य होकर उसकी प्रार्थना के बल पर सब कुछ पाना चाहता है।

संशय की रेती से विस्मय की छूरी अधिक धारदार हो जाती है। संशय का अर्थ है अनिश्चय, जैसे कि यह जगत स्वतः अनादि है कि किसी ईश्वररचित, ईश्वर है कि नहीं, जीव तथा देह एक है कि दो, पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग, बन्ध-मोक्ष हैं कि केवल कल्पित, त्याग-मार्ग में चल पाऊंगा कि नहीं! यह संशय मनुष्य को जिज्ञासु बनाये और वह सत्य की खोज करे तब तो ठीक है; परन्तु यदि संशय जीवनभर दिमाग पर छाया रहे तो यह भटकने का कारण बन जायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि आदमी जितना संशयग्रसित होगा उतना वह अबोधी बनकर भटकेगा। वह उतना ही संसार की घटनाओं को देखकर आश्चर्य करेगा।

कबीर देव कहते हैं "भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।" पहले जो भूल-चूक में थे अब वैसे ही मत बने रहो। देव तथा ईश्वर की बैशाखी छोड़कर स्वतन्त्र होकर चलो। द्रव्य नित्य हैं, द्रव्य में क्रिया एवं गति नित्य हैं और इस द्रव्य एवं गति से जगत नित्य है। द्रव्य और गतिमय संसार के साक्षी चेतन नित्य हैं। जो असंख्य चेतनों तथा असंख्य जड़ द्रव्यों को ठीक से अनादि-अनंत अपने गुण-धर्मों से नित्य समझ लेगा उसे संसार के ज्ञान के विषय में भटकाव नहीं होगा। जड़-चेतन का ठीक से बोध न होने से आत्मा से अलग परमात्मा तथा देवी-देवता, भूत-प्रेतादि के नाना भ्रम खड़े होते हैं। जड़-चेतन का निर्णययुत बोध हो जाने पर सारी भ्रांतियां कट जाती हैं।

इस साखी का अर्थ हम बौद्धिक एवं दार्शनिक स्तर से हटकर मानसिक एवं चारित्रिक स्तर पर भी कर सकते हैं। हम विस्मय का अर्थ विषाद तथा संशय का अर्थ पूर्ववत अनिश्चय लें तो अभिप्राय होगा कि हम अपने मानसिक अनिश्चय एवं संदेह के कारण विषाद में पड़े रहते हैं। विषाद का अर्थ है उदासी, मानसिक चिंता तथा मन का उखड़ा-उखड़ा रहना। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अनिश्चय मन वाला विषाद भरा मन वाला होता है। जिसका अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं है, जो अपने पथ में निश्चय मन वाला नहीं है, उसकी न अपने लक्ष्य की दिशा में प्रगति हो सकती है और न उसके मन में शांति आ सकती है। जो व्यक्ति मन की दुविधा छोड़कर अपने विषय में निर्णय ले सकता है, वही विषाद एवं चिंता से छूटकर अपने लक्ष्य को पा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तू आज तक भूल में रहा, परन्तु अब सावधान हो जा, अब होश में आ जा। जब सारे संशय, अनिश्चय एवं दुविधा को छोड़कर अपने पथ में लग जायेगा, तब तू सारे विषयों से पार होकर अनन्त सुख के सागर में पहुंच जायेगा।

इस साखी की प्रथम पंक्ति को देखते हुए लगता है कि मानो कोई साधक कुछ भूल कर गया हो और वह पश्चाताप में इतना डूब गया हो कि उठने का साहस ही न कर रहा हो। इतने में सद्गुरु ने झकझोरकर जगाते हुए तथा साहस देते हुए उसे कहा हो कि जो भूल हुई सो हुई, उसको लेकर रात-दिन ग्लानि में डूबा मत रह, किन्तु यह निश्चय कर कि अब ऐसी गलती तू नहीं करेगा। अब तू पूर्ण होश में आ जा। तू अपने मन का अनिश्चय छोड़, तेरे सारे विषाद-अवसाद समाप्त हो जायेंगे। तू अपने कल्याण-पथ पर चलने में संदेह मत कर। तू अपने कल्याण-पथ पर चल सकता है और इसी जीवन में पूर्ण जीवन्मुक्त हो सकता है।

संसार का सम्बन्ध झूठा है

दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।
मुये गये नहिं बहुरे, बहुरि न आये फेरि॥३२०॥

शब्दार्थ—दोहरा = साखी, दोहा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के देश और काल को देखकर जो संसार की वास्तविकता है उसका बोध कराने के लिए दोहे एवं साखियां कहता हूं। संसार की यह परम वास्तविकता है कि जो व्यक्ति मरकर यहां से चला जाता है वह लौटकर नहीं आता॥३२०॥

व्याख्या—कबीर साहेब लिखते नहीं थे, किन्तु वैदिक ऋषियों की तरह कहते थे "दोहरा कथि कहैं कबीर" इस पद्यांश से स्पष्ट होता है। "मसि कागद छूवों नहीं......" इस १८७वीं साखी में तो उन्होंने बहुत खुलासा बताया है कि मैं स्याही, कागज, कलम आदि नहीं छूता, केवल मुख से ही अपनी बातें बता देता हूं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लेखक जब लिखता है तब वह दूसरे मनुष्यों से हटकर केवल अकेला रहकर लिखता है। लिखते समय लेखक के सामने केवल अपनी मानसिक कल्पना रहती है। परन्तु कहते समय सामने दूसरा आदमी होता है। वक्ता चेतन मनुष्यों की स्थिति एवं मनोदशा देख-देखकर उनके अधिक उपयोग की बातें कहता है। इसलिए लेख से प्रवचन अधिक प्राणवान होते हैं। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है "चेतन संयुत वाक्य प्रकाशित लखि-लखि उर तस प्रेरे।"

कबीर साहेब ने बहुत दोहे कहे हैं। तीन सौ तिरपन दोहे तो इस प्रकरण में ही हैं। दोहों में दो पंक्तियां होती हैं। दोनों पंक्तियां तेरह और ग्यारह मात्राओं की होती हैं। कबीर साहेब ने इसे साखी कही है। साखी साक्षी का तद्भव शब्द है। साखी द्रष्टा को कहते हैं जो तटस्थ एवं निष्पक्ष होता है। कबीर साहेब की सारी वाणियां निष्पक्ष होती हैं। अतः अपने दोहों को उन्होंने साखी ही कह डाला है। पूरे बीजक में इस ३२०वीं साखी में ही दोहरा कहकर दोहा नाम का भाव व्यक्त किया है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के समय को देखता हूं तो लगता है कि सभी देश और काल की वस्तुएं आगमापायी हैं। संसार की सभी वस्तुएं गतिशील हैं। हर वस्तु की गतिशीलता में देश और काल लगते हैं। जैसे मानो ये उंगुलियों में फंसी कलम कागज पर गति करती है, तो इसके गति करने में कुछ देश तथा कुछ काल लगते हैं। कलम कागज पर प्रतिक्षण एक जगह से दूसरी जगह सरकती है यह देश का आयाम है और उसमें जो समय लगता है वह काल है। देश और काल से प्रभावित सारी चीजें नाशवान हैं। मनुष्य का जीवन क्षणभंगुरता का ज्वलंत उदाहरण है। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब का प्रतिदिन का अनुभव है कि आदमी मरता है और जो मरता है वह पुनः लौटकर नहीं आता। परन्तु इस बात से कोई यह अर्थ न लगाये कि कबीर साहेब पुनर्जन्म का खंडन करते हैं। कबीर साहेब पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रबलता से मानते हैं, जिसके समर्थन में पूरे बीजक में उनके वचन फैले हैं। यहां तो केवल इतना ही अर्थ है कि इस संसार में रहने वाले सभी मनुष्य मरते हैं और जो मरता है वह लौटकर पुनः नहीं आता।

यहां माया-मोह पर चोट है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य इतना जड़ हो गया है कि इस क्षणभंगुर जीवन में वह पता नहीं कितना पाप कर डालता है। जमीन, मकान, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के लिए वह पाप-पर-पाप करता है। मोही मनुष्य की गतिविधि देखकर लगता है कि मानो उसे इस देह से इस संसार में ही सदैव रहना है। परन्तु ध्यान रहे, जो एक बार यहां से उठ गया वह यहां कभी नहीं लौटता। यह ठीक है कि पुनर्जन्म-सिद्धांतानुसार जीव पुनः संसार में बारम्बार जन्म धारण करता है, परन्तु उसी रूप में तो वह नहीं आ पाता। राम, कृष्ण, पृथु, वेन, जवाहर, पटेल उसी रूप में कहां आ सके! इस संसार से सबको अचानक जाना पड़ता है। जाने में देरी नहीं लगती और जाकर लौटने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, फिर ऐसे संसार में हमें किस वस्तु का मद करना चाहिए! जहां सब कुछ अचानक सदा के लिए छूट जाना है वहां के लिए हमें चिंता करना व्यर्थ है। बाकी सब अनिश्चित है, परन्तु मृत्यु निश्चित है। यह संसार के प्रतिदिन का ज्वलंत अनुभव है। सद्गुरु का इस साखी में उसी के लिए निर्देश है कि हे मानव! तुम मोह-नींद से जागो।

सकामी शिष्य की दशा

गुरु बिचारा क्या करे, शिष्यहि माँ है चूक।
भावै त्यों परमोधिये, बाँस बजाये फूक॥३२१॥

शब्दार्थ—चूक = भूल, अपराध, छल-कपट, असावधानी। परमोधिये = प्रबोध दीजिये, जगाइये, उपदेश दीजिये।

भावार्थ—बेचारा गुरु क्या करे जबकि शिष्य की ही असावधानी है। कपट से भरे श्रद्धाहीन शिष्य को चाहे जितना उपदेश करो उस पर उसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ सकता जैसे कोई पोले बांस में फूंक मारकर उसे बजाये और फूंक दूसरी तरफ निकल जाये॥३२१॥

व्याख्या—कबीर साहेब की प्रायः हर बात में उदाहरण रहता है। यहां पोले बांस से श्रद्धाहीन शिष्य की तुलना की गयी है। ऐसे भी शिष्य नामधारी होते हैं जो कहने के लिए तो किसी गुरु से दीक्षा ले लेते हैं और उनके शिष्य कहलाने लगते हैं, परन्तु उनके मन में परमार्थ की बात न होकर देहस्वार्थ, इन्द्रिय-भोग एवं मान-बड़ाई पाने की लालसा रहती है। वे परमार्थ की आड़ में स्वार्थ साधने के चक्कर में रहते हैं। इसलिए वे सद्गुरु तथा संतों से छल-कपट रखते हैं। वे अपने हृदय के भेद को अपने परम हितैषी संत-गुरु से नहीं कहते। वे बड़ी चतुरता से अपनी भोग-लालसा को छिपाये रखते हैं। परन्तु क्या छिपाकर लहसुन-प्याज खाने से वह खाना छिप सकता है। जब वह लोगों के बीच में जायेगा तब उसके मुंह से निकलकर उसकी गंध अपने आप बता देगी कि उसने लहसुन-प्याज खा रखे हैं। पापी अपने पाप को हजार परत में लपेटकर छिपाना चाहता है, परन्तु वह तो छिपने वाला नहीं है।

कल्याणार्थी साधक के हृदय में भोग और सम्मान की किंचित भी वासना नहीं रहती। वह अपने उद्धारक सद्गुरु तथा संतों से निष्कपट, निष्छल एवं अभिन्न होता है। जिसे

मानसिक स्वच्छता तथा आध्यात्मिक शांति प्रिय है, वह छल-कपट से सैकड़ों कोस दूर रहता है। निष्छलता मनुष्य का उच्चतर व्यक्तित्व है और फिर साधक की तो बात ही निराली है। जो साधक होता है उसमें छल-कपट का प्रश्न ही नहीं उठ सकता! साधक इन्द्रियों के भोगों को तिलांजलि दे देता है। सारे छल-कपट इन्द्रिय-भोग तथा सम्मान की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं। साधक इन्हें अपना शत्रु मानता है। भोग-मान की वासना ही शत्रु है। अतएव शांति का भूखा-प्यासा साधक भोग-मान की वासनाओं से दूर निष्छल होता है।

साधक के चोंगे में जो भोगों की इच्छावाले लोग होते हैं वे बड़ी सावधानी से अपने मैले मन को संत-गुरु से छिपाये रखते हैं। वे मूढ़जन अपना इसी में लाभ समझते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में उनकी जो दुर्गति होती है, भोगे नहीं सिराती। ऐसे मलिन साधक को गुरु चाहे कितना समझावे उसको कोई असर नहीं होता। "भावै त्यों परमोधिये" गुरु का जितना मन हो उतना उपदेश उसे करता रहे, परन्तु उसके लिए वह सब "बाँस बजाये फूक" की तरह ही निरर्थक होकर रह जाता है। जिसके मन में विषय-भोग और सांसारिकता समाये हैं वह गुरु-उपदेशों का महत्त्व क्या समझ सकता है!

"भावै त्यों परमोधिये" को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शिष्य को जितना भावै, जितना अच्छा लगे उतना ही तो उपदेश दिया जा सकता है! यदि उसे उपदेश अच्छे नहीं लगते तो उसके सामने कुछ भी कहना "बाँस बजाये फूक" के समान बेकार होगा।

वक्ता की विनम्रता

दादा भाई बाप के लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥३२२॥

शब्दार्थ—दादा = पिता के पिता, पितामह, बड़ा भाई, गुरुजन। लेखों = मानूं, समझूं। बन्दा = सेवक, दास; वक्ता विनय दिखाने के लिए अपने आप को बन्दा कहता है।[1] पुरिया = बाना फैलाने की नरी, ताना, गठरी, गांठ, तात्पर्य में वासना। निरुवारे = सुलझावै।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि हे मित्रो! मैं तो तुमको भाई, पिता तथा पितामह के समान समझूंगा और तुम्हारे चरणों का गुलाम भी बन जाऊंगा, शर्त यह है कि तुम वासनाओं का त्याग करो। जो आज वासनाओं का ताना सुलझा लेगा एवं मानसिक ग्रंथियों को खोल लेगा वह सदा के लिए आनंदित हो जायेगा॥३२२॥

व्याख्या—सद्‌गुरु कबीर के मन में मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति की कितनी तीव्र भावना है! व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति हुए बिना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। व्यक्ति-व्यक्ति इकट्ठा होकर ही समाज बनता है। यदि व्यक्ति ठीक हो जायं तो समाज ठीक

---

१. बृहत् हिन्दी कोश।

हो जाय। या कहना चाहिए कि जितने व्यक्ति ठीक हो जायेंगे उतने अंश में समाज ठीक हो जायेगा।

मन की गुत्थियों का सुलझ जाना ही मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। बीजक में 'पुरिया' शब्द का प्रयोग प्रायः वासनाओं की पोटली, गठरी, गांठ या ताना-बाना के अर्थ में है। ५८वें शब्द में भी "पुरिया जरे वस्तु निज उबरे" कहकर वासनाओं की गठरी के जल जाने पर ही निज वस्तु-आत्मतत्त्व का उद्धार होना बताया गया है। इस साखी की यह पंक्ति "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आज विवेक-साधनसंपन्न मानव शरीर को प्राप्त हो, अतः यदि तुम आज वासनाओं का ताना-बाना सुलझा लो, तुम्हारे मानसिक संस्कार सुधर जायं एवं मन की सारी वासनाएं क्षीण हो जायं, तो तुम सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे। संसार के भोग-ऐश्वर्य एवं पद-प्रतिष्ठा में क्षणिक सुख मिलता है और उसके परिणाम में केवल क्लेश मिलता है। परमानंद, सदानंद, नित्यानंद, अनंत सुख, आत्यंतिक सुख, परमशांति एवं अनंत शांति पाने का केवल एक रास्ता है, वह है समस्त वासनाओं का त्याग। समस्त इच्छाओं एवं वासनाओं के त्याग हो जाने पर जो शांति मिलती है, उसका वर्णन असंभव है। उसका केवल अनुभव हो सकता है, कथन नहीं। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। जिसकी इच्छाएं निवृत्त हो चुकी हैं, जिसने समस्त वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह सदा के लिए परमानंदमय एवं शांति का महासागर हो जाता है।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। पारखी संत प्रायः आनंद शब्द से कतराते हैं और वेदांती सुख शब्द से, परन्तु यह दोनों का मिथ्या भय है। परम पारखी कबीर देव ने यहां जीवन्मुक्ति सुख के लिए आनंद शब्द का प्रयोग किया ही है। उनके परवर्ती श्री रामरहस साहेब ने भी अपनी महान रचना पंचग्रंथी में अनेक स्थलों पर विधेयात्मक ढंग से आनंद शब्द का प्रयोग किया है। कुछ बानगी लें—"आनंद सिंधु अहंतातीता, तू हंस स्वतः आनन्द, हंस स्वतः पद आनंद लहै, हंस स्वतः आनंद पद सोई पद है जीव, दीन दयाल की शरण अनंदा, तेहि मांहिं परख गुरु ठहर साध। आनंद लहरि के समुद्र अगाध, हंस स्वतः आनंदपद, स्वतः अस्ति आनंद पद, आनंद महल अबास सोहावन, गुरुमुख सुख अनुमान रहित पद, बसै आनंद अटारी, स्वतः हंस आनंद पद।"[१] इसी तरह वेदांतियों के मान्य ग्रन्थ गीता में देखें—"संन्यस्यास्ते सुखं वशी, सुखमक्षयमश्नुते, स युक्तः स सुखी नरः, योऽन्तःसुखोऽन्तराराम: सुखमात्यन्तिकम्, योगिनं सुखमुत्तमम्, अत्यन्तम् सुखमश्नुते, आदि।"[२] गीता में इस आध्यात्मिक सुख के लिए शांति शब्द का भी काफी प्रयोग है। मूल वेदांत उपनिषद् कहती है—"यो वै भूमा तत्सुखं"[३] जो भूमा है, अनंत आत्मा है वही सुख है।

---

१. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, गुरुशतकसार तथा प्रश्न एक से पन्द्रह के उत्तर में।

२. गीता ५/१३, ५/२१, ५/२३, ५/२४, ६/२१, ६/२७, ६/२८।

३. छांदोग्य उपनिषद्, ७/२३।

वेदांती मान लेते हैं कि सुख का अर्थ विषय-सुख तथा आनन्द का अर्थ आध्यात्मिक सुख है, और कतिपय पारखी मान लेते हैं कि आनन्द का अर्थ विषय-सुख है तथा सुख का अर्थ आध्यात्मिक है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो ऐसी बात नहीं है। यह तो अपने मनोभाव पर निर्भर करता है कि जब हम आनन्द या सुख शब्द कहते हैं तब उन्हें क्षणिक विषयों की अनुकूलता के लिए कहते हैं कि मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक सुख के लिए कहते हैं। सुख या आनन्द दोनों में से किसी भी शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक सुख के लिए किया जा सकता है। शांति तो इसके लिए महत्तम शब्द है ही।

इस साखी की पहली पंक्ति भी ध्यान देने योग्य है। सद्गुरु कहते हैं कि जो अबकी बार समस्त वासनाओं का त्यागकर सदैव के लिए आनन्दमय हो जाये, मैं उसको "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहीं बन्दा।" अर्थात उसे मैं भाई, पिता तथा पितामह की तरह मान सकता हूं, मैं उसके चरणों की सेवकाई भी कर सकता हूं। यह विनम्रता और लोकमंगल की चरमनिष्ठा है। इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो यह है कि वे मनुष्य की पूर्ण उन्नति इच्छाजीत एवं वासनामुक्त होने में मानते हैं जो अध्यात्म की परम ऊंचाई है और दूसरी बात यह है कि ऐसे आध्यात्मिक उन्नति करने वाले को वे अपने सर-आंखों पर बैठा लेना चाहते हैं। इसी भावना से ओत-प्रोत उनके जगह-जगह वचन हैं "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

इससे हमें यह भी प्रेरणा मिलती है कि वक्ता को कितना विनयी होना चाहिए। कबीर जैसे उच्चतम संत कितनी विनम्रता से अपने आप को पेश करके कल्याणार्थी को प्रेरित करते हैं यह सोचते ही बनता है। जैसे कोई अपने बच्चों को बच्चा, बाबू, बप्पा, दादा, बाबा आदि कहकर उन्हें दुलारता एवं मनाता हो, वैसे सद्गुरु जिज्ञासु एवं मुमुक्षु को भाई, बाप, दादा कहकर उसे सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं। कबीर जैसे उच्चतम संत संसार का गुरु बनकर उसे नहीं चेताना चाहते, किन्तु उसका चेला बनकर एवं सेवक बनकर उसे चेताना चाहते हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है कि बड़े-से-बड़े लोगों को भी अपने आप को श्रेष्ठ, स्वामी एवं मालिक मानकर नहीं, किन्तु जनता का सेवक मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए। उपदेशक को चाहिए कि वह समाज को विनम्रता एवं समतापूर्वक सत्योपदेश एवं धर्मोपदेश दे। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

उत्तर प्रश्न अनेक विधि, निर्णय सहित यथार्थ।
उपदेशै तेहि मेल विधि, लखै आपनो अर्थ।।
काहे ते शिष्य मेल विधि, उचटै नहिं सो जीव।
वह तू जमा सो एक ही, ताते मेलहु कीव।।
मिलि लखे ते उचटै नहीं, एकता सुख की खानि।
सत्य शब्द टकसार विधि, निर्णय कही बखानि।।
दादा भाई बाप कै लेखौं, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।।

ऐसी उपदेशन युक्ति, दीन्हीं तोहि बताय।
जाते उचटै नहीं सो, लहै हंस पद आय।।
ठहरावै तेहि पद निजु, सो कृपाल गुरुदेव।
अनुमानी संकल्पना, नाश लहै बिनु भेव।।

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोहा २१२ से २१७)

अर्थात—अनेक प्रकार से प्रश्न और उत्तर के रूप में यथार्थ निर्णय करे। उपदेशक को चाहिए कि वह मेल-मिलाप की विधि से उपदेश करने में अपना प्रयोजन समझे। हे शिष्य! मेल-मिलाप के तरीके से क्यों उपदेश करना चाहिए; क्योंकि इससे श्रोताओं का मन उदास नहीं होता। तुम वक्ता और वे श्रोता दोनों सजाति मानव होने से एक ही हो, इसलिए तुम्हें उनको मिलाकर उपदेश करना चाहिए। प्रेम से, विनय से एवं मीठे वचन कहकर मेल-मिलाप की भावना से उपदेश करने पर किसी श्रोता का मन उचटता नहीं, उदास नहीं होता। देखो, संसार में एकता सुख की खानि है। टकसाल में—प्रामाणिक ग्रंथ बीजक में सद्गुरु कबीर ने अपने सत्य शब्दों में ऐसा निर्णय वर्णन किया है "हे प्रिय मनुष्यो! मैं तुम्हें भाई, पिता तथा पितामह कहता हूं और तुम्हारे चरणों की वन्दना भी करता हूं कि तुम कल्याण के रास्ते पर आ जाओ। अबकी बार संपूर्ण वासनाओं का त्याग करो तो सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे।" इस प्रकार सद्गुरु कबीर ने तुम्हें मीठे वचनों में उपदेश करने का तरीका बता दिया है। ऐसा उपदेश करने से श्रोताओं का मन खिन्न नहीं होता और वे धीरे-धीरे स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। वही सच्चा कृपालु गुरु है जो यथासंभव मीठे वचनों में निर्णय कहकर मनुष्यों को उनके हंस पद में स्थित करे। अनुमान-कल्पना में पड़े हुए लोग बिना अपने स्वरूप का भेद जाने पतित होते हैं। अतः उन्हें यथार्थ ज्ञान देना आवश्यक है।

श्री पूरण साहेब भी ३४१वीं साखी 'है बिगरायल ओर का" की टीका में लिखते हैं—"हे प्राण! तू तो भास-अध्यास का जानने वाला मेरा सजाति है। कछु मैं जीवघातक काल नहीं जो त्रास रूपी घाव मारों·······। इस वास्ते शनैः-शनैः मिथ्या धोखा परखाय के पारख पर स्थिर करता हूं।"

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह नहीं है कि उपदेष्टा श्रोताओं का केवल मीठे वचनों से मनोरंजन करता रहे और सत्य निर्णय पर लीपापोती करता रहे। सत्य निर्णय करने पर कुछ लोगों को वह कुछ-न-कुछ कटु लग सकता है। परन्तु इतनी परवाह करके सही निर्णय नहीं कहा जा सकता, और सही निर्णय कहे बिना जिज्ञासु एवं सत्पात्र को बोध नहीं हो सकता। इसलिए सही निर्णय तो कहना चाहिए, परन्तु वक्ता को यह भी देखना चाहिए कि श्रोता किस किस्म के हैं! उनमें पात्रता कितनी है! सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। श्रोताओं का मन प्रसन्न करके ही उनके गले अपनी बातें उतारी जा सकती हैं। धीरे-धीरे ही किसी को रास्ते पर लाया जा सकता है। खानी-वाणी में अत्यन्त आसक्त जीवों को तत्काल उनसे सर्वथा नहीं छुड़ाया जा सकता। पहले तो श्रोताओं के मन को प्रसन्न करने वाली ही बातें करनी पड़ेगी। श्रोता प्रसन्न होने के बाद खरे-से-खरे

निर्णय को भी मानेंगे। इसलिए जितना संभव हो प्रवचन में मीठे वचनों का प्रयोग होना चाहिए।

विनम्रता उच्च सद्गुण है

सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावै सब कोय॥३२३॥

शब्दार्थ—लघुता = अपने आप को छोटा मानने का भाव, विनम्रता।

भावार्थ—अपने आपको सबसे छोटा मानकर सबसे विनयी बने रहना बड़ी अच्छी बात है। मनुष्य को इस विनय-भाव से ही सारी श्रेष्ठता प्राप्त होती है, जैसे दुतिया के चन्द्रमा को सब सिर झुकाते हैं॥३२३॥

व्याख्या—दुतिया का चन्द्रमा दुबला-पतला होता है, परन्तु वन्दनीय इसलिए होता है कि वह चांदनी रात की शुरुआत करता है। उसके बाद वह दिन-प्रति-दिन ज्यादा प्रकाशमान होता जाता है और संसार को दिनोंदिन अधिक प्रकाश देता जाता है। इसके विपरीत पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखिए। वह भरा-पूरा है, परन्तु वह अभागा उस दिन के बाद से ही काला होना शुरू होता है और तभी से अंधियारी रात शुरू होती है तथा दिनोंदिन रात की अंधियारी गहराती जाती है।

यहां दुतिया के चन्द्रमा की उपमा विनम्र मनुष्य से दी गयी है। इस प्रकार सद्गुरु ने सुन्दर उपमा अलंकार में विनयी मनुष्य की प्रशंसा की है। जैसे दुतिया का दुबला चन्द्रमा आगे निरन्तर प्रकाश की तरफ बढ़ता तथा जगत को उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित करता है, वैसे अपने आपको सब से लघु मानकर चलने वाला विनयी मनुष्य अपने लक्ष्य में निरन्तर उन्नति करता जाता है और समाज के कल्याण में सहायक बनता जाता है। जो अपने आप को सबसे छोटा मानकर सबसे विनयपूर्वक रहता है, वह सबसे ज्यादा सार एवं ज्ञान ग्रहण करता है। दत्तात्रेय जी का चौबीस गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करने की बात उनका विनम्रतापूर्वक सबसे सार ग्रहण करना ही है। तथाकथित उच्चवर्ण, उच्चकुल, सुन्दरता, विद्या, पद, प्रतिष्ठा, बहुत जानकारी, काव्यशक्ति, लेखनशक्ति आदि सारे गुण तुच्छ एवं फीके हो जाते हैं यदि इनसे संपन्न मनुष्य विनयी नहीं है। ज्ञान, वैराग्य और बड़ी उम्र भी आदरणीय नहीं हो पाते यदि विनम्रता का अभाव है। वे ज्ञान-वैराग्य कैसे जिनमें विनय न हो। सच्चे ज्ञान-वैराग्य धारण करने वाले में विनय अपने आप होता है। जिसमें विनय नहीं है उसके ज्ञान-वैराग्य दिखावे के या अधूरे हैं।

अधिकतम मनुष्यों की यह बहुत बड़ी दुर्बलता रहती है कि वे अपने आप को बड़ा करके समाज में प्रदर्शित करना चाहते हैं। किसी पुस्तक में तथाकथित जगत-गुरुओं के नाम पढ़िए तो देखिएगा कि वह अनेक विशेषणों से संयुक्त पूरे पेज की चौड़ाई में रहेगा। कहीं-कहीं तो एक पंक्ति में उनका नाम नहीं आने से दो-दो पंक्तियों में रहता है। उसमें इतने विशेषण रहते हैं कि असली नाम क्या है पता भी नहीं चलता। इसे कोई दूसरा लिख दे तो कोई बात नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं हैं। वे स्वयं ऐसा लिखवाना चाहते हैं

और अनेक स्वयं भी लिखते हैं। अपनी आध्यात्मिक तथा नैतिक कमजोरी के कारण अपनी असली श्रेष्ठता पर संदेह करने वाले अपने नामों में स्वयं जगद्गुरु, विश्वगुरु, आचार्य, महंत, महामंडलेश्वर, साहेब, स्वामी, शास्त्री, वेदांताचार्य, दर्शनकेशरी, तर्कपंचानन, प्रतिवादभयंकर आदि विशेषण-पर-विशेषण लिखते हैं! हम पुरानी परम्परा के अनुगामी तो बनते हैं, परन्तु पुराने पुरुषों की अच्छाइयों का अनुसरण भी नहीं करते। सोचिए, पुराने महापुरुष अपने नाम कैसे प्रचलित करते थे सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, व्यास, वसिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि। परन्तु आज के ज्ञानी, साधु संन्यासी लोग स्वामी, साहेब, आचार्य और शास्त्री के बिना अपना नाम ही नहीं लिख पाते। राम, कृष्ण, बुद्ध तथा महावीर ने कभी अपने नाम में स्वयं भगवान नहीं जोड़ा था। पीछे से उनके नाम में भक्तों ने भगवान शब्द लगाया, परन्तु आज के अभिमानी स्वयं अपने आप को भगवान लिखते तथा शिष्यों से लिखवाते हैं। पूरे बीजक में महत्तम संत कबीर ने अपने आपको केवल कबीर कहा है या कहीं दास लगा दिया है, परन्तु उनके अनुगामी लोगों की दशा देखी जा सकती है कि उनमें कितने लोग अपने नाम में कितना अधिक विशेषण चाहते हैं! अपने विषय में विश्वस्त ही नहीं हैं कि वे बिना विशेषण के रह सकते हैं। लोग समझते हैं कि मेरे नाम में यदि कोई विशेषण नहीं रहेगा तो लोग मुझे क्या समझेंगे! ऐसे लोग जब किसी सभा में जाते हैं तब आगे बैठना चाहते हैं और जहां तक हो सके दाहिने। वे हर समय अपनी कमजोरी जाहिर करते हैं। लोगों में बड़ा और अच्छा कहलाने की जितनी भावना है उतना बड़ा और अच्छा रहने की भावना नहीं है। बड़ा और अच्छा वही है जिसमें सद्गुण और विनम्रता है। कहा है "बड़े बड़ाई न करे, बड़े न बोले बोल। हीरा कपही ना कहै, लाख टके का मोल।।"

मनुष्य को यह आत्मविश्वास रखना चाहिए कि वह यदि विनम्र, सेवा-परायण तथा सद्गुणसंपन्न है, तो स्वाभाविक सज्जनों के गले का हार हो जायेगा। विनयी व्यक्ति अपनी बड़ाई नहीं चाहता, किन्तु संसार उसकी बड़ाई करता है। जैसे फली हुई डालियां झुक जाती हैं वैसे सद्गुणसंपन्न व्यक्ति विनयी होता है। जैसे तराजू का जो पलड़ा झुकता है वह वजनदार माना जाता है वैसे जो व्यक्ति झुकता है वह बड़ा माना जाता है। "जो कोइ नवै सो आपको, पर को नवै न कोय। घालि तराजू तौलिए, नवै सो भारी होय।।"

विनय एक ऐसा महान सद्गुण है कि यह अन्य छोटे-मोटे दुर्गुणों के रहते हुए भी मनुष्य को सबका प्यारा बना देता है। वाल्मीकीय रामायण के प्रथम संस्करण में ही राम का चरित्र अत्यन्त विनयपूर्ण चित्रित हुआ है। उसका प्रभाव पीछे के कवियों पर इतना पड़ा है कि राम-कथा के पुष्कल साहित्य बन गये। रोम सम्राट मार्कस ओरेलियस तथा अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने विनय के विषय में जगत-प्रसिद्ध हैं। कनफ्यूसियस, बुद्ध तथा महावीर विनय के मूर्तिमान स्वरूप थे। पण्डित, मौलवी, योगी, अवधूत तथा षड्दर्शनियों को जोर से फटकारने वाले स्वयं ग्रन्थकार कबीर की अत्यंत विनम्रता "सोई गुरू हम चेला" से ही प्रकट हो जातीं है। फिर उनकी पूर्ण विनम्रता तो उनका जीवन-दर्शन ही है। न वे पैगंबर बनते हैं, न ईश्वर-पुत्र और न अवतार और न अपनी वाणी तथाकथित ईश्वर-वाणी एवं इलहामी किताब कहते हैं। वे अपने आपको

केवल मनुष्य कहते हैं और "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" कहकर सब को स्वतन्त्र चिन्तनपूर्वक विचार करके बात को मानने या न मानने की राय देते हैं।

अतः हर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह चाहे व्यावहारिक क्षेत्र में हो या पारमार्थिक, उसे विनयी होना चाहिए। विनयी सबके दिल का देवता है, सबका स्नेहपात्र है और भव का भूषण है।

मरने की अच्छी कला क्या है?

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥३२४॥
मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया बिचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार॥३२५॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः। सयानी = समझ, विवेक। परबस = वासनाओं के अधीन।

भावार्थ—संसार के लोग मरते-मरते सब मरते ही हैं, परन्तु वे मरना नहीं जानते। वे ऐसी रहनी में जीकर नहीं मरते जिससे उन्हें पुनः न मरना पड़े॥३२४॥ जगत के सभी लोग तो मरते ही हैं, परन्तु वे अपने आपकी तरफ लौटकर विचार नहीं करते। एक तो मरना ऐसा होता है जिसमें अपने विवेक से सारी आसक्तियों एवं वासनाओं का त्याग करके इस जीवन में निर्भय और मुक्त हो जाया जाता है और दूसरा ढंग मरने का है वासनाओं की रस्सी में बंधकर घसीटा जाना, यही संसार की गति है॥३२५॥

व्याख्या—उक्त दोनों साखियों का विषय एक है। सद्गुरु कहते हैं कि मरते तो सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। लोग मरने का तरीका नहीं जानते। प्रश्न हो सकता है 'मरने का तरीका क्या है? क्या फांसी लगाकर, आग में या जल में कूदकर या ट्रेन से कटकर या जहर खाकर? आखिर मरने का कौन-सा तरीका अच्छा है?' उत्तर में समझना चाहिए कि यह सब मरने का तरीका नहीं है। यह सब तो आत्महत्या है। मरने का तरीका है जीने का अच्छा तरीका।

जीवन में प्रेम और अनासक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा होना जीने का अच्छा तरीका है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेमपूर्ण और समस्त प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि संसार पांच विषयों के प्रति अनासक्त रहना ही जीवन का उत्तम रूप है। प्रेम में स्वर्ग है और अनासक्ति में मोक्ष है। जिसके जीवन में प्रेम और अनासक्ति दोनों घटते हैं उसका जीवन पूर्ण सफल है।

आप कहेंगे कि जिसके मन में प्रेम होगा, उसके मन में अनासक्ति नहीं होगी और जिसके मन में अनासक्ति होगी उसके मन में प्रेम नहीं होगा। प्रेमपूर्ण मन अनासक्त कैसे होगा तथा अनासक्त मन प्रेमपूर्ण कैसे होगा! इसका समाधान यह है कि प्रेम तथा अनासक्ति में विरोध नहीं, किन्तु ये एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम के नाम से मोह और वासना अर्थ भी संसार में माना जाता है। लोग कहते हैं कि अमुक लड़के को अमुक लड़की से प्रेम हो गया है। यहां मोह एवं वासना को प्रेम मान लिया गया है। परन्तु

विवेकीजन प्रेम का अर्थ निष्काम स्नेह मानते हैं जिसमें केवल सेवा करने की भावना होती है, पाने की भावना नहीं। वासना एवं मोह में पाने की भावना होती है, परन्तु प्रेम में देने की भावना होती है। कबीर साहेब ने कहा है "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥" यह कबीर-कथित उच्चतम प्रेम किसी लड़की-लड़का का वासनात्मक आकर्षण नहीं है, किन्तु मानवता एवं जीव मात्र के लिए करुणा है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को जितने अंशों में जीत लेता है वह उतने अंशों में प्रेम से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह उतने अंशों में परोपकारी हो जाता है। जो व्यक्ति संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाता है वह प्राणिमात्र के लिए प्रेम करता है। संसार के पूर्ण अनासक्त संतजन कपिल, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि संसार के कल्याण के लिए रोते थे। कबीर साहेब ने कहा "मैं रोवों यह जगत को"[१] संसारासक्त लोग जगत के लिए नहीं रोते। वे अपने पत्नी, बच्चे एवं धन-दौलत के लिए रोते हैं। संसार के कल्याण के लिए तो वह रोता है जिसके मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम एवं करुणा की तरंगें उठती रहती हैं और वह वही हो सकता है जो संसार से अनासक्त है।

जिसका व्यवहार मनुष्यों से प्रेमपूर्ण नहीं है, वह जीवन में उलझा-उलझा रहता है और उलझा आदमी का जब जीना ही अच्छा नहीं है तब मरना क्या अच्छा हो सकता है! इसलिए जो जीवन को अच्छे ढंग से जीना चाहे, उसे चाहिए कि वह व्यवहार में मिलने वाले सारे मनुष्यों से प्रेम का बरताव करे। सबके प्रति प्रेम का व्यवहार होने से मन में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य आदि नहीं आते। मन निर्ग्रंथ, सरल एवं प्रसन्न रहता है। यही स्वर्ग-सुख है। जो व्यक्ति अपने साथियों में प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है और अन्य समस्त प्राणियों को भी प्रेम की दृष्टि से देखता है उसका मन राग एवं द्वेष से छूटकर सब समय प्रसन्न रहता है।

दूसरा पक्ष है अनासक्ति। प्रेम-द्वारा जिनका हृदय शुद्ध हो जाता है वही ज्ञानोदय होने पर सबसे अनासक्त हो जाता है और जो सबसे अनासक्त हो जाता है उसका प्रेम और परिपूर्ण हो जाता है। जो प्राणियों में मोह नहीं करता, पदार्थों में लोभ नहीं करता, प्रतिष्ठा में आकर्षित नहीं होता, वही तो अनासक्त है। वह खाता-पहनता है केवल शरीर की रक्षा के लिए। उसे खाने पहनने में भी आसक्ति नहीं होती। सारा संसार एक दिन अनंत काल के लिए अचानक छोड़ देना है। ऐसे संसार में किस वस्तु में राग किया जाय! राग-द्वेष ही जीव को संसार में भटकाते हैं। जो राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है वही कृतार्थ हो जाता है। सद्गुरु ने कहा है "बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं।"[२] धनी घराने में बालक की सेवा करने वाली नौकरानी धाय बालक की सेवा करती है, उसे प्यार देती है, उसको

---

१. साखी १८०।

२. पूरी साखी इस प्रकार है—
कमल पत्र हैं संतजन, रहैं जगत के माहिं।
बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं॥

केवल मनुष्य कहते हैं और "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" कहकर सब को स्वतन्त्र चिन्तनपूर्वक विचार करके बात को मानने या न मानने की राय देते हैं।

अतः हर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह चाहे व्यावहारिक क्षेत्र में हो या पारमार्थिक, उसे विनयी होना चाहिए। विनयी सबके दिल का देवता है, सबका स्नेहपात्र है और भव का भूषण है।

मरने की अच्छी कला क्या है?

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥३२४॥
मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया बिचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार॥३२५॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः। सयानी = समझ, विवेक। परबस = वासनाओं के अधीन।

भावार्थ—संसार के लोग मरते-मरते सब मरते ही हैं, परन्तु वे मरना नहीं जानते। वे ऐसी रहनी में जीकर नहीं मरते जिससे उन्हें पुनः न मरना पड़े॥३२४॥ जगत के सभी लोग तो मरते ही हैं, परन्तु वे अपने आपकी तरफ लौटकर विचार नहीं करते। एक तो मरना ऐसा होता है जिसमें अपने विवेक से सारी आसक्तियों एवं वासनाओं का त्याग करके इस जीवन में निर्भय और मुक्त हो जाया जाता है और दूसरा ढंग मरने का है वासनाओं की रस्सी में बंधकर घसीटा जाना, यही संसार की गति है॥३२५॥

व्याख्या—उक्त दोनों साखियों का विषय एक है। सद्गुरु कहते हैं कि मरते तो सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। लोग मरने का तरीका नहीं जानते। प्रश्न हो सकता है 'मरने का तरीका क्या है? क्या फांसी लगाकर, आग में या जल में कूदकर या ट्रेन से कटकर या जहर खाकर? आखिर मरने का कौन-सा तरीका अच्छा है?' उत्तर में समझना चाहिए कि यह सब मरने का तरीका नहीं है। यह सब तो आत्महत्या है। मरने का तरीका है जीने का अच्छा तरीका।

जीवन में प्रेम और अनासक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा होना जीने का अच्छा तरीका है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेमपूर्ण और समस्त प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि संसार पांच विषयों के प्रति अनासक्त रहना ही जीवन का उत्तम रूप है। प्रेम में स्वर्ग है और अनासक्ति में मोक्ष है। जिसके जीवन में प्रेम और अनासक्ति दोनों घटते हैं उसका जीवन पूर्ण सफल है।

आप कहेंगे कि जिसके मन में प्रेम होगा, उसके मन में अनासक्ति नहीं होगी और जिसके मन में अनासक्ति होगी उसके मन में प्रेम नहीं होगा। प्रेमपूर्ण मन अनासक्त कैसे होगा तथा अनासक्त मन प्रेमपूर्ण कैसे होगा! इसका समाधान यह है कि प्रेम तथा अनासक्ति में विरोध नहीं, किन्तु ये एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम के नाम से मोह और वासना अर्थ भी संसार में माना जाता है। लोग कहते हैं कि अमुक लड़के को अमुक लड़की से प्रेम हो गया है। यहां मोह एवं वासना को प्रेम मान लिया गया है। परन्तु

विवेकीजन प्रेम का अर्थ निष्काम स्नेह मानते हैं जिसमें केवल सेवा करने की भावना होती है, पाने की भावना नहीं। वासना एवं मोह में पाने की भावना होती है, परन्तु प्रेम में देने की भावना होती है। कबीर साहेब ने कहा है "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥" यह कबीर-कथित उच्चतम प्रेम किसी लड़की-लड़का का वासनात्मक आकर्षण नहीं है, किन्तु मानवता एवं जीव मात्र के लिए करुणा है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को जितने अंशों में जीत लेता है वह उतने अंशों में प्रेम से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह उतने अंशों में परोपकारी हो जाता है। जो व्यक्ति संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाता है वह प्राणिमात्र के लिए प्रेम करता है। संसार के पूर्ण अनासक्त संतजन कपिल, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि संसार के कल्याण के लिए रोते थे। कबीर साहेब ने कहा "मैं रोवौं यह जगत को"[1] संसारासक्त लोग जगत के लिए नहीं रोते। वे अपने पत्नी, बच्चे एवं धन-दौलत के लिए रोते हैं। संसार के कल्याण के लिए तो वह रोता है जिसके मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम एवं करुणा की तरंगें उठती रहती हैं और वह वही हो सकता है जो संसार से अनासक्त है।

जिसका व्यवहार मनुष्यों से प्रेमपूर्ण नहीं है, वह जीवन में उलझा-उलझा रहता है और उलझा आदमी का जब जीना ही अच्छा नहीं है तब मरना क्या अच्छा हो सकता है! इसलिए जो जीवन को अच्छे ढंग से जीना चाहे, उसे चाहिए कि वह व्यवहार में मिलने वाले सारे मनुष्यों से प्रेम का बरताव करे। सबके प्रति प्रेम का व्यवहार होने से मन में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य आदि नहीं आते। मन निर्ग्रंथ, सरल एवं प्रसन्न रहता है। यही स्वर्ग-सुख है। जो व्यक्ति अपने साथियों में प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है और अन्य समस्त प्राणियों को भी प्रेम की दृष्टि से देखता है उसका मन राग एवं द्वेष से छूटकर सब समय प्रसन्न रहता है।

दूसरा पक्ष है अनासक्ति। प्रेम-द्वारा जिनका हृदय शुद्ध हो जाता है वही ज्ञानोदय होने पर सबसे अनासक्त हो जाता है और जो सबसे अनासक्त हो जाता है उसका प्रेम और परिपूर्ण हो जाता है। जो प्राणियों में मोह नहीं करता, पदार्थों में लोभ नहीं करता, प्रतिष्ठा में आकर्षित नहीं होता, वही तो अनासक्त है। वह खाता-पहनता है केवल शरीर की रक्षा के लिए। उसे खाने पहनने में भी आसक्ति नहीं होती। सारा संसार एक दिन अनंत काल के लिए अचानक छोड़ देना है। ऐसे संसार में किस वस्तु में राग किया जाय! राग-द्वेष ही जीव को संसार में भटकाते हैं। जो राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है वही कृतार्थ हो जाता है। सद्गुरु ने कहा है "बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं।"[2] धनी घराने में बालक की सेवा करने वाली नौकरानी धाय बालक की सेवा करती है, उसे प्यार देती है, उसको

---

१. साखी १८०।

२. पूरी साखी इस प्रकार है—

कमल पत्र हैं संतजन, रहैं जगत के माहिं।

बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं॥

सीने पर सुलाती है, पुचकारती एवं दुलारती है, परन्तु जब नौकरी छोड़कर उस घर से जाने लगती है तब उसके लिए रोती नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। हमें भी चाहिए कि हम स्वजनों तथा परजनों को प्रेम की निगाह से देखें, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, परन्तु उनमें कहीं भी किंचित आसक्त न हों।

जो अपने आप को अविनाशी, देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन समझता है और देहादि समस्त भौतिक पदार्थों को नाशवान एवं विजाति समझकर सबसे अनासक्त रहता है, उसकी मरने-जीने में समबुद्धि हो जाती है। जो सारे संसार को स्वप्नतुल्य समझकर सबसे सब समय अनासक्त रहता है उसे न जीते रहने में हर्ष है और न मरने में शोक। किसी के वियोग से इसलिए मन में पीड़ा होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त होते हैं। यदि हम आसक्त न हों तो बिछुड़ने में कोई दुख ही नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष है कि हम वहीं-वहीं दुखी-सुखी होते हैं जहां के लिए हमें राग-द्वेष है। जिसके प्रति हमारे मन में राग-द्वेष नहीं है, उसके मिलने-बिछुड़ने में हमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। सर्वत्र अनासक्त हुआ व्यक्ति ही मुक्त है और जो मुक्त है उसी का जीवन अच्छा है। उसी का मरना भी अच्छा होता है। सद्गुरु कहते हैं "ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय।" इस पंक्ति में यह सिद्धांत निहित है कि जीव-वासनावश पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, परन्तु वासना का त्याग कर देने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म-मरण के बंधनों में नहीं पड़ता। साहेब कहते हैं कि संसार के लोग मरते तो हैं, परन्तु वे वासना त्यागकर नहीं मरते जिससे उनका बारम्बार जन्मना-मरना बन्द हो जाय, किन्तु वासना बनाये रखकर मरते हैं। इसलिए वे बारम्बार जन्मने-मरने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार।" एक मरना स्वतन्त्र होकर होता है और दूसरा परतन्त्र होकर। स्वतन्त्र होकर मरने वाले विरले हैं, परन्तु परतन्त्र होकर मरने वाला तो पूरा संसार है। "एक सयानी आपनी" बड़े गम्भीर भाव का वाक्यांश है। अपने विवेक से रहकर मरना उत्तम मरना है। विवेकवान मौत को ललकार देता है कि हे मौत! तू आ, मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूं। विवेकी समझता है कि मेरी मौत नहीं होती। मौत का अर्थ इतना ही है शरीर और जीव का अलग-अलग हो जाना। इसमें भय किस बात का! भय केवल शरीर-संसार के छूटने का होता है जब उनमें मोह रहता है। जब मोह समाप्त हो जाता है तब छूटने का भय भी समाप्त हो जाता है। सारा संसार छूटने वाला है, वह छूटेगा ही, हम चाहे भय करें या न करें। इसलिए विवेकवान पहले ही भय छोड़ देता है।

यदि किसी के ख्याल से ऐसा हो कि देह से अलग अविनाशी जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, शरीर समाप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है, तो भी मृत्यु के भय का कोई अर्थ ही नहीं होता। जब मरते ही सब समाप्त हो जाना है, तब किस बात का भय! और यदि देह से भिन्न जीव अविनाशी शुद्ध चेतन है, वह शरीर के न रहने पर भी रहता है, तो शरीर के छूटने का भय क्यों!

जीने, भोगने, खाने, करने, देखने आदि की वासनाएं ही मृत्यु-भय पैदा करती हैं। अभी मेरे पास मृत्यु आ जाय, तो मैं उससे कहूंगा कि तुम अभी मुझे मत ले जाओ! वह

सीने पर सुलाती है, पुचकारती एवं दुलारती है, परन्तु जब नौकरी छोड़कर उस घर से जाने लगती है तब उसके लिए रोती नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। हमें भी चाहिए कि हम स्वजनों तथा परजनों को प्रेम की निगाह से देखें, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, परन्तु उनमें कहीं भी किंचित आसक्त न हों।

जो अपने आप को अविनाशी, देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन समझता है और देहादि समस्त भौतिक पदार्थों को नाशवान एवं विजाति समझकर सबसे अनासक्त रहता है, उसकी मरने-जीने में समबुद्धि हो जाती है। जो सारे संसार को स्वप्नतुल्य समझकर सबसे सब समय अनासक्त रहता है उसे न जीते रहने में हर्ष है और न मरने में शोक। किसी के वियोग से इसलिए मन में पीड़ा होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त होते हैं। यदि हम आसक्त न हों तो बिछुड़ने में कोई दुख ही नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष है कि हम वहीं-वहीं दुखी-सुखी होते हैं जहां के लिए हमें राग-द्वेष है। जिसके प्रति हमारे मन में राग-द्वेष नहीं है, उसके मिलने-बिछुड़ने में हमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। सर्वत्र अनासक्त हुआ व्यक्ति ही मुक्त है और जो मुक्त है उसी का जीवन अच्छा है। उसी का मरना भी अच्छा होता है। सद्गुरु कहते हैं "ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय।" इस पंक्ति में यह सिद्धांत निहित है कि जीव-वासनावश पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, परन्तु वासना का त्याग कर देने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म-मरण के बंधनों में नहीं पड़ता। साहेब कहते हैं कि संसार के लोग परते तो हैं, परन्तु वे वासना त्यागकर नहीं मरते जिससे उनका बारम्बार जन्मना-मरना बन्द हो जाय, किन्तु वासना बनाये रखकर मरते हैं। इसलिए वे बारम्बार जन्मने-मरने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार।" एक मरना स्वतन्त्र होकर होता है और दूसरा परतन्त्र होकर। स्वतन्त्र होकर मरने वाले विरले हैं, परन्तु परतन्त्र होकर मरने वाला तो पूरा संसार है। "एक सयानी आपनी" बड़े गम्भीर भाव का वाक्यांश है। अपने विवेक से रहकर मरना उत्तम मरना है। विवेकवान मौत को ललकार देता है कि हे मौत! तू आ, मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूं। विवेकी समझता है कि मेरी मौत नहीं होती। मौत का अर्थ इतना ही है शरीर और जीव का अलग-अलग हो जाना। इसमें भय किस बात का! भय केवल शरीर-संसार के छूटने का होता है जब उनमें मोह रहता है। जब मोह समाप्त हो जाता है तब छूटने का भय भी समाप्त हो जाता है। सारा संसार छूटने वाला है, वह छूटेगा ही, हम चाहे भय करें या न करें। इसलिए विवेकवान पहले ही भय छोड़ देता है।

यदि किसी के ख्याल से ऐसा हो कि देह से अलग अविनाशी जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, शरीर समाप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है, तो भी मृत्यु के भय का कोई अर्थ ही नहीं होता। जब मरते ही सब समाप्त हो जाना है, तब किस बात का भय! और यदि देह से भिन्न जीव अविनाशी शुद्ध चेतन है, वह शरीर के न रहने पर भी रहता है, तो शरीर के छूटने का भय क्यों!

जीने, भोगने, खाने, करने, देखने आदि की वासनाएं ही मृत्यु-भय पैदा करती हैं। अभी मेरे पास मृत्यु आ जाय, तो मैं उससे कहूंगा कि तुम अभी मुझे मत ले जाओ! वह

सीने पर सुलाती है, पुचकारती एवं दुलारती है, परन्तु जब नौकरी छोड़कर उस घर से जाने लगती है तब उसके लिए रोती नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। हमें भी चाहिए कि हम स्वजनों तथा परजनों को प्रेम की निगाह से देखें, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, परन्तु उनमें कहीं भी किंचित आसक्त न हों।

जो अपने आप को अविनाशी, देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन समझता है और देहादि समस्त भौतिक पदार्थों को नाशवान एवं विजाति समझकर सबसे अनासक्त रहता है, उसकी मरने-जीने में समबुद्धि हो जाती है। जो सारे संसार को स्वप्नतुल्य समझकर सबसे सब समय अनासक्त रहता है उसे न जीते रहने में हर्ष है और न मरने में शोक। किसी के वियोग से इसलिए मन में पीड़ा होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त होते हैं। यदि हम आसक्त न हों तो बिछुड़ने में कोई दुख ही नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष है कि हम वहीं-वहीं दुखी-सुखी होते हैं जहां के लिए हमें राग-द्वेष है। जिसके प्रति हमारे मन में राग-द्वेष नहीं है, उसके मिलने-बिछुड़ने में हमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। सर्वत्र अनासक्त हुआ व्यक्ति ही मुक्त है और जो मुक्त है उसी का जीवन अच्छा है। उसी का मरना भी अच्छा होता है। सद्गुरु कहते हैं "ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय।" इस पंक्ति में यह सिद्धांत निहित है कि जीव-वासनावश पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, परन्तु वासना का त्याग कर देने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म-मरण के बंधनों में नहीं पड़ता। साहेब कहते हैं कि संसार के लोग मरते तो हैं, परन्तु वे वासना त्यागकर नहीं मरते जिससे उनका बारम्बार जन्मना-मरना बन्द हो जाय, किन्तु वासना बनाये रखकर मरते हैं। इसलिए वे बारम्बार जन्मने-मरने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार।" एक मरना स्वतन्त्र होकर होता है और दूसरा परतन्त्र होकर। स्वतन्त्र होकर मरने वाले विरले हैं, परन्तु परतन्त्र होकर मरने वाला तो पूरा संसार है। "एक सयानी आपनी" बड़े गम्भीर भाव का वाक्यांश है। अपने विवेक से रहकर मरना उत्तम मरना है। विवेकवान मौत को ललकार देता है कि हे मौत! तू आ, मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूं। विवेकी समझता है कि मेरी मौत नहीं होती। मौत का अर्थ इतना ही है शरीर और जीव का अलग-अलग हो जाना। इसमें भय किस बात का! भय केवल शरीर-संसार के छूटने का होता है जब उनमें मोह रहता है। जब मोह समाप्त हो जाता है तब छूटने का भय भी समाप्त हो जाता है। सारा संसार छूटने वाला है, वह छूटेगा ही, हम चाहे भय करें या न करें। इसलिए विवेकवान पहले ही भय छोड़ देता है।

यदि किसी के ख्याल से ऐसा हो कि देह से अलग अविनाशी जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, शरीर समाप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है, तो भी मृत्यु के भय का कोई अर्थ ही नहीं होता। जब मरते ही सब समाप्त हो जाना है, तब किस बात का भय! और यदि देह से भिन्न जीव अविनाशी शुद्ध चेतन है, वह शरीर के न रहने पर भी रहता है, तो शरीर के छूटने का भय क्यों!

जीने, भोगने, खाने, करने, देखने आदि की वासनाएं ही मृत्यु-भय पैदा करती हैं। अभी मेरे पास मृत्यु आ जाय, तो मैं उससे कहूंगा कि तुम अभी मुझे मत ले जाओ! वह

मुझसे पूछेगी कि अभी क्यों न ले चलूं। तो मैं कहूंगा कि अभी मुझे अमुक-अमुक काम करने हैं, अमुक-अमुक जगह देखनी है, अभी खाने-भोगने की भी इच्छाएं नहीं पूरी हुई हैं। मौत कहेगी कि जब तुम आज इतनी उम्र तक जीकर इच्छानुसार काम नहीं पर पाये तो थोड़े दिन और रहकर क्या देख, सुन तथा भोग सकोगे?

हम चार-छह घंटे के लिए सोने चलते हैं तो कितना आनन्द लगता है! यदि किसी रात सोने चलें और कोई व्यक्ति आकर हमारे सोने में विघ्न करे तो हमें बड़ा बुरा लगेगा। चार-छह घंटे की नींद जब इतनी प्यारी है, तब मौत तो ऐसी नींद है जो सदा के लिए सुला देती है, फिर उसमें हमें क्या परेशानी है! सदा के लिए सोने में तो हमें अति आनन्द मानना चाहिए। उलझन भरी जिंदगी में सुख मानना तो मोह ही है। जहां सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं उस मौत से परेशानी कैसी?

बोधवान व्यक्ति सब समय सारा काम पूर्ण समझता है। वह जीने, करने, भोगने सब की वासनाएं सर्वथा त्याग देता है। इसलिए उसे जीना और मरना बराबर लगता है। वह समझता है कि मैं सब समय पूर्ण हूं। जो सब समय पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अकाम है, उसे मरने का भय कहां! यही है मरने का अच्छा तरीका। यही है अपनी सयानी से मरना। श्री विशाल साहेब कहते हैं—

ना मिलने की चाहना, ना छुटने को सोच।
धन प्राणिन निर्वाह में, कहूं न मन को रोच॥
सबै काम को छोड़ि कै, रहै आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥
पारख अटल समाधि है, देहभिन्न सब काल।
देह रहे या न रहे, यकसम जानि निहाल॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूँ नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहां रहे सब फीक॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक, ११६, ११९; निवृत्ति साहस शतक, १३५, १३६)

ज्ञान की कीमत आचरण है

शब्द है गाहक नहीं, वस्तु है महँगे मोल।
बिना दाम काम न आवै, फिरै सो डामाडोल॥३२६॥

शब्दार्थ—दाम = कीमत, श्रद्धा, समझ, आचरण। डामाडोल = डांवांडोल, चंचल, किंकर्तव्यविमूढ़।

भावार्थ—निर्णय के वचन हैं, परन्तु उनके ग्राहक नहीं हैं, अर्थात बहुत कम हैं। निर्णय एवं निष्पक्ष ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मूल्य में मिलती है। वह मूल्य है श्रद्धा और समझपूर्वक आचरण। इस मूल्य को चुकाये बिना निर्णय वचन काम नहीं देते और आदमी चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बना भटकता है॥३२६॥

व्याख्या—"शब्द है गाहक नहीं" इस भाव का अनुभव विवेकियों ने सदा से किया है। निर्णय के वचन तो हैं, परन्तु उन्हें ग्रहण करने वाले नहीं हैं। इसका मतलब निर्णय वचनों के ग्राहक कम हैं। जब महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, तब उनके मन में ख्याल आया कि मैं इस ज्ञान का जनता में प्रचार करूं। परन्तु तत्काल उन्होंने पुनः सोचा कि ज्ञान के पिपासु इस संसार में कहां है! इस अंधकार भरे संसार में कौन मेरी बातें सुनेगा! परन्तु पुनः उन्होंने विचार किया कि आखिर मैं भी तो एक आदमी हूं। जैसे मुझे ज्ञान की पिपासा थी और मैं उसे पाकर कृतार्थ हो गया हूं वैसे कोई मेरे समान दूसरा भी होगा ही। संसार जिज्ञासुओं से निर्बीज तो होगा नहीं। अतएव उन्होंने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन किया, उपदेश देना शुरू किया।

वेदव्यास जी ने कहा है "मैं अपने हाथ ऊपर उठाकर कहता हूं, परन्तु मेरी बातें कोई सुन नहीं रहा है। मैं कहता हूं धन और भोग धर्म से ही मिलते हैं, फिर धर्म का आचरण क्यों नहीं करते हो!"[१] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं "रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की तरह भाई-भाई प्रेमपूर्वक रहो, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान भाई-भाई विरोध करके मर रहे हैं। हे तुलसी, तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनता है, कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।"[२] संसार के लोगों की ज्ञान के विषय में अरुचि देखकर यहां वक्ता ने अपने आप को ही शठ कह डाला है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन के आखिरी हिस्से में बेलुड़मठ में बेल पेड़ के नीचे बैठ-बैठे खेदपूर्वक कहा था "जिसके आने की आशा की थी, वे नहीं आये।" उन्होंने एक जगह लिखा है कि मद्रास के युवक कुछ कर सकते हैं। किन्तु सब अभागे योनिकीट हैं। अर्थात वे संन्यासी बनकर स्वामी जी के मिशन में सहयोग नहीं दे सके।

कबीर के निर्णय धारदार, पैने और खरे तो हैं ही, अन्य शास्त्रों एवं ग्रन्थों में भी जगह-जगह निर्णय के वचन, काम के वचन बहुत हैं; परन्तु उन्हें पढ़-सुन तथा मनन कर उनका आचरण करने वाले कम मिलते हैं। हजार श्रोताओं में मनन करने वाले थोड़े हैं, और हजार मनन करने वालों में आचरण करने वाले थोड़े हैं। सद्गुरु कहते हैं "वस्तु है महँगे मोल" निर्णय वचन एवं ज्ञान की कीमत बहुत है। यह ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मोल की है। ज्ञान की कीमत क्या है? कौन-सा मूल्य चुकाना पड़ता है ज्ञान के बदले में? इसकी कीमत है आचरण। परन्तु आचरण श्रद्धा और समझपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा का सामान्य अर्थ है आस्था तथा शाब्दिक अर्थ है सत्य को धारण करना—श्रत = सत्य+धा = धारण करना। समझ का अर्थ बुद्धि है। हम आस्था और बुद्धिपूर्वक जब आचरण धारण करते हैं तभी ज्ञान का सही उपयोग हुआ समझना चाहिए। हमने किसी

---

१. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥ *महाभारत, स्वर्गारोहणपर्व ५/६२॥*

२. रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रेम॥ दोहावली॥

बात को सुनकर उसमें आस्था कर ली और उसका आचरण भी करने लगे, परन्तु वह समझपूर्वक नहीं है तो उसके टूटते देर नहीं लगेगी; और यदि हमने उसे बुद्धिपूर्वक तो अपनाया है, परन्तु उसमें आस्था नहीं है तो उसके भंग होने में भी संदेह नहीं है। परन्तु जब हम किसी बात को श्रद्धा और समझपूर्वक धारण करते हैं और उसका आचरण करते हैं, तब प्राप्त ज्ञान हमारा अपना हो जाता है। हमारे सामने कोई हजार निर्णय करे, परन्तु हमें उन वचनों में न श्रद्धा है, न समझ है और न उसे आचरण में लाने का उत्साह है तो निर्णय वचनों का कोई मूल्य नहीं है। हवा आती है और चली जाती है, वैसे संतों और सद्ग्रन्थों के निर्णय वचन आते हैं और चले जाते हैं।

"बिना दाम काम न आवै" श्रद्धा, समझ एवं आचरण रूपी मूल्य चुकाये बिना निर्णय एवं ज्ञान की बातें काम नहीं देतीं। श्रद्धा, समझ एवं आचरण से हीन वक्ता-श्रोता चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बने भटकते रहते हैं। अतएव हमें ज्ञान का सच्चा पिपासु बनना चाहिए और उसके लिए श्रद्धा, समझ और आचरण का दाम चुकाना चाहिए। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

तमन्ना दर्द दिल में है, तो कर खिदमत फकीरों की।
नहीं वह लाल मिलता है, अमीरों के खजानों में।।

विवेक बिना गृह-त्याग से भी शांति नहीं

गृह तजि के भये योगी, योगी के गृह नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं।।३२७।।

शब्दार्थ—योगी = संन्यासी, त्यागी। छाहिं = आश्रय, छाया।

भावार्थ—कुछ लोग गृहस्थी का त्याग करके संन्यासी एवं विरक्त आश्रमी हो जाते हैं, परन्तु सच्चे ज्ञान एवं आचरणों के बिना वे वहां भी शांति नहीं पाते। वे बिना विवेक सुने-सुनाये शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं।।३२७।।

व्याख्या—गृहस्थी में नाना उलझनें हैं। कहा जाता है "घर ही में बनते काजा, तो घर काहेक छोड़ते भरथरी राजा।" यदि गृहस्थी में मोक्ष का सारा काम बन जाता तो राजा भर्तृहरि घर क्यों छोड़ते! अतएव समस्त सूक्ष्म बंधनों को काटने के लिए घर-गृहस्थी का त्याग करना पड़ता है। ऐसा विचारकर कुछ लोग गृहस्थी का त्याग कर देते हैं और संन्यास आश्रम में चले जाते हैं। परन्तु यदि उन्हें सच्चे सद्गुरु न मिले, उनको सच्चा ज्ञान न मिला और सच्चा त्याग न हुआ तो उनके जीवन में पूर्ण शांति की प्राप्ति नहीं होती।

अनन्त शांति की प्राप्ति के लिए ही संन्यास-मार्ग ग्रहण किया जाता है। परन्तु केवल घर छोड़कर साधु का वेष पहन लेना संन्यास नहीं है। यहां "गृह तजि के भये योगी" का केवल शाब्दिक अर्थ घर छोड़कर योगी होना नहीं है, किन्तु योगी का सामान्य अभिप्राय संन्यासी-साधु होना है। यहां का सरल अभिप्राय है घर छोड़कर किसी त्यागी संप्रदाय में दीक्षित होकर विरक्ति-मार्ग से रहना। कितने लोग उत्साह में घर तो छोड़ देते हैं और

किसी संप्रदाय में साधुवेष धारण कर लेते हैं, परन्तु उनमें सच्चा वैराग्य न होने से उन्हें साधुआश्रम का जीवन आगे चलकर नीरस लगने लगता है, या अच्छे गुरु एवं अच्छे साधुओं की संगत न मिलने से अधूरे-अधकचरे साधु-समाज में पड़कर उनका चित्त आशा के विपरीत तितर-बितर हो जाता है। उनमें निष्पक्ष होकर न सच्चे सद्गुरु की खोज करने का साहस होता है और न त्याग का अखंड बल होता है। ऐसे लोगों के वैराग्य का जोश थोड़े दिनों में उतर जाता है। वे पुनः वासनाओं में बहने लगते हैं।

सच्चे विवेकवान सद्गुरु एवं संतों की संगत न पाने से उनकी सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं। अनादिकाल के जगत में नाना प्रकार की वाणियां कही गयी हैं। उनमें सत्य निर्णय भी है और मिथ्या धारणाएं भी। इन सबका निष्पक्षतापूर्वक निर्णय और शोधन करने का उनमें साहस नहीं होता। अतएव वे धर्मशास्त्रों के उलटे-सीधे शब्दों की पूंछ पकड़कर घूमते रहते हैं। नाना मत के धर्मशास्त्रों एवं धार्मिक ग्रन्थों में विश्वसत्ता के नियमों, प्रकृति के गुण-धर्मों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के विपरीत ऊलजलूल बातें कही गयी हैं। चमत्कार जो एक छल-कपट का जाल है धर्म, भगवान और गुरु के नाम पर खूब चलता है। इस छल-कपट की गंगा में प्रायः सभी मत वाले अपने तन-मन पखारते हैं। चमत्कार नाम की जालसाजी एवं धूर्तता धर्म के नाम पर इतनी मान्य हो गयी हैं कि इनके विरोध में कहना ही मानो नास्तिक, नापाक और काफिर होना है। धर्म के नाम पर जो लम्बा-चौड़ा झूठ बोलता हो वह धर्मात्मा एवं आस्तिक है, और जो सत्य निर्णय करता हो वह अधर्मी और नास्तिक है। नाना मत के साधु-संन्यासी या साधक धर्म के नाम पर बिना सिर-पैर की बातों को लेकर उसके गीत गाते रहते हैं और मन के भटकावे में भटकते रहते हैं। कोई गुरु शब्द, ज्योति, नाद, शून्य या कोई काल्पनिक बिन्दु को कह दिया कि यही भगवान है तो उसी में लोग लटक जाते हैं। किसी नें कहा कि भगवान अमुक लोक में है तो लोग उसी के गीत गाने लगते हैं। कोई कण-कण में बताया तो कोई अगजग व्यापक। ऐसी भावुकतापूर्ण अवधारणाओं में साधक उलझ जाते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि सारी कल्पनाओं का जनक यह स्वयं द्रष्टा चेतन है। मनुष्य का अपना 'स्व' उसकी चेतना है। वही सर्वोच्च है। सारी विषय-वासनाओं को त्यागकर अपनी चेतना में लीन होना ही स्वरूपस्थिति है। यही परम पद की प्राप्ति है। इसी में सदैव के लिए परम शांति है। परन्तु लोग अपने इस दिव्य चेतन स्वरूप की स्थिति को न समझकर धर्मशास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं। बहुत मार्मिक वचन है—"बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं।"

सामान्य मन का चित्रण

सिंह अकेला बन रमै, पलक-पलक करै दौर।
जैसा बन है आपना, वैसा बन है और ॥३२८॥
पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।
जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत ॥३२९॥

शब्दार्थ—सिंह = मन। अकेला = बे-जोड़। रमै = घूमना, चलना, आसक्त होना, भोग-विलास करना। दौर = दौड़, जोरदार हमला। बन = मनोमय संसार। पैठा = घुसा। घट = हृदय। साचेत = सचेत, सावधान। गति = क्रिया, आचरण, दशा। मति = बुद्धि, प्रेरणा।

भावार्थ—यह मन बे-जोड़ सिंह बन गया है। यह मनोमय संसार में घूमता है और विलास करता है। यह भोगों के लिए क्षण-क्षण जोरदार हमला करता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सर्वसामान्य एवं एक समान है। तुम जैसे अपना मनोमय समझो, वैसे दूसरे का भी ॥३२८॥ यह मन सबके हृदय में घुसा है और भोगों में रमण करने के लिए सावधान होकर बैठा है। यह जब जैसा क्रिया-भोग चाहता है व्यक्ति को वैसी ही प्रेरणा देता है ॥३२९॥

व्याख्या—इस बात पर इस पुस्तक की व्याख्या में कई बार निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है जो जीव को विवश कर सके। मन एक आभ्यासिक वृत्ति है। परन्तु जीव अपने स्वरूप को न जानकर अनादिकाल से पंचविषयों में आसक्त है। इस आसक्ति से उत्पन्न मन विषयों के लिए प्रबल हो गया है। जैसे बीड़ी-तम्बाकू पीने वालों का मन उनके लिए अत्यन्त जोरदार हो जाता है। जो व्यक्ति बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता उसका मन उनके लिए उसे परेशान नहीं करता। ऐसे ही अन्य विषयों के लिए समझा जा सकता है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मन प्रबल है। विषयासक्ति का कारण है विषयों का उपभोग। उपभोग का कारण है अज्ञान। अतएव जीव ही अपनी भूल से मन को निर्मित करता है, बलवान करता है और फिर उसके वश होकर हैरान होता है। एक व्यक्ति है, वह शराब नहीं पीता था। उसके प्रति उसका मन नहीं बना था। शराब के लिए उसका मन न सिंह बना था और न उस पर हमला करता था। परन्तु कुछ दिनों के बाद उसे शराबियों का कुसंग मिल गया। अब वह शराब पीने लगा। वह कुछ दिनों में शराब पीने का अत्यंत व्यसनी हो गया। अब शराब के विषय में मन बन गया। उसका मन शराब पर हमला करने के लिए सिंह बन गया। शराब पर टूट पड़ने के लिए मन को सिंह किसने बनाया? स्वयं उस व्यक्ति ने ही। इस प्रकार मन को सिंह बनाने वाला यह मनुष्य ही है। इसके विपरीत उस व्यक्ति ने शराब को दुखदायी जानकर उसे छोड़ दिया। दृढ़ता से कुछ दिनों में आदत की कठिनाई समाप्त हो गयी। अब वह न शराब पीता है और न शराब के प्रति मन में आकर्षण है, बल्कि शराब की गंध भी उसको बुरी लगने लगी। अब उसका मन शराब पर टूटने वाला सिंह नहीं रहा। अब तो उसका मन शराब के सम्बन्ध में एकदम शांत हो गया, अपना दास हो गया। इसी प्रकार संसार की सारी आसक्तियों के विषय में समझा जा सकता है।

सद्गुरु ने इन दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन का चित्रण किया है। संत पुरुष अपने मन को देखते-परखते तथा अपने वश में करते हैं, इसलिए वे सच्चे मनोवैज्ञानिक होते हैं। कबीर साहेब सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन को दृष्टि में रखते हुए कहते हैं कि यह मन 'सिंह अकेला' अर्थात बेजोड़ सिंह बन गया है। यहां 'सिंह' में 'अकेला' विशेषण है। अकेला एक को भी कहते हैं और बे-जोड़ एवं अद्वितीय को भी। यहां बे-जोड़ एवं अद्वितीय ही अर्थ है। विषयासक्त मन बे-जोड़ सिंह

है। यह पल-पल, क्षण-क्षण विषयों में दौड़ा करता है। दौड़ दौड़ने को कहते हैं और सवेग आक्रमण एवं जोरदार हमले को भी। यहां अभिप्राय जोरदार हमले का ही है। आसक्त मन विषयों पर किस तरह टूट पड़ता है, यह थोड़ा अन्दर में झांककर देखा जा सकता है। जो अपने मन को देखता है वह उसकी कसर-खोट को समझता है, परन्तु जो रात-दिन मन की धारा में बहता है उसे इसका क्या पता है! वह तो मन का विषयों पर टूटना तथा उनमें बहना अपनी स्वाभाविक क्रिया मानता है। बड़े-बड़े संसारी मनोवैज्ञानिकों की यह दशा है कि वे मन का विषयों में बहना उसका अपना ही सहज स्वभाव मानते हैं। वे विषय-चिन्तन मनोविकार न मानकर मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं। यह उनका भ्रम है। क्या भूख-प्यास की तरह मैथुनादि भोग शरीर के लिए आवश्यक हैं? क्या जैसे जल-भोजन नहीं त्याग सकते, वैसे मैथुनादि मनःकल्पित भोग नहीं त्याग सकते? जब आदमी सत्संग एवं सद्विचार में रहने लगता है, तब सद्विवेक से मन को विषयों से अलग करना सहज हो जाता है। काम-भोग मन का सहज स्वरूप नहीं है, किन्तु निष्काम रहना उसका सहज स्वरूप है। व्यक्ति का मन कुछ ही क्षण के लिए काम-भोग में रहता है और उतने समय के लिए उसका मन मलिन, विह्वल, क्षीण एवं हतप्रभ हो जाता है। क्या इसी स्थिति में कोई जीवनभर रह सकता है! परन्तु मन की निष्काम अवस्था स्वस्थ, तृप्त एवं शांत होती है और इस अवस्था में पूरा जीवन आनन्द से रहा जा सकता है। अतएव फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों का यह समझना कि मनुष्य का मन काम-भोगादि से रहित हो नहीं सकता, एक गलत समीक्षा है, जिसका परिणाम भयंकर पतन है।

अज्ञान और गलत अभ्यास से मनुष्य का मन अत्यन्त विषयासक्त हो गया है। इसलिए उसका सिंह बना मन विषयों पर क्षण-क्षण टूटता रहता है। साधक को मन से सावधान रहना चाहिए। भोग-क्रिया तथा भोगासक्ति का त्याग करते-करते मन का निरसन हो जाता है और वह कुछ दिनों में शांत हो जाता है। साथ-साथ विषय-चिंतन से बचने की जागरूकता रखनी चाहिए। जो विषय-चिंतन त्याग देता है, उसका मन विषयों से अलग, स्ववश एवं शांत हो जाता है।

"जैसा बन है आपना, वैसा बन है और" यह पंक्ति कहकर सद्गुरु मानव मात्र के मन की समानदशा का चित्रण करते हैं। अंतःकरण-भेद से हर मनुष्य के मन की चंचलता की मात्रा में अन्तर हो सकता है; परन्तु सभी सामान्य मनुष्यों के मन की दशा एक-जैसी ही होती है। सबका मन विषय-चिंतन का रागी है। विवेक-द्वारा जितने व्यक्ति विषय-चिंतन छोड़ देते हैं, उनका शुद्ध मन भी एक समान ही शांत हो जाता है।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत। जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" यह मन सबके हृदय के भीतर घुसा है और अपनी भोग-लालसाओं के लिए सावधान है। यह सभी सामान्य मनुष्यों का निरन्तर का अपना अनुभव है। थोड़ा भी असावधान होते ही मन गलत चिंतन करा सकता है। यह व्यक्ति से जिस प्रकार क्रिया कराना चाहता है, उस प्रकार उसे प्रेरणा देता है। बुद्धि को प्रेरित करके ही तो अनुकूल क्रियाएं करायी जा सकती हैं। यह प्रबल हुआ मन मनुष्य की बुद्धि घुमाता रहता है और इच्छानुसार क्रिया कराता रहता है।

सद्‌गुरु ने उक्त दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयी मन का चित्र खींचा है। इसको वश में करने के उपाय पूरे ग्रन्थ में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसके वश में होकर मनुष्य दुखी है, और जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसे मनुष्य अपने वश में कर् सकता है। शेष तो कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। जवानी, शरीर, परिवार, धन कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। केवल मन हमारे वश में हो सकता है और मन को वश करके ही अनंत सुख मिलता है।

एक बात पर यहां थोड़ा और विचार कर लिया जाय। बीजक में 'सिंह' का लाक्षणिक अर्थ प्रायः जीव माना गया है। परन्तु प्रसंग को देखते हुए यहां मन किया गया है जो अधिक उपयुक्त है। सिंह का हर जगह लाक्षणिक अर्थ जीव ही हो यह कोई पक्की बात नहीं है। गीता में आत्मा का अर्थ चेतन जीव है, परन्तु जगह-जगह मन, इंद्रिय एवं देह भी है।

'पैठा है घट भीतरे' भी मन के लिए ही कहा गया है। यहां यह मान लेना कि सबके घट भीतर ईश्वर पैठा है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ईश्वर की कल्पना सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के रूप में है। फिर वह यदि सब के घट में पैठकर सब कुछ करा रहा है तो भले के साथ बुरा भी वही करा रहा है; क्योंकि अगली पंक्ति में यही कहा है कि "जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" वह जब जैसी क्रिया चाहता है तब वैसी प्रेरणा देता है। तो क्या जब आदमी चोरी, हत्या, व्यभिचारादि करता है तब ईश्वर ही उसे ऐसी मति देता है! अतएव यह मन का प्रसंग है। आसक्ति सम्बलित मन ही व्यक्ति को भटकाता है। यदि मनुष्य मन को ठीक कर ले तो उसकी दशा ठीक हो जाय।

बोली मन की पहचान

बोलत ही पहिचानिये, साहु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी, निकरे मुख की बाट॥३३०॥

शब्दार्थ—घाट = रंग-ढंग, चाल-ढाल, लक्षण। अन्तर घट = हृदय, मन। बाट = रास्ता।

भावार्थ—किसी के बोलते ही उसके अच्छे-बुरे लक्षण पहचानने में आ जाते हैं, क्योंकि जो हृदय-अन्तर की करनी होती है, वह मुख के रास्ते से निकल पड़ती है॥३३०॥

व्याख्या—वाणी से मन की पहचान होती है। जब तक आदमी नहीं बोलता, उसके मन की थाह पाना कठिन है। परन्तु जैसे वह बोलने लगता है वैसे यह पता चलने लगता है कि उसके मन में क्या है या उसकी योग्यता क्या है!

एक मनोरंजक कहानी है। एक हाथी का सौदागर हाथी लेकर एक तालुकेदार के यहां बेचने गया। उसने हाथी को तालुकेदार के दरवाजे पर बांध दिया और उससे मोल-भाव होने लगा। तालुकेदार हाथी का एक दाम लगाकर अपने भवन में चला गया और सौदागर से कह दिया कि इस दाम पर विचार करो! इधर गांव से एक आदमी आया, वह

हाथी को दायें-बायें तथा आगे-पीछे से लगा गौर से निहारने। वह बोलता कुछ नहीं था, किन्तु केवल देखता था। सौदागर ने समझा कि यह कोई हाथी का पारखी है और तालुकेदार के यहां से भेजा गया है, यदि इसने हाथी में कोई कसर बता दी तो तालुकेदार हाथी नहीं खरीदेगा। अतः सौदागर ने पचीस रुपये निकालकर उसे चुपके से दे दिये। वह रुपये ले जाकर घर में रख आया, और पुनः बिना बोले हाथी को देखता रहा। सौदागर बहुत हैरान हुआ। उसने पुनः बीस रुपये उसके हाथ में चुपके से थमा दिये। वह उन्हें भी घर रख आया और लगा हाथी को आगे-पीछे से देखने। अब सौदागर से न रहा गया। उसने कहा, "महाशय, हाथी में जो कसर है उसे बता दो, मन में रखने से क्या फायदा!" उसने कहा—"भैया, मैं यह नहीं जान पाता कि इसका मुंह किधर है।" सौदागर ने सोचा कि यह पारखी काहे का, महामूढ़ है। मैंने नाहक ही इसको घूस दिया। सौदागर ने उससे कहा कि जो रुपये मैंने आपको दिये हैं, उन्हें ले आओ तो मैं तुम्हें बता दूं कि हाथी का मुंह किधर है। उसने दौड़कर घर से रुपये ले आकर सौदागर को दे दिया। सौदागर ने उससे कहा "भले आदमी, जानवर जिधर से खाता है, दांत दिखते हैं उधर मुंह होता है। आप देखते नहीं हाथी के दो बड़े-बड़े दांत!"

जब तक उसने बातें नहीं बोली थीं तब तक उसमें क्या गुण है, पता नहीं चला था; परन्तु जैसे उसने कहा कि हाथी का मुंह किधर है, यह मैं जान नहीं पाता हूं, वैसे उसकी पोलपट्टी खुल गयी। इसी प्रकार कितने लोग ऊपर से देखने में मैले-कुचैले और भोले-भाले लगते हैं, परन्तु जब बात करने लगते हैं तब उनकी विद्वता उनकी बातों से टपकने लगती है। मनुष्यों की वाणी से ही उनके भीतर के संतत्व-असंतत्व, सरलता-कपट और योग्यता-अयोग्यता का पता चलता है। अतएव हम किसी के रूप-सौन्दर्य, उज्ज्वल वेष एवं बनावटी सभ्यता पर न भूल जायं; और किसी की कुरूपता, मैले वेष, गंवईपन को देखकर उसकी उपेक्षा न कर दें। हमें किसी नये आदमी से कुछ समय बात करने पर उसके भीतर की बातों का कुछ अन्दाज लग सकता है। कहा जाता है कि सज्जन और संत तो तत्काल परख में आ जाते हैं; परन्तु छल-कपट पूर्ण आदमी को शीघ्र पहचानना कठिन होता है। फिर भी मनुष्य की बातों से उसके भीतर की भावनाओं का पता चलता है।

कुछ लोग बातों में बनावटीपन लाकर अपने हृदय के भावों को कुछ समय के लिए छिपाने में माहिर होते हैं। परन्तु वे भी अपने मुख की व्यंजना को नहीं छिपा पाते। मनुष्य के मन के भीतर की बातें मुख के ऊपर व्यंजित हो जाती हैं। बस, उसका पारखी होना चाहिए। जब श्रीराम चौदह वर्षों के वनवास की अवधि बिताकर अयोध्या लौटे, तब प्रयाग से ही हनुमान जी को भरत के पास भेजकर कहा कि तुम जाकर मेरा लौटना भरत को बताओ। भरत ने चौदह वर्षों तक अयोध्या का राजकाज देखा है। हो सकता है उनका मन बदल गया हो और उनके मन में राज्य के प्रति मोह हो गया हो। अतएव यदि मेरा अयोध्या पहुंचना उनको बुरा लगता है, तो मैं यहीं से पुनः वन को लौट जाऊंगा। अतएव हे हनुमान! तुम भरत से मेरे लौटने की बात करके फिर यह परखना कि वे क्या उत्तर देते हैं। उनकी बातों के स्वर तथा उनके मुख की व्यंजना को भी परखना।

यहां आप श्री राम की संदेहजनित कमजोरी का अनुमान न कीजिये। यहां मनोविज्ञान का सुन्दर अध्ययन है। आदमी का मन बदलता है। यहां श्रीराम का सामान्य और सहज संदेह है जैसा कि संसार में घटता है। आदमी अपने भावों को एक तो अपने वचनों में ही नहीं दबा पाता। यदि बनावटी वचनों में दबा दिया तो उसकी बातों के स्वर उसके मन के भाव को बता देते हैं। यदि कहीं आदमी अपने स्वर में भी बनावटीपन लाकर उसमें भी भाव छिपा लिया, तो वह अपने मुख की व्यंजना से अपने अन्दर की बातें विवश होकर प्रगट ही कर देता है। बात और स्वर बदले जा सकते हैं, परन्तु मुख की व्यंजना नहीं बदली जा सकती। हर्ष-शोक, प्रसन्नता-खिन्नता एवं सरलता-छल मुख के ऊपर अपना प्रभाव दिखा ही देते हैं।

रामायण का उक्त उदाहरण मूल रूप में इस प्रकार है—श्री राम लंका से अयोध्या लौट पड़े थे। रास्ते ही से उन्होंने हनुमान को भरत के पास अयोध्या भेजा और कहा कि मेरा सकुशल अयोध्या लौटने की बात जाकर भरत से कहो; परन्तु "ध्यान रखना, मेरा अयोध्या लौटना सुनकर भरत की मुख-मुद्रा पर क्या भाव उभरते हैं इस पर ध्यान देना और भरत मेरे प्रति क्या करना चाहते हैं इसका पता लगाना। वहां की सारी बातें तथा भरत की चेष्टाएं तुम्हें ठीक से परखनी चाहिए। भरत के मुख की कांति, उनकी आंखें तथा बातचीत से उनके मनोभावों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हाथी, घोड़े, रथ आदि समस्त भोगों से संपन्न पिता-पितामहों का राज्य मिल जाने पर वह किसके मन को नहीं पलट दे सकता है?"[1] यहां राम के मन में भरत के प्रति संदेह एक सहज मानव के मनोभाव की झलक है। यहां राम को संदेहग्रस्त होने से दोषी न मान लेना चाहिए। ऐसे भाव मनुष्य के मन में आ जाते हैं।

सत्य के भेद जानने वाले कम हैं

दिल का महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गर्जी।
कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्यों कर सीवै दर्जी॥३३१॥

शब्दार्थ—महरमि = महरम, भेद जानने वाला। गर्जी = स्वार्थी। असमानहिं = आकाश, तात्पर्य में अंतःकरण, दिल। दर्जी = कपड़े सीने वाला, तात्पर्य में विवेकवान गुरु या संत।

भावार्थ—हृदय की बातें समझने वाला कोई नहीं मिलता, जो मिलते हैं उनमें प्रायः सांसारिक वस्तुओं के स्वार्थी ही मिलते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि आकाश फट

---

१. एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः॥

(वाल्मीकीय रामायण, ६/१२५/१४-१५-१६)

जाय तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! इसी प्रकार सांसारिक कामनाओं में डूबे हुए मन वालों को स्वरूपज्ञान कैसे दिया जा सकता है! ॥३३१॥

व्याख्या—दुनिया के सभी महापुरुषों के मन में यह टीस रही है कि उनको ऐसे लोग बहुत कम मिले हैं कि उनके हृदय की बातों को वे गहराई से समझें। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन्मुक्त पुरुष इन बातों को लेकर दुखी होते रहे। जो सुख-दुख द्वन्द्वों से छूट जाता है वही जीवन्मुक्त है। परन्तु ऐसे उच्चतम पुरुष भी अपना अनुभव तो कहते ही हैं।

"दिल का महरमि कोइ न मिलिया" बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर-जैसे पैने विचारों के दिल के भेद जानने वाले कम होंगे ही। "कोइ न मिलिया" एक मुहावरा-जैसा है। इसका शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ होना चाहिए। अर्थात कम मिले। कोई-कोई तो मिला ही, तभी उनके विचार आज तक फैलते गये। वैसे मिलने वालों की भीड़ तो कबीर साहेब को शुरू से ही मिलती गयी। वह भीड़ उनके प्रति श्रद्धालु थी। ईसा की सोलहवीं शताब्दी से आज तक की निर्गुणधारा के संतों की वाणियां पढ़ डालिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सब में कबीर तथा कबीर-विचारों की प्रशंसा भरी पड़ी है। कबीर की मानवतावादी एवं सार्वभौमिक बहुत-सी बातें हैं जो एकदम खुली हैं, उनको सभी उदार लोग समझ सकते हैं। परन्तु कबीर के हृदय के पूर्ण ज्ञान-धन को समझना बहुत बड़ी बात है। खुली बातें भी समझना सबके लिए कठिन ही है। सभी मानव मूलतः समान हैं, इस नग्न सत्य को कितने लोग समझते हैं! आज पर्यन्त ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा एवं कल्पना ही है, फिर उसके पुत्र, पैगम्बर तथा अवतार की बात एक धार्मिक छल-कपट है। अमुक पुस्तक ईश्वर-वाणी है तथा अमुक मजहब ईश्वर का चलाया है, अमुक मजहब, समाज, पंथ, संप्रदाय ईश्वरीय-राह तथा मोक्ष-द्वार है, यह सब चतुर मनुष्यों की वंचना ही है। परन्तु इन बातों को इस तरह कितने लोग समझते हैं! मनुष्य का परम प्राप्तव्य, विश्राम-स्थल, आश्रय एवं निधान उसकी अपनी चेतना ही है, उसका अपना आपा एवं चेतनस्वरूप ही है, परन्तु इसका बोध कितने लोगों को है! सारी वासनाओं को सर्वथा छोड़ देने पर ही निजस्वरूप की स्थिति होती है, इस परम सत्य को कितने लोग समझते हैं और जो समझते हैं, उनमें कितने लोग उसका आचरण करते हैं। ये सारी बातें कबीर साहेब के या किसी भी निष्पक्ष विवेकी पुरुष के दिल की हैं, परन्तु इनके समझने वाले बहुत कम हैं। अतएव "दिल का महरमि कोई न मिलिया" इस मुहावरे-जैसे वचन में सद्गुरु कहना चाहते हैं कि सत्य के पथिक बहुत थोड़े होते हैं।

"जो मिलिया सो गर्जी" नित्य के अनुभव की बात है। लोग संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि पाने की लालसा में डूबे हैं। जो महात्मा नामधारी जनता को पुत्र, धन, विजय, नीरोग्यता आदि देने का झांसा देते हैं उनके पास संसार की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। तथाकथित भगवान एवं महापुरुषों के अवतार बनने वाले, चमत्कार—जो केवल छल-कपट है—दिखाने वाले लोगों के पास धन-जन दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। स्वार्थी गुरुओं एवं स्वार्थी अनुगामियों की संसार में भीड़ लगी है। भक्ति-भाव जो सत्य के लिए हृदय का समर्पण है, उसे न समझकर भौतिक स्वार्थ की भावुकता में बहना मान लिया गया है। कबीर देव का पद प्रसिद्ध है—

ऐसी है दिवानी दुनिया, भक्ति-भाव नहिं बूझे जी।

"कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्योंकर सीवै दर्जी" यदि आसमान फट जाय तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! आसमान तो कोई वस्तु नहीं जो फट सके। यहां आसमान से अर्थ हृदय है। मनुष्य का हृदय फटा है। वह सत्य से दूर है और क्षणभंगुर भोगों तथा मिथ्या अहंकारों में लीन है। अतएव संसार के अहंकार तथा कामना में डूबे हुए मनुष्यों के मन को विवेकवान कैसे समझायें! जिसका दिल टुकड़े-टुकड़े है, जिसका मन अनेक शाखाओं में बंटा है एवं जिसका चित्त बिखरा-बिखरा है उसको समझा पाना बड़ा कठिन काम है। यह अमर वाक्य है कि गुरु उन्हीं शिष्यों पर शासन कर सकता है जो मन को जीत लिये हैं। मन के अधीन हुए संसार की कामनाओं में नाचने वाले लोगों पर गुरु अपना शासन नहीं चला सकता।

यह बात अन्य क्षेत्रों के लिए भी है। यदि अनुगामी, साथी, परिवार एवं पार्टी के लोग सुयोग्य नेता एवं अगुआ के हृदय की बातें समझते हैं और स्वयं में संयत हैं, तो उन पर ही अगुआ या नेता शासन कर सकता है, उन्हें चला सकता है।

सद्गुरु उन्हीं को अपने हृदय के सत्य को समझा सकता तथा उन्हीं को अपने शासन में चला सकता है जो उसके हृदय के विचारों को समझते हैं और समझकर तदनुसार आचरण करते हैं। जो समझता नहीं तथा समझकर भी आचरण में चलता नहीं, उस पर गुरु का कोई वश नहीं।

राग-द्वेष की दावाग्नि

ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि॥३३२॥

शब्दार्थ—लागि = लगाव, प्रेम, सहारा।

भावार्थ—देखा गया है कि संसार के सभी मनुष्य अपने-अपने राग-द्वेष की आग में जल रहे हैं। ऐसा कोई नहीं मिलता जो शीतल हो और जिसका सहारा लेकर शीतलता प्राप्त की जा सके॥३३२॥

व्याख्या—कबीर देव की पंक्ति-पंक्ति में संसार का परम सत्य समाया हुआ है। विचारिए, उक्त साखी में कितना मार्मिक भाव भरा हुआ है! संसार के सभी लोग जल रहे हैं। किसमें जल रहे हैं? अपनी-अपनी आग में। भौतिक आग अपनी या परायी नहीं होती। परन्तु जिस आग में संसार के लोग जल रहे हैं वह भौतिक आग नहीं है। भौतिक आग जहां जलती है उसे सब देखते हैं। चूल्हे में, धूनी में, भट्ठे में, आंवा में, कहीं भी भौतिक आग जलती होगी उसे सब देखते हैं। वह अपनी-परायी नहीं होती। वह तो सार्वभौमिक होती है। परन्तु जिस आग में संसार के सारे लोग जलते हैं, वह सार्वभौमिक आग नहीं है। वह सब की अपनी-अपनी है। ईर्ष्या, घृणा, मोह, काम, क्रोध, लोभ, शोक, चिन्ता, विकलता और इनको संक्षिप्त करके कहें तो राग-द्वेष। यही तो वह आग है जिसे हर मनुष्य निजी-निजी बनाता है। एक घर में आग लगी हो, तो उस घर के सारे लोगों

का सामान एक साथ जलता है, परन्तु उस घर के सभी सदस्यों के मन में लगी हुई राग-द्वेष की आग अपनी-अपनी अलग-अलग है। जिसके मन में जितनी मात्रा में आग है उसका चित्त उतनी मात्रा में जलता है।

मनुष्य अविवेक से अपने मन में राग-द्वेष की आग बनाता है और जीवनभर उसी में जलता है। जिस संसार के प्राणी-पदार्थों से अंततः न कुछ लेना है न देना, उन्हीं में हम राग-द्वेष की आग तैयार कर लेते हैं, और उसी में स्वयं जलते रहना तथा दूसरों को जलाते रहना अपना बहुत बड़ा काम समझते हैं। घरेलू झगड़ों से लेकर विश्व के बड़े-बड़े युद्ध एवं भारत के रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के नरसंहारक महान युद्ध मनुष्य के मन के राग-द्वेष रूपी जलती आग के फल होते हैं।

कहीं आग लगी हो, हम उसमें पड़ जायं, तो जलने लगेंगे, परन्तु यदि वहां से भाग निकलें, तो तत्काल उससे बच जायेंगे। लेकिन यदि मेरी अपनी आग है जो मेरे साथ है, तो उससे भागकर नहीं बच सकते। यह मेरे मन की राग-द्वेषात्मक आग तो मेरी अपनी है। इससे भागकर बचने का कोई चारा ही नहीं है। इससे बचने का चारा है इसे बुझा देना। परन्तु संसार में थोड़े लोग हैं जो अपने मन के राग-द्वेष की आग को बुझा देते हैं। अधिकतम लोग तो रात-दिन इस आग को उद्‌गारते जाते हैं। लोगों के मन में भोग-कामनाओं की आग जलती है और भोग-कामनाओं के बाद ही राग-द्वेष का जन्म होता है, फिर उसके बाद तो केवल उसमें जलना है। बाहर की दावाग्नि की कोई सीमा है, परन्तु मन के राग-द्वेष की आग की कोई सीमा नहीं है। उसके निर्मित होने पर तो उसमें तब तक केवल जलना है, जब तक उसे बुझा न दिया जाय।

राग-द्वेष की अपनी-अपनी आग में संसारी जल रहे हैं, तो वेषधारी भी जल रहे हैं, अधार्मिक जल रहे हैं तो धर्म के दिखावे में लिपटे हुए लोग भी जल रहे हैं। साधारण लोग जल रहे हैं तो बड़े-बड़े पूज्य, प्रतिष्ठित एवं स्वामी लोग भी जल रहे हैं। जिज्ञासु एवं मुमुक्षु संसार से भागकर परमार्थ-मार्ग में जाता है कि वहां उसकी आग बुझ जायेगी, परन्तु कई जगहें ऐसी मिलती हैं कि संसार से भी वहां अधिक राग-द्वेष की आग है। ऐसी स्थिति में साधक को भ्रम हो जाता है कि मानो कहीं छुटकारा की जगह है ही नहीं।

"ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि" इस पंक्ति में मोटे तौर पर यही प्रकट होता है कि शीतलता का आधार संसार में कहीं नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहां का कथन संसार में राग-द्वेष की अधिकता का द्योतक है। संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। यदि शीतलता का आधार ही नहीं होता तो साधकों के लिए शंबल ही नहीं होता। प्रत्यक्ष है कि सच्चे संत शीतल होते हैं। उनके राग-द्वेष बुझे होते हैं। उनकी शरण लेकर राग-द्वेष की आग बुझायी जा सकती है। कबीर देव ने साधकों को एवं समस्त कल्याण-इच्छुकों को आदेश दिया है "जहँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहँ उठि मिलहु कबीरा।"[१] "संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।"[२] आपने साखीग्रंथ में कहा है

१. बीजक, शब्द २९।

२. बीजक, साखी २०७।

"साधु बिरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार। जग महँ होते साधु नहिं, जरि मरता संसार।।"

हर मनुष्य की अपनी-अपनी आग उसके द्वारा बनाये गये राग-द्वेष हैं। हर आदमी अपनी-अपनी आग में जल रहा है। राग-द्वेष-हीन संतों की शरण में लगकर और उनकी उपासना एवं प्रेरणा से जगकर मनुष्य अपने हृदय के राग-द्वेष की आग को बुझा सकता है और इसी जीवन में परम शीतल हो सकता है। सद्गुरु ने कहा है "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।"[1]

मानवीय बुद्धि के बिना मानव-तन व्यर्थ है

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल।
कहा लाल ले कीजिये, बिना बास का फूल।।३३३।।

शब्दार्थ—बेतूल = तुलना-रहित, हलका। बास = गंध, सुगंध।

भावार्थ—कुल, रूप, सौंदर्य, जवानी, विद्या, पद, शृंगार सभी अंगों से बना-ठना मनुष्य अच्छी समझ एवं विवेक-बुद्धि के बिना मानवीय लक्षणों से दूर है। फूल लाल-लाल एवं बड़े-बड़े हों, परन्तु उनमें सुगंध न हो तो उन्हें लेकर क्या होगा! ।।३३३।।

व्याख्या—मनुष्य का असली व्यक्तित्व बाहर नहीं, भीतर है। अच्छी समझ, विवेकबुद्धि, शील, संयम, सदाचार आदि मानसिक गुण हैं। इन्हीं से आन्तरिक व्यक्तित्व गठित होता है। व्यक्ति में यदि ये मानसिक गुण न हों तो उसका बाहरी तामझाम निरर्थक है। आदमी को पहला अहंकार होता है कुल का। मैंने इतने बड़े कुल में जन्म लिया है, इसका दिखावा प्रायः किया जाता है। इसके विपरीत समाज ने कुछ लोगों के मन में यह भाव भी बैठा दिया है कि तुम नीच कुल के हो। अतः वे चाहे जितने सद्गुणसंपन्न हों, किन्तु उनके मन में ऐसी हीन-भावना बनी रहती है कि हम नीच हैं। दूसरे लोग भी उन पर यही दृष्टि रखते हैं और वे स्वयं भी अपने आप के लिए यही धारणा रखते हैं। यह मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्गुरु कहते हैं कि तथाकथित उच्चकुल में जन्मा हो, देह सुगठित एवं रूप-सौंदर्यसंपन्न हो, जवानी की मस्ती हो, अनेकानेक भाषाओं एवं लिपियों का ज्ञान हो, अनेक विषयों के ज्ञान से संपन्न हो, ऊंचे पदों पर आसीन हो, अर्थात बाहरी सारी संपन्नता हो, परन्तु समझ अच्छी न हो, विवेकवती बुद्धि न हो, न वह मनुष्यों से अच्छा व्यवहार कर पाता हो और न उसके अपने जीवन में संयम हो, तो वह बना-ठना मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं है। क्या आपने सेमल के फूल नहीं देखें हैं! वे बड़े-बड़े तथा लाल-लाल होते हैं, परन्तु उनमें सुगंधी का नाम भी नहीं होता, तो ऐसे फूल किस काम के! इसी प्रकार भक्ति, विनम्रता, शील, संयम, समझ आदि के बिना बना-ठना मनुष्य किस काम का! वह तो केवल आकृति में मनुष्य है, प्रकृति में मनुष्य नहीं है।

---

१. बीजक, साखी ३२२।

मनुष्य की महानता उसके रूप, सौंदर्य, विद्या, पद आदि में नहीं, उसके सुन्दर मन में है। इतिहास साक्षी है कि संसार के अनेक महापुरुष न तो लौकिक दृष्टि से विद्वान थे, न धनवान, न तथाकथित उच्चकुल में जन्मे थे और न देखने में सुन्दर; परन्तु उनके चरणों में सारी दुनिया झुकती रही, और आज भी वह उनकी याद कर सत्प्रेरणा का शंबल पाती है। यह सबका अनुभवसिद्ध ज्ञान है कि विद्या-रूपादि से संपन्न होने पर भी अच्छी समझ तथा मानवीय गुणों के बिना आदमी लोगों को प्यारा नहीं होता; परन्तु विवेकशील तथा विनयी व्यक्ति देह से कुरूप एवं विद्याहीन होकर भी सबको प्यारा होता है। विनयशील व्यक्ति सदैव सुन्दर दिखता है, यह अनुभूत तथ्य है।

लम्बे-लम्बे हाथ, चौड़ी छाती, बड़ी-बड़ी आंखें, प्रशस्त मस्तक, सुन्दर मुख आदि में उत्तम व्यक्तित्व खोजना महाभ्रम है। मनुष्य का उत्तम व्यक्तित्व तो उसके सुलझे हुए मन में है। यह बात अलग है कि यदि मन बढ़िया है तो शारीरिक सुन्दरता भी शोभा देती है। परंतु मन ठीक न हो तो तन की सुन्दरता दो कौड़ी की भी नहीं है। मनुष्य को आंतरिक तृप्ति, सुख, शांति एवं आनन्द देह की चमक-दमक से नहीं हो सकती। उसमें भूलकर तो अशांति ही होगी। उसे आंतरिक तृप्ति मिलेगी मन का विवेकसंपन्न एवं शीलयुक्त होने से। जब मन ज्ञान से भरा हो, संयत एवं स्थिर हो, तभी जीवन का लक्ष्य परम शांति मिल सकती है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू बाहर बन-ठनकर क्या चलता है, भीतर को संवार! चाम के चेहरे को संवारने की अपेक्षा मन को संवार, तभी तुम्हें परम शांति की प्राप्ति होगी, तभी तेरा जीवन कृतकृत्य होगा।

सत्य पालन सर्वोच्च तपस्या है

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥३३४॥

शब्दार्थ—आप = स्वतः, स्वयं, अपने आप।

भावार्थ—सत्य पालन के समान तपस्या नहीं है और झूठ के समान पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा है, उसके हृदय में व्यक्ति का स्वराज्य है॥३३४॥

व्याख्या—लम्बा-लम्बा उपवास, पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, मौनव्रत, नंगा रहना, वन में कठिनाई का जीवन बिताना, इसी प्रकार अन्य अनेक तपस्याएं हैं, परन्तु सत्य के पालन के समान दूसरी तपस्या नहीं है। महात्मा बुद्ध तथा महावीर ने सत्य का पालन किया। वे विरोधियों-द्वारा विचलित न होकर अपने मार्ग में दृढ़ रहे। उसका फल संसार के लिए अमोघ हुआ। यूनान देशीय एथेंस नगरी के महात्मा सुकरात को वहां की तात्कालिक राज-सत्ता तथा पुरोहित-समुदाय ने नाना प्रलोभन दिये, जब वे नहीं माने और अपने निर्धारित सत्य का प्रचार करते रहे, तब उन्होंने उन्हें जेल में डाला और अन्त में विष का प्याला पीने का दण्ड दिया। इतने पर भी सुकरात अपने सत्य-पथ से विचलित न हुए और निर्धारित तिथि को जल्लाद-द्वारा विष का प्याला पाकर उसे हंसते-हंसते पी गये और मरते तक उपस्थित शिष्यों को आत्मा की अमरता का उपदेश करते रहे।

तात्कालिक अंधरूढ़ि का विरोध करने से महात्मा ईसा को भी वहां की राजसत्ता तथा पुरोहितसत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा। ईसा को क्रास पर चढ़ाकर उन्हें प्राणदंड दिया गया, परन्तु न वे विचलित हुए और न उन्होंने अपने हत्यारों को बुरा कहा। उन्होंने मरते दम क्रास पर लटके-लटके कहा था "हे प्रभु, इन्हें क्षमा करना। ये नहीं समझते कि हम क्या कर रहे हैं!"

स्वयं ग्रन्थकार कबीर साहेब के सत्य-पालन की दृढ़ता जगत-प्रसिद्ध है। बादशाह सिकन्दर-द्वारा कबीर साहेब की बावन कसनियां बतायी जाती हैं जो एक-से-एक दारुण हैं। निश्चित है उनमें जितने अंश चमत्कार के हैं, वे काल्पनिक हैं। परन्तु उन सबसे इतना तो पता चलता ही है कि समसामयिक राजसत्ता एवं पुरोहितसमाज ने कबीर साहेब को नाना तकलीफ देने का प्रयास किया था, परन्तु उनकी सत्य में अविचल दृढ़ता तथा जनसमाज का सहयोग उनके साथ होने से उनका कोई बाल बांका नहीं कर पाया। कबीर साहेब पुरोहितों की नगरी काशी में रहकर उन्हें ललकारते रहे, उनकी त्रुटियों पर उन्हें खरी-खोटी सुनाते रहे और उनके-द्वारा विरोध पाकर भी अविचलित बने रहे। यह उनका कितना अपार साहस था! सत्य-पालन की उनमें कितनी अपार क्षमता थी! सत्य-पालन में उन्होंने कितना कठोर तप किया, यह सोचते ही बनता है!

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दूसमाज के कूड़े-कचड़े को बुहारने में कितना अपार साहस दिखाया, यह जगत-प्रसिद्ध है। उनके क्रांतिकारी विचारों के कारण उनको कई बार जहर दिया गया तथा उन पर प्राणघातक हमले किये गये, परन्तु वे अपने सत्य विचार में दृढ़ रहे। अंततः उनको विष दिया गया। मीराबाई को भी विष का प्याला दिया गया। उन पर कई प्राणघातक प्रयोग किये गये, परन्तु उन्होंने अपने निर्धारित-पथ का परित्याग नहीं किया। ध्रुव और प्रह्लाद की कहानियां चाहे पूरी ही काल्पनिक हों, परन्तु सत्य-पथ पर चलने वालों के लिए उनमें प्राणवान शिक्षाएं मिलती ही हैं। श्री राम का पिता के वचन रखने के लिए चौदह वर्ष घोर तपस्वी जीवन बिताना और उसमें सीता, लक्ष्मण, भरत आदि का हाथ बंटाना अपने आप में उत्तम आदर्श है। श्री कृष्ण[1] का वनवासियों तथा पशुओं की भी रक्षा में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों और इन्द्र से भी लोहा लेना अपने आप में अत्यन्त रोचक तथा बहुत बड़ी तपस्या की बात है। महात्मा गांधी ने सत्य के पालन में अपनी जान खो दी, परन्तु सत्य से विचलित न हुए। सिक्ख गुरुओं की कुर्बानियां जगत-प्रसिद्ध हैं। गुरुगोविंद सिंह के दो बच्चे मुसलिम राजा-द्वारा दीवार में चुनवा दिये गये, परन्तु उन्होंने उनके मुसलिम बनने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। गैलेलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों को अपने सत्य सिद्धांत के लिए धर्म के ठेकेदारों का कोपभाजन होना पड़ा, परन्तु वे सत्य से न डिगे।

सत्यभावना, सत्यसिद्धांत, सत्यवचन तथा सत्याचरण पालन करने में चाहे जितनी कठिनाइयां पड़ें, उन्हें सहर्ष सहना ही तपस्या है। भय और प्रलोभन में पड़कर जो सत्य को छोड़ देता है वह कहीं का भी नहीं रह जाता। अनेक लोगों को देखा जाता है कि

---

१. श्री कृष्ण का यह स्वरूप ऋग्वेद मंडल ८, सूक्त ८५, मन्त्र १३-१६ में द्रष्टव्य है।

उन्हें लम्बी बीमारियों में घोरातिघोर कष्ट उठाना पड़ता है, फिर यदि सत्य के लिए कष्ट उठाना पड़े तो क्या हर्ज है! मौत सभी देहधारियों की निश्चित है और यदि सत्य के पालन में ही मौत हो तो यह कितना ऊंचा काम है! सत्य के समान न संसार के माने गये सुख हैं, न पद-प्रतिष्ठा हैं और न अन्य कुछ। यदि सत्य छोड़ देना पड़े तो शरीर भी रखकर किस काम का! अतएव सचाई में रहना ही सबसे बड़ी तपस्या है। सत्यपरायण व्यक्ति बाहर से भले ही अकिंचन दिखे, परन्तु भीतर से वही संपन्न होता है। सत्यपरायण व्यक्ति जीवन में सच्चा सुख पाता है। जो व्यक्ति सत्य में रहता है वह कोई पाप नहीं कर सकता, फिर उसके समान तपस्वी और सफल-जीवन कौन होगा!

"झूठ बराबर पाप" झूठ के बराबर पाप नहीं होता। जो झूठ बोलता है वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता! जो व्यक्ति जितना ही झूठ का आश्रय लेता है वह उतना ही परमार्थ से तो दूर हो ही जाता है, उसका व्यवहार भी थोड़े दिनों में भ्रष्ट हो जाता है। झूठा आदमी सबका अविश्वासपात्र हो जाता है। झुठाई के बल पर कोई तत्काल धन-मकान को चमका सकता है, परन्तु वह भीतर से मलिन हो जाता है और उसकी बाहरी चमक-दमक भी थोड़े दिनों में बुझ जाती है। झुठाई के रास्ते पर चलने का मतलब है दूसरों को पीड़ा देना, और दूसरों को पीड़ा देकर कोई स्वयं पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता।

"जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप।" यह बड़ी वजनदार बात है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में अपने आप की प्रतिष्ठा है। शिष्य ने पूछा कि सत्य क्या है? गुरु ने कहा कि व्यक्ति अपने आप ही परम सत्य है। व्यक्ति का बाहरी खोल तो असत्य है। अर्थात शरीर नाशवान है। परन्तु शरीर के भीतर विद्यमान चेतन परम सत्य है। जो सत्य को खोजता है वह चेतन जीव ही परम सत्य है। जो व्यक्ति अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान पा गया है और जीवन के सारे व्यवहार सत्यमय बरत रहा है वह अपने आप कृतकृत्य होता है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा असत्य में मोह होने से ही सारे दुख थे। जब निजस्वरूप का बोध हो गया और असत्य मायाजाल से मोह टूट गया तब जीव अपने सत्य स्वरूप चेतन में प्रतिष्ठित हो गया। यही जीवन की सर्वोच्च दशा है। यही "जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप" का भाव है। जब जीव असत्य से सर्वथा हट गया, तब स्वयं सत्यस्वरूप रह गया।

बड़ा वही है जिसकी बड़ी बुद्धि एवं बड़े संस्कार हैं

कारे बड़े कुल ऊपजे, जोरे बड़ी बुधि नाहिं।
जैसा फूल उजारिका, मिथ्या लगि झरि जाहिं॥३३५॥

शब्दार्थ—कुल = वंश, घराना, गोत्र, एक जाति वालों का समुदाय। उजारि = उजाड़, वीरान, जनशून्य, जंगल।

भावार्थ—यदि बड़ी बुद्धि नहीं है तो बड़ी जाति में पैदा होने से क्या हुआ! जैसे जनशून्य जंगल में फूल खिले और व्यर्थ में झड़ गये, वैसे उत्तम मानव-जाति में जन्म

लिया, परन्तु आत्मकल्याण और जनकल्याण का कोई भी काम किये बिना संसार से चला गया, तो उसका जन्म व्यर्थ गया।।३३५।।

व्याख्या—यह भाषा की विचित्रता है कि तुर्की भाषा में 'कुली' मजदूर को कहते हैं और संस्कृत में कुली या कुलीन उच्च वंश में पैदा हुए लोगों को कहते हैं। सद्‌गुरु कबीर यहां 'कुल' के साथ 'बड़े' विशेषण लगाते हैं। बड़ा कुल एवं उच्च कुल मानव-कुल है। पूरे मानव का एक ही कुल एवं वंश है जो संसार में सर्वोच्च है। मानव के समान संसार में कोई जाति नहीं है। परन्तु ऐसे उत्तम मानव-कुल में जन्म लेकर जीव ने क्या कमाया जबकि उसकी बुद्धि मानवीय गुणों से सम्पन्न एवं विवेकवती नहीं है! बड़े कुल में जन्म लेने की शोभा तब है जब उसमें बड़ी बुद्धि हो।

बड़ी बुद्धि का अर्थ है विचार एवं विवेक-प्रधान बुद्धि का होना। जिसमें बड़ी बुद्धि होती है वह अपने आपको बड़ा तथा दूसरे को छोटा नहीं मानता, किन्तु वह दूसरे सब का आदर करता है और स्वयं विनम्र रहता है। बड़ी बुद्धि वाला वह है जो अपने आप के प्रति संयमशील है और दूसरों की यथाशक्ति सेवा करता है। विनयभाव तथा परसेवा बड़ी बुद्धि का मुख्य लक्षण है। यह जिसके पास नहीं है वह निर्जन स्थल में खिले हुए फूलों के समान है जिनका उपयोग किसी के लिए नहीं हुआ।

बड़ा कुल उसे भी माना जाता है जिस मानव जाति के परिवार में उत्तमशिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार का बाहुल्य है; और जिस परिवार में इन अच्छे गुणों का अभाव है उसे निम्न कुल माना जाता है। परन्तु इस मान्यता में आगे चलकर मिथ्या अवधारणा घर बना लेती है। जो उत्तम संस्कारों से अधिक सम्पन्न थे उत्तम कुल वाले कहलाने लगे। आगे चलकर उनमें भ्रष्ट लोग होने लगे, परन्तु वे भी अपने आप को उत्तम कुल का होने का अहंकार करते हैं। दूसरी तरफ़ जिन परिवारों में उच्च संस्कार नहीं हैं, उन्हें निम्न कुल का कहा जाता है। परन्तु आगे चलकर उनमें शिक्षा, अच्छे संस्कार तथा सदाचार आ जाने पर भी उन्हें दूसरे लोग नीच कुल का ही मानते हैं। यह घोर अपराध संसार के प्रायः हर क्षेत्र तथा मजहब वालों में है, और इसका अधिक ज्वलंत रूप भारतवर्ष के हिन्दू समाज में है। कभी पुराकाल में ब्राह्मण नामधारियों का एक छोटा परिवार था और वह बहुधा शिक्षित, अच्छे संस्कारसंपन्न और सदाचारी था। इसलिए वह उच्च कुल कहलाने लगा। आज उनका परिवार बहुत बड़ा है। उच्च शिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार कुछ लोगों में ही हैं, शेष की दशा इतनी गिर गयी है कि उसका वर्णन करना बेकार है। फिर भी वे अपने आप को उच्च कुल का मानकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं। दूसरी तरफ जिसे समाज निम्न एवं शूद्र कुल कहता है उसमें अनेक उच्च शिक्षा प्राप्त, अच्छे संस्कारयुत, भक्त एवं सदाचारी हैं, परन्तु उन्हें आज भी समाज नीच कुल का मानता है। यह धारणा मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्‌गुरु कबीर कहते हैं कि उच्च कुल का कहलाने से कोई उच्च नहीं हो सकता। वस्तुतः जिसकी उच्च बुद्धि है, उच्च आचार एवं उच्च संस्कार हैं वही उच्च है। विनयी ही श्रेष्ठ है। अपने को सबसे बड़ा मानने वाला तुच्छ है।

कल्पक सत्य है, कल्पना असत्य

कर्ते किया न बिधि किया, रवि ससि परी न दृष्टि।
तीन लोक में है नहीं, जाने सकलो सृष्टि ॥३३६॥

शब्दार्थ—कर्ते = कर्ता, बनाने वाला। बिधि = संयोग। तीन लोक = ऊपर-नीचे-मध्य, समस्त संसार, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन।

भावार्थ—बताओ, वह क्या है जिसे न तो किसी कर्ता ने बनाया है, न संयोग से ही बन गया है, न उसे सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में देखा जा सका है और न तो वह संसार में कहीं है, फिर भी उसे सारा संसार जानता एवं मानता है? वह है आत्मसत्ता से भिन्न ईश्वर एवं दैवी-कल्पना ॥३३६॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा ही ईश्वर है, देव है, सर्वोच्च सत्ता एवं परमतत्त्व है। परन्तु इसे न समझकर मनुष्य ने अपने से भिन्न किसी ऐसे ईश्वर एवं देव की कल्पना कर रखी है जिसके विषय में धारणा है कि वह सर्वशक्तिमान है, सब जगह है और सर्वज्ञ है। इसके साथ-साथ वह न्यायी, दयालु एवं आनन्दस्वरूप भी है। इन सबकी कल्पना इसलिए होती है कि मनुष्यों को इन सब बातों की आवश्यकता है। कोई ऐसा चेतन होता जो सब जगह होता, सब कुछ जानता और सब कुछ कर सकता और इसके साथ-साथ न्यायी, दयालु तथा आनन्दस्वरूप भी होता, तो ऐसा बादशाह पाकर हम जीवों को कोई तकलीफ कभी होती ही नहीं। वह सब जगह तथा सर्वज्ञ होने से सबकी बातें सब समय जानता और सब कुछ करने की शक्ति रखने से वह सबको सदैव अच्छे पथ पर चलने के लिए सावधान करता रहता। यदि कोई न मानता तो मां जैसे बच्चे को चपत लगाकर उसे रास्ते पर लाती है, वैसे वह मनुष्यों को बलपूर्वक असत-मार्ग से हटाकर सत-मार्ग पर ले आता। वह अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से संसार को बचाकर मानव एवं प्राणियों को विनाशलीला से उबार लेता। वह न्यायी होने के साथ-साथ हम पर दयालु भी होता और आनन्दस्वरूप होने से उसके आनन्द से हम सदैव आनन्दित रहते इत्यादि।

ईश्वर की यह अत्यन्त मनोरम कल्पना मानव की आवश्यकता है। दुर्भाग्य यह है कि ऐसा ईश्वर कहीं कोई नहीं है। राजसी-तामसी मनुष्यों की उद्दंडता, गरीबों तथा लाचार जीवों का रात-दिन पिसे जाना, बाढ़, सूखा, भूचाल, तूफान तथा अनेक प्राकृतिक उत्पातों से प्राणियों को घोर कष्ट होना, ईश्वर और धर्म के नाम पर उन्मादी संस्कार, यह सब देखकर साफ जाहिर हो जाता है कि जड़ प्रकृति तथा उसके अपने शाश्वत नियम और जीवों के स्वतन्त्र कर्मों का समुच्चय ही संसार है। अतएव ईश्वर, ब्रह्म, खुदा, गॉड, देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि जहां तक मानवेतर शक्तियों की कल्पना की गयी है, सब मनुष्यों के मन की अवधारणा है। सब मिलाकर कहें तो अनुभविता तथा अनुभूत चेतन और जड़ से अलग प्रेरक शक्ति की कल्पना ही वह मन की वस्तु है जो कहीं नहीं है और आश्चर्य है कि उसे ही संसार के प्रायः सारे लोग सर्वेसर्वा मान बैठे हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इसे किसी कर्ता ने नहीं बनाया है और न संयोग से ही बन गया है। प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य ने ही तो ईश्वर की कल्पना की है। तो कहा

जा सकता है कि मनुष्य ही ईश्वर का कर्ता है, उसने ही ईश्वर को मन से गढ़ करके रखा है। यह तर्क बिलकुल सच है। ऐसा कहा भी जाता है। परन्तु यहां की कथन-शैली यह है कि ईश्वर कोई वस्तु न होने से उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता। मनुष्य मकान का कर्ता होता है, घड़ी, कपड़े एवं मशीन का कर्ता होता है। ये भले ही क्षणभंगुर हों, परन्तु इनकी कुछ दिनों के लिए सत्ता होती है। ईश्वर ऐसा कुछ भी नहीं है। अतएव ईश्वर केवल काल्पनिक होने से उसका कोई कर्ता नहीं और न उसका कोई संयोग से ही निर्माण हो गया है। वह कुछ न होने से उसे सूरज तथा चांद की रोशनी में देखना भी असंभव है। सद्गुरु कहते हैं कि वह संसार में कहीं नहीं है। न वह द्रष्टा है, न दृश्य है, और न दर्शन। द्रष्टा चेतन हैं, दृश्य जड़ और दर्शन दोनों का संबंध है। ईश्वर उनमें कुछ भी नहीं है। फिर भी संसार ईश्वर-ईश्वर पुकार रहा है। यह उसका भोलापन है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि शताधिक तत्वों के समाहार ठोस, तरल, वायव्य एवं अतिवायव्य कहें, ये जड़ तत्त्व हैं। इनमें अपने अनादि स्वयंभू तथा शाश्वत नियम हैं, इधर असंख्य जीवों के मन तथा कर्म हैं जिनसे संसार की व्यवस्था चल रही है। हमें संसार के नियमों का अध्ययन करके अपना ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे हमें यथासंभव कष्ट न हो। हम यह न कर नियामक की खोज में पड़ जाते हैं, कि यदि वह मिल जाय तो हम उसकी पूजा कर लें और वह हमें संसार के सारे नियमों के प्रतिबंधों एवं फलों से मुक्त कर दे। परन्तु यह होने वाला नहीं है। बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त भी अपने कर्मों के फलभोग पाते हैं। प्रसिद्ध ईश्वरभक्त गोस्वामी तुलसीदास अपने हाथ के दर्द से बुढ़ापे में बहुत पीड़ित रहे, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा गीताप्रेस के हनुमान प्रसाद पोद्दार गले के कैंसर का असह्य कष्ट भोगकर शरीर छोड़े।

पहले यह विचार लेना चाहिए कि हर नियम का नियामक नहीं हुआ करता। आग का नियम है जलाना। इसे उसमें किसी ने नियोजित नहीं किया है, किन्तु यह आग का शाश्वत स्वभाव है। आग अनादि है, उसका जलाना नियम भी अनादि है। ऐसे समस्त जड़-चेतन अनादि हैं। उनके स्वभावसिद्ध नियम भी अनादि हैं। बनावटी नियम तो मनुष्य के होते हैं, जैसे उसने अपने नियम बना लिये कि हम सुबह चार बजे सोकर उठेंगे, पांच बजे तक नित्यक्रिया से निपट लेंगे, छह बजे तक अध्ययन तथा ध्यान करेंगे इत्यादि। किन्तु जड़-चेतन के स्वभावसिद्ध नियम किसी के बनाये नहीं होते। वे स्वयंभू तथा शाश्वत होते हैं। अतएव हमें जड़-दृश्य जगत तथा उससे भिन्न अपनी आत्मा के अलावा किसी नियामक की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जड़-चेतन और मन, देह एवं विश्व प्रकृति के नियमों को जानकर आचरण से चलना चाहिए जिससे हम स्वयं सुखी रहें और यथासंभव समाज को सुख दें। अपने ऊपर से ईश्वरीय कल्पना को हटाये बिना हमें अपने चेतनस्वरूप का न बोध होगा और न उसमें स्थिति। बाहरी ईश्वर का जंजाल काटने पर ही स्वस्वरूप-राम में विश्राम होगा।

काल्पनिक स्वर्ग पाने की दुराशा

सुरहुर पेड़ अगाध फल, पन्छी मरिया झूर।
बहुत जतन के खोजिया, फल मीठा पै दूर ॥३३७॥

शब्दार्थ—सुरहुर = लम्बा तथा सीधा। अगाध = असीम, अपार। झूर = सूखा। जतन = यत्न, उपाय।

भावार्थ—कोई लम्बा-सीधा पेड़ हो, उसमें असीम मीठे फल लगे हों और उन्हें खाने के लिए पक्षी उनमें लगे हों, परन्तु वे फल न पाकर स्वयं सूख-सूखकर मर रहे हों! मानो ऐसा ही बहुत उच्च स्थान पर एक स्वर्ग है। उसमें अप्सरादि मीठे भोग तथा ईश्वर-साहचर्य के आनंद मिलने की कल्पना की जाती है। परन्तु उसके रसिक भक्त उसे पाते नहीं, प्रत्युत तपस्या में सूख-सूखकर मरते हैं। नाना मत के गुरुओं के भुलावे में पड़कर संसार के लोग उसे नाना उपाय करके खोजते हैं, वे कहते हैं कि स्वर्ग के फल तो मीठे हैं, परन्तु दुर्लभ हैं ॥३३७॥

व्याख्या—संसार के प्रायः सभी मतों ने आकाश में स्वर्ग की कल्पना की है। लोग मानते हैं कि वहां के सारे भोग दिव्य हैं। नाना मत के पुरोहितों की रोचक और काल्पनिक बातें सुनकर संसार के लोग ललचाते हैं और उन्हें पाने के लिए तपस्या करते हैं। लोग तपस्या करके सूख-सूखकर मरते तो हैं, परन्तु स्वर्ग-सुख पाने से रहे, क्योंकि वह सब मन बहलाने का उपाय मात्र है।

सालोक्य (ईश्वर के लोक में बसना), सामीप्य (ईश्वर के निकट रहना), सारूप्य (ईश्वर के रूप वाला हो जाना), सायुज्य (ईश्वर में घुल-मिल जाना)—ये चार प्रकार की सगुण मुक्तियां मान रखी हैं, जो स्वर्ग की कल्पना की तरह ही हैं।

कबीर साहेब विवेकसंमत बात ही मानने वाले पुरुष थे। उन्होंने उक्त साखी में स्वर्गवादियों की मिथ्या कल्पनाओं एवं दुराशाओं पर व्यंग्य किया है। उक्त पूरी साखी स्वर्गवादियों पर व्यंग्य है।

स्वर्ग और ईश्वर की खोज करने वाले भटके हैं

बैठा रहै सो बानिया, ठाढ़ रहै सो ग्वाल।
जागत रहै सो पहरुआ, तेहि धरि खायो काल ॥३३८॥

शब्दार्थ—पहरुआ = पहरा देने वाला। काल = कल्पना, अज्ञान।

भावार्थ—उक्त स्वर्ग और ईश्वर को पाने के लिए जो लोग एक जगह बैठकर कथा-कीर्तन तथा नाम-जपादि करते हैं वे मानो दुकानदार बनिया हैं, जो लोग ठाढ़ेश्वरी बने रहते तथा घूम-घूमकर तीर्थ करते हैं वे मानो गाय चराने वाले ग्वाले हैं और जो उनके लिए जागरण करते हैं वे मानो पहरेदार हैं, इन सबको मानो अज्ञान ने पकड़कर खा लिया है ॥३३८॥

व्याख्या—कबीर साहेब व्यंग्य करने तथा चुटकी लेने में निपुण हैं। किसी ने कहा कुछ लोग भगवान और स्वर्ग को पाने के लिए एक जगह ही बैठकर कथा, कीर्तन, जप, दान आदि करते हैं। साहेब कहते हैं कि वे बनिया की तरह हैं। बनिया भी एक ही जगह बैठकर दुकान करता है। वैसे भक्त लोग एक ही जगह बैठकर जप-कीर्तन आदि करके स्वर्ग में जाना तथा ईश्वर को पाना चाहते हैं।

साहेब कहते हैं कि स्वर्ग पाने तथा ईश्वर-दर्शन के लिए बारह-बारह वर्ष या जीवनभर खड़े रहने वाले या तीर्थों की यात्रा करने वाले सब गाय चराने वाले ग्वालों के समान हैं। ग्वाले सदैव डंडा लेकर गायों के पीछे दौड़ते रहते हैं, वैसे ये ईश्वर और स्वर्ग के विरही लोग सदैव तीर्थों का चक्कर लगाते रहते हैं।

अनेक लोग रात-रात जागकर देवपूजन या हठयोगादि साधते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये मानो पहरेदार हैं। पहरेदार भी तो रात-रात जागकर पहरा देता है। जो वस्तु है ही नहीं वह न बनियापन से मिलेगी, न ग्वालेपन से तथा न पहरेदारपन से। मनुष्य की आत्मा को छोड़कर उसे न कहीं कोई परमात्मा मिलने वाला है और न स्वरूपस्थिति छोड़कर कोई स्वर्ग। अतएव जो लोग स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर बाहरी स्वर्ग एवं ईश्वर पाने के चक्कर में भटकते हैं वे मानो कल्पना-काल के गाल में लीन हैं। आत्मदेव ही परमात्मा है तथा मन की विश्रांति ही स्वर्ग एवं मोक्ष है। इनसे बाहर भटकना अज्ञान का चक्कर है।

संसार-वृक्ष कट जाने पर फल देता है

आगे-आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय ॥३३९॥

शब्दार्थ—दौं = दावाग्नि, जंगल में लगी हुई प्रचंड अग्नि। हरियर = हरा-भरा। बलिहारी = निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा।

भावार्थ—जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लगी है और आगे-आगे सांसारिकता एवं भास-अध्यास का वन जलता जाता है, उनके पीछे मन का नन्दनवन हरा-भरा होता जाता है। इस संसार-वृक्ष की यही प्रशंसा है कि इसकी जड़ काटने से ही यह मोक्ष-फल देता है ॥३३९॥

व्याख्या—महाकवि कबीर का समर्थ-कथन कितना मार्मिक, अनुभवपूर्ण एवं तलस्पर्शी है! 'दव' कहते हैं वन को। बांसों की रगड़ या किसी मनुष्य के आग लगा देने से जब वन में आग लगती है तब कभी-कभी वह बहुत व्यापक हो जाती है। वन में सर्वत्र घास-फूस, पत्ते तथा लकड़ियां होती हैं। अतः उन ईंधनों को पाकर आग सर्वत्र बढ़ती जाती है। इसे दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र को भी दावाग्नि कहा जाता है। जब दावाग्नि लगती है तब वन को जलाकर राख कर देती है। वहां तुरन्त उसके हरा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का नन्दनवन खिल जाता है।

हमारा मन एक विशाल वन है। हम इसी में तो रात-दिन भटकते हैं। वन में हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपते हैं। यदि वन जलकर राख हो जाय तो सब कुछ मैदान में बदल जाय और उसमें न हिंसक जन्तु रह सकें न चोर-डाकू। इसी प्रकार हमारे मन के वन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपे रहते हैं और हम मन की उलझन में सदैव उलझे रहते हैं। जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का वन जल जाता है। फिर न तो वहां काम-क्रोधादि रह सकते हैं और न जीव के भटकने का अवसर ही रह जाता है।

मन में हर क्षण वास्तविकता का बोध बने रहना ज्ञान की दावाग्नि का प्रज्वलित रहना है। शरीर विवेक-साधन-सम्पन्न होने से महत्वपूर्ण है, अन्यथा भौतिक दृष्टि से यह एक हाड़-मांस का ढांचा है। जिसमें टट्टी, पेशाब, रक्त, मवाद आदि भरे हुए हैं, फिर यह प्रायः हर क्षण रोग-व्याधि से ग्रसित रहता है। यह क्षणभंगुर है ही। सारे भोग मन को अशांत करने वाले हैं। संसार की सारी ममता घोर अविवेक है; क्योंकि जीव के साथ अंततः न कुछ रहने वाला है और न कुछ जाने वाला है। जीव का परम निधान जीव का अपना स्वरूप एवं उसकी अपनी आत्मा ही है। सब तरफ से लौटकर अपनी आत्मा में स्थित होना ही जीवन की सर्वोच्च्य गति है। इस तरह का भाव मन में सदैव बने रहना मानो मनरूपी वन में ज्ञान की दावाग्नि का जलते रहना है। जो जैसा है उसको उसी तरह समझते रहना ही सच्चा ज्ञान है और यह भाव मन में सदैव बने रहना ज्ञान की दावाग्नि है। ऐसी स्थिति में मन में कूड़े-कचड़े नहीं रह सकते। मन में कचड़े तो तभी आते हैं जब हम वास्तविकता को भूल जाते हैं। यथार्थ ज्ञान का निरन्तर बने रहना ही भजन है।

सद्गुरु कहते हैं "आगे-आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।" व्यक्ति के आगे मन ही तो है। हर समय मन ही आगे रहता है। जिनके मन में ज्ञान की आग जलती है उनकी दशा हरी-भरी हो जाती है, परम सुखमय एवं परमानंदमय हो जाती है। जो आगे-आगे होता है उसी का फल पीछे घटता है। जिसके मन में दिनभर खुराफात है, वह शाम को जब खाट पर अकेला होकर बैठेगा, तब उसके मन में अशांति का बोलबाला ही तो रहेगा! जो दिनभर अच्छे बरताव करेगा, वह जब शाम को बिस्तर पर अकेला होकर बैठेगा तब उसके मन में सुगंधी-ही-सुगंधी रहेगी। हम जो कुछ वर्तमान में करते हैं, पीछे वही होते हैं। अतएव सद्गुरु ने यह बड़े मनोविज्ञानपूर्वक कहा है कि जिसके आगे-आगे अर्थात मन में ज्ञान की दावाग्नि जलती रहती है, उसके पीछे अर्थात फल में उसका नंदनवन हरा-भरा हो जाता है। वासनाहीन मन आनंद का सागर होता है। इसीलिए तो परम पारखी सद्गुरु रामरहस साहेब ने "आनंद सिंधु अहंतातीता" कहा है। अर्थात जो अहंकार से रहित है वह आनंद का सागर है। मन की सांसारिकता के वन में ज्ञान की आग लगा देने पर मन का अध्यात्म-वन हरा-भरा होता है।

सद्गुरु कहते हैं "बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय।" अर्थात उस पेड़ पर हम कुर्बान हैं जिसकी जड़ काट देने पर वह फल देता है। संसार की आसक्ति एक महान वृक्ष है। यदि इसे भोगों से सींचा जाय तो यह दुखों का कारण बनता है और यदि इसकी जड़ काट दी जाय तो यह मोक्ष-फल देता है। जब सांसारिकता एवं राग-द्वेष की जड़ क

जाती है, तब जीव को जीवन पाने का फल मिलता है, वह है भव बंधनों से छुटकारा। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार फल माने गये हैं। फल तो काम और मोक्ष हैं, अर्थ और धर्म उनके क्रमशः साधन हैं। परन्तु अंततः काम भी जीवन का फल नहीं है। जीवन का फल तो केवल मोक्ष है। हम मोक्ष को परोक्ष के संदर्भ में देखते हैं कि बारम्बार जन्म-मरण से छुटकारा हो जाना मोक्ष है, परन्तु यह तो जीवन्मुक्ति का फल है। प्रत्यक्ष अनुभवपूर्ण एवं बोधगम्य मोक्ष वह है जो इस जीवन में उपलब्ध होता है। उसे कहते हैं जीवन्मुक्ति! सद्गुरु ने कहा भी है "जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।"[1] यह मोक्ष मुक्त पुरुष का अनुभव है और मनोविज्ञान-संमत भी है। मनोविज्ञान कहता है कि मन की ग्रन्थियां कट जाने पर मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है और सन्त कहते हैं कि वासनाओं के ध्वंस हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है। दोनों का तात्पर्य एक है। जो व्यक्ति इस जीवन में परम शांति का उपभोग तथा जीवनांत में जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा चाहे वह संसार-वृक्ष की जड़ काट दे। संसार वृक्ष है विषयासक्ति एवं राग-द्वेष। इसके कट जाने पर जीव परम सुखी हो जाता है। विशाल देव ने उसके लिए कहा है—

हानि लाभ सुख दुख नहीं, मिलन विछोह न चाह।
क्षुधा तृषा निद्रा नहीं, घट बढ़ पार सदाह।।

(भवयान, अपना बोध, साखी १४१)

प्राणी हर समय मौत के मुख में है

जन्म मरण बालापना, चौथे वृद्ध अवस्था आय।
जस मूसा को तके बिलाई, अस जम जिव घात लगाय।।३४०।।

शब्दार्थ—जम = यम, मृत्यु। घात = चोट, ताक, दावं-पेंच।

भावार्थ—जन्म-मरण के घेरे में पड़े हुए प्राणियों के बाल्य, कौमार्य, जवानी बीतते हुए चौथी वृद्धावस्था आ जाती है, अथवा प्राणी की मृत्यु होती है, पुनः जन्म होता है, फिर बाल्यावस्था आती है और चतुर्थ वृद्धापन आ धमकता है। जैसे चूहा को बिल्ली टकटकी लगाकर देखती है कि कब वह बिल से निकले और मैं उसे दबोच खाऊं, वैसे मौत प्राणधारियों पर दावं-पेंच लगाकर बैठी है और अवसर आते ही उसे दबोच खाती है।।३४०।।

व्याख्या—जीवन स्थिर वस्तु नहीं, वह एक प्रवाह है। यहां रुकने वाली कोई वस्तु नहीं है। देखो न, पन्द्रह से पचीस वर्ष के बीच की उम्र जिसे गदहपचीसी भी कहते हैं, तीस वर्ष की उम्र में कहां लौट सकती है! इस उम्र में जो शरीर में चमक रहती है वह तीस तक उड़ने लगती है। शिशुपन बालपन में नहीं रहता, बालपन कौमार्य में नहीं रहता, कौमार्य जवानी में नहीं रहता, जवानी परिपक्वावस्था में नहीं रहती, परिपक्वावस्था बुढ़ापा में नहीं रहती, बुढ़ापा जरजरता में नहीं रहता और पूरा जीवन मौत में नहीं रहता। शरीर

---

१. बीजक, शब्द १४।

में हर समय रासायनिक क्रिया होती रहती है और यह क्षण-क्षण बदलता चला जाता है।

यह बदलना बुरा नहीं है। हमारा शरीर जैसे बदलते हुए निरन्तर परिपक्वता एवं बुढ़ापा की ओर बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी निरन्तर परिपक्व एवं वृद्ध होना चाहिए। पके फल मीठे होते हैं, वैसे पकी उम्र अनुभव-सागर एवं पका मन शांति-सागर होता है। अतएव जैसे हमारा शरीर निरन्तर वृद्धता की तरफ बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी अंधकार से प्रकाश की ओर निरन्तर बढ़ना चाहिए। जब तक जरजरता और मौत दूर हैं तब तक ही अपने कल्याण का साधन कर लेना चाहिए। यह कोई नहीं जानता कि शरीर कब रोग से ग्रस्त तथा मौत का कब आक्रमण हो जायेगा। इस संसार में हमारा एक तृण भी नहीं है। अतः हमें यहां के सारे अहंकार छोड़कर सब समय सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं "जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय।" जहां-जहां चूहे के रहने की संभावना रहती है, वहां-वहां बिल्ली उसकी गंध से जान लेती है कि यहां चूहे का आवागमन या निवास है। बिल्ली प्रायः चूहे के बिल के पास शांतमुद्रा में दुबककर बैठती है और बिल पर योगी की तरह ध्यान रखती है और चूहे के निकलते ही उस पर झपट पड़ती है। हर देहधारी ऐसे ही मौत का अचानक ग्रास बनता है। प्रमादी आदमी माने रहता है कि दूसरे मर जायं तो मर जायं, परन्तु मैं अभी नहीं मर सकता; इससे अधिक असावधानी और कुछ नहीं हो सकती। मौत का तो कोई ठिकाना नहीं किसके पास कब आ धमके।

अतएव हमें हर समय अपने माने हुए शरीर को मौत के मुख में समझकर जगत-वासना का त्याग करना चाहिए। हमसे जितना बन सके दूसरों का उपकार करें और अपने आपको सबके राग-द्वेष से छुड़ाकर संसार के बंधनों से मुक्त हों।

सब प्राणी प्राण-प्रिय हैं

है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।
घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो ॥३४१॥

शब्दार्थ—बिगरायल = बिगड़ैल, क्रोधी, हठी, कुमार्गगामी। ओर का = शुरू से, तात्पर्य में अनादिकाल से। घाव = चोट।

भावार्थ—मनुष्य वैसे ही अनादिकाल से क्रोधी, हठी एवं कुमार्गगामी हैं, तुम उनके साथ वैसा ही व्यवहार करके उन्हें उसी तरफ प्रेरित मत करो। किसको चोट पहुंचाओगे, जहां देखो वहां हमारा प्राणप्यारा है॥३४१॥

व्याख्या—सभी देहधारी जीव अनेक प्रकार की कामनाओं के अधीन हैं। सारी कामनाएं किसी की पूरी नहीं होतीं। अतएव कामनाओं में भंग पड़ने पर आदमी तुरन्त क्रोध के अधीन हो जाता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति में तथा अपने अहंकार के पोषण में मनुष्य हठ करता है। फिर इतना ही क्या, अहंकार-कामना के वश होकर आदमी सारे

अनर्थ करता है। इस प्रकार सभी जीव अनादिकाल से बिगड़ैल हैं। "है बिगरायल ओर का" ओर के अर्थ तरफ, दिशा, पक्ष, अथवा छोर, सिरा, अंत, आरम्भ आदि हैं। वैसे जब हम समास में 'ओर-छोर' कहते हैं तब उसके अर्थ क्रमशः 'आरम्भ-अंत' होता है। इसलिए 'ओर' का अर्थ यहां आरम्भ है। चूंकि सृष्टि का आरम्भ कहीं न होने से सब कुछ अनादि है। इसलिए यहां अर्थ किया गया प्राणी अनादिकाल से ही बिगड़ैल है। यहां अनादि और आरम्भ का झमेला न बढ़ाकर सरल अभिप्राय इतना ही है कि देहधारी पहले से ही बिगड़ैल हैं। इसलिए तुम उनके साथ बिगड़ैलपन का काम करके उन्हें अधिक बिगड़ैल मत बनाओ।

"है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।" इस पंक्ति में गहरा मनोविज्ञान और करुणा है। विषयासक्ति के रोगवश सभी मनुष्यों का मन फोड़ा-सरीखा बना है। जैसे फोड़े में थोड़ा भी धक्का लगने पर वह दुख जाता है, वैसे मनुष्यों के मन में थोड़ी-सी भी चोट लगने पर वे दुखी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि सब जीव दुखी हैं, अतएव तुम भी दुखी बनकर दूसरों को और दुख मत दो। जैसे धनी हुए बिना कोई दूसरों को धन नहीं दे सकता, विद्वान हुए बिना दूसरों को विद्या नहीं दे सकता, वैसे दुखी हुए बिना कोई दूसरों को दुख नहीं दे सकता। यदि तुम दूसरों को दुख देते हो तो तुम पहले से ही स्वयं दुखी हो।

चाहे अपने पास के रहने वाले हों और चाहे बाहर के मिलने वाले, किसी भी मनुष्य से संबंध होने पर हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि उन्हें हमारे द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न हो। अगले आदमी को कष्ट होने में देरी नहीं लगेगी। जहां हम से कुछ असावधानी हुई वहां अन्य को कष्ट हुआ। यदि हमारा मन और व्यवहार ठीक है, कोई अपनी अल्पज्ञता एवं मनोमालिन्यतावश दुखी होता है, तो उसमें हमारा अपराध नहीं है। परन्तु हमें हर समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे मन, वाणी एवं कर्मों-द्वारा किसी अन्य को कष्ट न हो। जो किसी-न-किसी मनोविकार को लेकर पहले से ही दुखी बने बैठे हैं, उनका तुम्हारी थोड़ी-सी चूक से दुखी हो जाना सहज है। कितने लोगों का ऐसा पक्का मन है चाहे जैसा उलटा-सीधा व्यवहार पाकर दुखी नहीं होता। हमें अपने आप को ऐसा बनाना चाहिए कि हम दूसरों से कटु-से-कटु व्यवहार पाकर भी दुखी न हों। परन्तु हमसे दूसरों को दुख न हो इससे आगाह रहें।

"घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो।" इस पंक्ति में करुणा की सीमा है और करुणा के प्रति अतिशयोक्ति भी। हमें अपने प्राण ज्यादा प्रिय होते हैं। एक बार एक राजा और उसके मन्त्री में विवाद हो गया था कि पुत्र प्रिय है या प्राण! राजा कहता था कि पुत्र प्रिय है और मंत्री कहता था प्राण प्रिय हैं। मंत्री ने इसको प्रमाणित करने के लिए एक बड़े पिंजरे में गर्म तवा पर एक बच्चे सहित बंदरिया को छुड़वा दिया। बंदरिया अपने बच्चे को पेट में चिपकाये हुए तवे पर भागती रही। परन्तु जब उससे न सहा गया तब उसने पेट से बच्चे को नोचकर तवे पर रख दिया और उस पर अपने पैर रखकर बैठ गयी। अतः सिद्ध हो गया कि प्राणी को सबसे ज्यादा अपने प्राण प्रिय हैं।

में हर समय रासायनिक क्रिया होती रहती है और यह क्षण-क्षण बदलता चला जाता है।

यह बदलना बुरा नहीं है। हमारा शरीर जैसे बदलते हुए निरन्तर परिपक्वता एवं बुढ़ापा की ओर बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी निरन्तर परिपक्व एवं वृद्ध होना चाहिए। पके फल मीठे होते हैं, वैसे पकी उम्र अनुभव-सागर एवं पका मन शांति-सागर होता है। अतएव जैसे हमारा शरीर निरन्तर वृद्धता की तरफ बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी अंधकार से प्रकाश की ओर निरन्तर बढ़ना चाहिए। जब तक जरजरता और मौत दूर हैं तब तक ही अपने कल्याण का साधन कर लेना चाहिए। यह कोई नहीं जानता कि शरीर कब रोग से ग्रस्त तथा मौत का कब आक्रमण हो जायेगा। इस संसार में हमारा एक तृण भी नहीं है। अतः हमें यहां के सारे अहंकार छोड़कर सब समय सावधान रहना चाहिए।

सद्‌गुरु कहते हैं "जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय।" जहां-जहां चूहे के रहने की संभावना रहती है, वहां-वहां बिल्ली उसकी गंध से जान लेती है कि यहां चूहे का आवागमन या निवास है। बिल्ली प्रायः चूहे के बिल के पास शांतमुद्रा में दुबककर बैठती है और बिल पर योगी की तरह ध्यान रखती है और चूहे के निकलते ही उस पर झपट पड़ती है। हर देहधारी ऐसे ही मौत का अचानक ग्रास बनता है। प्रमादी आदमी माने रहता है कि दूसरे मर जायं तो मर जायं, परन्तु मैं अभी नहीं मर सकता; इससे अधिक असावधानी और कुछ नहीं हो सकती। मौत का तो कोई ठिकाना नहीं किसके पास कब आ धमके।

अतएव हमें हर समय अपने माने हुए शरीर को मौत के मुख में समझकर जगत-वासना का त्याग करना चाहिए। हमसे जितना बन सके दूसरों का उपकार करें और अपने आपको सबके राग-द्वेष से छुड़ाकर संसार के बंधनों से मुक्त हों।

सब प्राणी प्राण-प्रिय हैं

है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।
घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो ॥३४१॥

शब्दार्थ—बिगरायल = बिगड़ैल, क्रोधी, हठी, कुमार्गगामी। ओर का = शुरू से, तात्पर्य में अनादिकाल से। घाव = चोट।

भावार्थ—मनुष्य वैसे ही अनादिकाल से क्रोधी, हठी एवं कुमार्गगामी हैं, तुम उनके साथ वैसा ही व्यवहार करके उन्हें उसी तरफ प्रेरित मत करो। किसको चोट पहुंचाओगे, जहां देखो वहां हमारा प्राणप्यारा है ॥३४१॥

व्याख्या—सभी देहधारी जीव अनेक प्रकार की कामनाओं के अधीन हैं। सारी कामनाएं किसी की पूरी नहीं होतीं। अतएव कामनाओं में भंग पड़ने पर आदमी तुरन्त क्रोध के अधीन हो जाता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति में तथा अपने अहंकार के पोषण में मनुष्य हठ करता है। फिर इतना ही क्या, अहंकार-कामना के वश होकर आदमी सारे

अनर्थ करता है। इस प्रकार सभी जीव अनादिकाल से बिगड़ैल हैं। "है बिगरायल ओर का" ओर के अर्थ तरफ, दिशा, पक्ष, अथवा छोर, सिरा, अंत, आरम्भ आदि हैं। वैसे जब हम समास में 'ओर-छोर' कहते हैं तब उसके अर्थ क्रमशः 'आरम्भ-अंत' होता है। इसलिए 'ओर' का अर्थ यहां आरम्भ है। चूंकि सृष्टि का आरम्भ कहीं न होने से सब कुछ अनादि है। इसलिए यहां अर्थ किया गया प्राणी अनादिकाल से ही बिगड़ैल है। यहां अनादि और आरम्भ का झमेला न बढ़ाकर सरल अभिप्राय इतना ही है कि देहधारी पहले से ही बिगड़ैल हैं। इसलिए तुम उनके साथ बिगड़ैलपन का काम करके उन्हें अधिक बिगड़ैल मत बनाओ।

"है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।" इस पंक्ति में गहरा मनोविज्ञान और करुणा है। विषयासक्ति के रोगवश सभी मनुष्यों का मन फोड़ा-सरीखा बना है। जैसे फोड़े में थोड़ा भी धक्का लगने पर वह दुख जाता है, वैसे मनुष्यों के मन में थोड़ी-सी भी चोट लगने पर वे दुखी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि सब जीव दुखी हैं, अतएव तुम भी दुखी बनकर दूसरों को और दुख मत दो। जैसे धनी हुए बिना कोई दूसरों को धन नहीं दे सकता, विद्वान हुए बिना दूसरों को विद्या नहीं दे सकता, वैसे दुखी हुए बिना कोई दूसरों को दुख नहीं दे सकता। यदि तुम दूसरों को दुख देते हो तो तुम पहले से ही स्वयं दुखी हो।

चाहे अपने पास के रहने वाले हों और चाहे बाहर के मिलने वाले, किसी भी मनुष्य से संबंध होने पर हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि उन्हें हमारे द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न हो। अगले आदमी को कष्ट होने में देरी नहीं लगेगी। जहां हम से कुछ असावधानी हुई वहां अन्य को कष्ट हुआ। यदि हमारा मन और व्यवहार ठीक है, कोई अपनी अल्पज्ञता एवं मनोमालिन्यतावश दुखी होता है, तो उसमें हमारा अपराध नहीं है। परन्तु हमें हर समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे मन, वाणी एवं कर्मों-द्वारा किसी अन्य को कष्ट न हो। जो किसी-न-किसी मनोविकार को लेकर पहले से ही दुखी बने बैठे हैं, उनका तुम्हारी थोड़ी-सी चूक से दुखी हो जाना सहज है। कितने लोगों का ऐसा पक्का मन है चाहे जैसा उलटा-सीधा व्यवहार पाकर दुखी नहीं होता। हमें अपने आप को ऐसा बनाना चाहिए कि हम दूसरों से कटु-से-कटु व्यवहार पाकर भी दुखी न हों। परन्तु हमसे दूसरों को दुख न हो इससे आगाह रहें।

"घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो।" इस पंक्ति में करुणा की सीमा है और करुणा के प्रति अतिशयोक्ति भी। हमें अपने प्राण ज्यादा प्रिय होते हैं। एक बार एक राजा और उसके मन्त्री में विवाद हो गया था कि पुत्र प्रिय है या प्राण! राजा कहता था कि पुत्र प्रिय है और मंत्री कहता था प्राण प्रिय हैं। मंत्री ने इसको प्रमाणित करने के लिए एक बड़े पिंजरे में गर्म तवा पर एक बच्चे सहित बंदरिया को छुड़वा दिया। बंदरिया अपने बच्चे को पेट में चिपकाये हुए तवे पर भागती रही। परन्तु जब उससे न सहा गया तब उसने पेट से बच्चे को नोचकर तवे पर रख दिया और उस पर अपने पैर रखकर बैठ गयी। अतः सिद्ध हो गया कि प्राणी को सबसे ज्यादा अपने प्राण प्रिय हैं।

यहां कहा गया है "जित देखो तित प्राण हमारो" अर्थात जितने लोग है सब हमारे प्राण-प्रिय हैं। यह सर्वसामान्य के लिए अतिशयोक्ति लगेगी, परंतु यदि इसे अतिशयोक्ति ही माने तो भी ऐसा भाव रखना अति आवश्यक है। ऐसा भाव रखने से प्राणियों के प्रति अपने मन में करुणा की प्रगति होगी। यहां अथर्ववेद के एक मंत्र की याद आती है। अथर्वा ऋषि कहते हैं "मैं उपदेश करता हूं कि तुम लोग उदार हृदय वाले, सुन्दर मन वाले और द्वेषरहित बनो तथा एक दूसरे से ऐसा व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से करती है।"[1] यहां भी अतिशयोक्ति है। जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है वैसा प्रेम लोग एक दूसरे से कहां कर पाते हैं! परन्तु ऋषि ऐसा इसलिए कहता है कि जिससे मनुष्य के मन में दूसरों से प्रेम करने पर जोर पड़े।

सद्गुरु कहते हैं किस को चोट पहुंचाओगे, सारे जीव तो हमारे प्राण प्रिय हैं! यह भावना जिसके मन में आ जाये उसका मन स्वर्ग बन जायेगा। यदि यह भावना हर मनुष्य में आ जाये तो पूरा संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम हमें अपने में यह भाव लाकर अपने मन को स्वर्ग बना लेना चाहिए।

हमें इस साखी को इस ढंग से भी समझना चाहिए कि सद्गुरु कहते हैं कि हे उपदेशको! सभी जीव पहले से ही बिगड़े हैं। तुम उन्हें कठोर वचन कहकर पुनः मत बिगाड़ो। सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। लोग भ्रांति में डूबे हैं। परन्तु उनके भ्रांत मत का असामयिक कठोर वचनों में खंडन करके उनको सत्य रास्ते पर नहीं लाया जा सकता। धीरे-धीरे मीठे वचनों से ही सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। अतः सबको अपने प्राणप्रिय समझकर सहारे से सत्पथ पर लाने की चेष्टा करो।

जीव और शरीर भिन्न हैं

पारस परसे कंचन भौ, पारस कधी न होय।
पारस के अर्स-पर्स ते, सुवर्ण कहावै सोय॥३४२॥

शब्दार्थ—पारस = एक कल्पित पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा के सोना बन जाने की धारणा है। कधी = कभी। सुवर्ण = स्वर्ण, सोना।

भावार्थ—जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर से छू जाने पर सोना हो जाता है, परन्तु पारस पत्थर कभी नहीं होता। वह तो पारस पत्थर के स्पर्श से केवल सोना कहलाता है; इसी प्रकार चेतन जीव के संबंध से शरीर चेतन-वत भासता है, परन्तु वह चेतन नहीं हो सकता। शरीर तो निरा जड़ है॥३४२॥

---

१. सहृदयं सोमनस्यमविद्वेषं कृणोमिवः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया॥ *अथर्ववेद, कांड ३, सूक्त ३०, मंत्र १॥*
इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। सातों में परस्पर मधुर संबंध के लिए उत्तम उपदेश हैं। इसी में 'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः' मंत्रांश है जिसका अर्थ है कि हम अन्न-पानी एक साथ ग्रहण करें।

व्याख्या—पीछे निवेदन किया गया है कि पारस पत्थर एक काल्पनिक पत्थर है जिसे छूकर लोहे का सोना हो जाने की अवधारणा है। कवि-जगत में ऐसे कई उदाहरण चलते हैं जो केवल काल्पनिक होते हैं। उससे कवि अपने प्रमेय-वस्तु की सिद्धि करता है। यहां पारस से छू जाने पर लोहे का सोना हो जाना तो कहा गया, परन्तु पीछे बताया गया कि लोहा पारस का स्पर्श पाकर पारस नहीं बनता। यह प्रमाण हुआ, जो काल्पनिक है। परन्तु प्रमेय एवं ज्ञान का विषय जीव की विशेषता और शरीर की जड़ता का है। जीव चेतन है। उसका स्पर्श पाकर जड़-शरीर चेतनवत भासता है। हाथ चलते हैं, पैर चलते हैं तथा शरीर के अंगों में गति होती है, परन्तु जीव के अलग हो जाने पर शरीर जड़ बना पड़ा रहता है। अतएव जड़ शरीर से चेतन जीव सर्वथा अलग है, यह विवेक जाग्रत रहना चाहिए।

मैं शुद्ध चेतन हूं। मेरी सत्ता से ही शरीर चेतनवत भासता है। मैं अपने चेतन स्वरूप को भूलकर जड़ शरीर ही को अपना स्वरूप मान लेता हूं और उसमें आसक्त होकर मोह-शोक का भंडार बन जाता हूं। सारा दुख देहाभिमान की देन है। किसी ज्ञानी पुरुष ने कहा है "देह को मैं मानना, सबसे बड़ा यह पाप है। सब पाप इसके पुत्र हैं, सब पाप का यह बाप है।।" देह की उपयोगिता देह से अनासक्त होकर अपने स्वरूपज्ञान में स्थित होना तथा दूसरे की यथासक्ति सेवा करना है। जो जीव देहधारण करके देह का गुलाम हो गया उसने मानो देह का दुरुपयोग किया और जिसने देहधारण कर देह की आसक्ति से अपने आप को छुड़ा लिया, उसका देह धारण करना सफल हुआ। जो व्यक्ति जितना देहाभिमानी होता है वह उतना ही स्वार्थी होता है, और जितना स्वार्थी होता है उतना ही दूसरों के हक को जिस किसी प्रकार मारने वाला होता है। और जो जीव देहाभिमान का जितना त्यागी होता है वह उतना हीं निस्स्वार्थ होता है और जितना निस्स्वार्थ होता है उतना ही दूसरे की सेवा कर सकता है। अतएव अपने कल्याण एवं जनसेवा—दोनों के लिए देहाभिमान का त्याग आवश्यक है। जो वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, व्यापारी, कृषक, सरकारी विभाग में सेवारत तथा राजनेता लोग लम्बी-लम्बी अवधि तक जनसेवा की चिंता एवं श्रम में डूबे रहते हैं उनका किसी-न-किसी प्रकार अनासक्ति-भाव रहता ही है। यह ठीक है कि स्वरूपज्ञान एवं विवेक-वैराग्य के बिना कोई तात्विक रूप से देहाभिमान से नहीं मुक्त हो सकता।

इसी जीवन में परमशांति एवं मोक्ष-लाभ लेने के लिए हमें देहाभिमान से एकदम ऊपर उठना होगा। यह शरीर है भी क्या, हाड़-मांस का ढांचा, चाम से छाया है और इसमें टट्टी-पेशाब भरी है। यह हर समय रोग का घर बना रहता है। इसके आसक्तिवश हम नाना प्राणी-पदार्थों से मोह-वैर बनाकर अपने दुखों को दुगुना बढ़ा लेते हैं। सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के समान यह अपना माना हुआ शरीर तथा मिले हुए प्राणी-पदार्थ हैं। जिसे शांति प्रिय हो, वह इन्हें अपने से सर्वथा अलग समझकर सबकी आसक्ति विष और कांटे के समान त्याग करे। देहाभिमान एवं देहासक्ति सर्वथा त्याग देने पर अन्य सारी अहंता एवं आसक्ति मिट जाती है, और सारी अहंता-ममता मिटते ही जीव अपने स्वरूप में स्थित होकर परमानंदमय हो जाता है।

अतएव यहां सद्गुरु ने देह को अपने चेतन स्वरूप से अलग समझकर उसके मोह को छोड़ने का संकेत किया है। हम देह को अपना स्वरूप न मान लें, यह सावधानी निरन्तर रखनी चाहिए।

परमतत्त्व जगतकर्ता के रूप में बाहर नहीं, किन्तु आत्मा के रूप में हृदय में है

ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़िया, भया सो गूनागून।
ढूँढ़त ढूँढ़त ना मिला, तब हारि कहा बेचून॥३४३॥

शब्दार्थ—गूनागून = गुमसुम, अनिर्वचनीय, जो कहने में न आये, यहां का अर्थ है किंकर्तव्यविमूढ़। हारि = लजाकर। बेचून = निरवयव, निराकार, निर्गुण।

भावार्थ—भावुकों ने ईश्वर को खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा; परन्तु जब वह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते न मिला, तब वे थककर गुमसुम एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बहुत पूछने पर लजाकर उन्होंने कहा कि वह तो निरवयव, निराकार, परोक्ष एवं निर्गुण है फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा! ॥३४३॥

व्याख्या—अपनी आत्मा से भिन्न ईश्वर एवं परमात्मा खोजने की सनक संसार में बहुत है। परन्तु ईश्वर खोजने वाले इतना भी विचार नहीं करते कि जो कुछ खोजकर बाहर से मिलेगा वह माया है। किसी भी देहधारी को जो कुछ मिलेगा वह पांचों विषयों से अलग नहीं होगा और जो कुछ पांचों विषयों के भीतर होगा वह मायामय है, तो मनुष्य को कौन-सा परमात्मा या ईश्वर मिलेगा! अपनी आत्मा से अलग परमात्मा है और वह मिलता है यह केवल भ्रम है।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग ईश्वर को ढूंढ़ते हैं। तीर्थों, नदियों, वनों, देवमंदिरों और संसार के नाना गलियों में उसको छान डालते हैं; क्योंकि नाना मत के पौराणिक ग्रंथों में एवं भावुक भक्तों तथा संतों के मुखों से वे सुनते हैं कि पुराकाल में अमुक को परमात्मा मिला, अमुक को मिला, तो लोगों को विश्वास होता है कि लगन से यदि खोज करेंगे तो हमें भी मिलेगा। परन्तु पौराणिक कहानियां जो इस प्रकार की बातें दृढ़ाती हैं, केवल काल्पनिक होती हैं। कथाकार जो इस प्रकार लच्छेदार कथा में लोगों को भावविह्वल करते हैं वे मनुष्यों में कुछ सात्विकता एवं भावना तो जगाते हैं, परन्तु उन्हें भ्रमित कर देते हैं। इससे जनता के स्वरूपज्ञान का रास्ता ही रुक जाता है।

ढूंढकर भी जब ईश्वर नहीं मिलता, तब लोग उसके विषय में मौन हो जाते हैं। ईश्वर न मिलने पर लोग हारकर एवं लज्जित होकर कहते हैं कि वह तो बेचून है, बेनमून है, निरवयव, निराकार तथा निर्गुण है। बात तो यह है कि यदि वह सचमुच ऐसा ही है तो तुम्हारा उससे मतलब ही क्या हल हो सकता है! जो वस्तु तुम्हारी पकड़ में न आये और जो नित्य के लिए तुम्हारी अपनी न हो उससे तुम्हारा क्या हल निकल सकता है! और तुम्हारा उसके लिए बेचून, बेनमून, निर्गुण, निराकार, निरवयव आदि कहना भी तो

तुम्हारी केवल अवधारणा है। जिसका तुम्हें बोध नहीं है, शब्द मात्र एक दूसरे से कहते जा रहे हैं, वह केवल कल्पित है। श्रुतिवचन है—"न वहां आंखें पहुंचती हैं, न वाक् और न मन पहुंचता है, न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

इस साखी में सद्गुरु ने उन पर व्यंग्य किया है जो ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसको खोजते हैं और न मिलने पर उसे बेचून, बेनमून एवं निराकार, निर्गुण कहते हैं। सद्गुरु अगली साखी में ऐसे ईश्वरवादियों से पुनः पूछते हैं—

बेचूने जग चूनिया, साँई नूर निनार।
आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार॥३४४॥

शब्दार्थ—बेचूने = निरवंयव एवं निर्गुण-निराकार ने। चूनिया = बनाया। साँई = स्वामी, ईश्वर। नूर = प्रकाश, ईश्वर का एक नाम। निनार = पृथक, सातवें आसमान या स्वर्ग पर, निर्लिप्त। बखत = वक्त, समय, मौत की घड़ी, रोजकयामत (प्रलय) के दिन। दिदार = दीदार, दर्शन, साक्षात्कार।

भावार्थ—निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त ईश्वर ने दुनिया बना डाली— चलो थोड़े समय के लिए मान लें, तो भी यदि वह ऐसा है तो तुम अपनी मौत या प्रलय के दिन में उसके दर्शन एवं साक्षात्कार कैसे करोगे!॥३४४॥

व्याख्या—जो निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त होगा वह इतने बड़े प्रपंच संसार को कैसे बना सकता है? कबीर साहेब कहते हैं कि हे जगतकर्तावादियो! तुम कहते हो कि बेचून ने संसार को चुना है। अर्थात निरवयव, निर्गुण तथा निराकार ने दुनिया बनायी है। वह स्वामी, वह ईश्वर इतना ही नहीं, निर्लिप्त भी है। परन्तु ये सारे लक्षण दुनिया बनाने वाले के नहीं हो सकते। जो स्वतः निर्गुण तथा निराकार है वह दुनिया नहीं बना सकता।

साहेब कहते हैं कि मानो, दुर्जनतोषन्याय से मान लें कि उक्त लक्षण वाले ईश्वर ने दुनिया बनायी है, परन्तु मैं पूछता हूं कि तुम लोग आखिरत में उसके दर्शन चाहते हो, परन्तु जब वह निर्गुण-निराकार है तब उसके दर्शन कैसे होंगे? उसका साक्षात्कार कैसे होगा? दर्शन तो रूप विषय वाले के होते हैं और जिसके रूप-आकार ही नहीं है उसके दर्शन कैसे? मनुष्य अपनी आत्मा से पृथक जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण करेगा वह पांच विषय होगा और जो कुछ मन से सोचेगा वह मन की अवधारणा होगी। अपने स्वरूप से अलग कुछ मानना ही भटक जाना है। सद्गुरु आगे कहते हैं—

---

१. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् १/३)

सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।
जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान॥३४५॥

शब्दार्थ—नूर = प्रकाश, ईश्वर। दिल = हृदय। पाक = पवित्र।

भावार्थ—जिसका हृदय पवित्र है वही ईश्वर है, अथवा पवित्र हृदय में आत्म-साक्षात्कार का हो जाना ही ईश्वर का पाना है। उसी हृदयनिवासी चेतन नूर को पहचानो। जिसके बनाने से जगत बन गया उसे बेचून, बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कैसे समझते हो!॥३४५॥

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी बात कहने में बहुत माहिर हैं। जब वे हिन्दुओं को कहते हैं तब उनकी भाषा में कहते हैं और जब मुसलमानों को कहते हैं तब उनकी भाषा में। उक्त ३४३ से ३४५—तीन साखियों में वे मुसलमानों को समझाना चाहते हैं; इसलिए इन साखियों में वे गूनागून, बेचून, साईं, नूर, आखिर, बखत, दिदार, दिल, पाक आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः मुसलमानों में होता है। आगे ३४६ से ३५०—पांच साखियों में हिन्दुओं को समझाना चाहे हैं, तो उसमें ब्रह्मा, जननि, सीस नवाय, वर्ण, पुरुष, माता, रेख-रूप, अधर, धरी, देह, गगनमंडल, निरखो, विदेह, ध्यान, गगन, बज्रकिवांर, प्रतिमा, निहाल, मन, शीतल, उपजा, ब्रह्मज्ञान, बसन्दर, जग, पुनि, उदक, समान, चौरासी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः हिन्दू लोग करते हैं।

सद्गुरु ने ३४३ से ३४५ तक की साखियों में मुसलिम कर्तावादियों को समझाना चाहा है तथा ३४६ से ३५० तक की साखियों में हिन्दू कर्तावादियों को समझाने का प्रयास किया है। सद्गुरु ने प्रथम तीन साखियों में मुसलमान बंधुओं से कहा है जो प्रायः समस्त कर्तावादियों के लिए भी है कि हे बंधुओ, तुम जिस ईश्वर को ढूंढ़ते हो और नहीं पाते हो, हारकर बेचून-बेनमून कहते हो और यह भी कहते हो कि उसी ने दुनिया बनायी है; उसे तुम समझने की चेष्टा करो। बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कुछ बना नहीं सकता और न उसके रोजकयामत एवं आखिरत के दिन दर्शन हो सकते हैं। जब वह निराकार है तब "आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार।"

कबीर साहेब कहते हैं कि जो इतना बड़ा संसार बनायेगा वह बेचून कैसे होगा? उसे किस बुद्धि से बेचून एवं निर्गुण-निराकार समझ रहे हो? निर्गुण-निराकार संसार नहीं बना सकता। इतना ही नहीं, मन में न आने वाले इस विराट संसार को देहधारी ईश्वर भी नहीं बना सकता। यह तो अनादि जड़-चेतन के अनादि गुण-धर्मों से अनादि और अनंत है। सद्गुरु ने इसका संकेत सातवीं रमैनी तथा उसके आस-पास और इस ग्रंथ की कई जगहों में किया है।

कबीर देव कहते हैं कि ईश्वर को बाहर मत खोजो। उसे जगतकर्ता के रूप में एवं विश्व के अधिष्ठाता के रूप में मत देखो, किन्तु उसको दिल में रहने वाला हृदयनिवासी के रूप में देखो। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।" यह सद्गुरु का परम मन्त्र है। दिल पाक होने पर वह नूर, वह ईश्वर, उस ज्ञान-प्रकाश चेतना का अपने आप

साक्षात्कार हो जाता है। उसे जगतकर्ता के रूप में बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार के रूप में, अपने से अलग अज्ञेय मानकर खोजने के भ्रम में मत पड़ो, किन्तु इस हृदयनिवासी चेतन देव को परम परमात्मा समझो, इसे ही नूर रूप में पहचानो। जब हृदय विषय-विकारों एवं संसार के राग-द्वेष से मुक्त होगा तब हृदयनिवासी की पहचान होगी। कमरे में देवता बैठा है, परन्तु उसमें अंधकार है तो देवता कैसे दिखे? अर्थात हृदय में चेतन रूप ईश्वर विराजमान है, परन्तु हृदय तो विषय-विकारों से ढका है तो चेतन देव के दर्शन कैसे हों? अतएव यह समझ लो कि तुम्हारी आत्मा से अलग कोई परमात्मा नहीं जो तुम्हें मिलेगा, और आत्मा रूपी परमात्मा का साक्षात्कार तब होगा एवं उसमें स्थिति तब होगी जब दिल पाक हो, हृदय शुद्ध हो। सद्गुरु का महामन्त्र याद कर लो—"सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"

कबीर साहेब मिथ्या आदर्श एवं आकाशीय उड़ान नहीं भरते। वे सदैव धरती की बातें करते हैं। जिस संसार के बीज-वृक्ष और मुरगी-अण्डा में से कौन पहले हुआ इसका समाधान लोग नहीं कर पाते, उस पूरे संसार को किसी निराकार द्वारा नये सिरे से रचने की बातें करते हैं। जिसने जगत बनाया है उससे मिलना भी चाहते हैं। यह सब धार्मिक भोलापन है। यथार्थवादी कबीर साहेब कहते हैं कि तथाकथित जगत बनाने वाले को परमात्मा मानकर खोजने का भ्रम छोड़ो, और अपनी आत्मा एवं अपने आपा को परमात्मा के रूप में पहचानो।

ब्रह्मा पूछै जननि से, कर जोरे सीस नवाय।
कौन वर्ण वह पुरुष है, माता कहु समुझाय॥३४६॥
रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मंडल के बीच में, निरखो पुरुष बिदेह॥३४७॥
धरे ध्यान गगन के माहीं, लाये बज्र किवाँर।
देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल॥३४८॥

शब्दार्थ—वर्ण = रंग, रूप। रेख रूप = आकार। अधर = योनि। गगन मंडल = आकाश, खोपड़ी के भीतर। निरखो = देखो। बज्रकिवाँर = आंख, नाक, कान, गुदा तथा उपस्थ—सभी इन्द्रियों को बंद करके ध्यान करना। प्रतिमा = मूर्ति, प्रतिबिम्ब, मन की अवधारणा की छाया। निहाल = कृतार्थ।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव तीन भाई थे। तीनों में ब्रह्मा श्रेष्ठ एवं रजोगुणी होने से क्रियाशील थे। उन्होंने अपने भाइयों की तरफ से हाथ जोड़ एवं सिर झुकाकर विनम्रतापूर्वक माता से पूछा कि हे माता, वह परम पुरुष परमात्मा किस रंग एवं आकार का है, कृपया इसे समझाकर हम लोगों से कहें? ॥३४६॥ माता ने कहा—उसकी कोई आकृति नहीं है। उसने किसी योनि में देह नहीं धारण की है। हे पुत्र, आकाश-मंडल-स्वरूप मन में उस विदेह पुरुष को देखो ॥३४७॥ उक्त बातें सुनकर ब्रह्मादि तीनों ने सभी इंद्रियों को बंदकर ब्रह्मरंध्र एवं मन में ध्यान लगाया। उन तीनों ने माता के बताये अनुसार अपने-अपने मन में ईश्वर की जैसी-जैसी अवधारणा की थी उसी-उसी के प्रतिबिम्ब उन्हें

दिखाई दिये। वे अपने-अपने मनःकल्पित भास-अध्यास को ही देखकर अपने-अपने को कृतकृत्य मान लिये।।३४८।।

व्याख्या—पारदर्शी एवं पारखी दृष्टि वाले सद्गुरु कबीर का कथन हृदय को झकझोर देता है। उनके कथन में हजारों-हजारों वर्षों से चली आयी हुई अंधरूढ़ियां टूट-टूटकर चकना़चूर हो जाती हैं। कबीर साहेब ने यह नहीं देखा कि किसने क्या कहा है, किन्तु उन्होंने यह देखा है कि क्या सत्य है! वे प्राचीनता, पोथी, परम्परा, महापुरुष की बातें चाहे जैसी हों मान ही लेना चाहिए, ऐसी मानसिक गुलामी से सर्वथा मुक्त थे। वे केवल सत्य के अनुसंधाता थे। उन्होंने सत्यज्ञान का साक्षात्कार किया था और उसे बिना लागलपेट खुल करके कहा था। सत्य ज्ञान के पथ में कोई भी आड़े आये उसकी उन्हें परवाह नहीं थीं। मेरे सत्य कहने में किसकी मान्यताएं खंडित हो रही हैं इसकी परवाह उन्हें नहीं थी। वे केवल सत्य के पुजारी थे।

उक्त तीनों साखियों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव और उनकी माता के संवाद तथा उन तीनों के ध्यान के फल में सद्गुरु ने जो कुछ कह दिया है वह उन सबके लिए है जो परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग खोजते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर योनियों में देह धारणकर संसार में आता है और दुष्टों का संहार तथा साधुओं का उद्धार करता है, नाचता है, गाता है, रोता है, युद्ध करता है इत्यादि, उनकी तो अत्यन्त भोली धारणा है। इसका विवरण शब्द प्रकरण के आठवें शब्द की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दे आये हैं। जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा एवं ब्रह्म देह तो नहीं धरता, उसका कोई आकार-प्रकार नहीं है, वह हमसे अलग है, उसका ध्यान करने से वह मिलता है, वे लोग भी स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान एवं वास्तविकता से अलग हैं। जो आकारशून्य है उसका ध्यान ही असंभव है। यदि हम किसी आकार का ध्यान करते हैं तो वह विषय का ध्यान है। यह ठीक है कि यदि वह शुद्ध है जैसे गुरु या संत का ध्यानादि, तो प्रथम साधना में वह मन रोकने का साधन बन सकता है। परन्तु अंततः उसका त्याग करना पड़ेगा। यदि निराकार का ध्यान करना चाहें तो यह असंभव है। निराकार का ध्यान ही नहीं होगा। हां, ऐसी अवस्था में शून्याकाश, बादल, पर्वत, वन, ग्रामादि मन में आ सकते हैं।

जब माता ने पहले बता दिया कि उस परम पुरुष का रेख-रूप नहीं है तो ब्रह्मादि त्रिदेवों ने क्या ध्यान किया? उन्होंने अपने मन में कोई आकार अवश्य बनाया होगा और वह ठहरी उनके मन की प्रतिमा। मिट्टी की प्रतिमा नहीं तो मन की प्रतिमा को ध्यान का विषय बनाया और उसे देखकर उन्होंने अपने आप को कृतकृत्य मान लिया।

ध्यान में बैठने पर जब मन बाहर से लौट आता है तब वह भीतर अंधकार, प्रकाश, नाद, शब्द तथा इसी तरह अन्य कोई आकार की सृष्टि करता है और उन्हीं में तदाकार होकर मान लेता है कि मैंने परमात्मा के दर्शन कर लिये। यह बहुत बड़ा भटकाव है। यहां ब्रह्मादि त्रिदेवों के ध्यान के फल में जो कुछ उन्हें मिला सद्गुरु कबीर का उस पर बहुत बड़ा व्यंग्य है—"देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भले निहाल।" तीनों अपने मन की अवधारणाओं की छाया देखकर मानो कृतार्थ हो गये। हद दर्जे का भोलापन!

आरंभिक साधक अपने मन को यत्र-तत्र से समेटकर एकाग्र करने के लिए अपनी रुचि के अनुसार किसी भी शुभ अवधारणा में उसे लगा सकता एवं उसका ध्यान कर सकता है। परन्तु उसे समझना चाहिए कि वह विषय है, दृश्य है, तथा निजस्वरूप से भिन्न है। अतः उसमें लीन होकर जब मन स्ववश होने लगे तब उससे हटाकर निराधार करे। मन के सारे संकल्पों को समाप्त कर देना ही ध्यान है। किसी अवधारणा में मन को रोकना आरंभिक साधना मात्र है और सारे आलंबनों को छोड़कर मात्र अपने स्वरूप में ही स्थित होना अन्तिम एवं उच्च दशा है। जब जीव कुछ नहीं सोचता वही असली ध्यान है। परन्तु यदि वह अपने आप से भिन्न किसी तथाकथित ईश्वर-परमात्मा का नक्शा बनाता है तो वह भटका हुआ है।

मुसलमान भाई रोजकयामत के दिन बेचून-बेनमून ईश्वर से मिलना चाहते हैं और हिन्दू भाई निराकार ब्रह्म को ध्यान में देखना चाहते हैं। अतएव सद्गुरु ने ३४३ से ३४५ वीं साखी में मुसलमान बंधुओं की अवधारणा की परख करायी है तथा वे पीछे ३४६ से ३५० वीं साखी में हिन्दुओं की अवधारणा की परख करा रहे हैं।

ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जेहि बसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥३४९॥

शब्दार्थ—बसन्दर = वैश्वानर, आग। उदक = जल, पानी।

भावार्थ—जब उन तीनों को ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब उनका मन शीतल हो गया और उन्होंने मान लिया कि जिस आग में संसार के लोग जल रहे हैं वह मेरे लिए पानी के समान है॥३४९॥

व्याख्या—वैसे उक्त साखी का सकारात्मक अर्थ किया जा सकता है कि "जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब यह मन शीतल हो गया, और जिस आग में संसार के लोग जलते हैं वह उसके लिए पानी के समान शीतल हो गया।" परन्तु अर्थ सकारात्मक पक्ष का नहीं है। संदर्भ साफ है। ३४६ से ३५०वीं साखी का एक संदर्भ है वह है मन की अवधारणा को ही ब्रह्म मान लेने का खंडन। जिसका स्पष्टीकरण इसकी पहली साखी में यह कहकर कर आये हैं कि "देखी प्रतिमा अपनी, तीनिउँ भये निहाल।" और अगली ३५०वीं साखी में इसका पूर्ण स्पष्टीकरण है "जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर। चौरासी के बसि परे, कहै और की और।"

अतएव सद्गुरु इस साखी में कहते हैं कि ब्रह्मादि ने जो कुछ अपने मन में कल्पना की प्रतिमा बनायी उसे ही उन्होंने ब्रह्म मान लिया और उसी की छाया ध्यान में देख-देखकर ब्रह्मज्ञान का पैदा होना मान लिया। उन्होंने मान लिया कि मैंने ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्म को पा लिया है। इस भ्रम में पड़कर उन्होंने संतोष कर लिया और उन्हें अपना मन शीतल हो जाने का भ्रम हो गया। "ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।" यह उन पर सद्गुरु का व्यंग्य है। १३वीं रमैनी में भी इसी प्रकार का व्यंग्य है। यथा—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें व्यंग्य का पूरा जोर "यहि लेखे सब संशय भागा" पर है।

भ्रम में पड़कर उन्होंने मान लिया कि जिस आग में दुनिया जलती है वह मेरे लिए जल की तरह शीतल हो गयी; क्योंकि संसार ब्रह्म का खेल है और ब्रह्म को पा जाने पर खेल अपने वश में हो गया। अंथवा जगत और ब्रह्म एक ही है यह जान जाने पर सब कुछ अपना ही स्वरूप ठहरा, द्वैत रहा ही नहीं। ब्रह्मज्ञानी सुन्दरदास जी कहते हैं—"तेरे में जगत है और जगत में तू है। तेरे और जगत में भिन्नता कहां है! जैसे मिट्टी से घड़े, सिकोरे आदि अनेक बरतन बनते हैं, परन्तु वे सब अंततः मिट्टी ही हैं; जल से उत्पन्न हुए फेन, बुदबुदे और तरंग आदि विचारकर देखो वही एक जल ही है, वैसे जितने ब्रह्मवादी महापुरुष हैं सब का सिद्धांत एक है—ब्रह्म से बना सारा विश्व ब्रह्म है। अन्त में वेद यही कहता है।"[1]

कहना न होगा कि वेद यह नहीं कहते हैं कि सारा विश्व ब्रह्म है। जड़-चेतन सब ब्रह्म ही है अथवा जगत तीनों काल में नहीं है, केवल ब्रह्म ही है—यह सब पीछे की, ज्यादातर बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित होकर स्वामी शंकराचार्य की देन है।

खैर, न तो व्यक्ति की आत्मा से अलग ब्रह्म है और न तो चेतन के साथ जड़-जगत भी ब्रह्म है। ब्रह्म उत्तम भाव का परिचायक शब्द है। इसका अर्थ होता है 'बड़ा'। वह मनुष्य की आत्मा एवं चेतन स्वरूप ही है। सद्गुरु ने अपने स्वरूप से भिन्न भास-अध्यास को ब्रह्म मान लेने का खंडन किया है। इसका स्पष्टीकरण अगली साखी में जोरदार है—

जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।
चौरासी के बसि परे, कहै और की और॥३५०॥

शब्दार्थ—आदि = मूल स्वरूप चेतन। चौरासी = संसार।

भावार्थ—जिस अपने आप मूल स्वरूप चेतन से अपना नित्य का नाता है, व्यक्ति उस स्थिति को भूल गया। वह संसार के अध्यास के वश में पड़कर अन्य का अन्य ही बकता है॥३५०॥

व्याख्या—'आदि' के अर्थ मूल और आरम्भ दो होते हैं। यहां आरम्भ नहीं, मूल अर्थ है। जीव का मूल स्वरूप चेतन है। वही उसका सर्वस्व है। उसी से उसका नित्य का नाता है। व्यक्ति सब कुछ छोड़ सकता है, परन्तु अपनी आत्मा को नहीं छोड़ सकता। अपने आपा से हम अलग हो जायं यह संभव ही नहीं। अतएव हमारा ठौर, हमारी स्थिति, हमारा चिरंतन विश्रामस्थल हमारी अपनी आत्मा है; परन्तु हम उसे भूलकर बाहर परमतत्त्व खोजने लगे, बाहर ब्रह्म खोजने लगे। हम जिसमें नित्य रहते हैं वही तो हमारा ब्रह्म है, श्रेष्ठ तत्त्व एवं परमनिधान है और वह हमारा निजस्वरूप चेतन है। सद्गुरु कहते

---

१. तोहि में जगत यह तूं हूं है जगत माहि, तो में अरु जगत में भिन्नता कहां रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप, भाजन विचार देख उहै एक है मही॥
जल के तरंग फेन बुदबुदा अनेक भांति, सोऊ तो विचार एक उहै जल है सही।
जेते महापुरुष हैं सबको सिद्धांत एक, सुन्दर अखिल ब्रह्म अंत वेद यों कही॥

हैं कि जब वह अपनी अवधारणाओं की प्रतिमा एवं छाया में उलझ गया तब मानो अपने ठौर को बिसर गया। "जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।" यह महामंत्र है। यह किसी मजहब की बात नहीं है। यह सबका अपना अनुभव है कि आदमी दूसरी वस्तुओं को चाहकर भी अपने पास रख नहीं सकता। सब कुछ का वियोग एक दिन होगा ही। शरीर के छूटते ही अपना माना हुआ सब छूट जाता है, परन्तु हम अपनी आत्मा से अलग कभी हो ही नहीं सकते। इसलिए हमारा आदि का नाता, मूल नाता चेतनस्वरूप से ही है, बाहर परमतत्त्व की कल्पना करने से हम अपने आप में स्थित नहीं हो पाते, किन्तु मनःकल्पनाओं में भटकने लगते हैं। गीता के शब्दों में "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" ही "स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" है अर्थात जो अपनी आत्मा-द्वारा अपनी आत्मा में संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जीव का निजस्वरूपस्थिति से लक्ष्य हटने से ही वह संसार के अधीन बना कुछ-का-कुछ कह रहा है "चौरासी के बसि परे, कहै और की और।" चौरासी का अर्थ ८४ की संख्या होता है; परन्तु चौरासी लाख योनियों की अवधारणा होने से 'चौरासी' शब्द संसारचक्र का बोधक हो गया है। अतएव सरल अर्थ है कि जीव अपने चेतनस्वरूप से विचलित होकर अपने से पृथक जो कुछ मानता है उसका नाम चाहे ईश्वर हो, ब्रह्म हो, सब संसार ही है; क्योंकि वह निजस्वरूप न होने से विजाति जड़ तत्व या मन के भास अध्यास ही हैं। अतएव निज स्वरूप से विचलित साधक ही और का और बकता है। अर्थात है कुछ अन्य, परन्तु कहता है कुछ अन्य ही। अपनी आत्मा से अलग परमतत्त्व एवं परमात्मा मानना या सारा जड़-चेतन एक ब्रह्म मानना और कहना कि मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, घटमृतका न्याय मैं सारा विश्व हूं, यह सब "कहै और की और" बात है! मैं सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मैं ही मैं का परमनिधान है। निजस्वरूपस्थिति ही पारखस्थिति है, परमविश्राम का ठौर है। यही वास्तविकता है।

अलख लखौं अलखै लखौं, लखौं निरंजन तोहि।
हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि॥३५१॥

शब्दार्थ—अलख = जो दिखने में न आवे, अगोचर, ब्रह्म। निरंजन = अंजनरहित, निर्दोष। हौं = मैं, चेतन।

भावार्थ—मैं अलख को देखता हूं, मैं निश्चयपूर्वक अलख को देखता हूं, और हे निरंजन, मैं तुमको भी देखता हूं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं निज साक्षी चेतनस्वरूप में स्थित होकर सबको देखता हूं, परन्तु आश्चर्य है कि मुझ चेतन स्वरूप को कोई नहीं समझ रहा है॥३५१॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में गोरखपंथियों में एक संप्रदाय था जिसे अलखधारी या अलखिया कहते थे। वे अलख-अलख जपते थे तथा यही कहकर भिक्षा भी मांगते थे। वे ईश्वर एवं ब्रह्म का नाम अलख या निरंजन कहते थे। उन लोगों का उस समय गोरखपुर क्षेत्र में बड़ा जोर था। वैसे अलख और निरंजन दोनों शब्द ब्रह्म के लिए संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में व्यवहृत होते हैं।

कबीर साहेब उन लोगों से कहते हैं जो ब्रह्म को अपनी आत्मा से पृथक अलख और निरंजन कहकर पुकारते हैं। साहेब कहते हैं कि जिसे तुम अलख और निरंजन कहते हो, उसे मैं अच्छी तरह देखता हूं। वह केवल मन का भास-अध्यास है। अपनी आत्मा से भिन्न तुम जो कुछ ईश्वर-ब्रह्म का रूप गढ़ते हो वह केवल मन की कल्पना ही है, अतएव उसे मैं देखता हूं, परखता हूं। वह जीव के मनश्चक्षु का विषय है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं सबको लखता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं लखता। यह "हौं" यह "मैं" तत्त्व ही तो सबका साक्षी, सबका कल्पक एवं सबका ज्ञाता है। सभी व्यक्तियों के भीतर एक 'मैं' तत्त्व है जो चेतनस्वरूप है, वही सबको लखने वाला है। साहेब कहते हैं कि 'मैं-तत्त्व' तो सबको लखता है, परन्तु 'मैं' को कोई नहीं लखता। जो मैं को लख लेता है, उसका भटकना समाप्त हो जाता है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" इस पंक्ति का भाव बहुत वजनदार है। मनुष्य सबको जानता है, परन्तु अपने आपको नहीं जानता। हम सारी दुनिया को पढ़ लें, परंतु खुद को न पढ़ें, तो सब पढ़ना बेकार है। हम संसार की सारी चीजों को जान लें और उन्हें पा जायं, परन्तु अपने आपको न जानें, अपने आपको न पायें तो हमारा सब जानना और सब पाना निरर्थक है। साहेब कहते हैं कि मैं-मैं कहने वाला सबको लखता है, परन्तु अपने आप को नहीं लखता, इसलिए वह भटकता है।

इन सबका अर्थ यही है कि अपना लक्ष्य, परमात्मा, मोक्ष, ब्रह्म आदि बाहर खोजना छोड़ें, अपने आप को पहचानें और अपने आप में स्थित हों।

हम तो लखा तिहुँ लोक में, तू क्यों कहै अलेख।
सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख॥३५२॥

शब्दार्थ—तिहुँ लोक = त्रिगुणी जीव, समग्र संसार। सारशब्द = निर्णय वचन, पारख विवेक। भेख = भक्त या साधु का वेष, चिह्न।

भावार्थ—हमने तो देखा है कि यह अलेख-अदेख की कल्पना सारे संसार में है। तू इसे अलेख क्यों कहता है! यह तो मन की कल्पना होने से मानो मन से देखा हुआ है। वस्तुतः तुमने धोखे में पड़कर धर्म का जामा पहन लिया है, परन्तु निर्णय वचनों एवं विवेकज्ञान से परिचय नहीं है॥३५२॥

व्याख्या—तीन लोक से अभिप्राय त्रिगुणी जीवों से है। समस्त जीवों का मन तीनों गुणों से आवेष्टित है। इसलिए तीनों लोक कह देने से समस्त जीव आ जाते हैं। वैसे नीचे के लोक, हमारा अपना मध्य का लोक तथा ऊपर के लोकों का भाव लेकर तीन लोक कहा जाता है और इसका लाक्षणिक अर्थ विश्व की समग्रता है। हम केवल अपनी पृथ्वी पर के जीवों को, उनकी मान्यताओं एवं गतिविधियों को देखते हैं। इस पृथ्वी से बाहर किसी ग्रह, उपग्रह में मनुष्य रहते हैं इसका आज तक पता नहीं लगा है। इसलिए जिस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं और जिन मनुष्यों को देख रहे हैं उनकी मान्यताओं एवं

मानसिकता के आधार पर स्थालीपुलाक न्याय से संसार के सारे मनुष्यों के विषय में अनुमान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हमने तो संसार के लोगों में यही पाया कि वे अपनी आत्मा को न परखकर अपने से बाहर किसी अलेख, अदेख, बेचून, बेनमून एवं निरंजन परमात्मा और ब्रह्म की कल्पना कर रहे हैं। जैसे आदमी भूलवश अपने पास की वस्तुओं का महत्त्व ज्यादा न मानकर दूर की वस्तुओं का मानता है, वैसे अपने नित्य चेतनस्वरूप का महत्त्व न समझकर कल्पना के अन्धकार में मनुष्य ब्रह्म की खोज करता है। जहां देखो, जिसको देखो, वही प्रभु व परमात्मा को बाहर पुकार रहा है। साहेब कहते हैं कि भाई, प्रभु तुम ही हो। तुम स्वयं अपने प्रभु हो, स्वामी हो, परमात्मा हो, ब्रह्म हो। अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से एवं अपने आपा से अलग तुम कहीं कुछ न पाओगे।

कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको तुम अलेख कहते हो वह अलेख क्यों है? वह तो मन की कल्पना है, मन का दृश्य है, मनश्चक्षु से दृश्यमान मन का रूप है। वह तो मन से दिखाई देता है कि वह मनोराज्य मात्र है।

"सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने उन सब की भर्त्सना की है जो लोग धर्म का, भक्त एवं साधु का जामा तो पहन लिये हैं; परन्तु वे निर्णय वचनों, परख एवं विवेक से दूर हैं और काल्पनिक वस्तुओं के पीछे भटकते हैं। उन्होंने अपने स्वरूप को पहचाना ही नहीं। जिसने जीव रूपी शिव, आत्मा रूपी परमात्मा तथा निजस्वरूप चेतन को समझा नहीं और मनःकल्पनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित हुआ नहीं, उसको धर्म के मार्ग में आने की सफलता नहीं हुई। धर्म एवं अध्यात्मपथ की पूर्ण सफलता है स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति।

साखी की परिभाषा

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं॥३५३॥

शब्दार्थ—साखी = इस प्रकरण के छंद जिन्हें अन्य लोग दोहे कहते हैं, साक्षी-गवाह, द्रष्टा, चेतन।

भावार्थ—ये साखियां ज्ञान की आंखें हैं और सच्चाई के साक्षी हैं, इन बातों को मन में समझकर देखो। बिना साक्षी एवं गवाह के संसार का झगड़ा नहीं छूटता॥३५३॥

व्याख्या—तेरह और ग्यारह मात्राओं के इस छंद को अन्य कवियों ने दोहा कहा है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे साखी कहा है। ३५३ साखियों का यह ग्यारहवां प्रकरण बीजक का अन्तिम प्रकरण है। पूरा बीजक ज्ञान का सागर है, जिसमें जो जितने रत्न खोज पावे खोज ले, परन्तु साखी प्रकरण तो सचमुच ही ज्ञान का भण्डार है। अन्य प्रकरणों में खण्डन अंश जगह-जगह काफी आया है; परन्तु साखी प्रकरण में कहीं नाम मात्र का खण्डन अंश है। इसमें प्रायः विधेयात्मक पक्ष ही का वर्णन है। सद्गुरु कहते हैं कि यह

साखी प्रकरण या ये साखियां ज्ञान की आखें हैं। इनका हम जितना गहरा अध्ययन करते जायेंगे उतना ज्ञान की तली में पहुंचते जायेंगे। यथार्थ ज्ञान हुए बिना न मन के सारे भ्रम मिटते हैं और न जीवन में शांति मिलती है।

साखी का शुद्ध एवं तत्सम रूप साक्षी है जिसका अर्थ होता है गवाह। संसार में जहां किसी प्रकार का विवाद या झगड़ा होता है, उन दोनों पक्षों का अपना-अपना पक्षपात होने से झगड़ा सुलझता नहीं है। इसलिए उस विवाद के मुद्दे को पंचों एवं न्यायाधीशों के सामने ले जाते हैं। न्यायाधीश वादी तथा प्रतिवादी का विवाद समाप्त करने के लिए दोनों पक्षों का बयान अवश्य लेता है, परन्तु उन पर वह पूर्णतया विश्वास नहीं करता। इसलिए वह उन्हें बुलाता है जिन्होंने उस विवाद को अपनी आखों देखा तथा अपने कानों सुना है और जो दोनों पक्षों से निष्पक्ष तथा तटस्थ हैं। उन्हें ही साक्षी, साखी एवं गवाह कहा जाता है। वे दोनों पक्षों की वास्तविकता कह देते हैं, और जज उन पर विश्वास करके उसके आधार पर विवाद पर निर्णय देता है। इसलिए सद्‌गुरु ने कहा कि "बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं।" इसी प्रकार बिना निष्पक्ष वचन को पाये मन के झगड़े नहीं छूटते। कबीर साहेब की वाणियां निष्पक्ष हैं। उनका आदर जिनके जीवन में जितना होता जायेगा उनका उतना ही भ्रम मिटता जायेगा। जब कबीर देव की वाणियों का जीवन में पूर्ण आदर हो जायेगा, तब मन की सारी भ्रांतियां समाप्त हो जायेंगी।

एक प्रश्न उठ सकता है कि साखियां ही यदि साक्षीस्वरूप निष्पक्ष हैं तो क्या बीजक के पहले वाले दस प्रकरण के वचन निष्पक्ष नहीं हैं? उत्तर में समझना चाहिए कि निष्पक्ष तो कबीर साहेब की सारी वाणियां हैं। परम वैष्णव संत नाभादास जी महाराज ने कहा है "हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी। पक्षपात नहिं वचन सबहिं के हित के भाखी।" यहां कबीर साहेब ने दोहे को जब साखी कहा तो उसका साक्षी, तटस्थ एवं निष्पक्ष अर्थ करना सुकर हो गया।

अंततः साक्षी अपना चेतनस्वरूप है। मन-वासनाओं का साक्षी बनकर उन्हें त्यागते-त्यागते जब वे पूर्णतया शांत हो जाती हैं तब शेष अपने आप चेतन ही रह जाता है। यही परम पद है। जीव साक्षी तभी तक है जब तक जड़ साक्ष्य को देखता है। जब सभी मनोमय दृश्य समाप्त हो जाता है तब जीव शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। संकल्पों का शून्यत्व ही समाधि है। यह अवस्था थोड़े समय रहा करती है, शेष समय ज्ञानी साक्षी रहता है। जब जीव साक्षी दशा को प्राप्त हो जाता है तब उसके मन के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जब जीव मनोमय का साक्षी होता है तब वह द्वंद्वों से मुक्त होता है और जब साक्षी न होकर मन की धारा में बहता है तब द्वंद्वग्रसित होता है। हम तब तक संसार के झगड़े में फंसे रहते हैं जब तक उसमें बहते हैं और जब उसका साक्षी बन जाते हैं तब उससे अलग हो जाते हैं। सद्‌गुरु कहते हैं कि हे चेतन! तू सबका साक्षी है, अतः साक्षी बनकर रह! तू किसी में न मिलकर सबका साक्षी रह और असंग हो जा!

ऊपर बताया गया कि ज्ञानी की समाधि-दशा थोड़े समय की ही होती है, अर्थात पूर्ण संकल्पशून्य अवस्था का समय कम हुआ करता है। शेष समय में ज्ञानी साक्षी बनकर

रहता है। परन्तु तत्त्वतः वह दोनों दशाओं में समाधिलीन ही है। जब संकल्पशून्य द होती है, वह, तथा अन्य साक्षी दशा रहती है, वह—दोनों ही समाधि है। संकल्प-शू दशा में जीव पूर्ण कृतार्थ रहता ही है, परंतु साक्षी दशा में भी कृतार्थ ही रहता है, क्यों वह सारे दृश्यों से उदासीन, तटस्थ एवं असंग रहता है; अतएव साधक को चाहिए जितना संभव हो वह संकल्पों को शून्य करके शांति में लीन रहे, शेष खाते-पीते, उठ बैठते, हंसते-बोलते, कुछ करते-धरते, चलते-फिरते सब समय साक्षी बनकर रहे।

बीजक सार सिद्धांत

नीचे की जिन साखियों को आप पढ़ने जा रहे हैं, ये साखियां सद्गुरु कबीर की रचनाएं नहीं हैं। ये किसी अन्य संत की रचनाएं हैं। चाहे ये साखियां सद्गुरु के समय में ही किसी संत ने ग्रन्थ के पाठफल में रखी हों और तभी से चली आयी हों और चाहे कुछ काल पीछे से किसी संत-द्वारा रचकर रखी गयी हों; परन्तु ये साखियां हैं बहुत पुरानी। साखियां इतनी मार्मिक भाव की हैं कि बीजक का सार सिद्धांत इन नौ साखियों में उतर आया है।

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबीर उपदेश॥ १ ॥

शब्दार्थ—साख = गवाह, गवाही, साक्षी, प्रमाण। आतम = आत्म, अपना।

भावार्थ—बीजक उसे कहते हैं जो गुप्तधन का प्रमाण देता एवं पता बताता है। आत्म-धन जिस जगह है कबीर साहेब के वचनों के उपदेश उसी के लिए हैं॥१॥

व्याख्या—पहले के लोग सोना-चांदी या उनके सिक्के जमीन में गुप्त रूप से गाड़ते थे और उनका परिचय सांकेतिक शब्दों में किसी ताम्रपत्र या कागज आदि में लिख लेते थे। उस लेख को ही 'बीजक' कहा जाता था। "बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" ३७वीं रमैनी की इस साखी में बीजक शब्द की सविस्तार व्याख्या की गयी है। अतएव वहां देखा जा सकता है। आज भी व्यापारी लोग ग्राहकों के यहां जो माल भेजते हैं उसका विवरण, उसके दाम या भेजने के खर्च आदि की सूची साथ में भेजते हैं, उसको 'बीजक' कहा जाता है।

सद्गुरु कबीर का यह ग्रन्थरत्न बीजक 'आत्म-धन' को बताता है। यह 'आत्म-धन' का साक्षी एवं प्रमाण देता है। 'आतम' तद्भव शब्द है। इसका तत्सम शब्द आत्म है। 'आत्म' शब्द का अर्थ होता है 'अपना' या 'अपने आप'। आत्म-धन एवं अपना धन क्या है? केवल जीव अर्थात शुद्ध चेतन मात्र। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही उसका अपना धन है, जो उससे कभी छूटने वाला नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे धन छूट जाते हैं; परन्तु क्या आत्मा से आत्मा अलग हो सकती है! अतएव हमसे कभी अलग न होने वाला हमारा अपना चेतनस्वरूप ही है, हमारी अपनी आत्मा ही है। उसी जीव, आत्मा एवं निजस्वरूप चेतन का परिचय यह बीजक ग्रन्थ कराता है।

"आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबीर उपदेश।" आतम धन किस ठौर है? देहोपाधि दृष्टि से वह हृदय निवासी है। यथा "हृदया बसै तेहि राम न जाना।"[१] या "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"[२] अथवा "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[३] इत्यादि। श्रुतिवचन भी है—आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।[४] सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।[५] आदि।

वस्तुतः आतमधन मेरा निजस्वरूप चेतन ही है। मैं ही मेरा परम धन है।

देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥ २ ॥

शब्दार्थ—शोध = खोज, अनुसंधान। बोध = ज्ञान।

भावार्थ—जो जिज्ञासु अपने हाथ में बीजक लेकर देखेगा और चित्त लगाकर पढ़ेगा वह खोज कर आत्मधन पा जायेगा। इसीलिए सद्गुरु कबीर ने इस ग्रंथ का नाम बीजक रखा है। इसके अध्ययन से यह ज्ञान हो जाता है कि माया क्या है और मन क्या है! ॥२॥

व्याख्या—जैसे गड़े हुए धन का साक्ष्य सांकेतिक शब्दों में ताम्रपत्र या पोथी आदि बीजक में लिखा रहता है और उसे देखने से धन की खोजकर उसे प्राप्त कर लिया जाता है; वैसे कबीर देव-प्रणीत इस बीजक को जो मन लगाकर पढ़ेगा और विचारेगा वह अपने स्वरूप-धन को शोधकर प्राप्त कर लेगा। गड़े हुए गुप्तधन को बताने वाला सांकेतिक लेख ही तो बीजक कहलाता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो सर्वाधिक गुप्तधन मनुष्य का अपना मौलिक एवं तात्विक स्वरूप है। यह शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। चेतन ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' तत्त्व ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' के दो प्रकार हैं, एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीरादि भौतिक पदार्थों में मैंपन मायिक है और चेतन स्वरूप के प्रति मैंपन आत्मिक है।

ऊपर कहा गया कि अपनी आत्मा एवं जीव ही एक प्रकार से सर्वाधिक गुप्त है। हमारी आंखें विस्तृत संसार को देखती हैं, परन्तु वे अपने आप को नहीं देख पातीं, किन्तु आंखों का होना स्वयंसिद्ध है, क्योंकि हम दृश्यों को देखते हैं। इसी प्रकार हम सारे संसार को जानते हैं, परन्तु अपने आप को नहीं जानते, किन्तु हम संसार को जानते हैं इसलिए हमारा होना स्वयंसिद्ध है।

मेरा सहज स्वरूप चेतन है और इसका ज्ञान सहज ही है। ऐसा सहज होते हुए भी विषयासक्तिवश गूढ़ बना हुआ है। विषयासक्ति के साथ-साथ भ्रांति का बोलबाला है।

---

१. रमैनी ४१।
२. साखी ३४५।
३. शब्द ९७।
४. मुंडक उपनिषद् ३/१/४।
५. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३/१३।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के लोग 'आत्म-धन' की खोज न करके बाहर कहीं परमात्मा खोजते हैं। उन्हें निजस्वरूप के बोध की फिक्र नहीं है, किन्तु ईश्वर पाने की फिक्र है जो मन की एक अवधारणा है। इस प्रकार निजस्वरूप के अनुसंधान के पथ में मुख्य दो रोड़े हैं, पहला है विषयासक्ति तथा दूसरा है अपनी आत्मा से अलग ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म पाने का भ्रम। इन दोनों का निवारण हुए बिना निजस्वरूप का बोध नहीं हो सकता। विषयासक्ति छोड़ देने पर भी अपनी आत्मा एवं निजस्वरूप से अलग प्रभु की तलाश करने वाले जब तक इस भ्रम को नहीं छोड़ते आत्म-अनुसंधान नहीं कर सकते। जब तक व्यक्ति बाहर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहेगा, तब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति के लिए ईश्वर का बखेड़ा छोड़ना पड़ेगा। साधक को समझना पड़ेगा कि उसका निजस्वरूप चेतन ही परम ईश्वर है, परमात्मा है, ब्रह्म है। बाहर से लौटकर निजस्वरूप में स्थित होना ही तो परम पद है। इसका निष्पक्ष निर्णय पूरे बीजक में किया गया है।

बीजक में माया और मन का बोध भी किया गया है। ईश्वरवादी माया को प्रभु का खेल मानकर कहते हैं कि हरि माया अति बलीयसी है। उससे बचना असंभव है। हरि ही चाहे तो उससे उबारे अन्यथा जीव का कोई बल नहीं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अनिर्वचनीया, अघटित घटना पटीयसी एवं दुरत्यया अर्थात न तरने योग्य है। इस प्रकार ये दोनों माया को तरना ही करीब-करीब असंभव बताकर मनुष्य को कमजोर बनाते हैं। फिर जीव को ईश्वराधीन बताकर उसी पर उसे निर्भर कर देते हैं कि जीव को तारेगा तो ईश्वर ही। वे कहते हैं कि जीव को ईश्वर ही माया में नचाता है और वह यदि प्रसन्न हो तो वही उससे बचा सकता है।

कबीर साहेब बीजक में कहते हैं कि माया मन का मोह है। अर्थात दृश्य जगत तथा अनेक मानसिक भ्रांतियों का मोह ही माया है और उसका निर्माता जीव ही है। जीव ही उसे छोड़कर उससे मुक्त हो सकता है। मान लो, किसी ने बीड़ी पीने की आदत बना ली है। अब बीड़ी पीने के प्रति उसकी प्रबल आसक्ति हो गयी है। वह उसके बिना रह नहीं पाता है। सोचिए, कि बीड़ी पीने की आसक्तिरूपी माया किस ईश्वर ने उसके भीतर थोपी है, और उससे कौन-सा ईश्वर मुक्त कर सकता है? वस्तुतः मनुष्य ने ही अपने भूलवश उस माया को बनाया है और उसी के छोड़ने से उसका उससे उद्धार हो सकता है। हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकारों का स्वयं अज्ञानवश सृजन करते हैं और स्वयं उनमें फंसकर दुख भोगते हैं। परन्तु इनकी वास्तविकता जानकर इन्हें हम स्वयं त्यागकर मुक्त हो जाते हैं। अतएव माया मन का मोह है जिसे जीव अपने स्वरूप के भूलवश बनाता है और उसमें स्वयं उलझकर दुख पाता है। जब उसका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसे एकदम छोड़कर कृतार्थ हो जाता है। अतएव जीव का माया से मुक्त होने का विषय उसका अपना है; तथाकथित ईश्वर का विषय नहीं। यही स्वावलंबन का पथ है, यही कल्याण का आशावादी स्वरूप है और यही यथार्थ है।

अस्ति आत्मा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अस्ति = विद्यमानता, जो हो, सत्य। आत्मा = मन और अंतःकरण से परे तथा उनके व्यापारों का ज्ञान करने वाली सत्ता, द्रष्टा, रूह, जीव, चेतन। राम = हृदय में रमण करने से जीव ही का नाम राम है—'रामरूपमय परम पुनीता (पंचग्रन्थी)। नास्ति = असत्य, शून्य। यथा = जिस प्रकार या यथार्थ। आस्ति = अस्ति, है।

भावार्थ—आत्माराम सत्य है और मन-माया से निर्मित अवधारणाएं असत्य हैं। बीजक गुरुमुख वाणी है, अतः उनकी यथार्थ परख इससे करनी चाहिए।।३।।

व्याख्या—इस साखी की पहली पंक्ति में आत्माराम की सत्यता तथा मन-माया की असत्यता की स्पष्ट घोषणा है और बीजक की वाणियों में मुख्यतः इन्हीं दो की परख करायी गयी है। मन-माया से लौटकर आत्माराम में स्थित होना यही प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है।

'आत्मा' का अर्थ है व्यक्ति का स्वतः सारस्वरूप, वह है चेतन; और राम का अर्थ भी चेतन ही है। अतएव व्यक्ति का अपना आपा ही उसकी अपनी आत्मा है और वही राम है। यह परम सत्य है। व्यक्ति की अपनी आत्मा ही तो परम सत्य है! 'मैं' तथ्य ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का आश्रय है। बीजक की वाणियों को पढ़कर इस विषय को यथार्थ रूप से पहचानना चाहिए। ''याकी पारख लहै यथा'' में 'यथा' शब्द का अर्थ होता है 'जिस प्रकार'। इसके अनुसार अर्थ होगा कि जिस प्रकार आत्माराम और मन-माया के स्वरूप हैं, ठीक से समझो। परन्तु यहां 'यथा' यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप माना जा सकता है। इससे अर्थ होगा कि आत्माराम और मन-माया की यथार्थ परख करनी चाहिए। दोनों अर्थों में मूलभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आत्माराम तो व्यक्ति का अपना स्वरूप है; परन्तु मन-माया क्या है? मन संस्कारों का समुच्चय है और माया दृश्यों का मोह है। यह आत्माराम मन-माया की धारा में पड़कर ही अपने स्वरूप से पतित है। जब आत्माराम अपने आप को मन-माया से सर्वथा निकालकर अपने आप में ही स्थित होता है तब यही उसकी उच्चतम दशा है।

पढ़ै गुनै अति प्रीति युत, ठहरि के करै बिचार।
थिरता बुधि पावै सही, वचन कवीर निरधार॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निरधार = निर्णय, निश्चय।

भावार्थ—कबीर साहेब के इन निर्णय वचनों को अत्यंत प्रेमपूर्वक पढ़े, मनन करे और स्थिर होकर गंभीरतापूर्वक विचार करे, तो निश्चित ही उसे शांति-बुद्धि की प्राप्ति होगी अथवा उसकी मनोवृत्ति स्वस्वरूप में स्थित होगी।।४।।

व्याख्या—जो लोग किसी पुस्तक के पन्ने इधर-उधर पलटकर कहते हैं कि मैंने सब अध्ययन कर लिया, वे बड़ी भूल में हैं। किसी ग्रन्थ की वास्तविकता जानने के लिए गंभीरतापूर्वक उसकी तली में पैठना चाहिए। फिर इस बीजक-जैसे ग्रंथ को कोई तुरन्त कैसे समझ ले! इसका बारंबार अध्ययन-मनन करने से इसको ठीक से समझा जा सकता है। बीजक तो ऐसा ग्रन्थ है कि इसका जितनी बार सूक्ष्मता से अध्ययन-मनन किया जाय उतने ही नवीन-नवीन अर्थ निकलते हैं और इसके गूढ़ अर्थ समझने में आते हैं।

बीजक में कुछ रमैनियां, शब्द एवं साखियां अत्यन्त सरल हैं, परन्तु कुछ तो ऐसे गूढ़ हैं जिनका सहज समाधान कर पाना कठिन है। कबीर साहेब की विचारधारा में डूबे रहने वाले साधक, सन्तों एवं गुरुजनों की सेवा तथा सत्संग से और स्वयं के दीर्घकाल के निष्पक्ष शोधन से ही कबीर साहेब के गूढ़ पदों को समझा जा सकता है। वैसे कोई अमुक पद अमुक व्यक्ति न समझ पावे यह अलग बात है, परन्तु निष्पक्षता से मनन करने पर सत्य-सार समझना कठिन नहीं है। बीजक के केवल सरल पदों को ही समझ लिया जाय तो सभी काम की बातें आ जाती हैं। गुरुजनों-द्वारा कुंजी मिल जाने पर तो पूरा बीजक समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। आवश्यकता है निष्पक्षतापूर्वक इसमें डूबने की।

सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु की दया से परख भई, बचन कबीर तमाम॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तमाम = संपूर्ण, समाप्त।

भावार्थ—टकसाल जैसे प्रामाणिक रुपयों के ढलने का घर होता है, वैसे यह ग्रन्थ जिसका नाम बीजक है प्रामाणिक सारशब्दों एवं निष्पक्ष निर्णय वचनों का कोश है। सद्‌गुरु कबीर के संपूर्ण वचनों का मनन-चिंतन किया गया और गुरुकृपा से सारासार की परख हो गयी ।।५।।

व्याख्या—नाभादास जी महाराज जो कबीर साहेब के तत्काल बाद हुए हैं एक परम वैष्णव संत हो गये हैं। उन्होंने कबीर साहेब तथा उनकी वाणियों की प्रशंसा में अपने भक्तमाल में एक छप्पय लिखा है। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

"कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम और षड्‌दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा एवं संकोच नहीं रखा। भक्तिविमुख धर्म को उन्होंने अधर्म कहा। भजन के बिना योग, यज्ञ, व्रत तथा दान को तुच्छ बताया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानादि समस्त मानव के लिए एक प्रामाणिक एवं सत्य सिद्धांत अपने रमैनी, शब्द और साखियों में कहा। उनके वचन पक्षपात से रहित, तथा सबके कल्याण के लिए कहे गये हैं। उन्होंने संसार में तटस्थ एवं निष्पक्ष दशा में ठहरकर अपनी बातें कही हैं। उन्होंने किसी की मुखदेखी बात नहीं कही, किसी की चापलूसी नहीं की। कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम एवं षड्‌दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा नहीं किया।"[1]

यह कबीर और कबीर वाणी के लिए गद्‌गद और तथ्यात्मक भाव है एक मूर्द्धन्य

---

१. कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षटदरसनी।
भक्तिविमुख जो धर्म ताहि अधरम करि गायो।
योग यग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी॥ भक्तमाल॥

वैष्णव संत का। इससे अधिक कोई कबीर-प्रेमी, कबीर-अनुयायी एवं कबीर-आलोचक क्या कहेगा! आज तक कबीर की प्रशंसा में इस धराधाम पर जो कुछ कहा गया है, मानो इन छह पंक्तियों की व्याख्या है।

"सारशब्द टकसार है, बीजक याको नाम।" इस पंक्ति का लेखक कहता है कि यह बीजक ग्रन्थ सारशब्दों एवं सार निर्णय वचनों का समुच्चय है। यह टकसाल है। टकसाल में ढले सिक्के प्रामाणिक होते हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब के शब्द प्रामाणिक होते हैं, क्योंकि वे पक्षपात, अंधविश्वास, चमत्कार जो एक छल-कपट है—इन सबसे दूर केवल सत्यद्रष्टा, सत्यरमता एवं सत्यवक्ता हैं। कबीर न किसी ईश्वर-वाणी की दोहाई देते हैं, न अपने वचनों को यह कहते हैं कि इन्हें ईश्वर ने भेजा है, न वे अपने आप को अलौकिक, न अवतार, न पैगम्बर कहते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हारे सरीखा मनुष्य हूं।[१] जो मैं कहता हूं उसे विचारो। सत्य लगे तो ग्रहण करो और असत्य लगे तो छोड़ दो।[२] कबीर अपनी बातों को ईश्वर, पैगंबर, अवतार तथा किसी भी अलौकिकता का झांसा देकर संसार से नहीं मनवाना चाहते, बल्कि इन झांसा वाली बातों का वे जोरदार शब्दों में खंडन करते हैं। कबीर भीतर-बाहर केवल सत्य से ठोस हैं और इसी प्रकार उनकी वाणी भी केवल सत्य का परिचायक है।

पारख बिन परचै नहीं, बिन सत्संग न जान।
दुबिधा तजि निर्भय रहे, सोई सन्त सुजान॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पारख = परख, परीक्षा, गुण-दोषों के निर्णय की दृष्टि से किसी वस्तु को देखने की क्रिया, सार-असार समझने की शक्ति। परचै = परिचय, पहचान, ज्ञान। दुबिधा = संदेह।

भावार्थ—निष्पक्ष होकर परख किये बिना सत्य और असत्य की पहचान नहीं होती, और पारखी संतों का सत्संग किये बिना निष्पक्ष परख दृष्टि समझने में नहीं आती। जो सब जगह परख कर असत्य छोड़ सत्य को ग्रहण करता है वह संशय से मुक्त होकर निर्भय हो जाता है। उसी को सच्चा ज्ञानी सन्त कहना चाहिए॥६॥

व्याख्या—जड़ प्रकृति अनादि-अनंत है। उनसे जगत का प्रवाह तथा उसकी स्थिति भी अनादि-अनंत है। इसके लिए किसी भगवान की कल्पना करना कि उसी ने चांद-सूरज आदि को बनाया है, वही वर्षा, आंधी-तूफ़ान लाता है आदि एक बालकपन है। जड़ जगत अपने स्वतःसिद्ध नियमों से चलता है। इधर असंख्य चेतन जीव भी अनादि-अनंत हैं। उनकी ज्ञानशक्ति भी उनमें अंतर्निहित एवं स्वभावसिद्ध है। वासनाओं का त्याग कर देने पर जीव अपने आप में स्थित हो जाता है। निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा, निर्वाण, मोक्ष को पा लेना है; क्योंकि निजस्वरूप की स्थिति के अलावा जीव का अन्य कोई प्राप्तव्य नहीं है। इस प्रकार सत्यासत्य को परख करके निस्संदेह एवं निर्भय हो जाना ही जीवन का फल है।

---

१. तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ रमैनी १॥

२. सुनिये सबकी निबेरिये अपनी। (साखी २४७)

जगत के नियामक को खोजना महाभ्रम है, किन्तु जगत के नियमों को पहचानना हमारा कर्तव्य है। हर नियम का नियामक नहीं होता। मनुष्यों के बनाये नियमों का स्वयं मनुष्य नियामक है। वह अपने भोलेपन में समझता है कि पानी में शीतलता, आग में गरमी, वायु में कोमलता, पृथ्वी में कठोरता तथा इन समस्त जड़ तत्त्वों में क्रियाशीलता किसी देव ने बनायी है। परन्तु द्रव्यों में उनके गुण-धर्म तथा उनकी गतिशीलता किसी देवता की देन नहीं है; किन्तु द्रव्यों में अन्तर्निहित शक्ति है।

जीव के ऊपर कोई देव नहीं है जिसको खुश करके उससे वह कुछ पाने की आशा करे। मनुष्य को अपने आप द्वारा सारे दोषों को छोड़कर निर्दोष बनना होगा और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होना होगा। इसमें प्रेरक तथा सहायक विवेकवान सन्त-गुरु हैं, किन्तु आसक्ति जीतना तथा स्वयं में ठहराव जीव को स्वतः ही करना पड़ेगा।

सत्यज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से निस्संदेह निर्भय दशा की प्राप्ति होती है, यही जीवन की ऊंचाई है।

नीर क्षीर निर्णय करे, हंस लक्ष सहिदान।
दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नीर = पानी। क्षीर = दूध। लक्ष = लक्षण; लक्ष्य, उद्देश्य। सहिदान = सहिदानी, चिह्न, पहचान।

भावार्थ—मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देना हंस का लक्षण एवं उसकी अपनी पहचान है। इसी प्रकार सारे जड़ दृश्यों से अपने चेतनस्वरूप को अलग समझकर असंग हो जाना विवेकवान का लक्षण है। मानो उसने सत्यासत्य की परख एवं पहचान की जो प्राणिमात्र के प्रति शील का व्यवहार करते हुए अपने स्वरूप में स्थिर रहता है॥७॥

व्याख्या—कहावत है कि हंस पक्षी नीर-क्षीर विवेकी होता है। यही उसका लक्षण एवं पहचान माना जाता है। कहावत सच हो या झूठ, जिस बात को सिद्ध करने के लिए यह कहावत यहां कही गयी है वह सच है। हंस विवेकी मानव है। वह नीर-क्षीर विवेक करता है। वह जड़-चेतन को अलग समझकर और जड़ से अपने आप को विवेक से निकालकर शुद्ध चेतन मात्र रहता है, असंग रहता है। यही उसका हंसत्व है। संस्कृत के 'अहंसः' से अ तथा विसर्ग (:) लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है वह मैं हूं। 'अहम्—सः'—'मैं—वह' हूं। जड़ासक्ति का त्याग करके निजस्वरूप में स्थित होना ही हंसत्व है। कृतार्थात्मा का यही लक्षण है, यही उसकी पहचान है, यही उसका उद्देश्य है।

"दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान।" अर्थात उसी ने सत्य को परख एवं पहचान कर उसे ग्रहण किया, अथवा पारखपद को पाया जो व्यवहार में सभी से दयावान रहता है और अपने स्वरूप में स्थित रहता है। "दया रूप थिर पद रहे" यह वाक्यांश गागर में सागर है। वही पारखी है, वही विवेकी है और वही कल्याणरूप है जो थिर

पद है, जो अपने पद में, अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। वह व्यवहार में सभी प्राणियों के प्रति दया का बरताव करता है। वह शील के सहित सब से बरतता है। महात्मा बुद्ध के शब्दों में शील और समाधि जीवन की ऊंचाई है। यहां साखीकार ने 'दयारूप' और 'थिरपद' कहकर मानो शील और समाधि की ही व्याख्या कर दी हो। यह न बौद्धमत है और न कबीरमत, यह तो अध्यात्म का तथ्य है और जीवन का सत्य है। हमारे जीवन के दो क्षेत्र हैं व्यवहार और परमार्थ। दया, करुणा एवं शील का प्रयोग ही तो व्यवहार की सफलता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना परमार्थ की सफलता है।

देह मान अभिमान ते, निरहंकारी होय।
बर्ण कर्म कुल जाति ते, हंस निन्यारा होय॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हंस = विवेकी मानव, सन्त।

भावार्थ—आत्माराम स्वरूप में रमने वाले विवेकी पुरुष देह के तथा देह सम्बन्धी प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति, वर्ण-कर्म, कुल जाति आदि के अहंकार से अलग हो जाते हैं।।८।।

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणियों के मनन-चिंतन के फलस्वरूप विवेकवान आत्माराम हो जाता है। इसलिए वह देह का अभिमान छोड़ देता है तथा जितने देहजनित सम्बन्ध हैं उन सबके अभिमान का त्याग कर देता है। वह वर्ण-जाति नहीं मानता। वह कुल-परम्परा तथा इन सब के कर्म-प्रपंचों से अलग हो जाता है।

जग विलास है देह को, साधो करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, यथा भक्ति उर धार॥ ९ ॥

शब्दार्थ—विलास = आनंद-भोग। यथा = यथार्थ, यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप यहां यथा है।

भावार्थ—संसार एवं विषयों के सारे आनंद-भोग क्षणभंगुर देह तक ही हैं। हे साधको! विचार करो और इंद्रियों के विलास छोड़कर मन, वाणी तथा कर्मों से पर-सेवा तथा साधना करो और हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करो।।९।।

व्याख्या—जिन्दगी तो देखते-देखते एक दिन बीत जाती है, चाहे इससे भोग करे या योग करे। हां, दोनों के फलों में बड़ा अन्तर होता है। यहां साखीकार कहते हैं कि संसार के सारे आनंद-भोग, विषयों की सारी क्रीड़ाएं मलिन इंद्रियों तक हैं और इनका परिणाम भी मन की चंचलता, वासनाओं की तीव्रता तथा तृष्णा की वृद्धि है। इसलिए हे साधको, इस पर विचार करो, और विषयों के विलास छोड़कर अपने शरीर तथा प्राप्त शक्ति से दूसरों की सेवा करो। अपने शरीर, समय और धन को इंद्रियों के भोगों में न लगाकर दूसरों की सेवा में लगाओ। यही उसकी सार्थकता है।

शरीर की दूसरी मुख्य सार्थकता है कि उसे साधना में लगाया जाय। देह से साधना करो, योग करो, विषय-भोग नहीं। विषय-भोग तो बन्दर-शूकर भी करते हैं। मनुष्य के

विवेक की यही सार्थकता है कि वह योग में लगे, इंद्रियों को अपने वश में कर स्वरूपस्थिति की साधना में लगे।

"यथा भक्ति उर धार" अर्थात हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करे। भक्ति है कोमलता, गुरु-सन्तों के प्रति सेवा, स्वरूपज्ञान के प्रति रुझान एवं आत्माराम में रमण। सारे विषयों को छोड़कर स्व-स्वरूप में स्थित होना ही परा भक्ति है। यही यथार्थ भक्ति है। अतएव शरीर की सफलता इंद्रिय-भोग नहीं है, किन्तु पर-सेवा, साधना एवं भक्ति है। अतएव सेवा, साधना तथा भक्ति में लगो।

●●●

फलछन्द

चिद्-जड़ विभेदक विमल-पथ,
जड़ साक्ष्य से साक्षी परे।
तजि सर्व साक्ष्य विकार,
साक्षीरूप पद पारख खरे॥
जग - ब्रह्म का द्रष्टा दोऊ,
से भिन्न चेतन स्व-वरे।
गुरुवर कबीर निदेश लहि,
जन शोक-संशय से तरे॥

चौपाई

गुरु पारख तुमको जो ज्ञानै।
जानत ही समरूप रहानै॥
निर्णय सत्य शब्द सोइ मानै।
जेहिते होय सकल भ्रम हानै॥

कबीर संस्थान प्रकाशन

सद्गुरु श्री कबीर साहेब कृत	
बीजक मूल	१२.५०
कबीर भजनावली	१२.५०
कबीर साखी	१२.५०
सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कृत	
विवेक प्रकाश मूल	७.००
रहनि प्रबोधिनी मूल	४.००
बोधसार मूल	५.००
संत श्री निर्बंध साहेब कृत	
भजन प्रवेशिका	९.००
संत श्री अभिलाष साहेब कृत	
बीजक टीका	८५.००
बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या (दो खंडों में)	
प्रथम खंड: रमैनी और शब्द	१६०.००
द्वितीय खंड: ज्ञान चौंतीसा से साखी	१६०.००
बीजक प्रवचन (अजिल्द)	३५.००
बीजक प्रवचन (सजिल्द)	४५.००
पंचग्रंथी सटीक	१५०.००
विवेक प्रकाश सटीक	७५.००
कबीर दर्शन	९०.००
रामायण रहस्य	१००.००
मोक्षशास्त्र	७५.००
कबीर बीजक शिक्षा	५०.००
संसार के महापुरुष	४५.००
गीतासार	३०.००
बोधसार सटीक	२५.००
कबीर परिचय सटीक	१८.००
रहनि प्रबोधिनी सटीक	४०.००
कबीर अमृतवाणी सटीक	२५.००
कल्याण पथ	१५.००
मानसमणि	१८.००
तुलसी पंचामृत	१५.००
ढाई आखर	२५.००
आस्था के पथ	१५.००
समझे की गति एक है	१५.००
व्यवहार की कला	१८.००
ब्रह्मचर्य जीवन	१३.००
जगन्मीमांसा	१८.००
ज्ञान चौंतीसा	७.५०
कबीर जीवनी	१५.००
शाश्वत जीवन	१२.००
सरल शिक्षा	१८.००
सहज समाधि	७.५०
संत सम्राट सद्गुरु कबीर	१५.०
अंतर्संगीत	७.०
वैराग्य संजीवनी	१५.०
स्त्री बाल शिक्षा	१२.५
गुरु पारख बोध सटीक	७.५
बुद्धि विनोद	५.०
आप किधर जा रहे हैं	१०.०
कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि	५.०
राम से कबीर	७.५
भजनावली	९.०
अनन्त की ओर	५.०
बुरहानपुर कबीर निर्णय मंदिर के महापुरुष	—
कबीरपंथी-जीवनचर्या	५.०
अहिंसा शुद्धाहार	७.०
संत महिमा	५.०
हितोपदेश समाधान	८.०
मैं कौन हूं?	३.०
Who am I?	५.०
जीवन क्या है?	३.०
कबीर कौन?	२.५
नास्तिक कौन?	२.०
कृष्ण कौन?	३.०
हिन्दू कौन?	२.०
ब्राह्मण कौन?	३.०
योग क्या है?	३.०
सरल बोध	४.०
आदेश प्रभा	३.०
कबीर संदेश	२.०
श्रीराम-लक्ष्मण प्रश्नोत्तर शतक	२.०
बहाना (भावसिंह हिरवानी)	१२.५
माटी का मोह "	१५.०
बाल कहानियां "	१२.५
सन्त वचनामृत (अज्ञात)	१.२
ज्ञानगीता (विष्णुदयालु साहेब)	४.०
विवेक कौमुदी (रामजपी शर्मा)	२.०
पारख पद पुष्पांजलि (डा० नीलमणि)	२.५
जीवन गीत (जीवन साहेब, सजीवन साहेब)	३.०
विनय पद (श्री सजीवन साहेब)	५.०
संतो देखत जग बौराना (रणजीत सिंह)	१५.०
विशाल जीवन चरित (श्री प्रेम साहेब)	१५.०
मोहभंग नाटक (श्री शुकदेव दास शास्त्री)	४.०
पानी में मीन पियासी (श्री अशोक साहेब)	५.०

पारख प्रकाशक कबीर संस्थान, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-२११००१

जब तक हिन्दुस्तान जिन्दा है बल्कि जब तक सभ्यता जिन्दा है कबीर की सदाबहार रचना कभी खत्म ही नहीं सकती। कबीर की वाणी आने वाले हिन्दुस्तान का सपना है जिसमें दुनियादारी और दुनिया का त्याग, आध्यात्मिक और आत्मिक जीवन का खूबसूरत संगम बनने वाला है।

—श्रीयुत फिराक गोरखपुरी

कबीर अपनी आत्मा का सबसे आज्ञाकारी सेवक था। उसकी आत्मा से जो ध्वनि निकली उसका निर्वाह उसने बहुत खूबी के साथ किया। ……उन्होंने आत्मा का वर्णन किया है, शरीर का नहीं। वे हृदय की सूक्ष्म भावनाओं तक पहुँच गये थे।

—डॉ० रामकुमार वर्मा

भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है।……भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। इसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फकीर की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर की शुमार निस्संदेह भारत के महान से महान तत्वदर्शियों, धर्माचार्यों और समाज सुधारकों में की जानी चाहिए। कबीर एक अत्यंत स्वतंत्र विचारों के महापुरुष थे। इस देश के अंदर हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के वह सबसे पहले प्रचारक और सबसे महान समर्थक थे।

—श्रीयुत पंडित सुन्दरलाल

कबीर जैसे महापुरुष का जीवन उस हीरे के समान है जिसके कई पहल होते हैं। हर पहल अपने में सम्पूर्ण सुन्दर और ज्योतिर्मय होता है।

—डॉ० सम्पूर्णानंद

सद्गुरवे नमः

व्याख्याकार- अभिलाष दास

ठहरे ब्रह्म, और उनके अलावा कोई या कुछ है ही नहीं, फिर वे कुछ क्या मानें! अतः वे अपने आप को ही सर्वोच्च मान लिये।

"मोलना माते पढ़ि मुसाफ" मौलवी साहब कुरानशरीफ को पढ़कर मतवाले हुए। उन्होंने माना कि ईश्वर एक है और वह वही है जो मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को भेजा है। भले उसने पहले दूसरे पैगंबर तथा किताबें भेजी हों, परन्तु अब तो वह मुहम्मद को खत्मा-नबी बनाकर भेजा है। अब इसके आगे न कोई दूसरा नबी आयेगा, न किताब आयेगी और न मजहब आयेगा। अतएव अनंत ब्रह्मांड तथा महाप्रलय तक के लिए बस एक ही ईश्वरीय धर्मग्रन्थ है कुरान, एक ही पैगंबर है मुहम्मद तथा एक ही रास्ता है इसलाम। इसलिए जो कुरान शरीफ पढ़ता है वही राहेखुदा है, बाकी लोग राहेजुदा एवं राहेदोजख हैं। लोग ऐसा मजहबी कुआं के मेढक बनते हैं कि उससे अधिक उन्हें कुछ पता ही नहीं होता और वे अपने कुएं में पड़े मस्त रहते हैं।

"काजी माते दै निसाफ" काजी लोग इसलाम मजहब के कानून-कायदे के अनुसार न्याय सुनाकर उसी में मतवाले हो गये। उन्हें न देश की परवाह है और न काल की। ईसा की छठी शताब्दी में अर्थात हजरत मुहम्मद के काल में अरब वालों के लिए जो कुछ न्याय था वही सब आज भी सारी दुनिया के लिए न्याय बनाने का हठ है। आये दिन संसार के मुसलिम राष्ट्र अपनी प्रजा को बेवकूफ बनाकर उन पर राज्य कायम रखने के लिए इसलाम-शासन की दुहाई देते हैं और समाज के विविध वर्गों पर अत्याचार करते हैं। सबसे दयनीय दशा तो स्त्रियों की बनायी जाती है। शताब्दियों पूर्व किसी देश के कानून संसार भर के सब समय के लिए कानून नहीं हो सकते। परन्तु काजियों को यही गर्व है कि इसलाम के कानून सब देश तथा सब काल के लिए समान हैं।

"संसारी माते माया के धार" संसार की आसक्ति में डूबे हुए संसारी लोग तो माया-मोह की धारा में बहते हुए अपने नशा में मतवाले हैं। उनके ख्याल से जवानी, धन, पद, अधिकार, प्रतिष्ठा सब अजर-अमर हैं। वे इनके लिए पाप-पुण्य सब करने के लिए तैयार हैं। उन्हें वर्षों में शायद एक बार भी न मौत की बात याद आती है और न इन सबके छूटने की। वे सब समय माया के उन्माद में चूर रहते हैं। जैसे आग से घिरा हुआ सांप क्रोध से फनफनाता हुआ ऐंठ-ऐंठ कर जल मरता है वैसे अंततः माया-अहंकारी की दशा होती है।

"राजा माते करि हंकार" राजा लोग अपने विश्व अहंकार में डूबे रहते हैं। इतिहास उठाकर देखो तो राजाओं, सम्राटों एवं चक्रवर्ती नामधारियों में से अनेकों ने जो-जो अत्याचार जनता पर किये हैं, अपने राज्य-विस्तार के लिए जो निरपराधों का खून बहाया है वह अत्यन्त निंदनीय है। अंततः सारे राजे-महाराजे बिजली की तरह चमककर बुझ गये हैं। जब तक जो सत्ता में रहता है तब तक वह अपने आप को अजर-अमर माने रहता है, परन्तु कुछ दिनों के बाद उनका कोई नामलेवा नहीं रह जाता। असंख्य राजे-महाराजे हो गये, जिन्हें आज कोई जानता तक नहीं। क्या रखा है इस संसार के राज-काज में! परन्तु जो व्यक्ति जब जहां गद्दी पर बैठता है वह समझता है कि मैं अब अजर-अमर हूं और मेरी गद्दी अजर-अमर है।